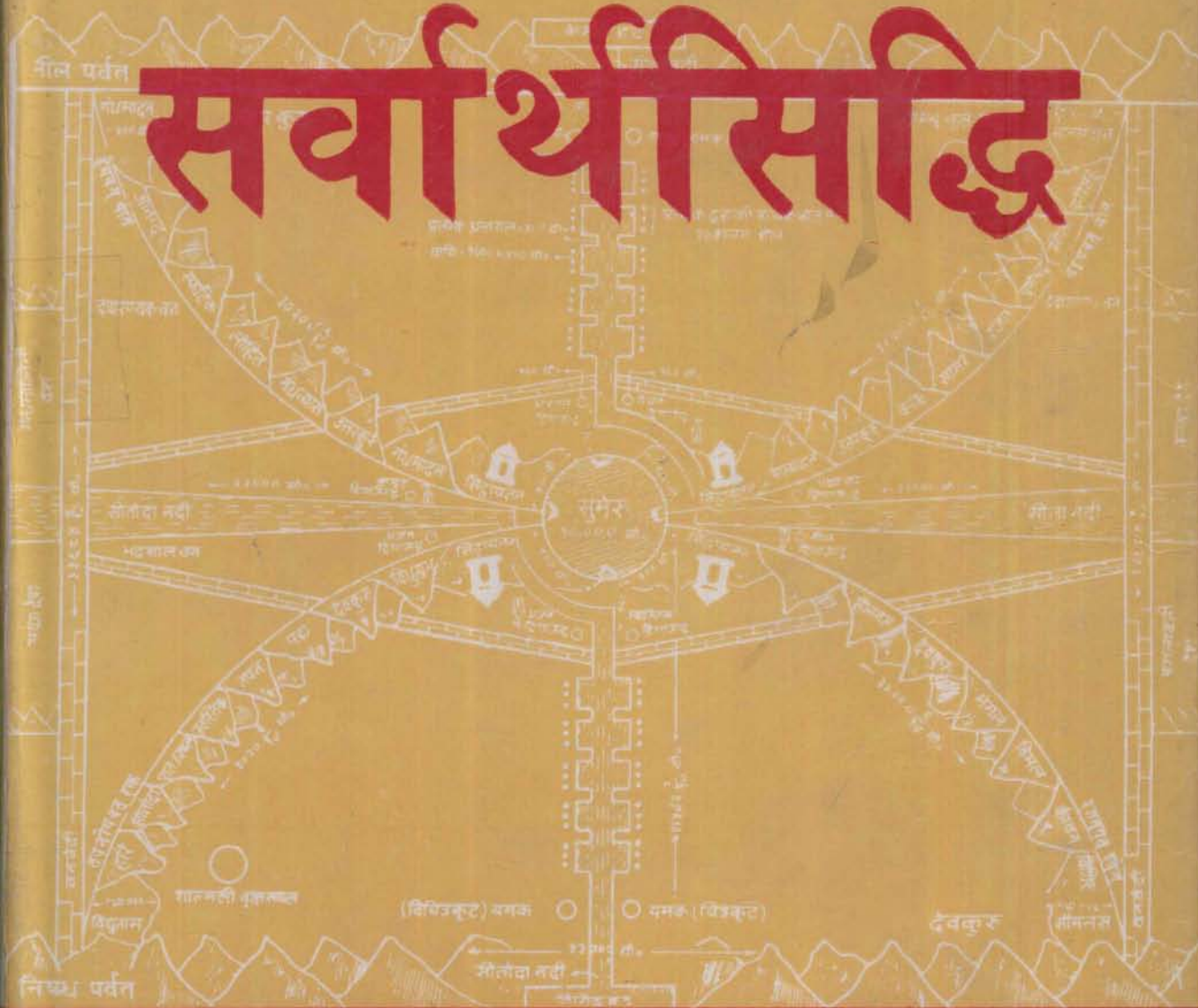


318

आचार्य पूज्यपाद विरचित

सर्वार्थसिद्धि



सम्पादन-अनुवाद

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री

सर्वार्थसिद्धि

तत्त्वार्थसूत्र जैनविद्या का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है और संस्कृत में सूत्र-पद्धति से जैन सिद्धान्त का विधिवत् संक्षेप में परिचय कराने वाला सम्भवतः सर्वप्रथम ग्रन्थ है। अपने विषय की यह इतनी सुन्दर और प्रामाणिक रचना है कि आज तक दूसरा कोई ग्रन्थ इसकी तुलना नहीं कर पाया। इस ग्रन्थ का महत्त्व और महिमा इससे भी प्रकट है कि इसका प्रचार जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों—दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि में समान रूप से पाया जाता है। लोकप्रियता में भी यह जैन साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है।

तत्त्वार्थसूत्र पर समय-समय पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में इसकी देवनन्दि पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति सर्वप्राचीन मानी जाती है। इसका प्रकाशन अनेक बार हुआ है, किन्तु प्राचीन प्रतियों का समालोचनात्मक ढंग से अध्ययन कर पाठ निश्चित करके विस्तृत हिन्दी विवेचन के साथ यह इसका सर्वाधिक प्रामाणिक प्रकाशन है।

जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री ने प्रस्तुत संस्करण के हिन्दी के विवेचन में सर्वार्थसिद्धि का मर्म खोलकर रख दिया है; साथ ही प्रस्तावना में तत्त्वार्थसूत्र और उससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विस्तार के साथ विचार किया है।

जैन तत्त्वज्ञान के अध्येताओं और प्रत्येक जिज्ञासु के लिए एक अनिवार्य कृति।

श्रीपूज्यपादाचार्यविरचिता

सर्वार्थसिद्धि :

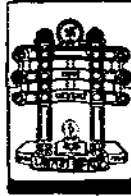
श्रीमदाचार्य पूज्यपादविरचिता

सर्वार्थसिद्धिः

(श्रीमदाचार्यगृद्धपिच्छप्रणीतस्य तत्त्वार्थसूत्रस्य वृत्तिः)

सम्पादन-अनुवाद

सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

सातवा संस्करण : 1997 □ मूल्य : 150/- रुपये

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ६, वीर नि. सं. २४७० : विक्रम सं. २००० : १८ फरवरी १९४४)

स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में

स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित

एवं

उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य-ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

ग्रन्थमाला-सम्पादक (प्रथम संस्करण)

डॉ० हिरालाल जैन, डॉ० आ० ने० रणपाध्ये

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

१८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११०००३

मुद्रक : विकास ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

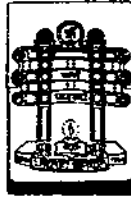
सर्वाधिकार सुरक्षित

ĀCHĀRYA PŪJYAPĀDA'S
SARVĀRTHASIDDHI

[The Commentary on Āchārya Griddhapiccha's Tattvārtha-sūtra]

Edited and Translated by

Siddhantacharya Pt. Phoolchandra Shastri



BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

Seventh Edition : 1997 □ Price : Rs. 150-00

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9 : Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000 : 18th Feb., 1944)

MOORTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

FOUNDED BY

LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MOORTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRATHMALA CRITICALLY EDITED JAINA AGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRMSHA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THE RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES. ALSO BEING PUBLISHED ARE CATALOGUES OF JAINA-BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES ON ART ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS AND ALSO POPULAR JAINA LITERATURE.

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003

Printed at : Vikas Offset, Naveen Shahdara, Delhi-110032

All Rights Reserved

प्राथमिक

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है और संस्कृत में सूत्ररूप रचना द्वारा जैन सिद्धान्त का विधिवत् संक्षेप में परिचय करानेवाला सम्भवतः सर्वप्रथम ग्रन्थ है। यह रचना अपने विषय की इतनी सुन्दर हुई है कि आज तक दूसरा कोई ग्रन्थ उसकी तुलना नहीं कर पाया। इस ग्रन्थ की महिमा इससे भी प्रकट है कि इसका प्रचार जैन समाज के समस्त सम्प्रदायों—दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि में समान रूप से पाया जाता है। लोकप्रियता में भी यह जैन साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की समय-समय पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में इसकी देवनन्दी पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति सर्वप्राचीन मानी जाती है। इसका प्रकाशन इससे पूर्व अनेक बार हो चुका है। किन्तु प्राचीन प्रतियों का समालोचनात्मक ढंग से अध्ययन कर पाठ निश्चित करने का प्रयास इससे पूर्व नहीं हो सका था। इस दिशा में पं. फूलचन्द्र शास्त्री ने जो यह प्रयत्न किया है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ सम्पादन व मुद्रण आदितः ज्ञानपीठ से प्रकाशन के लिए नहीं किया था, इसलिए इसकी सम्पादन-प्रणाली आदि में इस ग्रन्थमाला के सम्पादकों का कोई हाथ नहीं रहा। पण्डितजी की प्रस्तावना आदि भी उनकी अपनी स्वतन्त्रता से लिखी और छापी गयी हैं। उसमें मल्लि तीर्थकर, श्वेताम्बर आगम की प्रामाणिकता आदि सम्बन्धी विचार पण्डितजी के अपने निजी हैं और पाठकों को उन्हें उसी रूप से देखना-समझना चाहिए। हमारी दृष्टि से वे कथन यदि इस ग्रन्थ में न होते तो अच्छा था ; क्योंकि जैसा हम ऊपर कह आये हैं, यह रचना जैन समाज भर में लोकप्रिय है, उसका एक सम्प्रदाय-विशेष सीमित क्षेत्र नहीं है। अतः उसी उदात्त भूमिका पर इस ग्रन्थ को सदैव प्रस्तुत करना श्रेयस्कर है। हमें आशा और भरोसा है कि पाठक उसी उदार भावना से इस प्रकाशन का आदर और उपयोग करेंगे।

—हीरालाल जैन
—आ० ने० उपाध्ये
ग्रन्थमाला-सम्पादक
(प्रथम संस्करण)

सम्पादकीय (तृतीय संस्करण)

1. मूल और अनुवाद

समग्र जैन परम्परा में मूल तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध टीकाओं में लिखी गई 'सर्वार्थसिद्धिवृत्ति' यह प्रथम टीका है और सर्वांग अध्ययन करने के बाद निश्चित होता है कि 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' इसके बादकी रचना है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक के मध्यकाल में रची गयी है। यही कारण है कि तत्त्वार्थभाष्य में स्वीकृत अनेक सूत्रों की उसमें आलोचना दृष्टिगोचर होती है,¹ जबकि सर्वार्थसिद्धिवृत्ति के पहले तत्त्वार्थ-भाष्य लिखा गया था इस बात का आभास भी नहीं मिलता। यह ठीक है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना होने के पूर्व श्वेताम्बर परम्परा मान्य तथाकथित आचारोंगादि नामवाले अंगों की रचना हो गई थी। अन्यथा सर्वार्थ-सिद्धि में केवलिकवलाहार आदि जैसे विषयों की आलोचना दृष्टिगोचर नहीं होती।²

यह वस्तुस्थिति है। प्रज्ञाचक्षु स्व० श्री पं० सुखलालजी इस स्थिति से अच्छी तरह परिचित थे। फिर भी उनके द्वारा अनुदित तत्त्वार्थसूत्र के तृतीय संस्करण की प्रस्तावना पर दृष्टिपात करने से ऐसा नहीं लगता है कि उन्होंने अपने पुराने विचारों में यत्किंचित् भी परिवर्तन किया है। अस्तु, हम तो अभी तक जैन दर्शन की शिक्षा द्वारा यही जान पाये हैं कि मोक्ष का अर्थ है आत्मा का संयोग और संयोग-वृत्ति से छुटकारा पाकर अकेला होना। और यह तभी सम्भव है जब जीवन में पूर्ण स्वावलम्बन को बाहर-भीतर दोनों प्रकार से अंगीकार किया जाय। दिगम्बर परम्परा पर हमारी श्रद्धा होने का कारण भी यही है। इसलिए जहाँ हम जैनदर्शन के इस परमार्थभूत निष्कर्ष को स्वीकार करते हैं वहाँ हम तत्सम्बन्धी साहित्य की ऐतिहासिकता को भी उसी रूप में स्वीकार करते हैं जिस क्रम से वह लिपिबद्ध होकर प्रकाश में आया है। श्वेताम्बर परम्परा का आगम साहित्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी में संकलित हुआ यह हमें मान्य है। अतः स्पष्ट है कि उसका समर्थक अन्य साहित्य भी उसके बाद ही लिखा गया है। यही कारण है कि उसी सम्प्रदाय के लेखकों ने 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' के लेखनकाल को आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से किये गये इस प्रकार के सामान्य अवलोकन के बाद, अब यहाँ हम सर्वार्थसिद्धि-के द्वितीय संस्करण के मूल और अनुवाद में जो आवश्यक संशोधन किये गये उन्हें क्रम से यहाँ दे रहे हैं—

द्वितीय संस्करण	पृ०-पं०	प्रस्तुत संस्करण	पृ०-पं०
जीव में जीवत्व सदा पाया जाता है	13-30	जीवन सामान्य की अपेक्षा जीव सदा विद्यमान है।	13-30
शास्त्र में अनेक	14-17	शास्त्रों में प्रयोजन के अनुसार	14-18
स्वरूप प्रमाणों और नयों के	14-35	स्वरूप दोनों प्रमाणों और विविध नयों के	15-1
ज्ञान तो केवल ज्ञानरूप तो माने ही गये हैं।	15-30	ज्ञान मात्र ज्ञानरूप माने गये हैं	15-31

1. पृथ्वरा इति केवांचित् पाठः स०बा० 3-1। अथान्ये धर्माधमकालाकाशेषु अनादिः परिणामः आदिमान् जीवपुद्गलेषु इति वदन्ति। स०बा० 5-4। वार्तिक।

2. स०सि० 6-13।

द्वितीय संस्करण	पृ०-पं०	प्रस्तुत संस्करण	पृ०-पं०
आयोपशमिक पर्याप्त	16-35	आयोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्त	17-3
किन्तु अयोगी	17-30	किन्तु अपगतवेदी	17-32
सम्यग्दृष्टि जीव	19-13	आधिक सम्यग्दृष्टि और कृतकृत्यवेदक- सम्यग्दृष्टि जीव	19-15
सन्ति	23-10	सन्ति । अवधिदक्षिणे असंयतसम्यग्दृष्ट्या- दीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति	23-13
सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर संयता- संयत तक पुरुषवेदवाले जीवों की वही संख्या है जो सामान्यसे कही है । प्रमत्त- संयतसे लेकर अनिवृत्ति-	26-28	सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अनिवृत्ति-	27-2
अष्टी भागा वा चतुर्दशभागा देशोनाः	33-2	अष्टी द्वादश चतुर्दश भागा वा देशोनाः	33-2
तिर्य्यङ्कोका	35-12	पंचेन्द्रियों का	35-21
कम एकसौ बत्ती स	46-33	कम दो स्रयासठ	47-27
केवल क्षयोपशम	66-25	केवल बढ़ी हुई क्षयोपशम	68-13
रहित है	72-27	रहित होकर विषयको ग्रहण करता है	74-19
देशको विषय	77-11	देशमें स्थित पदार्थको विषय	78-23
देशघाती स्पर्धकोंका उदय	88-16	देशघाती स्पर्धकोंका उदय रहते हुए सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय-	90-17
उदय का अभाव	112-14	स्वरूपसे उदय न होना	114-14
उनकी उदीरणा	112-16	उदयावलिसे ऊपरके उन निवेकोंकी	114-16
योगप्रवृत्तिके उदयसे अनुरंजित		योगप्रवृत्ति कषायोंके उदय से अनुरंजित होती रही ।	115-15
समाधान—आत्माके	114-17	समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, नयोंकि आत्मा के	116-23
ज्ञानकी पर्यायका	126-12	ज्ञानकी जाननेके सम्मुख हुई पर्यायका	128-16
भाव है । शंका	135-21	भाव है । ये सब मिलाकर नौ योनियाँ जानना चाहिए ।	137-24
मध्यमें मेरु	154-19	मध्यमें नाभिके समान मेरु	157-26
शब्द समुच्चय वाची	157-21	शब्द मध्यभागका समुच्चय करने के लिए	160-25
लम्बा है और पाँचसी	157-32	लम्बा है तथा उत्तर और दक्षिण पाँचसी	161-16
आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार	162-15	आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार क्रम से	165-24
रहने से है यह अनुमान किया	165-32	रहने से यह प्रासाद दुर्भञ्जित है यह समझा	169-24
स्थिति है और	192-36	स्थिति है, विजयादिकमें तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और	197-24
रूपमति	200-13	रूपमिति	206-2

द्वितीय संस्करण	पृ०-पं०	प्रस्तुत संस्करण	पृ०-पं०
असातारूप	214-24	असाताके उदयरूप	219-32
कषायरहित । कषाय अर्थात्		कषाय रहित । श्लोधादि कषाय कह-	
श्लोधादि कषायके	240-20	लाते हैं । कषाय के	246-18
रागवश प्रमादीका	241-26	रागवश स्नेहसिक्ता होने का कारण	
		प्रमादीका	247-26
पड़नेवाले काय	252-25	पड़नेवाले अनुपाय काय	258-34
तब भी योगवक्ता स्वगत है और		तब भी स्वगत योगवक्ता कही जाती है	
विसंवादन परगत है	253-22	और परगत विसंवादन	259-30
वे कर्मस्कन्ध	307-20	वे आठ प्रकार की कर्मप्रकृतियों के	
		योग्य कर्मस्कन्ध	315-35
-मन्थम् । तत्सामी-	341-11	मन्थम् । अन्त्यं शुक्लम् । तत्सामी-	351-11
विष	342-21	अप्रिय है । विष	352-19
समाधान—वृद्धिको	356-27	समाधान - परिणामोंकी वृद्धि	
		द्वारा वृद्धि	367-27
—स्वभावरूप केवल	357-25	—स्वभाव अवितर्क्य विभूति विशेष रूप	368-23

2. परिशिष्ट-2

पृष्ठ 390 क्रमांक 17.1—इसके अन्तर्गत 'तिरश्चीना क्षायिक नास्ति' इससे आगेका कथन मूल सर्वार्थसिद्धिका नहीं है यह इसीसे स्पष्ट है कि जो भी कृत्यकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरणकर चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है वह प्रथम नरकको छोड़कर शेष तीन गतियोंमें पुरुषवेदियोंमें ही उत्पन्न होता है । वह न तो मरणकर नपुंसकवेदियोंमें उत्पन्न होता है और न ही स्त्रीवेदियोंमें । यदि मूलमें 'तिरश्चीना क्षायिक नास्ति' यह वचन न होता तो भी कोई आपत्ति नहीं थी । परन्तु सभी हस्तलिखित प्रतियोंमें इस वचन के होनेसे हमने उसे मूलमें यथावस्थित रखा है । इस वाक्यके रहनेसे भवान्तरकी अपेक्षा मनुष्योंमें भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कृत्यकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरणकर मनुष्याणियोंमें नहीं उत्पन्न होता है इसका निर्देश करनेवाला वचन भी मूलमें होना चाहिए था । परन्तु कोई भी सम्यग्दृष्टि मरणकर प्रथम नरकको छोड़कर निरपवाद रूपसे पुरुषवेदियोंमें ही उत्पन्न होता है, अन्यमें नहीं—इस कथन से ही उक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है ।

पृ० 395 पंक्ति 29 में निम्नान्वे लाखके आगे निम्नान्वे हजारकी छूट है तथा यहाँ जो सर्वसंयतोंकी संख्या दी है वह उपशम श्रेणीके चार गुणस्थानोंमें से प्रत्येक गुणस्थानमें 299 तथा दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार क्षपकके प्रत्येक गुणस्थानकी और अयोगिकेवलीकी संख्या 598 स्वीकार कर सब संयतोंकी संख्या 89999997 दी है । अतः प्रमत्तसंयतसे लेकर पूरी संख्याका योग 89999997 होता है । यथा—

प्रमत्तसंयत 59398206 + अप्रमत्त संयत 29699103 + चारों उपशमक 1196 + चारों क्षपक 2392 + सयोगकेवली 898502 + अयोगकेवली 598 = 89999997 ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि उक्त पृष्ठ 395 पंक्ति 19 में जो "यदि कदाचित् एकस्मिन् समये संभवन्ति" यह कहा है सो संयतों की उक्त संख्या कभी भी एक समयमें न जानकर विवक्षा विशेषसे यह संख्या कही है । कारण कि न तो उपशमश्रेणिके चारों गुणस्थानोंमें से प्रत्येकमें एक ही समयमें अपने-अपने गुणस्थान की संख्या का प्राप्त होना सम्भव है और न क्षपकश्रेणिके चारों गुणस्थानोंमें से प्रत्येकमें एक ही समयमें अपने-अपने गुणस्थानकी संख्याका प्राप्त होना सम्भव है । हाँ, उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके प्रत्येक गुणस्थानमें, क्रमसे अपने-अपने गुणस्थानकी संख्या का कालभेदसे प्राप्त होना अवश्य सम्भव है । कारण कि जो जीव आठ समयोंमें इन श्रेणियोंके आठवें गुणस्थानमें चढ़े वे ही अन्तर्मुहूर्त बाद नौवें गुणस्थानमें पहुँचते

हैं। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए और इस प्रकार समयभेदसे अन्तर्मुहूर्तके भीतर सब संयतोंकी उक्त संख्या बन जाती है यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना चाहिए।

पृष्ठ 395 पंक्ति 14 (25-11) में “सूक्ष्ममनुष्यं प्रति मनुष्या मिथ्यादृष्टयः” के आगे “श्रेष्ठसंख्येय-भागप्रमितः” पाठ छूटा हुआ जान पड़ता है, क्योंकि उक्त वाक्यके आगेका कथन मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यिनी इन दोनोंकी अपेक्षासे किया गया है।

पृष्ठ 396 पंक्ति 9 में ‘तल्लक्षणसमचतुरस्तरज्जु’ पाठसे घनरज्जु का बोध होने में कठिनाई जाती है। कारण कि रज्जुसे असंख्यात कोटि योजन प्रमाण एक आकाशप्रदेशपवित ली गई है और लोककी 343 घनरज्जु प्रमाण कहा गया है। इसी तथ्य को ध्यानमें रखकर उक्त पृष्ठ की पंक्ति 33 में “और तीनसी तेतालीस राजु” के स्थानमें “और तीनसी तेतालोस घनराजु” ठीक प्रतीत होता है।

आगे इसी पैरा की पंक्ति 23 में सासादन सम्यग्दृष्टि जीव अग्निकायिक, वायुकायिक, नारकी और सब सूक्ष्मजीवों को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह उत्पन्न होता है यह कहा है और इसके प्रमाणस्वरूप एक गाथा भी उद्धृतकी गई है। किन्तु यहाँ इतना और विशेष जान लेना चाहिए कि यह जीव विकलत्रयों, अपर्याप्तकों और असंजियोंमें भी नहीं उत्पन्न होता और माधोक्त जिन एकेन्द्रियोंमें यह उत्पन्न होता है उनमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें मिथ्यात्व गुणस्थान हो जाता है।

पृष्ठ 399 (पं० 1 और 3) में “मारणान्तिकादि” पद के स्थानमें केवल मारणान्तिक पद होना चाहिए, क्योंकि संयतासंयत अवस्थामें उपपाद पद सम्भव नहीं है। इसी प्रकार इसी पृष्ठकी पं० 4 में संयतासंयतों के शुक्ललेखामें केवल मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा ही कुछ कम छह बटे चौदह राजु स्पर्शन बनता है इतना विशेष जानना चाहिए। तथा पंक्ति 5 में “अपेक्षया” के आगे “षट्त्रज्जवः-स्पृष्टाः” इतना पाठ और होना चाहिए।

इसी पृष्ठ की पं० 35-36 में “सासादनस्य तत्र सा न सम्भवति” इस वाक्य में “सा” पदका अर्थ वह (मारणान्तिकादि अवस्था)--- सम्भव नहीं है—ऐसा होना चाहिए।

पृष्ठ 401 पं० 27 से लेकर—असंयतसम्यग्दृष्टिका एकजीवकी अपेक्षा उत्कृष्टकाल घटित करते हुए धवला पु० 4 पृष्ठ 347 में इस प्रकार घटित किया है—एक प्रमत्त आदि गुणस्थान वाला जीव एक समय कम तेतीस सागरोपमकी स्थिति लेकर अनुत्तर विमानवासी देवों में उत्पन्न हुआ। पुनः वहाँ से च्युत होकर पूर्वकोटि की आयु के साथ मनुष्य हुआ। वहाँ जब अन्तर्मुहूर्त काल शेष रह जाय तब असंयम भाव को छोड़कर संयमी हो गया। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तप्रमाण इस संयमके कालसे कम एक पूर्वकोटि और एक समय कम तेतीस सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है।

पृष्ठ 402 (42-1) में पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के उत्कृष्टकाल के निरूपणमें जो पूर्वकोटि पृथक्त्वका अर्थ 96 पूर्वकोटि किया है सो वहाँ 95 पूर्वकोटि पृथक्त्वकाल अर्थ होना चाहिए, क्योंकि अन्तिम बार पुरुष-वेदियोंमें सात पूर्वकोटि काव ही लिया गया है। तथा मध्यमें जो पंचेन्द्रिय अपर्याप्तमें आठ बार उत्पन्न कराया है सो उसका भी समर्थन आगममें नहीं होता। वहाँ मात्र बीचमें एक बार पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में उत्पन्न कराया गया है। देखो, धवला पु० 4, पृ० 368।

पृष्ठ 406 (46-12 पं० 33) में जो पहली बार छयासठ सागरोपम तक वेदकसम्यक्त्व के साथ रखा है सो पहली बार भी दूसरी बारके समान अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागरोपमकाल तक वेदक-सम्यक्त्व-के साथ रखना चाहिए, क्योंकि इससे आगे अन्तर्मुहूर्तमें वह नियमसे क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करते समय अन्तमें कृत्यकृत्य-वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है जो यहाँ लेना नहीं है।

पृष्ठ 411 (59-9, पं० 14) से लेकर—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्वका क्षायोपशमिकपना सिद्ध करते हुए सम्यग्मिथ्यात्व के उदयको देशाघातीपना सिद्ध करने के लिए उपचारका सहारा लिया गया है। किन्तु धवला पु० 5 पृष्ठ 198 में जात्यन्तर स्वभाव सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें श्रद्धानाश्रद्धान रूप मिश्रभाव उत्पन्न होता है, मात्र इसलिए इस गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव घटित किया गया है।

पृष्ठ 416 (145.6, पं० 23) से लेकर—जो चरमशरीरी होते हैं वे अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं। इसका अर्थ है कि पूर्वभवं में वे जितनी आयु लेकर भवका छेद करनेमें समर्थ अन्तिम मनुष्यपर्यायमें उत्पन्न होते हैं उस पर्याय में भुज्यमान आयुका तो उत्कर्षण होता नहीं। अपनी योग्यतानुसार अपवर्तन अर्थात् अपकर्षण होना अवश्य सम्भव है। पर चरमशरीरी जीवकी आयु अनपवर्त्य होती है, इसलिए अग्निदाह, विष आदिके प्रयोग द्वारा उसका छेद नहीं होता ऐसा नियम है। इसी नियम का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र अध्याय दोके अन्तिम सूत्र में किया गया है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। उक्त सूत्र में जो विशेषण के रूप में उत्तम पद आया है उससे सर्वार्थसिद्धि आदिमें केवल तीर्थंकरोंके शरीरका ही ग्रहण नहीं किया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। किन्तु सभीका यह शरीर अन्तिम होनेसे उत्तम होता है। इसी सूत्रकी व्याख्यामें सर्वार्थसिद्धिमें कहा भी है—
चरमस्य देहस्योत्कृष्टत्वप्रदर्शनार्थमुत्तमग्रहणं नार्थान्तरविशेषोऽस्ति।

पृष्ठ 427 (354-7, पं. 32)—अभिन्नाक्षर दशपूर्वधर और भिन्नाक्षर दशपूर्वधर में दशपूर्वियों के दो भेद हैं जो क्रमसे दशपूर्वोंका अध्ययन करनेपर रोहिणी आदि महा और लघु विद्या-देवताओंके उपस्थित होनेपर मोहको नहीं प्राप्त होते हैं वे अभिन्नाक्षर दशपूर्वी कहलाते हैं और जो मोहको प्राप्त हो जाते हैं वे भिन्नाक्षर दशपूर्वी कहलाते हैं।

यह मूल सर्वार्थसिद्धि-वृत्ति, उसका अनुवाद और परिशिष्ट-2में जो विशेष संशोधन हमारे लक्ष्यमें आये उनका यह संक्षिप्त विवरण है। अनुवादमें यत्र-तत्र और भी संशोधन किये गये हैं वे सामान्य या स्पष्टीकरण मात्र होनेसे उनको हमने इस विवरणमें सम्मिलित नहीं किया है। फिरभी एक-दो बातोंका संकेत कर देना यहाँ हम प्रयोजनीय मानते हैं। कारण कि जिसके लिए आगममें जो संज्ञा प्रयुक्त हुई हो उसीका अनुवाद आदिमें प्रयोग होना चाहिए। उदाहरणार्थ—

1. आगममें सर्वत्र संख्या विशेषका ज्ञान करानेके लिए पत्य शब्दका प्रयोग न होकर पत्योपम शब्दका प्रयोग हुआ है, इसलिए हमने अपने अनुवादमें मूलके अनुसार ही पत्योपम शब्दको स्वीकार करके सर्वत्र पत्यके स्थानमें पत्योपम कर दिया है। इसी प्रकार सागरके स्थानमें सागरोपम किया गया है।

2. मात्र हमने यह संशोधन अपने अनुवादमें ही किया है। परिशिष्ट-2के अनुवादमें यह संशोधन नहीं किया गया है सो वहाँ भी उक्त विधिसे पत्यके स्थानमें पत्योपम और सागरके स्थानमें सागरोपम समझ लेना चाहिए।

3. अन्य अनुवाद

1. सर्वार्थसिद्धि-वृत्तिके अन्य कितने अनुवाद हुए हैं इसकी हमें पूरी जानकारी नहीं है। इतना अवश्य है कि सर्वप्रथम इसपर पं. श्री जयचन्दजी छावड़ा कृत भाषा-वचनिका प्रसिद्ध है। इसके दो संस्करण हमारे सामने हैं। पहला संस्करण कहलसि मुद्रित हुआ था इसका आभास मुद्रित प्रतिके देखनेसे नहीं मालूम होता; कारण कि उसके प्रारम्भिक कई पृष्ठ इस प्रतिमें नहीं हैं। दूसरी प्रति श्रुतभंडार व ग्रन्थप्रकाशन समिति फलटनसे मुद्रित हुई है। इसे देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भाषा-वचनिका रूपमें लिखी गई है, अतः यह सर्वार्थसिद्धि-वृत्तिका अनुवाद होते हुए भी पं. जी ने यत्र-तत्र अपनी ओरसे विशेष खुलासा भी किया है। उस समय तक छपने की पद्धति प्रचलित नहीं हुई थी, अतः पं० जी ने जिस हस्तलिखित प्रति के आधार से अपनी भाषा-वचनिका लिखी है उसमें भी वह पाठ नहीं था जिसे हमने पृष्ठ 17 टिप्पण 1 में मूलमें से अलग किया है। इतना अवश्य है कि स्पर्शन प्ररूपणाकी अपेक्षा लेख्या मार्गणके स्पर्शन-कथनके प्रसंगसे कृष्णादि तीन लेख्यावाले सासादन सम्यग्दृष्टियोंके स्पर्शनका कथन करते हुए 'द्वादशभागाः कुतो न लभ्यन्ते'—इत्यादि कथन द्वारा जो मतान्तरका विधान किया है वह पाठ जिस हस्तलिखित प्रतिसे पं० जी ने अनूदित किया है वह उसमें मौजूद है। परन्तु सत्, संख्या आदि प्ररूपणाओं पर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि यह पाठ मूल सर्वार्थसिद्धि-वृत्तिका नहीं है और इसीलिए दिल्लीकी द्वितीय हस्तलिखित प्रतिके आधारसे हमने उसे टिप्पणी सं० 1 में देकर मूलमें से अलग कर दिया है।

2. मालूम पड़ता है, दूसरी भाषा-वचनिका पं० श्री सदासुखजीने भी लिखी थी जो हमारे सामने नहीं होनेसे उसपर हम विशेष प्रकाश नहीं डाल रहे हैं।

3. इसपर टीका लिखनेका उपक्रम जगरूपसहायजी वकील एटा निवासीने भी किया है। जब वकील सा० इस टीकाको तैयार कर रहे थे तभी मैं श्री स्याद्वाद दिग० जैन महाविद्यालयके धर्मध्यापक पदसे अलग हो गया था। अतः वकील सा० ने उसमें आवश्यक संशोधन व सुधार आदि करनेके लिए मुझे दिल्ली आमन्त्रित कर लिया था और एक माह रहकर मैंने उसमें आवश्यक संशोधन भी किया था। किन्तु काम हो जानेपर बिना सहारेके मुझे उससे अलग हो जाना पड़ा था। इस समय वह भी हमारे सामने नहीं है, अन्यथा उसमें क्या विशेषता आदि है इसपर भी मैं विशेष प्रकाश डालनेका उपक्रम करता।

इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य किसीने सर्वार्थसिद्धिका हिन्दी अनुवाद या उसकी भाषा-वचनिका लिखी है, इसकी मुझे विशेष जानकारी नहीं है। विशेष किमधिकम्।

4. आभार

जैसाकि मैं प्रारम्भमें ही लिख आयाहूँ यह मूलानुवामी अनुवादसहित सर्वार्थसिद्धि-वृत्तिका जो संस्करण हमारे सामने उपस्थित है वह दूसरा संस्करण है। इसमें जो संशोधन हमने किये हैं उनके साथही थोड़ा-भी फेर-बदल किये बिना प्रस्तुत संस्करण मुद्रित होना है। भारतीय ज्ञानपीठके आदरणीय भाई लक्ष्मीचन्द्रजी की सूचना पर हमने मुद्रणके लिए यह संस्करण तैयार किया है, अतः हम उनके विशेष आभारी हैं। साथही, हम डॉ. गुलाबचन्द्रजीके और भी विशेष आभारी हैं। यह उन्हींकी सत्प्रेरणाका फल है कि हम इस संस्करण का इतने अल्पकालमें संशोधन-सम्पादन कर सके हैं। इस संस्करणके तैयार करनेमें हमने मूल और अनुवाद का अक्षरशः मिलान किया है। और मूल और अनुवादमें जो संशोधन आवश्यक थे वे किए गये हैं। इसकी प्रस्तावनाका भी हमने अक्षरशः पुनः निरीक्षण किया है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं लिखी गई है जिसकी आगमसे पुष्टि नहीं होती। आगमकी कसौटी पर कभी भी उसे कसा जा सकता है। इसी प्रस्तावना पर ही दिल्लीके विज्ञानभवनमें प्रशस्ति-पत्रके साथ भारतके उपराष्ट्रपतिके द्वारा न केवल हमारा स्वागत सत्कार हुआ था, अपितु हमें 'सिद्धान्तरत्न' जैसी मानद उपाधिसं भी अलंकृत किया गया था। यह सब पूज्य एलाचार्य विद्यानन्द महाराजकी मूर्त-बुद्धका परिणाम है, अतः हम उनके प्रति विशेष आभारी हैं। हम चाहते हैं कि भारत-वर्षमें आगमानुसारी जितने भी विद्वान् हैं उन सबका भी इसी प्रकार स्वागत-सत्कार होना चाहिए। यह निरुद्ध काल है, किसी प्रकार शास्त्रीय विद्वानोंकी यह परम्परा अविच्छिन्न चलती रहे—यह हमारी हार्दिक इच्छा है। पूज्य एलाचार्यजी महाराजमें वे सब गुण विद्यमान हैं, समाज पर उनका अखण्ड प्रभाव भी है। वे यदि इस कार्यको अपने हाथमें लें तो हमें ऐसा एक भी कारण नहीं दिखाई देता कि इसमें सफलता नहीं मिलेगी, अवश्य मिलेगी ऐसा हमारा विश्वास है।

5 जुलाई, 1983

—पूज्यवन्द्य ज्ञानजी

श्रीपूज्यपादाचार्यविरचिता
सर्वार्थसिद्धि :

दो शब्द

1. सम्पादनका कारण (प्रथम संस्करण से)

सर्वार्थसिद्धिको सम्पादित होकर प्रकाशमें आनेमें अत्यधिक समय लगा है। लगभग आठ नौ वर्ष पूर्व विशेष वाचनके समय मेरे ध्यानमें यह आया कि सर्वार्थसिद्धिमें ऐसे कई स्थल हैं जिनके कुछ अंशको उसका मूल भाग माननेमें सन्देह होता है। किन्तु जब कोई वाक्य, वाक्यांश, पद या पदांश लिपिकारकी असावधानी या अन्य कारणसे किसी ग्रन्थका मूल भाग बन जाता है तब फिर उसे बिना आधारके पृथक् करनेमें काफी अड़चनका सामना करना पड़ता है। सर्वार्थसिद्धिके वाचनके समय भी मेरे सामने यह समस्या थी और इसीके फलस्वरूप इसके सम्पादनकी ओर मेरा झुकाव हुआ था।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अध्यायके 'निर्देशस्वामित्व' और 'सत्संख्या' इन दो सूत्रोंकी व्याख्या बटखण्डायमके आधारसे की है। इसका विचार आगे चलकर प्रस्तावनासे हम स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर करनेवाले हैं। यहाँ केवल यह देखना है कि इन सूत्रोंकी व्याख्यामें कहीं कोई शिथिलता तो नहीं आने पायी और यदि शिथिलताके चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं तो उसका कारण क्या है?

'निर्देशस्वामित्व--' सूत्रकी व्याख्या करते समय आचार्य पूज्यपादने चारों गतियोंके आश्रयसे सम्यग्दर्शनके स्वाभीका निर्देश किया है। वहाँ तिर्यक्गणियोंमें धार्मिक सम्यग्दर्शनके अभावके समर्थनमें पूर्व सृष्टित प्रतियोंमें यह वाक्य उपलब्ध होता है—

'कुत इत्युक्ते मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनगोहसपणप्रारम्भको भवति। सपणप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यग् बहुवृण्कोऽपि उत्सन्नो गभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवेत्युच्यते न तिर्यक्स्त्रीषु; द्रव्यवेदस्त्रीषां तासां क्षायिका-संभवात्। एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपगमिकं ज्ञेयं न पर्याप्तकानाम्।'

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके आगममें इस प्रकारके नियमका निर्देश है कि सम्यग्दृष्टि मर कर किसी भी गतिके स्त्रीवेदियोंमें उत्पन्न नहीं होता।

किन्तु श्वेताम्बर आगम ज्ञाताधर्मकथा नामके छठे अगमें मल्लिनाथ तीर्थंकरकी कथाके प्रसंगसे बतलाया गया है कि मल्लिनाथ तीर्थंकरने अपने पिछले महाबलके भवमें मायाचारके कारण स्त्रीनामकर्म गोत्रको निष्पन्न किया था जिससे वे तीर्थंकरकी पर्यायमें स्त्री हुए। और इसी कारण पीछेके श्वेताम्बर टीकाकारोंने उक्त नियमका यह खुलासा किया है कि 'सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्री नहीं होता यह बाहुल्यकी अपेक्षा कहा है।'

यहाँ हमें इस कथाके सन्दर्भ पर विचार न कर केवल इतना ही देखना है कि यह स्त्री नामकर्म गोत्र क्या वस्तु है। क्या यह नौ नोकषायोंमेंसे स्त्रीवेद नामक नोकषाय है या इस द्वारा अङ्गोपाङ्गका निर्देश किया गया है? जब महाबलकी पर्यायमें इस कर्मका बन्ध होता है तब वे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु थे और सम्यग्दृष्टिके स्त्रीवेदका बन्ध नहीं होता ऐसा कर्मशास्त्रका नियम है क्योंकि स्त्रीवेदका बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। इसलिए यह बँधनेवाला कर्म स्त्रीवेद नामक नोकषाय तो हो नहीं सकता। रही अङ्गोपाङ्गकी बात तो एक तो अङ्गोपाङ्गमें ऐसा भेद परिलक्षित नहीं होता। अवान्तर भेदोंकी

1. देखो अध्यायन 8। 2. तए णं से महबल्ले अणगारे इवेणं कारणेणं इत्तिणामकम्मं मे यं विट्ठत्तिस्सु।
जाता० पृ० 312।

अपेक्षा कदाचित् ऐसा भेद मान भी लिया जाय तो कर्मशास्त्रके नियमानुसार अशुभ अङ्गोपाङ्गका बन्ध प्रमत्त-संयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें होता है यह इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि स्त्रीवेद सम्बन्धी अशुभ अङ्गोपाङ्गकी बन्धव्युच्छिष्टि दूसरे गुणस्थान तक होना ही सम्भव है। इसलिए प्रस्तुत प्रकरणमें न तो ज्ञाताधर्मकथाकी इस कथाको आधार माना जा सकता है और न ही इस आधारसे श्वेताम्बर टीकाकारोंका यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि 'सम्यग्दृष्टि ज्वर मरकर स्त्रीवेदियोंमें नहीं उत्पन्न होता यह बाहुल्य की अपेक्षा कहा है।'

इतने विचारके बाद जब हम सर्वार्थसिद्धिके उक्त कथन पर ध्यान देते हैं तो हमें उसमें सन्देह होता है। उसमें तिर्यचिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन न होनेके हेतुका निर्देश किया गया है। यह तो स्पष्ट है कि जो मनुष्य तिर्यचायुका बन्ध कर सम्यग्दृष्टि हो क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है वह उत्तम भोगभूमिके पुरुष-वेदी तिर्यचोंमें ही उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यचोंमें नहीं। किन्तु इसके समर्थनमें जो द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात् यह युक्ति दी गयी है वह न केवल लचर है अपितु भ्रमोत्पादक भी है।

इस युक्तिके आधारसे पूरे वाक्यका यह अर्थ होता है कि तिर्यच द्रव्यवेदवाली स्त्रियोंमें चूँकि क्षायिक सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है, इसलिए क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्तम भोगभूमिके तिर्यच पुरुषोंमें ही उत्पन्न होते हैं। अब थोड़ा वारोकीसे पूरे सन्दर्भ पर विचार कीजिए। जो प्रश्न है, एक तरहसे वही समाधान है। तिर्यचिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता इसका विचार करना है। किन्तु उसके उत्तर में इतना कहना पर्याप्त था कि बद्धतिर्यचायु मनुष्य यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तो वह मरकर उत्तम भोग-भूमिके तिर्यच पुरुषोंमें ही उत्पन्न होता है ऐसा नियम है। वहाँ समर्थनमें 'द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात्' इस हेतु कथनकी क्या आवश्यकता थी। इसीको कहते हैं वही प्रश्न और वही उत्तर।

दूसरे यहाँ 'द्रव्यवेदस्त्रीणां' यह वाक्यरचना आगम परिपाटीके अनुकूल नहीं है अतएव भ्रमोत्पादक भी है, क्योंकि आगममें तिर्यच, तिर्यचनी और मनुष्य, मनुष्यिनी ऐसे भेद करके व्यवस्था की गयी है तथा इन संज्ञाओंका मूल आधार वेद नोकषायका उदय बतलाया गया है।

हमारे सामने यह प्रश्न था। हम बहुत कालसे इस विचारमें थे कि यह वाक्य ग्रन्थका मूलभाग है या कालान्तरमें उसका अंग बना है। तात्त्विक विचारणाके बाद भी इसके निर्णयका मुख्य आधार हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ ही थीं। तदनुसार हमने उत्तर भारत और दक्षिण भारतकी प्रतियोंका संकलन कर शंका-स्थलोंका मुद्रित प्रतियोंसे मिलान करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप हमारी धारणा सही निकली। यद्यपि सब प्रतियोंमें इस वाक्यका अभाव नहीं है पर उनमेंसे कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी थीं जिनमें यह वाक्य नहीं उपलब्ध होता है।

इसी सूत्रकी व्याख्यामें दूसरा वाक्य 'क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव' मुद्रित हुआ है। यहाँ मनुष्यिनियोंके प्रकरणसे यह वाक्य आता है। बतलाया यह गया है कि पर्याप्त मनुष्यिनियोंके ही तीनों सम्यग्दर्शनोंकी प्राप्ति सम्भव है, अपर्याप्त मनुष्यिनियोंके नहीं। निश्चयतः मनुष्यिनीक क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेदकी मुख्यतासे ही कहा है यह छोटित करनेके लिए इस वाक्यकी सृष्टि की गयी है।

किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि आगममें 'मनुष्यिनी' पद स्त्रीवेदके उदयवाले मनुष्य गतिके जीवके लिए ही आता है। जो लोकमें नारी, महिला या स्त्री आदि शब्दोंके द्वारा व्यवहृत होता है, आगमके अनुसार मनुष्यिनी शब्दका अर्थ उससे भिन्न है। ऐसी अवस्थामें उक्त वाक्यको मूलका मान लेने पर मनुष्यिनी शब्दके दो अर्थ मानने पड़ते हैं। उसका एक अर्थ तो स्त्रीवेदकी उदयवाली मनुष्यिनी होता ही है और दूसरा अर्थ महिला मानना पड़ता है चाहे उसके स्त्रीवेदका उदय हो या न हो।

ऐसी महिलाको भी जिसके स्त्रीवेदका उदय होता है मनुष्यिनी कहा जा सकता है और उसके क्षायिक सम्यग्दर्शनका निषेध करनेके लिए यह वाक्य आया है, यदि यह कहा जाय तो इस कथनमें कुछ भी तथ्यांश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि आगममें मनुष्यिनी शब्द भाववेदकी मुख्यतासे ही प्रयुक्त हुआ है, अतएव वह केवल अपने अर्थमें ही चरितार्थ है। अन्य आपत्तियोंका विधि-निषेध करना उसका काम नहीं है, वह मुख्यरूपसे चरणानुयोगका विषय है।

हमने इस वाक्य पर भी पर्याप्त ऊहापोह कर सब प्रतियोंमें इसका अनुसन्धान किया है। प्रतियोंके मिलान करनेसे ज्ञात हुआ कि यह वाक्य भी सब प्रतियोंमें नहीं उपलब्ध होता।

इसी प्रकार एक वाक्य 'सत्संख्या'—इत्यादि सूत्रकी व्याख्याके प्रसंगसे लेश्या प्रकरणमें आता है। जो इस प्रकार है—

'द्वादशभागाः कुतो न लभ्यन्ते, इति चेत् तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव । अथवा येषां मते सासादनएकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया पञ्चैव ।'

प्रकरण कृष्ण आदि लेश्यावाले सासादनसम्पद्दृष्टि जीवोंके स्पर्शनका है। तिर्यच और मनुष्य सासादनसम्पद्दृष्टि जीव मर कर नरकमें नहीं उत्पन्न होते। जो देवगतिमें जाते हैं या देवगतिसे आते हैं उनके कृष्ण आदि अशुभ लेश्याएँ नहीं होतीं। नरकसे आनेवालोंके कृष्ण आदि अशुभ लेश्याएँ और सासादनसम्पद्दर्शन दोनों होते हैं। इसी अपेक्षाः यहाँ कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले सासादनसम्पद्दृष्टि जीवोंका स्पर्शन क्रमसे कुछ कम पाँच बटे चौदह राजु, कुछ कम चार बटे चौदह राजु और कुछ कम दो बटे चौदह राजु कहा गया है।

यह षट्खण्डागमका अभिमत है। सर्वार्थसिद्धिमें सत्, संख्या और क्षेत्र आदि अनुयोगद्वारोंका निरूपण जीवद्वारा छत्तखंडागमके अनुसार ही किया गया है। कषायप्राभूतका अभिमत इससे भिन्न है। उसके मतसे सासादनसम्पद्दृष्टि जीव मर कर एकेन्द्रियोंमें भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए इस अपेक्षासे कृष्ण लेश्यामें सासादनसम्पद्दृष्टिका कुछ कम बारह बटे चौदह राजु स्पर्शन भले ही बन जावे, परन्तु षट्खण्डागमके अभिप्रायसे इन लेश्याओं में यह स्पर्शन उपलब्ध नहीं होता।

हमारे सामने यह प्रश्न था। सर्वार्थसिद्धिमें जब भी हमारा ध्यान 'द्वादशभागाः कुतो न लभ्यन्ते' इत्यादि वाक्य पर जाता था, हम विचारमें पड़ जाते थे। प्रश्न होता था कि यदि सर्वार्थसिद्धिकारकी मतभेदकी चर्चा करनी इष्ट थी तो सत्प्ररूपणा आदि दूसरे अनुयोगद्वारोंमें उन्होंने इस मतभेद का निर्देश क्यों नहीं किया? अनेक प्रकारसे इस वाक्य के समाधानकी ओर ध्यान दिया, पर समुचित समाधानके अभावमें चुप रहना पड़ा। यह विचार अवश्य होता था कि यदि सर्वार्थसिद्धिकी प्राचीन प्रतियोंका आश्रय लिया जाय तो सम्भव है उनमें यह वाक्य न हो। हमें यह संकेत करते हुए प्रसन्नता होती है कि हमारी धारणा ठीक निकली। मूडबिंदीसे हमें जो ताडपत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हुईं उनमें यह वाक्य नहीं है। इस आधारसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यह वाक्य भी सर्वार्थसिद्धिका नहीं है।

सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि मूलका मुद्रण कल्लप्पा भरमण्णा निटबेने कोलहापुरसे किया था। दूसरा मुद्रण श्री मोतीचन्द्र गोतमचन्द्र कोटारी द्वारा सम्पादित होकर सोलापुरसे हुआ है। तथा तीसरी बार श्रीमान् पं० अंशुधरजी सोलापुरवालोंने सम्पादित कर इसे प्रकाशित किया है। पण्डितजी ने इसे सम्पादित करनेमें पर्याप्त श्रम किया है और अन्य संस्करणों की अपेक्षा यह संस्करण अधिक शुद्ध है। फिर भी जिन महत्त्वपूर्ण संकाशस्थलोंकी ओर हमने पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया है वे उस संस्करणमें भी यथास्थान अवस्थित हैं।

सर्वार्थसिद्धिके नीचे ७० टिप्पणियाँ उद्धृत की गयी हैं वे भी कई स्थलों पर प्रमोत्पादक हैं। उदाहरणार्थ कालप्ररूपणामें अनाहारकोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा सासादनसम्पद्दृष्टियोंका उत्कृष्ट काल आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण वतलाया गया है। इस पर टिप्पणी करते हुए टिप्पणकार लिखते हैं—

'आवलिकाया असंख्येयभाग इति—स च आवलिकाया असंख्येयभागः समयमात्रलक्षणत्वात् एकसमय एव स्यात्, आवल्याः असंख्यातसमयलक्षणत्वात् ।'

इसका तात्पर्य यह है कि वह आवलिका असंख्यातवाँ भाग एक समय लक्षणवाला होनेसे 'एक समय' प्रमाण ही होता है, क्योंकि एक आवलिमें असंख्यात समय होते हैं, अतः उसका असंख्यातवाँ भाग एक समय ही होगा।

स्पष्ट है कि यदि यहाँ आचार्योंको एक समय काल इष्ट होता तो वे इसका निर्देश 'एक समय' शब्द द्वारा ही करते। जीवस्थान कालानुयोगद्वारमें आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण कालका जो स्पष्टीकरण किया है उसका भाव यह है कि कई सासादनसम्पद्दृष्टि दो विग्रह करके दो समय तक अनाहारक रहे और तीसरे

समयमें अन्य सासादनसम्यग्दृष्टि दो दिग्रह करके अनाहारक हुए। इस प्रकार निरन्तर आवलिके असंख्यातवें भाग बार जीव दो-दो समय तक अनाहारक होते रहे। इसलिए आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण काण्डकोंको दो से गुणा करने पर अनाहारक सासादनसम्यग्दृष्टियोंका कुल काल उपलब्ध होता है (जीवस्थान पु० ४)।

अधितर हस्तलिखित प्रतियोंमें यह देखा जाता है कि पीछेसे अनेक स्थलों पर विषयको स्पष्ट करनेके लिए अन्य ग्रन्थोंके श्लोक, वाक्यांश या स्वतन्त्र टिप्पणियाँ जोड़ दी जाती हैं और कालान्तरमें वे ग्रन्थका अंग बन जाती हैं। सर्वार्थसिद्धिमें यह व्यरग्य बहुत ही बड़ी मात्रा में हुआ है। ऐसे तीन उदाहरण तो हम इस वक्तव्यके प्रारम्भ में ही उपस्थित कर आये हैं। कहना होगा कि यह किसी टिप्पणनकारकी सूझ है और उसने अपनी दृष्टिसे विषय को स्पष्ट करनेके लिए पहले वे वाक्य फुटनोटके रूप में हासियामें लिखे होंगे और आगे चलकर उसपर-से दूसरी प्रति तैयार करते समय वे ही मूल ग्रन्थके अंग बन गये होंगे। इसके सिवा आगे भी ऐसे कई वाक्यांश या गाथाएँ मिली हैं जो अधिकतर हस्तलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं होती और जिन्हें दूर कर देनेसे प्रकरणकी कुछ भी हानि नहीं होती। यहाँ हम कुछ ऐसे उपयोगी वाक्यांशके दो-तीन उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं जो प्राचीन संस्करणोंमें थे और इस संस्करणमें-से अलग करने पड़े हैं—

1. कुछ प्रतियोंमें तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्रकी वृत्तिमें 'घनं च घनो मन्दो महान् आयत इत्यर्थः' आदि पाठ उपलब्ध होता है। अब तककी मुद्रित प्रतियोंमें भी यह पाठ प्रकाशित हुआ है। हमारे सामने जो प्रतियाँ थीं उनमें से अधिकतर प्रतियोंमें यह पाठ नहीं है और वृत्ति को देखते हुए वह वृत्तिकारका प्रतीत भी नहीं होता, इसलिए इस पाठ को ऊपर न देकर नीचे टिप्पणी में दिखा दिया है।

2. नौवें अध्याय नौवें सूत्रके मलपरीषहके व्याख्यानके अन्तमें 'केदालुञ्चसंस्काराभ्यामुत्पन्नस्येवसहं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम्।' यह वाक्य मुद्रित प्रतियों में उपलब्ध होता है। किन्तु हमारे सामने जो हस्तलिखित प्रतियाँ थीं उनमें यह वाक्य नहीं पाया जाता। वाक्य-रचनाको देखते हुए यह सर्वार्थसिद्धिका प्रतीत भी नहीं होता। तथा किसी परीषहका स्वरूपनिर्देश करनेके बाद सर्वार्थसिद्धिमें पुनः उस परीषहके सम्बन्धमें विशेष स्पष्टीकरण करनेकी परिपाटी भी नहीं दिखाई देती, इसलिए हमने इस वाक्यको मूलमें न देकर टिप्पणी में अलगसे दिखा दिया है।

2. प्रस्तुत संस्करणमें स्वीकृत पाठकी विशेषता

यह हम पहले ही निर्देश कर आये हैं कि प्रस्तुत संस्करणके पहले सर्वार्थसिद्धिके अनेक संस्करण प्रकाशमें आ चुके थे। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत संस्करण के सम्पादनके किसी पाठको स्वीकार करने या अस्वीकार करनेमें हमारे सामने बड़ी कठिनाई रही है। साधारणतः हमने इस बातका ध्यान रखा है कि मुद्रित प्रतियोंमें जो पाठ उपलब्ध होते हैं, सर्वप्रथम उन्हें ही प्रमुखता दी जाय। किन्तु इस नियमका हम सर्वत्र पालन नहीं कर सके। यदि हमें उनसे उपयुक्त पाठ अन्य हस्तलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध हुए तो उन्हें स्वीकार करनेमें हमने संकोच नहीं किया।

3. प्रति परिचय

और भी ऐसी अनेक कई बातें थीं जिनके कारण हमने कई प्राचीन प्रतियोंके आधारसे इसे पुनः सम्पादित करनेका निश्चय किया इसके लिए हमने भूडविद्वीकी दो ताडपत्रीय प्रतियाँ, दिल्ली भाण्डारसे दं. हस्तलिखित प्रतियाँ और जैन सिद्धान्तभवन आरासे एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त की। मुद्रित संस्करणोंमें से हमारे सामने श्री वं० कल्लप्पा भरमप्पा निटवे द्वारा सम्पादित और श्री वं० वंसीधरजी सोलापुर द्वारा सम्पादित प्रतियाँ थीं। इस काममें भूडविद्वीकी एक ताडपत्रीय प्रति और दिल्ली भाण्डारकी एक हस्तलिखित प्रति विशेष उपयोगी सिद्ध हुई। अन्य प्रतियोंकी अपेक्षा ये अधिक शुद्ध थीं। फिर भी आदर्श प्रतिके रूपमें हम किसी एक को मुख्य मानकर न चल सके। हम यह तो नहीं कह सकते कि सर्वार्थसिद्धिका प्रस्तुत संस्करण सब दृष्टियोंसे अन्तिम है, फिर भी इसे सम्पादित करते समय इस बातका ध्यान अवश्य रखा गया

है कि जहाँ तक बने इसे अधिक परिशुद्ध और परम्परागत आगमके अनुसार मूलग्राही बनाया गया है।

प्रतियोंका परिचय देनेके पहले हम इस बातको स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सर्वाधिकसिद्धिको सम्मादित होकर प्रकाशमें आनेमें आवश्यकतासे अधिक समय लगा है। इतने लम्बे कालके भीतर हमें अनेक बार गृह-परिवर्तन करना पड़ा है और भी कई अड़चनें आयी हैं। इस कारण हम अपने सब कागजात सुरक्षित न रख सके। ऐसे कई उपयोगी कागज पत्र हम गँवा बैठे जिनके न रहने से हमारी बड़ी हानि हुई है। उन कागज-पत्रोंमें प्रतिपरिचय भी था, इसलिए प्रतियोंका जो पूरा परिचय हमने लिख रखा था वह तो इस समय हमारे सामने नहीं है। वे प्रतियाँ भी हमारे सामने नहीं हैं जिनके आधारसे हमने यह कार्य किया है। फिर भी हमारे मित्र श्रीयुत पं० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिंदी और पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य दिल्ली की सत्कृपासे उक्त स्थानोंकी प्रतियोंका जो परिचय हमें उपलब्ध हुआ है वह हम यहाँ दे रहे हैं—

(1) ता०—यह मूडबिंदीकी ताडपत्रीय प्रति है। लिपि कनाडी है। कुल पत्र 116 हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठमें पंक्ति 10 और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर लगभग 71 हैं। प्रति शुद्ध और अच्छी हालत में है। सरस्वती गच्छ, बलात्कार गण कुन्दकुन्दान्वयके आ० वसुधरने भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदा शालि० शक 1551 विलम्बि संवत्सरके दिन इसकी लिपि समाप्त की थी। हमारे सामने उपस्थित प्रतियोंमें यह सबसे अधिक प्राचीन थी। इसका संकेताक्षर ता० है।

(2) ना०—यह भी मूडबिंदीकी ताडपत्रीय प्रति है। लिपि कनाडी है। कुल पत्र 101 हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठमें पंक्ति 9 और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर लगभग 107 हैं। प्रति शुद्ध और अच्छी अवस्थामें है। इसमें लिपिकर्ता तथा लिपिकालका निर्देश नहीं है। इसका संकेताक्षर ना० है।

(3) दि० 1—यह श्री लाला हरसुखराय सुगनचन्दजीके नये मन्दिरमें स्थित दि० जैन सरस्वती भाण्डार धर्मपुरा दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति है। पत्र संख्या 201 है। प्रत्येक पत्रमें 18 पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग 33 अक्षर हैं। पत्रकी लम्बाई 11 इंच और चौड़ाई 5 इंच है। चारों ओर एक-एक इंच हासिया छोड़कर बीचमें प्रतिलिपि की गयी है। कागज पुष्ट है, अक्षर भी बड़े सुन्दर हैं जो बिना किसी कष्टके आसानीसे पढ़े जाते हैं। लेखनकार्य संवत् 1752 आषाढ़ सुदि 11 गुरुवारको समाप्त हुआ था। प्रतिके अन्तमें यह प्रशस्ति उपलब्ध होती है—

‘प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं वरविग्रहरूपरंजितसुरेन्द्रं । सद्गुणसुधासमुद्रं वक्ष्ये सस्तां प्रशस्तिमहां ॥ 1 ॥
जगत्सारे हि सारेऽस्मिन्नहिंसाजलसागरे । नगरे नामराकीर्णे विस्तीर्णापणपत्रकं ॥ 2 ॥ छ ॥ संवत् 1752’
वर्षे आषाढ़ सुदि 11 गुरौ लिषायिताध्यात्मरतपरसाणेप्रमानावरणीयक्षयार्थं लिखितं ।’

इसका संकेताक्षर दि० 1 है।

(4) दि० 2—यह भी पूर्वोक्त स्थानकी हस्तलिखित प्रति है। पत्र संख्या 111 है। प्रत्येक पत्रमें 12 पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग 50 अक्षर हैं। मात्र प्रथम और अन्तिम पत्रमें पंक्ति संख्या कम है। पत्रकी लम्बाई सवा ग्यारह इंच और चौड़ाई 5 इंच है। अगल-बगलमें सवा इंच और ऊपर-नीचे तीन इंच हासिया छोड़कर प्रतिलिपि की गयी है। प्रतिके अन्तमें आये हुए लेखसे विदित होता है कि यह प्रति सं० 1875 अश्विन वदि 14 मंगलवारको लिखकर समाप्त हुई थी। लेख इस प्रकार है—

‘संवत् 1875 मासोत्तममासे अश्विनीमासे कृष्णपक्षे तिथौ च शुभ चतुर्दशी भूमिवासरेण लिखितं जैसिंहपुरामध्ये पिरामदास मोहाका जेनी भाई ।’

इस प्रतिके देखनेसे विदित होता है कि यह सम्भवतः दि० 1 के आधारसे ही लिखी गयी होगी। प्रतिकार श्री पिरामदास जी जैन हैं और नरसिंहपुरा (नयी दिल्ली) जिन मन्दिरमें बैठकर यह लिखकर तैयार हुई है। इसका संकेताक्षर दि० 2 है।

इन प्रतियोंके सिवा पाँचवीं प्रति श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा की है। ये प्रति वाचनके समय उपयोग में ली गयीं हैं। तथा मुद्रणके समय मध्यप्रदेश सागर जिलाके अन्तर्गत खिमलासा गाँवकी प्रति भी सामने रही है। यह गाँव पहले समृद्धिशाली नगर रहा है। यह बीना इटावासे मालघौनको जानेवाली सड़कपर स्थित है और बीना इटावासे लगभग 12 मील दूर है। प्राचीन उल्लेखोंसे विदित होता है कि इसका प्राचीन

नाम क्षेमोल्लास है। खिमलासा उसीका अपभ्रंश नाम है। नगरके चारों ओर परकोटा और खण्डहर प्राचीन-कालीन नगरकी समृद्धिके साक्षी हैं। यहाँका जिनमन्दिर दर्शनीय है। इसमें एक सरस्वतीभवन है जिसमें अनेक ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ अब भी मौजूद हैं।

4. प्रकाशनमें ढिलाईका कारण

सर्वप्रथम इसका सम्पादन हमने स्वतन्त्र भावसे किया था। सम्पादनमें लगनेवाली आवश्यक सामग्री हमें स्वयं जुटानी पड़ी थी। एक बार कार्यके चल निकलने पर हमें आशा थी कि हम इसे अतिशीघ्र प्रकाशमें ले आवेंगे। एक-दो साहित्यिक संस्थाएँ इसके प्रकाशनके लिए प्रस्तुत भी थीं, परन्तु कई प्रतियोंके आधारसे मूलका मिलान कर टिप्पण लेना और अनुवाद करना जितने जल्दी हम सोचते थे उतने जल्दी कर नहीं सके। परिणाम स्वरूप वह काम आवश्यकतासे अधिक पिछड़ता गया। इसी बीच वि० सं० 2003 में श्री पूज्य श्री 105 क्ष० गणेशप्रसादजी वर्णीकी सेवाओंके प्रति सम्मान प्रकट करनेके लिए श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना की गयी और सोचा गया कि सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन इसी ग्रन्थमालाकी ओरसे किया जाय। तदनुसार श्री भार्गव भूषण प्रेस में यह मुद्रणके लिए दे दी गयी। किन्तु प्रेसकी ढिलाई और ग्रन्थमालाके सामने उलरोत्तर दूसरे कार्योंके आते रहनेके कारण इसके प्रकाशनमें काफी समय लग गया।

5. भारतीय ज्ञानपीठ

इस साल किसी तरह हम इसके मुद्रणका कार्य पूरा करनेकी स्थितिमें आये ही थे कि एक तो जैन साहित्यका इतिहास लिखाने का कार्य इस संस्थाने स्वीकार कर लिया, दूसरे और भी कई ऐसी आर्थिक व दूसरी अड़चनें ग्रन्थमालाके सामने उठ खड़ी हुईं जिनको ध्यानमें रखकर ग्रन्थमालाने मेरी सम्मतिसे इसका प्रकाशन रोक दिया और मुझे यह अधिकार दिया कि इस कार्यको पूरा करनेका उत्तरदायित्व यदि भारतीय ज्ञानपीठ ले सके तो उचित आधारों पर यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठको साभार सौंप दिया जाय। ग्रन्थमालाकी इस मनसाको ध्यानमें रखकर मैंने भारतीय ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्रीमान् पं० अयोध्याप्रसादजी गोयलीयसे इस सम्बन्धमें बातचीत की। गोयलीयजीने एक ही उत्तर दिया कि अर्थाभाव या दूसरे किसी कारणसे सर्वार्थसिद्धिके प्रकाशनमें श्री म० वर्णी जैन ग्रन्थमाला कठिनाई अनुभव करती है तो भारतीय ज्ञानपीठ उसे यों ही अप्रकाशित स्थितिमें नहीं पड़ा रहने देगा। वह मुद्रण होनेके बाद शेष रहे कार्यको तो पूरा करायेगा ही, साथ ही वर्णी ग्रन्थमालाका इसपर जो व्यय हुआ है उसे भी वह सानन्द लौटा देगा। साधारणतः बातचीतके पहले भारतीय ज्ञानपीठसे यह कार्य करा लेना हम बहुत कठिन मानते थे, क्योंकि उसके प्रकाशनोंका जो क्रम और विशेषता है उसका सर्वार्थसिद्धिके मुद्रित फार्मोंमें हमें बहुत कुछ अंशोंमें अभाव सा दिखाई देता था। किन्तु हमें यहाँ यह सकेत करते हुए परम प्रसन्नता होती है कि ऐसी कोई बात इसके बीच में बाधक सिद्ध नहीं हुई। इससे हमें न केवल श्री गोयलीयजी के उदार अन्तःकरणका परिचय मिला अपितु भारतीय ज्ञानपीठके संचालनमें जिस विशाल दृष्टिकोणका आश्रय लिया जाता है उसका यह एक प्रांजल उदाहरण है।

6. अन्य हितैषियोंसे

सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठसे हुआ है यह देख कर हमारे कतिपय मित्रों और हितैषियोंको, जिन्होंने इसके प्रकाशनमें ग्रन्थमालाको आर्थिक व दूसरे प्रकारकी सहायता पहुँचायी है, अचरज होगा। परन्तु यह बहुत ही छोटा प्रश्न है कि इस ग्रन्थका प्रकाशन किस संस्थासे हो रहा है। उनके देखनेकी बात तो केवल इतनी-सी है कि उन्होंने साहित्यकी श्रीवृद्धिके लिए जो धन या दूसरे प्रकार की सहायता दी है उसका ठीक तरहसे उपयोग हो रहा है या नहीं। साधारणतः प्रबन्ध और कार्यकर्ताओंकी सुविधाकी दृष्टिसे ही अलग-अलग संस्थाओंकी स्थापना की जाती है। परन्तु है वे सब एक ही महावृद्धाकी शाखा-प्रशाखाएँ। अमुक फल अमुक शाखामें लगा और अमुक फल अमुक शाखामें यह महत्त्वकी बात नहीं है। महत्त्वकी बात

तो यह है कि उस महावृक्षकी हर एक शाखा-प्रशाखा तथा दूसरे अवयव अपने-अपने स्थानमें उचित कार्य कर रहे हैं, या नहीं। नाम रूपका आग्रह जैन परम्पराको न कभी इष्ट रहा है और न रहना चाहिए। केवल व्यवहारके संचालन हेतु इसको स्थान दिया जाता है। इसलिए सर्वार्थसिद्धिका प्रकाशन क्या वर्णी ग्रन्थ-मालासे हुआ, क्या भारतीय ज्ञानपीठसे दोनों चीजें एक हैं।

7. आभार प्रदर्शन

फिर भी यहाँ कई दृष्टियोंसे हमें अपने सहयोगियों, मित्रों व हितैषियोंके प्रति आभारस्वरूप दो शब्द अंकित कर देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यह एक निश्चित सी बात है कि जैन समाजका ध्यान जैन साहित्यके प्रकाशनकी ओर अभी उतना नहीं गया है जितना कि जाना चाहिए था। प्राचीन कालमें मन्दिर प्रतिष्ठा और शास्त्रोंको लिपिबद्ध कराकर यत्र तत्र प्रतिष्ठित करना ये दोनों कार्य समान माने जाते थे। अभी तक शास्त्रोंकी रक्षा इसी पद्धतिसे होती आयी है। हमारे पूर्वज चाहे उन शास्त्रोंके ज्ञाता हों चाहे न हों किन्तु वे शास्त्रोंकी प्रतिलिपि करा कर उनकी रक्षा करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे और इस कार्यमें प्रयत्नशील भी रहते थे, किन्तु जबसे मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ है तबसे एक तरहसे समाजने इस ओरसे अपनी आँख ही मूंद ली है। अब प्रतिलिपि कराना तो दूर रहा वे उनकी एक-एक मुद्रित प्रति निछावर देकर खरीदनेमें भी हिचकिचाते लगे हैं। इस मदमें व्यक्तिगत खर्च करनेकी बातको तो छोड़ो, वे सार्वजनिक धनसे भी यह कार्य सम्पन्न नहीं करना चाहते हैं जब कि वे इस धनका उपयोग दूसरे दिखावटी और अस्थायी कार्योंमें करते रहते हैं। उनका तर्क है कि इतने बड़े ग्रन्थोंकी हमारे यहाँ समझनेवाला ही कौन है? हम उनको मन्दिरमें रखकर क्या करेंगे? यदि इसी तर्कसे प्राचीन पुरुषोंने काम लिया होता तो क्या साहित्यकी रक्षा होना सम्भव था? यह कहना तो कठिन है कि हमने अपना पूरा साहित्य बचा लिया है। तथापि जो कुछ भी बचा लिया गया है वह पर्याप्त है। भगवान् महावीरकी चर्या और उनके उपदेशोंसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेकी क्षमता रखनेवाला एकमात्र साधन यह साहित्य ही है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इसकी संरक्षाके लिए हर एक सम्भव उपाय काममें लावे।

प्रसन्नता है कि इस ओर भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक व दूसरे कार्यकर्ताओंका पर्याप्त ध्यान गया है और वे इस बातका विचार किये बिना कि इसके प्रकाशन आदि पर पड़नेवाला व्यय वापस होगा या नहीं, सब प्रकारके प्राचीन साहित्यके प्रकाशनमें दत्तावधान हैं। सर्वार्थसिद्धिका भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होना उनकी इसी शुभ भावनाका सुफल है, इसलिए सर्वप्रथम हम नम्र शब्दोंमें उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिके सम्पादक होनेके नाते तो हमें यह कार्य करना ही है, साथ ही वर्णी ग्रन्थमालाके संचालक होनेके नाते भी हमें इसका निर्वाह करना है।

श्री ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला एक ऐसी संस्था है जिसे समाजके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंका पृष्ठबल प्राप्त है इसलिए सर्वार्थसिद्धिका उस द्वारा प्रकाशित हो जाना कठिन कार्य नहीं था फिर भी जो कठिन परिस्थिति उसके सामने थी उसे देखते हुए उसने जिस अनुकरणीय मार्गका श्रीगणेश किया है इसके लिए हम वर्णी ग्रन्थमालाकी प्रबन्ध समितिके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानते हैं।

यहाँ हम उन महानुभावोंके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझते हैं जिन्होंने एक मात्र सर्वार्थसिद्धिके प्रकाशनके प्रति अभिरुचि होनेके कारण अपनी उदार सहायता वर्णी ग्रन्थमाला को दी थी। देनेवाले महानुभाव ये हैं—

1. पूज्य श्री 108 आचार्य सूर्यसागरजी महाराजके सद्गुणसे श्रीमान् ब्र० लक्ष्मीचन्द्रजी वर्णी। वर्णीजी ने 1500) इस कामके लिए दिल्लीकी पहाड़ी धीरज व डिप्टीगंजकी समाजसे भिजवाये थे।

2. वर्णी ग्रन्थमालाके कोषाध्यक्ष बाबू रामस्वरूपजी बरआसागर। आपने इस कामके लिए 1601) प्रदान किये थे।

3. उदारचेता श्रीमान् नेमचन्द बालचन्दजी सा० वकील उस्मानाबाद। आपकी पौत्री ब्र० गजराबाई हमारे पास लब्धिसार क्षपणासार पढ़ने बनारस आयी थीं और लगभग दो माह यहाँ रही थीं। इसीके परिणाम-स्वरूप बहिन गजराबाईकी प्रेरणासे वकील सा० ने 1000) ग्रन्थमालाको प्रदान किये थे।

हस्तलिखित प्रतियोंके प्राप्त करनेमें हमें श्रीमान् पं० पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली, पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य जैन सिद्धान्त भवन आरा, पं० के० भुजबलिजी शास्त्री मूडबिंदी और पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य दिल्लीसे पूरी सहायता मिली है, अतएव हम इनके भी आभारी हैं।

भारतीय ज्ञानपीठके मैनेजर चि० श्री बाबूलालजी फागुल्ल उसके प्रकाशनोंको सुन्दर अं र आकर्षक बनानेमें पर्याप्त श्रम करते रहते हैं। सर्वार्थसिद्धिको इस योग्य बनानेमें व दूसरे प्रकारकी सहायता पहुँचानेमें भी उन्होंने हमें सहयोग दिया है, अतएव हम उनके भी आभारी हैं।

सर्वार्थसिद्धिके परिशिष्ट और विषयसूची हमारे सहपाठी पं० हीरालालजी शास्त्रीने तैयार किये हैं और आवश्यक संशोधनके साथ वे इसमें दिये गये हैं, अतएव हम इनका जितना आभार मानें थोड़ा है।

तत्त्वार्थसूत्रकी उपलब्ध टीकाओंमें सर्वार्थसिद्धि प्रथम टीका है। इसमें प्रमेयका विचार आगमिक, दार्शनिक आदि सभी पद्धतियोंसे किया गया है। हमें आशा है कि इस सम्पादनसे समाजमें इसका मान और अधिक बढ़ेगा।

—फुलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण से)

‘मैं कौन हूँ, मेरा स्वभाव क्या है, मैं कहाँ से आया हूँ, मुझे उपादेय क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? जो मनुष्य इन बातोंका विचार नहीं करता वह अपने गन्तव्य स्थानको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता ।’

आचार्य वादीभट्टसिंहने क्षत्रचूडामणिमें तत्त्वज्ञानके प्रसंगसे यह वचन कहा है। यह मनुष्यके कर्तव्यका स्पष्ट बोध कराता है। कर्तव्यका विचार ही जीवनका सार है। जो तिर्यञ्च हैं वे भी अपने कर्तव्यका विचार कर प्रवृत्ति करते हैं फिर मनुष्यको तो कथा ही अलग है।

प्रत्येक प्राणीके जीवनमें हम ऐसे-ऐसे विलक्षण परिणामन देखते हैं जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसा क्यों होता है ? क्या इसके लिए केवल बाह्य परिस्थिति ही एवमात्र कारण है ? एक पिताके दो बालक होते हैं। उनका एक प्रकारसे लालन-पालन होता है। एक पाठशालामें उन्हें शिक्षा मिलती है फिर भी उनके शील-स्वभावमें विलक्षण अन्तर होता है। क्यों ? इसका शारीरिक रचनाके सिवा कोई अज्ञात कारण अवश्य होना चाहिए। साधकोंने इस प्रश्नका गहरा मन्थन किया है। उत्तरस्वरूप उन्होंने विश्वको यही अनुभव दिया है कि जीवगत योग्यताके अनुसार पुराकृत कर्मोंके कारण प्राणियोंके जीवनमें इस प्रकारकी विविधता दिखाई देती है।

विश्वकी विविधताका अवलोकन कर उन्होंने कहा है कि इस प्राणीकी प्रथम अवस्था निर्गोद है। अनादि कालसे यह प्राणी इस अवस्थाका पात्र बना हुआ है। विस्तृत बालुकाराशिमें गिरे हुए वज्र सिकताकण का मिलना जितना दुर्लभ है, इस पर्यायसे निकल कर अन्य पर्यायका प्राप्त होना उतना ही दुर्लभ है। अन्य पर्यायोंकी भी कोई गिनती नहीं। उनमें परिभ्रमण करते हुए इसका पञ्चेन्द्रिय होना इतना दुर्लभ है जितना कि अन्य सब गुणोंके प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्यकी कृतज्ञता गुणका प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह पञ्चेन्द्रिय भी हो जाता है तो भी इससे इसका विशेष लाभ नहीं, क्योंकि एक मनुष्य पर्याय ही वह अवस्था है, जिसे प्राप्त कर यह अपनी उन्नतिके सब साधन जुटा सकता है। किन्तु इसका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। एक दृष्टान्त द्वारा साधकोंने इसे इन शब्दोंमें व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी चौपथ पर रखी हुई रत्नराशिका मिलना दुर्लभ है उसी प्रकार अन्य पर्यायोंमें परिभ्रमण करते हुए इसे मनुष्य पर्यायका मिलना दुर्लभ है। कदाचित् इसे मनुष्य पर्याय भी मिल जाती है तो भी उसे प्राप्त कर अपने कर्तव्यकर्तव्यके बोध द्वारा कर्तव्यके मार्गका अनुसरण करना और भी दुर्लभ है।

मनुष्य होने पर यह प्राणी नहीं मालूम कितनी ममताओंमें उलझा रहता है। कभी यह पुत्र, स्त्री और धर-द्वारकी चिन्ता करता है तो कभी अपनी मानप्रतिष्ठाकी चिन्तामें काल-यापन करता है। स्वरूप सम्बोधन की ओर इसका मन यत्किञ्चित् भी आकर्षित नहीं होता। जो इसका नहीं उसकी तो चिन्ता करता है और जो इसका है उसकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं। फल यह होता है कि यह न केवल परम दुर्लभ इस मनुष्य पर्यायको गवाँ बैठता है अपितु सम्यक् कर्तव्यका बोध न होनेसे इसे पुनः अनन्त यातनाओंका पात्र बनना पड़ता है।

इस स्थितिसे इस प्राणीका उद्धार कैसे हो, इस प्रश्नके समाधान स्वरूप साधकोंने अनेक मार्ग दर्साये हैं जिनमें सम्यक् श्रुतका अध्ययन मुख्य है। श्रुत दो प्रकारका है—एक वह जो ऐहिक इच्छाओंकी पूर्तिका मार्गदर्शन करता है और दूसरा वह जो विषय और कषायके मार्गको अनुपादेय बतला कर आत्महितके मार्गमें लगाता है। आत्माका हित क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर यदि हमें संक्षेपमें प्राप्त करना है तो यही कहा जा सकता है कि 'मोक्ष'। अतएव मोक्षप्राप्तिके साधनोंका जिसमें सम्यक् प्रकारसे ऊहापोह किया गया है वही शास्त्र सम्यक् श्रुत कहलानेकी पात्रता रखता है।

इस दृष्टिसे जब हम प्राचीन साहित्यको देखते हैं तो सर्वप्रथम हमारी दृष्टि द्वादशांग श्रुत पर जाती है। इसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीरकी वाणीसे है। यह तथ्य है कि जितने भी तीर्थङ्कर होते हैं वे अर्थात् उपदेश देते हैं और उनके प्रमुख शिष्य, जिन्हें कि गणधर कहते हैं, ग्रन्थ रूपमें अङ्गश्रुतकी रचना करते हैं। यह मुख्य रूपसे बारह आर्यों—विभागोंमें विभक्त होनेके कारण इसे द्वादशार कहते हैं और सभके मुख्य अधिपति गणधरों—गणियोंके द्वारा इसकी रचना की जानेसे इसका दूसरा नाम गणपिटक भी है।

भगवान् महावीरके मोक्ष जानेके बाद तीन अनुबद्ध केवली और पाँच श्रुतकेवली हुए हैं। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इन तक यह अङ्गश्रुत अपने मूलरूपमें आया है। इसके बाद उत्तरोत्तर बुद्धिबल और धारणाशक्तिके क्षीण होते जानेसे तथा पुस्तकारूढ़ किये जानेकी परिपाटी न होने से क्रमशः वह विच्छिन्न होता गया है। इस प्रकार एक ओर जहाँ अंगश्रुतका अभाव होता जा रहा था वहाँ दूसरी ओर श्रुतपरम्पराको अविच्छिन्न बनाये रखनेके लिए और उसका सीधा सम्बन्ध भगवान् महावीरकी वाणीसे बनाये रखनेके लिए प्रयत्न भी होते रहे हैं। अंगश्रुतके बाद दूसरा स्थान अंगश्रुतको मिलता है। इसको अंगबाह्य भी कहते हैं। इसके मूल भेद ये हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैयर्थिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। इनमेंसे सर्वार्थसिद्धिमें उत्तराध्ययन और दशवैकालिक केवल इन दो का ही उल्लेख किया है। श्री धवला टीकाके आधारसे विदित होता है कि इनकी रचना भी गणधरोंने ही की थी और अंगश्रुतके अस्तित्वकालमें ये उपस्थित थे। किन्तु धीरे-धीरे अंगश्रुतके समान इनकी भी धारण करनेकी शक्तिवाले श्रमणोंके न रहनेसे इनका भी अभाव होता गया। फल यह हुआ कि एक प्रकारसे हम मूलश्रुतसे सर्वथा वंचित हो गये। श्वेताम्बर परम्परामें जो आचारांग आदि अंगश्रुत और उत्तराध्ययन आदि अंगश्रुत उपलब्ध होता है वह विक्रम की पाँचवीं शताब्दिके बादका संकलन है, इसलिए वह मूलश्रुतकी दृष्टिसे विशेष प्रयोजनीय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार अंगश्रुत और अंगबाह्यश्रुतके विच्छिन्न होनेमें कुल 683 वर्ष लगे हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उत्तरकालमें भगवान् महावीरकी वाणीका कहिए या द्वादशांग वाणीका कहिए वारसा हमें किसी रूपमें मिला ही नहीं। भद्रबाहु श्रुतकेवलीके कालमें ही जैन परम्परा दो भागोंमें विभाजित हो गयी थी। पहली परम्परा जो भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करोंके तत्त्वज्ञानमूलक आचारकी बिना किसी संशोधनके ग्राह्य मानती रही वह उस समय दिगम्बर परम्परा या मूल श्रुतके नामसे प्रसिद्ध हुई और जिसने परिस्थितिवश संशोधन कर उसमें नये आचारका प्रवेश किया वह श्वेताम्बर परम्पराके नामसे प्रसिद्ध हुई। इस कारण मूल अंगश्रुत और अंगश्रुतको तो लिपिबद्ध नहीं किया जा सका, किन्तु कालान्तरमें ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने अङ्गश्रुतके आश्रयसे श्रुतकी रक्षा करनेका प्रयत्न किया है। षट्षण्डागम और कषायप्राप्तकी रचना उन प्रयत्नोंमेंसे सर्वप्रथम है। आचार्य कुन्दकुन्द लगभग उसी समय हुए हैं जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक शैली द्वारा जीवादि तत्त्वोंका और मोक्षमार्गके अनुरूप आचारका विचार करते हुए न केवल तीर्थङ्करोंके स्वावलम्बी मार्गकी रक्षा करनेका प्रयत्न किया है, अपितु उसमें बहुत कुछ अंशमें स्थिरता भी लायी है। इस तरह आरातीय आचार्यों द्वारा मूल श्रुतके अनुरूप श्रुतका निर्माण कर उसकी रक्षाके अनेक प्रयत्न हुए हैं। अखिल जैन परम्परामें रचनाकी दृष्टिसे जिस श्रुतकी सर्वप्रथम गणना की जा सकती है उसका संक्षेपमें विवरण इस प्रकार है—

ग्रन्थ नाम	कर्त्ता	रचनाकाल
षट्खण्डागम	आ० पुष्पदन्त भूतबलि	विक्रमकी दूसरी शताब्दी या इसके पूर्व
कषायप्राभृत	आ० गुणधर	" " समकालीन
कषायप्राभृत की चूर्णि	आ० यतिवृषभ	आचार्य गुणधरके कुछ काल बाद
समयप्राभृत, प्रवचनसारप्राभृत	आ० कुन्दकुन्द	विक्रमकी पहली-दूसरी शताब्दी
पञ्चास्तिकायप्राभृत, नियमसार	"	"
व अष्टप्राभृत		
मूलाचार (आचारंग)	आ० बटुकेर	आ० कुन्दकुन्दके समकालीन
मूलाराधना (भगवतीआराधना)	आ० शिवार्य	" "
तत्त्वार्थसूत्र	आ० गृद्धपिच्छि	आ० कुन्दकुन्दके समकालीन या कुछ काल बाद
रत्नकरण्डश्रावकाचार	आ० समन्तभद्र	आ० कुन्दकुन्दके कुछ काल बाद

इसके बाद भी श्रुतरक्षाके अनेक प्रयत्न हुए हैं। श्वेताम्बर अंगश्रुतका संकलन उन प्रयत्नों में से एक है। यह विक्रमकी 6वीं शताब्दीमें संकलित होकर पुस्तकारूढ़ हुआ था।

1. तत्त्वार्थसूत्र

इनमेंसे प्रकृतमें तत्त्वार्थसूत्रका विचार करना है। यह जैन दर्शनका प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें जैनान्तर और जैन तत्त्वज्ञानके सभी पहलुओं पर सूत्र शैलीमें विचार किया गया है। यह सुनिश्चित है कि जैन

1. इनके समयके विषयमें बड़ा विवाद है। वीरसेन स्वामीने इन्हें वाचक आर्यमंक्षु और नाम-हस्तिका शिष्य लिखा है। इन दोनोंका श्वेताम्बर पट्टावलिमें उल्लेख आता है। सम्भवतः ये और श्वेताम्बर परम्परामें उल्लिखित आर्यमंक्षु और नामहस्ति अभिन्न व्यक्ति हैं और वे ही आ० यतिवृषभके गुरु प्रतीत होते हैं। जीवस्थान क्षेत्रप्रमाणानुगमकी ध्वला टीकामें आचार्य वीरसेनने जिस तिलोयपण्णत्तिका उल्लेख किया है वह वर्तमान तिलोयपण्णत्तिसे भिन्न ग्रन्थ है। यह हो सकता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें उसका कुछ भाग सम्मिलित कर लिया गया हो पर इससे दोनोंकी अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रस्तावनामें जैनसिद्धान्त भास्करके एक अंशमें प्रकाशित मेरे लेखका खण्डन करते हुए जो वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी प्राचीन तिलोयपण्णत्तिसे अभिन्नता सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह उनका उचित प्रयत्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें लोकके जिस आकारकी चर्चा की गयी है उसका प्राचीन तिलोयपण्णत्तिमें उल्लेख नहीं है और इस आधारसे यह मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिके आधारसे जो राजकाल गणनाके बाद आचार्य यतिवृषभकी स्थिति मानी जाती है वह भी उचित नहीं है। इसके लिए पहले यह सिद्ध करना होगा कि इस राजकाल गणनाका उल्लेख प्राचीन तिलोयपण्णत्तिमें भी पाया जाता है तभी यह मान्यता समीचीन ठहर सकेगी कि आचार्य यतिवृषभ महावीर संवत्से हजार वर्ष बाद हुए हैं। तत्काल ध्वलाके उल्लेखके अनुसार आचार्य यतिवृषभको महावाचक आर्यमंक्षु और नामहस्तिका शिष्य होनेके नाते उन्हें उस समयका ही मानना चाहिए जिस समय उन दो महान् आचार्योंने इस भूमण्डलको अलंकृत किया था। 2. इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागम पर आ० कुन्दकुन्दकी टीकाका भी उल्लेख किया है। इस आधारसे षट्खण्डागमका रचनाकाल प्रथम शताब्दीसे भी पूर्व ठहरता है। अधिकतर विचारक 683 वर्षकी परम्पराके बाद इन ग्रन्थोंको स्थान देते हैं, किन्तु मेरे विचारसे श्रुतकी परम्परा किस क्रमसे आयी इतना मात्र दिखाना उसका प्रयोजन है। षट्खण्डागम आदिके रचयिता 683 वर्ष पूर्व हुए हों तो इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं है।

आगमश्रुतकी मुख्य भाषा प्राकृत रही है तथा इसके आधारसे आरातीय आचार्योंने जो ग्रंथवाह्य श्रुत लिपिबद्ध किया है वह भी प्रायः प्राकृत भाषामें ही लिखा गया है। प्राकृत भाषाके जो विविध स्थित्यन्तर उपलब्ध होते हैं उनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि यह भगवान् महावीर और उनके आगे-पीछे बहुत काल तक बोल-चालकी भाषा रही है। पालि, जिसमें कि प्राचीन महत्त्वपूर्ण बौद्ध साहित्य उपलब्ध होता है, प्राकृतका ही एक भेद है। प्रारम्भसे जैनों और बौद्धोंकी प्रकृति जनताकी उनकी भाषामें उपदेश देनेकी रही है। परिणाम-स्वरूप इन्होंने अधिकतर साहित्य रचनाका कार्य जनताकी भाषा प्राकृतमें ही किया है। किन्तु धीरे-धीरे भारतवर्षमें ब्राह्मण धर्मका प्राबल्य होनेसे और उनकी साहित्यिक भाषा संस्कृत होनेसे बौद्धों और जैनोंकी संस्कृत भाषामें भी अपना उपयोगी साहित्य लिखनेके लिए बाध्य होना पड़ा है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना करते समय वह संस्कृत भाषामें लिखा गया है। जैन परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें संस्कृत भाषामें रचा गया यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसके पहले केवल संस्कृत भाषामें जैन साहित्यकी रचना हुई हो इसका कोई निश्चित आधार उपलब्ध नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्र लघुकाय सूत्रग्रन्थ होकर भी इसमें प्रमेयका उत्तमताके साथ संकलन हुआ है। इस कारण इसे जैन परम्पराके सभी सम्प्रदायोंने समान रूपसे अपनाया है। दार्शनिक जगत्में तो इसे ख्याति मिली ही, आठ्यात्मिक जगत्में भी इसका कुछ कम आदर नहीं हुआ है। इस दृष्टिसे वैदिकोंमें गीताका, ईसाइयोंमें बाइबिलका और मुसलमानोंमें कुरानका जो महत्त्व है वही महत्त्व जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका माना जाता है। अधिकतर जैन इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं और कुछ अष्टमी-चतुर्दशीकी दशलक्षण पर्वके दिनोंमें इसके एक-एक अध्याय पर प्रतिदिन प्रवचन होते हैं जिन्हें आम जनता बड़ी श्रद्धाके साथ श्रवण करती है। इसके सम्बन्धमें ख्याति है कि जो कोई गृहस्थ इसका एक बार पाठ करता है उसे एक उपवासका¹ फल मिलता है।

नाम—प्रस्तुत सूत्रग्रन्थका मुख्य नाम 'तत्त्वार्थ' है। इस नामका उल्लेख करनेवाले इसके टीकाकार मुख्य हैं। इनकी प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धिमें प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति-सूचक पुष्पिकामें यह वाक्य आता है—

इति तत्त्वार्थसूत्रो, सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां अध्यायः समाप्तः ।

इसके अन्तमें प्रशंसासूचक तीन श्लोक आते हैं। उनमें भी प्रस्तुत टीकाकी तत्त्वार्थवृत्ति कहकर प्रस्तुत ग्रन्थकी 'तत्त्वार्थ' इस नामसे घोषणा की गयी है। तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी भी यही स्थिति है। इन दोनों टीका-ग्रन्थोंके प्रथम मंगल-श्लोकमें और प्रत्येक अध्यायकी समाप्ति-सूचक पुष्पिकामें, मूल ग्रन्थके इसी नामका उल्लेख मिलता है।

तत्त्वार्थ सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। सम्प्रदर्शनके विषय-रूपसे इन सात तत्त्वार्थोंका प्रस्तुत सूत्र-ग्रन्थमें विस्तारके साथ निरूपण किया गया है। मालूम पड़ता है कि इसी कारणसे इसका तत्त्वार्थ यह नाम प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है।

लोकमें इसका एक नाम तत्त्वार्थसूत्र भी प्रचलित है। इस नामका उल्लेख वीरसेन स्वामीने अपनी ध्वला² नामकी प्रसिद्ध टीकामें किया है। सिद्धसेन गणि भी अपनी टीकामें कुछ अध्यायोंकी समाप्ति-सूचक पुष्पिकामें³ इस नामका उल्लेख करते हैं। इसमें जीवादि सात तत्त्वार्थोंका सूत्र शैलीमें विवेचन किया गया है इससे इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थसूत्र पड़ा जान पड़ता है। किन्तु पिछले नामसे इस नाममें सूत्र पद अधिक होनेसे सम्भव है कि ये दोनों नाम एक ही हों। केवल प्रयोगकी सुविधाकी दृष्टिसे कहीं इसका

1. 'दशाध्यायपरिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति, फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ।' 2. 'तद् गिद्धपिच्छा-इरिक्पयासिदत्तचत्थसुत्ते वि वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य' इति दब्बकाली पक्खिदो । जीवस्थानकालः नुयोगद्वार पृ० 316 प्र० सं० । 3. इति तत्त्वार्थसूत्रं भाष्यसंयुक्ते भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां आस्रवप्रतिपादनपरः पञ्चीध्यायः समाप्तः ।

केवल 'तत्त्वार्थ' इस नामसे और कहीं 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामसे उल्लेख किया जाता रहा हो। किसी वस्तुका जो नाम होता है उसके एकदेशका उल्लेख करके भी उस वस्तुका बोध करानेकी परिपाटी पुरानी है। बहुत सम्भव है कि इसी कारण इसका 'तत्त्वार्थ' यह नाम भी प्रसिद्धिमें आया हो। सिद्धसेन गणिने इसका तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थ इन दोनों नामोंके द्वारा उल्लेख किया है। इससे भी ये दोनों नाम एक ही हैं इस अर्थकी पुष्टि होती है।

इसका एक नाम मोक्षशास्त्र भी है। मोक्षशास्त्र इस नामका उल्लेख प्राचीन टीकाकारों या अन्य किसीने किया है ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया। तथापि लोकमें इस नामकी अधिक प्रसिद्धि देखी जाती है। तत्त्वार्थसूत्रका प्रारम्भ मोक्षमार्गके उपदेशसे होकर इसका अन्त मोक्षके उपदेशके साथ होता है। जान पड़ता है कि यह नाम इसी कारणसे अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है।

सर्वार्थसिद्धि के बाद इसकी दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका तत्त्वार्थभाष्य माना जाता है। इसकी उत्थानिकामें यह श्लोक आता है —

‘तत्त्वार्थाधिगमार्थं बहुष्वं संग्रहं लघुग्रन्थम् ।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनेकदेशस्थ ॥ 2 ॥’

अर्थात् बहुत अर्थवाले और अर्हद्वचनके एक देशके संग्रहरूप तत्त्वार्थाधिगम नामके इस लघु ग्रन्थका मैं शिष्य-हितबुद्धिसे कथन करता हूँ।

तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें जो प्रशस्ति उपलब्ध होती है। उसमें भी तत्त्वार्थाधिगम इस नामका उल्लेख किया है। इस आधारसे यह कहा जाता है कि इसका मुख्य नाम तत्त्वार्थाधिगम है।

किन्तु इस आधारके होते हुए भी मूल सूत्र-ग्रन्थका यह नाम है इसमें हमें सन्देह है, क्योंकि एक तो ये उत्थानिकाके श्लोक और भाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्ति मूल सूत्र-ग्रन्थके अंग न होकर भाष्यके अंग हैं और भाष्य सूत्ररचनाके बाद की कृति है। दूसरे तत्त्वार्थसूत्रके साथ जो भाष्य की स्वतन्त्र प्रति उपलब्ध होती है उसमें प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिकासे यह विदित नहीं होता कि वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थभाष्यको तत्त्वार्थाधिगमसे भिन्न मानते हैं। प्रथम अध्यायके अन्तमें पायी जानेवाली पुष्पिकाका स्वरूप इस प्रकार है—

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हद्वचनसंग्रहे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः* ।

साधारणतः यदि किसी स्वतन्त्र ग्रन्थके अध्यायकी समाप्ति-सूचक पुष्पिका लिखी जाती है तो उसमें केवल मूल ग्रन्थका नामोल्लेख कर अध्यायकी समाप्तिकी सूचना दी जाती है और यदि टीकाके साथ अध्यायकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका लिखी जाती है तो उसमें मूल ग्रन्थका नामोल्लेख करनेके बाद अथवा बिना किये ही टीकाका उल्लेख कर अध्याय की समाप्तिकी सूचक पुष्पिका लिखी जाती है। उदाहरणार्थ केवल तत्त्वार्थसूत्रके अध्यायकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका इस प्रकार उपलब्ध होती है—

इति तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

तथा टीकाके साथ तत्त्वार्थसूत्रकी समाप्तिकी सूचक पुष्पिका का स्वरूप इस प्रकार है—

इति तत्त्वार्थसूत्रे सर्वार्थसिद्धिसंज्ञकायां प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

यहाँ पूज्यपाद स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रका स्वतन्त्र नामोल्लेख किये बिना केवल अपनी तत्त्वार्थ पर लिखी गयी वृत्तिका उसके नामके साथ उल्लेख किया है। इससे इस बातका स्पष्ट ज्ञान होता है कि तत्त्वार्थ नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उस पर लिखा गया यह वृत्तिग्रन्थ है। बहुत संभव है कि प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूचक पुष्पिका लिखते समय यही स्थिति वाचक उमास्वातिके सामने रही है। इस द्वारा

1. देखो, सिद्धसेन गणि टीका अध्याय एक और छहकी अन्तिम पुष्पिका। 2. देखो, रतनामकी सेठ ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थभाष्य प्रति।

वे तत्त्वार्थको स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर उसका अधिगम करानेवाले भाष्यको 'तत्त्वार्थाधिगम अहंत्वप्रवचनसंग्रह' कह रहे हैं। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थाधिगम यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न हो कर वाचक उमास्वातिकृत उसके भाष्यका है।

दो सूत्र-पाठ—प्रस्तुत ग्रन्थके दो सूत्र-पाठ उपलब्ध होते हैं—एक दिगम्बर परम्परा मान्य और दूसरा श्वेताम्बर परम्परा मान्य। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी रचना होनेके पूर्व मूल सूत्रपाठका क्या स्वरूप था, इसका विचार यथास्थान हम आगे करेंगे। यहाँ इन दोनों सूत्रपाठोंका सामान्य परिचय कराना मुख्य प्रयोजन है।

दिगम्बर परम्पराके अनुसार दसों अध्यायोंकी सूत्र संख्या इस प्रकार है—

$$33 + 53 + 39 + 42 + 42 + 27 + 39 + 26 + 47 + 9 = 357$$

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार दसों अध्यायोंकी सूत्र संख्या इस प्रकार है—

$$35 + 52 + 18 + 53 + 44 + 26 + 34 + 26 + 49 + 7 = 344$$

प्रथम अध्यायमें ऐसे पाँच स्थल मुख्य हैं जहाँ दोनों सूत्र पाठोंमें मौलिक अन्तर दिखाई देता है। प्रथम स्थल मतिज्ञानके चार भेदोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'अवाय' पाठकी और श्वेताम्बर परम्परा 'अपाय' पाठकी स्वीकार करती है। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थसूत्रका विवेचन करते हुए भी मुख्यरूपसे 'अवाय' पाठकी ही स्वीकार करते हैं। दूसरा स्थल मतिज्ञानके विषयभूत 12 पदार्थोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा क्षिप्रके बाद 'अनिसृतानुक्त' पाठकी और श्वेताम्बर परम्परा 'अनिश्रितासन्दिग्ध' पाठकी स्वीकार करती है। यहाँ पाठभेदके कारण अर्थभेद स्पष्ट है। तीसरा स्थल 'द्विविधोऽवधिः' सूत्र है। इसे श्वेताम्बर परम्परा सूत्र मानती है जब कि सर्वार्थसिद्धिमें यह 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवतारकाणाम्' सूत्रकी उत्थानिकाका अंश है। चौथा स्थल अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'क्षयोपशमनिमित्तः' पाठकी और श्वेताम्बर परम्परा 'यथोक्तनिमित्तः' पाठकी स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल सात नयोंका प्रतिपादक सूत्र है। यहाँ दिगम्बर परम्परा सातों नयोंको मूल मानकर उनका समान रूपसे उल्लेख करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मूल नय पाँच मानती है और नैगम व शब्दनयके क्रमशः दो व तीन भेदोंका स्वतन्त्र सूत्र द्वारा उल्लेख करती है। साधारणतः दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामें मूल नय सात माने गये हैं और आगम साहित्यमें इनका मूल नयके रूपमें उल्लेख भी किया है। पर जहाँ नामादि निक्षेपोंमेंसे कौन नय किस निक्षेपको स्वीकार करता है इसका विचार किया जाता है वहाँ बहुधा नैगमादि पाँच नयोंका भी उल्लेख किया जाता है। बहुत सम्भव है कि इस परिपाटीको देखकर वाचक उमास्वातिने पाँच नय मूल माने हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

दूसरे अध्यायमें ऐसे तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल पारिणामिक भावोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें पारिणामिक भावके तीन नाम गिनाने के बाद श्वेताम्बर परम्परा आदि पदको स्वीकार करती है जब कि दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। यहाँ जीवका स्वतत्त्व क्या है यह बतलाते हुए पारिणामिक भावों का उल्लेख किया है। दिगम्बर परम्परा अन्य ब्रह्म साधारण पारिणामिक भावोंकी यहाँ मुख्य रूपसे गणना नहीं करती और श्वेताम्बर परम्परा करती है यही यहाँ उसके आदि पद देनेका प्रयोजन है। दूसरा स्थल स्थावरकायिक जीवोंके भेदोंका प्रतिपादक सूत्र है। आगमिक परिपाटीके अनुसार स्थावरोंके पाँच भेद दोनों परम्पराएँ स्वीकार करती हैं और दिगम्बर परम्परा इसी परिपाटीके अनुसार यहाँ पाँच भेद स्वीकार करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराने अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको गतित्रय मानकर इनका उल्लेख त्रयोंके साथ किया है। इस कारण कई सूत्रोंकी रचनामें अन्तर आया है। तीसरा स्थल 'उपयोगः स्पर्शादिषु' सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे स्वतन्त्र सूत्र मानती है जब कि दिगम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपसे

1. देखो, धवला पुस्तक 12 वेदनाप्रत्ययविधान नामक अधिकार। देखो, कषायप्राभृत प्र० पुस्तक परिशिष्ट पृष्ठ 7।

स्वीकार नहीं करती। उसके मतसे उपयोगके विषयका अलगसे प्रतिपादन करना वांछनीय नहीं, क्योंकि प्रत्येक ज्ञानका विषय प्रथम अध्यायमें दिखा आये हैं। चौथा स्थल 'एकसमयाऽविग्रहा' सूत्र है। गतिका प्रकरण होनेसे दिगम्बर परम्परा इस सूत्रको इसी रूपमें स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा एक समयको विभेद्य मानकर यहाँ पुल्लिङ्ग एक वचनान्तका प्रयोग करती है। पाँचवाँ स्थल जन्मका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'पोत' पदको और श्वेताम्बर परम्परा 'पोतज' पदको स्वीकार करती है। छठा स्थल 'तजसमपि' सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा सूत्र मानती है और श्वेताम्बर परम्परा नहीं मानती। यहाँ निमित्तज सभी शरीरों की उत्पत्तिके कारणोंका विचार सूत्रोंमें किया गया है फिर भी श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपमें स्वीकार नहीं करती और इसे तत्त्वार्थभाष्यका अङ्ग मान लेती है। सातवाँ स्थल आहारक शरीरका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराने 'प्रमत्तसंयतरस्यैव' पाठके स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'चतुर्दशपूर्वधरस्यैव' पाठ स्वीकार करती है। आठवाँ स्थल 'शेषास्त्रिवेदाः' सूत्र है। इसे दिगम्बर परम्परा स्वतन्त्र सूत्र मानती है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इसे परिशेष न्यायका आश्रय लेकर सूत्र माननेसे अस्वीकार करती है। नौवाँ स्थल अनपवर्त्य आयुवालोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराने 'चरमोत्तमदेह' पाठके स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पाठको स्वीकार करती है।

तीसरे अध्यायमें ऐसे तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल पहला सूत्र है। इसमें अधोऽधः' के अनन्तर श्वेताम्बर परम्परा 'पृथुतराः' पाठको अधिक स्वीकार करती है। दूसरा स्थल दूसरा सूत्र है। इसमें आये हुए 'नारकाः' पदको श्वेताम्बर परम्परा स्वीकार न कर 'तासु नरकाः' स्वतन्त्र सूत्र मानती है। यहाँ इन द्वितीयादि चार सूत्रोंमें नारकोंकी अवस्थाका चित्रण किया गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराने अनुसार वह सब नरकों—आवासस्थानोंकी अवस्था का चित्रण हो जाता है। तीसरा स्थल ग्यारहवें सूत्रसे आगे 21 सूत्रोंकी स्वीकृति और अस्वीकृतिका है। इनको दिगम्बर परम्परा सूत्र रूपमें स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इन्हें सूत्र नहीं मानती।

चौथे अध्यायमें ऐसे कई स्थल हैं। प्रथम मतभेदका स्थल दूसरा सूत्र है। इस सूत्रको दिगम्बर परम्परा 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेभ्याः' इस रूपमें और श्वेताम्बर परम्परा 'तृतीयः पीतलेभ्यः' इस रूपमें स्वीकार करती है। श्वेताम्बर साहित्यमें ज्योतिषियोंके एक पीतलेभ्या कही है। इसीसे यह सूत्र विषयक मतभेद हुआ है और इसी कारण श्वेताम्बर परम्पराने सातवें मन्वरका 'पीलान्तलेभ्याः' स्वतन्त्र सूत्र माना है। दूसरा स्थल शेष कल्पोंमें प्रवीचरका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'द्वयोर्द्वयोः' पदको अधिक रूपमें स्वीकार करती है। इसके फलस्वरूप उसे आनतादि चार कल्पोंको दो मानकर चलना पड़ता है। तीसरा स्थल कल्पोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराने सोलह और श्वेताम्बर परम्परा ने बारह कल्पोंका नामोल्लेख किया है। चौथा स्थल लौकान्तिक देवोंकी संख्याका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्पराने आठ प्रकारके और श्वेताम्बर परम्पराने नौ प्रकारके लौकान्तिक देव गिनाये हैं। इतना होते हुए भी तत्त्वार्थभाष्यमें वे आठ प्रकारके ही रह जाते हैं। 'औपपादिकमनुष्येभ्यः' इत्यादि सूत्रके आगे इस अध्यायमें दोनों परम्पराने सूत्रपाठमें पर्याप्त अन्तर है। ऐसे अनेक सूत्र श्वेताम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठमें स्थान पाते हैं जिनका दिगम्बर परम्परामें सर्वथा अभाव है। कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जिनके विषयमें दिगम्बर परम्परा एक पाठ स्वीकार करती है और श्वेताम्बर परम्परा दूसरा पाठ। इस सब अन्तरके कई कारण हैं। एक तो कल्पोंकी संख्यामें अन्तरको स्वीकार करनेसे ऐसा हुआ है। दूसरे भवनवासी और ज्योतिषी देवोंकी स्थितिके प्रतिपादनमें श्वेताम्बर परम्पराने भिन्न रख स्वीकार किया है, इससे ऐसा हुआ है। लौकान्तिक देवोंकी स्थितिका प्रतिपादक सूत्र भी इस परम्पराने स्वीकार नहीं किया है।

पाँचवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल 'द्रव्याणि' और 'जीवाश्च' ये दो सूत्र हैं। दिगम्बर परम्परा इन्हें दो सूत्र मानती है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इनका एक सूत्ररूपसे उल्लेख करती है। दूसरा स्थल धर्मादि द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्याका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा धर्म, अधर्म और एक

जीवके प्रदेशोंकी एक साथ परिगणना करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा जीवके प्रतिपादक सूत्रको स्वतन्त्र मानकर चलती है। तीसरा स्थल 'सद्द्रव्यलक्षणम्' सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्ररूपमें स्वीकार नहीं करती। चौथा स्थल पुद्गलोंका बन्ध होने पर वे किस रूपमें परिणमन करते हैं इस बातका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'सम' पदको अधिक स्वीकार करती है। साधारणतः दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराएँ 'द्विगुण' गुणवाले का अपनेसे हीन गुणवालेके साथ बन्ध होता है' इस मतसे सहमत हैं किन्तु सूत्र रचनामें और उसके अर्थकी संगति बिठलानेमें श्वेताम्बर परम्परा अपनी इस आगमिक परिपाटीका त्याग कर देती है। पाँचवाँ स्थल काल द्रव्यका प्रतिपादक सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इस सूत्र द्वारा काल द्रव्यके अस्तित्वमें मतभेद स्वीकार करती है। समस्त श्वेताम्बर आगम साहित्यमें काल द्रव्यके स्थानमें 'अद्वासमय' का उल्लेख किया है और इसे प्रदेशात्मक द्रव्य न मान कर पर्याय द्रव्य स्वीकार किया है। छठा स्थल परिणामका प्रतिपादक सूत्र है। दिग्म्बर परम्परा 'तद्भावः परिणामः' केवल इस सूत्रको स्वीकार करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके साथ तीन अन्य सूत्र स्वीकार करती है।

छठे अध्यायमें ऐसे दस स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। इसे दिग्म्बर परम्परा एक और श्वेताम्बर परम्परा दो सूत्र मानती है। दूसरा स्थल 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः' इत्यादि सूत्र है। दिग्म्बर परम्पराने इसे इसी रूपमें स्वीकार किया है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके स्थानमें 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' यह पाठ स्वीकार करती है। तीसरा स्थल सात्वादिनीयके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिग्म्बर परम्परा 'भूतव्रतत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः' इस पाठको स्वीकार करती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके स्थानमें 'भूतव्रतत्यनुकम्पादानं सरागसंयमादि योगः' ऐसा पाठ स्वीकार करती है। चौथा स्थल चारित्र्यमोहके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'तीव्र' पदके बाद 'आत्म' पदको अधिक स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल तरकायुके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा मध्यमें 'च' पदको अधिक स्वीकार करती है। छठा स्थल मनुष्यायुके आस्रवके प्रतिपादक दो सूत्र हैं। इन्हें दिग्म्बर परम्परा दो सूत्र मानती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा उन दोनोंको एक मानकर चलती है। इतना ही नहीं, किन्तु वह 'स्वभावमार्दवं' के स्थानमें 'स्वभावमार्दवाज्ववं' पाठ स्वीकार करती है। सातवाँ स्थल देवायुके आस्रवके प्रतिपादक सूत्र है। इन सूत्रोंमें दिग्म्बर परम्पराने 'सम्यक्त्वं च' सूत्रका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसे सूत्र रूपमें स्वीकार करने से हिचकिचाती है। आठवाँ स्थल शुभ नामके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिग्म्बर परम्परा 'तत्' पद को अधिक स्वीकार करती है। नौवाँ स्थल तीर्थङ्कर प्रकृतिके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'साधुसमाधिः' के स्थानमें 'संघसाधुसमाधिः' पाठ स्वीकार करती है। दसवाँ स्थल उच्चगोत्रके आस्रवका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें 'तद्विपर्ययो' के स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'तद्विपर्ययो' पाठ स्वीकार करती है।

सातवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल पाँच व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाओंके प्रतिपादक पाँच सूत्र हैं। इन्हें दिग्म्बर परम्परा सूत्ररूपमें स्वीकार करती है और श्वेताम्बर परम्परा नहीं। दूसरा स्थल 'हिंसादिष्विहामुत्र' सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'अमुत्र' पदके बाद 'च' पदको अधिक स्वीकार करती है। तीसरा स्थल 'मैत्री—' इत्यादि सूत्र है। इसके मध्यमें दिग्म्बर परम्परा 'च' पदको अधिक स्वीकार करती है। चौथा स्थल 'जगत्काय—' इत्यादि सूत्र है। इसमें दिग्म्बर परम्परा 'वा' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'च' पाठको स्वीकार करती है। पाँचवाँ स्थल सात शीलोक प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिग्म्बर परम्परा 'प्रौषधोपवास' पाठको और श्वेताम्बर परम्परा 'प्रौषधोपवास' पाठको स्वीकार करती है। छठा स्थल अहिंसाजुगतके पाँच अतीचारोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें 'क्षेद' के स्थानमें श्वेताम्बर पाठ 'सविच्छेद' है।

आठवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे दो सूत्र मानकर चलती है। दूसरा स्थल ज्ञानावरणके पाँच भेदोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिग्म्बर परम्परा

ज्ञानके पाँच भेदोंका नाम निर्देश करती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा 'मस्यादीनाम्' इतना कहकर ही छोड़ देती है। तीसरा स्थल दर्शनावरणके नामोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा पाँच निद्राओंके नामोंके साथ 'वेदनीय' पद अधिक जोड़ती है। चौथा स्थल मोहनीयके नामोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें नामोंके क्रमके प्रतिपादनमें दोनों परम्पराओंने अलग-अलग सरणी स्वीकार की है। पाँचवें अन्तरायके नामोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा पाँच नामोंका निर्देश करती है और श्वेताम्बर परम्परा 'दानादीनाम्' इतना कहकर छोड़ देती है। छठा स्थल पुण्य और पाप प्रकृतियोंके प्रतिपादक दो सूत्र हैं। यहाँ श्वेताम्बर परम्पराने एक तो पुण्य प्रकृतियों में सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद इनकी भी परिगणना की है। दूसरे पापप्रकृतियोंका प्रतिपादक सूत्र नहीं कहा है।

नीवें अध्यायमें ऐसे छह स्थल हैं। प्रथम स्थल दस धर्मोंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'उत्तम' पदको क्षमा आदिका विशेषण मानकर चलती है और श्वेताम्बर परम्परा धर्मका विशेषण मानकर चलती है, फिर भी वह 'उत्तम' पदका पाठ 'धर्म' पदके साथ अन्तमें न करके सूत्रके प्रारम्भमें ही करती है। दूसरा स्थल पाँच चारित्र्योंका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें दिगम्बर परम्परा 'इति' पदको अधिक स्वीकार करती है। तीसरा स्थल ध्यानका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें 'अन्तर्मुहूर्तत्' के स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'आ मुहूर्तत्' पाठ स्वीकार कर उसे स्वतन्त्र सूत्र मानती है। चौथा स्थल आर्तध्यानके प्रतिपादक सूत्र है। इनमें श्वेताम्बर परम्पराने एक तो 'मनोज्ञस्य' और 'अमनोज्ञस्य' के स्थानमें बहुवचनान्त पाठ स्वीकार किया है। दूसरे 'वेदनायाश्च' सूत्रको 'विपरीत मनोज्ञस्य' के पहले रखा है। पाँचवाँ स्थल धर्म-ध्यानका प्रतिपादक सूत्र है। इसमें श्वेताम्बर परम्परा 'अप्रमत्तसंयतस्य' इतना पाठ अधिक स्वीकार कर 'उपशान्तक्षीणकषायोश्च' यह सूत्र स्वतन्त्र मानती है। छठा स्थल 'एकाग्रये' इत्यादि सूत्र है। इसमें 'सवितर्कविचारे' के स्थानमें श्वेताम्बर परम्परा 'सवितर्क' पाठ स्वीकार करती है।

दसवें अध्यायमें ऐसे तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल दूसरा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा इसे दो सूत्र मानकर चलती है। दूसरा स्थल तीसरा और चौथा सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा एक तो इन दो सूत्रोंको एक मानती है। दूसरे 'भव्यत्वानाम्' के स्थानमें 'भव्यत्वाभावत्' पाठ स्वीकार करती है। तीसरा स्थल 'पूर्वप्रयोगात्' इत्यादि सूत्र है। इस सूत्रके अन्तमें श्वेताम्बर परम्परा 'तद्गतिः' इतना पाठ अधिक स्वीकार करती है। तथा इस सूत्रके आगे कहे गये दो सूत्रोंको वह स्वीकार नहीं करती।

इन पाठ-भेदोंके अतिरिक्त दसों अध्यायोंमें छोटे-मोटे और भी बहुतसे फर्क हुए हैं जिनका विशेष महत्व न होनेसे यहाँ हमने उनका उल्लेख नहीं किया है।

3. सूत्र-पाठोंमें मतभेद—यहाँ हमने दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामान्य जिस सूत्र-पाठोंके अन्तरका उल्लेख किया है वह सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्र-पाठोंको ध्यानमें रखकर ही किया है। यदि हम इन सूत्र-पाठोंके भीतर जाते हैं तो हमें वह मतभेद और भी अधिक दिखाई देता है। फिर भी यह बात सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र-पाठ पर लागू नहीं होती। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने जो पाठ रहा है और उन्होंने निर्णय करके जिसे सूत्रकारका माना है, उत्तरकालवर्ती सभी दिगम्बर टीकाकार प्रायः उसीको आधार मानकर चले हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। हरिभद्रसूरि और सिद्धसेन गणिने तत्त्वार्थभाष्यके आधारसे अपनी टीकाएँ लिखी अवश्य हैं और इन दोनों आचार्योंने तत्त्वार्थभाष्यके साथ तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्र-पाठकी रक्षा करनेका भी प्रयत्न किया है। किन्तु उनके सामने ही सूत्र-पाठमें इतने अधिक पाठभेद और अर्थभेद हो गये थे जिनका उल्लेख करना उन्हें आवश्यक हो गया। उदाहरणके लिए यहाँ हम पाँचवें अध्यायके 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रको उपस्थित करते हैं। सिद्धसेन गणिने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अनेक मतभेदोंका उल्लेख किया है। उनके सामने इस सूत्रके जो प्रमुख मतभेद थे वे इस प्रकार हैं—

1. एक पाठके अनुसार 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' एक सूत्र न होकर दो सूत्र हैं। प्रथम 'नित्यावस्थितानि' और दूसरा 'अरूपाणि'। धर्मादिक चार द्रव्य अरूपी हैं यह सिद्ध करनेके लिए 'अरूपाणि' स्वतंत्र सूत्र माना गया है।

2. दूसरे पाठके अनुसार 'नित्यावस्थितारूपाणि' सूत्र है। इसके अनुसार 'नित्यावस्थित—' पदके अन्तमें स्वतंत्र विभक्ति देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। तीनों पद समसित होने चाहिए।

3. तीसरा मत है कि सूत्र तो 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ही है। किन्तु इसमें 'नित्य' पद स्वतंत्र न होकर 'अवस्थित' पदका विशेषण है। इस मतके अनुसार प्रथम पदका 'नित्य' अवस्थितानि नित्यावस्थितानि यह विग्रह होगा।

4. इनके सिवा वहाँ दो मतोंका और उल्लेख किया है। किन्तु वे केवल अर्थविषयक ही मतभेद हैं इसलिए उनकी यहाँ हमने अलगसे चर्चा नहीं की है।

आगे चलकर तो ये मतभेद और भी बढ़ें हैं। प्रमाणस्वरूप यहाँ हम तत्त्वार्थसूत्रकी उस सटिप्पण प्रतिके कुछ पाठभेद उपस्थित करते हैं जिनका परिचय श्रीमान् पण्डित जुगुलकिशोरजी मुख्तारने अनेकान्त वर्ष तीन किरण एकमें दिया है। यह प्रति पण्डितजीके पास श्रीमान् पण्डित नायूरामजी प्रेमीने भेजी थी।

इस प्रतिके आलोडन करनेसे यह तो साफ जाहिर होता है कि यह किसी श्वेताम्बर आचार्यकी कृति है, क्योंकि इसमें दिगम्बर आचार्योंकी जड़, दुरात्मा और सूत्रवचनचौर इत्यादि शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है। इसलिए इस प्रतिमें जो पाठभेद या अधिक सूत्र उपलब्ध होते हैं वे काफी महत्त्व रखते हैं। प्रतिमें पाये जाने वाले अधिक सूत्र ये हैं—

तैजसमपि 50, धर्मा वंशा शैलालङ्गजनारिष्ठा माघव्या माघवीति च 2, उच्छ्वासाहारवेदनोपपाता-नुभावतश्च साध्याः 23, स द्विविधः 42, सम्यक्त्वं च 21, धर्मास्तिकायाभावात् 7।

तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें सूत्र रूपमें स्वीकार नहीं करते। साथ ही तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य टीकाकार हरिभद्रसूरि और सिद्धसेनगणि भी इन्हें सूत्र नहीं मानते, फिर भी टिप्पणकारने इन्हें सूत्र माना है। यदि हम इनके सूत्र होने और न होनेके मतभेदकी बातको थोड़ी देरको भुला भी दें तो भी इनके मध्यमें पाया जाने-वाला 'सम्यक्त्वं च' सूत्र किसी भी अवस्थामें नहीं भुलाया जा सकता। तत्त्वार्थभाष्यमें तो इसका उल्लेख है ही नहीं, अन्य श्वेताम्बर आचार्योंने भी इसका उल्लेख नहीं किया है, फिर भी टिप्पणकार किसी पुराने आधारसे इसे सूत्र मानते हैं। इतना ही नहीं वे इसे मूल सूत्रकारकी ही कृति मानकर चलते हैं।

यह तो हुई सूत्रभेदकी चर्चा। अब इसके एक पाठभेदको देखिए। दिगम्बर परम्पराके अनुसार तीसरे अध्यायमें सात क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रके आदिमें 'तत्र' पाठ उपलब्ध नहीं होता, किन्तु तत्त्वार्थभाष्य-मान्य उक्त सूत्रके प्रारम्भमें 'तत्र' पद उपलब्ध होता है। फिर भी टिप्पणकार यहाँ तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठको स्वीकार न कर दिगम्बर परम्परामान्य पाठको स्वीकार करते हैं।

यहाँ देखना यह है कि जब तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य एक ही व्यक्तिकी कृति थी और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको भलीभाँति समझते थे तब सूत्रपाठके विषयमें इतना मतभेद क्यों हुआ और खासकर उस अवस्थामें जब कि तत्त्वार्थभाष्य उस द्वारा स्वीकृत पाठको सुनिश्चित कर देता है। हम तो इस समस्त मतभेदको देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ स्वीकृत होनेके पहले श्वेताम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठ निश्चित करनेके लिए छोटे-बड़े अनेक प्रयत्न हुए हैं और वे प्रयत्न पीछे तक भी स्वीकृत होते रहे हैं। यही कारण है कि वाचक उमास्वाति द्वारा तत्त्वार्थभाष्य लिखकर सूत्रपाठके सुनिश्चित कर देने पर भी उसे वह मान्यता नहीं मिल सकी जो दिगम्बर परम्परामें सर्वार्थसिद्धि और उस द्वारा स्वीकृत सूत्र पाठको मिली है।

2. सर्वार्थसिद्धि

1. नाम की साधकता—उपलब्ध साहित्यमें सर्वार्थसिद्धि प्रथम टीका है जो तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी

गयी है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें स्वयं आचार्य पूज्यपादने समाप्ति सूचक पुष्पिका¹ दी है। उसमें इसका नाम **सर्वार्थसिद्धि** बतलाते हुए इसे वृत्तिग्रन्थ रूपसे स्वीकार किया है। इसकी प्रशंसा में टीकाके अन्तमें वे लिखते हैं---

स्वर्गापवर्गसुखमाप्नुमनोभिरार्यैः

अनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता ।

सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिर्भूपासनाम् । तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रघार्या ॥

जो आर्य स्वर्ग और मोक्षसुखके इच्छुक हैं वे जैनेन्द्र शासनरूपी उत्कृष्ट अमृतमें सारभूत और सज्जन पुरुषों द्वारा रखे गये सर्वार्थसिद्धि इस नामसे प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्तिको निरंतर मनःपूर्वक धारण करें।

वे पुनः लिखते हैं---

तत्त्वार्थवृत्तिमुवितां विवितार्थतत्त्वाः श्रुन्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्ष्याः ।

हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तैर्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम् ॥

सब पदार्थोंके जानकार जो इस तत्त्वार्थवृत्तिको धर्मभक्तिसे सुनते हैं और पढ़ते हैं मानो उन्होंने परम सिद्धिसुखरूपी अमृतको अपने हाथमें ही कर लिया है। फिर उन्हें चक्रवर्ती और इन्द्रके सुखके विषयमें तो कहना ही क्या है ?

'सर्वार्थसिद्धि' इस नामके रखनेका प्रयोजन यह है कि इसके मनन करनेसे सब प्रकारके अर्थोंकी अथवा सब अर्थोंमें श्रेष्ठ मोक्षसुखकी सिद्धि प्राप्त होती है। यह कथन अत्युक्तिको लिये हुए भी नहीं है, क्योंकि इसमें तत्त्वार्थसूत्रके जिस प्रमेयका व्याख्यान किया गया है वह सब पुरुषार्थोंमें प्रधानभूत मोक्ष पुरुषार्थका साधक है।

भारतीय परम्पराने अनेक दर्शनोंको जन्म दिया है। किन्तु उन सबके मूलमें मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्ति प्रधान लक्ष्य रहा है। महर्षि जैमिनि पूर्वमीमांसादर्शनका प्रारम्भ इस सूत्रसे करते हैं---

'अथ अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ 1 ॥'

और इसके बाद वे धर्मका स्वरूप निर्देश कर उसके साधनोंका विचार करते हैं।

यही स्थिति व्यास महर्षिकी है। उन्होंने शारीरिक मीमांसादर्शनको इस सूत्रसे प्रारम्भ किया है---

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ 1 ॥'

अब न्यायदर्शनके सूत्रोंको देखिए। उसके प्रणेता गौतम महर्षि लिखते हैं कि 'प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इनका तत्त्वज्ञान होनेसे विश्वेयसकी प्राप्ति होती है ॥ 1 ॥' सूत्र इस प्रकार है---

'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्चेयसाधिममः ॥ 1 ॥'

वैशेषिकदर्शनके प्रणेता महर्षि कणादने भी यह दृष्टि सामने रखी है। वे प्रारम्भ में लिखते हैं---

'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः ॥ 1 ॥'

कपिल ऋषिकी स्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं है। उन्होंने भी अत्यन्त पुरुषार्थको ही मुख्य माना है। वे सांख्य दर्शनका प्रारम्भ इन शब्दों द्वारा करते हैं---

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ 1 ॥'

योगदर्शनका प्रारम्भ तो और भी मनोहारी शब्दों द्वारा हुआ है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं---'अब योगका अनुशासन करते हैं ॥ 1 ॥ योगका अर्थ है चित्तवृत्तिका निरोध ॥ 2 ॥ चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर ही द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान होता है ॥ 3 ॥' इस विषयके प्रतिपादक उनके सूत्र देखिए---

'अथ योगानुशासनम् ॥ 1 ॥ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ 2 ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ 3 ॥'

इन सबके बाद जब हमारी दृष्टि जैन दर्शनके सूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र पर जाती है तो हमें वहाँ भी उसी तत्त्वके दर्शन होते हैं। इसका प्रारम्भ करते हुए आचार्य गृद्धपिच्छ लिखते हैं---

1. इति सर्वार्थसिद्धिसंज्ञकायां तत्त्वार्थवृत्ती प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ 1 ॥’

यह है भारतीय दर्शनोंके प्रणयनका सार। इसलिए पूज्यपाद स्वामीका यह कहना सर्वथा उचित है कि ‘जो मनुष्य धर्मभक्तिसे इस तत्त्वार्थवृत्तिको पढ़ते और सुनते हैं मानो उन्होंने परम सिद्धिमुखरूपी अमृतको अपने हाथमें ही कर लिया है। फिर चक्रवर्ती और इन्द्रके सुखोंके विषयमें तो कहना ही क्या है।’ इससे इसका ‘सर्वार्थसिद्धि’ यह नाम सार्थक है।

2. रचनाशैली—हम कह आये हैं कि सर्वार्थसिद्धि वृत्ति-ग्रन्थ है। वृत्तिकारने भी इसे ‘वृत्ति’ ही कहा है। जिसमें सूत्रके पदोंका आश्रय लेकर पद-घटनाके साथ प्रत्येक पदका विवेचन किया जाता है उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तिका यह अर्थ सर्वार्थसिद्धिमें अक्षरशः घटित होता है। सूत्रका शायद ही कोई पद हो जिसका इसमें व्याख्यान नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ—तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय 1 सूत्र 2 में केवल ‘तत्त्व’ या ‘अर्थ’ पद न रखकर ‘तत्त्वार्थ’ पद क्यों रखा है इसका विवेचन दर्शनान्तरोका निर्देश करते हुए उन्होंने जिस विशदतासे किया है, इसीसे वृत्तिकारकी रचनाशैलीका स्पष्ट आभास मिल जाता है। वे सूत्रगत प्रत्येक पदका साङ्गोपाङ्ग विचार करते हुए आगे बढ़ते हैं। सूत्रपाठमें जहाँ आगमसे विरोध दिखाई देता है वहाँ वे सूत्रपाठकी यथावत् रक्षा करते हुए बड़े कौशलसे उसकी सङ्गति बिठलाते हैं। अध्याय 4 सूत्र 19 और सूत्र 22 में उनके इस कौशलके और भी स्पष्ट दर्शन होते हैं। सूत्र 19 में ‘नवग्रैवेयकेषु’ न कहकर ‘नवसु ग्रैवेयकेषु’ कहा है। प्रत्येक आगमाभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि नौ ग्रैवेयकेके सिवा अनुदिश संज्ञक नौ विमान और हैं। किन्तु मूल सूत्रमें नौ अनुदिशोंका उल्लेख नहीं किया है। आचार्य पूज्यपादसे यह रहस्य छिपा नहीं रहता। वे सूत्रकारकी मूँनसाको भाँप लेते हैं और ‘नव’ पदको समसित न रखनेका कारण बतलाते हुए वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि यहाँ पर नौ अनुदिशोंका ग्रहण करने के लिए ‘नव’ पदका पृथक् रूपसे निर्देश किया है। 22वें सूत्रकी व्याख्याके समय भी उनके सामने यही समस्या उपस्थित होती है। आगमके दूसरे कल्प तक पीतलेश्याका, बारहवें कल्पतक पद्मलेश्याका और आगे शुक्ललेश्याका निर्देश किया है। आगमकी इस व्यवस्थाके अनुसार उक्त सूत्रकी संगति बिठाना बहुत कठिन है। किन्तु वे ऐसे प्रसंग पर जिस साहससे आगम और सूत्रपाठ दोनोंकी रक्षा करते हैं उसे देखते हुए हमारा मस्तक श्रद्धासे उनके चरणोंमें झुके बिना नहीं रहता।

पाणिनीय व्याकरण पर पातञ्जल महाभाष्य प्रसिद्ध है। इसमें व्याकरण जैसे नीरस और कठिन विषयका ऐसी सरस और सरल पद्धतिसे विवेचन किया गया है कि उसे हाथमें लेनेके बाद छोड़नेको जी नहीं चाहता। यह तो हम आगे चलकर देखेंगे कि सर्वार्थसिद्धिकारने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय उसका कितना उपयोग किया है। यहाँ केवल यही बतलाना है कि इसमें न केवल उसका भरपूर उपयोग हुआ है अपितु उसे अच्छी तरह पचाकर उसी शैली में इसका निर्माण भी हुआ है। और आश्चर्य यह कि वह व्याकरणका ग्रन्थ और यह दर्शनका ग्रन्थ, फिर भी रचनामें कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी है। सर्वार्थसिद्धिकी रचना शैलीको हम समतल नदीके गतिशील प्रवाहकी उपमा दे सकते हैं जो स्थिर और प्रशान्त भावसे आगे एक रूपमें सदा बढ़ता ही रहता है, रुकना कहीं वह जानता ही नहीं।

आचार्य पूज्यपादने इसमें केवल भाषा-सौष्ठवका ही ध्यान नहीं रखा है, अपितु आगमिक परम्पराका भी पूरी तरह निर्वाह किया है। प्रथम अध्यायका सातवाँ और आठवाँ सूत्र इसका प्राञ्जल उदाहरण है। इन सूत्रों की व्याख्या का आलोडन करते समय उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का कितना गहरा अभ्यास किया था इस बातका सहज ही पता लग जाता है। इस परसे हम यह दृढ़तापूर्वक कहनेका साहस करते हैं कि उन्होंने सर्वार्थसिद्धि लिखकर जहाँ एक ओर संस्कृत साहित्यकी श्रीवृद्धि की है वहाँ उन्होंने परम्परासे आये हुए आगमिक साहित्यकी रक्षाका श्रेय भी सम्पादित किया है।

निचोड़रूपमें सर्वार्थसिद्धिकी रचनाशैलीके विषयमें संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि वह ऐसी प्रसन्न और विषयस्पर्शी शैलीमें लिखी गयी है जिससे उत्तरकालीन वाचक उमास्वातिप्रभृति सभी तत्त्वार्थ-सूत्रके भाष्यकारों, वातिकारों और टीकाकारोंको उसका अनुसरण करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है।

3. पाठभेद और ग्रन्थान्तरन्यास—सर्वार्थसिद्धि लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थ-सूत्रपर लिखा गया अन्य कोई टीका-ग्रन्थ या भाष्यग्रन्थ था इसका तो स्वयं उन्होंने उल्लेख नहीं किया है किन्तु सर्वार्थसिद्धि परसे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह लिखते समय उनके सामने एक-दो छोटे-मोटे सूत्रपाठ या टीकाग्रन्थ अवश्य थे और उनमें एक-दो स्थलोंपर महत्त्वपूर्ण पाठभेद भी थे। ऐसे पाठभेदोंकी चर्चा आचार्य पूज्यपादने दो स्थलों पर की है। प्रथम स्थल है प्रथम अध्यायका 16वाँ सूत्र और दूसरा स्थल है दूसरे अध्यायका 53वाँ सूत्र।

1. प्रथम अध्यायका 16वाँ सूत्र इस प्रकार है—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुवृत्तप्रवृत्तानां सेतराणाम् ॥ 16 ॥

इसमें क्षिप्रके बाद अनिःसृत पाठ है। किन्तु इस पर आचार्य पूज्यपाद सूचित करते हैं कि 'अपरेषां क्षिप्रानिःसृत इति पाठः।' अर्थात् अन्य आचार्योंके मतसे क्षिप्रके बाद अनिःसृतके स्थानपर निःसृत पाठ है।

वर्तमानमें हमारे सामने दिगम्बर और श्वेताम्बर जितने भी तत्त्वार्थसूत्रके टीकाग्रन्थ और सूत्रपाठ उपस्थित हैं उनमेंसे किसीमें भी यह दूसरा पाठ उपलब्ध नहीं होता, इसलिए यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि इनमेंसे किसी एक टीकाग्रन्थ या सूत्रपाठके आधारसे आचार्य पूज्यपादने इस मतभेद का उल्लेख किया है। तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिते अवश्य ही सर्वार्थसिद्धिमान्य 'अनिःसृत' पदको स्वीकार न कर उसके स्थानमें 'अनिश्चित' पाठ स्वीकार किया है। इसलिए यह भी शंका नहीं होती कि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ था और उन्होंने इस पाठान्तर द्वारा उसकी ओर इशारा किया है। सम्भव यही दिखाई देता है कि सर्वार्थसिद्धि टीका लिखते समय उनके सामने जो टीका-टिप्पणियाँ उपस्थित थीं उनमेंसे किन्हींमें यह दूसरा पाठ रहा होगा और उसी आधारसे आचार्य पूज्यपादने उस पाठभेदका यहाँ उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, किन्तु किसी टीकाग्रन्थमें उसकी संगति भी बिठलायी गयी होगी। यही कारण है कि आचार्य पूज्यपाद केवल पाठभेद का उल्लेख करके ही नहीं रह गये। किन्तु इस पाठको स्वीकार कर लेनेपर उसकी व्याख्या दूसरे आचार्य किस प्रकार करते हैं इस बातका भी उन्होंने 'ते एवं वर्णयन्ति' इत्यादि वाक्य द्वारा उल्लेख किया है।

2. दूसरे अध्यायका 53वाँ सूत्र इस प्रकार है—

'ओपपादिकचरमोत्तमदेहसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्षायुषः ॥ 53 ॥'

इसमें 'चरमोत्तमदेह' पाठ है। इससे यह भ्रम होता है कि क्या चरमशरीरी सभी उत्तम देहवाले होते हैं या कोई-कोई। यदि सभी उत्तम देहवाले होते हैं तो उत्तम पदके देनेकी क्या आवश्यकता है। और यदि कोई-कोई उत्तम देहवाले होते हैं तो फिर क्या यह माना जाय कि जो चरमशरीरी उत्तम देहवाले होते हैं केवल वे ही अनपवर्ष आयुवाले होते हैं, अन्य चरमशरीरी नहीं? बहुत सम्भव है कि इसी दोषका परिहार करनेके लिए किसीने 'चरमदेह' पाठ स्वीकार किया होगा। जो कुछ भी हो। पूज्यपाद आचार्यके सामने दोनों पाठ थे और उन्होंने 'चरमोत्तमदेह' पाठको सूत्रकारका मानकर स्वीकार कर लिया और 'चरमदेह' पाठका पाठान्तरके रूपमें उल्लेख कर दिया।

तत्त्वार्थभाष्यमान्य जो सूत्रपाठ इस समय उपलब्ध होता है उसमें 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पाठ है। इस परसे कुछ विद्वान् यह शंका करते हैं कि बहुत सम्भव है कि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्य रहा हो और उसके आधारसे उन्होंने सर्वार्थसिद्धिमें इस पाठान्तरका उल्लेख किया हो; किन्तु हमें उनके इस कथनमें कुछ भी तथ्यांश नहीं दिखाई देता। कारण, एक तो तत्त्वार्थभाष्यमें 'चरमदेह' पाठ ही नहीं है। उसमें 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पाठ अवश्य ही उपलब्ध होता है किन्तु इस पाठके विषयमें भी उसकी स्थिति धुंधली है। आचार्य सिद्धसेनने अपनी तत्त्वार्थभाष्यकी टीका में इस प्रसंगकी उठाया है और अन्तमें यही कहा है कि हम नहीं कह सकते कि इस सम्बन्धमें वस्तुस्थिति क्या है।

दूसरे यदि आचार्य पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थभाष्यका पाठ उपस्थित होता तो वे 'चरमदेह' इति वा पाठः' के स्थानमें 'चरमदेहोत्तमपुरुष इति वा पाठः' ऐसा उल्लेख करते, क्योंकि उन्हें 'चरमोत्तमदेह' इस पाठके स्थानमें दूसरा पाठ क्या उपलब्ध होता है इसका निर्णय करना था। ऐसी अवस्थामें अधूरे पाठान्तरका भूल कर भी वे उल्लेख नहीं करते।

स्पष्ट है कि 'क्षिप्रनिःसृत' के समान यह पाठान्तर भी आचार्य पूज्यपादको दूसरे टीका-ग्रन्थोंमें उपलब्ध हुआ होगा और उसी आधारसे उन्होंने यहाँ उसका उल्लेख किया है।

3. अर्थान्तरन्यासका एक उदाहरण हम रचना शैलीके प्रसंगमें अध्याय 4 सूत्र 22 का उल्लेख करते समय दे आये हैं। वहाँ हमने यह संकेत किया ही है कि उक्त सूत्रमें पूरे आगमिक अर्थकी संगति बैठती न देख आचार्य पूज्यपादने सूत्र और आगम दोनोंका सुन्दरतत्पूर्वक निर्वह किया है। यह प्रथम अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है।

4. द्वितीय उदाहरण स्वरूप हम 9वें अध्यायका 11वाँ सूत्र उपस्थित करते हैं। इसमें वेदनीय निमित्तक 11 परीषद् जिन के कही गयी हैं। इस विषयसे अधिक स्पष्ट करनेके लिए हम थोड़ा विस्तारके साथ चर्चा करना इष्ट मानेंगे।

परीषद्ओं का विचार छठे गुणस्थानसे किया जाता है, क्योंकि आमपत्र पदका प्रारम्भ यहींसे होता है, अतः इस गुणस्थानमें सब परीषद् होते हैं यह तो ठीक ही है, क्योंकि इस गुणस्थानमें प्रमाद का सद्भाव रहता है और प्रमादके सद्भावमें क्षुधादिजन्य विकल्प और उसके परिहारके लिए चित्रवृत्तिको उस ओरसे हटाकर धर्म्यध्यानमें लगाने के लिए प्रयत्नशील होना यह दोनों कार्य बन जाते हैं। तथा सातवें गुणस्थानकी स्थिति प्रमाद रहित होकर भी इससे भिन्न नहीं है, क्योंकि इन दोनों गुणस्थानोंमें प्रमाद और अप्रमादजन्य ही भेद है। यद्यपि विकल्प और तदनुकूल प्रवृत्तिका नाम छठा गुणस्थान है और उसके निरोधका नाम सातवाँ गुणस्थान है तथापि इन दोनों गुणस्थानोंकी धारा इतनी अधिक चढ़ा-उतारकी है जिससे उनमें परीषद् और उनके जय आदि कार्यका ठीक तरहसे विभाजन न होकर ये कार्य मिलकर दोनोंके मानने पड़ते हैं। छठे गुणस्थान तक वेदनीयकी उदीरणा होती है आगे नहीं, इसलिए यह कहा जा सकता है कि वेदनीयके निमित्तसे जो क्षुधादिजन्य वेदनकार्य छठे गुणस्थानमें होता है वह आगे कथमपि सम्भव नहीं। विचारकर देखने पर बात तो ऐसी ही प्रतीत होती है और है भी वह वंसी ही, क्योंकि अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें जब जीवकी न तो बाह्यप्रवृत्ति होती है और न बाह्यप्रवृत्तिके अनुकूल परिणाम ही होते हैं। साथ ही कषायोंका उदय अव्यक्तरूपसे अबुद्धिपूर्वक होता है, तब वहाँ क्षुधादि परीषद्ओंका सद्भाव मानना कहाँतक उचित है यह विचारणीय हो जाता है। इसलिए यहाँ यह देखना है कि आगेके गुणस्थानोंमें इन परीषद्ओंका सद्भाव किस दृष्टिसे माना गया है।

किसी भी पदार्थका विचार दो दृष्टियोंसे किया जाता है—एक तो कार्यकी दृष्टिसे और दूसरे

1. यद्यपि वाचक उमास्वातिने 'औपपातिक' सूत्रके प्रत्येक पदका व्याख्यान करते हुए 'उत्तमपुरुष' पदका स्वतन्त्र व्याख्यान किया है और बादमें उपसंहार करते हुए उन्होंने 'उत्तमपुरुष' पदको छोड़कर शेषको ही अनपवर्त्य आयुवाले बतलाया है, इसलिए इस परसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'चरमदेहोत्तमपुरुष' पदके समान केवल 'चरमदेह' पद भी उन्हें स्वयं इष्ट रहा है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि वाचक उमास्वातिने स्वयं सूत्रकार होते हुए भावमें ये दो पाठ किस आधारसे स्वीकार किये हैं। जब उनका यह निश्चय था कि उत्तमपुरुष भी अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं तब उपसंहार करते हुए अन्योक्तियों साथ उनका भी ग्रहण करना था। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे स्पष्ट विदित होता है कि वाचक उमास्वातिको भी दो पाठ उपलब्ध हुए होंगे और उन्होंने क्रमसे दोनोंका व्याख्यान करना उचित समझा होगा। इस आधारसे वे सूत्रकार तो किसी हालतमें ही ही नहीं सकते।

कारणकी दृष्टिसे। परीषद्‌होंका कार्य क्या है और उनके कारण क्या हैं इस विषयका साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह शास्त्रोंमें किया है। परीषद् तथा उनके जयका अर्थ है—बाधाके कारण उपस्थित होनेपर उनमें जाते हुए अपने चित्तको रोकना तथा स्वाध्याय ध्यान आदि आवश्यक कार्योंमें लगे रहना। परीषद् और उनके जयके इस स्वरूपको ध्यानमें रखकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान ही ऐसा है जिसमें बाधाके कारण उपस्थित होनेपर उनमें चित्त जाता है और उनसे चित्तवृत्तिको रोकनेके लिए यह जीव उद्यमशील होता है। किन्तु आगेके गुणस्थानोंकी स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ बाह्य कारणोंके रहनेपर भी उनमें चित्तवृत्तिका रंजमात्र भी प्रवेश नहीं होता। इतना ही नहीं, कुछ आगे चलकर तो यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि जहाँ न तो बाह्य कारण ही उपस्थित होते हैं और न चित्तवृत्ति ही शेष रहती है। इसलिए इन गुणस्थानोंमें केवल अन्तरंग कारणोंको ध्यानमें रखकर ही परीषद्‌होंका निर्देश किया गया है। कारण भी दो प्रकारके होते हैं—एक बाह्य कारण और दूसरे अन्तरङ्ग कारण। बाह्य कारणोंके उपस्थित होनेका तो कोई नियम नहीं है। किन्हींको उनकी प्राप्ति सम्भव भी है और किन्हींको नहीं भी। परन्तु अन्तरङ्ग कारण सबके पाये जाते हैं। यही कारण है कि दिग्गम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके ग्रन्थोंमें परीषद्‌होंके कारणोंका विचार करते समय मुख्यरूपसे अन्तरङ्ग कारणोंका ही निर्देश किया है। इसीसे तत्त्वार्थसूत्रमें वे अन्तरंग कारण ज्ञानावरण, वेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्र्यमोहनीय और अन्तरायके उदयरूप कहे हैं, अन्यरूप नहीं।

कुल परीषद् बाईस हैं। इनमेंसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषद् ज्ञानावरणके उदयमें होते हैं। ज्ञानावरणका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए इनका सद्भाव क्षीणमोह गुणस्थान तक कहा है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रज्ञा और अज्ञानके निमित्तसे जो विकल्प प्रमत्तसंयत जीवके हो सकता है वह अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें भी होता है। आगेके गुणस्थानोंमें इस प्रकारके विकल्पके न होनेपर भी वहाँ केवल ज्ञानावरणका उदय पाया जाता है, इसलिए वहाँ इन परीषद्‌होंका सद्भाव कहा है।

अदर्शनपरीषद् दर्शनमोहनीयके उदयमें और अलाभ परीषद् अन्तरायके उदयमें होते हैं। यह बात किसी भी कर्मशास्त्रके अभ्यासीसे छिपी हुई नहीं है कि दर्शनमोहनीयका उदय अधिकसे अधिक अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शन परीषद्‌हका सद्भाव अधिकसे अधिक इसी गुणस्थान तक कहा जा सकता है और अन्तरायका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है, इसलिए अलाभ परीषद्‌हका सद्भाव वहाँ तक कहा है। किन्तु कार्यरूपमें ये दोनों परीषद् भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही जानने चाहिए। आगे इनका सद्भाव दर्शनमोहनीयके उदय और अन्तरायके उदयकी अपेक्षा ही कहा है।

प्रसङ्गसे यहाँ इस बातका विचार कर लेना भी इष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ बादर-साम्पराय जीवके सब परीषद्‌होंका सद्भाव बतलाते हैं। उन्हें बादरसाम्पराय शब्दका अर्थ क्या अभिप्रेत रहा होगा। हम यह तो लिख ही चुके हैं कि दर्शनमोहनीयका उदय अप्रमत्तसंयतगुणस्थान तक ही होता है, इसलिए अदर्शनपरीषद्‌हका सद्भाव अप्रमत्तसंयत गुणस्थानसे आगे कथमपि नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्थामें बादरसाम्पराय का अर्थ स्थूल कषाय युक्त जीव ही हो सकता है। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धिमें इस पद की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि 'यह गुणस्थानविशेषका ग्रहण नहीं है। तो क्या है? सार्वक निर्देश है। इससे प्रमत्त आवि संयतोंका ग्रहण होता है।'।

किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें 'बाबरसाम्पराये सर्वे।' इस सूत्रकी व्याख्या इन शब्दोंमें की है—'बाबरसाम्परायसंयते सर्वे द्वाविशतिरपि परीषदाः सम्भवन्ति।' अर्थात् बादरसाम्पराय संयतके सब अर्थात् बाईस परीषद् ही सम्भव हैं। तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य व्याख्याकार सिद्धसेनगणि हैं। वे तत्त्वार्थभाष्यके उक्त शब्दोंकी व्याख्या इन शब्दोंमें करते हैं—

1. नेदं गुणस्थानविशेषग्रहणम्। किं तर्हि? अर्थनिर्देशः। तेन प्रमत्तादीनां संयतादीनां ग्रहणम्।
स०, अ० 9, सू० 12।

‘बादरः स्थूलः साम्परायः कषायस्तनुदयो यस्यासौ बादरसाम्परायः संयतः । स च मोहप्रकृतिः कश्चिदुपशमयतीत्युपशमकः । कश्चित् क्षपयतीति क्षपकः । तत्र सर्वेषां द्वाविंशतेरपि क्षुधावीनां परीषहणाम-
दर्शान्तानां सम्भवः ।’

जिसके कषाय स्थूल होता है वह बादरसाम्पराय संयत कहलाता है । उनमेंसे कोई मोहनीयका उपशम करता है, इसलिए उपशमक कहलाता है और कोई क्षप करता है, इसलिए क्षपक कहलाता है । इसके सभी बाईस क्षुधा आदि परीषहोंका सद्भाव सम्भव है ।

इस व्याख्यानसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनगणिके अभिप्रायसे तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिको यहाँ ‘बादरसाम्पराय’ पदसे नीचा गुणस्थान ही इष्ट है । प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रकी व्याख्यामें यही अर्थ स्वीकार किया है । वे लिखते हैं—‘जिसमें साम्पराय-कषायका बादर अर्थात् विशेषरूपमें सम्भव हो ऐसे बादरसाम्पराय नामक नीचे गुणस्थानमें बाईस परीषह होते हैं । इसका कारण यह है कि परीषहोंके कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं ।’

‘बादरसाम्पराय’ पदकी ये दो व्याख्याएँ हैं जो क्रमशः सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें उपलब्ध होती हैं । सर्वार्थसिद्धिकी व्याख्याके अनुसार बादरसाम्पराय पद गुणस्थान-विशेषका सूचक न होकर अर्थ-परक निर्देश होनेसे दर्शनमोहनीयके उदयमें अदर्शन परीषह होता है इस अर्थकी सङ्गति बैठ जाती है । किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकी व्याख्याको स्वीकार करने पर एक नयी अड़चन उठ खड़ी होती है । दर्शनमोहनीयका सत्त्व उपशान्तमोह गुणस्थान तक रहता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा बादरसाम्पराय नामक नीचे गुणस्थान तक अदर्शन परीषह कहा होगा । किन्तु इस मतको स्वीकार करने पर दो नयी आपत्तियाँ और सामने आती हैं । प्रथम तो यह कि यदि उन्होंने दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा अदर्शन परीषहका सद्भाव स्वीकार किया है तो उसका सद्भाव ग्यारहवें गुणस्थान तक कहना चाहिए । दूसरी यह कि ‘क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण—’ इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि ‘पञ्चानामपि कर्मप्रकृतीनामुद्ययां ते परीषहाः प्रादुर्भवन्ति ।’ अर्थात् पाँच कर्मप्रकृतियोंके उदयसे ये परीषह उत्पन्न होते हैं । सो पूर्वोक्त अर्थके स्वीकार करने पर इस कथनकी सङ्गति नहीं बैठती दिखलाई देती । क्योंकि एक ओर तो दर्शनमोहनीयके सत्त्वकी अपेक्षा अदर्शन परीषहको नीचे गुणस्थान तक स्वीकार करना और दूसरी ओर सब परीषहोंको पाँच कर्मोंके उदयका कार्य कहना ये परस्पर विरोधी दोनों कथन कहाँ तक युक्तियुक्त हैं यह विचारणीय हो जाता है । स्पष्ट है कि सिद्धसेन गणिकी टीकाके अनुसार तत्त्वार्थभाष्यका कथन न केवल स्थूलित है अपितु वह मूल सूत्रकारके अभिप्रायके प्रतिकूल भी है, क्योंकि मूल सूत्रकारने इन परीषहोंका सद्भाव कर्मोंके उदयकी मुख्यतासे ही स्वीकार किया है । अन्यथा वे अदर्शन परीषहका सद्भाव और चारित्रमोहके निमित्तसे होनेवाले नाग्न्य आदि परीषहोंका सद्भाव उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक अवश्य कहते ।

नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार ये सात परीषह चारित्रमोहनीयके उदयमें होते हैं । सामान्यतः चारित्रमोहनीयका उदय यद्यपि सूक्ष्मसाम्परायिक नामक दसवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए इन सात परीषहोंका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक कहना चाहिए था ऐसी शंका की जा सकती है, परन्तु इनका दसवें गुणस्थान तक सद्भाव न बतलानेके दो कारण हैं । प्रथम तो यह कि चारित्रमोहनीयके अवान्तरभेद क्रोध, मान और मायाका तथा नौ नोकषायोंका उदय नीचे गुणस्थानके अमुक भाग तक ही होता है, इसलिए इन परीषहोंका सद्भाव नीचे गुणस्थान तक कहा है । दूसरा यह कि दसवें गुणस्थानमें यद्यपि चारित्रमोहनीयका उदय होता है अवश्य, पर एक लोभ कषायका ही उदय होता है और वह भी अति सूक्ष्म, इसलिए इनका सद्भाव दसवें गुणस्थान तक न कहकर मात्र नीचे गुणस्थान तक कहा है ।

तथा क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्वा, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह

परीषद् वेदनीय कर्मके उदयमें होते हैं। वेदनीय कर्मका उदय जिनके भी होता है, इसलिए, इनका सद्भाव वहाँ तक कहा है।

इस प्रकार अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें सूत्रकारने जो परीषद्को सद्भाव कहा है उसमें उनकी दृष्टि कारणको ध्यानमें रखकर विवेचन करनेकी ही रही है और इसीलिए सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादने पहले सूत्रकारकी दृष्टिसे 'एकादश जिने' इस सूत्रका व्याख्यान किया है। अनन्तर जब उन्होंने देखा कि कुछ अन्य विद्वान् अन्य साधारण मनुष्योंके समान केवलीके कारणपरक परीषद्को उल्लेखका विपर्यास करके भूख-प्यास आदि बाधाओंका ही प्रतिपादन करने लगे हैं तो उन्होंने यह बतलानेके लिए कि केवलीके कार्यरूपमें ग्यारह परीषद् नहीं होते 'न सन्ति' पदका अध्याहार कर उस सूत्रसे दूसरा अर्थ फलित किया है। इसमें न तो उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि रही है और न ही उन्होंने तोड़-मरोड़कर उसका अर्थ किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि तो उनकी है जो उसे इस दृष्टिकोणसे देखते हैं। आचार्योंमें मतभेद हुए हैं और हैं पर सब मतभेदोंकी साम्प्रदायिक दृष्टिका सेहरा बाँधना कहाँ तक उचित है यह समझने और अनुभव करनेकी बात है। आचार्य पूज्यपाद यदि साम्प्रदायिक दृष्टिकोणके होते तो वे ऐसा प्रयत्न न कर सूत्रका ही कायाकल्प कर सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी स्थितिको बिल्कुल स्पष्ट रखा है। तत्त्वतः देखा जाय तो एक मात्र यही उदाहरण उनकी साहित्यिक प्रामाणिकताकी कसौटी बन सकता है। यह अर्थान्तरन्यासका दूसरा उदाहरण है। इसके सिवा अर्थान्तरन्यासके एक-दो उदाहरण और भी उपस्थित किये जा सकते हैं पर विशेष प्रयोजन न होनेसे उनका यहाँ हमने निर्देश नहीं किया है।

इस प्रकार इन चार उदाहरणोंसे इस बातका सहज ही पता लग जाता है कि आचार्य पूज्यपादने मूल सूत्रपाठ और पाठान्तरोंकी रक्षाका कितना अधिक ख्याल रखा है।

4. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य—ऐसा होते हुए भी आचार्य पूज्यपादके ऊपर यह आक्षेप¹ किया जाता है कि उन्होंने उपलब्ध हुए सूत्रपाठमें सुधार और वृद्धि कर सर्वार्थसिद्धिकी रचना की है। सर्वार्थसिद्धि किस कालकी रचना है और तत्त्वार्थभाष्य किस कालका है यह तो हम आगे चलकर देखेंगे। यहाँ केवल तुलनात्मक दृष्टिसे इन दोनोंके अन्तःस्वरूपका पर्यालोचन करना है।

1. सूत्रपाठ—सर्व प्रथम हम सूत्रपाठको लेते हैं। सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठसे तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें शब्दोंके हेरफेरसे या सूत्रोंके घटाने-बढ़ानेसे छोटे-मोटे अन्तर² तो पर्याप्त हुए हैं किन्तु उन सबका ऊहापीह यहाँ नहीं करना है। जिनमें मौलिक अन्तर हुआ है ऐसे सूत्र तीन हैं। प्रथम स्वर्गोंकी संख्याका प्रतिपादक सूत्र, दूसरा सानत्कुमार आदिमें प्रवीचारका प्रतिपादक सूत्र और तीसरा कालको स्वतन्त्र द्रव्य माननेवाला सूत्र।

स्वर्गोंके प्रतिपादक सूत्रमें मौलिक अन्तर यह हुआ है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें 16 कल्पोंकी परिगणना की गयी है और तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें 12 कल्पोंकी परिगणना की गयी है। इस पर आक्षेप यह किया जाता है कि जब सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें कल्पोपपन्न देवोंके भेद³ बारह बतलाये हैं और नामोंकी परिगणना करते समय वे सोलह परिगणित किये गये हैं तब यह माननेके लिए पर्याप्त आधार हो जाता है कि या तो आचार्य पूज्यपादने या इनके पूर्ववर्ती अन्य किसी आचार्यने इस सूत्रको घटा-बढ़ाकर उसे वर्तमान रूप दिया है जब कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए बहुत सम्भव है कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ मूल ही और उसमें सुधार कर उत्तरकालमें सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ निमित्त हुआ हो⁴।

1. देखो पं० मुखसालजीके तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० 84, 85। 2. देखो दो सूत्रपाठ प्रकरण, परिशिष्ट 1 और उसके टिप्पण। 3. देखो अ० 3 सू० 2। 4. इन आक्षेपोंके लिए देखो पं० मुखसालजीका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना 73 से 89।

यहाँ सर्वप्रथम यह विचार करना है कि क्या उक्त सूत्रके आधारसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ मूल है और उसे सुधार कर या बढ़ाकर सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ निर्मित हुआ है। यह तो स्पष्ट है कि किसी एक पाठमें परिवर्तन किया गया है पर वह परिवर्तन किस पाठमें किया जाना सम्भव है यही विचारणीय है। जैसा कि हम देखते हैं कि दिग्म्बर परम्पराके अनुसार सर्वत्र कल्पोपपन्न देवोंके भेद बारह और कल्प सोलह गिनाये गये हैं। कल्प कल्पोपपन्न देवोंके आवासस्थानकी विशेष संज्ञा है। यदि कल्पोपपन्न देव बारह प्रकारके होकर भी उनके आवासस्थान सोलह प्रकारके माने गये हैं तो इसमें बाधाकी कौन-सी बात है। और इस आधारसे यह कैसे कहा जा सकता है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें सुधार किया गया है। यदि सुधार करना ही इष्ट होता तो अध्याय 4 सूत्र तीनमें भी 'बारह' के स्थानमें 'सोलह' किया जा सकता था। प्रत्युत इसपरसे तो यही कहा जा सकता है कि पूज्यपाद स्वाामीको जैसा पाठ मिला एकमात्र उसीकी उन्होंने यथावत् रक्षा की है। दूसरी ओर जब हम तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठकी ओर ध्यान देते हैं तब भी इस सूत्रके आधारसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कारण कि वहाँ भी इस सूत्रमें घटा-बढ़ीका ऐसा प्रबल कारण नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि उक्त सूत्रमें परिवर्तन किया गया है। दोनों ही परम्पराओंके आचार्य अपनी-अपनी परम्पराकी मान्यतापर दृढ़ हैं, इसलिए इस आधारसे यही कहा जा सकता है कि जिसने उत्तरकालमें रचना की होगी उसीके द्वारा सूत्रोंमें सुधार करना सम्भव है।

दूसरे, सानत्कुमार आदिमें प्रविचारका प्रतिपादक सूत्र है। दोनोंमें इस सूत्रकी स्थिति इस प्रकार है —

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः। सर्वा०।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः द्वयोर्द्वयोः। त० भा०।

हम देखते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार इस सूत्रमें 'द्वयोर्द्वयोः' इतना पद अधिक है जब कि सर्वार्थसिद्धिमें इसका संबंधा अभाव है। इसके पहले दोनों ही परम्पराओंमें 'कायप्रवीचाराः आ ऐशानात्' यह सूत्र आता है। इस द्वारा सौधर्म और ऐशान कल्प तक प्रवीचारका विधान किया गया है। अगे सर्वार्थसिद्धिके अनुसार चौदह और तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार दस कल्प शेष रहते हैं जिनमें यह सूत्र प्रवीचारका विधान करता है। प्रकृतमें देखना यह है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य इन दोनोंमें इसकी संगति किस प्रकार बिठलायी गयी है। यह तो स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिमें 'द्वयोर्द्वयोः' पद न होनेसे आचार्य पूज्यपादको इसकी व्याख्या करनेमें कोई कठिनाई नहीं गयी। उन्होंने तो आरंभके अनुसार इसकी व्याख्या करके छुट्टी पा ली। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकारकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। उनके सामने 'द्वयोर्द्वयोः' पदके कारण इसकी व्याख्या करते समय यह समस्या रही है कि प्रवीचारके विषय चार और कल्प दस होनेसे इसकी संगति कैसे बिठलायी जाय। फलस्वरूप उन्हें अन्तके चार कल्पोंको दो मानकर इस सूत्रकी व्याख्या करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है। उन्होंने किसी प्रकार व्याख्या करनेका तो प्रयत्न किया पर इससे जो असंगति उत्पन्न होती है वह कथमपि दूर नहीं की जा सकी है। इससे मालूम पड़ता है कि स्वयं उन्होंने तत्त्वार्थभाष्यके आश्रयसे, इस सूत्रको स्पष्ट करनेकी मनसासे सूत्रमें यह पद बढ़ाया है। यहाँ उत्तर विकल्पकी अधिक सम्भावना है।

हमें ऐसे एक दो स्थल और मिले हैं जिनमें तत्त्वार्थभाष्यके आश्रयसे सूत्रोंकी संगति बिठलायी गयी है। उदाहरण स्वरूप 'यथोक्तनिमित्तः' पद लीजिए। यह प्रथम अध्यायके 22वें सूत्रमें आया है। इसके पहले एक सूत्रके अन्तरसे वे 'द्विविधोऽवधिः' सूत्र कह आये हैं और इन भेदोका स्पष्टीकरण इस सूत्रके भाष्यमें किया है। प्रकृतमें 'यथोक्तनिमित्तः' पदमें आये हुए 'यथोक्त' पद द्वारा उनका संकेत इसी भाष्यकी ओर है। वे इस पद द्वारा कहना चाहते हैं कि दूसरे जिस निमित्तका संकेत हमने 'द्विविधोऽवधिः' सूत्रके भाष्यमें किया है उस निमित्तसे शेष जीवोंके छह प्रकारका अवधिज्ञान होता है। किन्तु उस अवस्थामें जब कि सूत्र-रचना पहले हो चुकी थी और भाष्य बादमें लिखा गया है भाष्यकारकी स्थिति सन्देहजनक हो जाती है। और मानना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्यकार आचिक उमास्वातिने प्राचीन सूत्रपाठमें सुधार करनेका प्रयत्न किया है।

तीसरा कालके अस्तित्वको स्वीकार करनेवाला सूत्र है। यह सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें इस

प्रकार उल्लिखित है—

कालश्चेत्येके । सर्वा० ।

कालश्चेत्येके । त० भा० ।

इस द्वारा कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है । किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार ऐसा करते हुए भी अन्य आचार्योंके मतसे कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार करते हैं, स्वयं नहीं । यही कारण है कि उन्होंने तत्त्वार्थ-भाष्यमें जहाँ जहाँ द्रव्योंका उल्लेख किया है वहाँ वहाँ पाँच अस्तिकायोंका ही उल्लेख किया है और लोकको पाँच अस्तिकायात्मक बतलाया है । श्वेताम्बर आगम साहित्यमें छह द्रव्योंका निर्देश किया है अवश्य और एक स्थानपर तो तत्त्वार्थभाष्यकार भी छह द्रव्योंका उल्लेख करते हैं, परन्तु इससे वे कालको द्रव्य मानते ही हैं यह नहीं कहा जा सकता । कारण यह है कि श्वेताम्बर आगम साहित्यमें जहाँ भी छह द्रव्योंका नामनिर्देश किया है वहाँ कालद्रव्यके लिए 'अद्वासमय' शब्द प्रयुक्त हुआ है 'काल' शब्द नहीं और अद्वासमय शब्दका अर्थ वहाँ पर्याय ही लिया गया है, प्रदेशात्मक द्रव्य नहीं । तत्त्वार्थभाष्यकारने भी इसी परिपाटीका निर्वाह किया है । उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके जिन सूत्रोंमें 'काल' शब्द आया है वहाँ तो उनकी व्याख्या करते हुए 'काल' शब्दका ही उपयोग किया है किन्तु जिन सूत्रोंमें 'काल' शब्द नहीं आया है और वहाँ 'काल'का उल्लेख करना उन्होंने आवश्यक समझा तो 'काल' शब्दका प्रयोग न कर 'अद्वासमय' शब्दका ही प्रयोग किया है ।

तत्त्वार्थभाष्य और उस मान्य सूत्रपाठकी ये दो स्थितियाँ हैं जो हमें इस निष्कर्षपर पहुँचानेमें सहायता करती हैं कि प्रारम्भमें तो 'कालश्च' इस प्रकारके सूत्रका ही निर्माण हुआ होगा, किन्तु बादमें वह बदल कर 'कालश्चेत्येके' यह रूप ले लेता है ।

2. शैली—यहाँ प्रसंगसे सूत्र रचनाकी शैलीके विषयमें भी दो शब्द कहने हैं । सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी देखते हुए तो यह कहा जा सकता है कि परिशेषन्यायसे उसमें कोई भी बात नहीं कही गयी है । वह सीधी सूत्र और उनके पदोंकी व्याख्या करते हुए आगे बढ़ती है । इसके विपरीत दूसरी ओर जब हम तत्त्वार्थभाष्यको देखते हैं तो उसमें हमें कोई एक निश्चित शैलीके दर्शन नहीं होते हैं । कहीं वे परिशेषन्यायको स्वीकार करते हैं और कहीं नहीं । जैसे 'शेषाणां संमूर्छनम्' और 'अशुभः पापस्य' ये दो सूत्र परिशेषन्यायसे नहीं कहे जाने चाहिए थे फिर भी उन्होंने इनको स्वतन्त्र सूत्र मान लिया है और 'शेषास्त्रिवेदाः' तथा 'अतोऽयत्पापम्' इनको छोड़ दिया । ऐसी अवस्थामें यह कहना कि आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थभाष्यको देखकर इन्हें स्वतन्त्र सूत्रोंका रूप दिया है युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः तत्त्वार्थभाष्यकार अपनेको ऐसी स्थितिमें नहीं रख सके हैं जिससे उनके विषयमें कोई निश्चित रेखा खींची जा सके । एक दूसरे अध्याय के शरीर प्रकरणको ही लीजिए । उसमें वैकृत्यिक शरीरकी उत्पत्तिके दोनों प्रकार तो सूत्रोंमें दिखा दिये, किन्तु जब तैजस शरीरका प्रसंग आया तो उसकी उत्पत्तिके प्रकारको सूत्रमें दिखलाना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा । क्या इस प्रकरणको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह असंगति मूलसूत्रकारको रुचिकर प्रतीत रही होगी । तत्त्वार्थभाष्यके अन्य सूत्रोंमें भी ऐसी असंगतियाँ दीख पड़ती हैं । चौथे अध्यायमें लौकान्तिक देवोंका प्रतिपादक सूत्र आता है । उसमें लौकान्तिक देवोंके भेदोंका प्रतिपादन करते समय नौ भेद दर्शाये हैं, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें 'एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवाः' इन शब्दों द्वारा वे आठ ही रह गये हैं ।

ये भी ऐसे उदाहरण हैं जो तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थितिमें सन्देह उत्पन्न करते हैं और यह माननेके लिए बाध्य करते हैं कि सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ पुराना है और उसमें ऐच्छिक परिवर्तन कर तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी रचना की गयी है ।

3. पौर्वापर्यविचार—पिछले प्रकरणसे यद्यपि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी स्थिति बहुत कुछ

1. सर्वं पञ्चतन्मस्ति कायावरोधात् । अ० 1, सू० 35 । पञ्चास्तिकायो लोकः । अ० 3, सू० 6 । पञ्चास्तिकायात्मकम् । अ० 9, सू० 7 । 2. षट्त्वं षट्द्रव्यावरोधात् । अ० 1, सू० 35 । 3. अ० 5 सू० 1 ।

स्पष्ट हो जाती है। तथापि कुछ अत्युपयोगी विषयोंपर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि अन्तमें हमें यह देखना है कि इनका रचनाकी आनुपूर्वी क्या है। इस प्रकरणको विशेष स्फुट करनेके लिए सर्व-प्रथम हम समान स्थलोंका अहापोह करेंगे और उसके बाद उन स्थलोंको स्पर्श करेंगे जिससे इनके पौर्वापर्यके ऊपर प्रकाश पड़ता है; क्योंकि सर्वप्रथम हमें यह दिखलाना है कि इन दोनों ग्रन्थोंकी स्थिति ऐसी है कि किसी एकको सामने रखकर दूसरा लिखा गया है और अन्तमें यह विचार करना है कि यह अनुसरणकी प्रवृत्ति किसमें स्वीकार की गयी है।

सर्वप्रथम प्रथम अध्यायका प्रथम सूत्र ही लीजिए। इसमें सर्वार्थसिद्धिमें यह वाक्य आता है—

एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देशयामः ।

यही वाक्य तत्त्वार्थभाष्यमें कुछ शब्दोंके हेर-फेरके साथ इन शब्दों द्वारा स्फुट किया गया है—

तं पुरस्तात्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेशयामः ।

आगे भी यह सादृश्य अन्त तक देखनेको मिलता है। यथा—

सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थभाष्य
तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादिः 1,2 ।	तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते । 1,2 ।
प्रथमसंवेगानुकंपास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं 1,2 ।	तदेवं प्रथमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्चैतन्नं सम्यग्दर्शनमिति । 1,2 ।
तत्त्वार्थश्चैतन्नं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् ।	तत्त्वार्थश्चैतन्नं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् ।
अथ किं तत्त्वमित्यत इदमाह—उत्थानिका 1,4 ।	तत्र किं तत्त्वमिति । अत्रोच्यते—उत्थानिका । 1,4 ।
तद्यथा—नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो न्यस्यते 1,5 ।	तद्यथा—नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति । 1,5 ।
काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षिनक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना । 1,5 ।	यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षिनक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवः । 1,5 ।
किंकृतोऽयं विशेषः ? वक्तृविशेषकृतः ।	किंकृतः प्रतिविशेष इति ? अत्रोच्यते—
त्रयो वक्तारः सर्वज्ञस्तीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । तत्र सर्वज्ञेन परमविणा परमा- चिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः । तस्य प्रत्यक्षरशित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम् । तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्धयतिशयादियुक्तैर्गण- धरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम् । तत्प्रमाणम्, तत्प्रामाण्यम् । आरातीयः पुनराचार्यैः कालदोषत्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवं- कालिकाद्युपनिबद्धम् । 1,20 ।	वक्तृविशेषाद्द्वैविध्यम् । यद्भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्व- दक्षिभिः परमर्षभिरर्हद्भिः तत्त्वभाष्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनु- भावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयद्विरुत्तमातिशयवाङ्मु- दितसंपन्नैर्गणधरैर्दुष् तदङ्गप्रविष्टम् । गणधरानन्तर्या- दिभिस्त्वत्वंतविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्ति- भिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणां मनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तदङ्गवाह्यमिति । 1,20 ।

यहाँ हमने इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए थोड़ेसे उदाहरण ही उद्धृत किए हैं। आगे उन स्थलों-को स्पर्श करना है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यको स्पष्ट करनेमें सहायता करते हैं।

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य इनमेंसे पहले कौन और बादमें कौन लिखा गया इसका विचार करते हुए शैलीभेद, अर्थविकास और साम्प्रदायिकता इन तीन उपप्रकरणों द्वारा इस विषयपर प्रकाश डाला है और इन आधारोंसे तत्त्वार्थभाष्यको प्रथम ठहरानेका प्रयत्न किया है।

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीके कथनानुसार हम मान लें कि सर्वार्थसिद्धिकी शैली तत्त्वार्थभाष्यकी शैलीकी अपेक्षा विशेष विकसित और विशेष परिशीलित है। साथ ही यह भी मान लें कि सर्वार्थसिद्धिमें व्याकरणकी दृष्टिसे अर्थविकासके स्पष्ट दर्शन होते हैं। तथापि इन आधारोंसे तत्त्वार्थभाष्यको पहलेकी और सर्वार्थसिद्धिकी बादकी रचना घोषित करने का प्रयत्न करना संयुक्तिक प्रतीत नहीं होता। आचार्य पूज्य-

पादका व्याकरणके ऊपर लिखा गया 'जैनेन्द्र व्याकरण' प्रसिद्ध है। उन्होंने व्यायके ऊपर भी ग्रन्थरचना की थी यह भी धवला टीकाके उल्लेखसे विदित होता है। ऐसी अवस्थामें उनके द्वारा रची गयी सर्वार्थसिद्धिमें इन विषयोंका विशद और स्पष्ट विवेचन होना स्वाभाविक है। किन्तु वाचक उमास्वातिकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे मुख्यतया आगमिक विद्वान् थे। उनकी अब तक जितनी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं वे श्वेताम्बर आगम परिपाटीकी लिए हुए ही हैं। रही कारण है कि उन्होंने तत्त्वार्थभाष्यमें व्याकरण और दर्शन विषयका विशेष ऊहापोह नहीं किया है।

उनका तीसरा आक्षेप साम्प्रदायिकताका है। पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिमें प्रतिपादित ऐसे चार विषय चुने हैं जिनमें उन्हें साम्प्रदायिकता की गन्ध आती है। वे लिखते हैं कि 'कालतत्त्व' केवलिकवलाहार, अचेल-कत्व और स्त्रीमोक्ष जैसे विषयोंके तीव्र मतभेदका रूप धारण करनेके बाद और इन बातोंपर साम्प्रदायिक आग्रह बंध जानेके बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गयी है, जब कि भाष्यमें साम्प्रदायिक अभिनिवेशका यह तत्त्व दिखाई नहीं देता।

प्रकृतमें इस विषयपर विचार करनेके पहले पण्डितजी ऐसा लिखनेका साहस क्यों करते हैं इस बात का विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

भगवान् महावीर स्वामीके मुक्तिलाभ करने पर जो पाँच श्रुतकेवली हुए हैं उनमें अन्तिम भद्रबाहु थे। इनके समयमें उत्तर भारतमें बारह वर्षका दुर्भिक्ष पड़ा था। इससे संघसहित भद्रबाहु दक्षिणकी ओर विहार कर गये थे। इस दुर्भिक्षका उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा भी करती है और साधुसंघके समुद्रके समीप जाकर बिखर जानेकी बात स्वीकार करती है। उस समय भद्रबाहुके मुख्य शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त भी उनके साथ गये थे और वहाँ पहुँचते-पहुँचते आयु क्षीण हो जानेसे भद्रबाहुने वहाँ समाधि ले ली थी। किन्तु कुछ साधु श्रावकोंके विशेष अनुरोधवश पटना ही रह गये थे और कालान्तरमें परिस्थितिवश उन्होंने वरत्र स्वीकार कर लिया था, जिससे जैन परम्परामें श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति मानी जाती है। जब बारह वर्षका दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तब कुछ साधु पुनः पटना लौट आये। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार 'भद्रबाहु उस समय नेपालकी तराईमें थे और बारह वर्षकी विशेष तपश्चर्या करनेमें लगे हुए थे। साधुसंघने भद्रबाहुको पटना बुलाया, किन्तु वे नहीं आये जिससे उन्हें संघबाह्य करनेकी धमकी दी गयी और किसी प्रकार उन्हें शिष्य समुदायको पढ़ानेके लिए राजी कर लिया गया। स्थूलभद्रने अंगजान उन्हींसे प्राप्त किया है।' यदि श्वेताम्बर सम्प्रदायके इस कथनको सत्य मानकर चलें तब भी श्वेताम्बर सम्प्रदायका अपनी परम्पराको स्थूलभद्रसे स्वीकार करना और पटना वाचनानामे भद्रबाहुका सम्मिलित न होना ये दो बातें ऐसी हैं जो उस समय जैनसंघमें हुए किसी बड़े भारी विस्फोटका संकेत करती हैं। स्पष्ट है कि उस समयकी वाचनानामे अखिल जैनसंघका प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था और कालान्तरमें जो अंगसाहित्य संकलित और लिपिबद्ध हुआ है वह मवस्त्रसाधुको जैन परम्परामें प्रतिष्ठित करनेकी दृष्टिसे ही हुआ है। इस समय जो श्वेताम्बर अंग साहित्य उपलब्ध है वह लगभग भगवान् महावीर के मोक्ष-गमनके एक हजार वर्षके बादका ही संकलन है। सोचनेकी बात है कि जब भद्रबाहु के कालमें ही प्रथम वाचना हुई थी तब उसे उसी समय पुस्तकारूढ़ करके उसकी रक्षा क्यों नहीं की गयी? घटनाक्रमसे विदित होता है कि उस समय श्वेताम्बर संघके भीतर ही तीव्र मतभेद रहा होगा और एक दल यह कहता होगा कि संघभेदकी स्थितिमें भी अंगसाहित्यमें परिवर्तन करना इष्ट नहीं है। बहुत सम्भव है कि यदि उस समय श्वेताम्बर अंग-साहित्य संकलित होकर पुस्तकारूढ़ किया जाता तो उसका वर्तमान में रूप ही कुछ दूसरा होता।

यद्यपि श्वेताम्बर अंगसाहित्यमें ऐसे भी उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं जो नग्नताके समर्थक हैं। किन्तु

1. सचेल दलके भीतर तीव्र मतभेदकी बात प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—'मथुराके बाद बलभीमें पुनः श्रुतसंस्कार हुआ जिसमें स्थविर या सचेल दलका रहा सहा मतभेद भी नाम शेष हो गया।' देखो तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० 30।

इन उल्लेखोंको उसकी प्रामाणिकताकी कसौटी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये परिस्थितिवश स्वीकार किए गये हैं। प्रजाचक्षु षं० सुखलालजी इस स्थितिके अनभिज्ञ हों ऐसी बात नहीं है। वे जानते हुए भी किसी कारणवश इस स्थितिको दृष्टिओझल करनेके यत्नमें हैं और यह घोषित करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्वेताम्बर अंगश्रुतमें अचेलकत्व समर्थक वाक्य ही भगवान् महावीरकी परम्पराके पुरे प्रतिनिधित्वके सूचक हैं।¹

यह सत्य है कि श्रमण परम्परामें अचेलकत्व और सचेलकत्व दोनोंको स्थान रहा है और यह भी सत्य है कि अचेलकत्व उत्सर्ग धर्म और सचेलकत्व अपवाद धर्म माना गया है। हमें दिगम्बर परम्पराके साहित्यमें भी ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिससे इस तथ्यकी पुष्टि होती है। किन्तु वहाँ अचेलकत्वसे तात्पर्य मुनिधर्मसे है और सचेलकत्वसे तात्पर्य गृहस्थधर्म या श्रावकधर्मसे है। श्रावकधर्म मुनिधर्मका अपवादमागं है। जहाँ गृहस्थ सब प्रकारकी हिंसा, असत्य, स्तेय और अब्रह्मका परिहार कर मुनि होता है वहाँ उसे सब प्रकारके परिग्रहका परिहार करना भी आवश्यक होता है। श्वेताम्बर अंगश्रुत और प्रकीर्णक साहित्यमें वस्त्र और पात्रके स्वीकार करनेकी भी संयमका साधन माना गया है, किन्तु संयमका साधन वह हो सकता है जो शरीर की सुविधाके लिए आवश्यक न होकर मात्र प्राणिपीडा परिहारके लिए स्वीकार किया जाता है। किन्तु वस्त्र और पात्र प्राणिपीडा परिहारके लिए स्वीकार किए जाते हैं यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इन साधनोंसे उक्त कार्य दृष्टिभोचर नहीं होता। दूसरे इन्हें उक्त कार्यका अनिवार्य अंग मानकर चलने पर नग्नता और पाणिपात्रत्वका विधान करना नहीं बन सकता है। किन्तु हम देखते हैं कि श्वेताम्बर आगममें अचेलत्व और पाणिपात्रत्वका भी विधान है, अतः वस्त्र और पात्र उन्हींके मतसे संयमके उपकरण नहीं हो सकते। एक चर्चा उत्सर्ग और अपवादलिङ्गकी भी जाती है। यह कहा जाता कि नग्नता और पाणिपात्रत्व उत्सर्ग लिङ्ग है, किन्तु इसका अपवाद भी होना चाहिए और अपवादरूपमें ही वस्त्र और पात्र स्वीकार किये जाते हैं। हम मानते हैं कि प्रत्येक उत्सर्गका अपवाद होता है और यह व्यवस्था श्रमण परम्परामें भी स्वीकार की है। तभी तो वह मुनिधर्म और गृहस्थधर्म इन इन दो भेदों का निर्देश करती है। मुनिधर्म उत्सर्ग लिङ्ग है और गृहस्थधर्म उसका अपवाद है। इसलिए वस्त्र और पात्रका स्वीकार मुनि-आचारका अंग नहीं बन सकता है। भले ही दुर्भिक्षके समय ऐसी परिस्थिति रही है जिससे उस समय उत्तर भारतमें जो साधु रह गये थे उन्हें वस्त्र और पात्र स्वीकार करने पड़े थे। इतना ही नहीं, उन्हें कारणवश दण्ड भी स्वीकार करना पड़ा था। किन्तु इन्हें साधुका चिह्न मान लेना मुनि-मार्गके विरुद्ध है। यह हम पहले ही बतला आये हैं कि जो कम-जोरीवश वस्त्रादिको स्वीकार करते हैं वे श्रावक होते हैं। उनके परिणाम मुनिधर्मके अनुकूल नहीं हो सकते।

इस स्थितिके होते हुए भी आग्रहवश श्वेताम्बर अंगश्रुतमें वस्त्र, पात्रादिको साधुके अंग मानकर उनके जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दो भेद कर दिए गए हैं। इस कारण प्रजाचक्षु षं० सुखलालजीको भी उसकी पुष्टिके लिए बाध्य होना पड़ा है। अन्यथा उन्हें जिन तथ्योंके निर्देशमें साम्प्रदायिकताकी गन्ध आती है उन्हें वे न केवल तात्त्विक दृष्टिके स्वीकार करते, अपितु वे परिस्थितिवश श्रमण परम्परामें हुई एक बहुत बड़ी गलतीका परिहारकर आगेका पथ प्रशस्त करनेमें सहायक होते।

यह हम पहले संकेत कर आये हैं कि पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिमेंसे ऐसी चार बातें चुनी हैं जिनका निर्देश वे साम्प्रदायिक कोटिका मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें निर्णायकरूपसे काल तत्त्वका विधान किया गया है जब कि तत्त्वार्थभाष्यमें मतविशेषके रूपमें उसका उल्लेख है। सर्वार्थसिद्धि केवलिकवलाहार और स्त्री-मुक्ति का निषेधकर नाग्यको स्वीकार करती है जब कि तत्त्वार्थभाष्य परीषद्को प्रसंगसे नाग्यको स्वीकार कर वस्त्र, पात्र और स्त्री तीर्थकरका भी विधान करता है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यकी यह स्थिति है जिस कारण पण्डितजीने सर्वार्थसिद्धिके विषयमें अपना उक्त प्रकारका मत बनाया है और इस आधारसे तत्त्वार्थभाष्यको सर्वार्थसिद्धिसे प्राचीन सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इस विषय में पण्डितजीका अभिमत है कि

1. प्रजाचक्षु षं० सुखलालजीके लेखों का भाव। देखो, तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० 29।

‘साम्प्रदायिक अभिनिवेश बढ़ जानेके बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गयी थी जब कि तत्त्वार्थभाष्यमें ऐसे अभिनिवेशका सर्वथा अभाव है।’

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि जैन परम्परामें साधुओंने वस्त्र और पात्र किस परिस्थितिमें स्वीकार किये थे और यह भी उल्लेख कर आये हैं कि श्वेताम्बर अंगश्रुतकी रचना पाँचवीं शताब्दीके बाद हुई है। अतएव यह भी सुनिश्चित है कि तत्त्वार्थभाष्य उसके बाद ही किसी समय लिखा गया होगा, क्योंकि पण्डितजीके ही शब्दोंमें ‘उन्होंने (तत्त्वार्थभाष्यकारने) तत्त्वार्थकी रचनाके आधाररूप जिस अंग अंगश्रुतका अवलम्बन किया था वह पूर्णतया स्थविरपक्षकी मान्य था।’ इस अभिप्रायसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

साधारणतः यह मतभेद श्वेताम्बरीय अंगश्रुतके पुस्तकारूढ़ हो जानेके बाद ही उपरूपमें प्रकट होने लगा था; क्योंकि जैनपरम्पराके कहे जानेवाले अंगश्रुत जैसे महत्वपूर्ण साहित्यमें सर्वत्र मुक्ति और स्त्रीमुक्ति जैसे विषयका समावेश होना पुरानी परम्पराको ही नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली घटना थी। इस कालमें एक ओर जहाँ साम्प्रदायिक अभिनिवेशमें आकर उक्त बातोंका विधान किया जाने लगा था वहाँ दूसरी ओर तात्त्विक-दृष्टिसे उसका निषेध करना और दर्शनमोहनीयके बन्धका कारण बतलाना अनिवार्य हो गया था। सर्वार्थसिद्धिकारने यह कार्य किया है और दृढ़ताके साथ किया है। वस्तुतः उस कालमें तात्त्विक पक्षकी रक्षाका भार उनपर था और उन्होंने उसका सुन्दरतापूर्वक निर्वाह भी किया है।

ऐसी अवस्थामें हमें सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यका विचार अन्य प्रमाणोंके आधारसे करना चाहिए। शैलीभेद, अर्थविकास और साम्प्रदायिकताके आधारसे इसका निर्णय करना गौण है। अतः आइए, अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें इस तत्त्वका निर्णय किया जाय।

इस समय तत्त्वार्थभाष्यपर मुख्यतया प्रथम दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं—प्रथम हरिभद्रकी टीका¹ और दूसरी सिद्धसेनगणिकी टीका। आचार्य हरिभद्र और सिद्धसेनगणि समकालीन या कुछ आगे पीछेके होते हुए भी भट्ट अकलंक देवके बादमें हुए हैं। इतना ही नहीं सिद्धसेनगणिने तो भट्ट अकलंक देवकी कृतियोंका भरपूर उपयोग भी किया है यह उनकी टीकाके देखनेसे भी विदित होता है। किन्तु प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी इस मतसे सहमत होते हुए भी दूर चले जाते हैं। वे तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० 96 में लिखते हैं—

‘किसी-किसी स्थलपर एक ही सूत्रके भाष्यका विवरण करते हुए वे पाँच-छह मतान्तर निर्दिष्ट करते हैं, इससे ऐसा अनुमान करनेका कारण मिलता है कि जब सिद्धसेनने वृत्ति रची तब उनके सामने कमसे कम तत्त्वार्थ सूत्रपर रची हुई पाँच टीकाएँ होनी चाहिए; जो सर्वार्थसिद्धि आदि प्रसिद्ध दिगम्बरीय तीन व्याख्याओंसे पृथक् होंगी ऐसा मालूम पड़ता है; क्योंकि राजवार्तिक और श्लोकवार्तिककी रचनाके पहले ही सिद्धसेनीय वृत्तिका रचा जाना बहुत सम्भव है; कदाचित् उनसे पहले यह रची गयी हो तो भी इसकी रचनाके बीचमें इतना तो कमसे कम अन्तर है ही कि सिद्धसेनको राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकका परिचय मिलनेका प्रसंग ही न आया।’

यहाँ हमें सर्वप्रथम पण्डितजीके इस वक्तव्यकी आलोचना करनी है और इसके बाद देखना है कि क्या सिद्धसेनगणिकी टीका राजवार्तिकका आलोडन किये बिना लिखी गयी थी।

पण्डितजीने सर्वप्रथम सिद्धसेनगणिकी अध्याय पाँच सूत्र तीनकी टीकाके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी पाँच-छह स्वतन्त्र टीकाओंका अनुमान किया है इस आधारसे हम इसे ठीक मान लेते हैं। तथापि इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि सिद्धसेनगणिने तत्त्वार्थवार्तिकका आलोडन किये बिना ही अपनी टीका लिखी थी। इससे तो केवल इतना ही पता लगता है कि उनके सामने और भी कई टीकाएँ थीं जो ‘नित्यावस्थितान्वरूपाणि’ सूत्रके कई पाठ प्रस्तुत करती थीं। यह स्वतन्त्र विषय है और इसपर स्वतन्त्र-

1. हरिभद्रकी टीका तीन लेखकोंने पूरी की है ऐसा प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्रकी भूमिका पृ० 95 में सूचित करते हैं और टीकाके देखनेसे यह मत समीचीन प्रतीत होता है।

रूपसे ही विचार होना चाहिए कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी टीका लिखते समय तत्त्वार्थ-
वातिक था या नहीं और तत्काल हमें प्रसंगोचित इसी बातका विचार करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धसेनगणि बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने अपनी टीकामें तत्त्वार्थसूत्रके अनेक
पाठान्तरों, मत-मतान्तरों, ग्रन्थों, आचार्यों और प्रमाणोंका उल्लेख किया है, जिनसे अनेक ऐतिहासिक तथ्यों-
पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रसंगसे वे भट्ट अकलंक देवके सिद्धिविनिश्चय और तत्त्वार्थवातिकको भी नहीं भूले
हैं। अध्याय 1 सूत्र 3 की टीकामें सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—

**‘एवं कार्यकारणसंबन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्बन्तकाविरूपः सिद्धिविनिश्चयसृष्टिपरीक्षातो
योजनीयो विज्ञेयार्थिना दूषणद्वारेणेति ।’**

भट्ट अकलंक देवके उपलब्ध साहित्यमें सिद्धिविनिश्चय अन्यतम दर्शनप्रभावक ग्रन्थ है और उसमें
सृष्टिपरीक्षा प्रकरण भी उपलब्ध होता है। इससे निश्चित होता है कि यह उल्लेख इसी सिद्धिविनिश्चयका है।

हमने तत्त्वार्थवातिकके साथ भी सिद्धसेनगणिकी उक्त टीकाका तुलनात्मक अध्ययन किया है। इससे
हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी प्रसिद्ध टीका लिखते समय
तत्त्वार्थवातिक अवश्य था। तुलनाके लिए देखिए—

**‘अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामो भवति। तद्यथा—उच्चानि देवदत्तस्य गृहाण्यमन्त्रयस्त्वेनम्। देवदत्त-
मिति गम्यते ।’**

—तत्त्वार्थवातिक अ० 1 सू० 7।

‘अर्थवशाच्च विभक्तिपरिणामः उच्चैर्गृहाणि देवदत्तस्यामन्त्रयस्त्वेनमिति ।’

—सि० टी० उत्थानिका श्लोक 6 की टीका।

इसी प्रकार समानता सूचक और भी वाक्य उपलब्ध होते हैं—जिनका निर्देश पं० परमानन्दजी
शास्त्रीने अनेकान्त वर्ष 3 किरण 11 में ‘सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवातिक’ लेखमें किया है।
इन समानता सूचक वाक्योंके अतिरिक्त सिद्धसेनगणिकी टीकामें कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनके
आधारसे उसकी स्थिति तत्त्वार्थवातिकके बाद स्थिर होनेमें विशेष सहायता मिलती है। यथा—तत्त्वार्थ-
वातिकमें नरकायुके कारणोंकी व्याख्या करते हुए यह वाक्य आता है—

‘बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः’

इसी बातकी सिद्धसेनगणि मतभेदके साथ इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

‘अपरे कुवते—बह्वारम्भाः परिग्रहा यस्यासौ बह्वारम्भपरिग्रहः।

इस पदकी व्याख्या सर्वार्थसिद्धिमें भी उपलब्ध होती है। इसलिए इसपरसे यह कहा जा सकता है
कि सिद्धसेनगणिने यह मतभेद सर्वार्थसिद्धिको लक्ष्यमें रखकर व्यक्त किया होगा। किन्तु सर्वार्थसिद्धिमें उक्त
पदके किये गये विग्रहसे पूर्वोक्त विग्रहमें मौलिक अन्तर है। सर्वार्थसिद्धिमें यह विग्रह इस प्रकार उपलब्ध
होता है—

‘बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः।

किन्तु सिद्धसेनगणिकी टीका इस विषयमें तत्त्वार्थवातिकका अनुसरण करती है, सर्वार्थसिद्धिका
नहीं। अतएव इसपरसे यह माननेके लिए बाध्य होना पड़ता है कि सिद्धसेनगणिकी यहाँपर ‘अपरे’ पदसे
तत्त्वार्थवातिककार अभिप्रेत रहे हैं।

सिद्धसेनगणिकी टीकामें ऐसे और भी पाठ या मतभेदके उल्लेख उपलब्ध होते हैं जो तत्त्वार्थवातिक-
की ओर संकेत करते हैं।

इससे इस बातके स्पष्ट होते हुए भी कि सिद्धसेनगणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यपर अपनी टीका लिखते

1. इसके लिए प्रथम सूत्रकी उत्थानिका व अध्याय 6 सूत्र 16, 17, 18 आदि देखिए।

समय तत्त्वार्थवातिक उपस्थित था, यहाँ तत्त्वार्थभाष्यकी उत्तरावधि निश्चित करनी है और इसके लिए हमें तत्त्वार्थभाष्यके साथ तत्त्वार्थवातिकका तुलनात्मक विचार करना है।

प्रायः यह तो सभी मनीषियोंने स्वीकार किया है कि तत्त्वार्थवातिक सर्वार्थसिद्धिको पचा कर लिखा गया है और इस बातके भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवातिकके पहलेकी रचना होनी चाहिए। इसके लिए हमें अन्यत्र प्रमाण खोजनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वयं तत्त्वार्थवातिक इसका साक्षी है। सर्वप्रथम तत्त्वार्थवातिककी उत्थानिकाको ही लीजिए। तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किस निमित्तसे हुई है इस विषयमें सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें व्याख्याभेद है। सर्वार्थसिद्धिमें स्वीकार किया गया है कि कोई भव्य मुनियोंकी सभामें बैठे हुए आचार्यवर्यसे प्रश्न करता है कि भगवन् ! आत्माका हित क्या है ? आचार्यवर्य उत्तर देते हैं कि 'मोक्ष'। वह पुनः प्रश्न करता है कि इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है और इसीके उत्तर स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें यह उत्थानिका दूसरे प्रकारसे निर्दिष्ट की गयी है। वहाँ बतलाया है कि इस लोक में मोक्षमार्गके बिना हितका उपदेश होना दुर्लभ है, इसलिए मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं। अब इन दोनों उत्थानिकाओंके प्रकाशमें तत्त्वार्थवातिक की उत्थानिकाको पढ़िए। देखनेसे विदित होगा कि इसमें क्रमसे सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य इन दोनोंकी उत्थानिकाओंका स्पष्टतः निर्देश किया है। यही नहीं इसमें तत्त्वार्थभाष्यकी उत्थानिकाका निर्देश 'अपरे' पदसे प्रारम्भ किया है। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवातिककार सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिकाको दिगम्बर परम्परासम्मत मानते रहे और तत्त्वार्थभाष्यकी उत्थानिकाकी अन्यकी। यह उत्थानिकाकी बात हुई।

आगे सूत्रपाठको देखिए—तत्त्वार्थभाष्यकारने तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रमें 'पृथुतराः' पाठ अधिक स्वीकार किया है। प्रवेताम्बर आगम साहित्यमें इस अर्थको व्यक्त करनेके लिए 'छत्ताइछत्ता' पाठ उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थभाष्यकारने भी इस पदकी व्याख्या करते हुए 'छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः' पद द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया है। यह पाठ सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें नहीं है। तत्त्वार्थवातिककारकी न केवल इसपर दृष्टि पड़ती है अपितु इसे वे आड़े हाथों लेते हैं और यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि सूत्रमें 'पृथुतराः' पाठ असंगत है।

साधारणतः सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठसे तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें काफी परिवर्तन हुआ है पर तत्त्वार्थवातिककार उन सब सूत्रपाठोंकी चर्चा नहीं करते। वे प्रायः तत्त्वार्थभाष्यके ऐसे ही सूत्रपाठका विरोध व्यक्त करते हैं जिसे स्वीकार करने पर स्पष्टतः आगम विरोध दिखाई देता है। चौथे अध्यायमें 'शेषाः स्पर्शः—' इत्यादि सूत्र आता है। तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार इस सूत्रके अन्तमें 'द्वयोद्वयोः' इतना पाठ अधिक उपलब्ध होता है। भट्ट अकलंकदेवकी सूक्ष्मदृष्टि इस पाठ पर जाती है और वे आर्यसे विरोध बतला कर इस अधिक पाठकी स्वीकार करना मान्य नहीं करते। इसी प्रकार पाँचवें अध्यायमें 'बन्धेऽधिको पारिणामिको च' सूत्र आता है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें इसका परिवर्तित रूप इस प्रकार उपलब्ध होता है—'बन्धे समाधिको पारिणामिको।'।

यह स्पष्ट है कि आगममें बन्धकी जो व्यवस्था निर्दिष्ट की गयी है उसके साथ इस सूत्रमें आये हुए 'सम' शब्दका मेल नहीं बैठता। तत्त्वार्थवातिककारकी दृष्टिसे यह बात भी छिपी नहीं रहती, इसलिए आगमसे विरोध होनेके कारण वे स्पष्ट शब्दोंमें इसकी अप्रामाणिकता घोषित करते हैं। यही दशा तत्त्वार्थभाष्यमें आये हुए पाँचवें अध्यायके अन्तिम तीन सूत्रोंकी होती है। वे सूत्र हैं—

'अनाविरादिमांश्च ॥ 42 ॥ रुषिष्वादिमान् ॥ 43 ॥ योगोपयोगो जीवेषु ॥ 44 ॥'

इन सूत्रोंमें परिणामके अनादि और सादि ये दो भेद करके पुद्गल और जीवके परिणामको सादि कहा

1- देखो तत्त्वार्थभाष्य उत्थानिका श्लोक 3। 2- तत्त्वार्थवातिक उत्थानिका पृ० 1। 3- तत्त्वार्थवातिक उत्थानिका पृ० 3।

है। साथ ही 42 वें सूत्रके भाष्यमें धर्म, अधर्म, आकाश और जीवके परिणामको अनादि कहा है। इस पर तत्त्वार्थवातिकमें आपत्ति करते हुए कहा है—‘अत्रान्ये धर्माधर्मकालाकाशेषु अनादिः परिणामः आविमान् जीव-पुद्गलेषु वदन्ति तदयुक्तम् ।’

अर्थात् अन्य लोग धर्म, अधर्म, काल और आकाशमें परिणामको अनादि कहते हैं तथा जीव और पुद्गलोंमें उसे सादि कहते हैं किन्तु उनका ऐसा कहना अयुक्त है।

इसी प्रकार अध्याय 1 सूत्र 15 व 21; अध्याय 2 सूत्र 7, 20 व 33; अध्याय 4 सूत्र 8; अध्याय 5 सूत्र 2—3, अध्याय 6 सूत्र 18 और अध्याय 8 सू० 6 के तत्त्वार्थवातिकके देखनेसे भी विदित होता है कि अकलंकदेवके सामने तत्त्वार्थभाष्य अवश्य था।

यद्यपि इस विषयमें कुछ मतभेद है। डॉ० जगदीशचन्द्रजीने अनेकान्त वर्ष 3 किरण 4 में इस आशय-का एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने बतलाया है कि अकलंकदेवके सामने उमास्वातिका तत्त्वार्थभाष्य उपस्थित था। किन्तु उनके इस मतको पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार स्वीकार नहीं करते।¹ पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका भी यही मत है।²

हमारा विचार है कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थभाष्यमें जो सूत्रपाठ स्वीकार किया है वह तत्त्वार्थ-भाष्य लिखनेके पूर्व अवस्थित था इस विषयका पोषक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। आचार्य पूज्यपादने और सिद्धसेनगणितने अपनी टीकाओंमें जगह-जगह सूत्रपाठ सम्बन्धी जिस मतभेदकी³ चर्चा की है उसका सम्बन्ध भी तत्त्वार्थभाष्य मान्य सूत्रपाठसे नहीं है। ऐसी अवस्थामें यह मानना कि भट्ट अकलंकदेवके सामने वाचक उमास्वातिका तत्त्वार्थभाष्य नहीं था, हमें क्षिणिल प्रतीत होता है। तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयीं दिगम्बर और श्वेताम्बर समस्त टीकाओंके अवलोकनसे केवल हम इतना निश्चय कर सकते हैं कि जिस महान् आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर कोई भाष्य या वृत्ति ग्रन्थ नहीं लिखा था। तत्त्वार्थसूत्रमें उत्तरकालमें सूत्रविषयक जो विविध मतभेद दिखाई देते हैं वे इसके प्रमाण हैं। यह स्पष्ट है कि आचार्य पूज्य-पादके काल तक वे मतभेद बहुत ही स्वल्पमात्रामें रहे हैं। किन्तु मूल सूत्रपाठ सर्वार्थसिद्धि द्वारा दिगम्बर परम्परा मान्य हो जाने से दूसरी ओर इसकी बलवती प्रतिक्रिया हुई और मूल सूत्रपाठको तिलांजलि दे दी गयी। परिणाम स्वरूप सूत्रपाठके स्वरूपके विषयमें न केवल मतभेद बढ़ने लगा अपितु स्वतन्त्र सूत्रपाठके स्थिर करनेका भी भाव जागृत हुआ। इन सारे घटनाक्रम व तथ्योंके आधारसे हमारा तो यही विचार पुष्ट होता है कि स्वयं वाचक उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठको अन्तिम रूप दिया होगा और आगे यह पाठ-भेद सम्बन्धी मतभेद उग्र रूप धारण न करे, इसलिए उन्होंने ही उसपर अपना प्रसिद्ध तत्त्वार्थध्वजभाष्य लिखा होगा। यह ठीक है कि वाचक उमास्वातिके पहले अन्य श्वेताम्बर आचार्योंने मूल तत्त्वार्थसूत्रमें काट-छाँट चालू कर दी थी⁴ और वाचक उमास्वातिको उसका वारसा मिला है। यदि पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार इसी अभिप्रायकी ध्यानमें रखकर इस मतका प्रस्थापन करते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ वाचक उमास्वातिके भी पूर्व उपस्थित था तो यह कथन कुछ अंशमें सम्भव हो सकता है पर इससे तत्त्वार्थवातिककारके सामने तत्त्वार्थभाष्य उपस्थित था इस मतपर रंचमात्र भी आँच नहीं आती, क्योंकि तत्त्वार्थवातिकमें केवल तत्त्वार्थ-भाष्य मान्य सूत्रविषयक मतभेदोंका ही उल्लेख नहीं है, अपितु कुछ ऐसे मतोंका भी उल्लेख है जिनका सीधा सम्बन्ध तत्त्वार्थभाष्यसे है।

इस प्रकार इन प्रमाणोंके प्रकाशमें यह मान लेनेपर भी कि तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवातिकके पहले कभी लिखा गया है, फिर भी वह कब लिखा गया है यह विचारणीय हो जाता है। इसका हमें कहीं दृष्टियोगसे

1. देखो अनेकान्त वर्ष 3 किरण 4, 11 व 12। 2. देखो पं० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृ० 9 आदि। 3. देखो सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 16 व अ० 2 सू० 53 तथा सिद्धसेनकी टीका अ० 1 सू० व अ० 5 सू० 3 आदि। 4. देखो चालू प्रस्तावनाका ‘सूत्रपाठोंमें मतभेद’ प्रकरण।

पर्यालोचन करना है। पर्यालोचनके विषय ये हैं—1. अन्य टीकाओंके उल्लेख, 2. सूत्रोत्पत्ति, और 3. अर्थ विकास।

1. अन्य टीकाओंके उल्लेख—अभी तक प्रचलित परम्पराके अनुसार साधारणतः यह माना जाता है कि दिगम्बर परम्परामान्य सूत्रपाठकी प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धि है और श्वेताम्बर परम्परामान्य तत्त्वार्थसूत्रकी प्रथम टीका तत्त्वार्थभाष्य है। तत्त्वार्थभाष्यके विषयमें तो कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि वह तत्त्वार्थसूत्र-कारकी ही मूल कृति है। और इस आधारसे वे यह निष्कर्ष फलित करते हैं कि आचार्य पूज्यपादने मूल सूत्रपाठमें सुधार करके सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी रचना की है जो आज दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। किन्तु इन टीकाग्रन्थों और अन्य प्रमाणोंसे जो तथ्य सामने आ रहे हैं उनसे यह विषय बहुत कुछ विचारणीय हो जाता है। पहले हम सर्वार्थसिद्धिमें दो पाठभेदोंका उल्लेख कर आये हैं। उनमेंसे दूसरा पाठभेद यदि सूत्र-पोथीके आधारसे ही मान लिया जाये तो भी प्रथम पाठभेदको देखते हुए यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि सर्वार्थसिद्धिकारके सामने कोई छोटा-मोटा टीका ग्रन्थ अवश्य था। अन्यथा वे पाठविषयक मतभेदको स्पष्ट करते हुए यह न कहते—‘त एव बर्णयन्ति’ इत्यादि।

तत्त्वार्थवातिकमें अध्याय पाँच सूत्र चारका विवरण लिखते समय यह प्रश्न उठाया गया है कि ‘वृत्तिमें पाँच ही द्रव्य कहे हैं, इसलिए छह द्रव्योंका उपदेश घटित नहीं होता।’ आगे इसका समाधान करते हुए तत्त्वार्थवातिककार कहते हैं कि ‘वृत्तिकारका आप अभिप्राय नहीं समझे। आगे काल द्रव्यका निर्देश किया जानेवाला है उसकी अपेक्षा न कर यहाँ वृत्तिकारने पाँच द्रव्य कहे हैं।’

इसी प्रकार एक प्रश्न इस अध्यायके 37वें सूत्रका विवरण लिखते समय भी उठाया गया है। वहाँ कहा गया है कि ‘गुण यह संज्ञा अन्य सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें उल्लिखित है, अर्हंत मतमें तो केवल द्रव्य और पर्यायका ही निर्देश किया है। अतः तत्त्व दो ही सिद्ध होते हैं और इनके आश्रयसे द्रव्याधिक और पर्यायाधिक ये नय भी दो ही बनते हैं। यदि गुण नामका कोई पदार्थ है तो उसको विषय करनेवाला एक तीसरा नय प्रवक्ष्य होना चाहिए। यतः तीसरा नय नहीं है, अतः गुण नामका कोई तीसरा पदार्थ सिद्ध नहीं होता है और इसीलिए ‘गुणपर्यवस्यवद्द्रव्यम्’ यह सूत्र भी घटित नहीं होता।’ आगे इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि ‘यह बात नहीं है, क्योंकि अर्हत्प्रवचनहृदय आदि ग्रन्थोंमें गुणका उपदेश दिया गया है। और इसके आगे ‘उत्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याभ्या निर्गुणा गुणाः’ यह वाक्य आया है।

तत्त्वार्थवातिकके ये दो उल्लेख हैं जिनसे अन्य वृत्ति तथा ग्रन्थान्तरकी सूचना मिलती है। प्रथम उल्लेखसे हम जानते हैं कि तत्त्वार्थवातिककारके सामने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी कोई एक वृत्ति थी जिसमें ‘नित्यावस्थितान्यरूपाणि’ सूत्रका विवरण लिखते समय पाँच द्रव्योंका विधान किया गया था और जिसका सामंजस्य तत्त्वार्थवातिककारने यहाँ बिठलाया है। तथा दूसरे उल्लेखसे इस बातका अनुमान किया जा सकता है कि तत्त्वार्थवातिककारके सामने एक दूसरा अर्हत्प्रवचनहृदय या अर्हत्प्रवचन नामका स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य था जो न केवल सूत्रशैलीमें लिखा गया था अपितु उसमें ‘द्रव्याभ्या निर्गुणा गुणाः’ यह सूत्र भी मौजूद था और सम्भवतः उसे तत्त्वार्थवातिककार अति प्राचीन भी मानते रहे तभी तो प्रकृतमें गुणके समर्थनमें उन्होंने उसका उल्लेख किया है।

यह अर्हत्प्रवचनहृदय या अर्हत्प्रवचन क्या है यह प्रश्न बहुत गम्भीर है। इसका उल्लेख तत्त्वार्थ-भाष्यकार वाचक उमास्वातिने भी किया है। वे लिखते हैं कि मैं अर्हत्प्रवचनके एकदेशके संग्रहरूप और बहुत अर्थवाले तत्त्वार्थाधिगम नामके लघुग्रन्थका शिष्योंकी हितबुद्धिसे कथन करता हूँ। इसी प्रकार अमृतचन्द्र

1. देखो पं० मुखलासजी की तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना। 2. वृत्ती पञ्चत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेश-व्याघात इति चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्। 3. ‘तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्। वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हत्प्रवचनकदेशस्य ॥22॥’

आचार्यने भी समयप्राभृतकी टीकामें¹ समयप्राभृतको अहंत्प्रवचनका अवयव कहा है। इन दोनों स्थलों पर साधारणतः अहंत्प्रवचन या अहंत्प्रवचनसे द्वादशांगका बोध होता है। किन्तु जब भट्ट अकलंक देव अहंत्प्रवचन-हृदय या अहंत्प्रवचन नामके स्वतन्त्र ग्रन्थका उल्लेख करते हैं, इतना ही नहीं वे उसके एक वचनको उद्धृत भी करते हैं जो तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रसे बिलकुल मिलता जुलता है तब यह प्रश्न अवश्य होता है कि क्या ऐसा कोई महान् ग्रन्थ रहा है जिसमें समग्र जैनसिद्धान्तका रहस्य अन्तर्निहित था और जिसका उल्लेख करना सबके लिए अनिवार्य था। जो कुछ भी हो एक बात स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवातिककारके सामने तत्त्वार्थकी उपलब्ध टीकाओंके अतिरिक्त कोई अन्य वृत्ति अवश्य रही है जो सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यसे भिन्न थी और बहुत सम्भव है कि उसी वृत्तिका उल्लेख उन्होंने तत्त्वार्थवातिकमें किया है।

इसी प्रसंगमें हमने सिद्धसेनगणिकी टीकाका भी आलोडन किया है। इस सम्बन्धमें हम पहले ही कह आये हैं कि सिद्धसेन गणिकी टीका अनेक सूत्र विषयक मत-भेदों और उत्पत्तियोंके लिये हुए है। उसका बारीकीसे पर्यालोचन करनेपर यह भी विदित होता है कि उसके सामने न केवल सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थभाष्य और तत्त्वार्थवातिक थे, अपितु तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी नयी पुरानी और भी अनेक टीकाएँ उनके सामने रही हैं। यह अनुमान प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीका भी है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवातिक और सिद्धसेनगणिकी टीकाके ये वे उल्लेख हैं जिनसे हमें तत्त्वार्थसूत्र विषयक अन्य अनेक छोटी-बड़ी टीकाओं के अस्तित्वका आभास मिलता है। तत्काल विचारणीय यह है कि ये सब टीका ग्रन्थ किस आधारसे लिखे गये होंगे। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिकमें जिनका उल्लेख है वे तो स्वतन्त्र होंगे यह स्पष्ट ही है। मात्र विचार उनका करना है जिनका उल्लेख सिद्धसेनगणिके किया है। यह तो हम स्पष्ट देखते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यके कारण भाष्यानुसारी सूत्रपाठका स्वरूप और अर्थ एक तरहसे सुनिश्चित है। जो लिपिकारोंकी असावधानीसे थोड़े बहुत दोष उत्पन्न होते हैं वे तत्त्वार्थभाष्यमें भी देखे जाते हैं²। किन्तु इन दोषोंके कारण तत्त्वार्थभाष्य समस्त सूत्रपाठमें तत्त्वार्थभाष्यकी उपस्थितिमें पाठान्तर या अर्थान्तरकी कल्पना करना सम्भव नहीं है। ऐसी अवस्थामें इन टीका ग्रन्थोंकी भी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिकमें उल्लिखित टीका ग्रन्थोंके समान स्वतन्त्र ही मानना पड़ता है। सिद्धसेनगणिके मतभेदोंको दूरसाते हुए अन्य मतोंका जिस रूपमें उल्लेख किया है उससे भी तथ्यकी पुष्टि होती है। ये सब टीकाग्रन्थ कब और किन आचार्योंकी कृति हैं यह तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं। बहुत सम्भव है कि वे सब या उनमेंसे कुछ तत्त्वार्थभाष्यके भी पहले लिखे गये हों और उनके लेखक श्वेताम्बर आचार्य रहे हों। यदि यह अनुमान सही है, जिसके कि सही होनेकी अधिक सम्भावना है, तो यही कहना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्य उस कालकी रचना है जबकि मूल तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीका टिप्पणियाँ प्रचलित हो चुकी थीं और जिनमेंसे एक सर्वार्थसिद्धि भी है।

2. सूत्रोत्पत्ति—साधारणतः किसी विषयको स्पष्ट करने, उसकी सूचना देने या अगले सूत्रकी उत्पत्तिकी बाधनेके लिए टीकाकार आगेके या पीछेके सूत्रका उल्लेख करते हैं। यह परिपाटी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यमें भी विस्तारपूर्वक अपनायी गयी है। किन्तु आगेके या पीछेके सूत्र का उल्लेख करते समय इन टीका ग्रन्थोंमें उन्हीं सूत्रपाठोंका उल्लेख किया जाता है जो उन्हें सम्मत होते हैं। उदाहरणार्थ—सर्वार्थसिद्धिकारने अध्याय एकके इक्कीस नम्बरका सूत्र 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इस रूपमें स्वीकार किया है, अतएव वे चौथे अध्यायके प्रथम सूत्रकी उत्पत्तिकी लिखते समय इस सूत्र का इसी रूपमें उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्यकारने इस सूत्रको 'भवप्रत्ययोऽवधिनारकदेवानाम्' इस रूप में स्वीकार

1. 'प्राभृताह्वयस्याहंत्प्रवचनावयवस्य' गा. 1. टीका। 2. देखो अध्याय 6 सूत्र 3 व 4 का तत्त्वार्थभाष्य।

किया है इसलिए वे चौथे अध्यायके प्रथम सूत्रकी उद्धानिकामें इसे इसी रूपमें उद्धृत करते हैं। साधारणतः ये टीकाकार कहीं पूरे सूत्रको उद्धृत करते हैं और कहीं उसके एक अंशको। पर जितने अंशको उद्धृत करते हैं वह अपनेमें पूरा होता है। ऐसा व्यत्यय कहीं भी नहीं दिखाई देता कि किसी एक अंश को उद्धृत करते हुए भी वे उसमेंसे समस्त प्रारम्भके किसी पदको छोड़ देते हों।

ऐसी अवस्थामें हम तो यही अनुमान करते थे कि इन दोनों टीकाग्रन्थोंमें ऐसा उद्धरण शायद ही मिलेगा जिससे इनकी स्थितिमें सन्देह उत्पन्न किया जा सके। इस दृष्टिसे हमने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ-भाष्यका बारीकीसे पर्यालोचन किया है। किन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सर्वार्थसिद्धिमें तो नहीं, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें एक स्थलपर ऐसा स्खलन अवश्य हुआ है जो इसकी स्थितिमें सन्देह उत्पन्न करता है। यह स्खलन अध्याय 1 सूत्र 20 का भाष्य लिखते समय हुआ है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय का प्रतिपादन करनेवाला सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र इस प्रकार है—

‘मतिभूतयोनिबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।’

यही सूत्र तत्त्वार्थभाष्यमें इस रूपमें उपलब्ध होता है—

‘मतिभूतयोनिबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।’

तत्त्वार्थभाष्यमें सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा ‘द्रव्य’ पदके विशेषणरूपसे ‘सर्व’ पद अधिक स्वीकार किया गया है। किन्तु जब वे ही तत्त्वार्थभाष्यकार इस सूत्रके उत्तरार्धको अध्याय 1 सूत्र 20 के भाष्यमें उद्धृत करते हैं तब उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा—

‘अत्राह—मतिभूतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति—‘द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु’ इति’

कदाचित् कहा जाय कि इस उल्लेखमेंसे लिपिकारकी असावधानीवश ‘सर्व’ पद छूट गया होगा, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपनी टीकामें सिद्धसेनगणि और हरिभद्रने भी तत्त्वार्थभाष्यके इस अंशको इसी रूपमें स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि जब तत्त्वार्थभाष्यकारने उक्त सूत्र का उत्तरार्ध ‘सर्व-द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु’ स्वीकार किया तब अन्यत्र उसे उद्धृत करते समय वे उसके ‘सर्व’ पदको क्यों छोड़ गये। पदका विस्मरण हो जानेसे ऐसा हुआ होगा यह बात बिना कारणके कुछ नपी-तुली प्रतीत नहीं होती। यह तो हम मान लेते हैं कि प्रमादवश या जान-बूझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया होगा, फिर भी यदि विस्मरण होनेसे ही यह व्यत्यय माना जाये तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हमारा तो खयाल है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उनके सामने सर्वार्थसिद्धि या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है और हमने क्या पाठ स्वीकार किया है इसका विशेष विचार किए बिना उन्होंने अनायास उसके सामने होनेसे सर्वार्थ-सिद्धिमान्य सूत्रपाठका अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है। यह भी हो सकता है कि अध्याय 1 सूत्र 20 का भाष्य लिखते समय तक वे यह निश्चय न कर सके हों कि क्या इसमें ‘सर्व’ पदको ‘द्रव्य’ पदका विशेषण बनाना आवश्यक होगा या जो पुराना सूत्रपाठ है उसे अपने मूलरूपमें ही रहने दिया जाय और सम्भव है कि ऐसा कुछ निश्चय न कर सकनेके कारण यहाँ उन्होंने पुराने पाठको ही उद्धृत कर दिया हो। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य प्रारम्भ करनेके पहले ही वे तत्त्वार्थसूत्रका स्वरूप निश्चित कर चुके थे, फिर भी किसी खास सूत्रके विषयमें शंकास्पद बने रहना और तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उसमें परिवर्तन करना सम्भव है। जो कुछ भी हो इस उल्लेखसे इतना निश्चय करने के लिए तो बल मिलता ही है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वातिके सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है।

3. अर्थ विकास— इसी प्रकार इन दोनोंके बिम्बप्रतिबिम्बभाव और कहीं-कहीं वस्तुके विवेचनमें तत्त्वार्थभाष्यमें अर्थ विकास के स्पष्ट दर्शन होनेसे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ—दसवें अध्यायमें ‘वर्मास्तिकायाभावात्’ सूत्र आता है। इसके पहले यह बतला थाये हैं कि मुक्त जीव अमुक-अमुक कारणसे ऊपर लोकके अन्त तक जाता है। प्रश्न होता है कि वह इसके आगे क्यों नहीं जाता है और इसीके उत्तरस्वरूप बाह्य निमित्तकी मुख्यतासे इस सूत्रकी रचना हुई है। किन्तु यदि टीकाको छोड़ कर केवल

सूत्रोंका पाठ किया जाय तो यहाँ जाकर रुकना पड़ता है और मनमें यह शंका बनी ही रहती है कि धर्मास्तिकाय न होनेसे आचार्य क्या बतलाना चाहते हैं। सूत्रपाठकी यह स्थिति वाचक उमास्वातिके ध्यानमें आयी और उन्होंने इस स्थितिकी साफ करनेकी दृष्टिसे ही उसे सूत्र न मानकर भाष्यका अंग बनाया है। यह क्रिया स्पष्टतः बादमें की गयी जान पड़ती है। इसी प्रकार इसी अध्याय के सर्वार्थसिद्धिमान्य दूसरे सूत्रको लीजिए। इसके पहले मोहनीय आदि कर्मोंके अभावसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। किन्तु इनका अभाव क्यों होता है इसका समुचित उत्तर उस सूत्रसे नहीं मिलता और न ही सर्वार्थसिद्धिकार इस प्रश्नको स्पर्श करते हैं। किन्तु वाचक उमास्वातिकी यह त्रुटि खटकती है। फलस्वरूप वे सर्वार्थसिद्धिमान्य 'बन्धहेत्वभावनिर्जराणां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इस सूत्रके पूर्वार्थकी स्वतन्त्र और उत्तरार्थकी स्वतन्त्र सूत्र मानकर इस कमीकी पूर्ति करते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें जबकि इसका सम्बन्ध केवल 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः' पदके साथ जोड़ा गया है वहाँ वाचक उमास्वाति इसे पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनोंके लिए बतलाते हैं।

ऐसी ही एक बात, जो विशेष ध्यान देने योग्य है, पाँचवें अध्यायके कालके उपकारके प्रतिपादक सूत्रके प्रसंगसे आती है। प्रकरण परत्व और अपरत्वका है। ये दोनों कितने प्रकारके होते हैं इसका निर्देश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य दोनोंमें किया है। सर्वार्थसिद्धिमें इनके प्रकार बतलाते हुए कहा है—परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें ये दो भेद तो बतलाये ही गये हैं। साथ ही वहाँ प्रशंसाकृत परत्वापरत्वका स्वतन्त्ररूपसे और ग्रहण किया है। वाचक उमास्वाति कहते हैं—परत्वापरत्वे त्रिविधे—प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।

इतना ही नहीं। हम देखते हैं कि इस सम्बन्धमें तत्त्वार्थवातिककार तत्त्वार्थभाष्यका ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने कालके उपकार के प्रतिपादक सूत्रका व्याख्यान करते हुए परत्व और अपरत्वके इन तीन भेदोंका उल्लेख इन शब्दों में किया है—

‘क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तपरत्वापरत्वानवधारणमिति चेत् । न, कालोपकारप्रकरणात् ।’

अतएव क्या इससे यह अनुमान करनेमें सहायता नहीं मिलती कि जिस प्रकार इस उदाहरणसे तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवातिककारके सामने था इस कथनकी पुष्टि होती है उसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य सर्वार्थसिद्धि के बादकी रचना है इस कथनकी भी पुष्टि होती है।

स्पष्ट है कि पौन्योपर्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर तत्त्वार्थभाष्यका रचनाकाल सर्वार्थसिद्धि के रचे जानेके बाद स्थिर होता है और सब स्थितियोंका विचार करनेपर यह ठीक भी प्रतीत होता है।

सर्वार्थसिद्धिमें अन्य साहित्य के उद्धरण—सर्वार्थसिद्धि लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने जो विपुल साहित्य उपस्थित था उसका अवलम्बन लेकर उन्होंने इस महान् टीका ग्रन्थकी श्रीवृद्धि की है। उसमें प्रमुख स्थान जिसे दिया जा सकता है वह है षट्खण्डागम।

षट्खण्डागम—यह वह महान् निधि है जिसे द्वादशांग वाणीका सीधा वारसा मिला है। आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलीने आचार्य धरसेनके चरणोंमें बैठकर तथा उस कालमें शेष रहे द्वादशांग वाणी के एक-देशका अभ्यास कर इस महान् ग्रन्थ की रचना की थी। इसके जीवस्थान, भुल्लक्षण, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गेणा और महाबन्ध इन छह खण्डोंमें द्वादशांग वाणी का संकलन किया गया है, इसलिए इसे षट्खण्डागम कहते हैं। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने यह महान् ग्रन्थ उपस्थित था और उन्होंने इसका भरपूर उपयोग भी किया है यह बात तत्त्वार्थसूत्र अध्याय एक सूत्र सात और आठकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके देखने से स्पष्ट ज्ञात होती है। इसमें निर्देश, स्वामित्व आदि के द्वारा और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और प्रत्यबहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाओंके आश्रयसे जीव तत्त्वका जिस

प्रकार विचार किया गया है वह अनायास ही पाठकोंका ध्यान षट्खण्डागमके जीवस्थान खण्डकी ओर आकृष्ट करता है। जीवस्थान खण्डका दूसरा सूत्र है—

‘एतो इमेसि चोद्दसहं जीवसमासाणं भागणट्ठवाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव द्वाणाणि नायक्काणि भवन्ति ।’

इसमें चौदह गुणस्थानोंके लिए ‘जीवसमास’ शब्दका प्रयोग हुआ है। सर्वार्थसिद्धिकारके सामने यह सूत्र था। उन्होंने भी गुणस्थान के लिए ‘जीवसमास’ शब्दका उपयोग किया है। यथा—

‘एतेयामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि ।’

आगे सर्वार्थसिद्धिमें जीवस्थानका किस प्रकार अनुसरण किया गया है इसका आगेकी तालिका द्वारा स्पष्ट ज्ञान कीजिए—

जीवस्थान सत्प्ररूपणा

संतप्ररूपणदाए दुविहो णिद्दसो—ओघेण आदेसेण य ॥ 8 ॥

ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ॥ 9 ॥ सासण-सम्माइट्ठी ॥ 10 ॥.....

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुमगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ 24 ॥ णेरइया चउट्ठाणेषु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासण-सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी त्ति ॥ 25 ॥ तिरिक्खा पंचसु द्वाणेषु अत्थि मिच्छाइट्ठी संजदा-संजदा त्ति ॥ 26 ॥ मणुस्सा चोद्दससु गुणद्वाणेषु अत्थि मिच्छाइट्ठी.....अजोगिकेवलि त्ति ॥ 27 ॥ देवा चउसु द्वाणेषु अत्थि मिच्छाइट्ठी... असंजदसम्माइट्ठी त्ति ॥ 28 ॥

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ 33 ॥ एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असणिपंचिंदिया एकमि चेव मिच्छाइट्ठिद्वाणे ॥ 36 ॥ पंचिंदिया असणिपंचिंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ 37 ॥

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया आउका-इया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया तसका-इया अकाइया चेदि ॥ 39 ॥ पुढविकाइया...वणप्फ-इकाइया एकमि चेव मिच्छाइट्ठिद्वाणे ॥ 43 ॥ तसकाइया बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ 44 ॥

सर्वार्थसिद्धि सत्प्ररूपणा

तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा—सामान्येन विशेषेण च ।

सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टिः सासादन-सम्यग्दृष्टिरित्येवमादिः ।

विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगती सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति । तिर्य-ग्गती तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति । मनुष्य-गती चतुर्दशापि सन्ति । देवगती नारकवत् ।

इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रिय-पर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । पंचेन्द्रियेषु चतु-र्दशापि सन्ति ।

कायानुवादेन पृथिवीकायादिवनस्पतिका-यान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । त्रसकायेषु चतु-र्दशापि सन्ति ।

आगम परम्परामें इस विषयमें दो सम्प्रदाय हैं कि सासादनसम्यग्दृष्टि मर कर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं। कषायप्राभृत इसी संप्रदाय का समर्थन करता है। किन्तु षट्खण्डागमके अभिप्रायानुसार जो सासादनसम्यग्दृष्टि मर कर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं उनका एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें नियम-से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान हो जाता है। यही कारण है कि जीवस्थान सत्प्ररूपणाके सूत्रोंमें एकेन्द्रियोंके एक

मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानका निर्देश किया गया है। उक्त तुलनासे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिकारने भी एकमात्र इसी सम्प्रदायका अनुसरण किया है।

जीवस्थान संख्या-प्ररूपणा

ओषेण मिच्छाद्द्वी दब्बपमाणेण केवडिया ।
अणंता ॥ 2 ॥ सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव संजदा-
संजदा ति दब्बपमाणेण केवडिया । पलिदोवमस्स
असंखेज्जदिभागो ।.....॥ 6 ॥ पमत्तसंजदा दब्ब-
पमाणेण केवडिया । कोडिपुघत्तं ॥ 7 ॥ अप्पमत्त-
संजदा दब्बपमाणेण केवडिया । संखेज्जा ॥ 8 ॥
चटुप्पमुवसामगा दब्बपमाणेण केवडिया । पवेसेण
एक्को वा दो तिण्णि वा, उक्कसेण चउवण्णं ॥ 9 ॥
अद्धं पडुच्च संखेज्जा ॥ 10 ॥ चउप्पं खवा अजोगि-
केवली दब्बपमाणेण केवडिया । पवेसेण एक्को वा दो
वा तिण्णि वा, उक्कसेण अट्टोत्तरसदं ॥ 11 ॥ अद्धं
पडुच्च संखेज्जा ॥ 12 ॥ सजोगिकेवली दब्बपमाणेण
केवडिया । पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा,
उक्कसेण अट्टोत्तरसयं ॥ 13 ॥ अद्धं पडुच्च सदस-
हस्सपुघत्तं ॥ 14 ॥

सर्वार्थसिद्धि संख्या-प्ररूपणा

सामान्येन तावत् जीवा मिथ्यादृष्टयोऽ-
न्तर्गतान्ताः । सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्ट-
योऽसंयतसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताश्च पत्योपमासंख्येय-
भागप्रमिताः । प्रमत्तसंयताः कोटीपृथक्त्वसंख्याः ।...
अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः । चत्वार उपशमकाः प्रवेशेन
एको वा द्वौ वा त्रयो वा । उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशत् ।
स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः । चत्वारः क्षपका अयोगि-
केवलितश्च प्रवेशेन एको वा दो वा, त्रयो वा । उत्कर्षे-
णाष्टोत्तरशतसंख्याः । स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः ।
सयोगिकेवलिनः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा ।
उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः । स्वकालेन समुदिताः
शतसहस्रपृथक्त्वसंख्याः ।

यहाँ हमने जीवस्थानके सत् और संख्या प्ररूपणाके कुछ सूत्रोंकी तुलना दी है। सब प्ररूपणाओंकी यह तुलना बिम्बप्रतिबिम्बभावको लिये हुए है। स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिकारने 'सत्संख्या—' इत्यादि सूत्रकी प्ररूपणा जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंको सामने रख कर की है। सर्वार्थसिद्धि लिखते समय पूज्यपाद स्वामीके सामने केवल जीवस्थान ही उपस्थित नहीं था किन्तु जीवस्थानकी चूलिका व दूसरे खण्ड भी उनके सामने रहे हैं। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके 'निर्देशस्वामित्व—' इत्यादि सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीका देखिए। इसमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारणोंका निर्देश जीवस्थान चूलिका अनुयोगद्वारके आधारसे किया है। तथा उपशम आदि सम्यक्त्वोंके कालका निर्देश क्षुल्लकबन्धके आधारसे किया है।

आ० कुन्दकुन्दका साहित्य—जैनपरम्परामें श्रुतधर आचार्योंमें समयप्रभावक जितने आचार्य हुए हैं उनमें आचार्य कुन्दकुन्दका नाम प्रमुखरूपसे लिया जाता है। कुछ तथ्योंके आधारपर कहा जाता है कि इन्हें विदेह क्षेत्रमें स्थित सीमन्धर तीर्थकरके साक्षात् दर्शन और उपदेश श्रवणका लाभ मिला था और इन्हें चारण-
ऋद्धि प्राप्त थी। इन्होंने परम्परानुसार मोक्षमार्गके अनुरूप जैनतत्त्वज्ञानकी स्पष्ट दिशाका प्रतिपादन कर समग्र जैनपरम्पराको प्रभावित किया है। जैनतत्त्वज्ञान व्यक्तिस्वातन्त्र्यका समर्थक है और उसकी प्राप्ति का एकमात्र मार्ग स्वावलम्बन है। इस तथ्यको संसारके सामने जितने सुन्दर शब्दोंमें इन्होंने रखा है उसकी तुलना अन्य किसीसे नहीं की जा सकती है। वे जैनपरम्परामें ऐसे प्रकाशमान सूर्य थे जिनसे दसों दिशाएँ आलोकित हुई हैं। बोधप्राप्तमें एक गाथा आयी है। जिसमें इन्होंने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका गमक शिष्य घोषित किया है। सत्यप्राप्तका प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं कि 'मैं श्रुतकेवलीके द्वारा कहे गए सत्यप्राप्तका कथन करता हूँ।' उनके ये वचन आकस्मिक नहीं हो सकते। बहुत सम्भव है कि उन्हें भद्रबाहु श्रुतकेवलीके तत्त्वज्ञान का सीधा या परम्परा लाभ मिला हो; क्योंकि इनके द्वारा निर्मित साहित्यमें जो विशेषता है वह आकस्मिक नहीं हो सकती। वस्त्र-पात्रके स्वीकार की चर्चाने जैनपरम्पराके तत्त्वज्ञानको बहुत अधिक धूमिल किया है।

1. 'बारहअंगवियाणी चउदसपुर्वंगविउलवक्खरणं । सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भयवओ जयउ ॥'

एकमात्र इनके द्वारा रचित साहित्यकी पूर्वपरम्परा ही ऐसी प्रकाशकिरण है जो इस अन्धकारका विच्छेद कर सम्मार्गका प्रकाश करती है। एक ओर आत्मा और परनिरपेक्ष आत्मीय भावोंको छोड़कर अन्य सबको यहूतिक कि आत्मामें जायमान नैमित्तिक भावोंको भी पर कहना और दूसरी ओर वस्त्र-पात्रके स्वीकारको व्यक्तिस्वातन्त्र्य का मार्ग बतलाना इसे तत्त्वज्ञानकी कोरी विडम्बनाके सिवा और क्या कहा जा सकता है। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताकी उद्धोषणा करनेवाला और ईश्वरवादके निषेध द्वारा बाह्य निमित्तकी प्रधानताकी अस्वीकार करनेवाला धर्म मोक्षमार्गमें निमित्तरूपसे वस्त्र-पात्रके स्वीकारका कभी भी प्रतिपादन नहीं कर सकता। आचार्य कुन्दकुन्दने यदि किसी तथ्यको स्पष्ट किया है तो वह एकमात्र यही हो सकता है। कुछ विद्वान् समझते हैं कि उन्हें नाम्यका एकान्त आग्रह था और उनके बाद ही जैनपरम्परामें इसपर विशेष जोर दिया जाने लगा था। किन्तु मालूम होता है कि वे इस उपालम्भ द्वारा जैनदर्शनकी दिशा ही बदल देना चाहते हैं। जैनदर्शनमें वस्तुका विचार एकमात्र व्यक्तिस्वातन्त्र्यके आधारपर ही किया गया है, अतएव उसकी प्राप्तिका मार्ग स्वावलम्बनके सिवा और क्या हो सकता है। एक व्यक्ति द्वारा अन्य पदार्थोंका स्वीकार उसकी चंचलता और कषायके कारण ही होता है। यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति वस्त्र और पात्रको भी स्वीकार करे और वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारसे परिग्रहहीन भी माना जाये। स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्दने नाम्यकी घोषणा कर उसी मार्गका प्रतिपादन किया है जिसे अनन्त तीर्थंकर अनादि कालसे दिखलाते आये हैं। ऐसे महान् आचार्यकी कृतिरूपसे इस समय समयप्राप्त, प्रवचन-सार, पंचास्तिकाय, नियमसार, द्वादश अनुप्रेक्षा और अष्टप्राप्त आदि उपलब्ध होते हैं। आचार्य पूज्यपादने इस साहित्यका भरपूर उपयोग किया है यह बात सर्वार्थसिद्धिके आलोचनसे भलीभाँति विदित होती है। आचार्य पूज्यपादने ऐसी दस गाथाएँ उद्धृत की हैं जिनमेंसे एक गाथा पंचास्तिकायमें, एक गाथा नियम-सारमें, तीन गाथाएँ प्रवचनसारमें और पाँच गाथाएँ द्वादश अनुप्रेक्षामें उपलब्ध होती हैं। ये गाथाएँ उन ग्रन्थोंके किस प्रकरणकी हैं यह हमने उन-उन स्थलोंपर टिप्पणमें दिखलाया ही है।

मूलाचार—दिगम्बर परम्परामें स्वीकृत मूलाचार मुनि-आचारका प्रतिपादक सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसके कर्ता आचार्य बटुकेर हैं। हमारे सहाध्यायी पं० हीरालालजी शास्त्रीने 'बटुकेर आचार्य' का अर्थ 'वर्तक एलाचार्य' करके इसके कर्तारूपसे आचार्य कुन्दकुन्दको अनुमानित किया है। उनके इस विषयके 2-3 लेख इसी वर्षके अनेकान्तमें प्रकाशित हुए हैं जो विचारकी नयी दिशा प्रस्तुत करते हैं। किन्तु उन लेखोंसे इस निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं दिखाई देता कि आचार्य कुन्दकुन्दने ही इसे मूर्तरूप दिया है। मूलाचार में एक प्रकरण-का नाम द्वादशानुप्रेक्षा है। आचार्य कुन्दकुन्दने स्वतन्त्र रूपसे 'बारह अणुपेक्षा' ग्रन्थ की रचना की है। कम-से-कम इससे तो यही मानना पड़ता है कि मूलाचार कृतिके रचयिता आचार्य बटुकेर ही होने चाहिए, आचार्य कुन्दकुन्द नहीं। बीरसेन स्वामीने ध्वला टीका में इसका 'आचारांग' नामसे उल्लेख कर इसकी एक गाथा उद्धृत की है। यहाँ आचार्य पूज्यपादने भी इसकी दो गाथाएँ सर्वार्थसिद्धिमें दी हैं।

पंचसंग्रह—दिगम्बर परम्परामें पंचसंग्रहका बहुत बड़ा स्थान है। इसके सम्बन्धमें हमने श्वेताम्बर ग्रन्थसप्तिकाकी भूमिकामें प्रकाश डालते हुए यह सम्भावना प्रकट की थी कि इसका संकलन श्वेताम्बर पंच-संग्रहके कर्ता चन्द्रार्थिमहत्तरके पहले हो चुका था। इसकी दो गाथाएँ आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें भी उद्धृत की हैं। इससे विदित होता है कि बहुत सम्भव है कि दिगम्बर परम्परामान्य प्राकृत पंचसंग्रहका संकलन आचार्य पूज्यपादके पूर्व हुआ हो। अब यह ग्रन्थ उपलब्ध होकर प्रकाशमें आ सका है। आचार्य अमितागतिने इसीके आधारसे संस्कृत पंचसंग्रहका संकलन किया है।

पाणिनीय व्याकरण—आचार्य पूज्यपादने स्वयं 'जैनेन्द्र व्याकरण' लिखा है और उसपर न्यासके

1. देखो आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे प्रकाशित सप्तिकाकी भूमिका, पृष्ठ 23 से 26 तक।

लेखक वे स्वयं हैं यह भी प्रसिद्धि है। इसलिए यह शंका होती है कि सर्वार्थसिद्धि में उन्होंने स्वनिर्मित जैनेन्द्र के सूत्रोंका ही उल्लेख किया होगा। सर्वार्थसिद्धि के सम्पादक के समय यह प्रश्न हमारे सामने था और इस दृष्टि से हमने सर्वार्थसिद्धि को देखा भी। किन्तु इसमें व्याकरण के जो सूत्रोलेख उपलब्ध होते हैं उनको देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस विषय में उनका ऐसा कोई आग्रह नहीं था कि केवल स्वनिर्मित जैनेन्द्र के ही सूत्र उद्धृत किये जायें। यों तो सर्वार्थसिद्धि में सूत्रोलेखोंका बहुत ही कम प्रसंग आया है, पर दो तीन स्थलों पर जिस रूप में वे उल्लिखित किये गये हैं उनके स्वरूपको देखने से विदित होता है कि इस काम में पाणिनीय और जैनेन्द्र दोनों व्याकरणोंका उपयोग हुआ है। यथा—

सर्वप्रथम हम अध्याय 4 सूत्र 19 की सर्वार्थसिद्धि टीका में दो सूत्रोंका उल्लेख देखते हैं। उनमें से प्रथम है 'तदस्मिन्नस्तोति।' और दूसरा है 'तस्य निवासः।' इनमें से प्रथम सूत्र पाणिनीय व्याकरण में 'तदस्मिन्नस्तोति देशे तन्नामि। 4, 2, 67।' इस रूप में और जैनेन्द्रव्याकरण में 'तदस्मिन्नस्तोति देशः स्त्री। 4, 1, 14।' इस रूप में उपलब्ध होता है, इसलिए इस परसे यह कहना कठिन है कि यहाँपर आचार्य पूज्यपादने पाणिनीय के सूत्रका आश्रय लिया है या जैनेन्द्र के सूत्रका। दूसरा सूत्र पाणिनीय व्याकरण में 'तस्य निवासः। 4, 2, 69।' इसी रूप में और जैनेन्द्रव्याकरण में 'तस्य निवासादूरभवी। 3, 2, 19।' इस रूप में उपलब्ध होता है। स्पष्ट है कि यहाँ आचार्य पूज्यपादने पाणिनीय व्याकरण के सूत्रका उल्लेख किया है।

अध्याय 5 सूत्र 1 की सर्वार्थसिद्धि टीका में 'विशेषणं विशेष्येणेति' सूत्र उल्लिखित है। जैनेन्द्रव्याकरण में यह इसी रूप में क्रमांक 1, 3, 52 पर अंकित है और इसके स्थान पर पाणिनीय व्याकरणका सूत्र है 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्।' स्पष्ट है कि यहाँपर आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित व्याकरण के सूत्रका ही उल्लेख किया है।

यह तो सूत्र चर्चा हुई। अब एक अन्य प्रमाणको देखिए—अध्याय 5 सूत्र 4 की टीका में आचार्य पूज्यपादने 'नेध्रुवे त्यः' यह पद उल्लिखित किया है। किन्तु जैनेन्द्रव्याकरण में नित्य शब्दको सिद्ध करनेवाला न तो कोई सूत्र है और न ही 'त्य' प्रत्ययका निर्देश है। वहाँ 'त्य' प्रत्यय के स्थान में 'य' प्रत्यय है। इससे विदित होता है कि यह वाक्य आचार्य पूज्यपादने कात्यायन वार्तिक 'त्यन्नेध्रुव इति वक्तव्यम्। 4, 2, 104।' को ध्यान में रखकर लिखा है। आचार्य अभयनन्दिने अपनी वृत्ति में अवश्य ही 'नेध्रुवम् इति वक्तव्यम्।' यह वार्तिक बनाया है। किन्तु वह बाद की रचना है। फिर भी उक्त पद विवादस्पद अवश्य है।

इन तथ्यों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में जैनेन्द्रव्याकरण के समान पाणिनीय व्याकरणका भी उपयोग किया है और यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रव्याकरणकी रचना होने के अनन्तर ही उन्होंने सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी थी। अध्याय 10 सूत्र 4 की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपादने पंचमी विभक्ति के लिए 'का' संज्ञाका प्रयोग किया है। आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरण में 'विभक्ति' शब्द के व्यंजन अक्षरों में 'आ' और स्वर में 'प्' जोड़कर क्रमसे विभक्तियोंकी वा, इप्, भा, अप्, का, ता, ईप् ये सात संज्ञाएँ निश्चित की हैं। इस हिसाबसे 'का' यह पंचमी विभक्तिका संकेत है। यह भी एक ऐसा प्रमाण है जो इस बातको सूचित करता है कि सर्वार्थसिद्धि लिखे जाने के पहले जैनेन्द्रव्याकरणकी रचना हो गयी थी।

कात्यायनवार्तिक—पाणिनीय के व्याकरण सूत्रों पर कात्यायन महर्षिने वार्तिक लिखे हैं। अध्याय 7 सूत्र 16 की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपादने शास्त्र कहकर उनके 'अश्वबृषभयोर्मधुनेच्छायाम्।' इस वार्तिकको उद्धृत किया है। यह पाणिनिके 7, 1, 51 पर कात्यायनका पहला वार्तिक है।

पातंजल महाभाष्य—वैदिक परम्परा में पातंजल ऋषि एक महान् विद्वान् हो गये हैं। इस समय पाणिनीय व्याकरण पर जो पातंजल महाभाष्य उपलब्ध होता है वह इन्हीं की अमर कृति है। योगदर्शन के लेखक भी यही हैं। यह इससे स्पष्ट है—

‘योगेन विसस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।

योऽप्यकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।’

जिन्होंने योगके द्वारा चित्तके मलको, व्याकरणके द्वारा वचनोंके मलको और वैद्यकद्वारा शरीरके मलको दूर किया है उन मुनियोंमें श्रेष्ठ पतञ्जलि ऋषिके समक्ष मैं नतमस्तक होता हूँ ।

पतञ्जलि ऋषिके अवस्थितिकालके विषयमें मतभेद है । तथापि ये विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दीसे पहले नहीं हुए हैं इतना निश्चित है । इस समय हमारे सामने पातञ्जल महाभाष्य और सर्वार्थसिद्धि उपस्थित हैं । इन दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादके साहित्यपर और खासकर सर्वार्थसिद्धिपर पातञ्जल महाभाष्यकी गहरी छाप पड़ी है । दोनोंका अवलोकन करनेसे विदित होता है कि सर्वार्थसिद्धिके ऐसे अनेक स्थल हैं जो पातञ्जल महाभाष्यके आश्रयसे सजाये गये हैं । इस बातको स्पष्ट करनेके लिए आगे की तुलनापर दृष्टि डालिए—

पातञ्जल महाभाष्य

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति ।

बहवो हि शब्दाः एकार्था भवन्ति । तद्यथा
इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः ।

अनुदरा कन्येति ।

अस्त्येव संख्यावाची । तद्यथा, एको द्वौ
बहुव इति ।

बहुरोदनो बहुः सूप इति ।

सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति ।

हि मन्ये रथेन यास्यसीति ।

भाविकृत्यमासीत् । पुत्रो जनिष्यमाण
आसीत् ।

अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः । अर्थं संप्रत्याय-
यिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते तत्रैकेनैकतत्वात्तत्स्यार्थस्य
द्वितीयस्य च तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यं
उक्तार्थानामप्रयोगः ।

एकश्च तन्तुस्त्वक्त्राणेऽसमर्थस्तत्समुदा-
यश्च कम्बलः समर्थः । एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थ-
स्तत्समुदायश्च रज्जुः समर्थो भवति ।

इमानीन्द्रियाणि कदाचित्स्वातन्त्र्येण विव-
क्षितानि भवन्ति । तद्यथा इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति,
अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति ।

कदाचित् पारतन्त्र्ये विवक्षितानि भवन्ति—
अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि । अनेन कर्णेन सुष्ठु
शृणोमि ।

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुप-
संख्यानं कालभेदात् ।

अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः ।

सर्वार्थसिद्धि

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा ।

सत्यपि प्रकृतिभेदे रुढिबललाभात् पर्याय-
शब्दत्वम् । यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दर इति ।

यथा, अनुदरा कन्या इति ।

संख्यावाची यथा—एको द्वौ बहुव इति ।

बहुरोदनो बहुः सूप इति ।

सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः ।

एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यति
यातस्ते पितेति ।

विश्वदूषवाऽस्य पुत्रो जनिता । भाविकृत्य-
मासीदिति ।

अथवा अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः तत्रैकस्यार्थ-
स्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः ।

भवति हि कश्चित्प्रत्येकं तन्तुस्त्वक्त्राणे
समर्थः ।

स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते । इदं मे अक्षि
सुष्ठु पश्यति । अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति ।

लोके इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यविवक्षा
दृश्यते । अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि । अनेन कर्णेन सुष्ठु
शृणोमीति ।

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुप-
संख्यानम् ।

अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः ।

पातञ्जल महाभाष्य

हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे भिक्षादिषु दर्शनात् । हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे द्रष्टव्यः । यावद् ब्रूयान्निमित्तं कारणमिति तावद्धेतुरिति । किं प्रयोजनम् । भिक्षादिषु दर्शनात् । भिक्षादिष्वपि णिञ् दृश्यते भिक्षा वासयन्ति कारीषोऽग्निरध्यापयति इति ।

स बुद्ध्या निवर्तते । य एष मनुष्यः प्रेक्षा-पूर्वकारी भवति स पश्यति ।

तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते । एकीभूतमिति गम्यते ।

कल्पो हि वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तव्यधीनं हि ।

सर्वार्थसिद्धि

निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो द्रष्टः । यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति ।

...स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते । एवमि-
हापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी स पश्यति ।

तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते ।
एकीभूतमिति गम्यते ।

कल्पो हि वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तव्य-
धीनम् ।

रत्नकरण्डक—यह दिगम्बर परम्पराका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है । इसमें धर्मके स्वरूपका व्याख्यान कर व धर्मको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यस्वरूप बतला कर पाँच अध्यायोंमें इन तीनों रत्नोंका क्रमसे विवेचन किया गया है, इसलिए इसको रत्नकरण्डक कहते हैं । किन्तु सम्यक् चारित्र्यका प्रतिपादन करते समय सकल चारित्र्यका उल्लेखमात्र करके इसमें मुख्यतया विकलचारित्र्य (श्रावकाचार) का ही विस्तारके साथ निरूपण किया गया है, इसलिए इसे रत्नकरण्डकश्रावकाचार भी कहते हैं । साधारणतः इसके कर्ताके सम्बन्धमें प्रसिद्धि है कि यह दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र स्वामीकी अमर कृति है । अभी तक जितने प्राचीन उल्लेख मिलते हैं उनसे इसी तथ्यकी पुष्टि होती है । स्वयं प्रभाचन्द्र आचार्य जिन्होंने कि इस पर विस्तृत संस्कृत टीका लिखी है वे भी इसे स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति मानते हैं । जैसा कि इसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पायी जानेवाली पुष्पिकासे विदित होता है^१ । ऐसी अवस्थामें आचार्य पूज्यपादके सामने सर्वार्थसिद्धि लिखते समय रत्नकरण्डक अवश्य होना चाहिए । आगे हम इन दोनों ग्रन्थोंके कुछ ऐसे उल्लेख उपस्थित करते हैं जिससे इस विषयके अनुमान करनेमें सहायता मिलती है । उल्लेख इस प्रकार हैं—

1. रत्नकरण्डकमें व्रतका स्वरूप इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

‘अभिसन्धिकृता विरतिर्विविधाद्योगाद् व्रतं भवति’ ॥ 3, 30 ॥

इसी बातको सर्वार्थसिद्धिमें इन शब्दों में व्यक्त किया है—

व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः । 7—1 ।

रत्नकरण्डकमें अनर्थदण्डके ये पाँच नाम दिए हैं—पापोपदेश, हिंसादान, अपठयान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या । सर्वार्थसिद्धिमें भी ये ही पाँच नाम परिलक्षित होते हैं । इतना ही नहीं इनके कुछ लक्षणोंके विषयमें भी अपूर्व शब्दसाम्य दृष्टिगोचर होता है । यथा —

‘तिथ्यंक्लेशवाणिज्यविहितारम्भप्रलम्भनाशनाम् ।

कथाप्रसंगप्रसक्तः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥’ रत्न० 3 ॥

‘तिथ्यंक्लेशवाणिज्यप्राणिबधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ।’ सर्वा० 7, 21 ।

‘क्षितिसलिलवहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् ।

सरणं सारणभयि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते ॥’ रत्न० 3, 34 ।

‘प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवयवकर्म प्रमादाचरितम् ।’ सर्वा० 21 ।

1. देखी ९० जुगलकिशोरजी द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित रत्नकरण्डक श्रावकाचारकी प्रस्तावता, पृ० 5 से पृ० 15 तक । 2. इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-विरचितोपासकाध्ययनटीकायां प्रथमः परिच्छेदः ।

इन दोनों ग्रन्थोंमें भोगोपभोगव्रत या उपभोगपरिभोगव्रतके निरूपणमें जो अर्थ और शब्दसाम्य दृष्टिगोचर होता है वह तो और भी विलक्षण है। दोनोंमें भोग और उपभोगके प्रकार दिखलाकर व्रतघात, बहुघात और अनिष्टके त्यागका उपदेश दिया गया है। मात्र रत्नकरण्डकमें इनके सिवा अनुपसेव्यके त्यागका निर्देश विशेषरूपसे किया गया है। रत्नकरण्डकके उल्लेख इस प्रकार हैं—

‘व्रतहृतिपरिहरणार्थं श्रीं विहितं प्रमादपरिहृतये ।

मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातः ॥’ 3, 38 ॥

‘अल्पफलबहुविघातामूलकमात्राणि शृङ्गवेराणि ।

नवनीतनिम्बकुसुमं कंतकमित्येवमवहेयम् ॥ 3, 39 ॥

यदनिष्टं तद् व्रतवेद्यश्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ॥ 3, 40 ॥’

इसी विषयकी सर्वार्थसिद्धिमें देखिए—

‘मद्यं मांसं मद्यं च सदा परिहर्तव्यं व्रतघातान्निवृत्तचेतसा । केतव्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशाह्राणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात् । यानवाहनाभरणाविन्दे-
तःवदेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यम्.....’ 1’ 7, 22 ।

इतने विलक्षण साम्यके होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थोंमें कुछ विशेषता है। प्रथम विशेषता तो यह है कि रत्नकरण्डकमें ‘प्रोषध’ शब्दका अर्थ ‘सत्कृद्भुक्ति’ किया है और सर्वार्थसिद्धि में ‘पर्व’ । तथा दूसरी विशेषता यह है कि रत्नकरण्डकमें आठ मूलगुणोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख किया है जब कि सर्वार्थसिद्धिमें इनकी यत्किञ्चित् भी चर्चा नहीं की है। इसलिए शंका होती है कि यदि सर्वार्थसिद्धि रत्नकरण्डकके वादकी रचना मानी जाय तो उसमें यह अन्तर नहीं दिखाई देना चाहिए। ‘प्रोषध’ शब्दके अर्थको हम छोड़ सकते हैं, क्योंकि उसे पर्व पर्यायके अर्थमें स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है। तब भी आठ मूलगुणोंके निर्देश और अनिर्देशका प्रश्न बहुत ही महत्व रखता है। पाठक जितने भी प्राचीनकालकी ओर जाकर देखेंगे कि पूर्वकालमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख श्रावकके कर्तव्योंमें अलगसे नहीं किया जाता था। किन्तु उनके स्थान पर सामायिक आदि षट्कर्म ही प्रचलित थे। सर्वप्रथम यह उल्लेख रत्नकरण्डकमें ही दिखलाई देता है।

(स्व०) डॉ० हीरालालजी रत्नकरण्डककी श्री स्वामी समन्तभद्रकी कृति माननेमें सन्देह करते हैं। उनका यह विचार बननेका मुख्य कारण यह है कि बादिराजसूरिने अपने पार्ष्वनाथचरितमें देवागमके कर्ता स्वामी समन्तभद्रका उल्लेख करनेके बाद पहले ‘देव’ पद द्वारा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता आचार्य पूज्यपादका उल्लेख किया है और इसके बाद रत्नकरण्डकके कर्ताका स्मरण करते हुए उन्हें ‘योगीन्द्र’ नामसे सम्बोधित किया है। डॉ० साहब का खयाल है कि ये ‘योगीन्द्र’ स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न होने चाहिए जो कि आचार्य पूज्यपादके बादके प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि बादिराजसूरिने अपने पार्ष्वनाथचरितमें आचार्य पूज्यपादके बाद आचार्य योगीन्द्रका स्मरण किया है और उन्हें रत्नकरण्डकका निर्माता कहा है। इसकी पुष्टिमें उन्होंने और भी कई प्रमाण दिये हैं, पर उनमें मुख्य प्रमाण यही है।

स्व० श्री पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारने माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेवाले सटीक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें रत्नकरण्डककी अन्तःपरीक्षा करके यह सम्भावना प्रकट की है कि जिस रूपमें इस समय वह उपलब्ध होता है वह उसका मूलरूप नहीं है। लिपिकारों और टिप्पणकारोंकी असावधानी वश कई प्रक्षिप्त श्लोक मूलके अंग बन गये हैं¹। हमारा अनुमान है कि अष्ट मूलगुणोंका प्रतिपादक यह श्लोक भी इसी प्रकार मूलका अंग बना है। यद्यपि मुस्तार साहब आठ मूलगुणोंके प्रतिपादक श्लोकको प्रक्षिप्त नहीं मानते। उन्होंने इसका कोई खास कारण तो नहीं दिया। केवल उपसंहार करते हुए इतना ही

1. देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित पार्ष्वनाथचरित, सर्ग 1, श्लोक 17, 18 और 19 ।’

2. देखो, प्रस्तावना पृष्ठ 15 से पृष्ठ 53 तक ।

कहा है कि 'इसके न रहनेसे अथवा यों कहिए कि श्रावकाचार विषयक ग्रन्थमें श्रावकोंके मूलगुणोंका उल्लेख न होनेसे, ग्रन्थमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिसकी स्वामी समस्तभद्र जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी।'

हम यह तो मानते हैं कि केवल वादिराजसूरिके उल्लेखके आधारसे यह तो नहीं माना जा सकता कि रत्नकरण्डक स्वामी समस्तभद्रकी कृति नहीं है, क्योंकि उन्होंने आचार्योंका उल्लेख सर्वथा कालक्रमके आधारसे नहीं किया है। यथा—वे अध्याय 1 श्लोक 20 में भक्तलंकका उल्लेख करनेके बाद 22वें श्लोकमें सम्मतिर्लङ्के कर्ताका स्मरण करते हैं। यह भी सम्भव है कि किसी लिपिकारकी असावधानीवश रत्नकरण्डक का उल्लेख करनेवाला पार्श्वनाथचरितका 'त्यागी स एव योगीन्द्रः' श्लोक 'अचिन्त्यमहिमा देवः' इस श्लोकके बाद लिपिवद्ध हो गया हो। मुद्रित प्रतिमें ये श्लोक इस रूपमें पाये जाते हैं।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रवर्ष्यते ॥ 1, 17 ॥

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हर्तृषिणा ।

शब्दाच्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्बिताः ॥ 1, 18 ॥

त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।

अग्निने भव्यसाधयि दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥ 1, 19 ॥

किन्तु इनमेंसे 19 संख्यांकवाले श्लोकको 17 संख्यांकवाले श्लोकके बाद पढ़ने पर 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इस पद द्वारा स्वामी समस्तभद्रका ही बोध होता है और सम्भव है कि वादिराजसूरिने रत्नकरण्डक का कर्तृत्व प्रकट करनेके अभिप्रायसे पुनः यह श्लोक कहा हो। किन्तु दूसरे प्रमाणोंके प्रकाशमें इस सम्भावना द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समस्तभद्रकर्तृक मान लेनेपर भी उसमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख अवश्य ही विचारणीय हो जाता है। इस विषयमें हमारा तो खयाल है कि जिस कालमें श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद किए गये और इस आधारसे श्रावकाचार के प्रतिपादन करनेका प्रारम्भ हुआ उसी कालसे आठ मूलगुणोंका वर्गीकरण हो कर उन्हें श्रावकाचारोंमें स्थान मिला है। रत्नकरण्डकमें कुछ ऐसे बीज हैं जिनसे उसका संकलन दूसरे श्रावकाचारोंमें हुए विकास क्रमके बहुत पहलेका माना जा सकता है। अतएव सम्भव है कि रत्नकरण्डकमें आठ मूलगुणोंका उल्लेख प्रक्षिप्त हो। रत्नकरण्डकमें जिस स्थानपर यह आठ मूलगुणोंका प्रतिपादक श्लोक संकलित है उसे देखते हुए तो यह सम्भावना और भी अधिक बढ़ जाती है। इसके पहले स्वामी समस्तभद्र अतीचारोंके साथ पाँच अणुव्रतोंका कथन पर आये हैं और आगे वे सात शीलव्रतोंका अतीचारोंके साथ कथन करेवाले हैं। इनके बीचमें यह श्लोक आया है जो अप्रासंगिक है।

युक्त्यनुशासन—स्वामी समस्तभद्रकी रत्नकरण्डकके समान अन्यतम अमर कृति उनका युक्त्यनुशासन है। इसमें वीर जिनकी स्तुति करते हुए युक्तिपूर्वक उनके शासनकी स्थापना की गयी है। इसके एक स्थलपर वे कहते हैं कि जो शीर्षोपहार आदिके द्वारा देवकी आराधना कर सुख चाहते हैं और सिद्धि मानते हैं उनके आप गुरु नहीं हो। श्लोक इस प्रकार है—

'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखर्वेद्यान् किलाराध्य सुखाभिगृह्याः ।

सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥'

अब इसके प्रकाशमें सर्वार्थसिद्धिके इस स्थलको पढ़िए—

तेन तीर्थाभिवेकदोक्षाशीर्षोपहारदेवताराधनादयो निर्वातिता भवन्ति । अ० 9, सू० 2 की टीका।

इस तुलनासे विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादके समक्ष युक्त्यनुशासनका उक्त वचन उपस्थित था।

1. देखो प्रस्तावना पृ० 32 ।

द्वात्रिंशत्का—आचार्य पूज्यपादके पूर्व और स्वामी समन्तभद्रके बाद विक्रमकी पाँचवीं छठवीं शताब्दी के मध्यमें¹ सिद्धसेन दिवाकर एक बहुत बड़े आचार्य हो गये हैं जिनका उल्लेख दिगम्बर आचार्योंने बड़े आदरके साथ किया है²। इनके द्वारा रचित सम्प्रतिर्क ग्रन्थ प्रसिद्ध है। अनेक द्वात्रिंशत्काओंके रचयिता भी यही माने जाते हैं³। आचार्य पूज्यपादने अध्याय 7 सूत्र 13 की सर्वार्थसिद्धि टीकामें 'विद्योजयति चासुभिः' यह पद उद्धृत किया है जो इनकी सिद्धद्वात्रिंशत्कासे लिया गया जान पड़ता है।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धिमें कुछ ऐसी गाथाएँ, पद्य और वाक्य उद्धृत हैं जिनमेंसे कुछके स्रोतका हम अभी तक ठीक तरहसे निर्णय नहीं कर सके हैं और कुछ ऐसे हैं जो सर्वार्थसिद्धिके बादमें संकलित हुए या रचे गये ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। यहाँ हमने उन्हीं ग्रन्थोंका परिचय दिया है जो निश्चयतः आचार्य पूज्यपाद के सामने रहे हैं।

मंगलाचरण—सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें यह मंगल श्लोक आता है—

‘मोक्षमार्गस्य नेतारं भेस्तारं कर्मभूभुताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां बन्धे तद्गुणलब्धये ॥’

यहाँ विचार इस बातका करना है कि यह मंगल श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका अंग है या सर्वार्थसिद्धिका। प्रायः सब विद्वानोंका मत इसे तत्त्वार्थसूत्रका अंग माननेके पक्षमें है। वे इसके समर्थनमें इन हेतुओंको उपस्थित करते हैं—

एक तो तत्त्वार्थसूत्रकी हस्तलिखित अधिकतर जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनके प्रारम्भमें यह मंगल श्लोक उपलब्ध होता है और दूसरे आचार्य विद्यानन्दने अपनी आप्तपरीक्षामें इसे सूत्रकारका कहकर इसका उल्लेख किया है। यथा—

‘किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राद्वरिति निगद्यते ।’

आचार्य विद्यानन्द इतना ही कहकर नहीं रह गये। वे आप्तपरीक्षा का उपसंहार करते हुए पुनः कहते हैं—

‘श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भूतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,

प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलमिधे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।

स्तोत्रं तीर्थोत्थानं प्रथितदृष्टपथं स्वामिसीमांसितं तत्,

विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धये’ ॥ 123 ॥

प्रकृष्ट रत्नोंके उद्भवके स्थानभूत श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रकी रचनाके आरम्भ कालमें महान् मोक्षपथको प्रसिद्ध करनेवाले और तीर्थोत्थमस्वरूप जिस स्तोत्रको शास्त्रकारोंने समस्त कर्ममलके भेदन करनेके अभिप्रायसे रचा है और जिसकी स्वामीने सीमांसा की है उसी स्तोत्रका सत्य वाक्यार्थकी सिद्धिके लिए विद्यानन्दने अपनी शक्तिके अनुसार किसी प्रकार निरूपण किया है।

इसी बातको उन्होंने इन शब्दोंमें पुनः दुहराया है—

‘इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा ।

प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवावविनिवृत्तये’ ॥ 124 ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रके प्रारम्भमें मुनीन्द्रके स्तोत्रकी विषयभूत यह आप्तपरीक्षा विवादको दूर करने के लिए रची गयी है।

आप्तपरीक्षाके ये उल्लेख असंदिग्ध हैं। इनसे विदित होता है कि आचार्य विद्यानन्द उक्त मंगल श्लोक को तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका मानते हैं।

1. देखो भारतीय विद्या भाग 3, पृष्ठ 11। 2. देखो जिनसेनका महापुराण। 3. देखो पुरातन जैन वाक्यसूची, प्रस्तावना पृ० 132।

किन्तु इस मंगल श्लोकके रचयिता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपृच्छ नहीं हैं इसके समर्थनमें ये युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं—

1. यदि इस मंगल श्लोकके रचयिता तत्त्वार्थसूत्रके निर्माता स्वयं गृद्धपृच्छ आचार्य होते और तत्त्वार्थ-सूत्रके साथ यह मंगल श्लोक आचार्य पूज्यपादको उपलब्ध हुआ होता तो वे इसपर अपनी व्याख्या अवश्य लिखते। उसे बिना व्याख्याके वे सर्वार्थसिद्धिका अंग न बनाते।

2. आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिकी प्रारम्भिक उत्थानिका द्वारा यह स्पष्टतः सूचित करते हैं कि किसी भव्यके अनुरोधपर आचार्य गृद्धपृच्छके मुख से सर्वप्रथम 'सम्यग्दर्शनज्ञानधारिणाणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र प्रकट हुआ। इससे विदित होता है कि उन्हें मंगलाचरण करनेका प्रसंग ही उपस्थित नहीं हुआ।

3. तत्त्वार्थवातिककार भट्ट अकलंकदेव भी इस मंगल श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका अंग नहीं मानते। अन्यथा वे इसकी व्याख्या अवश्य करते और उस उत्थानिकाको स्वीकार न करते जिसका निर्देश आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें किया है। तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकारकी दृष्टिसे आचार्य विद्यानन्दकी स्थिति भट्ट अकलंकदेवसे भिन्न नहीं है। उन्होंने भी तत्त्वार्थश्लोकवातिकमें इस मंगल श्लोककी व्याख्या नहीं की है। इतना ही नहीं इन दोनों आचार्योंने अपने भाष्यग्रन्थोंके प्रारम्भमें उसका संकलन भी नहीं किया है।

ये दो मत हैं जो किसी एक निर्णयपर पहुँचनेमें सहायता नहीं करते। फिर भी हम प्रथम मतके आधारीको अधिक तथ्यपूर्ण मानते हैं क्योंकि आजसे लगभग एक हजार वर्षके पूर्व भी जब मंगल-श्लोक तत्त्वार्थसूत्रकारका माना जाता रहा है तो उस पर सन्देह करना अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

3. तत्त्वार्थसूत्रकार

पुरानी परम्परा—शास्त्रकी प्रमाणता और अप्रमाणताका प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीनकालमें सभी शास्त्रकार शास्त्रके प्रारम्भमें या अन्तमें अपने नाम, कुल, जाति, वास्तव्यस्थान आदिका उल्लेख नहीं करते थे, क्योंकि वे उस शास्त्रका अपनेकी प्रणेतृता नहीं मानते थे। उनका मुख्य कार्य परम्परासे प्राप्त भगवान्की द्वादशांग वाणीको संक्षिप्त, विस्तृत या भाषान्तरित कर संकलित कर देना मात्र होता था। वे यह अच्छी तरहसे जानते थे कि किसी शास्त्रके साथ अपना नाम आदि देनेसे उसकी सर्व-ग्राह्यता या प्रामाणिकता नहीं बढ़ती। अधिकतर शास्त्रोंमें स्थल-स्थलपर जितेन्द्रदेवने ऐसा कहा है¹, यह जिनदेवका उपदेश है², सर्वज्ञदेवने जिस प्रकार कहा है उस प्रकार हम कहते हैं³, इन वचनोंके उल्लेखके साथ उनका प्रतिपाद्य विषय चर्चित होता है। यह क्यों? इसलिए कि जिससे यह बोध हो कि यह किसी व्यक्ति-विशेषका अभिप्राय न होकर सर्वज्ञदेवकी वाणी या उसका सार है। वस्तुतः किसी शास्त्रके अर्थोपदेशका छद्मस्थ न होकर वीतराग सर्वज्ञ होते हैं। छद्मस्थ गणधर तो उनके अर्थोपदेशकी सुनकर उनकी वाणीका ग्रन्थरूपमें संकलनमात्र करते हैं⁴। यही संकलन परम्परासे आकर नाना आचार्योंके ज्ञानका विषय होकर अनेक प्रकीर्णक शास्त्रोंकी जन्म देता है⁵। पूर्वकालीन आचार्य इस तथ्यको उत्तम रीतिसे समझते थे और इसलिए वे नाम रूपके व्यामोहसे मुक्त रहकर द्वादशांगवाणीके संकलनमें लगे रहते थे। आचार्य पुष्पदन्त, आचार्य भूतबलि, आचार्य गुणधर, आचार्य यतिवृषभ, आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य पूज्यपाद प्रभृति ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने इस मार्गका अनुसरण किया है और भगवान् तीर्थंकरकी वाणीका संकलन कर उसे लोककल्याणके हेतु अर्पित किया है। इतना ही क्यों, आचार्य गृद्धपृच्छ भी उन्हींमें एक हैं जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र जैसे ग्रन्थरत्नको अवशिष्ट समग्र श्रुतके आधारसे संकलन कर नाम प्रख्यापनके

1. 'भणियो खलु सव्वदरसीहि' समयप्राभूत, गाथा 70। 2. 'एसो जिणीवदेसो' समयप्राभूत, गाथा 150। 3. 'सद्धिकारो हूओ भासासूतेसु जं जिणे कहियं। सो तह कहियं नायंसीसेण य भद्धाहुस्स।' बोध-पाहुड, गाथा 61। 4. 'तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहि मुंथियं सम्मं।' भावपाहुड, गाथा 92। 5. देखो सर्वा०, अ० 1, सू० 20।

व्यामोहसे अपनेको मुक्त रखा है। प्राचीन कालमें यह परिपाटी जितनी अधिक व्यापक थी, श्रुतधर आचार्यों-का उसके प्रति उतना ही अधिक आदर था।

आज श्रुतधर आदि अनेक आचार्योंके जीवन परिचय और उनके कार्योंके तथ्यपूर्ण इतिहासको संकलित करनेमें जो कठिनाई आती है उसका कारण यही है। इसे हम कठिनाई शब्दसे इस अर्थमें पुकारते हैं, क्योंकि यह काल ऐतिहासिक तथ्योंके संकलनका होनेसे इस बातपर अधिक बल दिया जाता है कि कौन आचार्य किस कालमें हुए हैं, उनका गार्हस्थ्यक जीवन क्या था और उनके उल्लेखनीय कार्य कौन-कौनसे हैं आदि।

प्रकृतमें हमें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके सम्बन्धमें विचार करना है। तत्त्वार्थसूत्रका संकलन आगमिक दृष्टिसे जितना अधिक सुन्दर और आकर्षक हुआ है उसके रचयिताके विषयमें उतना ही अधिक विवाद है। जैनसंघकी कालान्तरमें हुई दोनों परम्पराओंके कारण इस विवादको और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है। पहला विवाद तो रचयिताके नामादिके विषयमें है और दूसरा विवाद उनके अस्तित्व कालके विषयमें है। यहाँ हम सर्वप्रथम उन अश्रान्त प्रमाणोंको उपस्थित करेंगे जिनसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताके निर्णय करनेमें सहायता मिलती है और इसके बाद विवादके कारणभूत तथ्योंपर प्रकाश डालेंगे।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृह्यपिच्छ—यह तो हम आगे चल कर देखेंगे कि आचार्य पूज्यपादने विविध विषयोंपर विशाल साहित्य लिखा है। फिर भी उन्होंने कहीं भी अपने नामका उल्लेख नहीं किया है। इतना ही नहीं, वे तत्त्वार्थसूत्रपर अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका लिखते समय भी इसी मार्गका अनुसरण करते हैं। वे इसकी उत्थानिकामें यहाँ तक तो निर्देश करते हैं कि कोई भव्य किसी आश्रममें मुनियोंकी सभामें बैठे हुए आचार्यवर्यके समीप जाकर विनय सहित प्रश्न करता है और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी रचना होती है। फिर भी वे उन आचार्य आदिके नामादिके विषयमें मौन रहते हैं। क्यों? हमें तो इस उपाख्यानसे यही विदित होता है कि आचार्य पूज्यपादको परम्परासे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आदिके विषयकी इत्यम्भूत जानकारी होते हुए भी स्वकर्तृत्व की भावनाका परिहार करनेके अभिप्रायसे वे नामादिके उल्लेखके पचड़े में नहीं पड़े। भट्ट अकलंकदेवने भी इसी मार्गका अनुसरण किया है। वे भी तत्त्वार्थवातिकके प्रारम्भमें उसी उत्थानिकाको स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें आचार्य पूज्यपादने किया है। इसलिए इन उल्लेखोंसे इस तथ्यपर पहुँचने पर भी कि इन आचार्योंको तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके नामादिककी कुछ-कुछ जानकारी अवश्य रही है, इससे इस बातका पता नहीं लगता कि आखिर वे आचार्य कौन थे जिन्होंने भव्य जीवों के कल्याणार्थ यह महान् प्रयास किया है।

हम समझते हैं कि भारतीय परम्परामें मुख्यतः जैन परम्परामें नामादिकके उल्लेख न करनेकी यह परिपाटी विक्रम चौथी, पाँचवीं शती तक बराबर चलती रही है। और कुछ आचार्योंने इसे इसके बाद भी अपनाया है। इसके बाद कई कारणोंसे इस नीतिमें परिवर्तन होने लगता है और शास्त्रकार शास्त्रके प्रारम्भमें या अन्तमें अपने नामादिका उल्लेख करने लगते हैं। इतना ही नहीं वे अन्य प्रकारसे अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारोंका भी उल्लेख करने लगते हैं। अतएव हमें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका ठीक तरहसे निर्णय करनेके लिए उत्तरकालवर्ती साहित्यका ही आलोडन करना होगा। अतः आइए पहले उत्तरकालवर्ती उन अश्रान्त प्रमाणोंको देखें जो इस विषयपर प्रकाश डालते हैं—

1. श्रुतधर आचार्योंकी परम्परामें आचार्य वीरसेन महान् टीकाकार हो गये हैं। इन्होंने षट्खण्डा-गमपर प्रसिद्ध धवला टीका शक संवत् 738 में पूरी की थी। उनकी यह टीका अनेक उल्लेखों और ऐतिहासिक तथ्योंको लिये हुए है। तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रोंको उन्होंने इस टीकामें उद्धृत किया है। इतना ही नहीं जीवस्थान काल अनुयोगद्वारमें तो तत्त्वार्थसूत्रकारके नामोल्लेखके साथ भी तत्त्वार्थसूत्रके एक सूत्रको वे उद्धृत करते हैं। वे कहते हैं—

‘तह गिद्धपिछाहरियप्पयासिद्धतत्त्वसुत्ते वि वर्तनापरिणामकियाः परत्वापरत्ते च कालस्य इवि दृक्-कालो पकविदो ।’ मुद्रित पृष्ठ 316 ।

इस उल्लेखमें तत्त्वार्थसूत्रको स्पष्टतः गृद्धपिच्छाचार्यके द्वारा प्रकाशित कहा गया है।

2. आचार्य विद्यानन्द भी महान् श्रुतधर आचार्य थे। इन्होंने अष्टसहस्री, विद्यानन्द महोदय, आप्त-परीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक शास्त्रोंका प्रणयन कर जैन श्रुतकी श्रीवृद्धि की है। इनका वास्तव्य काल ई० सन् 775 (शक सं० 697) से ई० सन् 840 (शक सं० 762) तक माना जाता है। ये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मुद्रित पृष्ठ 6 में लिखते हैं—

‘एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता ।’

इस द्वारा आचार्य विद्यानन्द यह सूचित करते हैं कि भगवान् महावीरके शासनमें जो सूत्रकार हुए हैं उनमें अन्तिम सूत्रकार गृद्धपिच्छ आचार्य थे।

स्पष्टतः यह उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ तकके सभी सूत्रकारोंको सूचित करता है, फिर भी पं० सुखलालजी इस विषयमें सन्देह करते हैं। उन्होंने यह सन्देह स्वलिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृष्ठ 106-107 में प्रकट किया है। उनका यह सन्देह विशेषतः तर्काश्रित है, इसलिए यहाँ हमें प्रथमतः इसपर इसी दृष्टिसे विचार करना है।

पण्डितजीका तर्क है कि पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रका मोक्षमार्गविषयक सूत्र सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत है इस वस्तुको सिद्ध करनेवाली अनुमान चर्चामें आया है। इस अनुमान चर्चामें मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीतत्व यह साध्य है और सूत्रत्व यह हेतु है। इस हेतुमें व्यभिचार दोषका निरसन करते हुए विद्यानन्दने ‘एतेन’ इत्यादि कथन किया है। व्यभिचार दोष पक्ष से भिन्न स्थलमें सम्भवित होता है। पक्ष तो मोक्षमार्गविषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्र ही है इससे व्यभिचार का विषयभूत माना जानेवाला गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनियोंका सूत्र यह विद्यानन्दकी दृष्टिमें उमास्वातिके पक्षभूत मोक्षमार्गविषयक प्रथम सूत्रसे भिन्न ही होना चाहिए, यह बात न्यायविद्याके अध्यासीको शायद ही समझानी पड़े ऐसी है।

पण्डितजी के इस तर्काश्रित वक्तव्यका सार इतना ही है कि आचार्य विद्यानन्दने यहाँपर जिस गृद्ध-पिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रका उल्लेख किया है। वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे भिन्न ही है।

जहाँ तक पण्डितजीका यह वक्तव्य है उसमें हमें अप्रामाणिकताका दोषारोप नहीं करना है, किन्तु पण्डितजी यदि उक्त अनुमान प्रसंगसे आचार्य विद्यानन्दके द्वारा उठाये गये अवान्तर प्रसंग पर दृष्टिपात करते तो हमारा विश्वास है कि वे गृद्धपिच्छ आचार्यके सूत्रसे तथाकथित उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रको भिन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करते।

आचार्य विद्यानन्द द्वारा उठाया गया वह अवान्तर प्रसंग है गणाधिप, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्विके सूत्र वचनको स्वरचित मानकर व्यभिचारदोषता उद्घावन। स्पष्ट है कि इसमें इस अभिप्राय-से गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र भी गभित है, क्योंकि यहाँपर वह स्वकर्तृकरूपसे सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत सूत्रसे कथञ्चित् (कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं इस दृष्टिसे) भिन्न मान लिया गया है। प्रकृतमें इस विषयको इन शब्दों द्वारा स्पष्ट करना विशेष उपयुक्त होगा। प्रस्तुत अनुमानमें प्रकृत सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीतत्व साध्य है, सूत्रत्व हेतु है, सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत शेष सूत्र सपक्ष है और बृहस्पति आदिका सूत्र विपक्ष है। इस अनुमान द्वारा तत्त्वार्थसूत्रको सूत्रत्व हेतु द्वारा सर्वज्ञ वीतरागकर्तृक सिद्ध किया गया है। इससे सिद्ध है कि यहाँ आचार्य विद्यानन्द तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकर्तृक मानकर सूत्र सिद्ध नहीं कर रहे हैं। सूत्रत्वकी दृष्टिसे, यह गृद्धपिच्छाचार्य रचित है इस बातको, वे भूल जाते हैं। वे कहते हैं कि यह सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत है, इसलिए सूत्र है।

फिर भी यदि कोई यह कहे कि यह तत्त्वार्थसूत्र सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत न होकर गृद्धपिच्छाचार्य रचित

1. देखो न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी द्वारा सम्पादित और बीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित आप्त-परीक्षाकी प्रस्तावना पृष्ठ 50।

है तो ऐसी अवस्थामें सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत तत्त्वार्थसूत्रसे कथञ्चित् भिन्न गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र पूर्वके अनुमानमें सपक्षभूत गणधरादि रचित सूत्रोंके समान विपक्ष षोडि में चला जायेगा और इसमें सूत्रत्व हेतुके स्वीकार करनेसे हेतु व्यभिचारित हो जायेगा। आचार्य विद्यानन्दने इसी व्यभिचार दोषका उपस्थापन कर उसका वारण करते हुए फलितांशके साथ यह समग्र वचन कहा है—

‘गणाधिपप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवल्यभिन्नदशपूर्वधरसूत्रेण स्वयंसंमतेन व्यभिचार इति चेत् ? न, तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेरहंभाषितार्थं गणधरदेवंप्रथितमिति वचनात् । एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यंतमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता ।’

यहाँ स्वनिमित्त मानकर गणाधिप प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वोंके सूत्रके साथ व्यभिचार दिखाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत माननेपर भी यह व्यभिचार दोष आता है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानमें साध्य गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र न होकर सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र साध्य है। इसलिए गृद्धपिच्छाचार्यका तत्त्वार्थसूत्र साध्यविरुद्ध होनेसे विपक्ष ठहरता है। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र एक है, दो नहीं पर कर्ताके भेदसे वे दो उपचरित कर लिये गये हैं। एक वह जो सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत है और दूसरा वह जो गृद्धपिच्छाचार्यप्रणीत है। इसलिए जिस प्रकार गणाधिप आदिके सूत्रके साथ आनेवाले व्यभिचार दोषका वारण करना इष्ट था उसी प्रकार केवल गृद्धपिच्छाचार्य प्रणीत माननेसे जो व्यभिचार दोष आता था उसका वारण करना भी आवश्यक था और इसीलिए ‘एतेन’ इत्यादि वाक्य द्वारा उस दोषका वारण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य विद्यानन्द भी वीरसेनस्वामीके समान इसी मतके अनुसर्ता प्रतीत होते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छाचार्य ही हैं। थोड़ी देरको यदि इस तर्काश्रित पद्धतिको छोड़ भी दिया जाये और पण्डितजीके मतको ही मुख्यता दी जाये तब भी आचार्य विद्यानन्द ‘एतेन’ इत्यादि वाक्य द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छको ही सूचित कर रहे हैं इस मतके माननेमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि आचार्य विद्यानन्दने पूर्वोक्त अनुमान द्वारा गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रको तो सूत्र सिद्ध कर ही दिया था, किन्तु इससे पूर्ववर्ती अन्य आचार्योंकी रचनाको सूत्र सिद्ध करना फिर भी शेष था जिसे उन्होंने गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त अर्थात् गृद्धपिच्छाचार्य हैं अन्तमें जिनके ऐसे अन्य गणाधिप आदि मुनिसूत्रके साथ आनेवाले व्यभिचारका वारण कर सूत्र सिद्ध कर दिया है। यहाँ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है, अतः यह अभिप्राय फलित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि गृद्धपिच्छाचार्यका कोई सूत्रग्रन्थ है इसे तो पं० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। उन्हें केवल प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्रको उनका माननेमें विवाद है। किन्तु अन्य ऐतिहासिक तथ्योंसे जब वे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता सिद्ध होते हैं ऐसी अवस्थामें आचार्य विद्यानन्दके उक्त वाक्यका वही अर्थ संगत प्रतीत होता है जो हमने किया है।

3. आचार्य गृद्धपिच्छका बहुमानके साथ उल्लेख वादिराजसूरिने भी अपने पार्श्वनाथचरितमें किया है। सम्भवतः ये वही वादिराजसूरि हैं जिन्होंने पार्श्वनाथचरितके साथ प्रमाणनिर्णय, एकीभावस्तोत्र, यशोधरचरित, काकुत्स्थचरित और न्यायविनिश्चयविवरण लिखा है। इनके विषयमें कहा जाता है—

‘वादिराजमनु शान्तिविकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः ।

वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भग्यसहायः ।’

वे पार्श्वनाथचरितमें आचार्य गृद्धपिच्छका इन शब्दों द्वारा उल्लेख करते हैं—

“अनुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम् ।

पक्षीकुर्वन्ति यं भग्या निर्वाणायोरपतिवज्रः ।”

उन महान् गुणोंके आकर गृद्धपिच्छको मैं नमस्कार करता हूँ जो निर्वाणको उड़कर पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले भग्योंके लिए पंखोंका काम देते हैं।

यद्यपि वादिराजसूरिने वहाँपर आचार्य गृद्धपिच्छके किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं किया है तथापि यहाँ वे उन्हीं शास्त्रकारोंका स्मरण कर रहे हैं जिन्होंने मोक्षमार्गोपयोगी साहित्यकी सृष्टि कर संसारका हित किया है। वादिराजसूरिकी दृष्टिमें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ उनमें सर्वप्रथम हैं।

इनमेंसे प्रथम दो उल्लेख विक्रमकी नौवीं शताब्दी के और अन्तिम उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दीका है। इससे मालूम पड़ता है कि इस काल तक जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं एकमात्र यही मान्यता प्रचलित थी।

अन्य मत—किन्तु इस मतके विरुद्ध तीन चार मत और मिलते हैं जिनकी यहाँ चर्चा कर लेना प्रासंगिक है।

1. श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें एक प्रशस्ति उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है कि 'जिनके दीक्ष-गुरु ग्यारह अंगके धारक षोडशनिदि क्षमण थे और प्रगुरु वाचकमुख्य शिवश्री थे, वाचनाकी अपेक्षा जिनके गुरु मूल नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक मुण्डपाद थे, जो गोत्रसे कौभीषण थे और जो स्वाति पिता और वात्सी माताके पुत्र थे, जिनका जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था और जो उच्चाानागर शाखाके थे, उन उभास्वाति वाचकने गुरुपरम्परासे प्राप्त हुए श्रेष्ठ अहंद्वचनको भली प्रकार धारण करके तथा दुरागम द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोकको देखकर प्राणियोंकी अनुकम्पावश यह तत्त्वार्थाधिगम नामका शास्त्र बिहार करते हुए कुसुमपुर नामके महानगरमें रचा है। जो इस तत्त्वार्थाधिगमको जानेगा और उसमें कथित मार्गका अनुसरण करेगा वह अव्याबाध सुख नामके परमार्थको शीघ्र ही प्राप्त करेगा।'।

इसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्यके प्रारम्भमें जो 31 उत्थानिका कारिकाएँ उपलब्ध होती हैं उनमेंसे 22वीं कारिकामें कहा गया है कि 'अहंद्वचनके एकदेशके संग्रहरूप और बहुत अर्थवाले इस तत्त्वार्थाधिगम नामवाले लघु ग्रन्थको मैं शिष्योंके हितार्थ कहता हूँ।'।

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी उत्थानिकाकी इस कारिका और अन्तिम प्रशस्तिको विशेष महत्त्व देते हैं। वे इन्हें मूल सूत्रकारकी मानकर चलते हैं।

इसके सिवा उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार इनको अभिन्न सिद्ध करनेके लिए दो युक्तियाँ और दी हैं—

(क) प्रारम्भिक कारिकाओंमें और कुछ स्थानोंपर भाष्यमें भी 'वक्ष्यामि', 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है और इस निर्देशमें की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार ही बादमें सूत्रमें कथन किया गया है; इससे सूत्र और भाष्य दोनोंको एककी कृति माननेमें सन्देह नहीं रहता।

(ख) शुरुसे अन्ततक भाष्यको देख जानेपर एक बात मनमें बैठती है और वह यह है कि किसी भी स्थलपर सूत्रका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खींचातानी नहीं हुई, कहीं भी सूत्रका अर्थ करनेमें सन्देह या विकल्प करनेमें नहीं आया, इसी प्रकार सूत्रकी किसी दूसरी व्याख्याको मनमें रखकर सूत्रका अर्थ नहीं किया गया और न कहीं सूत्रके पाठभेदका ही अवलम्बन लिया गया है।*

2. पं० नाथूरामजी प्रेमीका लगभग यही मत है। इस विषयका उनका अन्तिम लेख भारतीय विद्याके तृतीय भागमें प्रकाशित हुआ है। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यको अभिन्नकृतृक सिद्ध करते समय पं० सुखलालजीकी उक्त तीनों युक्तियोंको ही कुछ शब्दोंके हेरफेरके साथ उपस्थित किया है। मात्र इन दोनों

1. देखो तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्ति। 2. देखो उनके द्वारा लिखित तत्त्वार्थ-सूत्रकी प्रस्तावना। 3. पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पृष्ठ 21।

विद्वानोंके मतोंमें यदि कुछ अन्तर प्रतीत होता है तो इतना ही कि पं० सुखलालजी बाचक उमास्वातिको सवस्त्र श्वेताम्बरपरम्पराका और प्रेमीजी यापनीय परम्पराका मानते हैं।

3. श्रवणवेलगोलाके चन्द्रगिरि पर्वतपर कुछ ऐसे शिलालेख पाये जाते हैं जिनमें गूढ़पिच्छ उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है। इन शिलालेखोंमें से 40, 42, 43, 47 और 50वें शिलालेखोंमें गूढ़पिच्छ विशेषणके साथ मात्र उमास्वातिका उल्लेख है और 105 व 108वें शिलालेखोंमें उन्हें तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है। ये दोनों शिलालेख डॉ० हीरालालजीके मतानुसार¹ क्रमशः शक सं० 1320 और शक सं० 1355 के माने जाते हैं। शिलालेख 155 का उद्धरण इस प्रकार है—

‘श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।

यन्मुक्तिमार्गचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥15॥

तस्यैव शिष्यं ऽजनि गूढ़पिच्छद्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः।

यत्सूचितरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यंगनामोहतमण्डनानि ॥16॥’

यतियोंके अधिपति श्रीमान् उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रको प्रकट किया जो मोक्षमार्गके आचरणमें उद्यत हुए प्रजा जनों के लिए उत्कृष्ट पाथेयका काम देना है। गूढ़पिच्छ है दूसरा नाम जिनका ऐसे उन्हीं उमास्वातिके एक शिष्य बलाकपिच्छ थे। जिनके सूक्तिरत्न मुक्त्यंगनाके मोहन करने के लिए आप्भूषणोंका काम देते हैं।

शिलालेख 108 में इसी बातको इस प्रकार लिपिबद्ध किया गया है—

‘अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तबीये सकलार्थवेदी।

सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थज्ञातं मुनिपुङ्गवेन ॥11॥’

‘स प्राणिसंरक्षणसाधनानो बभार योगी किल गूढ़पञ्चान्।

तथा प्रभुस्यैव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगूढ़पिच्छम् ॥22॥’

तत्त्वार्थसूत्रपर विभिन्न समयोंमें छोटी-बड़ी टीकाएँ तो अनेक लिखी गयी हैं, पर उनमेंसे विक्रमकी 13वीं शतीके विद्वान् बालचन्द्र² मुनिकी बनायी हुई एक ही कनडी टीका है जिसमें उमास्वाति नामके साथ गूढ़पिच्छाचार्य नाम भी दिया है।

4. पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार कर्ता विषयक इसी मतको प्रमाण मानकर चलते हैं। उन्होंने गूढ़पिच्छकी उमास्वातिका ही नामान्तर कहा है।³

5. दिगम्बर परम्परामें मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके अन्तमें एक श्लोक आया है—

‘तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गूढ़पिच्छोपलक्षितम्।

वन्दे गभीरसंज्ञातमुमास्वासिमुनीश्वरम् ॥’

इसमें गूढ़पिच्छसे उपलक्षित उमास्वामी मुनीश्वरकी तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता बतलाकर उन्हें गभीर कहा गया है।

6 नगर ताल्लुकेके एक शिलालेखमें यह उल्लेख उपलब्ध होता है—

‘तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।

श्रुतकेवलिवेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥’

इसमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम उमास्वाति बतलाया है और उन्हें श्रुतकेवलिदेशीय तथा गुणमन्दिर कहा गया है।

7. आचार्य कुन्दकुन्दने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है ऐसा भी उल्लेख देखनेमें आता है जो तत्त्वार्थ-

1. देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित शिला-लेख संग्रह, भाग 1। 2. देखो पं० कैलाशचन्द्रजी-का तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ० 16। 3. देखो मा० प्र० से प्रकाशित रत्नकरण्डक की प्रस्तावना, पृष्ठ 145।

सूत्रकी अन्यतम टीका अहंत्वसूत्रवृत्तिका है। तत्त्वार्थसूत्रके एक श्वेताम्बर टिप्पणकार भी इस मतसे परिचित थे, उन्होंने अपने टिप्पणमें इस मतका उल्लेख कर अपने सम्प्रदाय की सावधान करनेका प्रयत्न किया है।¹

समीक्षा—इस प्रकार ये सात अन्य मत हैं जिनमें तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता कौन हैं इस बातका विचार किया गया है। इसमेंसे प्रारम्भ के श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्यके उल्लेखकी छोड़कर शेष सब उल्लेख लगभग 13वीं शताब्दीसे पूर्वके नहीं हैं और मुख्यतया वे गृहपिच्छ और उमास्वाति इन दो नामोंकी ओर ही किसी रूपमें संकेत करते हैं।² एक अन्तिम मत कि 'आचार्य कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं' अवश्य ही विलक्षण लगता है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दकी गृहपिच्छ इस नामसे ख्याति होनेके कारण ही यह मत प्रसिद्धिमें आया है ऐसा प्रतीत होता है।³ मुख्य मत दो ही हैं जो यहाँ विचारणीय हैं। प्रथम यह कि आचार्य गृहपिच्छ तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं और दूसरा यह कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की है।

साधारणतः हम पहले 'तत्त्वार्थसूत्र' इस नामके विषयमें विचार करते हुए 'सूत्रपाठोंमें मतभेद' प्रकरणको लिखते हुए और 'पौर्वापर्यविचार' प्रकरण द्वारा सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थभाष्य की तुलना करते हुए कई महत्वपूर्ण बातोंपर प्रकाश डाल आये हैं जिनका सारांश इस प्रकार है—

1. वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थभाष्य नामक शास्त्रकी रचना की थी। किन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न हो कर तत्त्वार्थभाष्यका है।

2. सूत्रपाठोंमें मतभेदका उल्लेख करते समय यह सिद्ध करके बतलाया गया है कि यदि तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यके कर्ता एक ही व्यक्ति होते और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको समझते होते तो श्वेताम्बर सूत्रपाठमें जितना अधिक मतभेद उपलब्ध होता है वह नहीं होना चाहिए था।

3. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यके पौर्वापर्यका विचार करते समय हम बतला आये हैं कि वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्य लिखे जानेके पहले ही तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक टीका-टिप्पणियाँ प्रचलित हो गयी थीं। वहाँ हमने एक ऐसे सूत्रका भी उल्लेख किया है जो सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठसे सम्बन्ध रखता है और जिसे वाचक उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थभाष्यमें उद्धृत किया है। अर्थविकासकी दृष्टिसे विचार करते हुए इसी प्रकरणमें यह भी बतलाया गया है कि सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्यको सामने रख कर विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसे कई प्रसंग हैं जो तत्त्वार्थभाष्यकी सर्वार्थसिद्धिके बादकी रचना ठहराते हैं। और यह सिद्ध करते समय हमने एक उदाहरण यह भी दिया है कि कालके उपकार प्रकरणमें परत्वापरत्वके सर्वार्थसिद्धिमें केवल दो भेद किये गये हैं जब कि तत्त्वार्थभाष्यमें वे तीन उपलब्ध होते हैं।

इसलिए इन व दूसरे तथ्योंसे यह स्पष्ट हो जानेपर भी कि वाचक उमास्वाति आद्य तत्त्वार्थसूत्रकार नहीं होने चाहिए, इस विषयके अन्तिम निर्णयके लिए कुछ अन्य बातों पर भी दृष्टिपात करना है।

किसी भी रचयिताके सम्प्रदाय आदिका निर्णय करनेके लिए उस द्वारा रचित शास्त्र ही मुख्य प्रमाण होता है। किसी भी शास्त्रमें कुछ ऐसे बीज होते हैं जो उस शास्त्रके रचनाकाल व शास्त्रकारके सम्प्रदाय आदिपर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकारके समयादिका विचार करते समय प्रजाचक्षु पं० सुखलालजीने भी इस सरणि को अपनाया है। किन्तु वहाँ उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इन दोनोंको एककटुक मानकर इस बातका विचार करनेका प्रयत्न किया है। इससे बहुत बड़ा धृष्टाला हुआ है। वस्तुतः इस बातका विचार केवल तत्त्वार्थसूत्रकी और उसमें भी तत्त्वार्थसूत्रके उन सूत्रोंकी सामने रखकर ही होना चाहिए जो तत्त्वार्थसूत्रमें दोनों सम्प्रदायोंको मान्य हों। इससे निष्पक्ष समीक्षा द्वारा किसी एक निर्णयपर पहुँचनेमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है।

1. पं० कैलाशचन्द्रजीका तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ० 17। 2. इसके लिए देखो हमारे द्वारा लिखे गये तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना। 3. देखो प्रवचनसारकी डॉ० ए० एन० उपाध्येकी भूमिका। 4. देखो पं० सुखलालजी द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पृ० 8 आदि।

चार सूत्र— यह तो स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ हो जानेपर भी अधिकतर सूत्र ऐसे हैं जो दोनों सम्प्रदायोंको मान्य हैं और उनमें भी कुछ ऐसे सूत्र अपने मूलरूपमें रहे आये हैं जिनसे रचयिताकी स्थिति आदिपर प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम इस विचारणामें ऐसे सूत्रोंमेंसे मुख्य चार सूत्रोंको उपस्थित करते हैं— प्रथम तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारणों का प्रतिपादक सूत्र, दूसरा बाईस परीषद्को प्रतिपादक सूत्र, तीसरा केवली जिनके ग्यारह परीषद्को सद्भावका प्रतिपादक सूत्र और चौथा एक जीवके एक साथ कितने परीषद् होते हैं इसका प्रतिपादक सूत्र।

1. तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कितने कारण हैं इसका उल्लेख दोनों परम्पराओंके मूल आगम करते हैं। दिगम्बर परम्पराके बंधसामित्तविचयमें ये ही सोलह कारण उल्लिखित हैं जो लगभग तत्त्वार्थसूत्रमें उसी रूपमें स्वीकार किये गये हैं। तुलनाके लिए देखिए --

दशान्विशुद्धिविनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगो जघिततस्यागतपत्नी
साधुसमाधिर्बोधावृत्यकरणमहंवाचायंबहुभूतप्रवचनभक्तिरावदयकारिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति
तीर्थंकरत्वस्य ॥

—तत्त्वार्थसूत्र 6, 24।

बंसणविसुभवाए विणयसंपणवाए सोलस्वदेसु निरविचारवाए आवासए सु अपरिहोषवाए क्षण-
तवपडिबुजभणवाए लडिसंवेगसंपणवाए जथा यामे तथा तवे साहूण पासुअपरिचागवाए साहूण समाहि-
संचारणाए साहूण वेजजावकजजोगजुत्तवाए अरहंतभत्तीए बहुसुवभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलवाए
पवयणप्यभावणवाए अभिवल्लं अभिवल्लं णाणोवजोगजुत्तवाए इच्छेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा
तित्थयरणागमोदं कम्म बंधति ।

—बंधसामित्तविचय 7 सु० 41।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा 16 के स्थानोंमें 20 कारण स्वीकार करती है। वहाँ ज्ञातृधर्मकथा नामक अंगके आठवें अध्यायमें इन कारणोंका निर्देश इन शब्दोंमें किया है—

‘अरहंत-सिद्धि-पवयण गुरु-धेर-बहुसुए तवस्सीसुं ।
वच्छलया य तेसि अभिवल्लं णाणोवओगे य ॥ 1 ॥
बंसणविणए आवस्सए य सोलसए निरइयारं ।
क्षणतव तवचिचियाए वेयायक्खे समानी य ॥ 2 ॥
अगुवणानगहणं सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
ए एहि कारणेहि तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ 3 ॥’

यहाँ तत्त्वार्थसूत्रकी दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम बात तो 16 संख्याका निर्देश और दूसरी बात शब्दसाम्य। इस विषयमें तत्त्वार्थसूत्रका उक्त सूत्र दिगम्बर परम्पराके जितने अधिक नजदीक है उतना श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं है।

2. दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ 22 परीषद्को स्वीकार करती हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें इनका प्रतिपादन करनेवाला जो सूत्र है उसमें एक परीषद्का नाम ‘नाग्न्य’ है। देखना यह है कि यहाँ तत्त्वार्थ-सूत्रकारने नाग्न्य शब्दको ही क्यों स्वीकार किया है। क्या इस शब्दका स्वीकार श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार आगम सम्मत हो सकता है। श्वेताम्बर परम्पराके आगममें ‘नाग्न्य’ परीषद्के स्थानमें सर्वत्र ‘अचेल’ परीषद्का उल्लेख मिलता है जो उस सम्प्रदायके अनुरूप है; क्योंकि अचेल शब्दमें ‘नञ्’ समास होनेसे उस सम्प्रदायमें इस शब्दके ‘वस्त्रका अभाव और अल्प वस्त्र’ ये दोनों ही अर्थ फलित हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार ‘नाग्न्य’ शब्दसे इन दोनों अर्थोंको फलित नहीं किया जा सकता है। नग्न यह स्वतन्त्र शब्द है और इस शब्दका ‘वस्त्रके आवरणसे रहित’ एकमात्र यही अर्थ होता है। स्पष्ट है कि यह 22 परीषद्को प्रति-

1. देखो, अ० 9 सू० 9। 2. समवायांग समवाय 22 व भगवती सूत्र 8, 8।

पादन करनेवाला सूत्र भी जितना अधिक दिग्गम्बर परम्पराके नजदीक है उतना श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं है।

3. बाईस परीषहोंमेंसे एक साथ एक जीवके कितने परीषह हो सकते हैं इसका विचार करते हुए श्वेताम्बर आगम साहित्य (व्याख्याप्रज्ञप्ति श० 8) में बतलाया है कि सात और आठ प्रकारके कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवके 22 परीषह होते हैं। परन्तु ऐसा जीव एक साथ बीस परीषहोंका ही वेदन करता है। दो कौनसे परीषह कम हो जाते हैं इस बातका उल्लेख करते हुए वहाँ बतलाया है कि जिस समय वह जीव शीत परीषहका वेदन करता है उस समय वह उष्ण परीषहका वेदन नहीं करता और जिस समय उष्ण परीषहका वेदन करता है उस समय वह शीत परीषहका वेदन नहीं करता। इस प्रकार एक परीषह तो यह कम हो जाता है। तथा जिस समय चर्या परीषहका वेदन करता है उस समय निषद्यापरीषहका वेदन नहीं करता और जिस समय निषद्यापरीषहका वेदन करता है उस समय चर्या परीषहका वेदन नहीं करता। इस प्रकार एक परीषह यह कम हो जाता है। कुल बीस परीषह रहते हैं जिनका वेदन यह जीव एक साथ करता है।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें परीषहोंके एक साथ वेदन करनेकी अधिक-से-अधिक संख्या 19 निश्चित की गयी है।¹ यहाँ हमें युक्तिसंगत क्या है इसका विचार नहीं करना है। बतलाना केवल इतना ही है कि तत्त्वार्थ-सूत्रकारका इस प्रकारका निर्देश भी श्वेताम्बर आगम परम्पराका अनुसरण नहीं करता।

4. 'जिन के ग्यारह परीषह होते हैं' इस सूत्रका विस्तारके साथ विचार हम 'पठभेद और अर्थान्तर-न्यास' प्रकरणमें² कर आये हैं। वहाँ हमने तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि परीषहों के प्रसंगसे सूत्रकारकी दृष्टि मुख्यतया अन्तरंग कारणोंके विवेचन करनेकी रही है। वे किस कर्मके उदयमें कितने परीषह होते हैं इतना कहकर अधिकारी भेदसे अलग-अलग परीषहोंकी संख्याका निर्देश करते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि अन्तरंग कारणोंके अनुसार जहाँ जितने परीषहोंका उल्लेख उन्होंने किया है वहाँ उतने परीषहोंका सद्भाव वे नियमसे मानते ही हैं। उन्होंने परीषह प्रकरणके अन्तिम सूत्रमें परीषहोंका कार्यके अनुसार भी अलगसे विधान किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि कुल परीषह बाईस हैं तथापि एक जीवके एक साथ एकसे लेकर उन्नीस तक परीषह हो सकते हैं। स्पष्ट है कि इस अन्तिम सूत्रके प्रकाशमें यह अर्थ नहीं फलित किया जा सकता है कि जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकारने कर्मनिमित्तको अपेक्षा कहाँ कितने परीषह होते हैं इस बातका विधान किया है उसी प्रकार उन्हें सर्वत्र उनका कार्य भी इष्ट है। इसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि अन्तरंग कारणोंके अनुसार सर्वत्र परीषहोंकी सम्भावना स्वीकार कर लेने पर भी यदि उन परीषहोंके जो अन्य बाह्य निमित्त हैं वे नहीं मिलते तो एक भी परीषह नहीं होता। तभी तो सूत्रकार 1 परीषहसे लेकर 19 परीषह तक होने रूप विकल्पका कथन करते हैं। यथः किसी प्रसक्तसंयत साधुके सब कर्मोंका उदय होनेसे सब परीषह सम्भव हैं पर उनके परीषहोंके बाह्य निमित्त एक भी नहीं हैं तब उन्हें एक भी परीषहका वेदन न होगा, यदि एक परीषहका बाह्य निमित्त है तो एक परीषहका वेदन होगा और अधिक परीषहोंके बाह्य निमित्त उपस्थित हैं तो अधिक परीषहोंका वेदन होगा। तात्पर्य यह है कि केवल अन्तरंग कारणोंके सद्भावसे परीषहोंका वेदन कार्य नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टि केवल अन्तरंग कारणोंके सद्भावमें उनके कार्यको स्वीकार करने की नहीं है। उन्होंने तो मात्र अन्तरंग कारणोंकी दृष्टिसे जहाँ जिन परीषहोंके कारण मौजूद हैं वहाँ उनका उल्लेखमात्र किया है।

इस दृष्टिसे हमने श्वेताम्बर आगम साहित्यका आलोडन किया है। किन्तु वहाँ तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिसे सर्वथा भिन्न दृष्टि अपनायी गयी प्रतीत होती है। वहाँ जहाँ जितने परीषह सम्भव हैं उनमेंसे विरोधी परीषहोंको छोड़कर सबके वेदन की बात स्वीकार की गयी है। वहाँ यह स्वीकार हो नहीं किया गया है कि

कोई एकका वेदन करता है, कोई दो का और कोई अधिक-से-अधिक इतनेका वेदन करता है। वहाँ तो एक मात्र यही बतलाया गया है कि 'जो सात या आठ कर्मोंका बन्ध करते हैं उनके सब परीषह सम्भव हैं, परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बीसका करते हैं। जो छह कर्मका बन्ध करते हैं उनके चौदह परीषह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बारहका करते हैं। जो बीतरागे छस्य एक कर्मका बन्ध करते हैं उनके भी चौदह परीषह सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र बारहका ही करते हैं। जो एक कर्मका बन्ध करनेवाले सयोगी जिन हैं उनके परीषह तो ग्यारह सम्भव हैं, परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र नौ का करते हैं। तथा जो अबन्धक अयोगी जिन हैं उनके भी परीषह तो सयोगी जिनके समान ग्यारह ही सम्भव हैं परन्तु वे एक साथ वेदन मात्र नौ का करते हैं।

इसलिए यहाँ भी तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगम साहित्यके तुलनात्मक अध्ययनसे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'एकादश जिन' सूत्रका विधान करते हुए भी तत्त्वार्थसूत्रकार जितने अधिक दिग्गम्बर परम्पराके नजदीक हैं उतने श्वेताम्बर परम्पराके नजदीक नहीं हैं।

यह है तत्त्वार्थसूत्रके कुछ सूत्रोंका परीक्षण जिससे भी हमें इस बातके निर्णय करनेमें सहायता मिलती है कि तत्त्वार्थसूत्रकार वाचक उमास्वातिसे भिन्न होने चाहिए।

किन्तु दिग्गम्बर परम्परामें उमास्वाति या उमास्वामी नामके कोई आचार्य हुए हैं इस बातका सूचक कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। श्रवणवेलगौलाके शिलालेख या दूसरे जितने भी प्रमाण मिलते हैं वे सब उन उल्लेखोंसे जो तत्त्वार्थसूत्रको आचार्य गृद्धपिच्छकी कृति प्रकट करते हैं, बादके हैं, अतएव एक तो इस मामलेमें उनका उतना विश्वास नहीं किया जा सकता। दूसरे उनमें उपपदके रूपमें या नामके रूपमें गृद्धपिच्छ इस नामको भी स्वीकार कर लिया गया है।

सिद्धसेनीय टीका—पं० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें सिद्धसेन गणि और हरि-भद्रसूरिकी टीकासे एक-दो उल्लेख उपस्थित कर^१ यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं, किन्तु वे उल्लेख सन्देहास्पद हैं। उदाहरणार्थ सिद्धसेन गणिकी टीकामें सातवें अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका उपलब्ध होती है उसमें आये हुए 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदको पण्डितजी भाष्यकार और सूत्रकार एक व्यक्ति हैं इस पक्षमें लगाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु इस पदका सीधा अर्थ है—उमास्वाति वाचक द्वारा बनाया हुआ सूत्रभाष्य। यहाँ उमास्वातिवाचकोपज्ञ पदका सम्बन्ध सूत्रसे न होकर उसके भाष्यसे है। दूसरा प्रमाण पण्डितजीने 9वें अध्यायके 22वें सूत्रकी सिद्धसेनीय टीकाको उपस्थित किया है। किन्तु यह प्रमाण भी सन्देहास्पद है, क्योंकि सिद्धसेन गणिकी टीकाकी जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें 'स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्' पाठके स्थानमें 'कृतस्तत्र सूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्' पाठ भी उपलब्ध होता है^२। बहुत सम्भव है कि किसी लिपिकारने तत्त्वार्थसूत्रका वाचक उमास्वाति कर्तृत्व दिखलानेके अभिप्रायसे 'कृतस्तत्र'का संशोधन कर 'स्वकृत' पाठ बनाया हो और बादमें यह पाठ चल पड़ा हो।

साधारणतः हमने स्वतन्त्र भावसे सिद्धसेन गणिकी टीकाका आलोडन किया है, इसलिए इस आधारसे हम यह तो मान लेते हैं कि उसमें कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो सिद्धसेन गणिकी दृष्टिमें तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इनको एककर्तृक सिद्ध करते हैं। उनमेंसे प्रथम उल्लेख प्रथम अध्यायके 'आप्तो परोक्तम्' सूत्रकी सिद्धसेनीय टीका है। यहाँ पर सिद्धसेन गणि तत्त्वार्थभाष्य के 'सूत्रकथनमागम्यात् पथमद्वितीये शास्त्रि' अंशकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति श० 8। 2. देखो उनके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृष्ठ 17 की टिप्पणी 1।
3. देखो सिद्धसेनीय टीका अ० 9, सू० 22, पृ० 253 की टिप्पणी।

‘ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मनं विभज्य सूत्रकारभाष्यकारेणैवमाह—शास्तीति सूत्रकार इति शेषः । अत्र पर्यायमेवात् पर्यायिणो भेद इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायोऽन्यद्वय भाष्यकारपर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति ।’

इसमें बतलाया गया कि ‘ग्रन्थकारने अपनेको सूत्रकार और भाष्यकार इस तरह दो भागोंमें विभक्त कर ‘शास्ति’ ऐसा कहा है । इसलिए यहाँपर ‘शास्ति’ क्रियाके साथ उसके कर्ताका बोध करानेके लिए ‘सूत्रकारः’ पद जोड़ लेना चाहिए । अथवा पर्यायीके भेदसे पर्यायीको भिन्न मान लेना चाहिए । अतः एक ही ग्रन्थकारकी सूत्रकार पर्याय भिन्न है और भाष्यकार पर्याय भिन्न है, अतः सूत्रकार पर्यायसे युक्त ग्रन्थकार कहते हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए ।

ऐसा ही एक दूसरा उल्लेख अध्याय दोके ‘निदवभोगमश्वम्’ सूत्रकी सिद्धसेनीय टीकामें मिलता है । इसमें सूत्रकारसे भाष्यकारको अभिन्न बतलाया गया है । उल्लेख इस प्रकार है—

‘सूत्रकाराद्विभक्तोऽपि हि भाष्यकारी विभागमावश्यंयति व्युत्पत्ति—(पर्याय) नयसमाश्रयणात् ।’

इस प्रकार यद्यपि इन उल्लेखोंसे यह विदित होता है कि सिद्धसेन गणि तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थ-भाष्यकार इन दोनों व्यक्तियोंको एक मानते रहे हैं, पर इतने मात्रसे यह नहीं माना जा सकता कि यह उनका निश्चित मत था । उन्होंने अपनी टीकामें कुछ ऐसा भी अभिप्राय व्यक्त किया है जिसके आधारसे विचार करने पर सूत्रकारसे भाष्यकार भिन्न सिद्ध होते हैं । इसके लिए अध्याय आठके ‘मत्पादोनाम्’ सूत्रकी टीका देखनी चाहिए ।

यहाँ पर सिद्धसेन गणिके सामने यह प्रश्न है कि जब अन्य आचार्य ‘मतिभूतावधिपनःपर्ययकेवलानाम्’ सूत्र मानते हैं तब सूत्रका वास्तविक रूप ‘मत्पादोनाम्’ माना जाय या अन्य आचार्य जिस प्रकार उसका पाठ पढ़ते हैं वैसे माना जाय । इस प्रश्नका समाधान करते हुए पहले तो उन्होंने हेतुओंका आश्रय लिया है किन्तु इतने मात्रसे स्वयं सन्तोष होता न देख वे कहते हैं कि यतः भाष्यकारने भी इस सूत्रका इसी प्रकार अर्थ किया है अतः ‘मत्पादोनाम्’ ही सूत्र होना चाहिए । उनका समस्त प्रसंगको व्यक्त करनेवाला टीकावचन इस प्रकार है—

‘अपरे तु प्रतिपदं पञ्चापि पठन्ति—मतिभूतावधिपनःपर्ययकेवलानामिति । एवं चापार्थकः पाठो लभ्यते । ततोऽनन्तरसूत्रे पञ्चाविभेदा ज्ञानावरणादय इत्यवभृत्मेव । निर्जातावध स्वरूपतः प्रथमाध्याये व्याख्यातत्वात् । अतः आदिशब्द एव च युक्तः । भाष्यकारोऽप्येवमेव सूत्रार्थमावेदयते ।’

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य ‘भाष्यकारो—’ इत्यादि वचन है । इस वचनमें भाष्यकारका सम्बन्ध सीधा ‘मत्पादोनाम्’ सूत्रकी रचनाके साथ स्थापित न कर उसके अर्थके साथ स्थापित किया गया है । इससे सिद्ध होता है कि यहाँपर सिद्धसेन गणि सूत्रकारको भाष्यकारसे भिन्न मान रहे हैं, अन्यथा वे किसी अपेक्षासे सूत्रकार और भाष्यकार में अभिन्नता स्थापित कर अपनी भाषाद्वारा इस प्रकार समर्थन करते जिससे भाष्यकारसे अभिन्न सूत्रकारने ही ‘मत्पादोनाम्’ सूत्र रचा है इस बातका दृढ़ताके साथ समर्थन होता ।

जहाँ तक हमारा मत है इन पूर्वोक्त उल्लेखोंके आधारसे हम एक मात्र इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार अभिन्न व्यक्ति हैं इस विषयमें सिद्धसेन गणिकी स्थिति संशयापन्न रही है, क्योंकि कहीं वे तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार इनको एक व्यक्ति मान लेते हैं और कहीं दो । इस स्थिति को देखते हुए मालूम ऐसा देता है कि सिद्धसेन गणिके काल तक तत्त्वार्थभाष्यकार ही मूल तत्त्वार्थसूत्रकार हैं यह मान्यता दृढ़मूल नहीं हो पायी थी । यही कारण है कि सिद्धसेन गणि किसी एक मतका निश्चयपूर्वक प्रतिपादन करनेमें असमर्थ रहे ।

पश्चिमतः—इस प्रकार सिद्धसेन गणिकी टीकाके आधारसे वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं इस बातके अनिर्णीत हो जाने पर भी यहाँ हमें प्रजाचक्षु पं० सुखलालजीके एतद्विषयक प्रमाणोंका अक्षमसे

परामर्श कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषयमें उन्होंने जिन तीन प्रमाणोंको उपस्थित किया है उनका हम पहले पृष्ठ 62 में निर्देश कर आये हैं। उनमेंसे पहला प्रमाण उत्थानिकाकी 22वीं कारिका अर्थात् तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्ति है। इन दोनों स्थलोंमेंसे उत्थानिका कारिकामें तत्त्वार्थाधिगम नामक लघुग्रन्थके कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है और अन्तिम प्रशस्तिमें वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र रचा यह कहा गया है। पण्डितजी इस आधारसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता वाचक उमास्वाति ही हैं। किन्तु हम यह पहले (पृष्ठ 17 में) ही सिद्ध करके बतला आये हैं कि तत्त्वार्थाधिगम यह नाम तत्त्वार्थसूत्रका न होकर तत्त्वार्थभाष्यका है। स्वयं वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थाधिगमको सूत्र न कहकर उसे ग्रन्थ या शास्त्र¹ शब्द द्वारा सम्बोधित करते हैं और आगे तत्त्वार्थाधिगमके रचनेका प्रयोजन बतलाते हुए 22वीं उत्थानिका कारिकामें कहते हैं कि जिन वचन महोदधि दुर्गमग्रन्थभाष्यपार² होनेसे उसका समझना कठिन है। ऐतिहासिकोंसे यह छिपी हुई बात नहीं है कि यहाँ वाचक उमास्वातिने आगम ग्रन्थोंके जिन भाष्योंका उल्लेख किया है वे विक्रमकी 7वीं शताब्दीकी रचना हैं³। जब कि इनके भी पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि प्रभृति अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं। ऐसी अवस्थामें 21वीं उत्थानिका कारिका और अन्तिम प्रशस्तिके आधारसे वाचक उमास्वातिको मूल तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता सिद्ध करना तो कोई अर्थ नहीं रखता।

पण्डितजी की दूसरी युक्तिमें कहा गया है कि तत्त्वार्थभाष्यके आलोडनसे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थभाष्यमें सूत्रका अर्थ करनेमें कहीं भी खीचातानी नहीं की गयी है आदि। यहाँ विचार इस बातका करना है कि क्या तत्त्वार्थभाष्यकी वैसी स्थिति है जैसी कि पण्डितजी उसके विषयमें उद्धोषणा करते हैं या वैसी स्थिति नहीं है। इस दृष्टिसे हमने भी तत्त्वार्थभाष्यका आलोडन किया है, किन्तु हमें उसमें ऐसे अनेक स्थल दिखाई देते हैं जिनके कारण इस दृष्टिसे तत्त्वार्थभाष्यकी स्थिति सन्देहास्पद प्रतीत होती है। यथा—

1. तत्त्वार्थसूत्रमें सम्यग्दर्शनीसे सम्यग्दृष्टिको भिन्न नहीं माना गया है। वहाँ अध्याय 7 सूत्र 23 में ऐसे सम्यग्दर्शनवालेको भी सम्यग्दृष्टि कहा गया है जिसके शंका आदि दोष सम्भव होते हैं। किन्तु इसके विपरीत तत्त्वार्थभाष्यमें सम्यग्दर्शनी और सम्यग्दृष्टि इन दोनों पदोंकी स्वतन्त्र व्याख्या करके सम्यग्दर्शनीसे सम्यग्दृष्टिको भिन्न बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि जिसके आभिनवोधिक ज्ञान होता है वह सम्यग्दर्शनी कहलाता है और जिसके केवलज्ञान होता है वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है।⁴ स्पष्ट है कि यहाँ पर तत्त्वार्थभाष्यकार तत्त्वार्थसूत्रका अनुसरण नहीं करते और सम्यग्दृष्टिपदकी तत्त्वार्थसूत्रके विरुद्ध अपनी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। एक स्थल (अ० 1 सू० 8) में वे जिस बातको स्वीकार करते हैं दूसरे (अ० 7 सू० 23) में वे उसे छोड़ देते हैं।

2. तत्त्वार्थसूत्रमें मति, स्मृति और संज्ञा आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें पर्यायवाची नाम न मानकर 'मतिः स्मृतिः' इत्यादि सूत्रके आधारसे मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदिको स्वतन्त्र ज्ञान मानते हैं⁵। सिद्धसेन गणिते भी तत्त्वार्थभाष्यके आधारसे इनको स्वतन्त्र ज्ञान मानकर उनकी व्याख्या की है। यह कहना कि सामान्य मतिज्ञान व्यापक है और विशेष मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि उसके व्याप्य हैं कुछ समुक्तिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मतिज्ञान वर्तमान अर्थको विषय करता है। इस तथ्यको जब स्वयं तत्त्वार्थभाष्यकार स्वीकार करते हैं ऐसी अवस्थामें मति, स्मृति आदि नाम मतिज्ञानके पर्यायवाची ही हो सकते हैं भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं। तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके आगमोंमें इन्हें मतिज्ञानके

1. देखो उत्थानिका कारिका 21 व अन्तिम प्रशस्ति तत्त्वार्थभाष्य। 2. महतोऽन्तिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य। कः शक्तो प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥ 3. देखो पं० कैलाशचन्द्रजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० 12। 4. देखो तत्त्वार्थसूत्र अ० 1 सू० 8 का तत्त्वार्थभाष्य। 5. देखो अध्याय 1 सूत्र 13 का तत्त्वार्थभाष्य।

पर्यायवाची ही कहा है। स्पष्ट है कि यहाँ पर भी तत्त्वार्थभाष्यकारकी व्याख्या मूल सूत्रका अनुसरण नहीं करती।

3. तत्त्वार्थभाष्यकारने अध्याय 10 सूत्र 'क्षेत्रकालमति' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए¹ शब्द, समभिच्छेद और एवंभूत इन तीनको मूल नय मान लिया है जब कि वे ही प्रथम अध्यायमें उस सूत्र पाठकी स्वीकार करते हैं जिसमें मूल नयोंमें केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है। स्पष्टतः उनका 10वें अध्यायमें शब्दादिक तीन नयोंकी मूलरूपसे स्वीकार करना और प्रथम अध्यायमें एक शब्दनयको मूल मानना परस्पर विरुद्ध है।

4. श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2 सूत्र 52 में 'वरमवेहोत्तमपुरुष' पाठको स्वीकार करता है। तत्त्वार्थभाष्यकार ने प्रारम्भमें इस पदको मानकर ही उसकी व्याख्या की है। किन्तु बादमें वे 'उत्तमपुरुष' पदका त्याग कर देते हैं और मात्र 'वरमवेह' पदको स्वीकार कर उसका उपसंहार करते हैं। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थभाष्यकारको इस सूत्रके कुछ हेरफेरके साथ दो पाठ मिले होंगे। जिनमेंसे एक पाठको उन्होंने मुख्य मानकर उसका प्रथम व्याख्यान किया। किन्तु उसको स्वीकार करनेपर जो आपत्ति आती है उसे देखकर उपसंहारके समय उन्होंने दूसरे पाठको स्वीकार कर लिया। स्पष्ट है कि इससे तत्त्वार्थभाष्यकार ही तत्त्वार्थसूत्रकार हैं इस मान्यताकी बड़ा धक्का लगता है।

5. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 4 सूत्र 4 में प्रत्येक देवनिकायके इन्द्रादिक 10 भेद गिनाये हैं। किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन दस भेदोंके उल्लेखके साथ अनीकाधिपति नामका ग्यारहवाँ भेद और स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार इसी अध्यायके 26वें सूत्रमें लौकान्तिक देवोंके सारस्वत आदिक नौ भेद गिनाये हैं, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार अपने भाष्यमें यहाँ नौके स्थानमें आठ भेद ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—'एते सारस्वता-वयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु विष्णु प्रवर्णिन भवन्ति यथासंख्यम्।'

ये ऐसे प्रमाण हैं जो पण्डितजी की पूर्वोक्त मान्यताके विरुद्ध जाते हैं। स्पष्ट है कि पण्डितजीकी उक्त मान्यताके आधारसे भी तत्त्वार्थभाष्यकारको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता नहीं माना जा सकता।²

पं० सुखलालजीकी तीसरी मान्यता है कि प्रारम्भिक कारिकाओंमें और कुछ स्थानोंपर भाष्यमें 'वक्ष्यामि, वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुषकी क्रियाओंका निर्देश है आदि, इसलिए तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु पण्डितजी की यह कोई पुष्ट दलील नहीं है। अकसर टीकाकार मूलकारसे तादात्म्य स्थापित कर इस प्रकारकी क्रियाओंका प्रयोग करते हैं। उदाहरणके लिए देखो अध्याय 1 सूत्र 1 की सर्वार्थसिद्धि टीका³, अध्याय 8 सूत्र 1 की उत्थानिका तत्त्वार्थवातिक⁴, अध्याय 8 सूत्र 1 की उत्थानिका हूरिमद्रकी टीका⁵ व अध्याय 10 सूत्र 1 की उत्थानिका सिद्धसेन गणिकी टीका। यहाँ सिद्धसेन गणि कहते हैं 'सम्प्रति तत्कलं मोक्षः, सं वक्ष्यामः।' स च केवलज्ञानोत्पत्तिमन्तरेण न जातुविबभूव भवति भविष्यति अतः केवलोत्पत्तिमेव तावद् वक्ष्यामः। इसलिए इस आधारसे भी तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता नहीं सिद्ध होते।

श्वेताम्बर पट्टावलियाँ—श्वेताम्बर पट्टावलियोंके देखनेसे भी इस स्थितिकी पुष्टि होती है। इनमें सबसे पुरानी कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्रकी पट्टावलि है। किन्तु इनमें समय नहीं दिया है। समय गणना बहुत पीछेकी पट्टावलियोंमें है। कहा जाता है कि नन्दिसूत्र पट्टावली वि० सं० 510 में संकलित हुई थी। इनमें उमास्वाति व उनके गुरुओंके नाम नहीं हैं।

1. शब्दादयश्च नयः।
2. पं० लालबहादुरजी शास्त्रीने जैन सिद्धान्तभास्कर भाग 13 किरण 1 में 'क्या भाष्य स्वोपज्ञ और उसके कर्ता यापनीय हैं' इस शीर्षकसे एक लेख मुद्रित कराया है। उससे भी इस विषयपर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।
3. एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्वक्ष्यामः।
4. अवसरप्राप्तं बन्धं व्याचक्ष्महे।
5. बन्ध इति वर्तते। एतच्चोपरिष्ठादर्शयिष्यामः।

पिछले काल की रची गयी पट्टावलियोंमेंसे धर्मघोषसुरिकृत दुःषमाकाल श्रमणसंघ स्तव एक है। इसकी रचना विक्रमकी तेरहवीं सदीमें हुई अनुमानित की जाती है। इसमें उमास्वातिका नाम हरिभद्र और जिनभद्रके बाद आता है पर हरिभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्य पर टीका लिखी है। ये विक्रमकी 8वीं-9वीं सदीके विद्वान् हैं, अतएव आचार्योंकी क्रम-परम्पराकी दृष्टिसे इस पट्टावलीको विशेष प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसमें वि० सं० 720 में वाचक उमास्वातिकी अवस्थिति स्वीकार की गयी है।

धर्मसागर गणिकृत तपागच्छ पट्टावली वि० सं० 1646 में लिखी गयी थी। इसमें जिनभद्रके बाद विबुधप्रभ, जयानन्द और रविप्रभका उल्लेख करनेके बाद उमास्वातिका नाम निर्देश किया है और इनका समय वि० सं 720 बतलाया है। यद्यपि इन्होंने आर्यमहागिरिके बहुल और बलिस्सह नामक दो शिष्योंमेंसे बलिस्सहके शिष्य उमास्वातिका उल्लेख कर इन प्रथम उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता होनेकी सम्भावना की है। किन्तु उनकी यह सम्भावना भ्रमजन्य है। कारण कि नन्दिसूत्र पट्टावलीकी 26वीं गाथामें 'हारियगुप्तं साङ्गं च बंधे' पद आता है। जिसमें हारितगोत्रीय स्वाति का उल्लेख है। मालूम पड़ता है धर्मसागर गणिने नामकी आंशिक समता देखकर द्वितीयके स्थानमें भ्रमसे इन्हें ही तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता होनेकी आशा की है। पं० मुखलालजीने भी इस आशाका भ्रममूलक बतलाया है।¹

विनयविजय गणिने अपना लोकप्रकाश वि० सं० 1708 में पूरा किया था। वे उमास्वातिकी युग-प्रधान आचार्य बतलाते हैं और जिनभद्र तथा पुष्पमित्र के बीच उनकी अवस्थिति स्वीकार करते हैं। इन्होंने अपनी पट्टावलिमें उमास्वातिके समयका निर्देश नहीं किया है।

रविवर्धन गणि (वि० सं० 1739) ने भी पट्टावलीसारोद्धारमें उमास्वातिका उल्लेख किया है। इसमें समयका निर्देश करते हुए वास्तव्यकाल वीर वि० सं० 1190 (वि० सं० 720) स्वीकार किया है।²

श्वेताम्बर परम्पराकी ये पट्टावलियाँ हैं जिनमें उमास्वातिका निर्देश किया है। यद्यपि ये पट्टावलियाँ अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं और इनमें कुछ मतभेद हैं तथापि इनकी सर्वथा निराधार मानना उचित नहीं है। इनमें निदिष्ट वस्तुके आधारसे निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—

1. वाचक उमास्वाति युगप्रधान आचार्य थे। वे वि० सं० 720 के आसपास हुए हैं। बहुत सम्भव है कि इसी कारणसे नन्दिसूत्र पट्टावली और कल्पसूत्र स्वविरावलिमें इनकी परम्पराका किसी भी प्रकारका उल्लेख नहीं किया है।

2. यद्यपि रविवर्धन गणिने जिनभद्र गणिके पूर्व वाचक उमास्वातिका उल्लेख किया है परन्तु समयकी दृष्टिसे रविवर्धन गणिने उन्हें जिनभद्रगणिके बादका ही बतलाया है, अतः उक्त सब पट्टावलियोंमें एकमत होकर स्वीकार किये गये वास्तव्य कालका विचार करते हुए अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें अधिक सम्भव यही दिखाई देता है कि ये जिनभद्र गणिके बाद ही हुए हैं।

3. एक प्रशस्ति तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें भी उपलब्ध होती है जिसमें वाचक उमास्वातिने स्वयंको तत्त्वार्थधिगम शास्त्रका रचयिता कहा है। किन्तु इसमें समयादिकका कुछ निर्देश न होनेसे यह प्रशस्ति समय सम्बन्धी पूर्वोक्त तथ्यकी पूरक ही प्रतीत होती है।

यह तो हम अनेक प्रमाणोंके आधारसे पहले ही स्वीकार कर आये हैं कि वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थभाष्यकी रचना की और तत्त्वार्थभाष्यमें स्वीकृत तत्त्वार्थसूत्रके पाठको संस्कारित कर अन्तिम रूप दिया, इसलिए इस रूपमें इन तथ्योंकी स्वीकार कर लेने पर भी वाचक उमास्वाति मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता

1. देखो उनका तत्त्वार्थसूत्र प्रस्तावना पृष्ठ 2। 2. ये चारों पट्टावलियाँ मुनिदर्शनविजय द्वारा सम्पादित श्री पट्टावलीसमुच्चय प्रथम भागमें मुद्रित हुई हैं।

नहीं ठहरते, और हमारा ऐसा मानना अनुचित भी नहीं है, क्योंकि विक्रमकी आठवीं शताब्दीके पूर्व 6वीं शताब्दीके प्रारम्भमें या इसके कुछ काल पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी जा चुकी थी तथा बनेक टीका-टिप्पणियाँ प्रचलित हो चुकी थीं।

यद्यपि धर्मसागर गणी, बलिस्सहके शिष्य स्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की, ऐसी शंका करते हैं, किन्तु यह उनका निश्चित मत नहीं है। केवल सम्भावना मात्र है। जैसा कि उनके इन शब्दोंसे प्रष्ट है। यथा—‘तस्य बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्त्वार्थविद्यो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते।’ अतएव इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

यहाँ तक हमने पाँच मतोंकी समीक्षा की। मात्र एक प्रमुख मत शेष रहता है जिस पर यहाँ तीन दृष्टियोंसे विचार करना है—नाम, परम्परा और समय।

नाम—यह हम प्रारम्भमें ही उद्धरणोंके साथ लिख आये हैं कि आचार्य कीरसेन, आचार्य विद्यानन्द और आचार्य वादिराज तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम आचार्य गृद्धपिच्छ ही घोषित करते हैं और ये उल्लेख अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। किन्तु इन उल्लेखों को छोड़कर दिगम्बर परम्परामें अन्य जितने भी उल्लेख मिलते हैं उनमें गृद्धपिच्छको उपपद या दूसरा नाम मान कर नानारूपता दिखाई देती है। इनमेंसे कुछ प्रमुख उल्लेखोंका निर्देश हम ‘अन्य मत’ शीर्षकके अन्तर्गत कर आये हैं। इसी तरहका एक प्रमुख मत नन्दिसंघकी पट्टावलीका है। नन्दिसंघकी दो पट्टावलियाँ उपलब्ध होती हैं—एक संस्कृत पट्टावली और दूसरी प्राकृत पट्टावली। इनमेंसे संस्कृत पट्टावलिमें आचार्य उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता कहा गया है।

यहाँ देखना यह है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके नामके विषयमें इतना मतभेद होनेका कारण क्या है और उनका ठीक नाम क्या है ?

पहले हम श्रवणबेलगोलमें पाये जानेवाले शिलालेख 105 और 108 के उद्धरण उपस्थित कर आये हैं। वे शिलालेख क्रमशः शक सं० 1320 और 1355 के अनुमानित किये गये हैं। शक सं० 1037 और 1085 के भी दो शिलालेख वहाँ उपलब्ध होते हैं जो जैन शिलालेख संग्रह भाग I में क्रमशः 47 और 40 नम्बर पर दर्ज हैं। 47 नं० के शिलालेखमें कहा गया है—

‘श्री गौतम गणधरके अन्वयमें नन्दिसंघके प्रमुख आचार्य पद्मनन्दी हुए जिनका दूसरा नाम कोण्डकुन्द था। फिर उनके अन्वयमें गृद्धपिच्छ अपर नामवाले उमास्वाति आचार्य हुए। इनके शिष्य बलाकपिच्छ और बलाकपिच्छके शिष्य गुणनन्दि थे।’

नं० 40 के शिलालेखमें कहा गया है कि ‘गौतम गणधरके बाद पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए। इसके बाद उनके अन्वयमें पद्मनन्दी हुए। इनका दूसरा नाम कोण्डकुन्द था। फिर इनके अन्वयमें गृद्धपिच्छ उमास्वाति आचार्य हुए। इनके शिष्य बलाकपिच्छ थे। इस प्रकार महान् आचार्योंकी परम्परामें क्रमशः आचार्य समन्तभद्र हुए।’

नं० 105 और 108 के शिलालेखोंमें, जिनका उल्लेख हम पहले कर आये हैं, लगभग यही बात कही गयी है। अन्तर केवल इतना ही है कि इन दोनों शिलालेखोंमें गृद्धपिच्छ उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कहा गया है और शिलालेख नं० 47 व 40 में रचयिता के रूपमें उनका उल्लेख नहीं किया है।

यहाँ पर हम सर्वप्रथम दिगम्बर परम्पराके उक्त उल्लेखोंके आधारसे, तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्तिके आधारसे और धर्मसागरगणि कृत तपागच्छ पट्टावलीके आधारसे परम्परा दे देना चाहते हैं। यथा—

शिलालेख (चन्द्रगिरि)	तत्त्वार्थभाष्य प्र०	तपागच्छ पट्टावली
गौतम गणधर	वाचकमुख्य शिदश्री	जिनभद्रगणि
भद्रबाहु (अन्वयमें)	घोषनन्दि क्षमण	विबुधप्रभ
चन्द्रगुप्त (शिष्य)	वाचक उमास्वाति	जयानन्द
पद्मनन्दि (अन्वयमें)		रविप्रभ
गृद्धपिच्छ उमास्वाति (अन्वयमें)		उमास्वाति
बलाकपिच्छ शिष्य		

इस प्रकार ये तीन परम्पराएँ हमारे सामने हैं। इनमेंसे तपागच्छ पट्टावलीके विषयमें तो इतना ही कहना है कि धर्मसागर गणिके सामने तत्त्वार्थभाष्यकी प्रशस्तिके रहते हुए जो उन्होंने तपागच्छके आचार्योंकी परम्पराके साथ उमास्वातिका उल्लेख किया है सो इसका कारण केवल युगप्रधान आचार्योंके रूपमें उमास्वातिको उनके वास्तव्य कालके साथ स्वीकार करना मात्र है। जिनभद्र गणिके विषयमें भी यही बात है। ये दोनों तपागच्छ परम्पराके आचार्य नहीं हैं और न ऐसा धर्मसागर गणि ही मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने तपागच्छ परम्पराका स्वतन्त्र निर्देश करते हुए बीच में इनका युगप्रधान आचार्योंके रूपमें उल्लेखमात्र किया है, इसलिए इसे और इसके साथ पायी जानेवाली थोड़ेसे मतभेदको लिये हुए अन्य प्रशस्तियों को छोड़ कर हमारे सामने मुख्य दो परम्पराएँ रहती हैं—एक श्रवणबेलगोलमें पाये जानेवाले शिलालेखोंकी परम्परा और दूसरी तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पायी जानेवाली प्रशस्तिकी परम्परा।

देखनेसे विदित होता है कि इन दोनों उल्लेखोंमें दोनोंकी न केवल गुरुपरम्परा भिन्न-भिन्न है अपितु दोनोंके उपपद या नामान्तर भी भिन्न-भिन्न हैं। श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंकी परम्परा जब कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी गृद्धपिच्छ उमास्वाति घोषित करती है ऐसी अवस्थामें तत्त्वार्थभाष्यकी प्रशस्ति उन्हें वाचक उमास्वाति इस नामसे सम्बोधित करती है, इसलिए इन आधारोंसे हमारा तो यही विचार दृढ़ होता है कि गृद्धपिच्छ उमास्वातिसे वाचक उमास्वाति भिन्न आचार्य होने चाहिए।

इस प्रकार इतने विवेचनसे इन दोनों आचार्योंके अलग-अलग सिद्ध हो जानेपर यहाँ यह देखना है कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नाममें कहाँ तक तथ्य है, क्योंकि इस नामके विषयमें हमें कई तरहके उल्लेख मिलते हैं। कहीं इनकी केवल गृद्धपिच्छ कहा गया है और कहीं गृद्धपिच्छ उपपदयुक्त उमास्वामी या उमास्वाति कहा गया है। कहीं गृद्धपिच्छको उमास्वातिका दूसरा नाम बतलाया गया है तो कहीं केवल उमास्वाति नाम आता है। यद्यपि देखनेमें ये सब नाम अलग-अलग प्रतीत होते हैं। जैसे उमास्वातिसे उमास्वामी नाम भिन्न है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि पहले इनमेंसे कोई एक नाम रहा होगा और बादमें 'म' के स्थानमें

1. जितेन्द्र कल्याणाम्बुदयमें अन्धयावलीके वर्णनके प्रसंगसे एक श्लोक आता है जिसमें कुन्दकुन्द आचार्य और उमास्वाति दोनोंको वाचक कहा गया है और धवला टीकाके अन्तिम भागके देखनेसे यह भी विदित होता है कि दिगम्बर परम्परामें भी 'वाचक' उपपद व्यवहृत होता था। किन्तु जितेन्द्र कल्याणाम्बुदयका प्रमाण अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन है और केवल इस आधारसे तत्त्वार्थभाष्य के वाचक उमास्वातिको और श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंके गृद्धपिच्छ उमास्वातिको एक नहीं माना जा सकता। देखो पं० सुखलालजी कृत तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनाके परिशिष्टमें उद्धृत पं० जुगलकिशोरजी मुक्तारका पत्र।

‘त’ या ‘त’ के स्थानमें ‘म’ लिखा जानेसे ये दोनों नाम चल पड़े होंगे। इसी प्रकार उमास्वाति या उमास्वाभी नामका कहीं गृद्धपिच्छ इस अपर नामके साथ उल्लेख मिलनेसे और कहीं इनमेंसे किसी एकका उल्लेख मिलनेसे इस सम्बन्धमें भी यह कहा जा सकता है कि इस तरह पूरे या अधूरे नामके लिखनेकी भी परम्परा रही है और हो सकता है कि उसी परम्पराके अनुसार विविध प्रकारसे इन नामोंका उल्लेख किया जाने लगा होगा।

यहाँ हम इन तर्कोंकी सत्यता स्वीकार करते हैं। फिर भी देखना यह है कि एक आचार्य नन्दिसंघ तथा कुन्दकुन्दकी परम्परामें हुए और दूसरे अन्य परम्परामें हुए और इनके समयमें काफी अन्तर है फिर भी दोनोंका एक ही शास्त्रकी रचनासे सम्बन्ध और एक ही नाम यह स्थिति उत्पन्न हुई कैसे? यह कहना तो बनता नहीं कि श्वेताम्बर परम्परामें हुए वाचक उमास्वाति इस नामको देखकर गृद्धपिच्छने अपना उमास्वाति यह नाम भी रखा होगा, क्योंकि पट्टावलियों व दूसरे प्रमाणोंको देखनेसे विदित होता है कि गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके बाद हुए हैं। जब कि वाचक उमास्वातिका अस्तित्वकाल इसके बहुत बाद आता है। साथ ही यह कहना भी नहीं बनता है कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नामको देखकर वाचक उमास्वातिने अपना ‘उमास्वाति’ यह नाम रखा होगा, क्योंकि तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें जो प्रशस्ति उपलब्ध होती है उसमें वाचक उमास्वातिका ‘उमास्वाति’ नाम क्यों रखा गया इसका कारण दिया है। उसमें बतलाया गया है कि इनके पिताका नाम ‘स्वाति’ था और सिद्धसेन गणिने इस प्रशस्तिकी व्याख्या करते हुए यह भी लिखा है कि इनकी माताका नाम ‘उमा’ था¹। इसलिए इनका उमास्वाति यह नाम पड़ा है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह प्रशस्ति बाद में गढ़ी गयी होगी, क्योंकि तत्त्वार्थभाष्यके टीकाकार सिद्धसेन गणिने इसका उल्लेख ही नहीं किया व्याख्यान भी किया है और ऐसा करके उन्होंने उसे तत्त्वार्थभाष्यका अंग प्रसिद्ध किया है। इस विषयमें हम पं० सुखलालजीके इस मतसे सहमत हैं कि यह स्वयं तत्त्वार्थभाष्यकार वाचक उमास्वातिकी ही कृति है।²

प्रसंगसे यहाँ पर हम एक बात यह कह देना चाहते हैं कि अधिकतर विद्वान् जहाँ किसी प्रशस्ति, पट्टावली या शिलालेख आदिसे अपना मत नहीं मिलता वहाँ उसे सर्वथा अप्रामाणिक या जाली घोषित करते हैं। किन्तु उनकी यह प्रवृत्ति विचारपूर्ण नहीं कही जा सकती। कारण कि प्राचीन कालमें इतिहासके संकलनके साधन प्रायः सीमित थे। अधिकतर इतिहासके संकलन करनेवालोंका कथकों पर अवलम्बित रहना पड़ता था और जिसे प्रामाणिक आधारोंसे जो ज्ञात होता था वह उसका अंकन करता था। इसलिए यह तो सम्भव है कि किसी शिलालेख आदिमें कोई नाम, समय या घटना सही रूपमें निबद्ध हो गयी हो और किसी शिलालेख आदिमें वह कुछ भ्रष्टरूपमें निबद्ध हुई हो। पर साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश किये गये उल्लेखोंको छोड़कर निबद्ध करनेवालेका उद्देश्य जानबूझकर उसे भ्रष्टरूपसे निबद्ध करनेका नहीं रहता था इतना सुनिश्चित है। प्रसिद्ध धवला टीकाके रचयिता आचार्य वीरसेनने इस सम्बन्धमें एक बहुत अच्छी विचारसरणि उपस्थित की है। उन्हें भगवान् महावीरकी आयु 72 वर्ष की थी एक यह मत प्राप्त हुआ और भगवान् महावीरकी आयु 71 वर्ष 3 माह 25 दिनकी थी एक यह मत प्राप्त हुआ, इसलिए उनके सामने प्रश्न था कि इनमेंसे किसे प्रमाण माना जाय? इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप वे जो कुछ लिखते हैं वह न केवल हृदयग्राही है अपितु अनुकरणीय भी है। वे कहते हैं कि ‘इन दोनोंमेंसे कौन ठीक है और कौन ठीक नहीं है इस विषयमें एताचार्यका शिष्य मैं वीरसेन अपना मुख नहीं खोलता, क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसी एकको मानने पर कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती। किन्तु इन दोनोंमेंसे कोई एक मत ठीक होना चाहिए सो प्राप्त कर उसका कथन करना चाहिए’।³

1. ‘कौभीषणिना स्वात्तिनयेन—’। 2. वात्सीसुतेनेति गोत्रेण नाम्ना उमेति मातुराख्यानम्।
3. देखो पं० सुखलालजीकी तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० 4। 4. जयधवला पुस्तक। पृ० 81।

वे यहाँ यह तो कहते हैं कि उचित आधारोंपर जो ठीक प्रतीत हो उसे प्रमुखता दी जाय पर एकको सर्वथा जाली और दूसरेको सर्वथा सत्य घोषित करनेका प्रयत्न करना ठीक नहीं है।

इस प्रासंगिक कथनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके विषयमें दिगम्बर परम्परामें जो शिलालेख व उद्धरण आदि मिलते हैं वे भी साधार हैं और श्वेताम्बर परम्परामें जो उल्लेख मिलते हैं वे भी साधार हैं। इसलिए किसी एकको प्रामाणिक और अन्यको अप्रामाणिक घोषित करना हमारा कार्य नहीं है, किन्तु अन्य प्रमाणोंके प्रकाशमें उनकी स्थिति स्पष्ट करना इतना ही हमारा कार्य है। और इस कार्यका निर्वाह करते हुए प्रस्तावना में विविध स्थलों पर व्यक्त किये गये तथ्योंके आधारसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम तो वाचक उमास्वाति ही है, किन्तु जिन्होंने प्रारम्भमें तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की और जो आचार्य कुन्दकुन्दकी परम्परामें हुए हैं उनका नाम गृद्धपिच्छ उमास्वाति, गृद्धपिच्छ उमास्वामी, उमास्वाति या उमास्वामी यह कुछ भी न होकर मात्र गृद्धपिच्छाचार्य होना चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छ आचार्य हैं इस तथ्यको व्यक्त करनेवाले उल्लेख 9वीं शताब्दीके हैं। तथा लगभग इसी कालमें श्वेताम्बर परम्परामें भी यह मान्यता प्रचलित हुई जान पड़ती है जैसा कि सिद्धसेन गणिके शंकास्पद कुछ उल्लेखोंसे प्रतीत होता है, कि तत्त्वार्थभाष्यके रचयिता वाचक उमास्वाति ही तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता हैं। अतः मालूम पड़ता है कि इन दोनों मान्यताओंमें मिलकर एक नयी मान्यताको जन्म दिया और उत्तरकालमें गृद्धपिच्छ और उमास्वाति ये स्वतन्त्र दो आचार्योंके दो नाम मिलकर एक नाम बने और अग्रे चलकर गृद्धपिच्छ उमास्वाति इस नामसे तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका उल्लेख किया जाने लगा। हमें श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें या अन्यत्र जो एक आचार्यके लिए इन नामोंका या गृद्धपिच्छको उपपद मानकर उमास्वाति नामका व्यवहार होता हुआ दिखाई देता है उसका कारण यही है।

तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छ आचार्य होना चाहिए और वाचक उमास्वाति इनसे भिन्न है इस मतको संक्षेपमें इन तथ्यों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

1. तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके साथ आचार्य गृद्धपिच्छका नाम जुड़ना अकारण नहीं हो सकता।
2. आचार्य वीरसेन, विद्यानन्द और चाविराजने तत्त्वार्थसूत्रके रचयिताका नाम गृद्धपिच्छाचार्य ही व्यक्त किया है और ये उल्लेख अन्य प्रमाणोंसे प्राचीन हैं।
3. श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थभाष्यके रचयिता जो आचार्य हुए हैं उनका नाम वाचक उमास्वाति है, गृद्धपिच्छ उमास्वाति नहीं। अतः गृद्धपिच्छ उमास्वाति यह नाम गृद्धपिच्छ और उमास्वाति इन दोनों नामोंके मेलसे बना है ऐसा प्रतीत होता है।
4. गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्द आचार्यके अन्वयमें हुए हैं और उमास्वातिकी परम्परा दूसरी है, इसलिए ये स्वतन्त्र दो आचार्य होने चाहिए, एक नहीं।
5. गृद्धपिच्छाचार्य और वाचक उमास्वाति इन दोनोंके वास्तव्य कालमें भी बड़ा अन्तर है, इसलिए भी ये एक नहीं हो सकते।

परम्परा—तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता किस परम्पराके थे इस विषयमें नामविषयक उक्त निर्णयके आधारसे ही बहुत कुछ विवाद समाप्त हो जाता है, क्योंकि जिन तथ्योंके प्रकाशमें उनका आचार्य गृद्धपिच्छ यह नाम निश्चित होता है उन्हींके आधारसे वे एक मात्र दिगम्बर परम्पराके सिद्ध होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके वे साक्षात् शिष्य हों या न भी हों पर वे हुए हैं उन्हींकी वंशपरम्परामें यह बात पूर्वमें दी गयी वंशपरम्परा और अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायमें यह गाथा आती है—

“दृष्टं सत्त्वक्षणियं उत्पादव्यधुवसंजुतं ।

गुणवज्जयातयं वा जं तं भणति सव्ययू ॥”

अब इस गायिका के प्रकाशमें तत्त्वार्थसूत्रके इन सूत्रोंको देखिए—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ 5, 29 ॥ उत्पादव्यधुवसंजुतं सत् ॥ 5, 30 ॥ गुणवर्षयवद् द्रव्यम् ॥ 5, 30 ॥

इसके सिवाय तत्त्वार्थसूत्रमें और भी बहुतसे ऐसे वचन हैं जिनका आचार्य कुन्दकुन्दके वचनोंके साथ शान्दिक और वस्तुगत साम्य दिखाई देता है। तथा तत्त्वार्थसूत्रमें ‘नाम्य’ जैसे शब्दोंका व्यवहार हुआ है। इससे उसके कर्ता दिगम्बर परम्पराके हैं यही सिद्ध होता है।

समय—नामके समान आचार्य गृद्धपिच्छके समयका प्रश्न भी बहुत अधिक विचारणीय है। साधारणतः जिन उल्लेखोंका इनके समयपर सीधा प्रकाश पड़ता है ऐसी दो उल्लेख हमारे सामने हैं। प्रथम नन्दिसंघकी पट्टावलीका उल्लेख और दूसरा विद्वज्जनबोधकमें उद्धृत इनके समयकी सूचना देनेवाला उल्लेख।

1. नन्दिसंघकी पट्टावली विक्रमके राज्याभिषेकसे प्रारम्भ होती है और यह इंडियन एंटीक्वेरीके आधारसे जैनसिद्धान्तभास्कर किरण, 4, पृ० 78 में जिस रूपमें उद्धृत हुई है उसका प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है—

‘1 भद्रबाहु द्वितीय (4) 2 गुप्तिगुप्त (26) 3 माघनन्दि (36) 4 जिनचन्द्र (40) 5 कुन्दकुन्दाचार्य (49) 6 उमास्वामी (101) 7 लोहाचर्य (142) 8 यशकीर्ति (153) 9 यशोनन्दी (211) 10 देवनन्दी (258) 11 जयनन्दी (308) 12 गुणनन्दी (358) 13 वज्जनन्दी (364) 14 कुमारनन्दी (386) 15 लोकचन्द्र (427) 16 प्रभाचन्द्र (453) 17 नेमिचन्द्र (478) 18 भानुनन्दी (487) 19 सिंहनन्दी (508) 20 श्री वसुनन्दी (525) 21 वीरनन्दी (531) 22 रत्ननन्दी (561) 23 माणिक्यनन्दी (585) 24 मेघचन्द्र (601) 25 शान्तिकीर्ति (627) 26 मेरुकीर्ति (642) ।’

गुप्तिगुप्त यह अहंद्बलिका दूसरा नाम है। इन्होंने अन्य संघोंके साथ जिस नन्दिसंघकी स्थापना की थी उसके पहले पट्टधर आचार्य माघनन्दि थे। इस हिसाबसे उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) नन्दिसंघके पट्टधर बैठेवाले चौथे आचार्य ठहरते हैं। यद्यपि पट्टावलीमें ये क्रमांक 6 पर सूचित किये गये हैं पर भद्रबाहु द्वितीय और अहंद्बलिको छोड़कर ही नन्दिसंघके आचार्योंकी गणना करनी चाहिए। इसलिए यहाँ हमने उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) का क्रमांक 4 सूचित किया है इस पट्टावलीके अनुसार ये वीर नि० सं० 571 में हुए थे।

2. विद्वज्जनबोधकमें यह श्लोक उद्धृत मिलता है—

“वर्षसप्तशते षष्ठे सप्तस्था च विस्मृती ।

उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥”

इसका भाव है कि वीर नि० सं० 770 में उमास्वामी मुनि हुए तथा उसी समय कुन्दकुन्द आचार्य हुए।

अब हम अन्य प्रमाणोंको देखें—

1. इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें पहले 683 वर्षकी श्रुतधर आचार्योंकी परम्परा दी है। और इसके बाद अंगपूर्वके एकदेशधारी विनयधर, श्रीदत्त और अहंद्बलिका नामोल्लेख कर नन्दिसंघ आदि संघोंकी स्थापना

1. देखो तत्त्वार्थसूत्र, अ० 9, सू० 9। 2. पाण्डवपुराणके कर्ता शुभचन्द्रने अपनी परम्परा दी है। उसमें भी 10 आचार्यों तक यही क्रम स्वीकार किया गया है। और आगे भी एकाग्र नामकी छोड़कर आचार्योंके नामोंमें समानता देखी जाती है। वे अपनेको नन्दिसंघका ही घोषित करते हैं। देखो जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग 1, किरण 4, पृष्ठ 51।

करनेवाले अर्हदबलिका नाम आता है। और इसके बाद माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और श्रुतबलिका उल्लेख करनेके बाद आचार्य परम्परामें कुन्दकुन्दका नाम आता है। यह तो निश्चित है कि आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके बाद हुए हैं। इसलिए यदि इस हिसाबसे विचार दिया जाय और श्रुतधर आचार्योंके 683 वर्षमें आगेके आचार्योंका लगभग 100 वर्ष मानकर जोड़ा जाय तो वीर वि० सं० से 783 वर्षके आसपास आचार्य गृद्धपिच्छ हुए यह कहा जा सकता है।

2. श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० 105 में भी¹ श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका निर्देश कर और उसके बाद कुम्भ, विनीत, हलधर वसुदेव, अचल, मेरुधीर, सर्वज्ञ, सर्वगुप्त, महिधर, धनपाल, महावीर और इन नामोंका उल्लेख कर कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृद्धपिच्छ उमास्वातिका नाम आता है। किन्तु इसमें एक तो श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका काल निर्देश नहीं किया है। दूसरे श्रुतधर व दूसरे आचार्योंके क्रमिक नामनिर्देशका भी ख्याल नहीं रखा है। अतः इस आधारसे आचार्य गृद्धपिच्छके समयके सम्बन्धमें कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता।

3. श्रुतधर आचार्योंकी परम्पराका निर्देश धवला,² आदिपुराण,³ नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली⁴ और त्रिलोकप्रज्ञप्ति⁵ आदिमें भी किया है। किन्तु वे 683 वर्षकी परम्पराका निर्देश करने तक ही सीमित हैं। अतः इनके आधारसे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। इन आधारोंके बल पर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि आचार्य गृद्धपिच्छके समयके सम्बन्धमें इन आचार्योंका क्या अभिमत है। और हम इस सम्बन्धमें इनके अभिमतको जाने बिना केवल इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके आधारसे श्रुतधारियोंकी 683 वर्षकी परम्पराके बाद आचार्य गृद्धपिच्छकी अवस्थितिको इन आचार्योंके मतसे माननेके लिए प्रस्तुत नहीं है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनसे हमारे सामने मुख्य तीन मत आते हैं जिनसे हमें आचार्य गृद्धपिच्छके समयकी सूचना मिलती है। प्रथम नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार उनका समय विक्रम (571-470) 101 ऊहरता है। दूसरे विद्वज्जनबोधक ने उद्धृत श्लोकके अनुसार वह विक्रम (770-470) 300 ऊहरता है और तीसरे इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार वि० सं० (783-470) 313 अनुमानित किया जा सकता है।

श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें आचार्य गृद्धपिच्छके शिष्यका नाम आचार्य बलाकपिच्छ⁶ आता है और नन्दिसंघकी पट्टावलीमें बलाकपिच्छके स्थानमें लोहाचार्यका नाम आता है। किन्तु इसका तो यह समाधान हो सकता है कि पट्टावलीमें उन आचार्योंके नामोंका उल्लेख है जो उनके बाद पट्ट पर आसीन हुए और शिलालेखोंमें इसका विचार न कर उनका नामोल्लेख किया है जो उनके प्रमुख शिष्य थे। और इस आधारसे यहाँ तककी पट्टावलीको ठीक भी मान लिया जाय तब भी इनके समयके सम्बन्धमें पट्टावलीके कालका दूसरे उल्लेखोंमें निदिष्ट कालके साथ जो इतना अन्तर दिखाई देता है उसका हल कैसे किया जाय यह विचारणीय विषय हो जाता है।

यहाँ हम अन्य नीवस्थित व पारश्चात्य विद्वानोंके मतोंका विशेष ऊहापोह नहीं करेंगे, क्योंकि उन विद्वानोंने अधिकतर तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य इनको एककर्तृक मान कर अपने-अपने मतका निर्देश किया है। किन्तु सुविचारित मतके रूपमें डॉ० ए० एन० उपाध्येके मतको अवश्य ही उपस्थित करना चाहेंगे। यद्यपि ऊहापोहके बाद उन्होंने अपना यह मत आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें निदिष्ट किया है किन्तु नन्दिसंघ-पट्टावली व दूसरे प्रमाणोंके अनुसार आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्दके शिष्य होनेके कारण उससे इनके

1. देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित जैन शिलालेखसंग्रह भाग 1, पृ० 195 आदि। 2. देखो धवला पृ० 9, पृ० 130। 3. देखो आदिपुराण, पर्व 2, पला० 137 से। 4. देखो जैन सिद्धान्तभाष्य-किरण 4, पृ० 71। 5. देखो त्रिलोकप्रज्ञप्ति महाधिकांश 4 नाथा 1490, 1491। 6. देखी मा० ग्र० मा० से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह भाग 1, शिलालेख नं० 40, 42 और 50 आदि।

समय पर भी सर्वांगीण प्रकाश पड़ता है। वे सब मन्तव्यों और विद्वानोंके मतोंका ऊहापोह करनेके बाद जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह यह है—

‘इतनी लम्बी चर्चा करनेके बाद हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि परम्पराके अनुसार इनका (आचार्य कुन्दकुन्दका) अवस्थिति काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दीके मध्यसे लेकर ईसवी प्रथम शताब्दीके मध्यके भीतर आता है। पट्खण्डागम ईसवी द्वितीय शताब्दी के मध्यकालके पूर्व लिखा जा चुका था, इसलिए इस दृष्टिसे उनका अवस्थिति काल ईसवी द्वितीय शताब्दीके मध्यके आसपास आता है। मकैराके ताम्रपत्रके अनुसार आचार्य कुन्दकुन्दकी अन्तिम सीमा ईसवी तृतीय शताब्दीके मध्यके पूर्व मानी जा सकती है। इसके साथ ही साथ वे शायद शिवस्कन्द राजाके समकालीन तथा कुरलके लेखक थे। इससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ऊपर बतलायी गयी प्रथम दो शताब्दियोंमें थे। मैं इन सबका विचारकर इस तथ्यपर पहुँचा हूँ कि कुन्दकुन्द ईसवी प्रथम शताब्दीमें हुए हैं।’

यह तथ्य है जो आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें डॉ० ए० एन० उपाध्येने सूचित किया है। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें उल्लिखित समयकी सीमा लगभग यही है, इसलिए इन सब आधारोंकी ध्यानमें रखकर यह कहा जा सकता है कि आचार्य गृद्धपिच्छका समय ईसवी प्रथम शताब्दीमें हुए आचार्य कुन्दकुन्दके बाद होना चाहिए, क्योंकि पट्टावलियों व दूसरे शिलालेखोंमें आचार्य कुन्दकुन्दके बाद ही इनका नाम आता है और सम्भव है इन दोनोंके मध्य गुरु-शिष्यका सम्बन्ध रहा है। नन्दिसंघकी पट्टावलिके अनुसार ये आचार्य कुन्दकुन्दके उत्तराधिकारी हैं यह तो स्पष्ट ही है।

5. तत्त्वार्थसूत्रके निर्माणका हेतु—लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि ‘किसी एक भव्यने मोक्षमार्गोपयोगी शास्त्रके निर्माणका विचार कर तदनुसार ‘दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ सूत्र रचकर दीवाल पर लिख दिया। इसके बाद रोजगार के निमित्त उसके बाहर चले जाने पर चर्पाके निमित्त गृद्धपिच्छ आचार्य वहाँ आये और उन्होंने दीवाल पर लिखे हुए सूत्रको अधूरा देखकर उसके प्रारम्भमें ‘सम्पक्’ पद जोड़ दिया। जब वह भव्य बाहरसे लौटा और उसने सूत्रके प्रारम्भमें ‘सम्पक्’ पद जुड़ा हुआ देखा तो वह आश्चर्य करने लगा। उसने घरके सदस्योंसे इसका कारण पूछा और ठीक कारण जानकर वह खोजता हुआ गृद्धपिच्छ आचार्यके पास पहुँचा और उन पर अपने अभिप्रायको व्यक्त कर उनसे शास्त्रके रचनेकी प्रार्थना करने लगा। तदनुसार आचार्य महाराजने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की।’²

यहाँ देखना यह है कि यह कथा लोकमें प्रचलित कैसे हुई? क्या इसकी प्रामाणिकताका कोई विश्वस्त आधार है या यह कोरा भावुकतासे प्रेरित श्रद्धालुओंका उच्छ्वासमात्र है? आगे इसी तथ्यका सांगो-पांग विचार किया जाता है—

1. श्रुतसागर सूरिने तत्त्वार्थवृत्तिके प्रारम्भमें लिखा है कि किसी समय आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) आश्रममें बैठे हुए थे। उस समय द्वैयाक नामक भव्यने वहाँ आकर उनसे प्रश्न किया—भगवन् ! आत्माके लिए हितकारी क्या है? भव्यके ऐसा प्रश्न करनेपर आचार्यवर्यने मंगलपूर्वक उत्तर दिया—मोक्ष। यह सुनकर द्वैयाकने पुनः पूछा—उसका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? उत्तरस्वरूप आचार्यवर्यने मोक्षका स्वरूप बतला कर कहा कि यद्यपि मोक्षका स्वरूप इस प्रकार है तथापि प्रवादीजन इसे अभ्यसा प्रकारसे मानते हैं। इतना ही नहीं किन्तु इसके मार्गके विषयमें भी वे विवाद करते हैं। कोई चारित्र-शून्य ज्ञानको मोक्षमार्ग मानते हैं, कोई श्रद्धानमात्रको मोक्षमार्ग मानते हैं और कोई ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रको

1. प्रवचनसारकी प्रस्तावना पृ० 22 के आधारसे। 2. इस कथाका आधार 13वीं शतीमें हुए बासवभद्र मुनि रचित तत्त्वार्थसूत्रकी कनड़ी टीका ज्ञात होती है। इसमें श्रावकका नाम सिद्धय्य दिया है। देखो पं० कैलाशचन्द्रजीके तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना पृ० 16।

मोक्षमार्ग मानते हैं। किन्तु जिस प्रकार ओषधिके केवल ज्ञान, दर्शन या प्रयोगसे रोगकी निवृत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार केवल दर्शन, केवल ज्ञान या केवल चारित्र्यसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। भग्यने पूछा तो फिर किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है ? इसीके उत्तरस्वरूप आचार्यवर्यने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र रचा और परिणामस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई है।

2. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें भी यही उत्थानिका दी है। श्रुतसागर सूरिने यह उत्थानिका सर्वार्थसिद्धिसे ही ली है। अन्तर केवल इतना है कि जिस भग्यने जाकर आचार्य गुह्यपिच्छसे प्रश्न किया है उसे सर्वार्थसिद्धिमें 'कश्चिद् भग्यः' कहा गया है और श्रुतसागर सूरि उसके नामका उल्लेख करते हैं। कह नहीं सकते उन्होंने उस भग्यका यह नाम किन स्रोतोंसे प्राप्त किया।

तत्त्वार्थसूत्रकी इन प्रसिद्ध टीकाओंके उल्लेखोंसे लोककथाके इस भागका तो समर्थन होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किसी भग्यके निमित्तसे हुई। किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि पहले उस भग्यने 'दर्शन-ज्ञानचारित्र्याणि' सूत्र रचा और बादमें उसमें सुधारकर भग्यकी प्रार्थना पर सूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। इसलिए इन उल्लेखोंसे कथाके सर्वांशका समर्थन न होने पर भी किसी अंशतक वह साधार है यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।

4. आचार्य पूज्यपाद

1. महत्ता—भारतीय परम्परामें जो सम्प्रतिष्ठित तत्त्वद्रष्टा शास्त्रकार हुए हैं उनमें आचार्य पूज्यपाद का नाम प्रमुखरूपसे लिया जाता है। इन्हें प्रतिभा और विद्वत्ता दोनोंका समान रूपसे वरदान प्राप्त था। जैन परम्परामें आचार्य समन्तभद्र और समन्तिके कर्ता आचार्य सिद्धसेनके बाद साहित्यिक जगत्में यदि किसी को उच्चपद पर बिठलाया जा सकता है तो वे आचार्य पूज्यपाद ही हो सकते हैं। इन्होंने अपने पीछे जो साहित्य छोड़ा है उसका प्रभाव दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें समानरूपसे दिखाई देता है। यही कारण है कि उत्तरकालवर्ती प्रायः अधिकतर साहित्यकारों व इतिहास मर्मज्ञोंने इनकी महत्ता, विद्वत्ता और बहुजता स्वीकार करते हुए इनके चरणोंमें श्रद्धाके सुमन अर्पित किये हैं। आदिपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन इन्हें कवियोंमें तीर्थंकर मानते हुए इनकी स्तुति में कहते हैं—

कवीनां तीर्थंकुहेवः कितरां तत्र वश्यते ।

विभुषां वाङ्मलव्यसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ 1, 52 ॥

जो कवियोंमें तीर्थंकरके समान थे और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानोंके वचनमलको ओनेवाला है उन देव अर्थात् देवनन्दि आचार्यकी स्तुति करनेमें भला कौन समर्थ है।

यह तो हम आगे चलकर बतसानेवाले हैं कि जिस प्रकार इन्होंने अपनी अनुपम कृतियों द्वारा मोक्ष-मार्गका प्रकाश किया है उसी प्रकार इन्होंने शब्दशास्त्र पर भी विश्वको अपनी रचनाएँ भेंट की हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि शरीरशास्त्र जैसे लोकोपयोगी विषयको भी इन्होंने अपनी प्रतिभाका विषय बनाया था। तभी तो ज्ञानार्णवके कर्ता आचार्य शुभचन्द्र इनके उक्त गुणोंका व्यापन करते हुए कहते हैं—

अपाकुर्बन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम् ।

कलशून्मज्झिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥ 1, 15 ॥

जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियोंके शरीर, वचन और चित्तके सभी प्रकारके भलको दूर करनेमें समर्थ है उन देवनन्दी आचार्यको मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य गुणनन्दिने इनके व्याकरण सूत्रोंका आश्रय लेकर जैनेन्द्र प्रक्रियाकी रचना की है। वे इसका मंगलाचरण करते हुए कहते हैं—

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यमुपक्रमम् ।

यदेवात्र तदव्ययं यन्मात्रास्ति न तत्त्वचित् ॥

जिन्होंने लक्षणशास्त्र की रचना की, मैं उन आचार्यों पूज्यपादको प्रणाम करता हूँ। उनके इस लक्षणशास्त्रकी महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि जो इसमें है वही अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है।

उनकी और उनके साहित्यकी यह स्तुति परम्परा यहीं समाप्त नहीं होती। धनञ्जय, वादिराज, भट्टारक सुभक्त और पद्मप्रभ आदि अनेक ऐसे आचार्य हुए हैं जो इस गुणगयाकी परम्पराको जीवित रखनेके लिए अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके पदचिह्नों पर चले हैं। अभिप्राय यह है कि आचार्य पूज्यपाद साहित्य-जगत्में कभी न अस्त होनेवाले वे प्रकाशमान सूर्य थे जिसके आलोकसे दशों दिशाएँ सदा आलोकित होती रहेंगी।

ये हैं वे तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तुत वृत्ति सर्वार्थसिद्धिके रचयिता आचार्य पूज्यपाद जिनका सर्वांग परिचय हमें यहाँ प्राप्त करना है। उसमें भी उनका पूरा नाम क्या है, वे किस संघके अधिपति थे। उनका जीवन परिचय क्या है, उनकी रचनाएँ कौन-कौन हैं और उनका वास्तव्य काश व गुरु-लिख्य परम्परा क्या है आदि विषय विचारणीय हैं जिनका यहाँ हम क्रमशः परिचय प्राप्त करनेका उपक्रम करेंगे। सर्वप्रथम नामको ही लीजिए—

2. नाम—शिलालेखों तथा दूसरे प्रमाणोंसे विदित होता है कि इनका गुरुके द्वारा दिया हुआ दीक्षानाम देवगन्धि था, बुद्धिकी प्रखरताके कारण इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि कहते थे और देवोंके द्वारा इनके चरण मुगल पूजे गये थे इसलिए वे पूज्यपाद इस नामसे भी लोकमें प्रख्यात थे। इस अर्थको व्यक्त करनेवाले उद्धरण ये हैं—

प्रागभ्यषायि गुरुणा किल देवगन्धी बुद्ध्या पुनर्बुधुतया स जिनेन्द्रबुद्धिः ।

ओपूज्यपाद इति खेप दुर्षः प्रवक्ष्ये सत्पूजिताः यदयमे वनदेवताभिः¹ ॥

श्रवणवेणोला शि० नं० 105, वि० सं० 1320 ।

उनके पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि इन नामोंकी सार्थकताको व्यक्त करनेवाले वहीं के नं० 108 के एक दूसरे शिलालेखको देखिए—

ओपूज्यपादोऽवतर्धमराज्यस्ततः

सुराधीश्वरपूज्यपादः ।

यदीयवैदुष्यगुणानिवानी वदन्ति शास्त्राणि तदुच्यते ॥

भूतविद्वद्बुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रुचर्कः ।

जिनवद् यभूय यवनङ्गचाणहूत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुर्वाणितः ॥

ये दोनों श्लोक वि० सं० 1355 के शिलालेखके हैं। इनमें कहा गया है कि आचार्य पूज्यपादने प्रम-राज्यका उद्धार किया था, इससे आपके चरण इन्द्रों द्वारा पूजे गये थे। इनके पूज्यपाद इस नामसे सम्बोधित किये जानेका यही कारण है। इनमें वैदुष्य आदि अनेक गुण थे जिनका स्थापन आज भी इनके द्वारा रचे गए शास्त्र कर रहे हैं। ये जिन देवके समान विष्वबुद्धिके धारक थे, कृतकृत्य थे और कामदेवकी जीतनेवाले थे, इसलिए योगी जन इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि इस नामसे सम्बोधित करते थे।

इन शिलालेखोंमें तत्त्वान्वय और भी ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे इनके तीन नामोंकी सार्थकता सिद्ध है ।

आदिपुराणों में उद्धरण हम पहले दे आये हैं। उनके तथा वादिराज सूरिके एक उल्लेखसे² विदित

1. श्रवणवेणोलाके एक नं० 1085 के शिलालेख (जो इससे पूर्ववर्ती है) से भी इस तथ्यका समर्थन होता है। 2. देवी श्रवणवेणोला के शिलालेख नं० 50 और नन्दिसंघ की पट्टावली। 3. पार्श्वनाथचरित सभा 1, श्लोक 18 ।

होता है कि इनका एक नाम 'देव' भी था। मालूम पड़ता है कि इनका दीक्षानाम 'देवनन्दि' होनेसे उसके संक्षिप्त रूप 'देव' इस पद द्वारा उक्त आचार्योंने इनका नामोल्लेख किया है। अतएव यह कोई स्वतन्त्र नाम न होकर 'देवनन्दि' इस नामका ही संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है।

3 संघ—संघोंकी उत्पत्तिका इतिहास इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दिया है। वे लिखते हैं कि जब सौ योजनके मुनि मिलकर अष्टांगनिमित्तज और धारण-प्रसारण आदि विशुद्ध क्रियाके पालनेवाले आचार्य अर्हद्बलि की देखरेखमें युगप्रतिक्रमण कर रहे थे उस समय युगके अन्तिम दिन युगप्रतिक्रमण करते हुए आचार्य अर्हद्बलिने आये हुए मुनिसमाजसे पूछा कि क्या सभी यतिजन आ गये हैं ? इसपर यतिजनोंने उत्तर दिया कि अपने-अपने सकल संघके साथ हम आ गये हैं। तब यतिजनोंके इस उत्तरको सुनकर उन्होंने जान लिया कि यह कलिकाल है। इसमें आगे यतिजन गणपक्षपातके भेदसे रहेंगे, उदास भावसे नहीं रहेंगे और ऐसा विचार कर उन्होंने जो मुफसे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'नन्दि' संज्ञा दी और किन्हींको 'वीर' संज्ञा दी। जो अशोकवाटिकासे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'अपराजित' संज्ञा दी और किन्हींको 'देव' संज्ञा दी। जो पंचस्तूपके निवासी वहाँ आये थे उनमेंसे किन्हींको 'सेन' संज्ञा दी और किन्हींको 'भद्र' संज्ञा दी। जो शात्मलो महाद्रुमसे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'गणधर' संज्ञा दी और किन्हींको 'गुप्त' संज्ञा दी और जो खण्डकेसर द्रुमके मूलसे आये थे उनमेंसे किन्हींको 'सिंह' संज्ञा दी और किन्हींको 'चन्द्र' संज्ञा दी।

इससे विदित होता है कि जो मूलसंघ पहले संघभेद व गण-गच्छके भेदसे रहित होकर एक रूपमें चला आ रहा था वह यहाँ आकर अनेक भागोंमें विभक्त हो गया। यह तो नाना संघोंकी उत्पत्तिकी कथा है। अब जिसे यहाँ पर नन्दिसंघ कहा गया है उसकी परम्पराकी देखिए—

शुभचन्द्राचार्य अपने पाण्डवपुराणमें अपनी गुर्वावलीका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।

तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्धः ॥ 2 ॥

इसमें कहा गया है कि नन्दिसंघ बलात्कार गण मूलसंघके अन्तर्गत है। उसमें पूर्वोक्त एकदेश ज्ञाता और मनुष्यों व देवोंसे पूजनीय माघनन्दी आचार्य हुए।

इतना कहनेके बाद इस गुर्वावलीमें माघनन्दीके बाद 4 जिनचन्द्र, 5 पद्मनन्दी (इतके मतसे पद्मनन्दीके चार अन्य नाम थे—कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गूढपृच्छ), 6 तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वाति, 7 लोहाचार्य, 8 यशकीर्ति, 9 दशोनन्दी और 10 देवनन्दीके नाम दिए हैं। ये सब नाम इसी क्रमसे नन्दिसंघकी पट्टावलीमें भी मिलते हैं। आगे इस गुर्वावलीमें 11 गुणनन्दीके बाद 12 वज्रनन्दीका नाम आता है। जब कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें 11 जयनन्दी और 12 गुणनन्दी इन दो नामोंके बाद 13 वज्रनन्दीका नाम आता है।

यद्यपि इससे आगेकी दोनोंकी आचार्य परम्परा करीब-करीब मिलती हुई है। परन्तु विशेष प्रयोजन न होनेसे उसे हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। प्रकृतमें इन आधारोंसे हमें इतना ही सूचित करना है कि आचार्य पूज्यपाद मूलसंघके अन्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कार गणके पट्टाधीश थे। तथा अन्य प्रमाणोंसे यह भी विदित होता है कि इनका गच्छ 'सरस्वती' इस नामसे प्रख्यात था। हमारे प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द और गूढपिच्छ (उमास्वाति) इसी परम्पराके पूर्ववर्ती आचार्य थे यह भी इससे विदित होता है।

4. जीवन-परिचय—आचार्य पूज्यपाद कौन थे, उनके माता-पिताका नाम क्या था, वे किस कुलमें

1. देखो जैनसिद्धान्तभास्कर भाग 1, किरण 4, पृ० 51। 2. देखो जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग 1, किरण 4, पृ० 43 में उद्धृत शुभचन्द्राचार्यकी पट्टावली।

जन्मे थे इन सब बातोंका परिचय श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण' लेखमें दिया है। उन्होंने यह परिचय कन्नड़ी भाषामें लिखे गये 'पूज्यपादचरिते' के आधारसे लिखा है। इसके लेखक 'चन्द्रमय' कवि थे। श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारके लेखसे यह भी विदित होता है कि उनका यह जीवनचरित 'राजावलिकये' में भी दिया हुआ है। किन्तु इन दोनोंमें कहीं तक सत्य और वैषम्य है यह इससे विदित नहीं होता। प्रेमीजीके शब्दोंमें कथा संक्षेपमें इस प्रकार है—

'कर्नाटक देशके 'कोले' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया। इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रखा गया। माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टनीके सलेका नाम 'पाणिनि' था। उसे भी उन्होंने जैन बननेकी कहा। परन्तु प्रतिष्ठाके ख्यालसे वह जैन न होकर मुडीकुंड ग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहन हुई, वह गुणभट्टकी व्याही गयी और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेंढकको देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरणकाल निकट आया, जानकर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्घानिवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूटकार किया। इस पर पूज्यपादने कहा—विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूंगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अहंत्प्रतिष्ठाश्लेषण और वैद्यक ज्योतिषके कई ग्रन्थ रच चुके थे।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी। उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्धिरसकी वनस्पति बतला दी।

इस सिद्धिरससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई बड़े सिद्धरस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा तब धरणेन्द्र पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेकी कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दीने अपने साथियोंसे जगड़ा करके द्रविड़ संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आयीं जो गान-नाचनेमें कुशल थीं। नागार्जुन उन पर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चली गयीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक यागभ्यस करते रहे। फिर एक देवविमानमें बैठ कर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। यागमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गयी थी, तो उन्होंने एक आन्त्यष्टक बनाकर ज्यों की त्यों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।

श्री मोतीचन्द्र शैलमचन्द्र कोठारी फ्लटनवालोंने सर्वार्थसिद्धिके एक अन्यतम संस्करणका सम्पादन किया है जो मालापुरसे प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने कुछ युक्तियाँ देकर इस कथाके व्याकरण सम्बन्धी

1. देखो जैन साहित्य और इतिहास, पृ० 123।
2. देखो रत्नकरणिककी भूमिका।

अंशकी यथावत् सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु जैसा कि अन्य तथ्योंसे सिद्ध है कि पाणिनि-व्याकरणके कर्ता पाणिनि ऋषि पूज्यपादसे बहुत पहले हो गये हैं। इतना ही नहीं पाणिनि व्याकरण पर जो कात्यायनका वार्तिक और पतंजलिका महाभाष्य प्रसिद्ध है वह भी पूज्यपादके कई शताब्दियों पहले लिखा जा चुका था। अतएव केवल इस कथाके आधार पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनिके समयमें हुए हैं और उन्होंने उनके अधूरे व्याकरणको पूरा किया था। कथा में और भी ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है जिन्हें अतिशयोक्तिपूर्ण कहा जा सकता है। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनि व्याकरण, उसके वार्तिक और महाभाष्यके मर्मज्ञ थे। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि ये ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए होंगे और अपने जीवनकालके प्रारम्भमें वे अन्य धर्मके माननेवाले रहे होंगे। अतः इस कथामें जो उनके पिता, माता व कुल आदिका परिचय दिया है वह कदाचित् ठीक भी हो। जो कुछ भी हो, तत्काल इस कथाके आधारसे हम इतना कह सकते हैं कि पूज्यपाद ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए थे। उनके पिताका नाम माधवभट्ट और माताका नाम श्रीदेवी था। वे 'कोले' नामक ग्रामके रहनेवाले थे और उनका जन्म नाम पूज्यपाद था। उन्होंने विवाह न कर वचनमें ही जैनधर्म स्वीकार कर लिया था और आगे चलकर उन्होंने साँपके मुँहमें मेंढक तड़पता हुआ देख मुनिदीक्षा ले ली थी। उन्होंने अपने जीवन कालमें गगनगामी लेपके प्रभावसे कई बार विदेहक्षेत्रकी यात्रा की थी। श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखके आधारसे यह भी कहा जा सकता है कि जिस जलसे उनके चरण धोये जाते थे उसके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता था। उनके चरणस्पर्शसे पवित्र हुई धूलिमें पत्थरकी सोना बनानेकी क्षमता थी इस बातका उल्लेख तो कथा लेखकने भी किया है। एक बार तीर्थयात्रा करते समय उनकी दृष्टि तिमिराच्छन्न हो गयी थी। जिसे उन्होंने शान्त्यष्टक-का निर्माण कर दूर किया था। किन्तु इस घटनाका उनके ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा जिससे उन्होंने तीर्थयात्रासे लौटकर समाधि ले ली थी।

स्वरचित साहित्य—आचार्य पूज्यपादने अपने जीवन-कालमें सर्वार्थसिद्धि सहित जिस साहित्यका निर्माण किया था उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **सर्वार्थसिद्धि**—इसका विस्तृत परिचय हम पहले दे आये हैं।¹

2. **समाधितन्त्र**—इसमें कुल मिलाकर 105 श्लोक हैं। विषय अध्यात्म है। ग्रन्थका नाम समाधितन्त्र है। इसकी सूचना स्वयं आचार्य पूज्यपादने इसके अन्तिम श्लोकमें दी है। एक तो श्रवणबेलगोलके शक सं० 1085 के शिलालेख 40 में इसका नाम समाधिशतक दिया है। दूसरे बनारससे मुद्रित होनेवाले प्रथम गुच्छक-में भी टिप्पण सहित यह छपा है और उसके अन्तमें एक प्रशस्ति श्लोक उद्धृत है जिसमें श्लेष रूपसे इसका नाम समाधिशतक सूचित किया गया है। मालूम पड़ता है कि इन्हीं कारणोंसे इसका दूसरा नाम समाधिशतक प्रसिद्ध हुआ है।

यद्यपि यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपादकी स्वतन्त्र कृति है पर अन्तःपरीक्षणसे विदित होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा निमित्त आगमको आत्मसात् कर उन्होंने इसकी रचना की है। उदाहरणस्वरूप नियमसारमें यह गद्या आती है—

प्रियभावं न वि मुच्ये परभावं येव गिण्हए केइं ।

आणवि पस्सवि सम्भं सोहं इवि वितए णाणी ॥ 97 ॥

अब इसकी तुलना समाधितन्त्रके इस श्लोकसे कीजिए—

यवघ्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।

आमाति सर्वथा सर्वं, तस्वसंवेद्यमस्यहम् ॥ 30 ॥

1. 'श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिभीषद्धिः ङीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः । यत्पादघ्नोतजलसंस्पर्शप्रभावा-
त्कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥' शिलालेख 108 (शक सं० 1355) । 2. देखी प्रस्तावना पृ० 23 ।

यदि सूक्ष्मतासे अवलोकन कर देखा जाय तो मालूम पड़ता है कि प्रारम्भ ही इसका मोक्षप्राप्तको सामने रख कर हुआ है और लगभग मोक्षप्राप्तको समय विषयको स्वीकार कर इसकी रचना की गयी है। मोक्षप्राप्तकी प्रथम गाथा यह है—

गाणमयं अप्पाणं उवलङ्गं जेण भड्डियकम्भेण ।

खड्गण य परवत्थं गमो गमो तस्स वेवस्स ॥ 1 ॥

अब इसके प्रकाशमें समाधितन्त्रका प्रथम मंगलश्लोक देखिए—

येनात्माऽबुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।

अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ 1 ॥

अब मोक्षप्राप्तकी एक दूसरी गाथा लीजिए—

अं मया विस्सवे रूपं तं ण जाणवि सम्बहा ।

जाणगो विस्सवे ण तं सम्हा जंपेमि केण हं ॥

इसी विषयको समाधितन्त्र में ठीक इन्हीं शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—

यन्मया बुद्ध्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।

आनन्न बुद्ध्यते रूपं ततः केन बोध्यम् ॥ 18 ॥

इतना ही नहीं समाधितन्त्र लिखते समय आचार्य पूज्यपादके सामने आचार्य कुन्दकुन्दका समयप्राप्त व अन्य श्रुत भी उपस्थित था यह इसके अवलोकनसे स्पष्टतः विदित होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने अभ्यन्तर परिणामोंके बिना केवल बाह्यलिङ्ग मोक्षमार्गमें उपयोगी नहीं है यह बतलाते हुए समयप्राप्तमें कहा है—

पासंजील्लिगाणि व गिहल्लिगाणि व बहुप्पयाराणि ।

चित्तुं ववन्ति मूढा लिगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥ 408 ॥

ण उ होवि मोक्खमग्गो लिगं अं वेहणम्ममा अरिहा ।

लिगं मुहत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥ 409 ॥

इसी तथ्यको आचार्य पूज्यपादने समाधितन्त्रमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

लिङ्गं वेहाभितं दुष्टं वेह एव आत्मनो भवः ।

न मुख्यते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥

जातिर्वेहाभिता दुष्टा वेह एवात्मनो भवाः ।

न मुख्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥

इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि जो साधक अपने आत्मकार्यमें उद्यत होना चाहते हैं उनके लिए यह मोक्षमार्गके अनुसन्धानमें प्रदीपस्तम्भके समान है। इसमें आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद करके किस प्रकार यह जीव बहिरात्मपदके त्याग द्वारा अन्तरात्मा बनकर परमात्मपदको प्राप्त करता है इसका सरल और हृदयप्राही कवितामें विवेचन किया गया है।

3 इष्टोपदेश— इसमें कुल मिलाकर 51 श्लोक हैं। विषय स्वरूपसम्बोधन है। ग्रन्थका नाम 'इष्टोपदेश' है यह स्वयं आचार्य पूज्यपादने इसके अन्तिम श्लोकमें व्यक्त किया है।

इसका निर्माण करते हुए आचार्य पूज्यपादके सामने एकमात्र यही दृष्टि रही है कि किसी प्रकार यह संसारी आत्मा अपने स्वरूपको पहचाने और देह, इन्द्रिय तथा उनके कार्योंको अपना कार्य न मानकर आत्मकार्यमें सावधान होनेका प्रयत्न करे। समयप्राप्तका स्वाध्याय करते समय हमें इस भावके पद-पद पर दर्शन होते हैं और इसलिए हम कह सकते हैं कि समयप्राप्त आदिके विषयको आत्मसात् करके ही इसका निर्माण किया गया है। तुलनाके लिए देखिए—

एषो मे सासतो आवा पाण्डसणलदखणो ।
 सेसा मे बाहिरा भावा सन्वे संजोगलखणार ॥ —समयप्राभूत
 एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
 बाह्याः संयोगजाः भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ 27 ॥ —इष्टोपदेश
 रतो वंशति कर्म मंचदि कर्म विरागसंपत्तो ।
 एतो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ —समयप्राभूत
 बध्यते मुच्यते जीवः समभो निर्ममः कमात् ।
 तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ 26 ॥ —इष्टोपदेश

रत्नकरण्डकमें एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि धर्मके प्रभावसे कूकर भी देव हो जाता है और अधर्मके प्रभावसे देवकी भी कूकर होते देर नहीं लगती । यथा—

इवापि देवोऽपि देवः इवा जायते धर्मकिल्बिषात् ।

कापि नाम भवेदध्या संपद् वर्माच्छरीरिणाम् ॥ 1, 29 ॥

इष्टोपदेशमें यही शब्द तो नहीं हैं पर इनका अनुसरण करते हुए आचार्यवर्य कहते हैं—

वरं व्रतैः पवं ईवं वाव्रतैर्वत नारकम् ।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ 3 ॥

साधकके लिए आत्मसाधनामें इससे बड़ी सहायता मिलती है ।

4. वंशवृक्ष—भक्तियाँ दशसे अधिक हैं । फिर भी वे मुख्यरूपसे दस मानी जाती हैं । श्रीमान् पं० पन्नालालजी सोनीने सम्पादित कर 'क्रियाकलाप' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया है । यह संग्रह ग्रन्थ है । इसके प्रथम अध्यायके कुछ प्रकरणोंका संग्रह स्वयं पण्डितजीने किया है ।¹ शेष संग्रह माखूम होता है प्राचीन है । सम्भव है इसके संग्रहकार पण्डित प्रभावचन्द्र हों । इन्होंने ही इसके अनेक उपयोगी विषयों पर टीका लिखी है । ये पण्डित थे और इनका नाम प्रभावचन्द्र था—इसकी सूचना नन्दीश्वर-भक्तिके अन्तमें प्रकरण समाप्तिकी पुष्पिका लिखते समय स्वयं इन्होंने दी है ।² इसमें सब भक्तियों व दूसरे प्रकरणोंका संग्रह स्वयं इनका किया हुआ है या क्रियाकलापकी जो वर्तमान स्वरूप मिला है वह बादका काम है यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते,³ क्योंकि एक तो न स्वयं सोनीजीने इसकी व्यवस्थित सूचना दी । सोनीजी यदि इसकी प्रस्तावनामें यह बतलानेकी कृपा करते कि उन्होंने जितनी प्रतियोंके आधारसे इसका सम्पादन किया है, वे कहाँकी हैं और उनका लेखन-काल क्या है तो इस बातके निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिलती कि यह संग्रह कितना पुराना है । दूसरे इसमें ऐसे कई उपयोगी विषयोंका संग्रह है किन्तु उन पर पण्डित प्रभावचन्द्रकी टीका न होनेसे वे उनके सामने ये इस बातकी स्वीकार करनेमें संकोच होता है । उदाहरणार्थ प्राकृतनिर्वाणभक्ति जो लोकमें निर्वाणकाण्डके नामसे प्रसिद्ध है, इसमें संगृहीत है पर इस पर उनकी टीका नहीं है । जब कि वह दूसरी भक्तियोंके मध्यमें स्थित है । सोनीजीने मुद्रित क्रियाकलापके सम्बन्धमें अपनी भूमिकामें स्थिति स्पष्ट तो की है पर उससे पूरा प्रकाण नहीं पड़ता ।

इसमें जितनी भक्तियाँ संगृहीत हैं उनमेंसे प्रथम परिच्छेदमें सिद्धिभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति ये सात भक्तियाँ संगृहीत हैं । इनमेंसे नन्दीश्वर-

1. देखो क्रियाकलाप प्रस्तावना पृ० 2 । 2. 'इति पण्डितप्रभावचन्द्रविरचितायां क्रियाकलापटीकायां भक्तिविवरणः प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ।' 3. इतना अवश्य है कि इसके 'दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमण' नामक प्रकरणके अन्तमें एक लेख उपलब्ध होता है जिसमें 1724 सं० अंकित है । अतएव इससे पूर्वका यह संग्रह है यह कहा जा सकता है । देखो क्रियाकलाप, प्रस्तावना पृ० 69 ।

भक्ति केवल संस्कृतमें है, शेष सब भक्तियाँ संस्कृत और प्राकृत दोनोंमें हैं। मात्र प्राकृत निर्वाणभक्तिकी संस्कृत टीका नहीं है। इसके आगे दूसरे प्रकरणमें और भी अनेक भक्तियाँ संगृहीत हैं और इन पर भी पण्डित प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका है। इतना अवश्य है कि उनमें जो लघु भक्तियाँ हैं उनपर टीका नहीं है।

इन भक्तियोंके सम्बन्धमें पण्डित प्रभाचन्द्र प्राकृत सिद्धिभक्तिके अन्तमें सूचना करते हैं कि सब संस्कृत भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकी बनायी हुई हैं और प्राकृत भक्तियाँ आचार्य कुन्दकुन्दा बनायी हुई हैं। यथा—

‘संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः ।’ क्रियाकलाप पृष्ठ 167 ।

ये सब भक्तियाँ एक आचार्यकी कृति हैं या अनेककी यह तो निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जिन पण्डित प्रभाचन्द्रने इनकी टीका लिखी है वे सम्भवतः पण्डितप्रवर आशाधरके बाद¹ और वि० सं० 1724 के पहले² कभी हुए हैं, अतएव इस आधारसे इतना ही कहा जा सकता है कि ये वि० सं० 14वीं शताब्दीके पूर्व कभी लिखी गयी हैं। किन्तु इस कथनसे यह निश्चय नहीं होता कि पण्डित प्रभाचन्द्र इनमेंसे किन संस्कृत और प्राकृत भक्तियोंको क्रमसे पादपूज्य स्वामी और कुन्दकुन्द आचार्यकी मानते रहे। उनके मतसे ये पादपूज्य स्वामी कौन थे यह भी ज्ञात नहीं होता।

पं० पन्नालालजी सोनीने क्रियाकलापकी प्रस्तावनामें लिखा है कि ‘सिद्धभक्ति, श्रुतिभक्ति, चारित्र-भक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति ये सात संस्कृत भक्तियाँ पादपूज्य स्वामी कृत हैं और प्राकृत सिद्धभक्ति, प्राकृत श्रुतभक्ति, प्राकृत चारित्रभक्ति, प्राकृत योगिभक्ति और प्राकृत आचार्य-भक्ति ये पाँच भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत हैं।’ किन्तु उन्होंने ऐसा माननेका जो कारण उपस्थित किया है वह समुचित नहीं कहा जा सकता। पण्डित प्रभाचन्द्रने तो केवल इतना ही कहा है कि सब संस्कृत भक्तियाँ पादपूज्य स्वामी कृत हैं और सब प्राकृत भक्तियाँ कुन्दकुन्द आचार्य कृत हैं और यह भी उन्होंने प्राकृत सिद्ध-भक्तिकी व्याख्या करते हुए उसके अन्तमें कहा है। परन्तु क्रियाकलापमें जिस क्रमसे इन भक्तियोंका संग्रह है उसे देखते हुए प्राकृत सिद्धभक्तिका क्रमांक दूसरा है। सम्भव है कि सोनीजीने नन्दीश्वरभक्ति पर परिच्छेद-की समाप्ति देखकर यह अनुमान किया हो। जो कुछ भी हो, पण्डित प्रभाचन्द्रके कालमें ये भक्तियाँ पादपूज्य स्वामीकृत और कुन्दकुन्दाचार्यकृत मानी जाती थीं इतना स्पष्ट है। विद्वानोंका अनुमान है कि ये पादपूज्य स्वामी आचार्य पूज्यपाद ही होने चाहिए, क्योंकि एक तो इस नामके अन्य कोई आचार्य नहीं हुए हैं। दूसरे इन भक्तियोंका अप्रतिहत प्रवाह और गम्भीर शैली इस बातको सूचित करती है।³

इन सब भक्तियोंमें उनके नामानुसार विषयका विवेचन किया गया है। मुनिजन तथा ब्रती गृहस्थ दैवसिक आदि प्रतिक्रमणके समय निश्चित क्रमसे इनका प्रयोग करते आ रहे हैं जो आंशिकरूपसे वर्तमान कालमें भी चालू है।

5. जैनेन्द्र व्याकरण—आचार्य पूज्यपादकी अन्यतम मौलिक कृति उनका जैनेन्द्र व्याकरण है। इसका जैनेन्द्र यह नाम क्यों पड़ा? क्या स्वयं आचार्य पूज्यपादकी यह नाम इष्ट था इसका निर्णय करना तो कठिन है। परन्तु प्राचीन कालसे यह इसी नामसे सम्बोधित होता आ रहा है यह मुग्धबोधके कर्ता पं० बोपदेवके इस उल्लेखसे स्पष्ट है—

‘इन्द्रचन्द्रः काशकुस्त्यापिशलोशाकटायनाः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाबिकाः ॥’ —बाहुपाठ

यह पाँच अध्यायोंमें विभक्त है और सूत्र संख्या लगभग 3000 है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता संज्ञा-

1. पण्डित प्रभाचन्द्रने अनगारधर्मभूतके दो श्लोक अपनी टीकामें उद्धृत किये हैं। देखो क्रिया-कलाप प्रस्तावना पृ० 10। 2. देखो टिप्पणी 3 पृ० 88। 3. देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ० 121।

लाघव है। पाणिनीय व्याकरणमें जिन संज्ञाओंके लिए कई अक्षरोंके संकेत कल्पित किये गये हैं उनके लिए इसमें लाघवसे काम लिया गया है। तुलनाके लिए देखिए—

पाणिनीय व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत	प्र, दी, प
सवर्ण	स्व
अनुनासिक	ङ
गुण	एप्
वृद्धि	ऐप्
निष्ठा	त
प्रातिपदिक	मृत्
लोप	ख

संज्ञालाघव और रचना विशेषके कारण इसमें सूत्रलाघवके भी दर्शन पद-पद पर होते हैं। यथा—

पाणिनीय व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
झरो झरि सवर्ण	झरो झरि स्वे
ह्रलो यमां यमि लोपः	ह्रलो यमां यमि खम्
तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्	सस्थानक्रियं स्वम्
ऊकालोऽञ्जस्वदीर्घप्लुतः	आकालोऽञ् प्रदीपः

इसका प्रथम सूत्र है 'सिद्धिरनेकान्तात्।' इसकी व्याख्या करते हुए सोमदेवसूरिने शब्दार्णवचन्द्रिका में जो कुछ कहा है उसका भाव यह है—'शब्दोंकी सिद्धि और जप्ति अनेकान्तका आश्रय लेनेसे होती है, क्योंकि शब्द अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व और विशेषण-विशेष्यधर्मकी लिये हुए होते हैं। इस सूत्रका अधिकार इस शास्त्रकी परिसमाप्ति तक जानना चाहिए। यदि अनेकान्तका अधिकार अन्ततक न माना जाय तो कौन आदि है और कौन अन्त है, किस अपेक्षासे साधर्म्य है और किस अपेक्षासे वैधर्म्य है यह सब कुछ न बने।

वैयाकरणोंका स्फोटवाद प्रसिद्ध है। वे शब्दको नित्य मानकर तालु आदिके संयोगसे मात्र उसका स्फोट मानते हैं, उसकी उत्पत्ति नहीं, जब कि स्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि अकार आदि वर्ण और घट, पट आदि शब्द कुछ आकाशमें भरे हुए नहीं हैं और न वे आकाशके गुण ही हैं। वे तो तालु आदिके निमित्तसे शब्द वर्णोंके विविध संयोगरूप उत्पन्न होते हैं और कालान्तरमें विघटित हो जाते हैं। अतः वैयाकरणोंके मन्तव्यानुसार वे सर्वथा नित्य नहीं माने जा सकते। पुद्गल द्रव्यकी अपेक्षा जहाँ वे नित्य सिद्ध होते हैं वहाँ वे पर्यायकी अपेक्षा अनित्य भी सिद्ध होते हैं। स्पष्ट है कि इस भावको व्यक्त करनेके लिए आचार्य पूज्यपादने 'सिद्धिरनेकान्तात्' यह प्रथम सूत्र लिखा है। व्याकरणमें शब्दोंकी जिस प्रकार सिद्धि की गयी है या जो संज्ञाएँ व प्रत्यय आदि कल्पित किये गये हैं वे सर्वथा वैसे ही नहीं हैं किन्तु भाषाकी स्थितिको स्पष्ट करने के लिए माना गया वह एक प्रकार है और यही कारण है कि अनेक वैयाकरणोंने रूपसिद्धिके लिए अलग-अलग संज्ञाएँ व प्रक्रिया स्वीकार की है। ऐसी स्थितिके होते हुए भी अनेक विद्वानोंमें अमुक प्रत्यय और अमुक प्रकारसे रूप-सिद्धिके प्रति आग्रह देखा जाता है। सम्भव है इस ऐकान्तिक आग्रहका निषेध करनेके लिए भी आचार्य पूज्यपादने 'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्रकी रचना की हो।

आचार्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें भूतबलि, श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, समन्तभद्र और सिद्धसेन इन छह आचार्योंके मतोंका उल्लेख किया है। अभी तककी जानकारीके आधार पर यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि इनका कोई व्याकरण नहीं है। साथ ही इन आचार्योंके जिन वैकल्पित मतोंका उल्लेख

करके रूपसिद्धि की गयी है वे मत भी कोई नये नहीं हैं। क्योंकि, जैसा कि हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं पाणिनि-व्याकरणमें भी विकल्पसे उनकी सिद्धि दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रश्न होता है कि जब कि आचार्य पूज्यपादके सामने पाणिनि व्याकरण था और उसमें वे प्रयोग उपलब्ध होते थे ऐसी अवस्थामें उन्होंने अलगसे इन आचार्योंके मतके रूपमें इनका उल्लेख क्यों किया। प्रश्न गम्भीर है और सम्भव है कि कालान्तर में इससे कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़े। तत्काल हमारी समझमें इसका यह कारण प्रतीत होता है कि जिस प्रकार पाणिनि ऋषिने अपने व्याकरणमें उनके काल तक रचे गये साहित्यमें उपलब्ध होनेवाले मतों का उनके रचयिताके नामके साथ या 'अन्यतर' आदि पद द्वारा उल्लेख किया है उसी प्रकार आचार्य पूज्य-पादने अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें उनके काल तक रचे गये जैन साहित्यमें उपलब्ध होनेवाले मतोंका उनके रचयिताके नामके साथ उल्लेख किया है। मतोंका विवरण इस प्रकार है—

भूतबलि—आचार्य भूतबलिके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—'राधभूतबलेः' । 3, 4, 83 । भूतबलिके मतानुसार सप्ता शब्दान्त द्विभु समासे 'ख' प्रत्यय होता है यह इस सूत्रका आशय है। इससे 'द्वैसप्तिकः' प्रयोगके स्थानमें 'द्वैसप्तमीनः' प्रयोग विकल्पसे सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार 'राध्यहः संघसरान्' । 3, 4, 84 । और 'वर्षादुप च' । 3, 4, 85 । ये दो अन्य सूत्र हैं जो भूतबलि आचार्यके वैकल्पिक मतका प्रतिपादन करते हैं। इनमें से प्रथम सूत्र द्वारा 'द्विरात्रीणः, द्व्यहीनः और द्विसंवत्सरीणः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं तथा दूसरे सूत्र द्वारा 'द्विवर्षः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। जैनेन्द्रव्याकरणमें ये वैकल्पिक कार्य भूतबलि आचार्यके मतसे माने गये हैं।

इन वैकल्पिक कार्योंका निर्देश पाणिनिने भी किया है किन्तु वहाँ किस आचार्यके मतसे ये कार्य होते हैं यह नहीं बतलाया है। इन तीन सूत्रोंके स्थानमें कमसे पाणिनिके 'द्विगोर्वा 5, 1, 86,' 'राध्यहः संघसरान् 5, 1, 87,' और 'वर्षादुप च 5, 1, 88 ।' ये तीन सूत्र आते हैं।

श्रीदत्त—आचार्य श्रीदत्तके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है 'भुजे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् । 1, 4, 34 ।' श्रीदत्त आचार्यके मतसे गुणहेतुक पञ्चमी विभक्ति होती है। परन्तु यह कार्य स्त्रीलिंगमें नहीं होता। यह इस सूत्रका भाव है। इसके अनुसार 'ज्ञानेन मुषतः' के स्थानमें श्रीदत्त आचार्यके मतसे 'ज्ञानाभ्युषतः' प्रयोग सिद्ध किया गया है। इसके स्थानमें पाणिनि व्याकरणमें 'विभाषा मुषेऽस्त्रियाम् । 2, 3, 25 ।' सूत्र उपलब्ध होता है।

यशोभद्र—आचार्य यशोभद्रके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है 'कृवृषिभृजां यशोभद्रस्य । 2, 1, 99 ।' 'कृ, वृष् और मृज्' धातुसे यशोभद्र आचार्यके मतानुसार 'कयप्' प्रत्यय होता है। तदनुसार 'कृयम्, वृष्यम् और मृज्यम्' ये वैकल्पिक प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसके स्थानमें पाणिनि व्याकरणमें 'मृजेविभाषा । 3, 1, 113 ।' तथा 'विभाषा कृवृषोः 3, 1, 120 ।' ये दो सूत्र उपलब्ध होते हैं।

प्रभाचन्द्र—आचार्य प्रभाचन्द्रके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है 'रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य । 4, 3, 180 ।' रात्रि पद उपपद रहते हुए कृदन्त पर रहते प्रभाचन्द्रके मतसे 'मुम्' का आगम होता है। तदनुसार 'रात्रिचरः' वैकल्पिक प्रयोग सिद्ध होता है। इसके स्थानमें पाणिनि व्याकरणका सूत्र है 'रात्रेः कृति विभाषा । 6, 3, 72 ।'

समन्तभद्र—आचार्य समन्तभद्रके चार मतोंका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—'समुष्टयं समन्तभद्रस्य । 5, 4, 140 ।' पिछले चार सूत्र आचार्य समन्तभद्रके मतसे कहे गये हैं यह इस सूत्रमें बतलाया गया है। वे चार हैं—'ऋयो हः । 5, 4, 136 । शस्त्रोऽटि । 5, 4, 137 । हलो यमां यामि लप् । 5, 4, 138 । तथा 'ऋरो ऋरि स्वे । 5, 4, 139 ।' इनके स्थानमें क्रमशः पाणिनिके सूत्र हैं—'ऋयो होऽन्यतरस्याम् । 8, 4, 62 । ऋवोऽटि । 8, 4, 63 । हलो यमां यामि लोपः । 8, 4, 64 । तथा 'ऋरो ऋरि सवर्णौ । 8, 4, 65 ।'

प्रथम सूत्रके अनुसार पदान्त झ्य् से पर रहते हुए 'ह्' को पूर्वसवर्ण होता है। यथा—'सुधाग्नसति।' द्वितीय सूत्रके अनुसार पदान्त झ्य् से पर रहते हुए 'श' के स्थानमें 'छ' होता है। यथा—'षट्छयासाः।' तृतीय सूत्रके अनुसार हल् से पर यम्का यम् पर रहते लोप होता है। यथा—'ज्ञय्या' इस शब्दमें दो यकार हैं और इनके संयोगसे एक तीसरा यकार और प्राप्त हुआ। किन्तु इस सूत्रके नियमानुसार बीचके एक यकारका लोप होकर 'शय्या' यह प्रयोग ही शेष रहता है। चतुर्थ सूत्रके अनुसार हल्से पर झर्का सवर्ण झर् पर रहते हुए लोप होता है। यथा—'भित्ताम्' यहाँ एक तीसरे तकारका लोप हो गया है। इस प्रकार ये चार वैकल्पिक कार्य आचार्य समन्तभद्रके मतसे होते हैं। जब कि पाणिनि व्याकरणमें ये कार्य अन्यतरके मतसे माने गये हैं।

सिद्धसेन—आचार्य सिद्धसेनके मतका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र है—'वेत्तेः सिद्धसेनस्य । 5, 1, 7 । विद् धातुसे पर झ् प्रत्ययके स्थानमें आदेशभूत 'अत्' को सिद्धसेनके मतानुसार 'रुट्' का आगम होता है यह इस सूत्रका भाव है। यथा—'संविद्वते।' संविद्वते प्रयोगमें दकारके वाद और अकारके पूर्व 'रुट्' का आगम होकर यह वैकल्पिक प्रयोग बना है। इस सूत्रके स्थानमें पाणिनि व्याकरणका 'वेत्तेर्विभावा । 7, 1, 7 ।' सूत्र उपलब्ध होता है।

इस व्याकरणका सोमदेवसूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिकामें एक परिवर्तित रूप उपलब्ध होता है। किन्तु वह उसका बादका परिष्कृत रूप है ऐसा अनेक प्रमाणोंके आधारसे प्रेमीजीने सिद्ध किया है। इसका असली पाठ तो वही है जो आचार्य अभयदेव कृत महावृत्तिमें उपलब्ध होता है। इस व्याकरणकी कुछ विशेषताओंका हमने उल्लेख किया ही है। और भी कई विशेषताएँ हैं जिनके कारण इसका अपना स्वतन्त्र स्थान है।

उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि आचार्य पूज्यपादने उक्त पाँच ग्रन्थोंके सिवा कई विषयों पर अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे थे। विवरण इस प्रकार है—

6-7. जैनेन्द्र और शब्दावतार न्यास—शिमोगा जिले के नगर तहसीलके 46वें शिलालेखमें इस बातका उल्लेख है कि आचार्य पूज्यपादने एक तो अपने व्याकरण पर 'जैनेन्द्र' नामक न्यास लिखा था और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक न्यास लिखा था। यथा—

'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो ।

न्यासं शब्दावतारं सनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।

यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचविहतां भात्यसौ पूज्यपाद-

स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचःपूर्णदुःखोषवृत्तः ॥'

ये दोनों अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसके लिए प्राचीन शास्त्रभाण्डारोंमें विशेष अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

8. शान्त्यष्टक—हम पहले आचार्य पूज्यपादकी कथा दे आये हैं। उसके लेखकने इनके बनाये हुए एक 'शान्त्यष्टक' का उल्लेख किया है। एक शान्त्यष्टक क्रियाकलापमें भी संगृहीत है। इस पर पं० प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका है। शान्त्यष्टकके प्रारम्भमें पं० प्रभाचन्द्रजीने जो उत्थानिका दी है उसमें कथालेखक चन्द्रय्य कविके मतका समर्थन करते हुए कहते हैं कि श्री पादपूज्य स्वामीको बहुतिमिरव्याधि हो गयी थी जिसे दूर करनेके लिए वे स्तुति करते हुए कहते हैं, 'न स्नेहात्'। इसके अन्तमें जो श्लोक आता है उसमें 'दृष्टिं प्रसन्नां कुत' इत्यादि पदद्वारा भी यही भाव व्यक्त होता है। इससे विदित होता है कि सम्भव है जीवन के अन्तमें पूज्यपाद आचार्यकी दृष्टि तिमिराच्छन्न हो गयी हो और उसे दूर करनेके लिए उन्होंने ही शान्त्यष्टक

1. इस ग्रन्थकी टीका-टिप्पणी व परिवर्धन आदिका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रेमीजी द्वारा लिखित 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ देखिए।

लिखा हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो शान्त्यष्टक उनकी वह कृति मानी जा सकती है जो सम्भवतः सब कृतियोंके अन्तमें लिखी गयी होगी।

9. सारसंग्रह—आचार्य पूज्यपादने एक 'सारसंग्रह' नामक ग्रन्थका भी निमण किया था ऐसा धवलाके एक उल्लेखसे ज्ञात होता है। यथा—

'सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादेः-अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवयवप्रयोगो नय इति ।'

सर्वार्थसिद्धिमें आचार्य पूज्यपादने जो नयका लक्षण दिया है उससे इस लक्षणमें बहुत कुछ साम्य है, इसलिए यह माननेका पर्याप्त कारण है कि यह ग्रन्थ आचार्य पूज्यपादकी ही कृति होनी चाहिए।

10. चिकित्साशास्त्र—इस बातकी सिद्ध करनेवाले भी कई प्रमाण मिलते हैं कि आचार्य पूज्यपादने वैद्यक विषय पर भी कोई अनुपम ग्रन्थ लिखा था। यथा—

1. आचार्य शुभचन्द्र द्वारा रचित ज्ञानार्णवके एक श्लोकका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। उसमें उनके वचनों की वचनमल और चित्तमलके समान कायमलको दूर करनेवाला कहा गया है।

2. आचार्य उद्यादित्यने अपने कल्याणकारक नामक ग्रन्थमें आचार्य पूज्यपादके वैद्यक विषयक ग्रन्थका उल्लेख 'पूज्यपादेन भाषितः, शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकम्' इत्यादि शब्दसन्दर्भ द्वारा किया है।

3. हम पहले शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके 46 नं० के एक शिलालेखका उल्लेख कर आये हैं उसमें भी उन्हें मनुष्य समाजका हित करनेवाला वैद्यक शास्त्रका रचयिता कहा गया है।

4. विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीके विद्वान् मंगराजने अपने कनडी भाषामें लिखे गये खगेन्द्रमणिदर्पणमें भी आचार्यपूज्यपादके एक चिकित्साग्रन्थका उल्लेख किया है।

इन सब प्रमाणोंसे विदित होता है कि सम्भवतः आचार्यपूज्यपादने चिकित्सा सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा था।

11. जैनाभिषेक—श्रवणबेलगोलके शक सं० 1085 के शिलालेख नं० 40 से यह भी विदित होता है कि इन्होंने एक जैन अभिषेक गाथा की भी रचना की थी। उद्धरण इस प्रकार है—

'जैनेन्द्रं निजशब्दभोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा

सिद्धान्ते निपुणस्त्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः ।

छन्दस्सूक्ष्मभिर्यं समाधिगतकस्वास्थ्यं यदीयं विदाम्

आख्यातोह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणः ॥'

इसमें कहा गया है कि विद्वानोंके समक्ष जिनका जैनेन्द्र व्याकरण अतुल निज शब्द सम्पत्तिको, सर्वार्थसिद्धि सिद्धान्तमें निपुणताको, जैन अभिषेक कविताकी श्रेष्ठताको और आत्मस्वास्थ्यकर समाधिगतक छन्दःशास्त्रकी सूक्ष्मताको सूचित करता है वे आचार्य पूज्यपाद मुनिगणोंसे सतत पूजनीय हैं।

पहले हम चन्द्रशेखर कविके 'पूज्यपादचरिते' के आधारसे आचार्य पूज्यपादकी संक्षिप्त जीवनी दे आये हैं। उसमें आचार्यपूज्यपादको जैनेन्द्र व्याकरण और वैद्यकके समान अर्हत्प्रतिष्ठा लक्षण और ज्योतिषका भी लेखक बताया गया है। कह नहीं सकते कि यह उल्लेख कहाँ तक ठीक है। यदि यह साधार हो तो कहना होगा कि आचार्य पूज्यपादने अर्हत्प्रतिष्ठा और ज्योतिष विषय पर भी रचना की थी।

6. समय-विचार—आचार्य पूज्यपाद कब हुए यह प्रश्न विशेष विवादास्पद नहीं है। पाँचवीं शताब्दी के मध्यकाल से लेकर प्रायः जितने साहित्यकार हैं उन्होंने किसी न किसी रूपमें या तो उनका या उनके साहित्यका उल्लेख किया है या उनके साहित्यका अनुवर्तन किया है। इस दृष्टिसे हमारे सामने मुख्य रूपसे जिनभद्र मणि क्षमाश्रमणका विशेषावश्यकभाष्य और अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक उपस्थित हैं। भट्ट अकलंकदेवके सामने तत्त्वार्थवार्तिक लिखते समय सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्रव्याकरण उपस्थित था यह उसके

देखनेसे स्पष्टतः परिलक्षित होता है। भट्ट अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धि के अधिकतर वाक्योंको वार्तिकोंका रूप देते हुए दिखाई देते हैं¹। तथा अहाँ उन्हें व्याकरणके नियमोंके उल्लेखकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ वे प्रायः जैनन्द्रके सूत्रोंका ही उल्लेख करते हैं²। इसलिए आचार्य पूज्यपाद भट्ट अकलंकदेवके पहले हुए हैं यह तो सुनिश्चित है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि और विशेषावश्यकभाष्यके तुलनात्मक अध्ययनसे यह भी ज्ञात होता है कि विशेषावश्यकभाष्य लिखते समय जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके सामने सर्वार्थसिद्धि अवश्य ही उपस्थित होनी चाहिए। तुलनाके लिए देखिए—

सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 15 में धारणा मतिज्ञान का लक्षण इन शब्दोंमें दिया है—

‘अवेस्तथ कालान्तरेऽविस्मरणकारणम्।’

विशेषावश्यकभाष्यमें इन्हीं शब्दोंको दुहराते हुए कहा गया है—

‘कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ ॥ गा० 291 ॥

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 19 में कहा गया है—

‘मनोवदप्राप्यकारीति ।’

यही बात विशेषावश्यकभाष्यमें इन शब्दों में व्यक्त की गयी है—

‘लोयजमपस्तविसयं मनोऽव ॥ गा० 209 ॥’

सर्वार्थसिद्धि अ० 1 सू० 20 में यह शंका की गयी है कि प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय दोनों ज्ञानोंकी उत्पत्ति एक साथ होती है, इसलिए श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है यह नहीं कहा जा सकता। यथा—

‘आहु, प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्ती युगपज्ज्ञानपरिणामान्मत्तिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोत्पद्यत इति ।’

अब इसके प्रकाशमें विशेषावश्यकभाष्यकी इस गाथाको देखिए—

‘गाजाण्णाणाणि य समकालाहं जओ मइसुयाहं ।

तो न सुयं मइपुअवं मइणणे वा सुयग्गाणं ॥ गा० 107 ॥’

इस प्रकार यद्यपि इस तुलनासे यह तो ज्ञात होता है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० सं० 666) के सामने आचार्य पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि उपस्थित रही होगी पर इससे इनके वास्तव्य काल पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसके लिए आगेके प्रमाण देखिए—

1. शक संवत् 388 (वि० सं० 523) में लिखे गये मर्करा (कुर्ग) के ताम्रपत्र में गंगवंशीय राजा अविनीतके उल्लेखके साथ कुन्दकुन्दान्वय और देशीय गणके मुनियोंकी परम्परा दी गयी है। दूसरे प्रमाणोंसे यह भी विदित होता है कि राजा अविनीतके पुत्रका नाम दुविनीत था और ये आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे।³ राजा दुविनीतका राज्यकाल वि० सं० 538 के लगभग माना जाता है, अतः इस आधारसे यह कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद 5वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और विक्रमकी 6वीं शताब्दीके पूर्वार्धके मध्य कालवर्ती होने चाहिए।

2. वि० सं० 990 में बने देवसेनके दर्शनसारके एक उल्लेखसे भी इस तथ्यकी पुष्टि होती है। देवसेनने यह कहा है कि श्री पूज्यपादके एक शिष्य वज्रनन्दी थे, जिन्होंने विक्रम सं० 526 में द्रविड़ संघकी स्थापना की थी। दर्शनसारका उल्लेख इस प्रकार है—

सिरिपुज्जपादसो बाविडसंघस्स कारगो बुट्ठो ।

णामेण वज्जणंढी पाहुडवेवी महासत्तो ॥

1. देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० 1, सू० 1, था० 3 आदि। 2. देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० 4, सू० 21। 3. रत्नकरण्डकी प्रस्तावना पृ० 142।

पंचसष्टि छन्दोसे विष्णुमरायस्त मरणपस्तस्त ।
उत्तिष्ठपमहुरा जादो वाधिसंघो महामोहो ॥

हम पहले नन्दिसंघकी पट्टावलीका उल्लेख कर आये हैं। उसमें देवनन्दी (पूज्यपाद) का समय विक्रम सं० 258 से 308 तक दिया है और इनके बाद जयनन्दी तथा गुणनन्दीका नामनिर्देश करनेके बाद वज्रनन्दीका नामोल्लेख किया है। साथ ही हम पहले पाण्डवपुराणके रचयिता शुभचन्द्राचार्यकी भुवद्वितीका भी उल्लेख कर आये हैं। इसमें भी नन्दिसंघके सब आचार्योंका नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार नाम निर्देश किया है। किन्तु इसमें देवनन्दीके बाद गुणनन्दीके नामका उल्लेख करके वज्रनन्दीका नाम दिया है। यहाँ यद्यपि हम यह मान लें कि इन दोनोंमें यह मतभेद बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि पूर्व परम्पराके अनुसार जिन्हे जिस क्रमसे आचार्योंकी परम्परा मिली उन्होंने उस क्रमसे उनका नाम निर्देश किया है और ऐसी दशामें एकादि नाम छूट जाना या हेरफेर हो जाना स्वभाविक है। पर सबसे बड़ा प्रश्न आचार्य पूज्यपादके समयका है। मर्कराके ताम्रपत्रमें जिन आचार्योंका नाम निर्देश है उनमें पूज्यपादका नाम नहीं आता तथा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतके ये विद्यागुरु थे, इसलिए ऐसा मालूम होता है कि नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य पूज्यपादसे पूर्ववर्ती आचार्योंके नाम छूट गये हैं। मर्कराके ताम्रपत्रमें जिन मुनियोंका नामोल्लेख है वे ये हैं— गुणचन्द्र, अभयनन्दि, शीलभद्र, जनानन्दि, गुणनन्दि और चन्द्रनन्दि। तथा नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य देवनन्दि और वज्रनन्दिके मध्यमें जयनन्दि और गुणनन्दि ये दो नाम आते हैं। गुणनन्दि यह नाम तो मर्कराके ताम्रपत्रमें भी है और सम्भव है कि मर्कराके ताम्रपत्रमें जिनका नाम जनानन्दि दिया है वे नन्दिसंघकी पट्टावलिमें जयनन्दि इस नामसे उल्लिखित किये गये हों। यदि यह अनुमान ठीक हो तो इससे दो समस्याएँ सुलझ जाती हैं। एक तो इससे इस अनुमानकी पुष्टि हो जाती है कि नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य पूज्यपादके पूर्ववर्ती कुछ आचार्योंके नाम छूट गये हैं। दूसरे नन्दिसंघकी पट्टावलिमें आचार्य पूज्यपादके बाद जिन दो आचार्योंका नामोल्लेख किया है उन्हें मर्कराके ताम्रपत्रमें उल्लिखित नामोंके अनुसार आचार्य पूज्यपादके पूर्ववर्ती मान लेनेसे दर्शनसारके उल्लेखानुसार वज्रनन्दि आचार्य पूज्यपादके अनन्तर उत्तरकालवर्ती ठहर जाते हैं। और इस तरह उनके समयके निर्णय करनेमें जो कठिनाई प्रतीत होती है वह हल हो जाती है। इस प्रकार इन सब तथ्योंको देखते हुए यही कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद विक्रम 5वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे लेकर 6वीं शताब्दीके पूर्वार्धके मध्यकालवर्ती होने चाहिये। श्रीमान् पण्डित नाथूरामजी प्रेमी प्रभृति दूसरे विद्वानोंका भी लगभग यही मत है।¹

— 0 —

1. देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ० 115 आदि। प्रेमीजीने आचार्य पूज्यपादके समयका विचार करते समय स्व० डॉ० काशीनाथ बापूजी पट्टकके मतका विचारकर जो निष्कर्ष निकाला है उससे हम सहमत हैं।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय	विशेषार्थ द्वारा प्रकृत विषय का स्पष्टीकरण	8
संगलाचरण	सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके दो प्रकार	9
तत्त्वार्थसूत्रकी उत्थानिका	1 निसर्ग और आधिगम शब्दका अर्थ	9
आरमाका हित मोक्ष है यह बतलाते हुए	1 निसर्गज सम्यग्दर्शनमें अर्थाधिगम होता है	
मोक्षका स्वरूप निर्देश	या नहीं, इस शंकाका समाधान	9
विभिन्न प्रवादियोंके द्वारा माने गये मोक्षके	1 'तन्निर्गमविद्यमाहा' इस सूत्रमें आये हुए	
स्वरूपका उद्भावन और निराकरण	'तत्' पदकी सार्थकता	10
मोक्षप्राप्तिके उपायमें विभिन्न प्रवादियोंका	1 सात तत्त्वों का नाम निर्देश	11
विसंवाद और विशेषार्थ द्वारा इन सबका	सातों तत्त्वोंके स्वरूपका प्रतिपादन कर उनके	
स्पष्टीकरण	क्रमिक पाठकी सार्थकताका निरूपण कर पुण्य	
मोक्षमार्गका स्वरूपनिर्देश	2 और पापको ग्रहणकर नव पदार्थ क्यों नहीं	
सम्यक् शब्दकी निरुक्ति, सम्यग्ज्ञान और	4 बतलाये इस शंकाका समाधान	11
सम्यक्चारित्र्यका स्वरूप और 'सम्यक्'	भाववाची तत्त्व शब्दका द्रव्यवाचक जीवादि	
विशेषणकी सार्थकता	पदोंके साथ समानाधिकरणका विचार,	
दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यकी निरुक्ति	4 विशेषणके लिंग और संख्याके अनुसार	
कर्त्ता और करणके एक होने की आपत्तिका	4 प्रकृतमें विशेषणका भी वही लिंग और	
परिहार	संख्या होनी चाहिए, इस आक्षेपका परिहार	12
सूत्रमें सर्वप्रथम दर्शन, अनन्तर ज्ञान और	5 नामादि चार निक्षेपोंका प्रतिपादन	13
सबके अन्तमें चारित्र्य शब्द रखने का समर्थन	नामादि चारों निक्षेपोंका स्वरूप	13
'मार्गः' इस प्रकार एकवचन निर्देशकी सार्थकता	5 चारों निक्षेपोंके द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण	13
सम्यग्दर्शनका लक्षण-निर्देश	5 नामादि निक्षेपविधिकी उपयोगिता	14
तत्त्व शब्द की निरुक्ति	6 'नामस्थापना' सूत्रमें प्रयुक्त हुए 'तत्'	
अर्थ शब्दकी निरुक्ति	6 पदकी सार्थकता	14
तत्त्वार्थकी निरुक्ति पूर्वक सम्यग्दर्शनका स्वरूप	6 विशेषार्थ-द्वारा निक्षेप-विषयक स्पष्टीकरण	14
'दृष्ट' धातुका अर्थ आलोक है फिर श्रद्धान	6 प्रमाण और नयका निर्देश	14
अर्थ कैसे संभव है, इस शंका का समाधान	प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ ये दो भेद तथा	
अर्थ-श्रद्धान या तत्त्व-श्रद्धानकी सम्यग्दर्शनका	7 उनका स्वरूप	15
लक्षण भानने पर प्राप्त होनेवाली आपत्तियों-	सूत्रमें नयपदके पूर्व प्रमाण पद रखनेका	
के परिहारार्थ तत्त्व और अर्थ दोनों पदोंकी	कारण	15
उपयोगिता	नयका स्वरूप, सकलादेश और विकला-	
सम्यग्दर्शनके सराग और बीतराग इन दो	7 देशका निर्देश	16
भेदोंका स्वरूप	नयके मूल भेदोंका स्वरूपनिरूपण व उनका	
	7 विषय	16

जीवादि तत्त्वोंके अधिगमके उपायभूत छह अनुयोगद्वारोंका निरूपण	16	गतिमार्गणाकी अपेक्षा चारों गतियोंमें संख्याका निरूपण	25
निर्देश, स्वामित्वादि छहों अनुयोगद्वारोंका स्वरूप	16	इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा जीवसंख्याका निरूपण	26
निर्देश अनुयोगद्वारसे सम्यग्दर्शनका निरूपण	16	कायमार्गणाकी अपेक्षा " " "	26
सम्यग्दर्शनके स्वामित्वका सामान्यसे निरूपण	16	योगमार्गणाकी अपेक्षा " " "	26
सम्यग्दर्शनके स्वामित्वका विशेषकी अपेक्षा निरूपण करते हुए गतिमार्गणाके अनुवादसे प्रतिपादन	16	वेदमार्गणाकी अपेक्षा " " "	26
इन्द्रियमार्गणाके द्वारा सम्यग्दर्शनके स्वामित्वका वर्णन	16	कषायमार्गणाकी अपेक्षा " " "	27
कायादि शेष मार्गणाओंके द्वारा सम्यग्दर्शनके स्वामित्वका निरूपण	17	ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा " " "	27
सम्यग्दर्शनके अग्र्यन्तर और बाह्य साधनोंका प्रतिपादन	17	संयम मार्गणाकी अपेक्षा " " "	28
सम्यग्दर्शनके अग्र्यन्तर और बाह्य अधि-करणका निरूपण	20	दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा " " "	28
सम्यग्दर्शनके औपशमिकादि भेदोंकी स्थिति का प्ररूपण	20	लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा जीवसंख्याका निरूपण	28
विधान-अनुयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके भेदोंका प्रतिपादन	21	भव्यमार्गणाकी अपेक्षा " " "	28
तत्त्वाधिगमके उपायभूत सत् संख्यादि आठ अनुयोगद्वारोंका निरूपण	21	सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा " " "	29
सत्, संख्यादि आठों अनुयोगों का स्वरूप	21	संज्ञिमार्गणाकी अपेक्षा " " "	29
निर्देश व स्वामित्वादिके सत् संख्यादिको पृथक् कहनेका कारण	22	आहारमार्गणाकी अपेक्षा " " "	29
1. सत्प्ररूपणा 22-24		3. क्षेत्रप्ररूपणा 29-32	
सत् अनुयोगद्वारकी अपेक्षा जीव तत्त्वका निरूपण	22	सामान्यसे जीवोंके क्षेत्रका निरूपण	29
जीव तत्त्वके विशेष-परिज्ञानके लिए चौदह मार्गणाओं का प्रतिपादन	22	गतिमार्गणाकी अपेक्षा जीवोंके क्षेत्रका निरूपण	30
सत्प्ररूपणाके सामान्य और विशेष भेदोंके द्वारा जीव तत्त्वका निरूपण	22	इन्द्रिय मार्गणाकी " " "	30
चौदह मार्गणाओंमें संभव गुणस्थानोंका प्ररूपण	23	कायमार्गणाकी " " "	30
2. संख्या-प्ररूपण 24-29		योगमार्गणाकी " " "	30
चौदह गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीव संख्याका निरूपण	24	वेदमार्गणाकी " " "	30
		कषायमार्गणाकी " " "	30
		ज्ञानमार्गणाकी " " "	31
		संयममार्गणाकी " " "	31
		दर्शनमार्गणाकी " " "	31
		लेश्यामार्गणाकी " " "	31
		भव्यमार्गणाकी " " "	31
		सम्यक्त्वमार्गणाकी " " "	32
		संज्ञिमार्गणाकी " " "	32
		आहारमार्गणाकी " " "	32
		विशेषार्थके द्वारा क्षेत्रप्ररूपणका स्पष्टीकरण	32
		4. स्पर्शन-प्ररूपणा 33-39	
		गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवोंके स्पर्शनका निरूपण	33
		गतिमार्गणाकी " " "	34
		इन्द्रियमार्गणाकी " " "	35
		कायमार्गणाकी " " "	35

योगमार्गणाकी अपेक्षा जीवोंके स्पर्शनका निरूपण	35	लेख्यामार्गणाकी अपेक्षा जीवोंका अन्तरप्ररूपण	56
वेदमार्गणाकी	36	भव्यमार्गणाकी	57
कषायमार्गणाकी	37	सम्यक्त्वमार्गणाकी	58
ज्ञानमार्गणाकी	37	संज्ञिमार्गणाकी	59
संयममार्गणाकी	37	आहारमार्गणाकी	60
दर्शनमार्गणाकी	37	7. भाव-प्ररूपणा	60-63
लेख्यामार्गणाकी	37	चौदह गुणस्थानोंमें जीवोंका भावप्ररूपण	60
भव्यमार्गणाकी	39	गतिमार्गणाकी	61
सम्यक्त्वमार्गणाकी	39	इन्द्रियमार्गणाकी	61
संज्ञिमार्गणाकी	39	कायमार्गणाकी	61
आहारमार्गणाकी	39	योगमार्गणाकी	61
5. काल-प्ररूपणा	39-47	वेदमार्गणाकी	62
गुणस्थानोंकी अपेक्षा जीवोंके कालका वर्णन	39	कषायमार्गणाकी	62
गतिमार्गणाकी	40	ज्ञानमार्गणाकी	62
इन्द्रियमार्गणाकी	42	संयममार्गणाकी	62
कायमार्गणाकी	42	दर्शनमार्गणाकी	62
योगमार्गणाकी	42	लेख्यामार्गणाकी	92
वेदमार्गणाकी	43	भव्यमार्गणाकी	62
कषायमार्गणाकी	44	सम्यक्त्वमार्गणाकी	62
ज्ञानमार्गणाकी	44	संज्ञिमार्गणाकी	63
संयममार्गणाकी	44	आहारमार्गणाकी	63
दर्शनमार्गणाकी	44	8. अल्पबहुत्व-प्ररूपणा	63
लेख्यामार्गणाकी	45	चौदह गुणस्थानोंमें जीवोंका अल्पबहुत्व-प्ररूपण	63
भव्यमार्गणाकी	46	गतिमार्गणाकी अपेक्षा	64
सम्यक्त्वमार्गणाकी	46	इन्द्रियमार्गणाकी	64
संज्ञिमार्गणाकी	46	कायमार्गणाकी	64
आहारमार्गणाकी	47	योगमार्गणाकी	64
6. अन्तर-प्ररूपणा	47-60	वेदमार्गणाकी	64
चौदह गुणस्थानोंमें जीवोंका अन्तर कथन	47	कषायमार्गणाकी	64
गतिमार्गणाकी अपेक्षा	48	ज्ञानमार्गणाकी	65
इन्द्रियमार्गणाकी	50	संयममार्गणाकी	65
कायमार्गणाकी	51	दर्शनमार्गणाकी	65
योगमार्गणाकी	52	लेख्यामार्गणाकी	66
वेदमार्गणाकी	52	भव्यमार्गणाकी	66
कषायमार्गणाकी	53	सम्यक्त्वमार्गणाकी	66
ज्ञानमार्गणाकी	54	संज्ञिमार्गणाकी	66
संयममार्गणाकी	55	आहारमार्गणाकी	67
दर्शनमार्गणाकी	56	सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद	67

सम्यग्ज्ञानके पाँच भेदोंका स्वरूप	67	श्रुतज्ञानका स्वरूप और उसके भेद	85
मतिज्ञानादिक्रमसे पाठ रखनेका कारण	68	मतिपूर्वक श्रुतज्ञानके माननेमें आनेवाली आपत्तियोंका परिहार	85
वे पाँचों ज्ञान दो प्रमाणरूप हैं इस बातका निर्देश	69	श्रुत नयभेदसे कथंचित् अनादिनिधन और कथंचित् सादि है	86
सन्निकर्ष और इन्द्रियकी प्रमाणताका निराकरण	69	श्रुतपूर्वक भी श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है इस आशंकाका समाधान	86
ज्ञानके फलका निरूपण	69	श्रुतके भेद व उनका कारण	87
विशेषार्थ द्वारा सन्निकर्ष और इन्द्रियकी प्रमाण मानने पर उठनेवाले दोषोंका स्पष्टीकरण और उनका परिहार	70	विशेषार्थ द्वारा श्रुतज्ञानका स्पष्टीकरण	87
परोक्षज्ञानका प्रतिपादन	71	भवप्रत्यय अवधिज्ञानके स्वामी	88
परोक्षका स्वरूप	71	भवप्रत्यय कहनेका कारण	89
प्रत्यक्षज्ञानका प्रतिपादन	72	क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञानके स्वामी	89
प्रत्यक्षका स्वरूप	73	अवधिज्ञानके छह भेद व उनका स्वरूप	90
विभंगज्ञानकी प्रमाणताका निराकरण	73	मनःपर्ययज्ञानके भेद और स्वरूप	91
इन्द्रिय-व्यापारजनित ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेमें दोष	73	ऋजुमति और विपुलमतिकी अर्थ	91
मतिज्ञानके पर्यायवाची नामोंका प्रतिपादन	74	इन दोनों ज्ञानोंका क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विषय	92
मति, स्मृति और चिन्तादि नामोंकी निरुक्ति व तात्पर्य	76	ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानमें अन्तर	92
मतिज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त	76	विशुद्धि और अप्रतिपातका अर्थ	92
इन्द्रिय और अनिन्द्रियका स्वरूप	77	विशुद्धि और अप्रतिपातके द्वारा दोनों ज्ञानोंमें अन्तरका विशेष कथन	93
तत् पदकी सार्थकता	78	अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता	94
मतिज्ञानके भेद	79	विशुद्धि आदिके द्वारा दोनों ज्ञानों में अन्तरका विशेष स्पष्टीकरण	94
अवग्रह आदिका स्वरूप	79	मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय	94
अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थोंके भेद	80	मतिज्ञानकी अरूपी द्रव्यों में मनसे प्रवृत्ति होती है	95
बहुआदिका स्वरूप	80	अवधिज्ञानका विषय	95
बहु और बहुविधमें अन्तर	80	मनःपर्ययज्ञानका विषय	95
उक्त और निःसृतमें अन्तर	81	केवलज्ञानका विषय	96
'क्षिप्रनिःसृत' पाठान्तरकी सूचना और उसका अर्थ	81	एक जीवमें एक साथ संभव ज्ञानोंका निरूपण	97
छुवावग्रह और धारणामें भेद	82	मिथ्याज्ञानोंका निरूपण	98
बहु आदि अर्थके अवग्रह आदि होते हैं अर्थ पद देनेकी सार्थकता	82	मिथ्याज्ञानके कारणोंका निरूपण	98
व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है व्यञ्जन शब्दका अर्थ	82	कारण विपर्यास भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यासका वर्णन	98
व्यञ्जनावग्रह और अर्धावग्रहमें भेद	83	नयोंके भेद	100
व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता	83	नयका स्वरूप	100
आगम और युक्तिसे चक्षु और मनकी अप्राप्यकारिताकी सिद्धि	84	नैगमनयका स्वरूप	100
		संग्रहनयका स्वरूप	101

व्यवहारनयका स्वरूप	101	उपयोग के भेदोंका स्वरूप व प्रवृत्तिक्रमका	
श्रुतसूत्रनयका स्वरूप	102	निर्देश	117
शब्दनयका स्वरूप	102	जीवों के भेद	118
समभिरूढनयका स्वरूप	103	संसार शब्द का अर्थ	119
एवम्भूतनयका स्वरूप	103	द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप	119
नयोंका पारस्परिक सम्बन्ध और उत्तरोत्तर		क्षेत्र परिवर्तनका ,,	119
विषय की सूक्ष्मता	104	काल परिवर्तनका ,,	120
विशेषार्थ द्वारा नयोंका स्पष्टीकरण	104	भव परिवर्तनका ,,	120
		भाव परिवर्तनका ,,	121
		संसारी जीवोंके भेद	123
दूसरा अध्याय			
जीवके असाधारण भावोंका निरूपण	107	मन के दो भेद तथा समनस्क और अमनस्क	
उपशम आदि का अर्थ	107	शब्दका अर्थ	123
औपशमिकादि भावोंके क्रमकी सार्थकता	107	संसारी जीवोंके प्रकारान्तरसे भेद	123
भावोंके भेदोंकी संख्या	108	सूत्रमें संसारी पद देनेकी सार्थकता	123
द्विन्वाष्टादिपदका भेद शब्दके साथ दो		त्रस और स्थावर शब्दका आशमिक अर्थ	124
प्रकारका समास	108	स्थावर जीवोंके भेद	124
औपशमिक भाव के दो भेद	109	स्थावर शब्द का अर्थ	124
औपशमिक सम्यक्त्व किस प्रकार उत्पन्न होता है	109	पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और	
कालसन्धिक वर्णन	109	पृथिवीजीवका स्वरूप	124
औपशमिकचारित्र किस प्रकार उत्पन्न होता है	110	स्थावर जीवोंके प्राण	124
क्षायिकभावके नौ भेद	110	त्रस जीवोंके भेद	125
नौ क्षायिक भावोंका स्वरूप व उनका कार्य	110	द्वीन्द्रिय आदि शब्दों का अर्थ	125
क्षायिक दानादि कृत अभयदानादि सिद्धोंके क्यों नहीं होते इसका कारण	111	द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके प्राण	125
क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद	112	इन्द्रियोंकी संख्या	126
क्षायोपशमिक भावके अठारह भेदों का स्वरूप	112	इन्द्रियोंमें कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण नहीं होता	127
औद्यमिक भावके इक्कीस भेद	114	इन्द्रियोंके दो भेद	127
औद्यमिक भावके भेदों का स्वरूप	114	द्रव्येन्द्रियके दो भेद	127
उपशमनक्तषाय आदिमें शुक्ललेण्या किस प्रकार मानी गयी है इसका निर्देश	115	निर्वृत्ति और उपकरणका अर्थ व इनके भेद	127
पारिणामिक भावके तीन भेद	115	भावैन्द्रियके दो भेद	127
अस्तित्वादि अन्य भी पारिणामिक भाव हैं फिर उनका ग्रहण क्यों नहीं किया इस शंका का समाधान	115	सन्धि और उपयोगका अर्थ	127
विश्वेश्वर्य द्वारा पारिणामिक भावों का खुलासा	116	उपयोगको इन्द्रिय कहनेका कारण	128
जीवका लक्षण	116	पञ्च इन्द्रियोंके विषय	129
उपयोगका स्वरूप	117	कर्मसाधन और भावसाधन द्वारा	
उपयोग के भेद-प्रभेद	117	स्पर्शादिकी सिद्धि	129
		मनका विषय	130
		श्रुत शब्द के दो अर्थ	130
		वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक इन्द्रिय होती है	130
		स्पर्शन इन्द्रियकी उत्पत्तिका कारण	131
		कृमि आदि जीवोंके दो आदि इन्द्रियाँ होती हैं	131
		किस क्रमसे इन्द्रियाँ बड़ी हैं उनका नामनिर्देश	131

संज्ञी जीवोंका स्वरूप	132	वैक्रियिक और आहारक शरीरको अप्रतीघात	
समनस्क पद देने की सार्थकता	132	क्यों नहीं कहा	141
विग्रहगतिमें जीव की गति का कारण	132	तैजस और कार्मणका अनादिसम्बन्ध	141
विग्रह कर्म व योग शब्दका अर्थ	133	'च' पदकी सार्थकता	141
गतिका नियम	133	तैजस और कार्मणके स्वामी	142
श्रेणि शब्दका अर्थ	133	एक जीवके एक साथ लम्बे शरीरोंकी संख्या	142
गतिपदकी सार्थकता	134	कार्मण शरीरकी निरूपभोगता	143
काल और देशनियम का विधान	134	उपभोग पदका अर्थ	143
विग्रह शब्दका अर्थ	134	तैजस शरीर भी निरूपभोग है फिर उसका	
'अविग्रहा जीवस्य' सूत्रकी सार्थकता	134	ग्रहण क्यों नहीं किया	143
संसारी जीवकी गति का नियम और समय	134	औदारिक शरीर किस-किस जन्मसे होता है	144
निष्कुटक्षेत्रसे मरकर निष्कुटक्षेत्र में उत्पन्न	134	वैक्रियिक शरीर किस जन्मसे होता है	144
होनेवाले जीवकी विविग्रह गति	135	वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी होता है	144
अविग्रहवाली गति का समय-निर्देश	135	तैजसशरीर लब्धिप्रत्यय होता है	144
अनाहारक जीवोंका समय-निर्देश	135	आहारकशरीरकी विशेषता और स्वामी	145
आहार शब्दका अर्थ	136	शुभ आदि पदोंका अर्थ	145
जन्मके भेद	136	आहारकशरीरकी उत्पत्तिका प्रयोजन	145
सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद पदका अर्थ	136	नारक और सम्मूर्च्छनोंके वेद का वर्णन	146
चौरासी लाख योनियाँ किसके कितनी होती हैं	136	नारक शब्दका अर्थ	146
योनियोंके भेद	136	देवोंके वेदका वर्णन	146
सञ्चित आदि पदों का अर्थ	136	शेष जीवोंके वेदका वर्णन	147
'तत्' पदकी सार्थकता	137	लिंग के दो भेद व उनका अर्थ	147
योनि और जन्ममें अन्तर	137	स्त्री आदि शब्दोंको व्युत्पत्ति	147
किस जीवके कौन योनि होती है इसका खुलासा	137	अनपवत्ययुष्क जीवोंका निरूपण	147
गर्भ जन्म के स्वामी	138	उपपादिक आदि पदोंका अर्थ	148
जरायु आदि पदों का अर्थ	138	पाठान्तरका निर्देश	148
उपपाद जन्मके स्वामी	138	तीसरा अध्याय	
सम्मूर्च्छन जन्मके स्वामी	139	नरककी सात भूमियाँ व उनका आधार	150
जन्मके भूस्वामियोंके प्रतिपादक तीनों सूत्र		रत्नप्रभा आदि नामोंकी सार्थकता	150
नियमार्थक हैं	139	'भूमि' पदकी सार्थकता	151
शरीरके पाँच भेद	139	भूमि, तीन वातवलय और आकाश इनमें	
औदारिक आदि पदोंका अर्थ	139	आधार-आधेयभाव	151
शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता	140	सप्त पदकी सार्थकता	151
तैजससे पूर्व तीन शरीर उत्तरोत्तर प्रदेशोंकी	140	विशेषार्थ द्वारा अधोलोकाका स्पष्टीकरण	151
अपेक्षा असंख्यातगुण हैं	140	भूमियोंमें नरकों (बिलों) की संख्या	152
शुणकारका प्रमाण	140	भूमियोंमें नरक प्रस्तारों का विचार	152
अन्तके दो शरीर अनन्तगुण हैं	141	नारक निरन्तर अशुभतरलेण्या आदिवाले	
तैजस और कार्मण शरीरकी अप्रतीघातता	141	होते हैं इसका विचार	153
प्रतीघात पद का अर्थ	141	नित्य शब्द का अर्थ	153

किस भूमिमें कौन लेण्या है इसका विचार	153	हिमवान् आदि नाम अनिमित्तक और	
द्रव्यलेण्या और भावलेण्याका काल	153	अनादि है	159
नारकियोंके देहका विचार व देहकी ऊँचाई	153	हिमवान् आदिको वर्षधर पर्वत कहने का	
नारकियोंके तीव्र वेदनाका कारण	153	कारण	159
नारकोंमें उष्णता व शीतताका विचार	153	कौन पर्वत कहाँ तक अवस्थित है व उनकी	
नारकी स्वभावसे अशुभ क्रिया करते हैं		ऊँचाई और अवगाह क्या है इसका विचार	159
और अशुभ निमित्त जोड़ते हैं	153	पर्वतोंका रंग	160
नारकी आपसमें दुःखके कारण होते हैं	154	पर्वतोंकी विशेषता व विस्तार	160
परस्पर दुःख उत्पन्न करनेके कारणों का निर्देश	154	'च' पद की सार्थकता	160
नारकियोंकी विक्रियासे ही तलवार, बरछी		पर्वतोंपर तालाब	160
आदि बनते हैं	154	प्रथम तालाबका आयाम व विस्तार	161
तीसरी भूमि तक असुरोंके निमित्तसे दुःख-		प्रथम तालाबका अवगाह	161
की उत्पत्ति	154	प्रथम तालाबके कमलका प्रमाण	161
असुर शब्दका अर्थ	155	प्रथम तालाबमें कमलके अवयवोंका प्रमाण	
असुरोंके संकलित विशेषणकी सार्थकता	155	व जलतलसे कमलकी ऊँचाईका प्रमाण	161
कुछ अम्बावरीष आदि देव ही दुःखमें		अन्य तालाब व कमलोंका प्रमाण	161
निमित्त होते हैं इसका निर्देश	155	कमलोंमें निवास करनेवाली छह देवियों व	
सूत्रमें आये हुए 'च' पदकी सार्थकता	155	उनका परिवार और आयु	162
नारकियोंके अकालमरण न होनेका कारण	155	कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें बने हुए प्रासादों	
नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु	155	का प्रमाण व रंग	162
'सत्त्वानाम्' पदकी सार्थकता	156	मुख्य कमलोंके परिवार, कमलोंमें रहनेवाले	
तियंगलोक पदका अर्थ	156	अन्य देव	162
द्वीपों और समुद्रोंके मुख्य-मुख्य नामोंका निर्देश	156	पूर्वोक्त क्षेत्रोंमें बहनेवाली चौदह नदियाँ	162
द्वीपों और समुद्रोंके अनेक नामों का निर्देश	156	पूर्व समुद्रको जानेवाली नदियाँ	163
द्वीपों और समुद्रोंका विष्कम्भ और आकृति	157	पश्चिम समुद्रको जानेवाली नदियाँ	163
सूत्रमें आये हुए प्रत्येक पदकी सार्थकता	157	कौन नदी किस तालाबके किस ओरके द्वारसे	
जम्बूद्वीपका सन्निवेश और व्यास	157	निकली है इसका विचार	163
जम्बूद्वीप नाम पड़नेका कारण	157	गंगा और सिन्धु आदि नदियों की परिवार	
जम्बूद्वीपकी अवस्थिति कहाँ है और वह		नदियाँ	164
किस रूप है इसका विचार	157	सूत्रमें गंगा और सिन्धु दोनों पदोंके रखने	
विशेषार्थ द्वारा मध्यलोक और सुमेरु पर्वत		की सार्थकता	164
का वर्णन	157	भरतक्षेत्रका विस्तार	164
सात क्षेत्रोंकी संज्ञा	158	विदेह पर्यन्त आगेके पर्वतों व क्षेत्रोंका	
भरत आदि संज्ञाएँ अनिमित्तक और		विस्तार	165
अनादि हैं	158	उत्तरके क्षेत्र व पर्वतोंके विस्तारका प्रमाण	165
कौन क्षेत्र कहाँ पर है इसका विचार	158	भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालकृत परिवर्तन	165
सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले छह		यह परिवर्तन क्षेत्रका न होकर वहाँके जीवों-	
कुलाचल पर्वत	159	का होता है	165
ये पर्वत कहाँ से कहाँ तक फैले हुए हैं	159	यह परिवर्तन अनुभव, आयु और प्रमाणादि	
		कृत होता है	166

भवनवासियों के दस भेद	182	ग्रन्थके पूर्व तक कल्प संज्ञा	192
भवनवासी शब्दका अर्थ	182	लौकान्तिक देवोंका निवासस्थान	192
असुरकुमार आदि नामोंमें कुमार पदकी सार्थकता	182	लौकान्तिक शब्दकी सार्थकता	192
भवनवासियोंका निवासस्थान	182	लौकान्तिकोंके आठ भेदोंके नाम	192
व्यन्तरोके आठ भेद	183	किस दिशामें किस नामवाले लौकान्तिक रहते हैं इसका विचार	193
व्यन्तर शब्दका अर्थ	183	'च' शब्दमें समुचित अन्य लौकान्तिकोंका निर्देश	193
व्यन्तरोका निवासस्थान	183	विजयादिकमें द्विचरम देव होते हैं	193
ज्योतिषियोंके पाँच भेद	183	आदि पदसे सर्वार्थसिद्धिके ग्रहण न होनेका कारण	193
ज्योतिष्क पदकी सार्थकता	183	द्विचरम शब्दका अर्थ	194
'सूर्यचन्द्रमसौ' पदके पृथक् देनेका कारण	183	तिर्यग्योनिसे कितना ग्रहण होता है इसका विचार	194
ज्योतिषियोंका पूरे विवरणके साथ निवासस्थान मनुष्य लोकमें ज्योतिषियोंकी निरन्तर मेरु-प्रदक्षिणा	184	तिर्यञ्च सब लोकमें रहते हैं अतः उनका क्षेत्र नहीं कहा	194
ज्योतिष्क विमानोंके गमन करनेका कारण	184	भवनवासियोंके अवान्तर भेदोंकी उत्कृष्ट आयु	195
ज्योतिष्कदेव मेरु पर्वतसे कितनी दूर रहकर प्रदक्षिणा करते हैं	184	सौधर्म और ऐशान कल्पमें उत्कृष्ट आयु	195
गतिमान् ज्योतिष्कोंके निमित्तसे कालका विभाग होता है	185	'अधिके' यह अधिकार वचन है इस बातका निर्देश	195
कालके दो भेद व व्यवहार कालका स्वरूप	185	सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें उत्कृष्ट आयु	196
मनुष्य लोकके बाहर ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं	186	शेष बारह कल्पोंमें उत्कृष्ट आयु	196
वैमानिकोंके वर्णनके प्रसंगसे अधिकार सूत्र	186	'तु' पदकी सार्थकता	196
विमान शब्दका अर्थ व उसके भेदोंका विचार	186	कल्पातीत विमानोंमें उत्कृष्ट आयु	196
वैमानिकोंके दो भेद	187	'सर्वार्थसिद्धी' पदकी पृथक् ग्रहण करनेका कारण	197
वैमानिक देव ऊपर ऊपर निवास करते हैं	187	सौधर्म और ऐशान कल्पमें जघन्य आयु	197
कितने कल्प विमानोंमें वे देव रहते हैं इसका विचार	187	शेष सबमें जघन्य आयुका विचार	197
सौधर्म आदि शब्दके व्यवहारका कारण	188	द्वितीयादि नरकोंमें जघन्य आयु	198
मेरु पर्वतकी ऊँचाई व अवगाहका परिमाण	188	प्रथम नरकमें जघन्य आयु	198
अधोलोक आदि शब्दोंकी सार्थकता	188	भवनवासियोंमें जघन्य आयु	199
सौधर्म कल्पका ऋजु विमान कहाँ पर है इसका निर्देश	189	व्यन्तरोमें जघन्य आयु	199
'नवसु' पदके पृथक् देनेका कारण	189	व्यन्तरोमें उत्कृष्ट आयु	199
देवोंमें उत्तरोत्तर स्थिति प्रभावादिकृत विशेषता	189	ज्योतिषियोंमें उत्कृष्ट आयु	199
गति आदि शब्दों का अर्थ	190	ज्योतिषियोंमें जघन्य आयु	200
कहाँके देवके शरीरकी कितनी ऊँचाई है आदि का विचार	190	लौकान्तिक देवोंमें आयुका विचार	200
वैमानिक देवों में लेश्याका विचार	190		
सूत्रार्थकी आगमसे संगति बिठानेका उपक्रम	191		

पाँचवाँ अध्याय

अजीवकाय द्रव्योंका निर्देश	201
काय शब्द देनेकी सार्थकता	201
अजीव यह धर्मादिक द्रव्योंकी सामान्य संज्ञा है	201

ये धर्मादिक द्रव्य हैं इस बातका निर्देश	202	लोक शब्दका अर्थ	211
द्रव्य पदकी व्युत्पत्ति	202	आकाशके दो भेद और उनका अर्थ	211
ये धर्मादिक द्रव्यत्व नामक सामान्यके योगसे		लोकालोक विभागका कारण	211
द्रव्य नहीं हैं इस बातका समुक्तिक विचार	202	धर्म और अधर्म द्रव्य लोकव्यापी हैं	211
'गुणसमुदायो द्रव्यम्' ऐसा माननेमें भी आपत्ति	202	पुद्गल द्रव्य लोकके एक प्रदेश आदिमें रहते हैं	212
द्रव्य पदकी व्युत्पत्ति और उसकी सिद्धि	202	मूर्त पुद्गल एकत्र कैसे रहते हैं इनका विचार	212
'द्रव्याणि' बहुवचन देनेका कारण व अन्य		जीव लोकके असंख्येयभाग आदिमें रहते हैं	212
विशेषताओंका निर्देश	203	सशरीरी अनन्तानन्त जीव असंख्येयभाग	
जीव भी द्रव्य हैं इस बातका निर्देश	203	आदिमें कैसे रहते हैं इसका विचार	213
नैयायिकोंके द्वारा माने गये द्रव्योंके अन्तर्भाव		जीवके असंख्येयभाग आदिमें रहनेका कारण	213
की सिद्धि	203	धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार	214
द्रव्योंकी विशेषता	205	गति, स्थिति और उपग्रह पदका अर्थ	114
नित्य आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	205	उपग्रह पदकी सार्थकता	214
पुद्गल द्रव्य रूपी है इसका विचार	205	गति और स्थितिको धर्म और अधर्म द्रव्यका	
रूप पदका अर्थ	206	उपकार माननेका कारण	215
आकाश पर्यन्त एक एक द्रव्य हैं इसका विचार	206	गति और स्थितिके प्रतिबन्ध न होनेका कारण	215
सूक्ष्ममें द्रव्य पदके ग्रहण करनेकी सार्थकता	206	धर्म और अधर्म द्रव्यकी सिद्धि	215
धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं	207	अवकाशका उपकार	216
निष्क्रिय शब्दका अर्थ	207	निष्क्रिय धर्मादि द्रव्योंको आकाश कैसे	
धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय होने पर भी उनमें		अवगाह देता है इसका विचार	216
उत्पादादिकी सिद्धि	208	दो स्कन्धों के परस्पर टकरानेसे आकाशके	
उत्पादके दो भेद	208	अवकाश दानकी हानि नहीं होती	216
निष्क्रिय धर्मादिक द्रव्य गति आदिके हेतु		सूक्ष्म पुद्गल परस्पर अवकाश देते हैं तो भी	
कैसे हैं इसका विचार	208	आकाशके अवकाशदानकी हानि नहीं	
धर्म, अधर्म और एक जीवके प्रदेश	208	होती इस बातका समर्थन	216
असंख्येयके तीन भेद	208	पुद्गलोंका उपकार	217
प्रदेश शब्दका अर्थ	208	कार्मण शरीरके पुद्गलपनेकी सिद्धि	217
धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाशव्यापी हैं	208	वचनके दो भेद और उनका स्वरूप व पुद्गल-	
जीव शरीरपरिमाण होकर भी लोकपूरण समुद्घात		पनेकी सिद्धि	218
के समय लोकाकाशव्यापी होता है	208	मनके दो भेद और उनका स्वरूप व पुद्गल-	
आकाशके प्रदेशोंका विचार	209	पनेकी सिद्धि	210
अनन्त शब्दका अर्थ	209	मन द्रव्यान्तर नहीं है इसकी समुक्तिक सिद्धि	218
पुद्गलोंके प्रदेशोंका विचार	209	प्राण और अपान शब्दका अर्थ	219
'च' पदकी सार्थकता	209	मन, प्राण और अपानके पुद्गलपनेकी सिद्धि	219
अनन्तके तीन भेद	209	आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि	219
असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त प्रदेशी		पुद्गलोंके अन्य उपकार	219
स्कन्ध कैसे समाता है इसका विचार	209	सुख, दुःख आदि शब्दोंका अर्थ	219
अणुके दो आदि प्रदेश नहीं होते	210	उपग्रह पदकी सार्थकता	220
सब द्रव्योंका लोकाकाशमें अवगाह है	210	जीवोंका उपकार	220
आधाराधेयविचार	210	कालका उपकार	222

[illegible]

साम्प्रदायिक आस्रवके भेद	246	तिर्यचायुके आस्रव	257
पचीस क्रियाओंका विशेष विवेचन	247	तिर्यचायुके आस्रवोंका विस्तारसे निरूपण	257
किन कारणोंसे आस्रवमें विशेषता होती है		मनुष्यायुके आस्रव	257
इसका निर्देश	248	मनुष्यायुके आस्रवोंका विस्तारसे निरूपण	257
तीव्र, मन्द आदि पदोंकी व्याख्या	248	मनुष्यायुके अन्य आस्रव	257
अधिकरणके दो भेद	249	चारों आयुओंके आस्रव	258
'जीवाजीवा' ऐसा बहुवचन रखनेका कारण	249	'च' पदकी सार्थकता	258
जीवाधिकरणके भेद	249	देवायुके आस्रव	258
संरम्भ आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	249	सूत्रगत प्रत्येक पदकी व्याख्या	258
जीवाधिकरणके 108 भेदोंका नामोल्लेख	250	देवायुका अन्य आस्रव	258
'च' पदकी सार्थकता	250	'सम्यक्त्वं च' पृथक् सूत्र बनानेका प्रयोजन	259
अजीवाधिकरणके भेद	250	अंशुम नामकर्मके आस्रव	259
निसर्ग आदि पदों का अर्थ	251	सूत्रगत प्रत्येक पदकी व्याख्या	259
'पर' पदकी सार्थकता	251	अंशुभनामकर्मके आस्रवोंका विस्तारसे कथन	259
निर्वर्तना आदिके उत्तर भेदोंकी व्याख्या	251	शुभनामकर्मके आस्रव	260
ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव	251	'च' पदकी सार्थकता	260
प्रदोष आदि प्रत्येक पदका अर्थ	251	शुभनामकर्मके आस्रवोंका विस्तारसे कथन	260
आसादन और उपघात में अन्तर	252	तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रव	260
'तत्' पदमें ज्ञान और दर्शनका ग्रहण कैसे होता है इसका विचार	252	सूत्रगत प्रत्येक पदकी व्याख्या	261
प्रदोषादि ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनोंके आस्रवके हेतु कैसे हैं इसका विचार	252	नीचगोत्रके आस्रव	261
आसातावेदनीयके आस्रव	253	सूत्रगत प्रत्येक पदकी व्याख्या	262
दुःख आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	253	उच्चगोत्र के आस्रव	262
शोकादिक दुःखके प्रकार होकर भी उनके अलग में ग्रहण करनेका कारण	253	सूत्रगत प्रत्येक पदकी व्याख्या	262
यदि दुःखादिक असाता वेदनीयके आस्रव हैं तो केशोत्पादन आदि क्यों करते हैं इसका		अन्तराय कर्मके आस्रव	262
अशुक्त विचार	253	तत्प्रदोष आदि प्रतिनियत कर्मोंके आस्रवोंका कथन करनेसे आनेवाले दोषका परिहार	263
सातावेदनीयके आस्रव	254		
सूत्रगत प्रत्येक पदकी व्याख्या	254	सप्तवां अध्याय	
इति' पदकी सार्थकता	254	व्रतकी व्याख्या	264
दर्शनमोहके आस्रव	255	हिंसादि परिणामविशेष अध्रुव हैं उनसे दूर होना कैसे सम्भव है इस शंकाका परिहार	264
हवली आदि पदोंकी व्याख्या	255	हिंसा आदि पदोंको क्रमसे रखनेका प्रयोजन	265
तोदाहरण अवर्णवादका निरूपण	255	रात्रिभोजन विरमण व्रत अलगसे नहीं कहने का कारण	265
रात्रिभोजनके आस्रव	255	व्रतके दो भेद	265
वषाय आदि पदोंकी व्याख्या	255	प्रत्येक पदकी व्याख्या	2 5
रात्रिभोजनके आस्रवोंका विस्तार से निरूपण	256	व्रतकी स्थिरताके लिए पाँच-पाँच भावनाओंका अधिकार सूत्र	266
रकायुके आस्रव	256	अहिंसा व्रतकी पाँच भावनाएँ	266
रकायुके आस्रवोंका विस्तारसे निरूपण	256	सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ	266

अनुवीचीभाषण पदका अर्थ	266	मूर्च्छाको परिग्रह मानने पर बाह्य पदार्थ परिग्रह	
अचौर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ	266	कैसे हैं इस बातका विचार	274
प्रत्येक पदकी व्याख्या	267	व्रतीका स्वरूप	275
ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ	267	शल्य पदकी व्याख्या व उसके भेद	275
परिग्रहत्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ	267	शल्य के तीनों भेदों की व्याख्या	275
हिंसादिकमें अपाय और अवयवदर्शनका उपदेश	268	निःशल्यको व्रती कहने का प्रयोजन	275
हिंसादिक कैसे अपाय और अवयव हैं इसका		व्रतीके दो भेद	276
विस्तारसे विवेचन	268	अगार पदका अर्थ	276
हिंसादिक दुःख ही हैं इस भावनाका उपदेश	268	मुनिके शून्य अगार आदिमें रहने पर अगारी-	
हिंसादिक दुःख कैसे हैं इसका विस्तारसे विवेचन	269	पन प्राप्त होता है और गृहस्थके घर छोड़	
लोककल्याणकारी मैत्री आदि चार भावनाएँ	269	देने पर अनगारीपन प्राप्त होता है इस शंकाका	
मैत्री आदि पदकी व्याख्या	270	परिहार	276
संवेग और वैराग्यके लिए जगत् और कायके		अगारीके पूरे व्रत नहीं होने से वह व्रती कैसे है	
स्वभावका चिन्तन	270	इस बातका विचार	276
लोकका आकार	270	अगारीकी व्याख्या	277
जगत् और कायके स्वभावका किस प्रकार		अगारीके व्रतोंको अणु कहने का प्रयोजन	277
विचार करे	270	अगारी किस प्रकारकी हिंसाका त्यागी होता है	277
हिंसाकी व्याख्या	271	अहिंसा आदि पाँचों अणुव्रतों की व्याख्या	277
प्रमत्तयोगपदकी सार्थकता	271	अगारी अन्य किन गुणोंसे सम्पन्न होता है	
प्राणोंका वियोग न होने पर हिंसा होती है		इसका विचार	278
इस बातका उल्लेख	271	दिग्विस्तारव्रतकी व्याख्या	278
अनृतकी व्याख्या	272	देशाविरति व्रतकी व्याख्या	278
असत् और अनृत पदकी व्याख्या	272	अनर्थदण्डका अर्थ	278
हिंसाकर वचन ही अनृत है इस बातका		अनर्थदण्डके पाँच भेद और उनकी व्याख्या	278
खुलासा	272	सामायिक की व्याख्या	279
स्तेयकी व्याख्या	272	प्रोपद्य व उपवास शब्दका अर्थ	279
आदान पदका अर्थ	272	प्रोषधोपवासकी व्याख्या	279
कर्म और नोकर्मका ग्रहण स्तेय क्यों नहीं है		उपभोगपरिभोगकी व्याख्या	280
इसका विचार	273	मधु आदिके सप्रयोजन त्यागका उपदेश	280
भिक्षुके भ्रमण करते समय रथ्याद्वार में प्रवेश		केतकी आदिके फूल व साधारण वनस्पति के	
करनेसे चोरी क्यों नहीं होती इसका विचार	273	सप्रयोजन त्यागका उपदेश	280
अब्रह्मकी व्याख्या	273	यान वाहन आदिके परिमाण करनेका उपदेश	280
मिथुन पदका अर्थ	273	अतिथि पदकी व्याख्या	280
सब कर्म मैथुन क्यों नहीं है इसका खुलासा	273	अतिथिसंविभागके चार भेद	280
ब्रह्म पदकी व्याख्या	274	गृहस्थका सल्लेखना धर्म	280
परिग्रहकी व्याख्या	274	मरण पदकी व्याख्या	280
मूर्च्छा पदका अर्थ	274	सल्लेखना पदका अर्थ	280
मूर्च्छा पदसे वातादि प्रकोपजन्य मूर्च्छाका ग्रहण		सूत्र में 'जोषिता' पद रखनेका कारण	281
क्यों नहीं किया इस बातका खुलासा	274	सल्लेखना आत्मवध नहीं है इस बातका समर्थन	281

		आठवां अध्याय
सम्यग्दृष्टिके पाँच अतिचार	282	
प्रशंसा और संस्तवमें अन्तर	282	
सम्यग्दर्शनके आठ अंग होने पर पाँच अतिचार		बन्धके हेतु 291
ही क्यों कहे इसका कारण	282	प्रमाद बदकी व्याख्या 291
व्रतों और शीलों में पाँच-पाँच अतिचारोंको		मिथ्यादर्शनके दो भेद और उनकी व्याख्या 291
चलानेवाला अधिकार सूत्र	282	परोपदेशनिमित्त मिथ्यादर्शनके चार या पाँच
अहिंसागुणव्रत के पाँच अतिचार	283	भेद व उनका खुलासा 291
बन्ध आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	283	क्रियावादी आदिके अवान्तर भेद 292
सत्यागुणव्रतके पाँच अतिचार	283	अविरतिके 12 भेद 292
मिथ्योपदेश आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	283	कषायके 25 भेद 292
अचौर्यागुणव्रतके पाँच अतिचार	284	मनोयोग आदिके अवान्तर भेद 292
स्तेनप्रयोग आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	284	प्रमादके अनेक भेद 292
स्वदारसन्तोष व्रतके पाँच अतिचार	285	किस गुणस्थानमें कितने बन्धके हेतु हैं इसका
परविवाहकरण आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	285	विचार 292
परिग्रहपरिमाण व्रतके पाँच अतिचार	285	बन्धकी व्याख्या 293
दिग्विरमणव्रतके पाँच अतिचार	286	'सकपायत्वात्' पद देनेका प्रयोजन 293
ऊर्ध्वव्यतिक्रम आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	286	'जीवः' पद देनेका प्रयोजन 293
देशविरमणव्रतके पाँच अतिचार	286	'कर्मणो योश्चान्' इस प्रकार निर्देश करनेका
आनयन आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	286	प्रयोजन 293
अनर्थदण्डविरतिव्रत के पाँच अतिचार	286	दृष्टान्तपूर्वक कर्मरूप परिणमन का समर्थन 293
कन्दर्प आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	286	'सः' पदकी सार्थकता 294
सामायिकके पाँच अतिचार	287	बन्धके चार भेद 294
योगदुष्प्रणिधान आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	287	प्रकृति आदि प्रत्येक पदकी दृष्टान्तपूर्वक व्याख्या 294
प्रोषधोपवासके पाँच अतिचार	287	प्रकृति और प्रदेशबन्धका कारण योग है तथा
अप्रत्यवेक्षित आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	287	स्थितिवन्ध और अनुभागबन्धका कारण
भोगोपभोगपरिसंख्यानव्रतके पाँच अतिचार	288	कषाय है इस बातका निर्देश 295
सचित्त आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	288	प्रकृतिबन्धके आठ भेद 296
अतिशिसंविभाग शीलके पाँच अतिचार	288	आवरण पदकी व्याख्या 296
अचित्तनिक्षेप आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	288	वेदनीय आदि प्रत्येक पदकी व्युत्पत्ति 296
सल्लेखनाके पाँच अतिचार	288	प्रकृतिबन्धके आठ भेदोंके अवान्तर भेद 297
जीविताशंसा आदि प्रत्येक पदकी व्याख्या	288	ज्ञानावरणके पाँच भेद 297
दान पदकी व्याख्या	289	अभव्यके मनःपर्यय और केवलज्ञान शक्ति किस
अनुग्रह पदका अर्थ	289	अपेक्षासे है 297
स्वोपकार क्या है और परोपकार क्या है इसका		भव्य और अभव्य विकल्पका कारण 298
खुलासा	289	दर्शनावरणके नौ भेद 298
'स्व' शब्दका अर्थ	289	निद्रा आदि पाँचोंकी व्याख्या 299
दानमें विशेषता लानेके कारण	289	वेदनीयके दो भेद 299
विधिविशेष शब्दका अर्थ	289	सद्वैद्य और असद्वैद्यकी व्याख्या 299
विधिविशेष आदिका खुलासा	289	मोहनीयके 28 भेद 300

दर्शनमोहनीय के तीन भेदोंका कारण व उनकी व्याख्या	300	मूल प्रकृतियों का स्वमुख से अनुभव	311
चारित्रमोहनीय के सब भेदों की व्याख्या	301	कुछ कर्मोंको छोड़कर उत्तर प्रकृतियोंका परमुख से भी अनुभव होता है	312
आयुर्कर्मके चार भेद	303	अपने कर्म के नामानुसार अनुभव होता है	312
आयुष्यपदेशका कारण व चारों आयुओंकी व्याख्या	303	कर्मफल के बाद निर्जरा होती है	312
नामकर्मके अवान्तर भेद	303	निर्जरा व उसके भेदों की व्याख्या	312
गति व उसके भेदोंकी व्याख्या	303	'च' पद की सार्थकता	312
जाति व उसके भेदोंकी व्याख्या	304	विशेषार्थ द्वारा अनुभागबन्धका विलेख विवरण	313
शरीर नामकर्म व उसके भेदों की व्याख्या	304	प्रदेशबन्ध की व्याख्या	315
अंगोपांग व उसके भेदों की व्याख्या	304	पुण्य प्रकृतियाँ	316
निर्माण व उसके भेदों की व्याख्या	304	पुण्य प्रकृतियों के नाम	316
बन्धन की व्याख्या	304	पाप प्रकृतियाँ	317
संघातकी व्याख्या	304	पाप प्रकृतियों के नाम	317
संस्थान व उसके छह भेदों की व्याख्या	304		
संहतन व उसके छह भेदोंकी व्याख्या	304		
स्पर्शादिक बीस की व्याख्या	305		
आनुपूर्व्य व उसके चार भेदोंकी व्याख्या	305		
पूर्वोक्त भेदोंके सिवा अन्य भेदोंकी व्याख्या	306		
गोत्र कर्मके दो भेद	307		
उच्च व नीच गोत्रकी व्याख्या	307		
अन्तराय कर्मके पाँच भेद	308		
दानान्तराय आदिके कार्य	308		
आदि के तीन कर्म व अन्तराय कर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध	309		
इन कर्मों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी	309		
मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध	309		
मोहनीयके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी	309		
नाम और गोत्रकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध	309		
इन कर्मोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी	309		
आयुर्कर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध	310		
आयुर्कर्मके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी	310		
वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध	310		
नाम और गोत्रकर्मका जघन्य स्थितिबन्ध	310		
शेष कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध	311		
अनुभागबन्धकी व्याख्या	311		
विपाकपदकी व्याख्या	311		
अनुभवके दो भेद	311		
अनुभवकी दो प्रकार से प्रवृत्ति	311		
		नौवाँ अध्याय	
		संवर का स्वरूप	318
		संवर के दो भेद व उनके लक्षण	318
		किस गुणस्थान में किस निमित्त से कितनी प्रकृतियों का संवर होता है	318
		संवर के हेतु	320
		गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह-जयका स्वरूप	321
		सूत्रमें आए हुए 'सः' पदकी सार्थकता	321
		संवर और निर्जराके हेतुभूत तपका निर्देश	321
		तपका धर्ममें अन्तर्भाव होता है फिर भी उसके अलग से कहने का कारण	321
		तप अभ्युदय स्वर्गादिका कारण होकर भी निर्जराका कारण कैसे है इस शंका का समाधान	321
		गुप्तिका स्वरूप	322
		निग्रह पद की व्याख्या	322
		सम्यक् पदकी सार्थकता	322
		गुप्ति संवरका कारण कैसे है इस बातका निर्देश	322
		समिति के पाँच भेद	322
		समितिसंवर का हेतु कैसे है इस बातका निर्देश	323
		धर्म के दस भेद	323
		गुप्ति, समिति और धर्मको संवरका हेतु कहने का प्रयोजन	323
		क्षमादि दस धर्मोंका स्वरूप	323

सत्य और भाषा समितिमें अन्तर का कथन	323	ज्ञानावरण के उदयमें प्रज्ञा परीषद् कैसे होता है इसका विचार	340
ये दस धर्म संवरके कारण कैसे हैं इसका विचार	324	दर्शनमोह और अन्तरायके उदय में जो परिषद् होते हैं उनका निर्देश	340
अनुप्रेक्षाके बारह भेद	324	चारित्र्यमोह के उदय में जो परीषद् होते हैं उनका निर्देश	341
अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओंके चिन्तन करने की प्रक्रिया	324	निषद्यापरीषद् चरित्रमोहके उदय में कैसे होता है इसका विचार	341
निर्जरा के दो भेद व उनकी व्याख्या	327	वेदनीयके उदयमें जो परीषद् होते हैं इसका विचार	342
ये अनुप्रेक्षाएँ संवर का कारण कैसे हैं इसका विचार	328	एक जीवके एक साथ कितने परीषद् होते हैं इसका विचार	342
अनुप्रेक्षा को संवरके हेतुओंके मध्यमें रखनेका प्रयोजन	329	एक जीव के एक साथ उन्नीस परीषद् क्यों होते हैं इसका विचार	342
परीषद् की निरुक्ति व प्रयोजन	329	प्रज्ञा और अज्ञान परीषद् एक साथ कैसे होते हैं इसका विचार	342
परीषद्जय संवर और निर्जराका कारण कैसे है इसका विचार	329	चारित्र्यके पाँच भेद	343
परीषद्को नाम	330	चारित्र्यको अलगसे ग्रहण करने का प्रयोजन	343
धुधादि बार्दस परीषद्को को किस प्रकार जीतना चाहिए इसका पृथक्-पृथक् विचार	330	सामायिकचारित्र्यके दो भेद और उनकी व्याख्या	343
पूर्वोक्त विधि से परीषद्को को सहन करने से संवर होता है इसका निर्देश	336	छेदोपस्थापनाचारित्र्यका स्वरूप	343
सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थ बीतराग के चौदह परीषद् होते हैं इस बात का निर्देश	337	परिहारविशुद्धिचारित्र्य का स्वरूप	343
सूक्ष्मसाम्पराय जीवके मोहोदयनिमित्तक परीषद् क्यों नहीं होते इस शंका का परिहार	337	सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र्य का स्वरूप	343
पूर्वोक्त जीवोंके ये चौदह परीषद् किस अपेक्षासे होते हैं इस बात का विचार	337	अथाख्यातचारित्र्यका स्वरूप व अथ शब्दकी सार्थकता	343
जिनके ग्यारह परीषद् होते हैं इस बात का निर्देश	337	अथाख्यातका दूसरा नाम यथाख्यात है इस बातका समुक्तिक निर्देश	344
जिनके ग्यारह परीषद् किंनिमित्तक होते हैं इस बातका निर्देश	337	'इति' शब्द की सार्थकता	344
जिनके मोहनीयका उदय न होनेपर भी ग्यारह परीषद् क्यों कहे हैं इस बातका निर्देश	338	सामायिक आदिके आनुपूर्वी कथनकी सार्थकता	344
'न सन्ति' पद के अध्याहारकी सूचना	338	बाह्य तपके छह भेद	345
बादरसाम्पराय के सब परीषद् होते हैं इस बात का निर्देश	339	अनशन आदि की व्याख्या व उसके कथन का प्रयोजन	345
बादरसाम्परायशब्द का अर्थ	339	परीषद् और कायक्लेश में क्या अन्तर है इस बातका निर्देश	345
किन चारित्र्यों में सब परीषद् सम्भव हैं इस बात का निर्देश	339	ब्राह्म तप कहनेका प्रयोजन	345
ज्ञानावरणके उदय में जो दो परीषद् होते हैं उनका निर्देश	340	अन्तरंग तपके छह भेद	346
		प्रायश्चित्त आदि की व्याख्या	346
		ध्यान को छोड़कर शेष पाँच अन्तरंग तपों के अवाप्तर भेद	346

प्राथमिकतके नौ भेद	346	रीद्रध्यानके चार भेद व स्वाधी	353
आलोचना आदि नौ भेदों की व्याख्या	346	देशसंयतके रीद्रध्यान कैसे होता है इस	
विभय तपके चार भेद	348	बात का विचार	353
ज्ञानविभय आदि चार भेदों की व्याख्या	348	संयतके रीद्रध्यान न होने का कारण	353
वैद्यावृत्य तपके दस भेद	348	धर्म्यध्यानके चार भेद	353
वैद्यावृत्य तप के दस भेदों का कारण	348	विचय पदकी निरुक्ति	353
आचार्य आदि पदों की व्याख्या	348	आज्ञाविचय आदि चारोंकी व्याख्या	353
स्वाध्याय तप के पाँच भेद	349	धर्म्यध्यानके चारों भेदोंके स्वामी	354
वाचना आदि पदों की व्याख्या व प्रयोजन	349	विलेपार्थ द्वारा कर्मोंके उदय व उदीरणाका	
व्युत्सर्ग तपके दो भेद	349	विशेष विवेचन	355
व्युत्सर्ग पद की निरुक्ति व भेदनिर्देश	349	आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वविद्के होते हैं	357
वाह्य उपधिके प्रकार	349	पूर्वविद् पदका अर्थ	357
अन्तरंग उपधि के प्रकार	3-9	श्रेणी आरोहणके पूर्व धर्म्यध्यान होता है	
व्युत्सर्ग तपका प्रयोजन	349	और बाद में शुक्लध्यान होता है इस	
ध्यान का प्रयोक्ता, स्वरूप व काल परिमाण	350	बातका निर्देश	357
आदिके तीन संहनन उत्तम हैं इस बातका निर्देश	350	अन्तके दो शुक्लध्यान केबलीके होते हैं	357
ध्यानके साधन ये तीनों हैं पर मोक्षका साधन		शुक्लध्यानके चार भेदोंके नाम	358
प्रथम संहनन ही है इस बात का निर्देश	350	शुक्लध्यानके चारों भेदोंके स्वामी	358
एकाग्रचित्तानिरोध पदकी व्याख्या	350	आदिके दो शुक्लध्यानोंमें विशेषतःका कथन	358
चिन्तानिरोधको ध्यान कहतेसे आनेवाले		एकाग्र पदका तात्पर्य	358
दोषका परिहार	350	दूसरा शुक्लध्यान अविचार है इस बातका	
ध्यान के चार भेद	351	निर्देश	359
आर्त आदि पदोंकी व्याख्या	351	वितर्क शब्दका अर्थ	359
चारों प्रकार के ध्यानों मेंसे प्रत्येकके दो दो		वीचार पदकी व्याख्या	359
भेद क्यों हैं इस बातका निर्देश	351	अर्थ, व्यंजन, योग और संक्रान्ति पदकी	
अन्तके दो ध्यान मोक्षके हेतु हैं	351	व्याख्या	359
पर शब्दसे अन्तके दो ध्यानोंका ग्रहण कैसे		अर्थसंक्रान्तिका उदाहरण	359
होता है इस बात का निर्देश	351	व्यंजनसंक्रान्तिका प्रकार	359
आर्तध्यान के प्रथम भेदका लक्षण	352	योगसंक्रान्तिका प्रकार	359
अमनोज्ञ पदकी व्याख्या	352	मुनि पृथक्त्ववितर्क वीचारका ध्यान किस लिए	
आर्तध्यान द्वितीय भेदका लक्षण	352	और कब करता है इस बातका निर्देश	360
वेदना नामक आर्तध्यानका लक्षण	352	मुनि एकत्ववितर्कका ध्यान किस लिए और	
वेदना पद की व्याख्या	352	कब करता है इस बातका निर्देश	360
निवाह नामक आर्तध्यान का लक्षण	352	मुनि सूक्ष्मक्रियाप्रतिधाति ध्यान किस लिए और	
चारों प्रकारके आर्तध्यानके स्वामी	353	कब करता है इस बातका निर्देश	360
अविरत आदि पदों की व्याख्या	353	मुनि व्युच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान किस लिए	
अविरत आदि तीनोंके आदिके तीन ध्यान		और कब करता है इस बातका निर्देश	361
होते हैं किन्तु निदान प्रमत्तसंयतके नहीं		साक्षात् मोक्षका कारण क्या है इस बातका	
होता इस बातका निर्देश	353	निर्देश	361

साक्षात् मोक्षका कारण मिलने पर मुनि मुक्त होता है इस बात का निर्देश	361	यत्नसाध्य अभाव किस क्रमसे होता है इस बातका निर्देश	368
दोनों प्रकारका तप संवरके साथ निर्जराका भी कारण है इस बातका समर्थन	361	अन्य किन भावोंके अभावसे मोक्ष होता है इस बातका निर्देश	370
किसके कितनी निर्जरा होती है अधिकारी भेदसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जराका विशेष खुलासा	361	भव्यत्व पदको ग्रहण करनेका कारण मोक्ष में किन भावोंका अभाव नहीं होता इस बातका निर्देश	370
निर्ग्रन्थोंके पाँच भेद	363	मोक्षमें अनन्त वीर्य आदि का सद्भावख्यापन	370
पुलाक आदि पदोंकी व्याख्या	363	मुक्त जीवों के आकार का शंका-समाधानपूर्वक प्रतिपादन	371
ये पुलाकादि पाँचों किस अपेक्षासे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं इसका कारण	363	मुक्त जीव लोकाकाश प्रमाण क्यों नहीं होता इस बात का निर्देश	371
निर्ग्रन्थों में संयम आदिकी अपेक्षा भेद कथन	364	मुक्त जीव के ऊपर लोकान्त गमनका निर्देश	371
संयमकी अपेक्षा भेद कथन	364	ऊपर लोकान्तगमनमें हेतुओं का निर्देश	371
श्रुतकी अपेक्षा भेद कथन	364	दृष्टान्तों द्वारा हेतुओं का समर्थन	372
प्रतिसेवनाकी अपेक्षा भेद कथन	364	हेतुपूर्वक दृष्टान्तों का विशेष स्पष्टीकरण	372
तीर्थकी अपेक्षा भेद कथन	365	ऊपर लोकान्तसे आगे गमन न करने का कारण	373
लिंगकी अपेक्षा भेद कथन	365	मुक्त जीवोंमें क्षेत्र आदिकी अपेक्षा भेद कथन	373
लेण्याकी अपेक्षा भेद कथन	365	भेदकथन में दो तथ्योंका अवलम्बन	373
उपपादकी अपेक्षा भेद कथन	365	क्षेत्र की अपेक्षा भेद कथन	373
स्थानकी अपेक्षा भेद कथन	365	कालकी अपेक्षा भेद कथन	373
		गतिकी अपेक्षा भेद कथन	373
		लिंग की अपेक्षा भेद कथन	373
		तीर्थकी अपेक्षा भेद कथन	374
		चारित्र्य की अपेक्षा भेद कथन	374
		प्रत्येक बुद्धिबोधित की अपेक्षा भेद कथन	374
		ज्ञान की अपेक्षा भेदकथन	374
		अवगाहन की अपेक्षा भेद कथन	374
		अन्तर की अपेक्षा भेद कथन	374
		संख्या की अपेक्षा भेद कथन	374
		क्षेत्रादिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व	374
		सर्वार्थसिद्धि इस नाम की सार्थकता और महत्त्वप्रख्यापन	375
		वीरजिनकी स्तुति	375

इसवाँ अध्याय

केवलज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु और कर्मक्षयका क्रमनिर्देश	367
मोहक्षयात् पदको अलग रखनेका कारण	367
मोहका क्षय पहले क्यों और किस क्रमसे होता है इस बात का निर्देश	367
क्षीणकषाय जीवके शेष ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय कब और किस क्रमसे होता है इस बातका निर्देश	367
कारणपूर्वक मोक्षका स्वरूप	368
कर्मके अभावके दो भेद	368
किन कर्मोंका अयत्नसाध्य अभाव होता है इस बातका निर्देश	368

टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रन्थोंको संकेत-सूची

संकेत	ग्रन्थनाम	संकेत	ग्रन्थनाम
अने० ना०	अनेकान्त नाममाला	प्र०वातिकाल०	प्रमाणवातिकालकार
अ०	अन्ध प्रति	प्रवचन० क्षे०	प्रवचनसार क्षेत्र
आ० नि०	आचारांग निर्युक्ति	प्रश्न० व्यो०	प्रश्नस्तपादभाष्य व्योमवती टीका
आ०	आरा प्रति	बा० अणु	बारह अणुपेक्षा
गो० क०	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	बा० भा०	बाह्यस्पत्य भाष्य
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड	मु०	मुद्रित प्रति (सर्वार्थसिद्धि)
जी० चू०	जीवट्टाण चूलिका	मूला०	} मूलाचार
जैनेन्द्र०	जैनेन्द्र व्याकरण	मूलाचा०	
त०	ताडपत्रीय प्रति १	युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासन
तत्त्वा०	तत्त्वार्थवातिक	यो०भा०	योगभाष्य
दि० १	दिल्ली प्रति १	योगसू०	योगसूत्र
दि० २	दिल्ली प्रति २	रत्न०	रत्नकरण्डक
धव० प्र० अ०	धवला प्रति अमरावती	वि० भा०	विशेषावश्यक भाष्य
ता०	ताडपत्रीय प्रति २	वि० म०	विशुद्धिमग्न
न्या० भा०	न्यायभाष्य	सन्मति०	सन्मतितर्क
न्यायविन्दुटी०	न्यायविन्दु टीका	स०प्रा०	समयप्राभूत
न्या०सू०	न्यायसूत्र	स०	} सर्वार्थसिद्धि
परि०शे०	परिभाषेन्दुशेखर	सर्वा०	
प० मु०	परीक्षामुख	सिद्धिद्वा०	सिद्धिद्वानिशत्का
पा०	} पातञ्जल महाभाष्य	सौन्दर०	सौन्दरानन्द
पा०म०भा०		सां०की०	सांख्यकौमुदी
पा० यो०सू०	पातञ्जल योगसूत्र		
पंच०	पंचसंग्रह (श्वे.)		

अ०	अध्याय
प०	पत्र
पृ०	पृष्ठ
श्लो०	श्लोक
सू०	सूत्र

•

श्रीपूज्यपादाचार्यविरचिता

सर्वार्थसिद्धिः

प्रथमोऽध्यायः

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभूताम् ।

ज्ञातारं विश्वतस्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥१॥

§ 1. कश्चिद् भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितगुणलिप्सुविविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं भूत्समिव मोक्षमार्गमवाग्विदर्शयपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिवेद्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म । भगवन्, किं^१ नु खलु आत्मने हितं स्यादिति ? स आह मोक्ष इति । स एव पुनः प्रत्याह—किंस्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति ? आचार्य आह—निरवशेष-निराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्थात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष^२ इति ।

§ 2. तस्यात्यन्तपरोक्षत्वाच्छब्दमस्याः प्रवादिनस्तीर्थंकरमन्यास्तस्य स्वरूपमस्पृशन्ती-भिर्वाग्भिर्भुक्त्याभासनिबन्धनाभिरन्यथैव परिकल्पयन्ति “चैतन्यं” पुरुषस्य स्वरूपम्,^४ तच्च ज्ञेया-

जो मोक्षमार्गके नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतोंके भेदनेवाले हैं और विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता हैं, उनकी मैं उन समान गुणोंकी प्राप्तिके लिए द्रव्य और भाव उभयरूपसे वन्दना करता हूँ ॥१॥

§ 1. अपने हितको चाहनेवाला कोई एक बुद्धिमान् निकट भव्य था । वह अत्यन्त रमणीय भव्य जीवोंके विश्रामके योग्य किसी एकान्त आश्रममें गया । वहाँ उसने मुनियोंकी सभामें बैठे हुए वचन बोले बिना ही, मात्र अपने शरीरकी आकृतिसे मानो भूतिमान् मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाले, युक्ति तथा आगममें कुशल, दूसरे जीवोंके हितका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करनेवाले और आर्य पुरुषोंके द्वारा सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर विनयके साथ पूछा—‘भगवन् ! आत्माका हित क्या है ?’ आचार्यने उत्तर दिया—‘आत्माका हित मोक्ष है ।’ भव्यने फिर पूछा—‘मोक्षका क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ?’ आचार्यने कहा कि—‘जब आत्मा भावकर्म द्रव्यकर्ममल कलंक और शरीरको अपनेसे सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं ।’

§ 2. वह (मोक्ष) अत्यन्त परोक्ष है, अतः अपनेको तीर्थंकर माननेवाले अल्पज्ञानी प्रवादी लोग मोक्षके स्वरूपको स्पर्श नहीं करनेवाले और असत्य युक्तिरूप वचनोंके द्वारा उसका स्वरूप सर्वथा अन्य प्रकारसे बतलाते हैं । यथा—(१. सांख्य) पुरुषका स्वरूप चैतन्य है जो ज्ञेयके

१. किं खलु आत्मने- आ., अ. । किं खलु आत्मनो- दि. १, दि. २ । २. मोक्षः त- आ., अ., दि. १ दि. २ । ३. ‘चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति’—योगमा. १।१। ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’—योगसू. १।३। ४. स्वरूपमिति त- आ., त. ।

कारपरिच्छेदपराङ्मुखम्¹” इति । तत्सदप्यसदेव² निराकारत्वादिति । “³बुद्ध्यादिवैशेषिक-
गुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्षः” इति⁴ । तदपि परिकल्पनमसदेव, विशेषलक्षणभूतस्यावस्तुत्वात् ।
“प्रदीपनिर्वाण⁵कल्पमात्मनिर्वाणम्” इति च । तस्य⁶ खरविषाणकल्पना तरेवाहत्य निरूपिता ।
इत्येवमादि । तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः ।

§ 3. तत्प्राप्त्युपायं प्रत्यपि ते विसंवन्ते—“ज्ञानादेव चारित्रनिरपेक्षात्तत्प्राप्तिः,
श्रद्धानमात्रादेव वा, ज्ञाननिरपेक्षाच्चारित्रमात्रादेव” इति च । व्याध्यभिभूतस्य तद्विनिवृत्त्यु-
पायभूतभेषजविषयव्यस्तज्ञानादिसाधनत्वाभाववद्⁷ व्यस्तं ज्ञानादिमोक्षप्राप्त्युपायो न भवति ।⁸

ज्ञानसे रहित है । किन्तु ऐसा चैतन्य सत्स्वरूप होकर भी असत् ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसका स्वरूपव्यवसायलक्षण कोई आकार अर्थात् स्वरूप नहीं प्राप्त होता । (2. वैशेषिक) बुद्धि आदि विशेष गुणोंका नाश हो जाना ही आत्माका मोक्ष है । किन्तु यह कल्पना भी असमीचीन है, क्योंकि विशेष लक्षणसे रहित वस्तु नहीं होती । (3. बौद्ध) जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्माकी सन्तानका विच्छेद होना ही मोक्ष है । किन्तु जैसे गदहेके सींग केवल कल्पनाके विषय होते हैं स्वरूपसत् नहीं होते वैसे ही इस प्रकारका मोक्ष भी केवल कल्पनाका विषय है स्वरूपसत् नहीं । यह बात स्वयं उन्हींके कथनसे सिद्ध हो जाती है । इत्यादि । इस मोक्षका निर्दोष स्वरूप आगे (दसवें अध्याय के सूत्र 2में) कहेंगे ।

§ 3. इसी प्रकार वे प्रवादी लोग उसकी प्राप्तिके विषयमें भी विवाद करते हैं । कोई मानते हैं कि (1) चारित्रनिरपेक्ष ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । दूसरे मानते हैं कि (2) केवल श्रद्धानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । तथा अन्य मानते हैं कि (3) ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । परन्तु जिस प्रकार रोगके दूर करनेकी उपायभूत दवाईका मात्र ज्ञान, श्रद्धान या आचरण रोगीके रोगके दूर करनेका उपाय नहीं है उसी प्रकार अलग-अलग ज्ञान आदि मोक्षकी प्राप्तिके उपाय नहीं हैं ।

विशेषार्थ—अब तक जो कुछ बतलाया है यह तत्त्वार्थसूत्र और उसके प्रथम सूत्रकी उत्थानिका है । इसमें सर्व प्रथम जिस भव्यके निमित्तसे इसकी रचना हुई उसका निर्देश किया है । आशय यह है कि कोई एक भव्य आत्माके हितकी खोजमें किसी एकान्त रम्य आश्रममें गया और वहाँ भुनियोंकी सभामें बैठे हुए निर्ग्रन्थाचार्यसे प्रश्न किया । इसपरसे इस तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई है । तत्त्वार्थवार्तिकके प्रारम्भमें जो उत्थानिका दी है उससे भी इस बातकी पुष्टि होती है । किन्तु वहाँ प्रथम सूत्रका निर्देश करनेके बाद एक दूसरे अभिप्रायका भी उल्लेख किया है । वहाँ बतलाया है कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके सम्बन्धमें अन्य लोग इस प्रकारसे व्याख्यान करते हैं कि ‘इधर पुरुषोंकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है, अतः सिद्धान्तकी प्रक्रिया-
की प्रकट करनेके लिए मोक्षमार्गके निर्देशके सम्बन्धसे आनुपूर्वी क्रमसे शास्त्रकी रचनाका प्रारम्भ करते हुए “सम्पन्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” यह सूत्र कहा है । यहाँ शिष्य और आचार्य-

1. भुक्षम् । तत्-- आ. । 2.--त्वात् खरविषाणवत् । वृद्ध्या-- मु. । 3. 'नवानामात्मविशेषगुणाना-
मत्यन्तोच्छित्तिमोक्षः' -- प्रश्न. व्यो. पृ. 638 । 4. इति च । तदपि दि. 1, अ. । 5. 'यस्मिन् न
जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोगः । नेच्छाविपन्नप्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं
तत् ॥ दीपो यथा निवृत्तिमप्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न कांचिद्विदिशं न कर्मचत्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।'—सौन्दर. 16:27-29 । 'प्रदीपस्येव निर्वाणं विणोक्षस्तस्य चेतसः ।'
—प्र. वार्तिकालं. 1:45 । 6. -षाणवत्कल्पना-- आ., दि. । अ. मु. । 7. --वत् । एवं व्यस्तज्ञानादि-
दि. 1, दि. 2 मु. ।

का सम्बन्ध विवक्षित नहीं है, किन्तु आचार्य की इच्छा संसारसागरमें निमग्न प्राणियों के उद्धार करने की हुई। परन्तु मोक्षमार्गके उपदेशके बिना उनके हितका उपदेश नहीं दिया जा सकता; अतः मोक्षमार्गके व्याख्यानकी इच्छा से यह शास्त्र रचा गया। मालूम होता है कि इस उल्लेख द्वारा तत्त्वार्थवार्तिककारने तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी उत्थानिका का निर्देश किया है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें इसी आशयकी उत्थानिका पायी जाती है। श्रुतसागरसूरि ने भी अपनी श्रुतसागरी में यही बतलाया है कि किसी शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे आचार्यवर्यने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। उसमें शिष्यका नाम दयाक दिया है। इससे मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धिका यह अभिप्राय मुख्य है कि शिष्य के प्रश्नके निमित्तसे तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है। आगे उत्थानिका में मोक्षकी चर्चा आ जाने से थोड़ेमें मोक्षतत्त्वकी मीमांसा की गयी है। नियम यह है कि कर्म के निमित्तसे होनेवाले कार्यों में आत्मा की एकत्व तथा इष्टानिष्ट बुद्धि होनेसे संसार होता है। अतः कर्म, भावकर्म और नोकर्मके आत्मासे अलग हो जाने पर जो आत्माकी अपने ज्ञानादि गुण और आत्मोत्थ अव्याबाध सुखरूप स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते हैं यह सिद्ध होता है। किन्तु अन्य प्रवादी लोग इस प्रकारसे मोक्षतत्त्व का विश्लेषण करनेमें असमर्थ हैं। पूज्यपाद स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ आचार्यके मुखसे ऐसे तीन उदाहरण उपस्थित कराये हैं जिनके द्वारा मोक्षतत्त्वका गलत तरीकेसे स्वरूप उपस्थित किया गया है। इस प्रसंगसे सर्व प्रथम सांख्यमतकी मीमांसा की गयी है। यद्यपि सांख्योंने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकारके दुःखोंका सदा के लिए दूर हो जाना मोक्ष माना है, तथापि वे आत्माकी चैतन्य स्वरूप मानते हुए भी उसे ज्ञानरहित मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञानधर्म प्रकृतिका है तो भी संसर्गसे पुरुष अपनेको ज्ञानवान् अनुभव करता है और प्रकृति अपनेको चेतन अनुभव करती है। इसी से यहाँ सांख्यों के मोक्षतत्त्व की आलोचना न करके पुरुषतत्त्व की आलोचना की गयी है और उसे असत् बतलाया गया है। दूसरा मत वैशेषिकों का है। वैशेषिकोंने ज्ञानादि विशेष गुणोंको समवायसम्बन्धसे यद्यपि आत्मा में स्वीकार किया है तथापि वे आत्मासे उनके उच्छेद हो जानेको उसकी मुक्ति मानते हैं। उनके यहाँ बतलाया है कि बुद्धि आदि विशेष गुणोंकी उत्पत्ति आत्मा और मनके संयोगरूप असमवायी कारणसे होती है। मोक्ष अवस्थामें चूँकि आत्मा और मनका संयोग नहीं रहता अतः वहाँ विशेष गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। उनके यहाँ सभी व्यापक द्रव्योंके विशेष गुण क्षणिक माने गये हैं, इसलिए वे मोक्षमें ज्ञानादि विशेष गुणोंका अभाव होने में आपत्ति नहीं समझते। अब यदि राग-द्वेष आदिकी तरह मुक्तावस्थामें आत्मा को ज्ञानादि गुणोंसे भी रहित मान लिया जाय तो आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं ठहरता, क्योंकि जिसका किसी भी प्रकार का विशेष लक्षण नहीं पाया जाता वह वस्तु ही नहीं हो सकती। यही कारण है कि इनकी मान्यताका भी असत् बतलाया गया है। तीसरा मत बौद्धोंका है। बौद्धोंके यहाँ सोपधिशेष और निरुपधिशेष ये दो प्रकार के निर्वाण माने गये हैं। सोपधिशेष निर्वाणमें केवल अविद्या, तृष्णा आदि रूप आस्रवोंका ही नाश होता है, शुद्ध चित्सन्तति शेष रह जाती है। किन्तु निरुपधिशेष निर्वाणमें चित्सन्तति भी नष्ट हो जाती है। यहाँ मोक्षके इस दूसरे भेद को ध्यान में रखकर उसकी मीमांसा की गयी है। इस सम्बन्धमें बौद्धों का कहना है कि दीपकके बुझा देने पर जिस प्रकार वह ऊपर-नीचे दायें-बायें आगे-पीछे कहीं नहीं जाता किन्तु वहीं शान्त हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा की सन्तानका अन्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। इसके बाद आत्माकी सन्तान नहीं चलती, वह वहीं शान्त हो जाती है। बौद्धोंके इस तत्त्वकी मीमांसा करते हुए आचार्यने बतलाया है कि उनकी यह कल्पना असत् ही है।

§ 4. किं तर्हि ? तत् प्रितयं समुदितमित्याह—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

§ 5. सम्यगित्यव्युत्पन्नः शब्दो व्युत्पन्नो वा । अञ्चतेः क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति^१ । अस्यार्थः प्रशंसा । स प्रत्येकं परिसमाप्यते । सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति । एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निदर्शयामः । उद्देशमात्रं त्विदमुच्यते^२—पदार्थानां यथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यग्विशेषणम् । येन येन प्रकारेण जीवान्धः पदार्था व्यवस्थितान्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।^३ विमोहसंशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् । संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः^४ कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । अज्ञानपूर्वकाचरणनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम् ।

§ 6. पश्यति^५ वृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम् । जानाति^६ ज्ञायतेऽनेन जप्तिमात्रं वा

इस प्रकार थोड़ेमें मोक्ष तत्त्वकी मीमांसा करके आचार्यने अन्तमें उसके कारण तत्त्वकी मीमांसा की है । इस सिलसिलेमें केवल इतना ही लिखना है कि अधिकतर विविध मत वाले लोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र इनमें से एक-एकके द्वारा ही मोक्षकी सिद्धि मानते हैं । क्या सांख्य, क्या बौद्ध और क्या वैशेषिक इन सबने तत्त्वज्ञान या विद्याको ही मुक्तिका मुख्य साधन माना है । भक्ति-मार्ग या नामस्मरण यह श्रद्धाका प्रकारान्तर है । एक ऐसा भी प्रबल दल है जो केवल नाम-स्मरणको ही संसारसे तरनेका प्रधान साधन मानता है । यह दल इधर बहुत अधिक जोर पकड़ता जा रहा है । अपने इष्ट का कीर्तन करना इसका प्रकारान्तर है । किन्तु जिस प्रकार रोगका निवारण केवल दवाईके दर्शन आदि एक-एक कारणसे नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोक्षकी प्राप्ति भी एक-एकके द्वारा नहीं हो सकती । तो फिर मोक्षकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? यह प्रश्न शेष रहता है । इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आचार्यने प्रथम सूत्र रचा है । वे कहते हैं—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग है ॥१॥

§ 5. 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणसिद्ध है । जब यह व्याकरणसे सिद्ध किया जाता है तब सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्च् धातुसे विवप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है । संस्कृतमें इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है । प्रकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है । इसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें-से प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । लक्षण और भेदके साथ इनका स्वरूप विस्तारसे आगे कहेंगे । नाममात्र यहाँ कहते हैं—पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धानका संग्रह करनेके लिए दर्शनके पहले सम्यक् विशेषण दिया है । जिस जिस प्रकारसे जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं उस उस प्रकारसे उनका जानना सम्यग्ज्ञान है । ज्ञानके पहले सम्यक् विशेषण विमोह (अनध्यवसाय), संशय और विपर्यय ज्ञानोंका निराकरण करनेके लिए दिया है । जो ज्ञानी पुरुष संसारके कारणोंको दूर करनेके लिए उद्यत है उसके कर्मोंके ग्रहण करनेमें निमित्तभूत क्रियाके उपरम होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं । चारित्रके पहले 'सम्यक्' विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरणके निराकरण करने के लिए दिया है ।

1. -मिति : कोऽस्या- दि. 1 । 2. -च्यते । पदार्थानां यथा- मु. 3. ज्ञानम् । अनध्यवसाय सं- मु. । 4. -ज्ञानमिति तत्क्रियो- दि. 2 । 5. -षणम् । स्वयं पश्य- मु. । -षणम् । यस्मादिति पश्य- दि. 1. दि. 2 । 6. -श्यतेऽनेनेति दृष्टि- मु. । 7. ज्ञायतेऽनेन मु. । ज्ञानमात्रं दि. 2 ।

ज्ञानम् । चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्¹ । नन्वेवं स एव कर्त्ता स एव करणमित्या-
यातम् । तच्च विरुद्धम् । सत्यं, स्वपरिणामपरिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात् । यथाग्नि-
र्दहतीन्धनं दाहपरिणामेन । उक्तः कर्त्तादिसाधनभावः² पर्यायपर्यायिणोरेकत्वानेकत्वं प्रत्यनेकान्तोप-
पत्तौ स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविवक्षोपपत्तेरेकस्मिन्नप्यर्थे न विरुध्यते । अग्नौ दहनादिक्रियायाः कर्त्तादि-
साधनभाववत् ।

§ 7. ज्ञानग्रहणमाद्यौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात्³ अल्पात्तरत्वाच्च । नैतद्युक्तं,
युगपदुत्पत्तेः । यदास्य दर्शनमोहस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति
तदेव तस्य मत्यज्ञानभृताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति घनपटलविगमे⁴ सवितुः
प्रतापप्रकाशाभिर्व्यवहितवत् ।⁵ अल्पात्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति । कथमभ्यर्हितत्वम् ? ज्ञानस्य
सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात् । चारित्रात्पूर्वं ज्ञानं प्रयुक्तं, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।

§ 6. दर्शन, ज्ञान और चारित्रिका व्युत्पत्त्यर्थ— दर्शन शब्दको व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—
'पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्'—जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखना-
मात्र । ज्ञान शब्दको व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जानाति ज्ञायते अनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्—जो
जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है या जानना मात्र । चारित्र शब्दको व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ
है—चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्—जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण
किया जाता है या आचरण करना मात्र । शंका—दर्शन आदि शब्दोंकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करने
पर कर्त्ता और करण एक हो जाता है किन्तु यह बात विरुद्ध है ? समाधान—यद्यपि यह कहना
सही है तथापि स्वपरिणाम और परिणामीमें भेदकी विवक्षा होनेपर उक्त प्रकारसे कथन किया
गया है । जैसे 'अग्नि दाह परिणामके द्वारा ईंधनको जलाती है यह कथन भेदविवक्षाके होनेपर
ही बनता है । यहाँ चूँकि पर्याय और पर्यायीमें एकत्व और अनेकत्वके प्रति अनेकान्त है, अतः
स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य विवक्षाके होनेसे एक ही पदार्थमें पूर्वोक्त कर्त्ता आदि साधनभाव
विरोधको प्राप्त नहीं होता । जैसे कि अग्निसे दहन आदि क्रियाकी अपेक्षा कर्त्ता आदि साधन-
भाव बन जाता है, वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए ।

§ 7. शंका—सूत्रमें पहले ज्ञानका ग्रहण करना उचित है, क्योंकि एक तो दर्शन ज्ञान-
पूर्वक होता है और दूसरे ज्ञानमें दर्शन शब्दकी अपेक्षा कम अक्षर हैं ? समाधान—यह कहना
युक्त नहीं कि दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है इसलिए सूत्रमें ज्ञानको पहले ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि
दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं । जैसे मेघ-पटलके दूर हो जाने पर सूर्यके प्रताप और
प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं, उसी प्रकार जिस समय दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या
क्षयोपशम होनेसे आत्मा सम्यग्दर्शन पर्यायसे आविर्भूत होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान और
श्रुताज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं । दूसरे, ऐसा नियम है कि
सूत्रमें अल्प अक्षरवाले शब्दसे पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, अतः पहले ज्ञान शब्दको न रखकर
दर्शन शब्दको रखा है । शंका—सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों है ? समाधान—क्योंकि सम्यग्दर्शन
ज्ञानके सम्यक् व्यपदेशका हेतु है । चारित्र के पहले ज्ञान का प्रयोग किया है, क्योंकि चारित्र
ज्ञानपूर्वक होता है ।

1. -रित्रम् । उक्तः कर्त्ता- आ., ता. न. । 2. कर्त्तादिभिः सा- मु. । 3. 'अल्पात्तरम् ।'—पा.
2।2।34 । 4. -टलविरामे स- आ., अ., दि. 1, दि. 2 । 5. 'अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति'
—पा. म. भा. 2।2।2।34 ।

§ 8. सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । तत्प्राप्त्युपायो मार्गः । मार्ग इति श्लेषवचननिर्देशः समस्तस्य¹ मार्गभावशापनार्थः । तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति । अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुचितं मोक्षस्य साक्षात्प्राप्तौ वेदितव्यः ।

§ 9. तत्रादावुद्दिष्टस्य सम्यग्दर्शनस्य लक्षणनिर्देशार्थमिवमुच्यते—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥2॥

§ 10. तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची । कथम् ? तदिति सर्वनामपदम् । सर्वनाम च सामान्ये वर्तते । तस्य भावस्तत्त्वम्,² तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः । अयं³

§ 8. सब कर्मोंका जुदा होना मोक्ष है और उसकी प्राप्ति का उपाय मार्ग है । सूत्रमें 'मार्गः' इस प्रकार जो एकवचन रूपसे निर्देश किया है वह, सब मिलकर मोक्षमार्ग है, इस बातके जतानेके लिए किया है । इससे प्रत्येकमें मार्गपन है इस बातका निराकरण हो जाता है । अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर मोक्षका साक्षात् मार्ग है ऐसा जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—पूर्व प्रतिज्ञानुसार इस सूत्रमें मोक्षमार्गका निर्देश किया गया है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर मोक्षका साक्षात् मार्ग है यह इस सूत्र का तात्पर्य है । सूत्रकी व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिमें मुख्यतया पाँच विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है जो इस प्रकार हैं—1. दर्शन आदिके पहले 'सम्यक्' विशेषण देनेका कारण । 2. दर्शन आदि शब्दों का व्युत्पत्त्यर्थ । 3. एक ही पदार्थ अपेक्षाभेदसे कर्ता और करण कैसे होता है इसका निर्देश । 4. सूत्रमें सर्व प्रथम दर्शन, तदनन्तर ज्ञान और अन्तमें चारित्र्य शब्द क्यों रखा है इसका कारण । 5. सूत्रमें 'मोक्षमार्गः' यह एकवचन रखने का कारण । तीसरी विशेषताको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि जैन शासनमें पर्याय-पर्यायीमें सर्वथा भेद न मानकर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद माना गया है इसलिए अभेद विवक्षाके होनेपर कर्ता साधन बन जाता है और भेद विवक्षाके होनेपर करण साधन बन जाता है । आशय यह है कि जब अभेद विवक्षित होता है तब आत्मा स्वयं ज्ञानादि रूप प्राप्त होता है और जब भेद विवक्षित होता है तब आत्मासे ज्ञान आदि भिन्न प्राप्त होते हैं । चौथी विशेषताको स्पष्ट करते हुए जो यह लिखा है कि जिस समय दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम होकर आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय व्यक्त होती है उसी समय उसके मत्तज्ञान और श्रुताज्ञानका निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं । सो यह आपेक्षिक वचन है । वैसे तो दर्शनमोहनीयका क्षय सम्यग्दृष्टि ही करता है मिथ्यादृष्टि नहीं, अतः दर्शनमोहनीयके क्षणका समय मत्तज्ञान और श्रुताज्ञानके सद्भाव का प्रबल ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि दर्शनमोहनीयकी क्षणका समय इस जीवके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ही पाये जाते हैं । इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव वेदक-सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है उसके भी यही क्रम जान लेना चाहिए । शेष व्याख्यान सुगम है ।

§ 9. अब आदिमें कहे गये सम्यग्दर्शनके लक्षणका कथन करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अपने अपने स्वरूपके अनुसार पदार्थोंका जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है ॥2॥

§ 10. तत्त्व शब्द भाव सामान्यका वाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमें रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया । यहाँ 'तत्' पदसे कोई भी

1. समस्तमार्ग- आ., दि. 1, दि. 2 । 2. किं पुनस्तत्त्वम् । तद्भावस्तत्त्वम् । पा. म. भा. पृ. 59 ।

3. अर्थ्यते—आ. दि. 2 ।

इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत् । तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः । अथवा भावेन भाववतोऽभिधानम्, तदव्यतिरेकात् । तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः । तत्त्वार्थस्य श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्रत्येतव्यम् । तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादिः ।

§ 11. दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते ? धातूनामनेकार्थत्वाददोषः । प्रसिद्धार्यस्यागः कुत इति चेत् ? मोक्षमार्गप्रकरणात् । तत्त्वार्थश्रद्धानं ह्यात्मपरिणामो मोक्षसाधनं युज्यते, भव्यजीवविषयत्वात् । आलोकस्तु चक्षुरादिनिमित्तः सर्वसंसारिजीवसाधारणत्वान्न मोक्षमार्गो युक्तः ।

§ 12. अर्थश्रद्धानमिति चेत् ? सर्वार्थप्रसंगः । तत्त्वश्रद्धानमिति चेत् ? भावमात्रप्रसंगः । 'सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि तत्त्वम्' इति कैश्चित्कल्प्यत इति । तत्त्वमेकत्वमिति वा सर्वव्यग्रहणप्रसंगः । 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि कैश्चित्कल्प्यत इति । एवं सति दृष्टेष्टविरोधः । तस्मादव्यभिचारार्थमुभयोदपादानम् । तद् द्विविधं, सरागवीतरागविषयभेदात् प्रशमसंवेगानु-कम्पास्तिष्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् । आत्मविशुद्धिमात्रमितरत् ।

पदार्थ लिया गया है । आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है उसका उस रूप होना यही तत्त्व शब्दका अर्थ है । अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है...अर्थात् निश्चीयते इत्यर्थः—जो निश्चय किया जाता है । यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दोंके संयोगसे तत्त्वार्थ शब्द बना है जो 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः' ऐसा समास करने पर प्राप्त होता है । अथवा भाव-द्वारा भाववाने पदार्थ का कथन किया जाता है, क्योंकि भाव भाववाले से अलग नहीं पाया जाता । ऐसी हालतमें इसका समास होगा 'तत्त्वमेव अर्थः तत्त्वार्थः' । तत्त्वार्थका श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं कहलाता है । उसे ही सम्यग्दर्शन जानना चाहिए ।

§ 11. शंका—दर्शन शब्द 'दृशि' धातुसे बना है जिसका अर्थ आलोक है, अतः इससे श्रद्धानरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है ? समाधान—धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं, अतः 'दृशि' धातुका श्रद्धानरूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है । शंका—यहाँ 'दृशि' धातुका प्रसिद्ध अर्थ क्यों छोड़ दिया है ? समाधान—मोक्षमार्गका प्रकरण होने से । तत्त्वार्थोंका श्रद्धानं आत्माका परिणाम है वह मोक्षका साधन बन जाता है, क्योंकि वह भव्योंके ही पाया जाता है, किन्तु आलोक चक्षु आदिके निमित्तसे होता है जो साधारण रूपसे सब संसारी जीवोंके पाया जाता है, अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं है ।

§ 12. शंका—सूत्रमें 'तत्त्वार्थश्रद्धानम्' के स्थानमें 'अर्थश्रद्धानम्' इतना कहना पर्याप्त है ? समाधान—इससे अर्थ शब्दके धन, प्रयोजन और अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं उन सबके ग्रहणका प्रसंग आता है जो युक्त गहीं हैं, अतः 'अर्थश्रद्धानम्' केवल इतना नहीं कहा है । शंका—तब 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही ग्रहण करना चाहिए ? समाधान—इससे केवल भाव मात्र के ग्रहणका प्रसंग प्राप्त होता है । कितने ही लोग (वैशेषिक) तत्त्व पदसे सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इत्यादि का ग्रहण करते हैं । अब यदि सूत्रमें 'तत्त्वश्रद्धानम्' इतना ही रहने दिया जाता है तो इससे इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है । अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची है, इसलिए सूत्रमें केवल तत्त्व पदके रखने से 'सब सर्वथा एक हैं' इस प्रकार स्वीकार करनेका प्रसंग प्राप्त होता है । 'यह सब दृश्य व अदृश्य जग पुरुषस्वरूप ही है' ऐसा किर्त्तने माना भी है । किन्तु ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरोध आता है, अतः इन सब दोषोंके दूर करने के लिए सूत्रमें 'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दोनों पदोंका ग्रहण किया है । सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन । प्रशम, संवेग,

अनुकम्पा और आस्तिव्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा-की विशुद्धिमात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनके लक्षणका निर्देश करते हुए बताया है कि जीवादि पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए टीकामें मुख्यतया चार बातोंको स्पष्ट किया गया है। वे चार बातें ये हैं—(1) तत्त्व और अर्थ शब्दके निरूप्यार्थका निर्देश करके तत्त्वार्थ शब्द कैसे निष्पन्न हुआ है? (2) 'वृत्ति' धातुका अर्थ श्रद्धान करना क्यों लिया गया है? (3) तत्त्व और अर्थ इन दोनों पदोंको स्वीकार करनेसे क्या लाभ है? (4) सम्यग्दर्शनके कितने भेद हैं और उनका क्या स्वरूप है? प्रकृतमें यद्यपि 'तत्' सर्वनाम पद है और 'त्व' प्रत्यय भाव अर्थमें आया है, अतः 'तत्त्व' शब्द भाव सामान्यका वाचक है और अर्थ-पद द्रव्यवाची है। तथापि अर्थ शब्दके धन, प्रयोजन, अभिधेय, निवृत्ति, विषय, प्रकार और वस्तु आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं, अतः इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन न कहलावे, इसलिए तो सूत्रकारने सूत्रमें केवल अर्थपद नहीं रखा है। इसी प्रकार विभिन्न मतोंमें तत्त्व शब्दके भी अनेक अर्थ प्रसिद्ध हैं। वैशेषिक लोग 'तत्त्व' पदसे सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्वका ग्रहण करते हैं। उनके यहाँ सामान्य और विशेष ये दोनों स्वतन्त्र पदार्थ माने गये हैं। अब यदि सूत्रमें केवल 'तत्त्व' पद रखा जाता है तो सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इनका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन समझा जा सकता है जो युक्त नहीं है, इसलिए सूत्रकारने सूत्रमें केवल तत्त्वपद नहीं रखा है। इसी प्रकार परमब्रह्मवादियोंने नाना तत्त्वोंको न मानकर ब्रह्मनामका एक ही तत्त्व माना है। उनके मतसे यह जग एक पुरुषरूप ही है, इसलिए इस हिसाबसे विचार करनेपर 'तत्त्व' पद एक ब्रह्मका वाची प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है, इसलिए भी सूत्रकारने सूत्रमें केवल तत्त्वपद नहीं रखा है। यहाँ तत्त्वार्थसे जीवादिक वे सब पदार्थ लिये गये हैं जिनका आगे चौथे सूत्रमें वर्णन किया है। परमार्थरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है यह इस सूत्रका तात्पर्य है। सम्यग्दर्शनमें दर्शन शब्द आया है। उसका एक अर्थ आलोक होता है तथापि यहाँ इसका श्रद्धान अर्थ लिया गया है, क्योंकि दर्शनका आलोक अर्थ नेनेपर चक्षु आदिके निमित्तसे होनेके कारण वह चक्षुरिन्द्रिय आदि सब संसारी जीवोंके प्राप्त होता है, अतः प्रकृतमें वह उपयोगी नहीं ठहरता। किन्तु तत्त्वार्थ विषयक श्रद्धान भव्योंमें भी किसी-किसी आसन्नभव्यके ही प्राप्त जाता है जो प्रकृतमें उपयोगी है, अतः यहाँ दर्शनका अर्थ आलोक न करके श्रद्धान किया है। आज्ञा यह है कि जीवादि नौ पदार्थोंमें भूतार्थरूपसे एक त्रिकाशोऽखण्डआत्मा ही प्रद्योतित हो रहा है, अतः ऐसे निजात्माकी अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है। प्रत्येक आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, अतः जानानुभूति ही आत्मानुभूति है और यही सम्यग्दर्शन है यह इसका भाव है। प्रकृतमें सम्यग्दर्शनके जो दो भेद किये गये हैं—एक सराग सम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन सो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिव्य ये चार ऐसे निष्ठ हैं जो आत्मविशुद्धिपर्यन्त परमार्थ सम्यग्दर्शन के जापक हैं। इसलिए इस अपेक्षा व्यवहार में उन्हें भी सम्यग्दर्शन माना गया है। किन्तु इसे जो परमार्थस्वरूप जानते हैं यह उनकी भुक्त है। नियम यह है कि जिसकी सम्यग्दर्शनादि स्वभावपर्याय होती हैं, वे मात्र स्वतःसिद्ध, अनादि-अनन्त, कर्म से अनाश्रित होने के कारण नित्य उद्योतस्वरूप और विशद ज्योतिर्जापक आत्माका अपने उपयोगक अवलम्बन लेनेसे ही उत्पन्न होती हैं। इसीलिए भूलमें सम्यग्दर्शनरूप स्वभावपर्यायको आत्मविशुद्धिमात्र कहा है, क्योंकि यह मिथ्यात्व आदि कर्मोंके उदयमें न होकर उनके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके होने पर ही होता है। इतना अवश्य है कि यह सम्यग्दर्शन चौथे आदि गुणस्थानों में भी पाया जाता है, अतः इसके सद्भावमें जो पराश्रित प्रशमादि भाव होते हैं

§ 13. अथैतत्सम्यग्दर्शनं जीवादिपदार्थविषयं¹ कथमुत्पद्यत इत्यत आह—

तन्निर्गमसर्गादधिगममाह ॥3॥

§ 14. निर्गमः स्वभाव इत्यर्थः । अधिगमोऽर्थावबोधः । तयोर्हेतुत्वेन निर्देशः । कस्याः ? क्रियायाः । का च क्रिया ? उत्पद्यत इत्यध्याह्रियते, सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम् । ²तदेतत्सम्यग्दर्शनं निर्गमसर्गादधिगममाहोत्पद्यत इति ।

§ 15. अत्राह—निर्गमजे सम्यग्दर्शनेऽर्थाधिगमः स्याद्वा न वा । यद्यस्ति, तदपि अधिगमज-मेव तार्थान्तरम् । अयं नास्ति, कथमनवबुद्धतत्त्वस्यार्थश्रद्धानमिति ? नैव दोषः, उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा । तस्मिन्सति यद्बाह्योपदेशादुच्यते प्रादुर्भवति तन्नेर्गमिकम् । यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं³ तदुत्तरम् । इत्यनयोरयं भेदः ।

§ 16. तद्ग्रहणं किमर्थम् ? अनन्तरनिर्देशार्थम् । अनन्तरं सम्यग्दर्शनं तदित्यनेन

वे इसके ज्ञापक या सूचक होने से निमित्तपनेकी अपेक्षा कारणमें कार्य का उपचार करके इन्हें व्यवहारसे सराग सम्यग्दर्शन कहा गया है । रागादिकी तीव्रताका न होना प्रशमभाव है । संसारसे भीतरूप परिणाम का होना संवेगभाव है । सब जीवों में दयाभाव रख कर प्रवृत्ति करना अनुकम्पा है और जीवादिपदार्थ सत्स्वरूप हैं, लोक अनादि अनिधन है, इसका कर्ता कोई नहीं है तथा निमित्त-नैमित्तिक भावके रहते हुए भी अपने परिणामस्वभाव के कारण सबका परिणमन स्वयं होता है, आगम और सद्गुरुके उपदेशानुसार ऐसी प्रांजल बुद्धिका होना आस्तिक्यभाव है ।

§ 13. अब जीवादि पदार्थोंको विषय करनेवाला यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह (सम्यग्दर्शन) निर्गमसे और अधिगमसे उत्पन्न होता है ॥3॥

§ 14. निर्गमका अर्थ स्वभाव है और अधिगमका अर्थ पदार्थका ज्ञान है । सूत्रमें इन दोनोंका हेतुरूपसे निर्देश किया है । शंका—इन दोनोंका किसके हेतुरूपसे निर्देश किया है ? समाधान—क्रियाके । शंका—वह कौन-सी क्रिया है ? समाधान—‘उत्पन्न होता है’ यह क्रिया है । यद्यपि इसका उल्लेख सूत्रमें नहीं किया है तथापि इसका अध्याहार कर लेना चाहिए, क्योंकि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं । यह सम्यग्दर्शन निर्गमसे और अधिगमसे उत्पन्न होता है यह इस सूत्रका तात्पर्य है ।

§ 15. शंका—निर्गमज सम्यग्दर्शनमें पदार्थोंका ज्ञान होता है या नहीं । यदि होता है तो वह भी अधिगमज ही हुआ, उससे भिन्न नहीं । यदि नहीं होता है तो जिसने पदार्थोंको नहीं जाना है उसे उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि दोनों सम्यग्दर्शनोंमें दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण समान है । इसके रहते हुए जो बाह्य उपदेशके बिना होता है वह नैर्गमिक सम्यग्दर्शन है और जो बाह्य उपदेश-पूर्वक जीवादि पदार्थोंके ज्ञानके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है । यही इन दोनों में भेद है ।

§ 16. शंका—सूत्रमें ‘तत्’ पदका ग्रहण किसलिए किया है ? समाधान—इस सूत्रसे पूर्वके सूत्रमें सम्यग्दर्शन का ग्रहण किया है उसीका निर्देश करनेके लिए यहाँ ‘तत्’ पदका ग्रहण

1. —ययं तत् कथं—आ., दि. 1, दि. 2 । 2. तदेव सम्य—आ., दि. 1, दि. 2, अ. । 3. —मित्तं स्यात् तदु- मु. ।

निर्दिश्यते । इतरथा मोक्षमार्गोऽपि प्रकृतस्तस्याभिसंबन्धः स्यात् । ननु च 'अनन्तरस्य¹ विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इत्यनन्तरस्य सम्यग्दर्शनस्य ग्रहणं सिद्धमिति² चेत् ? न, 'प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः' इति मोक्षमार्ग एव संबध्येत । तस्मात्तद्वचनं क्रियते ।

§ 17. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । अथ किं तत्त्वमित्यत इवमाह—

जीवाजीवाश्रयबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ॥4॥

किया है । अन्तरवर्ती सूत्रमें सम्यग्दर्शनका ही उल्लेख किया है उसे ही यहाँ 'तत्' इस पद-द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । यदि 'तत्' पद न देते तो मोक्षमार्गका प्रकरण होनेसे उसका यहाँ ग्रहण हो जाता । शंका 'अगले सूत्रमें जो विधि-निषेध किया जाता है वह अव्यवहित पूर्वका ही समझा जाता है' इस नियम के अनुसार अनन्तरवर्ती सूत्रमें कहे गये सम्यग्दर्शनका ग्रहण स्वतःसिद्ध है, अतः सूत्रमें 'तत्' पद देनेकी आवश्यकता नहीं है ? समाधान—नहीं, क्योंकि 'समीपवर्तीसे प्रधान बलवान् होता है' इस नियमके अनुसार यहाँ मोक्षमार्गका ही ग्रहण होता । किन्तु यह बात इष्ट नहीं है अतः सूत्रमें 'तत्' पद दिया है ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके निमित्तोंपर विचार किया गया है । आगममें पाँच लब्धियोंमें एक देशना लब्धि बतलायी है । जिस जीवने वर्तमान पर्यायमें या पूर्व पर्यायमें कभी भी जीवादि पदार्थविषयक उपदेश बुद्धिपूर्वक नहीं स्वीकार किया है उसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो सकती । किन्तु जिस जीवको इस प्रकारके उपदेशका योग बन गया है उसे तत्काल या कालान्तरमें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है । यहाँ इसी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद किये गये हैं । जो सम्यग्दर्शन वर्तमान में उपदेशके निमित्तसे होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है और जो वर्तमान में बिना उपदेशके होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है यह इस सूत्रका भाव है । यद्यपि अधिगम शब्दका अर्थ ज्ञान है तथापि प्रकृतमें इसका अर्थ परोपदेशपूर्वक होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए । इसीसे निसर्ग शब्दका अर्थ 'परोपदेश के बिना' फलित हो जाता है । यद्यपि इन दोनों सम्यग्दर्शनोंमें दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारण समान है, तथापि बाह्य उपदेश और अनुपदेशकी अपेक्षा इन दोनोंमें भेद है । यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन जब कि केवली और श्रुतकेवलीके पादमूलमें ही होता है तब उसमें सम्यग्दर्शनका निसर्गज भेद न घटकर केवल अधिगमज यही भेद घट सकता है, फिर क्या कारण है कि टीकामें अन्तरंग कारणोंका निर्देश करते समय उपशम और क्षयोपशमके साथ क्षयका भी निर्देश किया है । सो इस शंकाका समाधान यह है कि दूसरे और तीसरे नरकसे आकर जो जीव तीर्थकर होते हैं उनके लिए क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें परोपदेशकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु परोपदेशके बिना ही उनके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हुई देखी जाती है, अतः क्षायिक सम्यग्दर्शनमें भी निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद घट जाते हैं । यही कारण है कि प्रकृतमें तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंको निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो-दो प्रकारका बतलाया है ।

§ 17 जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है यह पहले कह आये हैं । अब तत्त्व कौन-कौन हैं इस बातके बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जीव, अजीव, आश्रय, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं ॥4॥

1. 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति ।' —पा. म. भा. पृ. 335 । परि. शे. पृ. 380 । 2. 'सिद्धं' प्रत्या— दि. 1, दि. 2, आ., अ. ।

§ 18. तत्र चेतनालक्षणो जीवः । सा¹ च ज्ञानादिभेदादनेकधा भिद्यते । तद्विपर्ययलक्षणो-
ज्जीवः । शुभाशुभकर्मागमद्वाररूपं आस्रवः । आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुद्वेशात्मको बन्धः ।
आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः । एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा । कृत्स्नकर्म²वियोगलक्षणो मोक्षः ।
एषां प्रपञ्च उत्तरत्र वक्ष्यते । सर्वस्य फलस्यात्माधीनत्वावादी जीवग्रहणम् । तदुपकारार्थत्वात्-
वनन्तरमजीवाभिधानम् । तदुभयविषयत्वात्तदनन्तरमाश्रवग्रहणम् । तत्पूर्वकत्वात्तदनन्तरं बन्धा-
भिधानम् । संवृतस्य बन्धाभावात्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं³ तदनन्तरं संवरवचनम् । संवरे सति
निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके निर्जरावचनम् । अग्रे प्राप्यत्वाग्नोक्षस्यान्ते वचनम् ।

§ 19. इह पुण्यपापग्रहणं⁴ कर्त्तव्यम् । 'नव पदार्थाः'⁵ इत्यन्यैरप्युक्तत्वात् । न 'कर्त्तव्यम्',
आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात् । यद्येवमास्रवादिग्रहणमनर्थकं, जीवाजीवयोरन्तर्भावात् । नानर्थकम् ।
इह मोक्षः प्रकृतः । सोऽवश्यं निर्वृष्टव्यः । स च संसारपूर्वकः । संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो
बन्धश्च । मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च । अतः प्रधानहेतुहेतुमत्फलनिर्वाणार्थत्वात्पृथ-
गुपदेशः कृतः । दृश्यते हि सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य⁶ पृथगुपादानं प्रयोजनार्थम् । 'क्षत्रिया
आयाताः सूरवर्माणि' इति ।

§ 18. इनमें-से जीवका लक्षण चेतना है जो ज्ञानादिकके भेदसे अनेक प्रकारकी है ।
जीवसे विपरीत लक्षणवाला अजीव है । शुभ और अशुभ कर्मोंके आनेके द्वार रूप आस्रव है ।
आत्मा और कर्मके प्रदेशोंका परस्पर मिल जाना बन्ध है । आस्रवका रोकना संवर है । कर्मोंका
एकदेश अलग होना निर्जरा है और सब कर्मोंका आत्मामें अलग हो जाना मोक्ष है । इनका
विस्तारसे वर्णन आगे करेंगे । सब फल जीवको मिलता है, अतः मूबके प्रारम्भमें जीवका ग्रहण
किया है । अजीव जीवका उपकारी है यह दिखलाने के लिए जीवके बाद अजीवका कथन किया
है । आस्रव जीव और अजीव दोनोंको विषय करता है अतः इन दोनोंके बाद आस्रवका ग्रहण
किया है । बन्ध आस्रव पूर्वक होता है, इसलिए आस्रवके बाद बन्धका कथन किया है । संवृत
जीवके बन्ध नहीं होता, अतः संवर बन्धका उलटा हुआ । इस बातका ज्ञान करानेके लिए बन्धके
बाद संवरका कथन किया है । संवरके होनेपर निर्जरा होती है, इसलिए संवरके पास निर्जरा
कही है । मोक्ष अन्तमें प्राप्त होता है, इसलिए उसका अन्तमें कथन किया है ।

§ 19. शंका—सूत्रमें पुण्य और पापका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पदार्थ नौ हैं
ऐसा दूसरे आचार्योंने भी कथन किया है । समाधान—पुण्य और पापका ग्रहण नहीं करना चाहिए,
क्योंकि उनका आस्रव और बन्धमें अन्तर्भाव हो जाता है । शंका—यदि ऐसा है तो सूत्रमें अलगसे
आस्रव आदिका ग्रहण करना निरर्थक है, क्योंकि उनका जीव और अजीवमें अन्तर्भाव हो जाता
है । समाधान—आस्रव आदिका ग्रहण करना निरर्थक नहीं है, क्योंकि यहाँ मोक्षका प्रकरण है
इसलिए उसका कथन करना आवश्यक है । वह संसारपूर्वक होता है और संसारके प्रधान कारण
आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्षके प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं, अतः प्रधान हेतु, हेतुवाले
और उनके फलके दिखलानेके लिए अलग-अलग उपदेश किया है । देखा भी जाता है कि किसी
विशेषका सामान्यमें अन्तर्भाव हो जाता है तो भी प्रयोजनके अनुसार उसका अलगसे ग्रहण किया
जाता है । जैसे क्षत्रिय आये हैं और सूरवर्मा भी । यहाँ यद्यपि सूरवर्माका क्षत्रियोंमें अन्तर्भाव
हो जाता है तो भी प्रयोजनके अनुसार उसका अलगसे ग्रहण किया है । इसी प्रकार प्रकृतमें
जानना चाहिए ।

1. जीवः । स च—आ. वि. 2 । 2. विप्रयोग—मु. । 3. --त्यर्थं संवर—आ., दि. 1, दि. 2 अ. । 4.
—इह च कर्त्तव्यम्—मु. । 5. कुम्भकुन्दार्द्यः । 6. --स्य यथोपास—मु. । 7. --वस्य यथोपायोगं पृथ—मु. ।

§ 20. तत्त्वशब्दो भाववाचीत्युक्तः । स कथं जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः सामानाधिकरण्यं प्रतिपद्यते ? अव्यतिरेकात्तद्भावाध्यारोपाच्च सामानाधिकरण्यं भवति । यथा 'उपयोग एवात्मा' इति । यद्येवं तत्तल्लिङ्गसंख्यानुवृत्तिः प्राप्नोति ? ¹ 'विशेषणविशेष्यसंबन्धे सत्यपि शब्दशक्तित्व-व्यपेक्षया उपात्तलिङ्गसंख्याव्यतिक्रमो न भवति ।' अयं क्रम आदिसूत्रेऽपि योज्यः ।

§ 21. एवमेवामुद्दिष्टानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां च संव्यवहारविशेषव्यभिचार-निवृत्त्यर्थमाह—

§ 20. शंका—तत्त्व शब्द भाववाची है यह पहले कह आये हैं, इसलिए उसका द्रव्यवाची जीवादि शब्दोंके साथ सामानाधिकरण कैसे हो सकता है ? समाधान—एक तो भाव द्रव्यसे अलग नहीं पाया जाता, दूसरे भावमें द्रव्यका अध्यारोप कर लिया जाता है, इसलिए सामानाधिकरण बन जाता है । जैसे, 'उपयोग ही आत्मा है' इस वचनमें गुणवाची उपयोग शब्दके साथ द्रव्यवाची आत्मा शब्दका सामानाधिकरण है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए । शंका—यदि ऐसा है तो विशेष्यका जो लिंग और संख्या है वही विशेषणको भी प्राप्त होते हैं ? समाधान—व्याकरणका ऐसा नियम है कि 'विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिंग और संख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लंघन नहीं होता ।' अतः यहाँ विशेष्य और विशेषण-से लिंग और संख्याके अलग-अलग रहने पर भी कोई दोष नहीं है । यह क्रम प्रथम सूत्रमें भी लगा लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें सात तत्त्वोंका निर्देश किया गया है । इसकी व्याख्या करते हुए मुख्यतया पाँच बातोंपर प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार हैं—(1) जीवादि सात तत्त्वोंका स्वरूप-निर्देश । (2) सूत्रमें जीव अजीव इस क्रमसे सात तत्त्वों के निर्देश करनेकी सार्थकता । (3) पुण्य और पापको पृथक् तत्त्व नहीं सूचित करनेका कारण । (4) भाववाची शब्दोंका द्रव्यवाची शब्दोंके साथ कैसे सामानाधिकरण बनता है इसकी सिद्धि । (5) विशेषण और विशेष्यमें समान लिंग और समान संख्या क्यों आवश्यक नहीं इसका निर्देश । तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए जो लिखा है उसका आशय यह है कि जीवकी शुभाशुभ प्रवृत्तिके आधारसे बँधनेवाले कर्मोंमें अनुभागके अनुसार पुण्य-पापका विभाग होता है, इसलिए आत्मव और बन्धमें इनका अन्तर्भाव किया गया है । पाँचवीं बातको स्पष्ट करते हुए जो यह लिखा है कि विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिंग और संख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लंघन नहीं होता, सो इसका यह आशय है कि एक तो जिस शब्दका जो 'लिंग है वह नहीं' बदलता । उदाहरणार्थ 'ज्ञानं आत्मा' इस प्रयोगसे ज्ञान शब्द नपुंसक लिंग और आत्मा शब्द पुंलिंग रहते हुए भी इनमें बदल नहीं होता । इन दोनों शब्दोंका विशेषण-विशेष्य रूपसे जब भी प्रयोग किया जायेगा तब वह इसी प्रकार ही किया जायेगा । दूसरे, प्रयोगके समय जिस शब्द ने जो संख्या प्राप्त कर ली है उसमें भी बदल नहीं होता । जैसे 'साधोः कार्यं तपःश्रुते' इस प्रयोगमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी 'कार्यम्' एकवचन है और 'तपः-श्रुते' द्विवचन है । इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए । शेष कथन सुगम है ।

§ 21. इस प्रकार पहले जो सम्यग्दर्शन आदि और जीवादि पदार्थ कहे हैं उनका शब्द प्रयोग करते समय विवक्षाभेदसे जो गड़बड़ी होना सम्भव है उसको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. 'आविष्टलिंगा जातिर्यल्लिङ्गमुपादाय प्रवर्त्तते उत्पत्तिप्रभृत्या विनाशान्त तल्लिङ्गं जहाति ।' पा. 1।2।253। अन्येऽपि वै गुणवचना तावश्यं द्रव्यस्य लिंगसंख्ये अनुवर्तन्ते ।—पा. म. भा. 5।1।1।59।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः ॥5॥

§ 22. अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं¹ पुरुषकारान्निपुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम । काष्ठ-पुस्तचित्रकर्मक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थस्यमाना स्थापना । गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्द्रोष्यते गुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम् । वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः । तद्यथा, नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो न्यस्यते । जीवनगुणमनपेक्ष्य यस्य कस्यचिन्नाम क्रियमाणं नाम जीवः । अक्षनिक्षेपादिषु जीव इति वा मनुष्यजीव इति वा व्यवस्थाप्यमानः स्थापनाजीवः । द्रव्यजीवो द्विविधः आगमद्रव्यजीवो नोआगमद्रव्यजीवश्चेति । तत्र जीवप्राभूतज्ञायो मनुष्यजीवप्राभूतज्ञायो वा अनुपपुवत् आत्मा आगमद्रव्यजीवः । नोआगमद्रव्यजीवस्त्रेधा व्यव-तिष्ठते ज्ञायकशरीरभावितद्द्रव्यतिरिक्तभेदात् । तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तज् ज्ञायक-शरीरम् । सामान्यापेक्षया नोआगमभावजीवो नास्ति, जीवनसामान्यस्य सदापि विद्यमानत्वात् । विशेषापेक्षया त्वस्ति । गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभव²प्राप्तिं प्रत्यभिमुखो मनुष्यभाव-जीवः । तद्द्रव्यतिरिक्तः कर्मनोकर्मविकल्पः । भावजीवो द्विविधः आगमभावजीवो नोआगमभाव-जीवश्चेति । तत्र जीवप्राभूतविषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभूतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा आगमभावजीवः । जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवत्वपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः । एवमितरेषामपि पदार्थानां³ नामादिविक्षेपविधिर्निर्णयः । स किमर्थः ? अप्रकृतनिराकरणाय

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूपसे उनका अर्थात् सम्प्रदर्शन आदि और जीव आदि-का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है ॥5॥

§ 22. संज्ञाके अनुसार गुणरहित वस्तुमें व्यवहारके लिए अपनी इच्छासे की गयी संज्ञा-को नाम कहते हैं । काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदिमें 'वह यह है' इस प्रकार स्थापित करनेको स्थापना कहते हैं । जो गुणोंके द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणोंको प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणोंके द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणोंको प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं । वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं । विशेष इस प्रकार है—नामजीव, स्थापना-जीव, द्रव्यजीव और भावजीव । इस प्रकार जीव पदार्थका न्यास चार प्रकारसे किया जाता है । जीवन गुणकी अपेक्षा न करके जिस किसीका 'जीव' ऐसा नाम रखना नामजीव है । अक्षनिक्षेप आदिमें यह 'जीव है' या 'मनुष्य जीव है' ऐसा स्थापित करना स्थापना-जीव है । द्रव्यजीवके दो भेद हैं—आगम द्रव्यजीव और नोआगम द्रव्यजीव । इनमें-से जो जीवविषयक या मनुष्य जीव-विषयक शास्त्रको जानता है किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित है वह आगम द्रव्यजीव है । नोआगम द्रव्यजीवके तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्द्रव्यतिरिक्त । ज्ञाताके शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं । जीवन सामान्यकी अपेक्षा 'नोआगम भावजीव' यह भेद नहीं बनता, क्योंकि जीवनसामान्यकी अपेक्षा जीव सदा विद्यमान है । हाँ, पर्यायाधिक्यकी अपेक्षा 'नोआगम भावजीव' यह भेद बन जाता है, क्योंकि जो जीव दूसरी गतिमें विद्यमान है वह जब मनुष्य भवको प्राप्त करनेके लिए सम्मुख होता है तब वह मनुष्य भावजीव कहलाता है । तद्द्रव्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कर्म और नोकर्म । भावजीवके दो भेद हैं—आगम भावजीव और नोआगम भावजीव । इनमें-से जो आत्मा जीवविषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है अथवा मनुष्य जीवविषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है वह आगम भाव जीव है । तथा जीवन पर्याय या मनुष्य जीवन पर्यायसे युक्त आत्मा नोआगम भाव

1. पुरुषाका— मु. । 2. --व्यभाव— आ., दि. 2 । 3. --यन्नामजीवानां नामा— मु. ।

प्रकृतनिरूपणाय च । निक्षेपविधिना¹ शब्दार्थः प्रस्तीर्यते । तच्छब्दग्रहणं किमर्थम् ? सर्व-
संग्रहार्थम् । असति हि तच्छब्दे सम्यग्दर्शनादीनां प्रधानानामेव न्यासेनाभिसंबन्धः स्यात्, तद्विष-
यभावेनोपगृहीतानां जीवादीनां अप्रधानानां न स्यात् । तच्छब्दग्रहणे पुनः क्रियमाणे सति
सामर्थ्यात्प्रधानानामप्रधानानां च ग्रहणं सिद्धं भवति ।

§ 23. एवं नामादिभिः प्रस्तीर्णानामधिकृतानां तत्त्वाधिगमः कुतः इत्यत इदमुच्यते—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥6॥

§ 24. नामादिनिक्षेपविधिनोपक्षिप्तानां जीवादीनां तत्त्वं प्रमाणान्म्या नयैश्चाधिगम्यते ।

जीव कहलाता है । इसी प्रकार अजीवादि अन्य पदार्थोंकी भी नामादि निक्षेप विधि लगा लेना चाहिए । शंका—निक्षेप विधिका कथन किस लिए किया जाता है ? समाधान—अप्रकृतका निराकरण करने के लिए और प्रकृतका निरूपण करनेके लिए इसका कथन किया जाता है । तात्पर्य यह है कि प्रकृतमें किस शब्दका क्या अर्थ है यह निक्षेप विधिके द्वारा विस्तारसे बतलाया जाता है । शंका—सूत्रमें 'तत्' शब्दका ग्रहण किस लिए किया है ? समाधान—सबका संग्रह करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' शब्दका ग्रहण किया है । यदि सूत्रमें 'तत्' शब्द न रखा जाय तो प्रधान-भूत सम्यग्दर्शनादिका ही न्यासके साथ सम्बन्ध होता । सम्यग्दर्शनादिकके विषयरूपसे ग्रहण किये गये अप्रधानभूत जीवादिकका न्यासके साथ सम्बन्ध न होता । परन्तु सूत्रमें 'तत्' शब्दके ग्रहण कर लेनेपर सामर्थ्यसे प्रधान और अप्रधान सबका ग्रहण बन जाता है ।

विशेषार्थ—नि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातुसे निक्षेप शब्द बना है । निक्षेपका अर्थ 'रखना' है । न्यास शब्दका भी यही अर्थ है । आशय यह है कि एक-एक शब्दका लोकमें और शास्त्रमें प्रयोजन के अनुसार अनेक अर्थोंमें प्रयोग किया जाता है । यह प्रयोग कहाँ किस अर्थमें किया गया है इस बातको बतलाना ही निक्षेप विधिका काम है । यों तो आवश्यकतानुसार निक्षेपके अनेक भेद किये जा सकते हैं । शास्त्रोंमें भी ऐसे विविध भेदोंका उल्लेख देखनेमें आता है । किन्तु मुख्यतया यहाँ इसके चार भेद किये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । इनका लक्षण और दृष्टान्त द्वारा कथन टीकामें किया ही है । आशय यह है कि जैसे टीकामें एक जीव शब्दका नाम निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, स्थापना निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, द्रव्य निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है और भाव निक्षेपकी अपेक्षा भिन्न अर्थ बतलाया है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्दका नामादि निक्षेप विधिके अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थ होता है । इससे अप्रकृत अर्थका निराकरण होकर प्रकृत अर्थका ग्रहण हो जाता है, जिससे व्यवहार करनेमें किसी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं होती । इससे वक्ता और श्रोता दोनों ही एक दूसरेके आशयको भली प्रकार समझ जाते हैं । ग्रन्थका हार्द समझनेके लिए भी इस विधिका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है । जैन परम्परामें इसका बड़ा भारी महत्त्व माना गया है । इसी बातको ध्यानमें रखकर यहाँ भेदों-सहित निक्षेपके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है ।

§ 23. इस प्रकार नामादिकके द्वारा विस्तारको प्राप्त हुए और अधिकृत जीवादिक व सम्यग्दर्शनादिकके स्वरूपका ज्ञान किसके द्वारा होता है इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रमाण और नयोंसे पदार्थोंका ज्ञान होता है ॥6॥

§ 24. जिन जीवादि पदार्थोंका नाम आदि निक्षेप विधिके द्वारा विस्तारसे कथन किया

1. —विना नामशब्दा --मु. अ. । 2. तत्त्वं प्रमाणेभ्यो नयै— मु. । p. --श्चाभिप— आ, दि. 1, दि. 2 ।

प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणविकल्पाः । तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्णनम्¹ । श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् । तद्विकल्पा नयाः² । अत्राह—नयशब्दस्य अल्पाक्षरत्वात्पूर्वनिपातः प्राप्नोति । नैष दोषः । अग्न्यहितत्वात्प्रमाणस्य³ पूर्वनिपातः । अग्न्यहितत्वं च सर्वतो बलीयः । कुतोऽग्न्यहितत्वम् ? नयप्ररूपणप्रभवयो-
नित्वात् । एवं ह्युक्तं “प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थविधारणं नयः” इति । सकलविषय-
त्वाच्च प्रमाणस्य । तथा चोक्तं “सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः” इति । नयो
द्विविधः द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च । पर्यायाधिकनयेन⁴ भावतत्त्वमधिगन्तव्यम् । इतरेषां प्रयाणां⁵
द्रव्याधिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात् । द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्याधिकः । पर्यायोऽर्थः प्रयो-
जनमस्येत्यसौ पर्यायाधिकः । तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम् ।

हैं उनका स्वरूप दोनों प्रमाणों और विविध नयोंके द्वारा जाना जाता है । प्रमाण और नयोंके लक्षण और भेद आगे कहेंगे । प्रमाणके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ । श्रुतज्ञानको छोड़कर शेष सब ज्ञान स्वार्थ प्रमाण है । परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है । ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण परार्थ प्रमाण कहलाता है । इनके भेद नय हैं । शंका—नय शब्दमें थोड़े अक्षर हैं, इसलिए सूत्रमें उसे पहले रखना चाहिए ? समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि प्रमाण श्रेष्ठ है, अतः उसे पहले रखा है । ‘श्रेष्ठता सबसे बलवती होती है’ ऐसा नियम है । शंका—प्रमाण श्रेष्ठ क्यों है ? समाधान—क्योंकि प्रमाण से ही नय-प्ररूपणा की उत्पत्ति हुई है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । आगममें ऐसा कहा है कि वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय है । दूसरे, प्रमाण समग्र-को विषय करता है । आगममें कहा है कि ‘सकलादेश प्रमाणका विषय है और विकलादेश नय-का विषय है ।’ इसलिए भी प्रमाण श्रेष्ठ है ।

नयके दो भेद हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । पर्यायाधिक नयका विषय भावनिक्षेप है और शेष तीनको द्रव्याधिक नय ग्रहण करता है, क्योंकि नय द्रव्याधिक सामान्यरूप है । द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्याधिकनय है और पर्याय जिसका प्रयोजन है वह पर्यायाधिक नय है । तथा द्रव्य और पर्याय ये सब मिल कर प्रमाणके विषय हैं ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें ज्ञानके प्रमाण और नय ऐसे भेद करके उनके द्वारा जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है यह बतलाया गया है । इसकी व्याख्या करते हुए टीकामें मुख्यतया चार बातों पर प्रकाश डाला गया है—(1) ज्ञानके पाँच भेदोंमें—से किस ज्ञानका प्रमाण और नय इनमें—से किसमें अन्तर्भाव होता है । (2) नय शब्दमें अल्प अक्षर होनेपर भी सूत्रमें प्रमाण शब्द पहले रखने का कारण । (3) नयके भेद करके चार निक्षेपोंमें—से कौन निक्षेप किस नयका विषय है इसका विचार । (4) प्रमाणके विषयकी चर्चा । प्रथम बातको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है कि ज्ञानके पाँच भेदोंमें—से श्रुतज्ञानके सिवा चार ज्ञान मात्र ज्ञानरूप माने गये हैं । साथ ही वे वितर्क रहित हैं, इसलिए उनका अन्तर्भाव प्रमाण ज्ञानमें ही होता है । किन्तु श्रुतज्ञान ज्ञान और वचन उभय रूप माना गया है । साथ ही वह सवितर्क है, इसलिए इसके प्रमाणज्ञान और नयज्ञान ऐसे दो भेद हो जाते हैं । यहाँ यह शंका की जा सकती है कि श्रुतज्ञान जबकि शेष ज्ञानोंके समान ज्ञानका ही एक भेद है तो फिर इसे ज्ञान और वचन उभयरूप क्यों बतलाया है ? समाधान है कि आगमरूप द्रव्य श्रुतका अन्तर्भाव श्रुतमें किया जाता है, इसलिए

1. वर्णनम् । श्रु- मु. । 2. ‘जावद्वा वयणवद्वा तावद्वा चेव ह्येति नयवाया ।’ —सम्प्रति. 3।47 ।

3. -णस्य तत्पूर्व- मु. । 4. -येन पर्यायत- मु. । 5. -रेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्या- मु. ।

§ 25. एवं प्रमाणनयैरधिगतानां जीवादीनां पुनरप्यधिगमोपायान्तरप्रदर्शनार्थमाह—
निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

§ 26. निर्देशः स्वरूपाभिधानम् । स्वामित्वमाधिपत्यम् । साधनमुत्पत्तिनिमित्तम् । अधिकरणमधिष्ठानम् । स्थितिः कालपरिच्छेदः । विधानं प्रकारः । तत्र सम्यग्दर्शनं किमिति प्रश्ने तत्त्वार्थभ्रान्तिमिति निर्देशो नामादिर्वा^१ । कस्येत्युक्ते सामान्येन जीवस्य । विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां पर्याप्तकानामोपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । प्रथमायां पृथिव्यां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । तिर्यग्गतौ तिरश्चां पर्याप्तकाना-

द्रव्य श्रुतको भी उपचारसे श्रुतज्ञान कहा गया है । दूसरी बातको स्पष्ट करते हुए प्रमाणकी श्रेष्ठतामें दो हेतु दिये हैं । प्रथम हेतु तो यह दिया है कि नय प्ररूपणाकी उत्पत्ति प्रमाणज्ञानसे होती है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । इसका आशय यह है कि जो पदार्थ प्रमाणके विषय हैं उन्हींमें विवक्षाभेदसे नयकी प्रवृत्ति होती है अन्यमें नहीं, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । दूसरा हेतु यह दिया है कि सकलादेश प्रमाणके अधीन है और विकलादेश नयके अधीन है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । आशय यह है कि प्रमाण समग्रको विषय करता है और नय एकदेश को विषय करता है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है । जो वचन कालादिककी अपेक्षा अभेदवृत्तिकी प्रधानतासे या अभेदोपचारसे प्रमाणके द्वारा स्वीकृत अनन्त धर्मात्मक वस्तुका एक साथ कथन करता है उसे सकलादेश कहते हैं । और जो वचन कालादिककी अपेक्षा भेदवृत्तिकी प्रधानतासे या भेदोपचारसे नयके द्वारा स्वीकृत वस्तु धर्मका क्रमसे कथन करता है उसे विकलादेश कहते हैं । इनमें-से प्रमाण सकलादेशी होता है और नय विकलादेशी, अतः प्रमाण श्रेष्ठ माना गया है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए नयके द्रव्याधिक और पर्यायाधिक ऐसे दो भेद करके जो नामादि तीन निक्षेपों को द्रव्याधिक नयका और भाव निक्षेप को पर्यायाधिक नयका विषय बतलाया है सो इसका यह अभिप्राय है कि नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों निक्षेप सामान्यरूप हैं, अतः इन्हें द्रव्याधिक नयका विषय बतलाया है और भावनिक्षेप पर्यायरूप है, अतः इसे पर्यायाधिक नयका विषय बतलाया है । यहाँ इतना विशेष जानना कि नामको सादृश्य सामान्यात्मक माने बिना शब्द-व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए नाम निक्षेप द्रव्याधिक नयका विषय है और जिसकी जिसमें स्थापना की जाती है उनमें एकत्वका अध्यवसाय किये बिना स्थापना नहीं बन सकती है, इसलिए स्थापना द्रव्याधिक नयका विषय है । शेष कथन सुगम है ।

§ 25. इस प्रकार प्रमाण और नयके द्वारा जाने गये जीवादि पदार्थोंके जाननेके दूसरे उपाय बतलानेके लिए अगेका सूत्र कहते हैं—

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानसे सम्यग्दर्शन आदि विषयों-का ज्ञान होता है ॥७॥

§ 26. किसी वस्तुके स्वरूपका कथन करना निर्देश है । स्वामित्वका अर्थ आधिपत्य है । जिस निमित्तसे वस्तु उत्पन्न होती है वह साधन है । अधिष्ठान या आधार अधिकरण है । जितने काल तक वस्तु रहती है वह स्थिति है और विधानका अर्थ प्रकार या भेद है । 'सम्यग्दर्शन क्या है' यह प्रश्न हुआ, इस पर 'जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' ऐसा कथन करना निर्देश है या नामादिकके द्वारा सम्यग्दर्शनका कथन करना निर्देश है । सम्यग्दर्शन किसके होता है ? सामान्यसे जीवके होता है और विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब

1. -दिवा । सम्यग्दर्शनं. क- मु. ।

मौपशमिकमस्ति । क्षायिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तापर्याप्तकानामस्ति । तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति । औपशमिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम् । मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । औपशमिकं पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम् । मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानाम्^१ । देवगतौ^२ देवानां पर्याप्तापर्याप्तकानां त्रितयमप्यस्ति । औपशमिकमपर्याप्तकानां कथमिति चेच्चारित्रमोहोपशमेन सह मृतान्प्रति^३ । भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काणां देवानां देवीनां च सौधमैशानकल्पवासिनोनां च क्षायिकं नास्ति । तेषां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति ।

§ 27. इन्द्रियानुवादेन पञ्चेन्द्रियाणां संज्ञितानां त्रितयमप्यस्ति नेतरेषाम् । कायानुवादेन त्रसकायिकानां त्रितयमप्यस्ति नेतरेषाम् । योगानुवादेन त्रयाणां योगानां त्रितयमप्यस्ति । अयोगिनां क्षायिकमेव । वेदानुवादेन त्रिवेदानां त्रितयमप्यस्ति । अपगतवेदानामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति । कषायानुवादेन चतुष्कषायाणां त्रितयमप्यस्ति । अकषायानामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति । ज्ञाना-

पृथिवियोंमें पर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । पहली पृथिवीमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । तिर्यचगतिमें पर्याप्तक तिर्यचोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके तिर्यचोंके होता है । तिर्यचनीके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता । औपशमिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक तिर्यचनीके ही होता है, अपर्याप्तक तिर्यचनीके नहीं । मनुष्य गतिमें क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके मनुष्योंके होता है । औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्य के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्यके नहीं । मनुष्यनियोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु ये पर्याप्तक मनुष्यनीके ही होते हैं, अपर्याप्तक मनुष्यनीके नहीं । देवगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके देवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं । शंका—अपर्याप्तक देवोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है ? समाधान—जो मनुष्य चारित्रमोहनीयका उपशम करके या करते हुए उपशमश्रेणी में मरकर देव होते हैं उन देवोंके अपर्याप्तक अवस्थामें औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । भवन-वासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके, इन तीनोंकी देवांगनाओंके, तथा सौधर्म और ऐशान कल्पमें उत्पन्न हुई देवांगनाओंके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं सो वे भी पर्याप्तक अवस्थामें ही होते हैं ।

§ 27. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अन्य जीवोंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता । कायमार्गणाके अनुवादसे त्रसकायिक जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अन्य कायवाले जीवोंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता । योगमार्गणाके अनुवादसे तीनों योगवाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अयोगी जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । वेदमार्गणाके अनुवादसे तीनों वेदवाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अपगतवेदी जीवोंके औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं । कषायमार्गणाके अनुवादसे चारों कषायवाले जीवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु कषायरहित जीवोंके

१. नास्ति । कुत इत्युक्ते मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति । क्षपणाप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्कृष्टभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यवस्त्रीषु द्रव्यदेवस्त्रीणां तासां क्षायिका-संभवात् । एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयं न पर्याप्तकानाम् । औप—मु. । २. —कानाम् । क्षायिकं पुनर्मावदेनैव । देव—मु. । ३. —गतौ सामान्येन देवा—मु. । ४. प्रति । विशेषेण भवन—मु. ।

नुवादेन आभिनिबोधिकभूतावधिकमनःपर्ययज्ञानिनां त्रितयमप्यस्ति । केवलज्ञानिनां क्षायिकमेव । संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनासंयतानां त्रितयमप्यस्ति । परिहारविशुद्धिरयतानामौपशमिकं नास्ति, इतः द्वितयमप्यस्ति । सूक्ष्मतापराययथाख्यातसंयतानामौपशमिकं क्षायिकं चास्ति, संयतासंयतानां असंयतानां च त्रितयमप्यस्ति । दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाच्चक्षुर्दर्शनावधिदर्शनिनां त्रितयमप्यस्ति, केवलदर्शनिनां क्षायिकमेव । लेश्यनुवादेन षड्लेश्यानां त्रितयमप्यस्ति, अलेश्यानां क्षायिकमेव । भव्यानुवादेन भव्यानां त्रितयमप्यस्ति, नाभव्यानाम् । सम्यक्त्वानुवादेन यत्र यत्सम्यग्दर्शनं तत्र तत्रैव ज्ञेयम् । संज्ञानुवादेन संज्ञिनां त्रितयमप्यस्ति, नासंज्ञिनाम्, तदुभयव्यपदेशरहितानां क्षायिकमेव । आहारानुवादेन आहारकाणां त्रितयमप्यस्ति, अनाहारकाणां छद्मस्थानां त्रितयमप्यस्ति, केवलिनानां समुद्धातगतानां क्षायिकमेव ।

औपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं । ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे आभिनिबोधिक ज्ञानी, ध्रुवज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी जीवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु केवलज्ञानी जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । संयममार्गणाके अनुवादसे सामायिक और छेदोपस्थापनासंयत जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, परिहारविशुद्धिसंयतोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, शेष दो होते हैं । सूक्ष्मसाम्परायिकसंयत और यथाख्यातसंयत जीवोंके औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हैं, संयतासंयत और असंयत जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं । दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुर्दर्शनवाले, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शनवाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु केवलदर्शनवाले जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । लेश्यामार्गणाके अनुवादसे छहों लेश्यावाले जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु लेश्यारहित जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्य जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अभव्योंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता । सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे जहाँ जो सम्यग्दर्शन है वहाँ वहाँ जानना । संज्ञामार्गणाके अनुवादसे संज्ञी जीवोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, असंज्ञियोंके कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता तथा संज्ञी और असंज्ञी इस संज्ञासे रहित जीवोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है । आहारमार्गणाके अनुवादसे आहारकोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अनाहारक छद्मस्थोंके भी तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु समुद्धातगत केवली अनाहारकोंके एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है ।

विशेषार्थ—पदार्थोंके विवेचन करनेकी प्राचीन दो परम्पराएँ रही हैं—निर्देश आदि छह अधिकारों द्वारा विवेचन करनेकी एक परम्परा और सदादि आठ अधिकारों द्वारा विवेचन करनेकी दूसरी परम्परा । यहाँ तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ आचार्यने 7वें और 8वें सूत्रों द्वारा इन्हीं दो परम्पराओंका निर्देश किया है । यहाँ टीकामें निर्देश आदिके स्वरूपका कथन करके उन द्वारा सम्यग्दर्शनका विचार किया गया है । उसमें भी स्वामित्वकी अपेक्षा जो कथन किया है उसका भाव समझनेके लिए यहाँ मुख्य बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है । इन बातोंकी ध्यानमें रखनेसे चारों गतियोंमें किस अवस्थामें कहीं कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका निर्णय करनेमें सहायता मिलती है । वे बातें ये हैं—1. क्षायिक सम्यग्दर्शनका प्रस्थापक कर्मभूमिका मनुष्य ही होता है । किन्तु ऐसा जीव कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जानेके बाद मरकर चारों गतियोंमें जन्म ले सकता है । 2. नरकमें उक्त जीव प्रथम नरकमें ही जाता है । दूसरे आदि नरकोंमें कोई भी सम्यग्दृष्टि मरकर नहीं उत्पन्न होता । 3. तिर्यचोंमें व मनुष्योंमें उक्त जीव उत्तम भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यचोंमें व मनुष्योंमें ही उत्पन्न

1. संयतासंयतानां च यत् । 2. —तयमस्ति ता ।

§ 28. साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च । अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा । बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिद्देवनाभिभवः । चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्या नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च । तिरश्चां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनबिम्बदर्शनम् । मनुष्याणामपि तथैव । देवानां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनमहिमदर्शनं केषांचिद्देवद्विदर्शनम् । एवं प्रागानतात् । आनतप्राणतारणाच्युतदेवानां देवद्विदर्शनं मुक्त्वान्यत्रितयमप्यस्ति । नवप्रैवेयकवासिनां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणम् । अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामपि कल्पना

हो सकता है । 4. तिर्यच, मनुष्य और देवगतिके स्त्रीवेदियोंमें कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नहीं उत्पन्न होता । 5. भवनत्रिकमें भी कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नहीं उत्पन्न होता । 6. उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोंमें ही उत्पन्न होता है । उसमें भी उपशमश्रेणिमें स्थित उपशम सम्यग्दृष्टिका ही मरण सम्भव है, अन्यका नहीं । 7. कृत्यकृत्यवेदक सम्यग्दर्शन क्षयोपशम सम्यग्दर्शनका एक भेद है । इसके सिवा दूसरे प्रकारके क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देव और मनुष्यगतिमें ही जन्म लेते हैं, नरक और तिर्यचगतिमें नहीं । ऐसे जीव यदि तिर्यचगति और मनुष्यगतिके होते हैं तो देवोंमें उत्पन्न होते हैं । यदि नरकगति और देवगतिके होते हैं तो वे मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं । 8. क्षायिकसम्यग्दृष्टि और कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर नपुंसकवेदियोंमें उत्पन्न होता हुआ भी प्रथम नरकके नपुंसकवेदियोंमें ही उत्पन्न होता है । मनुष्यगति और तिर्यचगतिके नपुंसकवेदियोंमें नहीं उत्पन्न होता¹ । ये ऐसी बातें हैं जिनको ध्यानमें रखनेसे किस गति के जीवके किस अवस्थामें कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका पता लग जाता है । उसका स्पष्ट उल्लेख मूल टीकामें किया ही है । एक बातका उल्लेख कर देना और आवश्यक प्रतीत होता है वह यह कि गति मार्गणाके अवान्तर भेद करणानुयोगमें यद्यपि भाव-वेदकी प्रधानतासे किये गये हैं, द्रव्य वेदकी प्रधानतासे नहीं, इसलिए यहाँ सर्वत्र भाववेदी स्त्रियोंका ही ग्रहण किया गया है । तथापि द्रव्यस्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि मरकर नहीं उत्पन्न होता यह बात अन्य प्रमाणोंसे जानी जाती है । इस प्रकार किस गतिकी किस अवस्था में कौन सम्यग्दर्शन होता है इसका विचार किया । शेष मार्गणाओंमें कहाँ कितने सम्यग्दर्शन हैं और कहाँ नहीं इसका विचार सुगम है, इसलिए यहाँ हमने स्पष्ट नहीं किया । मात्र मनःपर्ययज्ञानमें उपशम सम्यग्दर्शनका अस्तित्व द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा जानना चाहिए ।

§ 28. साधन दो प्रकारका है—अभ्यन्तर और बाह्य । दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है । बाह्य साधन इस प्रकार है—नारकियोंके चौथे नरकसे पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्हींके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण और किन्हींके वेदनाभिभवसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । चौथेसे लेकर सातवें नरक तक किन्हींके जातिस्मरण और किन्हींके वेदनाभिभवसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । तिर्यचोंमें किन्हींके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण और किन्हींके जिनबिम्बदर्शनसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । मनुष्योंके भी इसी प्रकार जानना चाहिए । देवोंमें किन्हींके जातिस्मरण, किन्हींके धर्मश्रवण, किन्हींके जिन-महिमादर्शन और किन्हींके देवद्विदर्शनसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । यह व्यवस्था आनत कल्पसे पूर्वतक जानना चाहिए । आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पके देवोंके देवद्विदर्शनको छोड़कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं । नौप्रैवेयकके निवासी देवोंके सम्यग्दर्शनका

1. इस नियम के अनुसार जीवकाण्डकी 'हेट्टिमछप्पुदवीण' इत्यादि गायामें 'सव्वइत्थीण' पाठ के साथ 'सव्वइत्थीण' पाठ भी समझ लेना चाहिए ।

न संभवति; प्रागेव गृहीतसम्यक्त्वानां तत्रोत्पत्तेः ।

§ 29. अधिकरणं द्विविधम्—अभ्यन्तरं बाह्यं च । अभ्यन्तरं स्वस्वमित्संश्रयार्हं एव आत्मा, विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः । बाह्यं लोकनाडी । सा कियती? एकरज्जुविषयभावात्तुर्बशरज्ज्वायामा ।

§ 30. स्थितिरोपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चान्तर्मुहूर्तकी । क्षायिकस्य संसारिणी जघन्यान्तर्मुहूर्तकी । उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपभाणि सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि । मुक्तस्यसादिरपर्यवसाना । क्षायोपशमिकस्य जघन्यान्तर्मुहूर्तकी उत्कृष्टाषट्षष्टिसागरोपभाणि ।

साधन किन्हींके जातिस्मरण और किन्हींके धर्मश्रवण है । अनुदिश और अनुत्तरविमानोंमें रहनेवाले देवोंके यह कल्पना नहीं है, क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं ।

§ 29. अधिकरण दो प्रकारका है—अभ्यन्तर और बाह्य । अभ्यन्तर अधिकरण—जिस सम्यग्दर्शनका जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है । यद्यपि सम्बन्धमें षष्ठी और अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है, फिर भी विवक्षाके अनुसार कारककी प्रवृत्ति होती है, अतः षष्ठी विभक्ति द्वारा पहले जो स्वामित्वका कथन किया है उसके स्थानमें सप्तमी विभक्ति करनेसे अधिकरणका कथन हो जाता है । बाह्य अधिकरण लोकनाडी है । शंका—वह कितनी बड़ी है ? समाधान—एक राजु चौड़ी और चौदह राजु लम्बी है ।

§ 30. औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है । क्षायिक सम्यग्दर्शनकी संसारी जीवके जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम है । मुक्त जीवके सादि-अनन्त है । क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है व उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागरोपम है ।

1. क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी भवमें, तीसरे भवमें या चौथे भवमें मोक्ष जाता है । जो चौथे भवमें मोक्ष जाता है वह पहले भोगभूमिमें उसके बाद देव पर्यायमें जन्म लेकर और अन्तमें मनुष्य होकर मोक्ष जाता है । जो तीसरे भवमें मोक्ष जाता है वह पहले गरकमें या देवपर्यायमें जन्म लेकर और अन्तमें मनुष्य होकर मोक्ष जाता है । यहाँ तीन और चार भवों में क्षायिक सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके भवका भी ग्रहण कर लिया है । संसारी जीवके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी यह उत्कृष्ट स्थिति तीन भवकी अपेक्षा बतलायी है । प्रथम और अन्तके दो भव मनुष्य पर्यायके लिये गये हैं और दूसरा भव देव पर्यायका लिया गया है । इन तीनों भवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो पूर्व कोटि अधिक तेतीस सागरोपम होती है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके पहले नहीं हो सकती, इसलिए उक्त कालमें से इतना काल कम करके क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटि वर्ष अधिक तेतीस सागरोपम बतलायी है । 2. सुहाबन्धमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल छयासठ सागरोपम इस प्रकार घटित करके बतलाया है—एक जीव उपशम सम्यक्त्वसे वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त होकर शेष भुज्यमान आयुमें कम बीस सागरोपमकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ । फिर मनुष्योंमें उत्पन्न होकर पुनः मनुष्यायुसे कम बाईस सागरोपमकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ । फिर मनुष्यगतिमें जाकर भुज्यमान मनुष्यायुसे तथा दर्शनमोहकी क्षणमा पर्यन्त प्रागे मोयी जानेवाली मनुष्यायुसे कम चौबीस सागरोपमकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ । वहाँसे फिर मनुष्य गतिमें आकर वहाँ वेदक सम्यक्त्वके कालमें अन्तर्मुहूर्त रह जाने पर दर्शनमोहकी क्षणमाका प्रारम्भ करके कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो गया । यह जीव जब कृतकृत्यवेदकके अन्तिम समयमें स्थित होता है तब क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट काल छयासठ सागरोपम प्राप्त होता है ।

§ 31. विधानं सामान्यादेकं सम्यग्दर्शनम् । द्वितीयं निसर्गजाधिगमजभेदात्¹ । त्रितयं औपशमिकक्षाधिकक्षायोपशमिकभेदात् । एवं संख्येया विकल्पाः शब्दतः । असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात् । एवमयं निर्देशादिविधिज्ञानचारित्रयोर्जीवाजीवादिषु चापमानुसारेण योजयितव्यः ।

§ 32. किमेतरेव जीवादीनामधिगमो भवति उत अन्योऽप्यधिगमोपायोऽस्तीति परिदृष्टोऽस्तीत्याह—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालानन्तरभावात्पबहुत्वैश्च ॥8॥

§ 33. सदित्यस्तित्वनिर्देशः² । स प्रशंसादिषु वर्तमानो नेह गृह्यते । संख्या भेदगणना । क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः । तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम् । कालो द्विविधः—मुख्यो व्यावहारिकश्च । तयोरुत्तरत्र निर्णयो वक्ष्यते । अन्तरं विरहकालः । भावः औपशमिकादिलक्षणः । अल्पबहुत्वमन्योऽन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः । एतैश्च सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां चाधिगमो वेदितव्यः । ननु च निर्देशादेव सद्ग्रहणं सिद्धम् । विधानग्रहणात्संख्यागतिः । अधिकरणग्रहणात्क्षेत्रस्पर्शनावबोधः । स्थितिग्रहणात्कालसंग्रहः । भावो नामादिषु संगृहीत एव । पुनरेषां किमर्थं ग्रहणमिति सत्य³सिद्धम् । विनेयाशयवशात्तत्त्वदेशनाविकल्पः । केचित्संक्षेपरुचयः⁴ केचित् विस्तररुचयः । अपरे

§ 31. भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनं सामान्यसे एक है । निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका है । औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है । शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात प्रकारका है तथा श्रद्धान करनेवालोंकी अपेक्षा असंख्यात प्रकारका और श्रद्धान करने योग्य पदार्थोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका है । इसी प्रकार यह निर्देश आदि विधि ज्ञान और चारित्रमें तथा जीव और अजीव आदि पदार्थोंमें आगमके अनुसार लगा लेना चाहिए ।

§ 32. क्या इन उपर्युक्त कारणोंसे ही जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है या और दूसरे भी ज्ञानके उपाय हैं इस प्रकार ऐसा प्रश्न करनेपर दूसरे उपाय हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वसे भी सम्यग्दर्शन आदि विषयोंका ज्ञान होता है ॥8॥

§ 33. 'सत्' अस्तित्वका सूचक निर्देश है । वह प्रशंसा आदि अनेक अर्थोंमें रहता है, पर उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है । संख्यासे भेदोंकी गणना ली है । वर्तमानकालविषयक निवासको क्षेत्र कहते हैं । त्रिकालविषयक उसी निवासको स्पर्शन कहते हैं । काल दो प्रकारका है—मुख्य और व्यावहारिक । इनका निर्णय आगे करेंगे । विरहकालको अन्तर कहते हैं । भावसे औपशमिक आदि भावोंका ग्रहण किया गया है और एक दूसरेकी अपेक्षा न्यूनाधिकका ज्ञान करनेको अल्पबहुत्व कहते हैं । इन सत् आदिकेद्वारा सम्यग्दर्शनादिक और जीवादि पदार्थोंका ज्ञान होता है ऐसा यहाँ जानना चाहिए । शंका—निर्देशसे ही 'सत्' का ग्रहण हो जाता है । विधानके ग्रहणसे संख्याका ज्ञान हो जाता है । अधिकरणके ग्रहण करनेसे क्षेत्र और स्पर्शनका ज्ञान हो जाता है । स्थितिके ग्रहण करनेसे कालका संग्रह हो जाता है । भावका नामादिकमें संग्रह हो ही गया है फिर इनका अलगसे किसलिए ग्रहण किया है ? समाधान—यह बात सही है कि निर्देश आदिके द्वारा 'सत्' आदिकी सिद्धि हो जाती है तो भी शिष्योंके अभिप्रायानुसार तत्त्वदेशनामें भेद पाया जाता है । कितने ही शिष्य संक्षेपरुचिवाले होते हैं । कितने ही शिष्य

1.—गमजभेदात् । एवं मु. । 2.—देशः । प्रशंसा—मु. ता. न. । 3. ग्रहणमुच्यते ? सत्यं ता. न. ।

4. संक्षेपरुचयः अपरे नास्ति— मु. ।

नातिसंक्षेपेण नातिविरतरेण प्रतिपाद्याः । सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयास इति अधिगमाम्बुपाय-
भेदोद्देशः कृतः । इतरथा हि “प्रमाणनयैरधिगमः” इत्यनेनैव सिद्धत्वादितरेषां ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

§ 34. तत्र जीवद्रव्यमधिकृत्य सदाद्यनुयोगद्वारनिरूपणं क्रियते । जीवाश्चतुर्दशसु गुण-
स्थानेषु व्यवस्थिताः । मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः असंयतसम्यग्दृष्टिः
संयतासंयतः प्रमत्तसंयतः अप्रमत्तसंयतः अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः अनिवृत्तिबादरसांपराय-
स्थाने उपशमकः क्षपकः सूक्ष्मसांपरायस्थाने उपशमकः क्षपकः उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः
क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः सयोगकेवली अयोगकेवली चेति । एतेषामेव जीवसमासानां
निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि । गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेख्या-
भव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारका इति ।

§ 35. तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टिः
सासादनसम्यग्दृष्टिरित्येवमादि । विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि
चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति । तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति । मनुष्यगतौ
चतुर्दशापि सन्ति । देवगतौ नारकवत् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिव चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव
मिथ्यादृष्टिस्थानम् । पञ्चेन्द्रियेषु चतुर्दशापि सन्ति । कायानुवादेन पृथिवीकायादि वनस्पतिकाया-
न्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । व्रसकायेषु चतुर्दशापि सन्ति । योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश
गुणस्थानानि भवन्ति । ततः परं अयोगकेवली । वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्ति-
विस्ताररुचिवाले होते हैं और दूसरे शिष्य न तो अतिसंक्षेप कथन करनेसे समझते हैं और न अति
विस्तृत कथन करनेसे समझते हैं । किन्तु सज्जनोंका प्रयास सब जीवों का उपकार करना है,
इसलिए यहाँ अलगसे ज्ञानके उपायके भेदोंका निर्देश किया है । अन्यथा ‘प्रमाणनयैरधिगमः’
इतनेसे ही काम चल जाता, अन्य उपायोंका ग्रहण करना निष्फल होता ।

§ 34. अब जीव द्रव्यकी अपेक्षा ‘सत्’ आदि अनुयोगद्वारोंका कथन करते हैं यथा—
जीव चौदह गुणस्थानोंमें स्थित हैं । मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-
सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपशमक और
क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान-
वर्ती उपशमक और क्षपक, उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ,
सयोगकेवली और अयोगकेवली । इन चौदह जीवसमासोंके निरूपण करनेके लिए चौदह मार्गणा-
स्थान जानने चाहिए । यथा—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेख्या,
भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक ।

§ 35. इनमेंसे सामान्य और विशेषकी अपेक्षा सत्प्ररूपणा दो प्रकारकी है । मिथ्यादृष्टि
है, सासादन सम्यग्दृष्टि है इत्यादिरूपसे कथन करना सामान्यकी अपेक्षा सत्प्ररूपणा है । विशेष-
की अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान हैं ।
तिर्यग्चगतिमें वे ही चार गुणस्थान हैं किन्तु संयतासंयत एक गुणस्थान और है । मनुष्यगतिमें
चौदह ही गुणस्थान हैं और देवगतिमें नारकियोंके समान चार गुणस्थान हैं । इन्द्रिय मार्गणाके
अनुवादसे एकेन्द्रियोंसे लेकर चौइन्द्रिय तकके जीवोंमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है ।
पञ्चेन्द्रियोंमें चौदह ही गुणस्थान हैं । कायमार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायसे लेकर वनस्पति
तकके जीवोंमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है । व्रसकायिकोंमें चौदह ही गुणस्थान हैं । योग
मार्गणाके अनुवादसे तीनों योगोंमें तेरह गुणस्थान हैं और इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थान है ।

1. कायादिषु वनस्प—मु. न. 1

बादरान्तानि सन्ति । अपगतवेदेषु अनिवृत्तिबादराद्ययोगकेवल्यन्तानि ।

§ 36. कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति । लोभकषाये तान्येव सूक्ष्मसांपरायस्थानाधिकानि । अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः सयोगकेवली अयोगकेवली¹ चेति ।

§ 37. ज्ञानानुवादेन मत्तज्ज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति² । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः सन्ति । केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च ।

§ 38. संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽयोगकेवल्यन्ताः । सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धि-संयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः । परिहारविशुद्धिसंयताः प्रमत्ताश्च प्रमत्ताश्च । सूक्ष्मसांपराय-शुद्धिसंयता एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसांपरायस्थाने । यथाख्यातविहारशुद्धिसंयता उपशान्तकषायादयोऽ-योगकेवल्यन्ताः । संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने । असंयता आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु ।

§ 39. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । केवलदर्शने सयोगकेवली अयोग-केवली च ।

§ 40. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकपोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानि । इदमार्गणाके अनुवादसे तीनों वेदोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक नौ गुणस्थान हैं । अपगतवेदियों में अनिवृत्तिबादरसे लेकर अयोगकेवली तक छह गुणस्थान हैं ।

§ 36. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान और माया कषायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक नौ गुणस्थान हैं, लोभकषायमें वे ही नौ गुणस्थान हैं किन्तु सूक्ष्मसां-पराय एक गुणस्थान और है । उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगी और अयोगी ये चार गुण-स्थान कषायरहित हैं ।

§ 37. ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मत्तज्ञान, श्रुताज्ञान और विभगज्ञानमें मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि ये दो गुणस्थान हैं । आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक नौ गुणस्थान हैं । मनःपर्ययज्ञानमें प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक सात गुणस्थान हैं । केवलज्ञानमें सयोग और अयोग ये दो गुणस्थान हैं ।

§ 38. संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक संयत जीव होते हैं । सामायिक संयत और छेदोपस्थापनशुद्धिसंयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्ति गुणस्थान तक होते हैं । परिहारविशुद्धिसंयत जीव प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत होते हैं । सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत जीव एक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें होते हैं । यथाख्यात विहार शुद्धिसंयत जीव उपशान्तकषाय गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं । संयता-संयत जीव एक संयतासंयत गुणस्थानमें होते हैं । असंयत जीव प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें होते हैं ।

§ 39. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शनमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान हैं । अवधिदर्शनमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक नौ गुणस्थान हैं । केवलदर्शनमें सयोगकेवली और अयोगकेवली ये दो गुणस्थान हैं ।

§ 40. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कपोत लेश्यामें मिथ्यादृष्टिसे

1.—वली च । ज्ञाना—ता, न. । 2. दृष्टिश्चास्ति । सम्यग्मिथ्यादृष्टेः टिप्पणकारकाभिप्रायेण ज्ञातव्यम् । आभिनि—न. ।

सन्ति । तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि अप्रमत्तस्थानान्तानि । शुक्ललेश्यायां मिथ्या-
दृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि । अलेश्या अयोगकेवलिनः ।

§ 41. भव्यानुवादेन भव्येषु चतुर्दशापि सन्ति । अभव्या आद्य एव स्थाने ।

§ 42. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अयोगकेवल्यन्तानि
सन्ति । क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि अप्रमत्तान्तानि । औपशमिकसम्यक्त्वे
असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि उपशान्तकषायान्तानि । सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्या-
दृष्टिश्च स्वे स्वे स्थाने ।

§ 43. संज्ञानुवादेन संज्ञिसु द्वादश गुणस्थानानि क्षीणकषायान्तानि । असंज्ञिषु एकमेव
मिथ्यादृष्टिस्थानम् । तदुभयव्यपदेशरहितः सयोगकेवली अयोगकेवली च ।

§ 44. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि केवल्यन्तानि । अनाहारकेषु विग्रह-
गत्यापन्नेषु त्रीणि गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिरसंयतसम्यग्दृष्टिश्च । समुद्धात-
गतः सयोगकेवली अयोगकेवली च । सिद्धाः परमेष्ठिनः अतीतगुणस्थानाः । उक्ता सत्प्ररूपणा ।

§ 45. संख्याप्ररूपणोच्यते । सा द्विविधा¹ सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावद् जीवा
मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयः संयता-
संयताश्च पत्योपमासंख्येयभागप्रमिताः । प्रमत्तसंयताः कोटीपृथक्त्वसंख्याः । पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा
लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हैं । पीत और पद्मलेश्यामें मिथ्यादृष्टिसे लेकर
अप्रमत्तसंयत तक सात गुणस्थान हैं । शुक्ललेश्यामें मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक तेरह
गुणस्थान हैं । किन्तु अयोगकेवली जीव लेश्या रहित हैं ।

§ 41. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें चौदह ही गुणस्थान हैं । किन्तु अभव्य पहले
ही गुणस्थान में पाये जाते हैं ।

§ 42. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर
अयोगकेवली तक ग्यारह गुणस्थान हैं । क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर
अप्रमत्तसंयत तक चार गुणस्थान हैं । औपशमिक सम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर उप-
शान्तकषाय तक आठ गुणस्थान हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि
अपने-अपने गुणस्थान में होते हैं ।

§ 43. संज्ञामार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें क्षीणकषाय तक बारह गुणस्थान हैं ।
असंज्ञियोंमें एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है । संज्ञी और असंज्ञी इस संज्ञासे रहित जीव सयोग-
केवली और अयोगकेवली इन दो गुणस्थानवाले होते हैं ।

§ 44. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर
सयोगकेवली तक तेरह गुणस्थान होते हैं । विग्रहगतिको प्राप्त अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टि,
सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं । तथा समुद्धातगत
सयोगकेवली और अयोगकेवली जीव भी अनाहारक होते हैं । सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत हैं ।
इस प्रकार सत्प्ररूपणाका कथन समाप्त हुआ ।

§ 45. अब संख्या प्ररूपणाका कथन करते हैं । सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो
प्रकारकी है । सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्य-
ग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इनमेंसे प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव पत्योपमा
के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । प्रमत्त संयतोंकी संख्या कोटिपृथक्त्व है । पृथक्त्व आगमिक संज्ञा

1. द्विविधा । सामान्येन तावत्—मु. ।

तिसृणां कोटीनाममुपरि नयानामयः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयाः । चत्वार उपशमकाः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा । उत्कर्षेण चतुःपञ्चाशत् । स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः । चत्वारः क्षपका अयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा । उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः । स्वकालेन समुदिताः संख्येयाः । सयोगकेवलिनः प्रवेशेन एको वा द्वौ वा त्रयो वा । उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः । स्वकालेन समुदिताः शतमहत्प्रपञ्चसंख्याः ।

§ 46. विशेषेण गतनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारका मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । द्वितीयादिष्व्वा सप्तम्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः । स चासंख्येयभागः असंख्येयः योजनकोटीकोट्यः । सर्वासु पृथिवीषु सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयश्च पत्योपमः संख्येयभागप्रमिताः । तिर्यग्गतौ तिरश्चां¹ मध्ये मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः पत्योपमः संख्येयभागप्रमिताः । मनुष्यगतौ मनुष्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः । स चासंख्येयभागः असंख्येयः योजन-

है । इससे तीन से ऊपर और नीचे मध्यकी किसी संख्याका बोध होता है । अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं । चारों उपशमक गुणस्थानवाले जीव प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्टरूपसे जीवन हैं और अपने कालके द्वारा संचित हुए उक्त जीव संख्यात हैं । चारों क्षपक और अयोगकेवली प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्टरूपसे एकसौ आठ हैं और अपने कालके द्वारा संचित हुए उक्त जीव संख्यात हैं । सयोगकेवली जीव प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो या तीन हैं, उत्कृष्टरूपसे एकसौ आठ हैं और अपने कालके द्वारा संचित हुए उक्त जीव लाख-पृथक्त्व हैं ।

§ 46. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणके अनुवादसे नरकगतिमें पहली पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकी असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण² हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके³ असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक प्रत्येक पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकी जगश्रेणीके असंख्यातवें⁴ भागप्रमाण हैं, जो जगश्रेणीका असंख्यातवाँ भाग असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन-प्रमाण है । सब पृथिवियोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नारकी पत्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । तिर्यचगतिमें मिथ्यादृष्टि तिर्यच अनन्तानन्त हैं । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले तिर्यच पत्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । मनुष्यगतिमें मिथ्यादृष्टि मनुष्यजगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं, जो जगश्रेणीका असंख्यातवाँ भाग असंख्यातकोड़ाकोड़ी योजन प्रमाण है । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनुष्य संख्यात हैं । प्रमत्तसंयत आदि मनुष्योंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं । देवगतिमें मिथ्यादृष्टि देव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण⁵

1. तिरश्चां मिथ्या—मु । 2. सात राजु लम्बी और एक प्रदेशप्रमाण चौड़ी आकाश प्रदेश-पक्ति को जगश्रेणि कहते हैं । ऐसी जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण जगश्रेणियोंमें जितने प्रदेश होते हैं उतने प्रथम नरकके मिथ्यादृष्टि नारकी हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है । 3. जगश्रेणिके वर्गको जगप्रतर कहते हैं । 4. जगश्रेणिमें ऐसे असंख्यातका भाग दो जिससे असंख्यात योजन कोटाकोटि प्रमाण आकाश प्रदेश प्राप्त हों, इतनी दूसरे आदि प्रत्येक नरकके नारकियोंकी संख्या है । यह संख्या उत्तरोत्तर हीन है । 5. इसमें सम्पूर्ण मनुष्योंकी संख्या सम्मिलित है । 6. सासादनसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवाले मनुष्योंकी संख्या जीवस्थान द्रव्यप्रमाणानुगमकी ध्वला टीकामें विस्तारसे बतायी है । 7. मिथ्यादृष्टि देवोंकी संख्या का खुदाया प्रथम नरकके मिथ्यादृष्टि नारकियोंके खुलासाके समान जानना चाहिए । अग्रे भी इसी प्रकार यथायोग सुस्पष्ट कर लेना चाहिए ।

कोटीकोट्यः । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः संख्येयाः । प्रमत्तादीनां सामान्योक्तता संख्यः । देवगती देवा मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः पत्न्योपमासंख्येयभागप्रमिताः ।

§ 47. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुर्-
न्द्रिया असंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः
प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 48. कायानुवादेन पृथिवीकायिका अण्कायिकास्तेजःकायिका वायुकायिका असंख्येया
लोकाः । वनस्पतिकायिकाः अनन्तानन्ताः । त्रसकायिकसंख्या पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ 49. योगानुवादेन मनोयोगिनो वाऽयोगिनश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरा-
संख्येयभागप्रमिताः । काययोगिनो¹ मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः² । त्रयाणामपि योगिनां सासादन-
सम्यग्दृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः पत्न्योपमानसंख्येयभागप्रमिताः । प्रमत्तसंयतादयः सयोगकेवल्यन्ताः
संख्येयाः । अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 50. वेदानुवादेन स्त्रीवेदाः पुरुषवेदाश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभाग-
प्रमिताः । नपुंसकवेदा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । स्त्रीवेदा नपुंसकवेदाश्च सासादनसम्यग्दृष्ट-
यादयः संयतासंयतान्ताः सामान्योक्तसंख्याः । प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः संख्येयाः ।

हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि
और असंयतसम्यग्दृष्टि इनमें-से प्रत्येक गुणस्थानवाले देव पत्न्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं ।

§ 47. इन्द्रियमार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं । दोइन्द्रिय,
तीनइन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके
असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । पञ्चेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो
जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली
गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले पञ्चेन्द्रियोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं ।

§ 48. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायु-
कायिक जीवोंकी संख्या असंख्यात लोकप्रमाण है । वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त हैं और
त्रसकायिक जीवोंकी संख्या पञ्चेन्द्रियोंके³ समान है ।

§ 49. योग मार्गणाके अनुवादसे मनोयोगी और वचनयोगी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात
जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । काययोगियोंमें
मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं । तीनों योगवालोंमें सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक
प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव पत्न्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । प्रमत्तसंयत से लेकर सयोग-
केवली गुणस्थान तकके तीनों योगवाले जीव प्रत्येक गुणस्थानमें संख्यात हैं । अयोगकेवलियोंकी
वही संख्या है जो सामान्यसे कह आये हैं ।

§ 50. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदवाले और पुरुषवेदवाले मिथ्यादृष्टि जीव असं-
ख्यात जगश्रेणीप्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । नपुंसकवेदवाले
मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि से लेकर संयतासंयत तक स्त्रीवेदवाले

1 योगिषु मिथ्या—मु । —योगेषु मिथ्या—दि. 2 । 2. —नन्ताः । त्रियोगिनां सासा—मु. ।

3. वैसे तो त्रसकायिकोंकी संख्या पञ्चेन्द्रियोंकी संख्यासे अधिक है । पर असंख्यात सामान्य की अपेक्षा
यहाँ त्रसकायिकों की संख्याको पञ्चेन्द्रियोंकी संख्याके समान बतलाया है ।

पुंवेदाः सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयो¹ निवृत्तिबादरान्ताः सामान्योक्तसंख्याः । अपगतवेदा अनिवृत्ति-
बादरादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 51. कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः सामान्योक्त-
संख्याः । प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्तिबादरान्ताः संख्येयाः । लोभकषायानामुक्त एव क्रमः । अयं तु
विशेषः सूक्ष्मसांपरायसंयताः सामान्योक्तसंख्याः । अकषाया उपशान्तकषायावयोऽयोगकेवल्यन्ताः
सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 52. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनश्च मिथ्यादृष्टि² सासादनसम्यग्दृष्टयः सामा-
न्योक्तसंख्याः । विभङ्गज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेण्यः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । सासा-
दनसम्यग्दृष्टयः पत्योपमासंख्येयभागप्रमिताः । मतिश्रुतज्ञानिनोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीणकषा-
यान्ताः सामान्योक्तसंख्याः । अवधिज्ञानिनोऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयताः³ सामान्योक्तसंख्याः ।
प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः संख्येयाः । मनःपर्ययज्ञानिनः प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः
संख्येयाः । केवलज्ञानिनः सयोगा अयोगाश्च सामान्योक्तसंख्याः ।

और नपुंसकवेदवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है । प्रमत्तसंयतसे लेकर
अनिवृत्तिबादर तक स्त्रीवेदवाले और नपुंसक वेदवाले जीव संख्यात हैं । सासादनसम्यग्दृष्टिसे
लेकर अनिवृत्तिबादर तक पुरुषवेदवालोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है । अनिवृत्ति-
बादरसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक अपगतवेदवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे
कही है ।

§ 51. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान और माया कषायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर
संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंकी वही संख्या है जो सामान्यसे कही है । प्रमत्त-
संयतसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक उक्त कषायवाले जीव संख्यात हैं । यही क्रम लोभकषायवाले
जीवोंका जानना चाहिए । किन्तु इतनी विशेषता है कि इनमें सूक्ष्मसांपरायिक संयत जीवोंकी
वही संख्या है जो सामान्यसे कही गयी है । उपशान्त कषायसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक
कषाय रहित जीवोंकी संख्या सामान्यवत्⁵ है ।

§ 52. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादन-
सम्यग्दृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत्⁶ है । विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणी-
प्रमाण हैं जो जगश्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानी
जीव पत्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक
मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी जीवोंकी संख्या सामान्यवत्⁷ है । असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत
अवधिज्ञानी जीवोंकी संख्या सामान्यवत्⁸ है । प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक
प्रत्येक गुणस्थानमें अवधिज्ञानी जीव संख्यात हैं । प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक

1. —दयो संयतासंयतान्ताः सामान्योक्तसंख्याः । प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्ति—सु, आ, दि. 1 दि. 2 ।

2. —दृष्टयः सासा—ता । 3.—यतान्ताः सामा—सु, दि. 1, दि 2, आ । 4. यों तो जिस गुणस्थान-
वालोंकी संख्या बतलायी है वह क्रोध आदि चार भागमें बँट जाती है फिर भी सामान्यसे उस संख्याका
अतिक्रम नहीं होता इसलिए क्रोध, मान, माया और लोग कषायमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक
प्रत्येक गुणस्थानवालोंकी संख्या ओषके समान बतलायी है । आगे भी अहाँ इस प्रकार संख्या बतलायी हो
वहाँ यही क्रम जान लेना चाहिए । 5. संख्यात । 6. अनन्तानन्त । 7. जिस गुणस्थानवालोंकी
जितनी संख्या है सामान्यसे उतनी संख्या है । 8. पत्यके असंख्यातवें भागप्रमाण ।

§ 53. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिबाधराः ताः सामान्योक्तसंख्याः । परिहारविशुद्धिसंयताः प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्च संख्येयाः । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः संयतासंयता असंयताश्च सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 54. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभाग-प्रमिताः । अचक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । उभये च सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयः क्षीण-कषायान्ताः सामान्योक्तसंख्याः । अवधिदर्शनिनोऽवधिज्ञानिवत् केवलदर्शनिनः केवलज्ञानिवत् ।

§ 55. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः । तेजःपद्मलेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः स्त्रीवेदवत् । प्रमत्ताप्रमत्त-संयताः संख्येयाः । शुक्ललेश्या मिथ्यादृष्ट्यादयः संयतासंयतान्ताः पत्न्योपमासंख्येयभागप्रमिताः । प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः । अपूर्वकरणादयः संयोगकेवल्यन्ता अलेश्याश्च सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 56. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्ट्यादयोऽयोगकेवल्यन्ताः सामान्योक्तसंख्याः । अभव्या अनन्ताः ।

गुणस्थानमें मनःपर्ययज्ञानी जीव संख्यात हैं । सयोगी और अयोगी केवलज्ञानियोंकी संख्या सामान्यवत्¹ है ।

§ 53. संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिबाधर तक सामायिक-संयत और छेदोपस्थापनासंयत जीवोंकी संख्या सामान्यवत् है ।² प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें परिहार-विशुद्धिसंयत जीव संख्यात हैं । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत और असंयत जीवोंकी संख्या सामान्यवत्³ है ।

§ 54. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुर्दर्शनवाले मिथ्यादृष्टि जीव असंख्यात जगश्रेणी प्रमाण हैं जो श्रेणियाँ जगप्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । अचक्षुर्दर्शनवाले मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके उक्त दोनों दर्शनवाले जीवोंकी संख्या सामान्यवत्⁴ है । अवधिदर्शनवाले जीवोंकी संख्या अवधिज्ञानियों के समान है । केवलदर्शवाले जीवोंकी संख्या केवलज्ञानियों के समान है ।

§ 55. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले जीवोंकी संख्या⁵ सामान्यवत् है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक पीत और पद्मलेश्यावाले जीवों की संख्या⁶ स्त्रीवेदके समान है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त-संयत गुणस्थानवाले पीत और पद्मलेश्यावाले जीव संख्यात हैं । मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक शुक्ल लेश्यावाले जीव पत्न्योपमाके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं । अपूर्वकरणसे लेकर संयोगकेवली तक जीव सामान्यवत्⁷ हैं । लेश्यारहित जीव सामान्यवत् हैं ।

§ 56. भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक जीव सामान्यवत्⁸ हैं । अभव्य अनन्त हैं ।

1. संख्यात । 2. संख्यात । 3. सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत और यथाख्यात विहारशुद्धिसंयत जीव संख्यात हैं । तथा संयतासंयत जीव पत्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं और असंयत जीव अनन्तानन्त हैं । 4. जिस गुणस्थानवालोंकी जितनी संख्या है सामान्यसे उतनी संख्या उस गुणस्थानमें चक्षु और अचक्षु दर्शनवालोंकी है । 5. मिथ्यात्वमें अनन्तानन्त और शेष गुणस्थानोंमें पत्यके असंख्यातवें भागप्रमाण । 6. असंख्यात जगश्रेणिप्रमाण । 7. जिस गुणस्थानवालों की जितनी संख्या है उतनी है । 8. जिस गुणस्थानवालोंकी जितनी संख्या है उतनी है । केवल मिथ्यात्वमें अगव्योंकी संख्या कम हो जाती है ।

§ 57. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टयः पत्योपमासंख्येयभाग-
प्रमिताः । संयतासंयतादय उपशान्तकषायाः संख्येयाः । चत्वारः क्षयकाः सयोगकेवलिनोऽयोग-
केवलिनश्च सामान्योक्तसंख्याः । आयोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽप्रमत्तान्ताः
सामान्योक्तसंख्याः । औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतः पत्योपमासंख्येयभाग-
प्रमिताः । प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः । चत्वार औपशमिकाः सामान्योक्तसंख्याः । सासादन-
सम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 58. संज्ञानुवादेन सज्जिषु मिथ्यादृष्ट्यादयः क्षीणकषायाः अक्षुब्धदर्शनवत् । असंज्ञिनो
मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । तदुभयव्यपदेशरहिताः सामान्योक्तसंख्याः ।

§ 59. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादयः सयोगकेवल्यः सामान्योक्तसंख्याः ।
अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः सामान्योक्तसंख्याः । सयोगकेवलिनः
संख्येयाः । अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः । संख्या निर्णीता ।

§ 60. क्षेत्रमुच्यते । तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावद्—मिथ्यादृष्टीनां
सर्वलोकः । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । सयोगकेवलिनो
लोकस्यासंख्येयभागो¹ संख्येया भागाः सर्वलोको वा ।

§ 57. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीव
पत्योपमके असंख्यातवें भाग हैं । संयतसंयतसे लेकर उपशान्तकषाय तक जीव संख्यात हैं । चारों
क्षयक, सयोगकेवली और अयोगकेवली सामान्यवत् हैं । आयोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में असंयत
सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक सामान्यवत् हैं । औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्य-
ग्दृष्टि और संयतासंयत जीव पत्योपमके असंख्यातवें भाग हैं । प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत जीव
संख्यात हैं ; चारों उपशमक सामान्यवत् हैं । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और
मिथ्यादृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत् है ।

§ 58. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे सज्जियोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक जीवोंकी
संख्या अक्षुब्धदर्शनवाले जीवोंके समान² है । असंज्ञी मिथ्यादृष्टि अनन्तानन्त है । संज्ञी और असंज्ञी
संज्ञासे रहित जीवोंकी संख्या सामान्यवत्³ है ।

§ 59. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक
जीवोंकी संख्या सामान्यवत्⁴ है । अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयत-
सम्यग्दृष्टि जीवोंकी संख्या सामान्यवत्⁵ है । सयोगकेवली संख्यात हैं और अयोगकेवली जीवोंकी
संख्या सामान्यवत्⁶ है । इस प्रकार संख्याका निर्णय किया ।

§ 60. अब क्षेत्रका कथन करते हैं । सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकार का
है । सामान्यसे मिथ्यादृष्टियोंका सब लोक क्षेत्र है । सासादनसम्यग्दृष्टियोंसे लेकर अयोगकेवली
तक जीवोंका लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र है । सयोगकेवलियोंका लोकके असंख्यातवें
भाग प्रमाण, लोकके असंख्यात बहुभागप्रमाण और सब लोक क्षेत्र है ।

1. — भागः । समुद्घातिसंख्येया वा भागाः सर्व—मु. न. । 2. मिथ्यादृष्टि संज्ञी असंख्यात जगन्ने-
प्रमाण हैं । सासादन आदि सज्जियोंकी संख्या जिस गुणस्थानवालोंकी जितनी संख्या है उतनी है ।
३. संख्यात । 4. मिथ्यादृष्टि आहारक अनन्तानन्त हैं । सासादनसे लेकर संयतासंयत तकके आहारक
पत्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं । शेष संख्यात हैं । 5. मिथ्यादृष्टि अनाहारक अनन्तानन्त हैं । तथा
सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि अनाहारक पत्यके असंख्यातवें भाग हैं । 6. संख्यात ।

§ 61. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वान् पृथिवीषु नारकाणां चतुर्षु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभागः । तिर्यगगती तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । सयोगकेवलित्वां सामान्योक्तं क्षेत्रम् देवगतौ देवानां सर्वेषां चतुर्षु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभागः ।

§ 62. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां क्षेत्रं सर्वलोकः । विकलेन्द्रियाणां लोकस्यासंख्येयभागः । पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्यवत् ।

§ 63. कायानुवादेन पृथिवीकायादिवनस्पतिकायास्तानां सर्वलोकः । त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ 64. योगानुवादेन बाह्यमनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । काययोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयोगकेवल्यन्तानामयोगकेवलित्वां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 65. वेदानुवादेन स्त्रीपुंवेदानां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । नपुंसकवेदानां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानामपगतवेदानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 66. कषायानुवादेन क्रोधमानमायाकषायाणां लोभकषायाणां च मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सूक्ष्मसांपरायणामकषायाणां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 61. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियों में नारकीयोंका चार गुणस्थानोंमें लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है । तिर्यचगतिमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर संयतासंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले तिर्यचोंका क्षेत्र सामान्यवत् है । अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यचोंका सब लोक क्षेत्र है और शेष तिर्यचोंका लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है । मनुष्यगतिमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनुष्योंका क्षेत्र लोकका असंख्यातवां भाग है । सयोगकेवलियोंका सामान्यवत् क्षेत्र है । देवगतिमें सब देवोंका चार गुणस्थानोंमें लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है ।

§ 62. इन्द्रियमार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंका सब लोक क्षेत्र है । विकलेन्द्रियोंका लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है और पंचेन्द्रियोंका मनुष्योंके समान क्षेत्र है ।

§ 63. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायसे लेकर वनस्पतिकाय तकके जीवोंका सब लोक क्षेत्र है । त्रसकायिकोंका पंचेन्द्रियोंके समान क्षेत्र है ।

§ 64. योग मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले वचन योगी और मनोयोगी जीवोंका लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले काययोगी जीवोंका और अयोगकेवली जीवोंका सामान्यवत् क्षेत्र है ।

§ 65. वेदमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति बादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोंका लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है । तथा मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले नपुंसकवेदी जीवों का और अपगतवेदियों का सामान्यवत् क्षेत्र है ।

§ 66. कषायमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्रोध, मान, माया व लोभ कषायवाले, सूक्ष्मसांपरायण गुणस्थानमें लोभ कषायवाले और कषाय रहित जीवोंका सामान्यवत् क्षेत्र है ।

1. स्त्रीपुंसवेदा—ता. । 2.—मायालोभ—भा., दि. 2 । मायानां लोभ—दि. 1 ।

§ 67. ज्ञानानुवादेन मत्पञ्चानिभूताज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । विभङ्गज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः । अभिनिबोधिक-भूताविधिज्ञानिनामसंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनां क्षीणकषायान्तानां मनःपर्ययज्ञानिनां च प्रमत्तादीनां क्षीणकषायान्तानां केवलज्ञानिनां सयोगानामयोगानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 68. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतानां चतुर्णां परिहारविशुद्धि-संयतानां प्रमत्ताप्रमत्तानां सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतानां यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतानां चतुर्णां संयतासंयतानामसंयतानां च चतुर्णां सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 69. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यासंख्येय-भागः । अचक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । अवधिदर्शनिनाम-वधिज्ञानिवत् । केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत् ।

§ 70. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । तेजःपद्मलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । शुक्ल-लेश्यानां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । सयोगकेवलिनामलेश्यानां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 71. भव्यानुवादेन भव्यानां चतुर्दशानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । अभव्यानां सर्वलोकः ।

§ 67 ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले मत्पञ्चानी और भूताज्ञानी जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि विभंगज्ञानियोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले अभिनिबोधिक ज्ञानी, भूतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोंका, प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले मनःपर्ययज्ञानी जीवोंका तथा सयोग और अयोग गुणस्थानवाले केवलज्ञानी जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 68 संयम मार्गणाके अनुवादसे प्रमत्तादि चार गुणस्थानवाले सामायिक और छेदोप-स्थापनासंयत जीवोंका, प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानवाले परिहारविशुद्धिसंयत जीवोंका, सूक्ष्म-सांपरायिक संयत जीवोंका, उपशान्त मोह आदि चार गुणस्थानवाले यथाख्यात विहारविशुद्धि-संयत जीवोंका और संयतासंयत तथा चार गुणस्थानवाले असंयत जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 69 दर्शन मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानमें चक्षुर्दर्शनवाले जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले अचक्षुर्दर्शनवाले जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । तथा अवधिदर्शनवालोंका अवधिज्ञानियोंके समान और केवलदर्शनवालोंका केवलज्ञानियोंके समान क्षेत्र है ।

§ 70. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक प्रत्येक गुणस्थानवाले कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले पीत और पद्मलेश्यावाले जीवोंके लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले शुक्ल-लेश्यावाले जीवोंका लोकका असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है तथा शुक्ललेश्यावाले सयोगकेवलियोंका और लेश्या रहित जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 71. भव्य मार्गणाके अनुवादसे चौदह गुणस्थानवाले भव्य जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । अभव्योंका सब लोक क्षेत्र है ।

§ 72. सम्प्रवृत्तानुवादेन क्षायिकसम्प्रवृत्तीनामसंयतसम्प्रवृत्तयाद्ययोगकेवल्यन्तानां आयोपशमिकसम्प्रवृत्तीनामसंयतसम्प्रवृत्तयाद्यप्रमत्तान्त्वानायायौपशमिकसम्प्रवृत्तीनामसंयतसम्प्रवृत्तयाद्युपशान्तकषायान्त्वानां पामादनसम्प्रवृत्तीनां संप्रवृत्तिमिथ्यादृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 73. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनवत् । असंज्ञिनां सर्वलोकः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

§ 74. आहारानुवादेन आहारकाणां मिथ्यादृष्ट्यादिवक्षीणकषायान्त्वानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । सयोगकेवलित्वां लोकस्यासंख्येयभागः । अनाहारकाणां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्प्रवृत्तयः सयतसम्प्रवृत्तयोपयोगकेवलित्वां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । सयोगकेवलित्वां लोकस्यासंख्येया¹ भागाः सर्वलोको वा । क्षेत्रनिर्णयः कृतः ।

§ 72. सम्प्रवृत्त मार्गणाके अनुवादसे अमंयत सम्प्रवृत्तिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानवाले क्षायिकसम्प्रवृत्तियोंका, अमंयतसम्प्रवृत्तिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानवाले आयोपशमिक सम्प्रवृत्तियोंका, असंयतसम्प्रवृत्तिसे लेकर उपशान्तकषाय गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले योपशमिक सम्प्रवृत्तियोंका तथा सासादनसम्प्रवृत्ति, सम्प्रवृत्तिमिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टियों का सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 73. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंका चक्षुर्दर्शनवाले जीवोंके समान, असंज्ञियोंका सब लोक और संज्ञी असंज्ञी इस संज्ञामे रहित जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है ।

§ 74. आहार मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानवाले आहारकाणां सामान्योक्त क्षेत्र है । सयोगकेवलियों का लोकका असंख्यातवां भाग क्षेत्र है । मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्प्रवृत्ति, असंयतसम्प्रवृत्ति और अयोगकेवली अनाहारक जीवोंका सामान्योक्त क्षेत्र है । तथा सयोगकेवली अनाहारकोंका लोकका असंख्यात बहुभाग और सब लोक क्षेत्र है ।

विशेषार्थ—क्षेत्रप्ररूपणामें केवल वर्तमान कालीन आवासका विचार किया जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव सब लोकमें पाये जाते हैं इसलिए उनका सब लोक क्षेत्र बतलाया है । अन्य गुणस्थानवाले जीव केवल लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र में ही पाये जाते हैं इसलिए इनका लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र बतलाया है । केवल सयोगकेवली इसके अपवाद हैं । यों तो स्वस्थानगत सयोगिकेवलियोंका क्षेत्र भी लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है फिर भी जो सयोगिकेवली समुद्धात करते हैं उनका क्षेत्र तीन प्रकारका प्राप्त होता है । दण्ड और कषाटरूप समुद्धातके समय लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण, प्रतररूप समुद्धातके समय लोकका असंख्यात बहुभाग और लोकपूरक समुद्धातके समय सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है इसलिए इनके क्षेत्रका निर्देश तीन प्रकारसे किया गया है । गति आदि मार्गणाओंके क्षेत्रका विचार करते समय इसी दृष्टिको सामने रखकर विचार करना चाहिए । साधारणतया कहाँ कितना क्षेत्र है इसका विवेक इन बातोंसे किया जा सकता है — 1. मिथ्यादृष्टियोंमें एकेन्द्रियोंका ही सब लोक क्षेत्र प्राप्त होता है । शेषका नहीं । इनके कुछ ऐसे अवान्तर भेद हैं जिनका सब लोक क्षेत्र नहीं प्राप्त होता पर वे यहाँ विवक्षित नहीं । इस हिसाबसे जो-जो मार्गणा एकेन्द्रियोंके सम्भव हों उन सबके सब लोक क्षेत्र जानना चाहिए । उदाहरणार्थ—गति मार्गणामें तिर्यचगति मार्गणा, इन्द्रिय मार्गणा में एकेन्द्रिय मार्गणा, काय-मार्गणामें पृथिवी आदि पाँच स्थावर काय मार्गणा, योग

1. —स्यासंख्येयभागः सु., दि. 1, दि. 2 ।

§ 75. स्पर्शनमुच्यते । तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावन्मिथ्या-
दृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ द्वादश चतुर्विंशभागा
वा देशेनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्विंशभागा वा ।

मार्गणामें काययोग मार्गणा, वेदमार्गणामें नपुंसक वेदमार्गणा, कषाय मार्गणामें क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय मार्गणा, ज्ञान मार्गणामें मत्तज्ञान और श्रुताज्ञान मार्गणा, संयम मार्गणा-
में असंयत संयम मार्गणा, दर्शनमार्गणा में अचक्षुदर्शन मार्गणा, लेश्या मार्गणामें कृष्ण, नील और कापोत लेश्या मार्गणा, भव्य मार्गणामें भव्य और अभव्य मार्गणा, सम्यक्त्व मार्गणामें मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व मार्गणा, संज्ञा मार्गणामें संज्ञी असंज्ञी मार्गणा तथा आहार मार्गणामें आहार और अनाहार मार्गणा इनका सब लोक क्षेत्र बन जाता है । 2. सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीण-
कषाय गुणस्थान तकके जीवोंका और अयोगकेवलियोंका क्षेत्र लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही है । 3. दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रियोंमें असंज्ञियों का क्षेत्र भी लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है । 4. संज्ञियोंमें समुद्धातगत सयोगिकेवलियोंके सिवा शेष सबका क्षेत्र लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण है । इन नियमोंके अनुसार जो मार्गणाएँ सयोगिकेवलीके समुद्धातके समय सम्भव हैं उनमें भी सब लोक क्षेत्र बन जाता है । शेषके लोकका असंख्यातवाँ भाग प्रमाण ही क्षेत्र जानना चाहिए । सयोगिकेवलीके लोकपूरण समुद्धातके समय मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, काययोग, अपंगतवेद, अकषाय, केवलज्ञान, यथाख्यात संयम, केवल दर्शन, शुक्ल लेश्या, भव्यत्व, क्षायिक सम्यक्त्व, न संज्ञी न असंज्ञी और अनाहार ये मार्गणाएँ पायी जाती हैं इसलिए लोकपूरण समुद्धातके समय इन मार्गणाओंका क्षेत्र भी सब लोक जानना चाहिए । केवलीके प्रतर समुद्धातके समय लोकका असंख्यात बहुभाग प्रमाण क्षेत्र पाया जाता है । इसलिए इस समय जो मार्गणाएँ सम्भव हों उनका क्षेत्र भी लोकका असंख्यात बहुभाग प्रमाण बन जाता है । उदाहरण के लिए लोक पूरण समुद्धातके समय जो मार्गणाएँ गिनायी हैं वे सब यहाँ भी जानना चाहिए । इनके अतिरिक्त शेष सब मार्गणाएँ ऐसी हैं जिनका क्षेत्र लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही प्राप्त होता है । लोक पूरण और प्रतर समुद्धातके समय प्राप्त होनेवाली जो मार्गणाएँ गिनायी हैं उनमेंसे काययोग, भव्यत्व और अनाहार इन तीनको छोड़कर शेष सब मार्गणाएँ भी ऐसी हैं जिनका भी क्षेत्र उक्त अवस्थाके सिवा अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण प्राप्त होता है । इस प्रकार क्षेत्रका निर्णय किया ।

§ 75. अब स्पर्शनका कथन करते हैं—यह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष । सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टियोंने सब लोकका स्पर्श किया है । सासादन सम्यग्दृष्टियोंने लोक-
के असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम ¹आठ भाग और कुछ कम ²चारह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टियों व असंयतसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भागका और त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम ³आठ भागका स्पर्श किया है । संयतासंयतोने लोकके असंख्यातवें भागका और त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह

1. मेरुपर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्धातकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 2. मेरु पर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर सात राजु । यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्धातकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 3. मेरु पर्वतके मूलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक समुद्धातकी अपेक्षा प्राप्त होता है । असंयत सम्यग्दृष्टियोंके मारणान्तिक समुद्धातकी अपेक्षा भी यह स्पर्शन बन जाता है ।

देशोनाः । संयतासंयतलोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः । प्रमत्तसंयतादीनाम-
योगकेवल्यस्तानां क्षेत्रवत्स्पर्शनम् ।

§ 76. विशेषण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारकंश्चतुर्गुणस्थानंलोकस्या-
संख्येयभागः स्पष्टः । द्वितीयादिषु प्राक्सप्तम्या मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येय-
भागः एको द्वौ त्रयः चत्वारः पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यासंयतसम्यग्दृष्टि-
भिलोकस्यासंख्येयभागः । सप्तम्यां पृथिव्यां मिथ्यादृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा
वा देशोनाः । शेषेस्त्रिभिलोकस्यासंख्येयभागः । तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः
स्पष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यग्-
मिथ्यादृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः । असंयतसम्यग्दृष्टि¹संयतासंयतलोकस्यासंख्येयभागः षट्
चतुर्दशभागा वा देशोनाः । मनुष्यगतौ मनुष्ये²मिथ्यादृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा
स्पष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यग्मिथ्या-
दृष्ट्यादीनामयोगकेवल्यस्तानां क्षेत्रवत्स्पर्शनम् । देवगतौ देवे³मिथ्यादृष्टि⁴सासादनसम्यग्दृष्टिभि-

³भागका स्पर्श किया है । तथा प्रमत्तसंयतोसे लेकर अयोग केवली गुणस्थान तकके जीवोंका स्पर्श क्षेत्रके समान है ।

§ 76. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमें पहली पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानवाले नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । दूसरीसे लेकर छठी पृथिवी तकके मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और क्रमसे लोक नाडीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम एक राजु, कुछ कम दो राजु, कुछ कम तीन राजु, कुछ कम चार राजु और कुछ कम पाँच राजु क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नारकियोंने लोक के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का स्पर्श किया है । सातवीं पृथिवीमें मिथ्यादृष्टि नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह राजु क्षेत्रका स्पर्श किया है । सासादनसम्यग्दृष्टि आदि शेष तीन गुणस्थानवाले उक्त नारकियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । तिर्यग्गतिमें मिथ्यादृष्टि तिर्यचोंने सब लोकका स्पर्श किया है । सासादनसम्यग्दृष्टि तिर्यचोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम सात भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यचोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत तिर्यचोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक नाडीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । मनुष्यगतिमें

1.—दृष्टिभिः संयता—मु. ता., न. । 2. दृष्टिभिः सासा—ता. । 3. ऊपर अच्युत कल्पक छह राजु । इसमेंसे चित्रा पृथिवीका एक हजार योजन व आरण अच्युत कल्पके उपरिम विमानोंके ऊपरका भाग छोड़ देना चाहिए । यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 4. मेरुपर्वतके मूलसे ऊपर मात राजु । यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है । यद्यपि तिर्यच सामान्य सम्यग्दृष्टि जीव मेरुपर्वतके मूलसे नीचे भवनवासियोंमें मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं तथापि इतने मात्रसे मार्शन क्षेत्र सात राजुमें अधिक न होकर कम ही रहता है । ऐसे जीव मेरुपर्वतके मूलसे नीचे एकेन्द्रियोंमें व नारकियोंमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते यह उक्त कथनका तात्पर्य है । 5. ऊपर अच्युत कल्प तक छह राजु । इसमेंसे चित्रा पृथिवीका एक हजार योजन व आरण अच्युत कल्पके उपरिम विमानोंके ऊपरका भाग छोड़ देना चाहिए । यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है ।

लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टिः संयतसम्यग्दृष्टिभिः
लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः ।

§ 77. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियैः सर्वलोकः स्पृष्टः । विकलेन्द्रियैर्लोकस्यासंख्येयभागः
सर्वलोको वा । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः
सर्वलोको वा । शेषाणां सामान्योक्तं स्पष्टं नम् ।

§ 78. कायानुवादेन स्थावरकायिकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । त्रसकायिनां पञ्चेन्द्रियवत् स्पष्टं नम् ।

§ 79. योगानुवादेन बाह्यमनसयोगिनां मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ
चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां क्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं
स्पष्टं नम् । सयोगकेवलानां लोकस्यासंख्येयभागः । काययोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादीनां सयोगकेवल्य-

मिथ्यादृष्टि मनुष्योंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और सब लोकका¹ स्पर्श किया है ।
सासादनसम्यग्दृष्टि मनुष्योंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक नाडीके चौदह भागोंमें-
से कुछ कम² सात भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुण-
स्थान तकके मनुष्योंका स्पर्श क्षेत्रके समान है । देवगतिमें मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि
देवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम³ आठ भाग
और कुछ कम नौ⁴ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि
देवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम⁵ आठ
भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है ।

§ 77. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंने सब लोकका स्पर्श किया है । विकले-
न्द्रियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और⁶ सब लोकका स्पर्श किया है । पंचेन्द्रियोंमें मिथ्या-
दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम⁷ आठ
भाग क्षेत्रका और⁸ सब लोकका स्पर्श किया है । शेष गुणस्थानवाले पञ्चेन्द्रियोंका स्पर्श
ओघके समान है ।

§ 78. काय मार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिक जीवोंने सब लोकका स्पर्श किया है ।
त्रसकायिकोंका स्पर्श पञ्चेन्द्रियोंके समान है ।

§ 79. योग मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि वचनयोगी और मनोयोगी जीवोंने लोकके
असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम⁹ आठ भाग क्षेत्रका और
सब लोकका स्पर्श किया है । सासादनसम्यग्दृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके गुणस्थानवालों-

1. मरणान्तिक समुद्घात और उपपादपदकी अपेक्षा यह स्पर्शन सर्वलोकप्रमाण कहा है । 2. भवनवासी
लोकसे लेकर ऊपर लोकाग्र तक । इसमें-से अगम्यप्रदेश छूट जानेसे कुछ कम सात राजु स्पर्श रह जाता है ।
यह स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 3. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर
छह राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिकपदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 4.
मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर सात राजु । यह स्पर्शन मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त
होता है । 5. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना,
कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 6. विकलेन्द्रियोंका सब लोक स्पर्श
मारणान्तिक और उपपाद पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 7. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह
राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 8. सब
लोक स्पर्श मारणान्तिक और उपपादकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 9. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और
ऊपर छह राजु । यह स्पर्शन विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है ।

न्तानामयोगकेवलिनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 80. वेदानुवादेन ¹स्त्रीपुंवेदमिथ्यादृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः ²अष्टौ चतुर्दश-
भागा वा देशोनाः सर्वलोको³ वा । सासादनसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतु-
र्दशभागा वा देशोनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टिघाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । नपुंसक-
वेवेषु मिथ्यादृष्टीनां सासादनसम्यग्दृष्टीनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् । ⁴सम्यग्मिथ्यादृष्टिभिलो-
कस्यासंख्येयभागः । असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतलोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा
देशोनाः । प्रमत्ताद्यनिवृत्तिबादरान्तानामपगतवेदानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

का स्पर्श ओघके समान है । सयोगकेवली जीवोंका स्पर्श लोकका⁵ असंख्यातवाँ भाग है । तथा
मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तकके काययोगवालोंका और अयोगकेवली जीवोंका
स्पर्श ओघके समान है ।

§ 80. वेद मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टि स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोंने लोकके
असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोक नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम ⁶आठ भाग और सब
लोक क्षेत्रका स्पर्श किया है । सासादन सम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा
लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम ⁷आठ भाग और कुछ कम नौ ⁸भाग क्षेत्रका स्पर्श
किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तकके जीवोंका स्पर्श ओघके
समान है । नपुंसकवेदियोंमें मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ⁹ओघके समान
है । सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंने लोकके असंख्यातवें भागका स्पर्श किया है । असंयतसम्यग्दृष्टि और
संयतासंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम
¹⁰छह भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । तथा प्रमत्तसंयतोंसे लेकर अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तकके
जीवोंका स्पर्श ओघके समान है ।

1. स्त्रीपुंसवे—ता । 2. अष्टौ नव चतु—मु. । 3. लोको वा । नपुंसकवेदेषु मु. । 4. सम्यग्मिथ्यादृष्टिभि-
लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दश भागा वा
देशोनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टिघाद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । असंयतसम्यग्—मु. । 5. समुद्-
घातके कालमें मनोयोग और वचनयोग नहीं होता, इससे वचनयोगी और मनोयोगी सयोगी केवलियों का
स्पर्शन लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है । 6. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह
राजु । यह स्पर्शन बिहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । सब लोक
स्पर्श मारणान्तिक और उपपादकी पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । 7. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और
ऊपर छह राजु । यह स्पर्शन बिहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है ।
8. मेरुतलसे नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर सात राजु । यह स्पर्शन मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त
होता है । यहाँ उपपाद पदकी अपेक्षा ग्यारह घनराजु स्पर्शन प्राप्त होता है । किन्तु उपपादपदकी विवक्षा
नहीं होनेसे उसका उल्लेख नहीं किया है । यह स्पर्शन मेरुतलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और उपर छह
राजु इस प्रकार प्राप्त होता है । 9. यहाँ नपुंसकवेदी मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका
स्पर्शन ओघके समान बतलाया है । सो यह सामान्य निर्देश है । विशेषकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि नपुंसकवेदियोंने
वैक्रियिक पदकी अपेक्षा पाँच घनराजु क्षेत्रका स्पर्श किया है, क्योंकि वायुकायिक जीव इतने क्षेत्रमें विक्रिया
करते हुए पाये जाते हैं । नपुंसकवेदी सासादन सम्यग्दृष्टियोंने स्वस्थानस्वस्थान, बिहारवत्स्वस्थान, वेदना,
कषाय और वैक्रियिकपदकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्शन किया है । उपपादपदकी अपेक्षा
कुछ कम ग्यारह बटे चौदह भाग त्रसनालीका स्पर्श किया है । मारणान्तिक पदकी अपेक्षा कुछ कम बारह
बटे चौदह भाग त्रसनालीका स्पर्श किया है । शेष कथन ओघके समान है । 10. यह स्पर्श मारणान्तिक
पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है ।

§ 81. कषायानुवादेन चतुष्कषायानामकषायानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 82. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुतज्ञानिनां मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । विभङ्गज्ञानिनां मिथ्यादृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोका वा । सासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । आभिनिबोधिकभुतावीधमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 83. संयमानुवादेन संयतानां सर्वेषां संयतासंयतानामसंयतानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 84. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां पञ्चबेन्द्रियवत् । अचक्षुर्दर्शनिनां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानामधिकेवलदर्शनिनां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

§ 85. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यर्मिमथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः पञ्च चत्वारो द्वौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः । तेजोलेश्यर्मिमथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टिभिलोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ न चतुर्दशभागा वा देशोनाः । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिलोक-

§ 81. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधादि चारों कषायवाले और कषायरहित जीवोंका स्पर्श ओषके समान है ।

§ 82. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी और श्रुतज्ञानी मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्श ओषके समान है । विभंगज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टियोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग, लोकनाडीके समान चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ² भाग और सर्वलोक³ है । सासादनसम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ओषके समान है । आभिनिबोधिक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अद्विज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवोंका स्पर्श ओषके समान है ।

§ 83. संयम मार्गणाके अनुवादसे सब संयतोंका, संयतासंयतोंका और असंयतोंका स्पर्श ओषके समान है ।

§ 84. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके चक्षुर्दर्शनवाले जीवोंका स्पर्श पंचेन्द्रियोंके समान है । मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके अचक्षुर्दर्शनवाले जीवोंका तथा अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोंका स्पर्श ओषके समान है ।

§ 85. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावाले मिथ्यादृष्टियोंसे सब लोकका स्पर्श किया है । सासादनसम्यग्दृष्टियोंसे लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमेंसे क्रमशः कुछ कम पाँच⁴ भाग, कुछ कम चार भाग और कुछ कम दो भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । पीतलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंने

1. वा देशोनाः । द्वादशभागाः कुतो न लभ्यन्ते इति चेत् तत्रावस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चद्व । अथवा येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ताः । सम्यग्मिथ्या—पु., आ., दि. 1 । 2. यह स्पर्श विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योंकि नीचे दो राजु और ऊपर छह राजु क्षेत्रमें गमतागमन देखा जाता है । 3. यह स्पर्शन मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । क्योंकि ये जीव सब लोकमें मारणान्तिक समुद्धात करते हुए पाये जाते हैं । 4. यह स्पर्श मारणान्तिक और उपपाद पदकी अपेक्षा बतलाया है । कृष्ण लेश्यावालेके कुछ कम पाँच राजु, नील लेश्यावालेके कुछ कम चार राजु और कापोत लेश्यावालेके कुछ कम दो राजु यह स्पर्श होता है । जो नारकी तिर्यक् सासादन सम्यग्दृष्टियोंमें उत्पन्न होते हैं उन्हींके यह स्पर्श सम्भव है ।

स्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः । संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः अध्यर्थचतुर्दश-
भागा वा देशोनाः । प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः । पद्मलेश्यैर्मिथ्यादृष्टिचारुसंयतसंयत-
दृष्टिचतुर्दशभागा वा देशोनाः । संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः । पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः । प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः । शुक्ललेश्यैर्मिथ्यादृष्टिचारु-
संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः । प्रमत्तादिसंयोगकेवल्यन्तानां
अलेख्यानां च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ^१ भाग और
कुछ कम नौ भाग^२ क्षेत्रका स्पर्श किया है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टियोंने लोकके
असंख्यातवें भाग क्षेत्रका तथा लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम आठ^३ भाग क्षेत्रका स्पर्श
किया है । संयतासंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से
कुछ कम डेढ़^४ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवोंने लोकके प्रम-
त्तासंयतवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टियों तकके पद्म-
लेश्यावाले जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम
आठ^५ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । संयतासंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक-
नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम^६ पाँच भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । तथा प्रमत्तसंयत और
अप्रमत्तसंयतोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर
संयतासंयतों तकके शुक्ललेश्यावाले जीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका और लोक-
नाडीके चौदह भागोंमें-से कुछ कम छह^७ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । प्रमत्तसंयत आदि
संयोगकेवली तकके शुक्ललेश्यावालोंका और लेश्यारहित जीवोंका स्पर्श ओघके
समान है ।

१. यह स्पर्शन विहार, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योंकि प्रीतलेश्या-
वाले सासादनोका नीचे कुछ कम दो राजु और ऊपर छह राजु क्षेत्रमें समतागमन देखा जाता है । २. यह
स्पर्श मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा प्राप्त होता है क्योंकि ऐसे जीव तीमरी पृथिवीसे ऊपर कुछ कम
नौ राजु क्षेत्र में मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं । उपपाद पदकी अपेक्षा इनका स्पर्श कुछ
कम डेढ़ राजु होता है इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए । ३. यह स्पर्श विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक
और मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । युक्तिका निर्देश पहले किया ही है । इतनी विशेषता है
कि मिश्र गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता । ४. यह स्पर्श मारणान्तिक पदकी अपेक्षा प्राप्त
होता है । इनके उपपाद पद नहीं होता । ५. यह स्पर्श विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और मारणान्तिक
पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है । इनके उपपाद पदकी अपेक्षा स्पर्श कुछ कम पाँच राजु होता है । इतनी
विशेषता है कि मिश्र गुणस्थानमें मारणान्तिक और उपपाद पद नहीं होता । ६. यह स्पर्श मारणान्तिक
पदकी अपेक्षा प्राप्त होता है, क्योंकि पद्म लेश्यावाले संयतासंयत ऊपर कुछ कम पाँच राजु क्षेत्रमें
मारणान्तिक समुद्घात करते हुए पाये जाते हैं । ७. विहार, वेदना, कषाय, वैक्रियिक और
मारणान्तिक पदोंकी अपेक्षा यह स्पर्शन प्राप्त होता है । सो भी मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानोंकी अपेक्षा
यह कथन किया है । संयतासंयत शुक्ल लेश्यावालोंके तो विहार, वेदना, कषाय और वैक्रियिक पदोंकी
अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही स्पर्शन प्राप्त होता है । उपपादकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि और
सासादनसम्यग्दृष्टि शुक्ल लेश्यावालोंका स्पर्शन लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है । अविरतसम्यग्दृष्टि शुक्ल
लेश्यावालोंका स्पर्श कुछ कम छह राजु है । संयतासंयतोंके उपपादपद नहीं होता । फिर भी इनके मार-
णान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा कुछ कम छह राजु स्पर्श बन जाता है ।

§ 86. भव्यानुवादेन भव्यानां मिथ्यादृष्टिचाणयोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।
अभव्यैः सर्वलोकः स्पृष्टः ।

§ 87. सम्यक्त्वानुवादेन क्षाणिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्टिचाणयोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तम् । किन्तु संयतासंयतानां लोकस्यासंख्येयभागः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तम् । 31। क्षणिकसम्यक्त्वानामसंयतसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तम् । जेवार्णा लोकस्यासंख्येयभागः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनां सामान्योक्तम् ।

§ 88. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुदर्शनवाले असंज्ञिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तम् ।

§ 89. आहारानुवादेन आहारकोशमिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तम् । सयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । आहारकोशमिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिरलोकस्यासंख्येयभागः एव चक्षुदर्शनवाले वा देशोक्तः । असंयतसम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागः षट् चक्षुदर्शनभाग वा देशोक्तः । सयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा । अयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । स्पर्शनं व्याख्यातम् ।

§ 90. कालः प्रस्तूयते । स द्विविधः— सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावद् मिथ्यादृष्टेर्नाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवापेक्षया त्रयो भङ्गाः । अनादिरपर्यवसानः अनादिः सार्यव-

§ 86. भव्य मार्गणके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर अयोगकेवली तकके भव्योंका स्पर्श ओघके समान है । अभव्योंने सब लोकका स्पर्श किया है ।

§ 87. सम्यक्त्व मार्गणके अनुवादसे असंयतसम्यग्दृष्टियोंसे लेकर अयोगकेवली तकके क्षाणिकसम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ओघके समान है । किन्तु संयतासंयतोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग है । क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श ओघके समान है । असंयतसम्यग्दृष्टि औपशमिक सम्यग्दृष्टियों का स्पर्श ओघके समान है । तथा क्षेप औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग है । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंका सामान्योक्त स्पर्श है ।

§ 88. संज्ञा मार्गणके अनुवादसे संज्ञियोंका स्पर्श चक्षुदर्शनवाले जीवोंके समान है । असंज्ञियोंने सब लोगका स्पर्श किया है । इन दोनों व्यवहारोंसे रहित जीवोंका स्पर्श ओघके सामन है ।

§ 89. आहार मार्गणके अनुवादसे मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर क्षीणकषाय तकके आहारकोंका स्पर्श ओघके समान है । तथा सयोगकेवलियोंका स्पर्श लोकका असंख्यातवाँ भाग है । आहारकोंमें मिथ्यादृष्टियोंने सब लोकका स्पर्श किया है । सासादनसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवाँ भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम ग्यारह¹ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । असंयतसम्यग्दृष्टियोंने लोकके असंख्यातवाँ भाग क्षेत्रका और लोकनाडीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह² भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । सयोगकेवलियोंने लोकके असंख्यात बहुभाग क्षेत्रका और सब लोकका स्पर्श किया है । तथा अयोगकेवलियोंने लोकके असंख्यातवाँ भाग क्षेत्रका स्पर्श किया है । इस प्रकार स्पर्शनका व्याख्यान किया ।

§ 90. अब कालका कथन करते हैं । सामान्य और विशेषकी अपेक्षा वह दो प्रकारका है । सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिका माना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है अर्थात् मिथ्यादृष्टि

1. मेह तलसे नीचे कुछ कम पाँच राजु और ऊपर छह राजु । यह स्पर्श उपपाद पदकी अपेक्षा प्राप्द होता है । 2. अच्युत कल्प तक ऊपर कुछ कम राजु । तिर्यच असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मर कर अच्युत कल्प तक उत्पन्न होते हैं इसलिए उपपाद पदकी अपेक्षा यह स्पर्श बन जाता है ।

सानः सादिः सपर्यवसानश्चेति । तत्र सादिः सपर्यवसानो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणार्धपुद्गल-
परिवर्त्तो देशोनः । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पत्योपमा-
संख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षडावलिकाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नाना-
जीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पत्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्यः उत्कृष्ट-
श्चान्तर्मुहूर्तः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः¹ ।
उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः ।
एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया
सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । चतुर्णामुपशमकानां नाना-
जीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । चतुर्णां क्षपक/णमयोग-
केवलितानां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः । सयोगकेवलितानां
नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना ।

§ 91. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ नारकेषु सप्तसु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवा-

जीव मदा पाये जाते हैं । एक जीवकी अपेक्षा तीन भंग हैं— अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और
सादि-सान्त । इनमें-से सादि-सान्त मिथ्यादृष्टिका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल
कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल
एक समय है और उत्कृष्ट काल पत्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण है । एक जीवकी अपेक्षा
जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवलि है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी
अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पत्योपमका असंख्यातवां भाग है । एक
जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी
अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक
तेतीस² सागरोपम है । संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है और एक जीवकी अपेक्षा
जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि है । प्रमत्तसंयत और
अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक
समय⁴ और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । चारों उपशमोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा
जघन्य काल एक समय⁶ है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । चारों क्षपक और अयोगकेवलियों-
का नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । सयोग-
केवलियों का नाना जीवों की अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्त-
र्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि है ।

§ 91. विशेषकी अपेक्षा गति सार्वणाके अनुवादसे नरक गतिमें नारकियोंमें सप्तों पृथि-

1. —हूर्तः । तिष्ठि सहसा सत्त य मशणि तेहर्त्तरि व उम्मासा । एयो हवइ मुहत्तो सञ्जेमि चेव मण्णयाणं ।'
उत्क--मु. । 2. जो उपशम श्रेणिवादा जीव मर कर एक समय कम तेतीस सागरकी आयु लेकर अनुत्तर
विमानमें पैदा होता है । फिर पूर्वकोटिकी आयुवाले सन्तुष्टोंमें पैदा होकर जीवनभर असंयमके साथ रहा
है । केवल जीवोंमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहनेपर संयमको प्राप्त होकर मित्र होता है । उसके असंयत
सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है । यह काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक एक समय कम
तेतीस सागर है । 3. पूर्वकोटिकी आयु वाला जो सम्पूर्ण तिर्यच उत्पन्न होनेके अन्तर्मुहूर्त बाद वेदक
सम्यक्त्वके साथ संयमासंयमको प्राप्त करता है संयमासंयमका उत्कृष्ट काल होता है । यह काल अन्तर्मुहूर्त
कम एक पूर्वकोटि है । 4. जघन्य काल एक समय मरणकी अपेक्षा बतलाया है । 5. जघन्य काल एकसमय
मरणकी अपेक्षा बतलाया है ।

पेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण यथासंख्यं एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि । सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण उक्त एवोत्कृष्टो देशोनः ।

§ 92. तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टीनां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणान्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्तः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि ।

§ 93. मनुष्यगतौ मनुष्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटोपृथक्त्वैरभ्यधिकानि । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षडावलिकाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्चोत्कृष्ट-

वियों में मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका काल ओषके समान है । असंयत-सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ¹ कम अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण है ।

§ 92. तिर्यग्गतिसमें मिथ्यादृष्टि तिर्यचोंका नानाजीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जो असंख्यात² पुद्गल परिवर्तनप्रमाण है । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत तिर्यचोंका सामान्योक्त काल है । असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तीन पत्योपम है ।

§ 93. मनुष्यगतिसमें मनुष्योंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटि³ पृथक्त्वसे अधिक तीन पत्योपम है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल छह आवली है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और⁴ उत्कृष्ट काल साधिक तीन पत्योपम है । तथा संयता-

1. अन्तर्मुहूर्त कम । इतनी विशेषता है कि प्रारम्भके छह नरकोंमें मिथ्यात्वके साथ उत्पन्न करावे फिर अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्वको उत्पन्न कराकर जीवन-भर सम्यक्त्वके साथ रखकर उत्कृष्ट काल प्राप्त करे । परन्तु सातवें नरकमें प्रवेश और निर्गम दोनों ही मिथ्यात्वके साथ करावे । 2. यहाँ असंख्यातसे आवलिका असंख्यातवाँ भाग लिया गया है । 3. यहाँ पूर्वकोटि पृथक्त्वसे सैंतालीस पूर्वकोटियोंका ग्रहण किया है । यद्यपि पृथक्त्व यह तीनसे ऊपर और नीचे नीचेकी संख्याका द्योतक है तथापि यहाँ बाहुल्यकी अपेक्षा पृथक्त्व पदसे सैंतालीसका ग्रहण किया है । 4. यहाँ साधिक पदसे कुछ कम पूर्वकोटिका त्रिभाग लिया गया है । उदाहरणार्थ—एक पूर्वकोटिके आयुवाले जिस मनुष्यने त्रिभागमें मनुष्यायुका बन्ध किया । फिर अन्तर्मुहूर्तमें सम्यक्त्वपूर्वक क्षायिकसम्यग्दर्शनको प्राप्त किया और आयुके अन्तमें मरकर तीन पत्यकी आयुके साथ उत्तम भोगभूमिमें पैदा हुआ उसके अविरत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है ।

इवान्तर्मुहूर्तः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमाणि सातिरेकाणि । शेषाणां सामान्योक्तः कालः ।

§ 94. देवगतीं देवेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणैकात्रिंशत्सागरोपमाणि । सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्र्यष्ट्रिंशत्सागरोपमाणि ।

§ 95. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेण संख्येयानि वर्षसहस्राणि । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । शेषाणां सामान्योक्तः कालः ।

§ 96. कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेण 'संख्येया' लोकाः । वनस्पतिकायिकानामेकेन्द्रियवत् । त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके । शेषाणां पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ 97. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तः-
संयत आदि शेषका काल ओषके समान है ।

§ 94. देवगतिमें देवोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल इकतीस सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका काल ओषके समान है । असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल तेतीस सागरोपम है ।

§ 95. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । विकलेन्द्रियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट काल संख्यात² हजार वर्ष है । पंचेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटी पृथक्त्वसे अधिक हजार सागरोपम है । तथा शेष गुणस्थानोंका काल ओषके समान है ।

§ 96. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण और उत्कृष्ट काल असंख्यात लोकप्रमाण है । वनस्पतिकायिकोंका एकेन्द्रियोंके समान काल है । त्रसकायिकोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । इनके शेष गुणस्थानोंका काल पंचेन्द्रियोंके समान है ।

§ 97. योग मार्गणाके अनुवादसे वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्यादृष्टि, असंयत-
1. —ख्येयः कालः । वन-मु. । 2. लगातार दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय या चौइन्द्रिय होनेका उत्कृष्ट काल संख्यात हजार वर्ष है । इसलिए इनका उत्कृष्ट काल उक्त प्रमाण कहा है ।

प्रमत्तसयोगकेवलानां नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । सासादनसम्यग्दृष्टेः सामान्योक्तः कालः सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेण पत्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । चतुर्णामुपशमकानां क्षपकाणां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । काययोगिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेणान्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । शेषाणां मनोयोगिवत् । अयोगानां सामान्यवत् ।

§ 98. वेदानुवादेन स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पत्योपमशतपृथक्त्वम् । सासादनसम्यग्दृष्ट्यानिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तः कालः । किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पत्योपमानि देशोनानि । पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । सासादनसम्यग्दृष्ट्यानिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तः कालः । नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवा-

सम्यग्दृष्टिः, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवलियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक ¹समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । सासादनसम्यग्दृष्टिका सामान्योक्त काल है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल एक ²समय है और उत्कृष्ट काल पत्योपमका असंख्यातवां भाग है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । चारों उपशमक और चारों क्षपकोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक ³समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । काययोगियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । शेषका काल मनोयोगियोंके समान है । तथा अयोगियोंका काल ओघके समान है ।

§ 98. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ पत्योपम पृथक्त्व है । सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । किन्तु असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम ⁴पचपन पत्योपम है । पुरुषवेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सौ ⁵सागरोपम पृथक्त्व है । तथा सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येक-

1. मनोयोग, वचनयोग और काययोगका जघन्य काल एक समय योगपरावृत्ति, गुणपरावृत्ति, मरण और व्याघात इस तरह चार प्रकारसे बन जाता है । इनमेंसे मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत यहाँ पर चारों प्रकार सम्भव हैं । अप्रमत्तसंयतके व्याघातके बिना तीन प्रकार सम्भव हैं, क्योंकि व्याघात और अप्रमत्तभावका परस्परमें विरोध है और सयोगिकेवलीके एक योगपरावृत्तिसे ही जघन्य काल एक समय प्राप्त होना सम्भव है । 2. मरणके बिना शेष तीन प्रकारसे यहाँ जघन्य काल एक समय घटित कर लेना चाहिए । 3. उपशमकोंके व्याघातके बिना तीन प्रकारसे और क्षपकोंके मरण और व्याघातके बिना दो प्रकारसे जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है । 4. देवीकी उत्कृष्ट आयु पचपन पत्य है । इसमेंसे प्रारम्भका अन्तर्मुहूर्त काल कम कर देनेपर स्त्रीवेदमें असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल कुछ कम पचपन पत्य प्राप्त हो जाता है । 5. तीन सौ सागरसे ऊपर और नौ सौ सागरके नीचे ।

पेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयः पुद्गलपरिवर्त्ताः । सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादराश्यानां सामान्यवत् । कित्संयतसम्यग्दृष्टेर्नाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । अपगतवेदानां सामान्यवत् ।

§ 99. कषायानुवादेन चतुष्कषायाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्ताश्यानां मनोयोगिवत् । द्वयोरुपशमकयोर्द्वयोः क्षपकयोः केवललोभस्य च अकषायाणां च सामान्योक्तः कालः ।

§ 100. ज्ञानानुवादेन मत्तज्ज्ञानिश्रुताज्ञानिषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्योः सामान्यवत् । विभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टेः सामान्योक्तः कालः । आभिनिबोधिकश्रुतावधिमतःपर्ययकेवलज्ञानिनां च सामान्योक्तः ।

§ 101. संयमानुवादेन सामाधिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातशुद्धिसंयतानां संयतासंयतानामसंयतानां च चतुर्णां सामान्योक्तः कालः ।

§ 102. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेर्नाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रं । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां शीघ्रकषायाका सामान्योक्त काल है । नपुंसकवेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । तथा सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागरोपम है । तथा वेदरहित जीवोंका काल ओषके समान है ।

§ 99. कषाय मार्गणाके अनुवादसे मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक चारों कषायों का काल मनोयोगियोंके समान है । तथा दोनों उपशमक, दोनों क्षपक, केवल लोभवाले और कषायरहित जीवोंका सामान्योक्त काल है ।

§ 100. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्तज्ज्ञानी और श्रुताज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टिका काल ओषके समान है । विभंगज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागरोपम है । तथा सासादनसम्यग्दृष्टिका सामान्योक्त काल है । आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंका सामान्योक्त काल है ।

§ 101. संयम मार्गणाके अनुवादसे सामाधिकसंयत, छेदोपस्थापनासंयत, परिहारविशुद्धिसंयत, सूक्ष्मसाम्परायसंयत, यथाख्यातशुद्धिसंयत, संयतासंयत और चारों असंयतोंका सामान्योक्त काल है ।

§ 102. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुर्दर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल दो

1. यह सादि सान्त कालका निर्देश है । 2. सातवें नरकमें असंयत सम्यग्दृष्टिका जो उत्कृष्ट काल है वही यहाँ नपुंसकवेदमें असंयत सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट काल कहा है । 3. मिथ्यादृष्टि नारकी या देवके उत्पन्न होनेके बाद पर्याप्त होने पर ही विभंगज्ञान प्राप्त होता है । इसीसे यहाँ एक जीवकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिके विभंगज्ञानका उत्कृष्ट काल कुछ कम तेतीस सागर कहा है ।

न्तानां सामान्योक्तः कालः । अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तः कालः । अवधिकेवलदर्शननोरवधिकेवलज्ञानिवत् ।

§ 103 लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोल्लेश्यासु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयोः सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमाणि देशोनानि । तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयोः सामान्योक्तः कालः । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तानां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । शुक्ललेश्यानां मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानामलेश्यानां च सामान्योक्तः

हजार सागरोपम है । तथा सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । अचक्षुदर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोंका काल अवधिज्ञानी और केवलज्ञानियोंके समान है ।

§ 103. लेश्या मार्गणके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोल्लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः ¹साधिक तेतीस सागरोपम, साधिक सत्रह सागरोपम और साधिक सात सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है । असंयत-सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल क्रमशः कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम और कुछ कम सात सागरोपम है । पीत और पद्मलेश्यावालों में मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि का नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल क्रमशः साधिक² दो सागरोपम और साधिक³ अठारह सागरोपम है । सासादन-सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल⁴ एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । शुक्ल लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल साधिक इकतीस सागरोपम है । सासादन सम्यग्दृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक प्रत्येकका और लेश्यारहित जीवों-

1. जो जिस लेश्यासे नरकमें उत्पन्न होता है उसके मरते समय अन्तर्मुहूर्त पहले वही लेश्या आ जाती है । इसी प्रकार नरकसे निकलनेपर भी अन्तर्मुहूर्त तक वही लेश्या रहती है । इसीसे यहाँ मिथ्यादृष्टिके कृष्ण, नील और कापोल्लेश्याका उत्कृष्ट काल क्रमसे साधिक तेतीस सागरोपम, साधिक सत्रह सागरोपम और साधिक सात सागरोपम बतलाया है ।
2. मिथ्यादृष्टिके पत्थोपमका असंख्यातबाँ भाग अधिक दो सागरोपम या अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरोपम और सम्यग्दृष्टिके अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरोपम ।
3. मिथ्यादृष्टिके पत्थोपमका असंख्यातबाँ भाग अधिक अठारह सागरोपम और सम्यग्दृष्टिके अन्तर्मुहूर्त कम साढ़े अठारह सागरोपम ।
4. लेश्यापरावृत्ति और गुणपरावृत्तिसे जघन्य काल एक समय प्राप्त हो जाता है ।

कालः । किं तु संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः ।

§ 104. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवापेक्षया द्वौ भङ्गौ अनादिः सपर्यवसानः सादिः सपर्यवसानश्च । तत्र सादिः सपर्यवसानो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाद्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः कालः । अभव्यानामनादिरपर्यवसानः ।

§ 105. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः कालः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टीनां चतुर्णां सामान्योक्तः कालः । औपशमिकसम्यक्त्वेभ्यः असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पत्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः । प्रमत्ताप्रमत्तयोश्चतुर्णामुपशमकानां च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनां सामान्योक्तः कालः ।

§ 106. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां पुवेदवत् । शेषाणां सामान्योक्तः । असंज्ञिनां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणान्तः कालोऽसंख्येयः पुद्गलपरिवर्ताः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्योक्तः ।

का सामान्योक्त काल है । किन्तु संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है ।

§ 104. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा दो भंग हैं अनादि-सान्त और सादि-सान्त । इनमेंसे सादि-सान्त भंगकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन है । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । अभव्योंका अनादि-अनन्त काल है ।

§ 105. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येकका सामान्योक्त काल है । चारों क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टियोंका सामान्योक्त काल है । औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और चारों उपशमकोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है । तथा सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टिका सामान्योक्त काल है ।

§ 106. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिबादर तक प्रत्येकका काल पुरुषवेदियोंके समान है । तथा शेष गुणस्थानोंका सामान्योक्त काल है । असंज्ञियों का नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल क्षुद्रभव-ग्रहणप्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका सामान्योक्त काल है ।

1. —ज्ञिनां मिथ्यादृष्टेर्नाना मु. । 2. ग्रहणम् । तिणिसया छत्तीसा छावट्ठी सहस्राणि मरणाणि । अन्तो-मुहुत्तमेतौ तावदिया चेव हौति खुद्भवा । 66336 । उत्क—मु. ।

§ 107. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणांगुलसंख्येयभागः असंख्येयासंख्येया¹ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । शेषाणां सामान्योक्तः कालः । अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण त्रयः समयाः । सासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यधोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणावलीकाया असंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण द्वौ समयौ । सयोगकेवलीनो नानाजीवापेक्षया जघन्येन त्रयः समयाः । उत्कर्षेण संख्येयाः समयाः । एकजीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्च त्रयः समयाः । अयोगकेवलिनो सामान्योक्तः कालः । कालो वर्णितः ।

§ 108. अन्तरं निरूप्यते । विवक्षितस्य गुणस्य गुणान्तरसंक्रमे सति पुनस्तत्प्राप्तेः प्राङ्मध्यमन्तरम् । तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावद् मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे षट्षष्टी देशोने सागरोपमानम् । सासादनसम्यग्दृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पत्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागः । उत्कर्षेणाद्विपुद्गलपरिवर्तो देशोनः ।

§ 107. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है । शेष गुणस्थानोंका सामान्योक्त काल है । अनाहारकोमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा सब काल है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल तीन समय है । सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल दो समय है । सयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल तीन समय और उत्कृष्ट काल संख्यात समय है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल तीन समय है । अयोगकेवलियोंका सामान्योक्त काल है । इस प्रकार कालका वर्णन किया ।

§ 108. अब अन्तरका निरूपण करते हैं । जब विवक्षित गुण गुणान्तररूपसे संक्रमित हो जाता है और पुनः उसकी प्राप्ति होती है तो मध्यके कालको अन्तर कहते हैं । वह सामान्य और विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारका है । सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम² दो छयासठ सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक³ समय ।

1. —ख्येयाः संख्य—यु. । 2. यदि दर्शन मोहनीयका क्षपणा काल सम्मिलित न किया जाय तो वेदक सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागर प्राप्त होता है । साथ ही यह भी नियम है कि ऐसा जीव मध्यमें अन्तर्मुहूर्तके लिए मिथ्य गुणस्थानमें जाकर पुनः अन्तर्मुहूर्त कम छयासठ सागर तक वेदक सम्यक्त्वके साथ रह सकता है । इसके बाद वह या तो मिथ्यात्वमें चला जाता है या दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करने लगता है । यहाँ मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर लाना है इसलिए मिथ्यात्वसे लाकर अन्तमें पुनः मिथ्यात्वमें ही ले जाना चाहिए । इससे मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक सौ बत्तीस सागर प्राप्त हो जाता है । 3. यदि सासादन सम्यग्दृष्टि न हों तो वे कमसे कम एक समय तक और अधिकसे अधिक पर्यके असंख्यातवें भाग काल तक नहीं होते इसीसे इनका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पर्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया सासादनवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाद्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाद्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनः । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाद्धपुद्गलपरिवर्तो देशोनाः । चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनं च नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षण्मासाः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सयोगकेवलिनं नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ 109. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ नारकाणां सप्तसु पृथिवीषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण एकत्रिंशत्-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पत्योपमासंख्येयभागः । एक-

और उत्कृष्ट अन्तर पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तन है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर सासादनसम्यग्दृष्टियोंके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है । असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रगत्संयत तक प्रत्येकका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है । चारों क्षपक और अयोगकेवलियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सयोगकेवलियोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 109. विशेषकी अपेक्षा गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोंमें सातों पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः कुछ कम एक सागरोपम, कुछ कम तीन सागरोपम, कुछ कम सात सागरोपम, कुछ कम दस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम, कुछ कम बाईस सागरोपम और कुछ कम तेतीस³ सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर सातों नरकोंमें क्रमशः कुछ कम एक साग-

1. सासादन गुणस्थान उपशम सम्यक्त्वसे न्युत होने पर ही प्राप्त हो सकता है । किन्तु एक जीव कमसे कम पत्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण बालके जाने पर ही दूसरी बार उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त हो सकता है । इसीसे यहाँ सासादन सम्यग्दृष्टिका जघन्यकाल अन्तरकाल पत्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा है ।
2. एक जीव उपशम श्रेणिसे न्युत होकर पुनः अन्तर्मुहूर्तसे बाद उपशम श्रेणिपर चढ़ सकता है इसलिए चारों उपशमकोंका एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त बतलाया है ।
3. जिस नरककी जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उसके प्रारम्भ और अन्त में अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्वके साथ रखकर मध्यमें सम्यक्त्वके साथ रखनेसे उस नरकमें मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है जिसका निर्देश मूलमें किया ही है ।

जीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि ।

§ 110. तिर्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां चतुर्णो सामान्योक्तमांतरम् ।

§ 111. मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्टेस्तिर्यग्वात् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्या-दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वरस्यधिकानि । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटी-रोपम कुछ कम तीन सागरोपम, कुछ कम सात सागरोपम, कुछ कम दस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम, कुछ कम बाईस सागरोपम और कुछ कम तेतीस सागरोपम है ।

§ 110. तिर्यग्गतिमें तिर्यच्चोर्में मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तीन पत्योपम है । तथा सासादनसम्यग्दृष्टि आदि चारोंका सामान्योक्त अन्तर है ।

§ 111. मनुष्य गतिमें मनुष्योंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर तिर्यच्चोर्में समान है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है । उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पत्योपम है । असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक तीन पत्योपम है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी

1. नरकमें उत्कृष्ट स्थितिके साथ उत्पन्न होने पर अन्तर्मुहूर्तके बाद उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करके सासादन और मिश्रमें ले जाय । फिर मरते समय सासादन और मिश्रमें ले जाय । इस प्रकार प्रत्येक नरकमें सासादन और मिश्र गुण-स्थानका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है । इतनी विशेषता है कि सातवें नरकमें मरनेके अन्तर्मुहूर्त पहले सासादन और मिश्रमें ले जाय । 2. जो तीन पत्यकी आयुके साथ कुक्कुट और मर्कट आदि पर्यायमें दो माह रहा और वहाँसे निकलकर मुहूर्त पृथक्त्वके भीतर वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ । फिर अन्तमें मिथ्यात्वमें जाकर और सम्यक्त्वको प्राप्त होकर मरकर देव हुआ । उसके मुहूर्त पृथक्त्व और दो माह कम तीन पत्य मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर होता है । 3. मनुष्य गतिमें मिथ्यात्वका उत्कृष्ट अन्तर 10 माह 19 दिन और दो अन्तर्मुहूर्त कम तीन पत्य है । 4. मनुष्यकी उत्कृष्ट काय स्थिति सैंतालीस पूर्वकोटि अधिक तीन पत्य है । कोई एक अन्य गतिका जीव सासादनके कालमें एक समय शेष रहने पर मनुष्य हुआ और अपनी उत्कृष्ट कायस्थिति प्रमाण काल तक मनुष्य पर्यायमें घूमता हुआ अन्तमें उपशम सम्यक्त्वपूर्वक एक समयके लिए सासादनको प्राप्त हुआ और मरकर देव हो गया तो इससे मनुष्य गतिमें सासादनका उत्कृष्ट अन्तर दो समय कम सैंतालीस पूर्वकोटि और तीन पत्य प्राप्त हो जाता है । मिश्र गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय मनुष्य पर्याय प्राप्त करनेपर आठ वर्षके बाद मिश्र गुणस्थान प्राप्त करावे । फिर कायस्थितिके अन्तमें मिश्र गुणस्थान प्राप्त कराकर मिथ्यात्व या सम्यक्त्वमें ले जाकर मरण करावे । तो इस प्रकार मिश्र गुणस्थानका उत्कृष्ट अन्तर तीन अन्तर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम सैंतालीस पूर्वकोटि और तीन पत्य प्राप्त होता है । 5. मनुष्य सम्यग्दृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर आठ वर्ष दो अन्तर्मुहूर्त कम सैंतालीस पूर्वकोटि और तीन पत्य है ।

पृथक्त्वं रम्यधिकानि । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटीपृथक्त्वानि । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटीपृथक्त्वानि । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ 112. देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशानानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशानानि ।

§ 113. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वं रम्यधिके । विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्तः । एवमिन्द्रियं प्रत्यन्तरमुक्तम् । गुणं प्रत्युभयतोऽपि नास्त्यन्तरम् । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व¹ है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व है । शेष गुणस्थानों का अन्तर ओघके समान है ।

§ 112. देवगतिमें देवोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है । तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है ।

§ 113. इन्द्रिय मार्गणके अनुवादसे एकेन्द्रियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । विकलेन्द्रियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । इस प्रकार इन्द्रियकी अपेक्षा अन्तर कहा । गुणस्थानकी अपेक्षा विचार करने पर तो इनके नाना जीवोंकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा दोनों अपेक्षाओंसे भी अन्तर नहीं है या उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारसे अन्तर नहीं है । पञ्चेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ

1. भोगभूमिमें संयमासंयम या संयमकी प्राप्ति सम्भव नहीं, इसलिए संतापीस पूर्वकोटिके भीतर ही यह अन्तर बताया है । 2. देवोंमें नौवें ग्रैवेयक तक ही गुणस्थान परिवर्तन सम्भव है । इसीसे यहाँ मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागर बतलाया है । 3. त्रस पर्यायमें रहनेका उत्कृष्ट कागज पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । इसीसे एकेन्द्रियोंका उक्त प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर बताया है ।

पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । शेषाणां सामान्योक्तम् ।

§ 114. कायानुवादेन पृथिव्यन्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणान्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । वनस्पतिकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेणासंख्येया लोकाः । एवं कायं प्रत्यन्तरमुक्तम् । गुणं प्रत्युभयतोऽपि नास्त्यन्तरम् । त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टघोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके¹ । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके । चतुर्णामुपशमकानां

भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम² है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपम है । शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ 114. काय मार्गणाके अनुवादसे पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल है जिसका प्रमाण असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । वनस्पतिकायिकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्षुद्रभवग्रहणप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात लोकप्रमाण है । इस प्रकार कायकी अपेक्षा अन्तर कहा । गुणस्थानकी अपेक्षा विचार करने पर तो नाना जीवोंकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा इन दोनों अपेक्षाओंसे भी अन्तर नहीं है । या उत्कृष्ट और जघन्य इन दोनों अपेक्षाओंसे अन्तर नहीं है । त्रसकायिकोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त

1. —भ्यधिके । चतुर्णां—मु. 2. सासादनोका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय पूर्वकोटी पृथक्त्व अधिक एक हजार सागरोपममेंसे आबलिका असंख्यातवाँ भाग और नौ अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए । मिश्र गुणस्थानवालोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय बारह अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए । असंयत सम्यग्दृष्टियोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय दस अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए । संयतासंयतोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय तीन पक्ष, तीन दिन और बारह अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए । प्रमत्तसंयतों और अप्रमत्तसंयतोंका उत्कृष्ट अन्तर लाते समय आठ वर्ष और दस अन्तर्मुहूर्त कम कर देना चाहिए । अपूर्वकरण आदि चार उपशमकों का उत्कृष्ट अन्तर लाते समय क्रमसे 30, 28, 26 और 24 अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष कम कर देना चाहिए ।

नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वैरभ्यधिके । शेषाणां पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ 115. योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगकेवलिनानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनानां च सामान्यवत् ।

§ 116. वेदानुवादेन स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागेऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्योद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं

और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटीपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम है । तथा शेष गुणस्थानोंका अन्तर पञ्चेन्द्रियोंके समान है ।

§ 115. योग मार्गणाके अनुवादसे काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्या-दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवलीका नाना जीवों और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सन्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । चारों क्षपक और अयोगकेवलियोंका अन्तर ओषके समान है ।

§ 116. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम पचपन¹ पल्योपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है । दोनों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ पल्योपम पृथक्त्व है । दोनों क्षपकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और

1. पाँच अन्तर्मुहूर्त कम पचपन पल्य । 2. स्त्रीवेदका उत्कृष्ट काल सौ पल्योपम पृथक्त्व है उसमें से दो समय कम कर देनेपर स्त्रीवेदियोंमें सासादन सम्यग्दृष्टिका अन्तर आ जाता है और छह अन्तर्मुहूर्त कम कर देनेपर सम्यग्मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है । आगे भी इसी प्रकार आगमानुसार घटित कर लेना चाहिए ।

प्रति नास्त्यन्तरम् ।

§ 117. पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् ।

§ 118. नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्त्युपशमकान्तानां सामान्योक्तम् । द्वयोः क्षपकयोः स्त्रीवेदवत् । अपगतवेदेषु अनिवृत्तिबादरोपशमकसूक्ष्मसांपरायोपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ 119. कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्त्युपशमका-

उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व¹ है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 117. पुरुषवेदियों में मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओषके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यतवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर सौ² सागरोपम पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । दोनों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । दोनों क्षपकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर³ साधिक एक वर्ष है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 118. नपुंसक वेदवालोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थानका सामान्योक्त अन्तर है । तथा दोनों क्षपकोंका अन्तर स्त्रीवेदियोंके समान है । अपगतवेदवालोंमें अनिवृत्तिबादर उपशमक और सूक्ष्मसांपराय उपशमकका नाना जीवोंकी अपेक्षा सामान्योक्त अन्तर है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । उपशान्तकषायका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओषके समान है ।

§ 119. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध, मान, माया और लोभ में मिथ्यादृष्टिसे लेकर

1. साधारणतः क्षपकश्रेणिका उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है । पर स्त्रीवेदकी अपेक्षा उसका उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व बतलाया है । 2. सासादनके दो समय कम और सम्यग्मिथ्यादृष्टिके छह अन्तर्मुहूर्त कम सौ सागरोपम पृथक्त्व यह अन्तर जानना चाहिए । आगे भी इस प्रकार यथा योग्य अन्तर घटित कर लेना चाहिए । 3. पुरुषवेदी अधिकसे अधिक साधिक एक वर्ष तक क्षपक श्रेणिपर नहीं चढ़ता यह इसका भाव है ।

न्तानां मनोयोगिवत् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण संबत्सरः सातिरेकः । केवललोभस्य सूक्ष्मसाम्परायिक उपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । क्षपकस्य तस्य सामान्यवत् । अकवायेषु उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । शेषाणां त्रयाणां सामान्यवत् ।

§ 120. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिषु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशेना । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । चतुर्णां क्षपकाणां सामान्यवत् । किं तु अवधिज्ञानिषु नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् ।

अनिवृत्तिबाधर उपशमक तक प्रत्येक गुणस्थानका अन्तर मनोयोगियोंके समान है । दोनों क्षपकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर साधिक एक वर्ष है । लोभ कषायमें सूक्ष्मसाम्परायिक उपशमकका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सूक्ष्मलोभवाले क्षपकका अन्तर ओघके समान है । कषायरहित जीवोंमें उपशान्तकषायका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । शेष तीन गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ 120. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी और विभङ्गज्ञानियोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंऔर एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । सासादन सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी जीवोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक पूर्वकोटी है । संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छयासठ सागरोपम है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक तेतीस सागरोपम है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक छयासठ सागरोपम है । चारों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है । किन्तु अवधिज्ञानियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है ।

1. चार अंतर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि । 2. आठ वर्ष और ग्यारह अंतर्मुहूर्त कम तीन पूर्वकोटि अधिक छयासठ सागरोपम । किन्तु अवधिज्ञानीके ग्यारह अंतर्मुहूर्तके स्थानमें 12 अंतर्मुहूर्त कम करना चाहिए । 3. प्रमत्तके साढ़े तीन अंतर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट अन्तर है । और अप्रमत्तके दो अंतर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट अन्तर है । 4. तीन या चार पूर्व कोटि अधिक छयासठ सागरोपम । किन्तु इसमेंसे चारों उपशमकोंके क्रमसे 26, 24, 22 और 20 अंतर्मुहूर्त तथा आठ वर्ष कम कर देना चाहिए । 5. अवधिज्ञानी प्रायः बहुत ही कम होते हैं, इसलिए इतना अंतर बन जाता है ।

एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । मनःपर्ययज्ञानिषु प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । चतुर्णां क्षपकाणामवधिज्ञानिवत् । द्वयोः केवलज्ञानिनोः सामान्यवत् ।

§ 121. संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतेषु प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । द्वयोः क्षपकयोः सामान्यवत् । परिहारशुद्धिसंयतेषु प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतेषूपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । तस्यैव क्षपकस्य सामान्यवत् । यथाख्याते अक्षयवत् । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । असंयतेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशानि । शेषाणां त्रयाणां सामान्यवत् ।

एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । मनःपर्ययज्ञानियोंमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त^१ है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक^२ पूर्वकोटी है । चारों क्षपकोंका अन्तर अवधिज्ञानियोंके समान है । दोनों केवलज्ञानियोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ 121. संयम मार्गणाके अनुवादसे सामायिक शुद्धिसंयत और छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतोंमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त^१ है । दोनों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक^२ पूर्वकोटी है । दोनों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है । परिहारशुद्धि संयतोंमें प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतोंमें उपशमकका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । तथा उसी सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकका अन्तर ओघके समान है । यथाख्यातमें अन्तर कषायरहित जीवोंके समान है । संयतासंयतका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । असंयतोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम तेतीस सागरोपम^३ है । शेष तीन गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

1. —यमे उप-आ., दि. 1, दि. 2, ता. । 2. उपशमश्रेणि और प्रमत्त-अप्रमत्तका काल अन्तर्मुहूर्त होनेसे मनःपर्ययज्ञानी प्रमत्त और अप्रमत्तका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त बन जाता है । 3. आठ वर्ष और 12 अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि । 4. प्रमत्तको अप्रमत्तसे और अप्रमत्तको प्रमत्तसे अंतरित करावे यह अंतर ले आना चाहिए । 5. आठ वर्ष और ग्यारह अंतर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अपूर्वकरणका उत्कृष्ट अंतर है । अनिवृत्तिकरणका समयाधिक नौ अंतर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम एक पूर्वकोटि उत्कृष्ट अंतर है । 6. प्रमत्त और अप्रमत्तको परस्पर अंतरित करानेसे यह अंतर आ जाता है । 7. यह अंतर सातवें नरकमें प्राप्त होता है ।

§ 122. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येय-भागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम्¹ । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे देशोने । चतुर्णां क्षपकाणां सामान्योक्तम् । अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्या-दृष्ट्यादिक्लीणकषयायागन्तानां सामान्योक्तमन्तरम् । अवधिदर्शनितोऽवधिज्ञानिवत् । केवल-दर्शनिनः केवलज्ञानिवत् ।

§ 123. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवा-पेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसाग-रोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एक-जीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोप-माणि देशोनानि ।

§ 122. दर्शनमार्गणके अनुवादसे चक्षुर्दर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओघके समान है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमक, असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ² कम दो हजार सागरोपम है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार सागरोपम³ है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो हजार⁴ सागरोपम है । चारों क्षपकोंका अन्तर ओघके समान है । अचक्षुर्दर्शनवालोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्लीणकषाय तक प्रत्येक गुणस्थानका सामान्योक्त अन्तर है । अवधिदर्शनवालोंका अवधिज्ञानियोंके समान अन्तर है । तथा केवलदर्शनवालोंके केवल-ज्ञानियोंके समान अन्तर है ।

§ 123. लेश्या मार्गणके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह साग-रोपम और कुछ कम सात सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर दोनों गुणस्थानोंमें क्रमशः पत्योपमक, असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर तीनों लेश्याओंमें क्रमशः कुछ कम तेतीस सागरोपम, कुछ कम सत्रह सागरोपम और कुछ कम सात सागरोपम है ।

1. सामान्यवत् । एव-मु. । 2. चक्षुर्दर्शनवालोंमें सासादनके नी अन्तर्मुहूर्त और आचलिका असंख्यातवाँ भाग कम सम्यग्मिथ्यादृष्टिके बारह अन्तर्मुहूर्त कम दो हजार सागरोपम उत्कृष्ट अन्तर है । 3. चक्षुर्दर्शन-वालोंमें अविरतसम्यग्दृष्टिके 10 अन्तर्मुहूर्त कम संयतासंयतके 48 दिन और 12 अन्तर्मुहूर्त कम, प्रमत्तसंयत के 8 वर्ष 10 अन्तर्मुहूर्त कम और अप्रमत्त संयतके भी 8 वर्ष और 10 अन्तर्मुहूर्त कम दो हजार साग-रोपम उत्कृष्ट अन्तर है । 4. चक्षुर्दर्शनवालोंमें चारों उपशमकोंका क्रमसे 29, 27, 25 और 23 अन्तर्मुहूर्त तथा आठ वर्ष कम दो हजार सागरोपम उत्कृष्ट अन्तर है ।

§ 124. तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च सागरोपमाणि सातिरेकाणि । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ 125. शुक्ललेश्येषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेणैकत्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि । संयतासंयतप्रमत्तसंयतोस्तेजोलेश्यावत् । अप्रमत्तसंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टचान्तर्मुहूर्तः¹ । त्रयाणामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टचान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलिनामलेश्यानां च सामान्यवत् ।

§ 126. भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । अभव्यानां

§ 124. पीत और पद्म लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर दोनों लेश्याओंमें क्रमशः साधिक दो सागरोपम और साधिक अठारह सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर दोनों गुणस्थानोंमें क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट अन्तर दोनों लेश्याओंमें क्रमशः साधिक दो सागरोपम और साधिक अठारह सागरोपम है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 125. शुक्ल लेश्यावालोंमें मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम इकतीस सागरोपम है । संयतासंयत और प्रमत्तसंयतका अन्तरकथन पीतलेश्याके समान है । तथा अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । तीन उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । उपशान्तकषायका नाना जीवकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है तथा एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । चारों क्षपक, सयोगकेवली और लेश्यारहित जीवोंका अन्तर ओषके समान है ।

§ 126. भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्योंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक

1.—हूर्तः । अयदो त्ति छ लेस्साओ सुहृतिय लेस्सा हु देसविरदतिये । तत्तो दु सुक्कलेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥ त्रयाणा—मु. । 2. उपशमश्रेणिसे अन्तरित कराके जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त प्राप्त करना चाहिए । 3. अप्रमत्तसंयतसे अन्तरित कराके यह अन्तर प्राप्त करना चाहिए ।

नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ 127. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्त-
जघन्यानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्र्यष्ट्रि-
शत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं
वृत्ति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्र्यष्ट्रिशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ 128. क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एक-
जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया
नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि देशोनानि ।
प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण
त्र्यष्ट्रिशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि ।

§ 129. औपशमिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः ।
उत्कर्षेण सप्त रात्रि¹दिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । संयतासंयतस्य नाना-

गुणस्थानका अन्तर ओघके समान है । अभव्योंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 127. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ² कम एक पूर्वकोटी है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर³ साधिक तैतीस सागरोपम है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओघके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर⁴ साधिक तैतीस सागरोपम है । तथा शेष गुणस्थानोंका अन्तर ओघके समान है ।

§ 128. क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ⁵ कम एक पूर्व-
कोटी है । संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर
अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम छद्मासठ⁶ सागरोपम है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त-
संयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है
और उत्कृष्ट अन्तर साधिक⁷ तैतीस सागरोपम है ।

§ 129. औपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य
अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर सात दिन रात है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट

1.—दिनानि । एक—मु. 2. आठ वर्ष और दो अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि । 3. संयतासंयतके आठ वर्ष और चौदह अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तैतीस सागरोपम । प्रमत्तसंयत के एक अन्तर्मुहूर्त और एक पूर्वकोटि अधिक तैतीस सागरोपम । अथवा साढ़े तीन अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैतीस सागरोपम । अप्रमत्त संयतके साढ़े पांच अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटी अधिक तैतीस सागरोपम । 4. चारों उपशमकोंके आठ वर्ष और क्रमसे 27, 25, 23 और 21 अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटी अधिक तैतीस सागरोपम । 5. चार अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि । 6. तीन अन्तर्मुहूर्त कम छद्मासठ सागरोपम । 7. प्रमत्तके सात अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैतीस सागरोपम और अप्रमत्तके आठ अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि अधिक तैतीस सागरोपम ।

जीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण चतुर्दश रात्रिदिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । प्रमत्ताप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पञ्चदश रात्रिदिनानि । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । त्रयाणामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्दृष्टिर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पत्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

§ 130. संज्ञानुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्टिर्नाद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । चतुर्णां क्षपकाणां सामान्यवत् । असंज्ञिनां नानाजीवापेक्षयैकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्यवत् ।

अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । संयतासंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर चौदह दिन रात्रि है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह दिन रात है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । तीन उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है । उपशान्तकषायका नामा जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर¹ नहीं है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है ।

§ 130 संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओषके समान है । सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एकजीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर सौ सागरोपम पृथक्त्व है । चारों क्षपकोंका अन्तर ओषके समान है । असंज्ञियोंका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका अन्तर ओषके समान है ।

1. क्योंकि उपशमश्रेणिसे उतर कर उपशम सम्यक्त्व छूट जाता है । यदि अन्तर्मुहूर्त बाद पुनः उपशमश्रेणि पर चढ़ता है तो वेदकसम्यक्त्व पूर्वक दूसरी बार उपशम करना पड़ता है । यही कारण है कि उपशम सम्यक्त्वमें एक जीवकी अपेक्षा उपशान्तकषायका अन्तर नहीं प्राप्त होता ।

§ 131. आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्-
मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागोऽन्त-
र्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयासंख्येया¹ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । असंयतसम्यग्दृष्ट्य-
प्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाङ्गुला-
संख्येयभागोऽसंख्येया¹ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् ।
एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेणाङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयासंख्येया² उत्सर्पिण्यवस-
र्पिण्यः । चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलितानां च सामान्यवत् ।

§ 132. अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।
सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण पत्योपमासंख्येयभागः । एकजीवं
प्रति नास्त्यन्तरम् । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण मासपृथ-
क्त्वम् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सयोगकेवलिनः नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः ।
उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । अयोगकेवलिनः नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः
समयः । उत्कर्षेण षण्मासाः । एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । अन्तरभवगतम् ।

§ 133. भावो विभाव्यते । स द्विविधः सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावत् मिथ्या-

§ 131. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका अन्तर ओषके समान
है । सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान
है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर क्रमशः पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग और अन्तर्मुहूर्त
है तथा उत्कृष्ट अन्तर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उप-
सर्पिणी और अवसर्पिणी है । असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थानका
नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट
अन्तर अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी
है । चारों उपशमकोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर ओषके समान है । एक जीवकी अपेक्षा
जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग है जिसका प्रमाण
असंख्यातासंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है । चारों क्षपक और सयोगकेवलियोंका अन्तर
ओषके समान है ।

§ 132. अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टिका नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं
है । सासादनसम्यग्दृष्टिका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर
पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । असंयतसम्यग्दृष्टिका
नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर मासपृथक्त्व है । एक जीवकी
अपेक्षा अन्तर नहीं है । सयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और
उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है । एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है । अयोगकेवलीका नाना जीवों-
की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह नहींना है । एक जीवकी अपेक्षा
अन्तर नहीं है । इस प्रकार अन्तरका विचार किया ।

§ 133. अब भावका विचार करते हैं । वह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष ।

1.—भावा असंख्येया उत्स—मु. । 2. भावः उक्तं च—मिच्छे खलु ओदइओ विदिण् पुण पारिणामिओ भावो ।
मिस्से अओवसमिओ अविरदसम्माट्ठे तिण्णोव ॥१॥ अर्त्त—मु. ।

दृष्टिरित्यौदयिको भावः । सासादनसम्यग्दृष्टिरिति पारिणामिको भावः । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति क्षायोपशमिको भावः । असंयतसम्यग्दृष्टिरिति औपशमिको वा क्षायिको वा क्षायोपशमिको वा भावः । असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयत इति क्षायोपशमिको भावः । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भावः । चतुर्षु क्षपकेषु सयोगायोगकेवलिनोश्च क्षायिको भावः ।

§ 134. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमायां पृथिव्यां नारकाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां सामान्यवत् । द्वितीयादिष्व सप्तम्या मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टीनां सामान्यवत् । असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको वा क्षायोपशमिको वा भावः । असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन । निर्गम्यतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तानां सामान्यवत् । मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां सामान्यवत् ।

§ 135. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियानामौदयिको भावः । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् ।

§ 136. कायानुवादेन स्थावरकायिकानामौदयिको भावः । त्रसकायिकानां सामान्यमेव ।

§ 137. योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानां च सामान्यकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि यह औदयिकभाव है । सासादनसम्यग्दृष्टि यह पारिणामिक¹ भाव है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक² भाव है । असंयतसम्यग्दृष्टि यह औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव है । किन्तु इसमें असंयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत यह क्षायोपशमिक भाव है । चारों उपशमकोके औपशमिक भाव है । चारों क्षपक, सयोगकेवली और अयोगकेवलीके क्षायिक भाव है ।

§ 134. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरक गतिमें पहली पृथिवी में नारकियोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि तक ओघके समान भाव है । दूसरी से लेकर सातवीं पृथिवी तक मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नारकियोंके ओघके समान भाव है । असंयतसम्यग्दृष्टिके औपशमिक या क्षायोपशमिक भाव है । किन्तु इसमें असंयतपना औदयिक भावकी अपेक्षा है । तिर्यचगतिमें तिर्यचोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक ओघके समान भाव है । मनुष्यगतिमें मनुष्योंके मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली तक ओघके समान भाव है । देवगतिमें देवोंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक ओघके समान भाव है ।

§ 135. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रियोंके औदयिक भाव है । पंचेन्द्रियोंमें मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक प्रत्येक गुणस्थानका ओघके समान भाव है ।

§ 136. कायमार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिकोंके औदयिक भाव है । त्रसकायिकोंके ओघके समान भाव है ।

§ 137. योगमार्गणाके अनुवादसे काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगी जीवोंके मिथ्या-

1. सासादनसम्यक्त्व यह दर्शनमोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे नहीं होता इस लिए निष्कारण होनेसे पारिणामिक भाव है । 2. सम्यग्मिथ्यात्वकर्मका उदय होने पर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक मिला हुआ जीव परिणाम होता है । उसमें श्रद्धानाश सम्यक्त्व अंश है । सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका उदय उसका अभाव करनेमें असमर्थ है इस लिए सम्यग्मिथ्यात्व यह क्षायोपशमिक भाव है ।

सामान्यमेव ।

§ 138. वेदानुवादेन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानामवेदानां च सामान्यवत् ।

§ 139. कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणामकषायाणां च सामान्यवत् ।

§ 140. ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिविभङ्गज्ञानिनां मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनां च सामान्यवत् ।

§ 141. संयमानुवादेन सर्वेषां संयतानां संयतासंयतानां च सामान्यवत् ।

§ 142. दर्शानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनिनां सामान्यवत् ।

§ 143. लेश्यानुवादेन षड्लेश्यालेश्यानां च सामान्यवत् ।

§ 144. भव्यानुवादेन भव्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । अभव्यानां पारिणामिको भावः ।

§ 145. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेः क्षायिको भावः । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । असंयतत्वमौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भावः । क्षायिकं सम्यक्त्वम् । शेषाणां सामान्यवत् । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेः क्षायोपशमिको भावः । क्षायोपशमिकं दृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तक और अयोगकेवलीके ओषके समान भाव है ।

§ 138. वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी और वेदरहित जीवोंके ओषके समान भाव है ।

§ 139. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोध कषायवाले, मान कषायवाले, माया कषायवाले, लोभ कषायवाले और कषाय रहित जीवोंके समान भाव है ।

§ 140. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीवोंके ओषके समान भाव है ।

§ 141. संयम मार्गणाके अनुवादसे सब संयतोंके, संयतासंयतोंके और असंयतोंके ओषके समान भाव है ।

§ 142. दर्शन मार्गणाके अनुवादसे चक्षुर्दर्शनवाले, अचक्षुर्दर्शनवाले, अवधिदर्शनवाले और केवलदर्शनवाले जीवोंके ओषके समान भाव है ।

§ 143. लेश्यामार्गणाके अनुवादसे छहों लेश्यावाले और लेश्या रहित जीवोंके ओषके समान भाव है ।

§ 144. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंके मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगकेवली तक ओषके समान भाव है । अभव्योंके पारिणामिक¹ भाव है ।

§ 145. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिके क्षायिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है । चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव है । क्षायिक सम्यक्त्व है । शेष गुणस्थानोंका ओषके समान भाव है । क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक

1. यों तो ये भाव दर्शनमोहनीय और चारित्र्य मोहनीयके उदयादिकी अपेक्षा बतलाये गये हैं । किन्तु अभव्योंके 'अभव्यत्व भाव क्या है' इसकी अपेक्षा भावका निर्देश किया है । यद्यपि इससे क्रम भंग हो जाता है तथापि विशेष जानकारीके लिए ऐसा किया है । उनका बन्धन सहज ही अशुद्धत् सन्तानवाला होनेसे उनके पारिणामिक भाव कहा है यह इसका तात्पर्य है ।

सम्यक्त्वम् । असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः । क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम् । औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको भावः । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन । संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । चतुर्णामुपशमकानामौपशमिको भावः । औपशमिकं सम्यक्त्वम् । सासादनसम्यग्दृष्टेः पारिणामिको भावः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेः क्षायोपशमिको भावः । मिथ्यादृष्टेरौदयिको भावः ।

§ 146. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां सामान्यवत् । असंज्ञिनामौदयिको भावः । तदुभयव्यपदेशरहितानां सामान्यवत् ।

§ 147. आहारानुवादेन आहारकाणामनाहारकाणां च सामान्यवत् । भावः परिसमाप्तः ।

§ 148. अल्पबहुत्वमुपवर्ण्यते । तद् द्विविधं सामान्येन विशेषेण च । सामान्येन तावत् सर्वतः स्तोकाः त्रय उपशमकाः स्वगुणस्थानकालेषु प्रवेशेन तुल्यसंख्याः । उपशान्तकषायारतावन्त एव । त्रयः क्षपकाः संख्येयगुणाः । क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थारतावन्त एव । सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन तुल्यसंख्याः । सयोगकेवलिनः स्वकालेन समुद्दिताः संख्येयगुणाः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । संयतासंयता¹ असंख्येयगुणाः । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः² संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः ।

सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है । औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिके औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । किन्तु असंयतपना औदयिक भाव है । संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतके क्षायोपशमिक भाव हैं । औपशमिक सम्यक्त्व है । चारों उपशमकोंके औपशमिक भाव है । औपशमिक सम्यक्त्व है । सासादनसम्यग्दृष्टिके पारिणामिक भाव है । सम्यग्मिथ्यादृष्टिके क्षायोपशमिक भाव है । मिथ्यादृष्टिके औदयिक भाव है ।

§ 146. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंके ओषके समान भाव हैं । असंज्ञियोंके औदयिक भाव हैं । तथा संज्ञी और असंज्ञी ध्ववहारसे रहित जीवोंके ओषके समान भाव हैं ।

§ 147. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीवोंके ओषके समान भाव हैं । इस प्रकार भाव समाप्त हुआ ।

§ 148. अब अल्पबहुत्वका कथन करते हैं । वह दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष । सामान्यकी अपेक्षा तीनों उपशमक सबसे थोड़े हैं जो अपने-अपने गुणस्थानके कालोंमें प्रवेशकी अपेक्षा समान³ संख्यावाले हैं । उपशान्तकषाय जीव उतने ही हैं । इनसे अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानके क्षपक संख्यात⁴ गुणे हैं । क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ उतने ही हैं । सयोगकेवली और अयोगकेवली प्रवेशकी अपेक्षा समान संख्यावाले हैं । इनसे अपने कालमें समुद्दिता हुए सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं ।

1. —संयता संख्ये—मु. । 2. —दृष्टयः असंख्ये—मु. । 3. कमसे कम एक और अधिकसे अधिक चीजन ।
4. कमसे कम एक और अधिकसे अधिक एक सौ आठ ।

§ 149. विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकेषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । तिर्यगतीं तिरश्चां सर्वतः स्तोकाः संयतासंयताः । इतरेषां सामान्यवत् । मनुष्यगतौ मनुष्याणां भुपशमकादिप्रमत्तसंयताः तानां सामान्यवत् । ततः संख्येयगुणाः संयतासंयताः । सासादनसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । देवगतौ देवानां नारकवत् ।

§ 150. इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियेषु गुणस्थानभेदो नास्तीत्यल्पबहुत्वाभावः¹ । पञ्चेन्द्रियाणां सामान्यवत् । अयं तु विशेषः मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः ।

§ 151. कायानुवादेन स्थावरकायेषु गुणस्थानभेदाभावादल्पबहुत्वाभावः² । त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवत् ।

§ 152. योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां पञ्चेन्द्रियवत् । काययोगिनां सामान्यवत् । वेदानुवादेन स्त्रीपुंवेदानां पञ्चेन्द्रियवत् । नपुंसकवेदानामवेदानां च सामान्यवत् ।

§ 153. कषायानुवादेन क्रोधमानमायाकषायाणां पुंवेदवत् । अयं तु विशेषः मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः । लोभकषायाणां द्वयोरुपशमकयोस्तुल्या संख्या । क्षपकाः संख्येयगुणाः । सूक्ष्मसांप-

§ 149. विशेषकी अपेक्षा गति मार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें सब पृथिवियोंमें नारकियोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं । इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुण हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुण हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुण हैं । तिर्यग्गतिमें तिर्यगोंमें संयतासंयत सबसे थोड़े हैं । शेष गुणस्थानवाले तिर्यगोंका अल्पबहुत्व ओषके समान है । मनुष्यगतिमें मनुष्योंके उपशमकोंसे लेकर प्रमत्तसंयत तकका अल्पबहुत्व ओषके समान है । प्रमत्तसंयतोंसे संयतासंयत संख्यातगुण हैं । इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि संख्यातगुण हैं । इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुण हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि संख्यातगुण हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुण हैं । देवगतिमें देवोंका अल्पबहुत्व नारकियोंके समान है ।

§ 150. इन्द्रिय मार्गणाके अनुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंमें गुणस्थान भेद न होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है । पञ्चेन्द्रियोंका अल्पबहुत्व ओषके समान है । किन्तु इतनी विशेषता है कि असंयत सम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रियोंसे मिथ्यादृष्टि पञ्चेन्द्रिय असंख्यातगुण हैं ।

§ 151. काय मार्गणाके अनुवादसे स्थावरकायिकोंमें गुणस्थान भेद न होनेसे अल्पबहुत्व नहीं है । त्रसकायिकोंका अल्पबहुत्व पञ्चेन्द्रियोंके समान है ।

§ 152. योग मार्गणाके अनुवादसे वचनयोगी और मनोयोगी जीवोंका अल्पबहुत्व पञ्चेन्द्रियोंके समान है । काययोगियोंका अल्पबहुत्व ओषके समान है । वेद मार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीवोंका अल्पबहुत्व पञ्चेन्द्रियोंके समान है । नपुंसकवेदी और वेदरहित जीवोंका अल्पबहुत्व ओषके समान है ।

§ 153. कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायवाले, मानकषायवाले और मायाकषायवाले जीवोंका अल्पबहुत्व पुरुषवेदियोंके समान है । किन्तु इतनी विशेषता है कि इनमें असंयत सम्यग्दृष्टियोंसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुण हैं । लोभ कषायवालोंमें दोनों उपशमकोंकी संख्या समान है । इनसे क्षपक संख्यातगुण हैं । इनसे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धि उपशमकसंयत विशेष अधिक हैं । इनसे

1. भावः । इन्द्रियं प्रत्युच्यते । पञ्चेन्द्रियाद्येकेन्द्रियान्ता उत्तरोत्तरं बहवः । पञ्चे—मु. । 2. भावः कायं प्रत्युच्यते । सर्वतस्तेजःकायिका अल्पाः । ततो बहवः पृथिवीकायिकाः । ततोऽप्यन्कायिकाः । ततो बालकायिकाः । सर्वतोऽनन्तगुणा वनस्पतयः । त्रस—मु. ।

राक्षसगुणपञ्चमकसंयता विशेषाधिकाः । सूक्ष्मसांपरायक्षपकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां सामान्यवत् ।

§ 154. ज्ञानानुवादेन मत्त्यज्ञानिश्रुताज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः¹ । विभङ्गज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मतिश्रुतावधिज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाश्चत्वारः क्षपकाः संख्येयगुणाः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । संयतासंयताः² असंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयः³ असंख्येयगुणाः । मनःपर्ययज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः । चत्वारः क्षपकाः संख्येयगुणाः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । केवलज्ञानिषु अयोगकेवलिन्यः सयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः ।

§ 155. संयमः अनुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतेषु द्वयोरुपशमकयोस्तुल्या संख्या । ततः संख्येयगुणौ क्षपकौ । अप्रमत्ताः संख्येयगुणाः । प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । परिहारशुद्धिसंयतेषु अप्रमत्तेभ्यः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयतेषु उपशमकेभ्यः क्षपकाः संख्येयगुणाः । यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतेषु उपशान्तकषायेभ्यः क्षीणकषायाः संख्येयगुणाः । अयोगकेवलिनस्तावन्त एव । सयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः । संयतासंयतानां नास्त्यल्पबहुत्वम् । असंयतेषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः⁴ संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः ।

§ 156. दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां मनोयोगिवत् । अचक्षुर्दर्शनिनां काययोगिवत् । अवधिदर्शनिनामवधिज्ञानिवत् । केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत् ।

सूक्ष्मसाम्यपराय क्षपक संख्यातगुणे हैं । शेष गुणस्थानवालोंका अल्पबहुत्व ओघके समान है ।

§ 154. ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे मत्त्यज्ञानी और श्रुताज्ञानियोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं । मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं । विभङ्गज्ञानियों में सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं । मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं । मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं । इनसे चारों क्षपक संख्यातगुणे हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । मनःपर्ययज्ञानियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं । इनसे चारों क्षपक संख्यातगुणे हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । केवलज्ञानियोंमें अयोगकेवलियोंसे सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं ।

§ 155. संयम मार्गणा के अनुवादसे सामायिक और छेदोपस्थापना शुद्धिसंयतोंमें दोनों उपशमक समान संख्यावाले हैं । इनसे दोनों क्षपक संख्यातगुणे हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । परिहारविशुद्धि संयतोंमें अप्रमत्तसंयतोंसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । सूक्ष्मसाम्यपरायिक शुद्धिसंयतोंमें उपशमकोंसे क्षपक संख्यातगुणे हैं । यथाख्यात विहार शुद्धिसंयतोंमें उपशान्त कषायवालोंसे क्षीणकषाय जीव संख्यातगुणे हैं । अयोगकेवली उतने ही हैं । सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं । संयतासंयतोंका अल्पबहुत्व नहीं है । असंयतोंमें सासादनसम्यग्दृष्टि सबसे थोड़े हैं । इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं ।

§ 156. दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुर्दर्शनवालोंका अल्पबहुत्व मनोयोगियोंके समान है । अचक्षुर्दर्शनवालोंका अल्पबहुत्व काययोगियोंके समान है । अवधिदर्शनवालोंका अल्पबहुत्व अवधिज्ञानियोंके समान है और केवलदर्शनवालोंका अल्पबहुत्व केवलज्ञानियोंके समान है ।

1. दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मति—मु. । 2.—यताः संख्ये—मु. । 3.—ष्टयः संख्ये—मु. । 4.—दृष्टयोऽसंख्ये—मु. ।

§ 157. लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानां असंयतवत् । तेजःपद्मलेश्यानां सर्वतः स्तोका अप्रमत्ताः । प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । एवमितरेषां पंचेन्द्रियवत् । शुक्ललेश्यानां सर्वतः स्तोका उपशमकाः । क्षपकाः संख्येयगुणाः । सयोगकेवलीनः संख्येयगुणाः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । संयतासंयता² असंख्येयगुणाः । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयः³ संख्येयगुणाः ।

§ 158. भव्यानुवादेन भव्यानां सामान्यवत् । अभव्यानां नास्त्यल्पबहुत्वम् ।

§ 159. सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः । इतरेषां प्रमत्तान्तानां सामान्यवत् । ततः संयतासंयताः संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोका अप्रमत्ता । प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । संयतासंयताः⁴ असंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । औपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः । अप्रमत्ताः संख्येयगुणाः । प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । संयतासंयताः⁵ असंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । शेषाणां नास्त्यल्पबहुत्वम्⁶ ।

§ 160. संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनवत् । असंज्ञिनां नास्त्यल्पबहुत्वम् । तदुभयव्यपदेशरहितानां केवलज्ञानवत् ।

§ 157. लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्यावालोंका अल्पबहुत्व असंयतोंके समान है । पीत और पद्म लेश्यावालोंमें अप्रमत्तसंयत सबसे थोड़े हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इस प्रकार शेष गुणस्थानवालोंका अल्पबहुत्व पंचेन्द्रियोंके समान है । शुक्ल लेश्यावालोंमें उपशमक सबसे थोड़े हैं । इनसे क्षपक संख्यातगुणे हैं । इनसे सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे सासादनसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुणे हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि संख्यातगुणे हैं ।

§ 158. भव्य मार्गणाके अनुवादसे भव्योंका अल्पबहुत्व ओघके समान है । अभव्योंका अल्पबहुत्व नहीं है ।

§ 159. सम्यक्त्व मार्गणाके अनुवादसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं । प्रमत्तसंयतों तक शेषका अल्पबहुत्व ओघके समान है । प्रमत्तसंयतोंसे संयतासंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंमें अप्रमत्तसंयत सबसे थोड़े हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । औपशमिकसम्यग्दृष्टियोंमें चारों उपशमक सबसे थोड़े हैं । इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे प्रमत्तसंयत संख्यातगुणे हैं । इनसे संयतासंयत असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयत सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । शेष सासादन सम्यग्दृष्टि आदिका अल्पबहुत्व नहीं है ।

§ 160. संज्ञा मार्गणाके अनुवादसे संज्ञियोंका अल्पबहुत्व चक्षुर्दर्शनवालोंके समान है । असंज्ञियोंका अल्पबहुत्व नहीं है । संज्ञी और असंज्ञी व्यवहारसे रहित जीवोंका अल्पबहुत्व केवलज्ञानियोंके समान है ।

1. संयताः संख्ये—मु. । 2. दृष्टयः संख्ये—मु. । 3. —दृष्टयोऽसंख्ये—मु. । 4. —यताः संख्येय—मु. । 5. यताः संख्ये—मु. । 6. बहुत्वम् । विपक्षे एकैकगुणस्थानग्रहणात् । संज्ञा—मु. ।

§ 161. आहारानुवादेन आहारकाणां काययोगिवत् । अनाहारकाणां सर्वतः स्तोकाः सयोगकेवलिनः । अयोगकेवलिनः संख्येयगुणाः । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । असंयत-सम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः ।

§ 162. एवं मिथ्यादृष्ट्यादीनां गत्यादिषु मार्गणा कृता सामान्येन । तत्र सूक्ष्मभेद आगमाविरोधेनानुसर्तव्यः ।

§ 163. एवं सम्यग्दर्शनस्यादावुद्दिष्टस्य लक्षणोत्पत्तिस्वामिविषयन्यासाधिगमोपाया निदिष्टाः । तत्संबन्धेन च जीवादीनां संज्ञापरिमाणादि निदिष्टम् । तदनन्तरं सम्यग्ज्ञानं विचारार्हमित्याह—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥१॥

§ 164. ज्ञानशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति । इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः । तदा-तरण^१कर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन^२ तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम् । अनयोः प्रत्यासन्ननिर्देशः कृतः कार्यकारणभावात् । तथा च वक्ष्यते “श्रुतं मतिपूर्वम्” इति । “अवाग्धा-नादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः । परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते । साहचर्यस्य पर्ययं

§ 161. आहार मार्गणाके अनुवादसे आहारकोंका अल्पबहुत्व काययोगियोंके समान है । अनाहारकोंमें सयोगकेवली सबसे थोड़े हैं । इनसे अयोगकेवली संख्यातगुणे हैं । इनसे सासादन-सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे असंयतसम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं । इनसे मिथ्यादृष्टि अनन्तगुणे हैं । अल्पबहुत्वका कथन समाप्त हुआ ।

§ 162. इस प्रकार गत्यादि मार्गणाओंमें मिथ्यादृष्टि आदिका सामान्यसे विचार किया । इसमें उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद आगमानुसार जान लेना चाहिए ।

§ 163. इस प्रकार सर्व प्रथम कहे गये सम्यग्दर्शनके लक्षण, उत्पत्ति, स्वामी, विषय न्यास और अधिगमका उपाय कहा । और उसके सम्बन्धसे जीवादिकोंकी संज्ञा और परिमाण आदि भी कहा । अब इसके बाद सम्यग्ज्ञान विचार योग्य है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं ॥१॥

§ 164. सूत्रमें ज्ञान शब्द मति आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । मतिका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—‘इन्द्रियैर्मनसा च यथा स्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः’—इन्द्रिय और मनके द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है या मननमात्र मति कह-जाता है । श्रुतका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—‘तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्’—श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुननामात्र श्रुत कहलाता है । मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंका समीपमें निर्देश किया है क्योंकि इनमें कार्य-कारणभाव पाया जाता है । जैसा कि आगे कहेंगे ‘श्रुतं मतिपूर्वम् ।’ अवधिका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—अधिकतर नीचेके विषयको जानने

1. स्वमर्थान्मन्यते मु. । 2. —वरणक्षयो—मु. । 3. अनेनेति तत्—मु. । 4. ‘अवाग्धानादवधिः अथवा अधोगोरवधर्मस्वात्पुद्गलः अवाङ् नाम तं ददाति परिच्छिन्नतीति अवधिः अवधिरेव ज्ञानं अवधि-ज्ञानम् । अथवा अवधिमर्यादा अवधिना सह वर्तमानज्ञानमवधिज्ञानम् ।’—ध्व. प्र. अ. प. 865 आरा ।

परिगमनं मनःपर्ययः । मतिज्ञानप्रसङ्ग इति चेत् ; न ; अपेक्षामात्रत्वात् । क्षयोपशमशक्तिमात्र-
विजृम्भितं हि तत्केवलं स्वपरमनोभिर्ययदिश्यते । यथा अन्धे चन्द्रमसं पश्येति । बाह्यो नः-
न्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम् । असहायमिति वा । तदन्ते प्राप्यते
इति अन्ते क्रियते । तस्य प्रत्यासन्नत्वात्तत्समीपे मनःपर्ययग्रहणम् । कुतः प्रत्यासत्तिः । संयमका-
धिकरणत्वात् । तस्य अवधिविप्रकृष्टः । कुतः विप्रकृष्टान्तरत्वात् । प्रत्यक्षात्परोक्षं पूर्वमुक्तं
सुगमत्वात् । श्रुतपरिचितानुभूता^१ हि मतिश्रुतपद्धतिः सर्वेण प्राणिगणेन प्रायः प्राप्यते यतः ।
एवमेतत्पञ्चविधं ज्ञानम् । तद्भेदादयश्च पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते ।

§ 165. “प्रमाणनयैरधिगमः” इत्युक्तम् । प्रमाणं च केषांचित् ज्ञानमभिमतम् । केषांचित्

वाला होनेसे या परिमित विषयवाला होनेसे अवधि कहलाता है । मनःपर्ययका व्युत्पत्तिलभ्य
अर्थ = दूसरेके मनोगत अर्थको मन कहते हैं । सम्बन्धसे उसका पर्ययण अर्थात् परिगमन करनेवाला
ज्ञान मनःपर्यय कहलाता है । शंका—मनःपर्यय ज्ञानका इस प्रकार लक्षण करने पर उसे मति-
ज्ञानका प्रसंग प्राप्त होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानमें मनकी अपेक्षामात्र है ।
यद्यपि वह केवल बड़ी हुई क्षयोपशम शक्तिसे अपना काम करता है तो भी केवल स्व और परके
मनकी अपेक्षा उसका व्यवहार किया जाता है । यथा, ‘आकाशमें चन्द्रमा देखो’ यहाँ आकाश-
की अपेक्षामात्र होनेसे ऐसा व्यवहार किया गया है । केवलका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ = अर्थीजन
जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर तपके द्वारा मार्गका केवल अर्थात् सेवन करते हैं वह केवल-
ज्ञान कहलाता है । अथवा केवल शब्द असहायवाची है, इसलिए असहाय ज्ञानको केवलज्ञान
कहते हैं । केवलज्ञानकी प्राप्ति अन्तमें होती है इसलिए सूत्रमें उसका पाठ सबके अन्त में रखा है ।
उसके समीपका होनेसे उसके समीपमें मनःपर्ययका ग्रहण किया है । शंका—मनःपर्यय केवलज्ञानके
समीपका क्यों है ? समाधान—क्योंकि इन दोनोंका संयम ही एक आधार है, अतएव मनःपर्यय
केवलज्ञानके समीपका है । अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानसे दूर है, इसलिए उसका मनःपर्ययज्ञानके
पहले पाठ रखा है । शंका—मनःपर्ययज्ञानसे अवधिज्ञानको दूरका क्यों कहा ? समाधान—क्योंकि
अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानसे अत्यन्त दूर है । प्रत्यक्षसे परोक्षका पहले कथन किया, क्योंकि वह
सुगम है । चूँकि मति-श्रुतपद्धति श्रुत, परिचित और अनुभूत होनेसे प्रायः सब प्राणियोंके द्वारा
प्राप्त करने योग्य है अतः वह सुगम है । इस प्रकार यह पाँच प्रकारका ज्ञान है । इसके भेद
आदि आगे कहेंगे ।

विशेषार्थ—क्रमानुसार इस सूत्रमें सम्यग्ज्ञानके पाँच भेद बतलाये गये हैं । यद्यपि सूत्रमें
‘ज्ञानम्’ ऐसा निर्देश किया है पर सम्यक्त्वका प्रकरण होने से ये पाँचों सम्यग्ज्ञानके भेद हैं, ऐसा
यहाँ जानना चाहिए । यद्यपि आत्मा केवलज्ञान स्वभाव है । मूल ज्ञानमें कोई भेद नहीं है पर
आवरणके भेदसे वह पाँच भागोंमें विभक्त हो जाता है । इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए सर्वार्थ-
सिद्धिमें मुख्यतया तीन विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है—1. मति आदि शब्दोंका व्युत्पत्ति-
लभ्य अर्थ । 2. मति और श्रुतको समीपमें रखनेके कारणका निर्देश 3. मतिके बाद श्रुत इत्यादि
रूपसे पाँच ज्ञानोंके निर्देश करनेका कारण ।

§ 165. प्रमाण और नयसे ज्ञान होता है यह पहले कह आये हैं । किन्हीं ज्ञानको प्रमाण

1. विप्रकृष्टतर—मु. । 2. ‘श्रुतपरिचिदाणुभूता—1’—स. प्रा. मा. 4 ।

सन्निकर्षः केषांविदिन्द्रियमिति । अतोऽधिकृतानामेव मत्यादीनां प्रमाणत्वख्यापनार्थमाह—
तत्प्रमाणे ॥10॥

§ 166. तद्वचनं किमर्थम् । प्रमाणान्तरपरिकल्पनानिवृत्त्यर्थम् । सन्निकर्षः प्रमाणमिन्द्रियं^१ प्रमाणमिति केचित्कल्पयन्ति तन्निवृत्त्यर्थं तदित्युच्यते । तदेव मत्यादि प्रमाणं^२ नात्यदिति ।

§ 167. अथ सन्निकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः ? यदि सन्निकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्म-
व्यवहितविप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसङ्गः । न हि ते इन्द्रियैः सन्निकृष्यन्ते । अतः सर्वज्ञत्वाभावः
स्यात् । इन्द्रियमपि यदि प्रमाणं स एव दोषः ; अल्पविषयत्वात् चक्षुरादीनां ज्ञेयस्य चापरिमाण-
त्वात् ।

§ 168. सर्वेन्द्रियसन्निकर्षाभावश्च ; चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाभावात् । अप्राप्यकारित्वं
च उत्तरत्र वक्ष्यते ।

§ 169 यदि ज्ञानं प्रमाणं फलाभावः । अधिगमो हि फलमिष्टं न भावान्तरम् । स
चेत्प्रमाणं, न तस्यान्यत्फलं भविष्यमर्हति । फलवता च प्रमाणेन भवितव्यम् । सन्निकर्षे इन्द्रिये वा
प्रमाणे सति अधिगमः फलमर्थान्तरभूतं युज्यते इति । तदयुक्तम् । यदि सन्निकर्षः प्रमाणं अर्था-

माना है, किन्हीने सन्निकर्षको और किन्हीने इन्द्रियको । अतः अधिकार प्राप्त मत्यादिक ही प्रमाण
हैं इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

✓ यह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है ॥10॥

§ 166. शंका—सूत्रमें 'तत्' पद किसलिए दिया है ? समाधान—जो दूसरे लोग सन्निकर्ष
आदिको प्रमाण मानते हैं उनकी इस कल्पनाके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' पद दिया है ।
सन्निकर्ष प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है ऐसा कितने ही लोग मानते हैं इसलिए इनका निराकरण
करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' पद दिया है जिससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि वे मत्यादि ही प्रमाण
हैं, अन्य नहीं ।

§ 167. शंका—सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेमें क्या दोष है ? समाधान—यदि
सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों के अग्रहणका प्रसंग
प्राप्त होता है; क्योंकि इनका इन्द्रियोसे सम्बन्ध नहीं होता । इसलिए सर्वज्ञताका अभाव हो जाता
है । यदि इन्द्रियको प्रमाण माना जाता है तो वही दोष आता है, क्योंकि चक्षु आदिका विषय
अल्प है और ज्ञेय अपरिमित हैं ।

§ 168. दूसरे सब इन्द्रियोंका सन्निकर्ष भी नहीं बनता, क्योंकि चक्षु और मन प्राप्यकारी
नहीं हैं, इसलिए भी सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मान सकते । चक्षु और मनके अप्राप्यकारित्वका
कथन आगे कहेंगे ।

§ 169. शंका—यदि ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो फलका अभाव होता है । प्रकृतमें ज्ञान-
को ही फल मानना इष्ट है अन्य पदार्थ को फल मानना इष्ट नहीं । पर यदि उसे प्रमाण मान लिया
जाता है तो उसका कोई दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता । किन्तु प्रमाणको फलवाला होना
चाहिए । पर सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण मानने पर उससे भिन्न ज्ञानरूप फल बन जाता है ?

1. 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि ।'—1113 न्या. मा. । 2. 'यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणं ।' न्या.
मा. पृ. 5 । 3. नातोऽन्यदिति—ग्रा., दि. 1 ।

धिगमः फलं, तस्य द्विष्टत्वात्तत्फलेनाधिगमेनापि द्विष्टेन भवितव्यमिति अर्थादीनामप्यधिगमः प्राप्नोति । आत्मनश्चेतनत्वात्तत्रैव समवाय इति चेत् । न; जस्वभावाभावे सर्वेषामचेतनत्वात् । जस्वभावाभ्युपगमे वा आत्मनः स्वमतविरोधः स्यात् ।

§ 170. ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति । नच दोषः; अर्थाधिगमे प्रीति-दर्शनात् । जस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमतस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते । सा फलमित्युच्यते । उपेक्षा¹ अज्ञाननाशो वा फलम् । रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा । अन्धकारकल्पा-²ज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते ।

§ 171. प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् । किमनेन प्रमीयते । जीवा-दिरर्थः । यदि जीवादेरधिगमे प्रमाणं प्रमाणाधिगमे च अन्यत्प्रमाणं परिकल्पयितव्यम् । तथा सत्यनवस्था । नानवस्था प्रदीपवत् । यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः⁴ स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं⁵ मूयं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चेतदभ्युपगन्तव्यम् । प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणांतरपरिकल्पनायां स्वाधिगमाभावात् स्मृत्यभावः । तदभावाद् व्यवहारलोपः स्यात् ।

समाधान —यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यदि सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थके ज्ञानको फल मानते हैं तो सन्निकर्ष दो में रहनेवाला होनेसे उसके फलस्वरूप ज्ञानको भी दोमें रहनेवाला होना चाहिए इसलिए घट-पटादि पदार्थोंके भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है । शंका—आत्मा चेतन है, अतः उसीमें ज्ञानका समवाय है ? समाधान—नहीं, क्योंकि आत्माको जस्वभाव नहीं मानने पर सभी पदार्थ अचेतन प्राप्त होते हैं । यदि आत्माको जस्वभाव माना जाता है, तो स्वमतका विरोध होता है ।

§ 170. पहले पूर्वपक्षीने जो यह कहा है कि ज्ञानको प्रमाण मानने पर फलका अभाव होता है सो यह कोई दोष नहीं; क्योंकि पदार्थके ज्ञान होने पर प्रीति देखी जाती है । यद्यपि आत्मा जस्वभाव है तो भी वह कर्मासे मलोन है अतः इन्द्रियों के आलम्बनसे पदार्थका निश्चय होने पर उसके जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रमाणका फल कहा जाता है । अथवा उपेक्षा या अज्ञानका नाश प्रमाणका फल है । राग-द्वेषरूप परिणामोंका नहीं होना उपेक्षा है और अन्धकारके समान अज्ञानका दूर हो जाना अज्ञाननाश है । सो ये भी प्रमाण के फल हैं ।

§ 171. प्रमाण शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्—जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है । शंका—प्रमाणके द्वारा क्या जाना जाता है ? समाधान—जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं । शंका—यदि जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाण कारण है तो प्रमाणके ज्ञानके अन्य प्रमाणको कारण मानना चाहिए । और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है ? समाधान—जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाणको कारण मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक । जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है और अपने स्वरूपके प्रकाश करने में भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूँढना पड़ता । उसी प्रकार प्रमाण भी है यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए । अब यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृति का अभाव हो जाता है और स्मृति का अभाव हो जानेसे व्यवहार का लोप हो जाता है ।

1. 'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।—प. मु. 519 । 'यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः । यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।'—11113 न्या. सा. । 2. —त्याज्यानाभावः अज्ञाननाशो मु. ।
3. —धिगमे अन्य—मु. । 4. हेतुः तस्व—मु. । 5. न्तरमस्य मूयम्—मु. ।

§ 172. वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्विवचननिर्देशः । वक्ष्यते हि “आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यद्” इति स च द्विवचननिर्देशः प्रमाणांतरसंख्यानिवृत्त्यर्थः ।

§ 72. सूत्र में आगे कहे जानेवाले भेदोंकी अपेक्षा द्विवचनका निर्देश किया है। आगे कहेंगे ‘आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्’। यह द्विवचनका निर्देश प्रमाणकी अन्य संख्या के निराकरण करनेके लिए किया है।

विशेषार्थः—पिछले सूत्रमें पाँच सम्यग्ज्ञानोंकी चर्चा करके इस सूत्रमें उनकी प्रमाणता बतलायी गयी है। यों तो सम्यग्ज्ञान कहनेसे उनकी प्रमाणता सुतरां सिद्ध है, किन्तु दर्शनान्तरोंमें ज्ञानको मुख्यतया प्रमाण न मान कर सन्निकर्ष या इन्द्रिय आदिको प्रमाण माना गया है, इसलिए यहाँपर सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं हैं, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है यह बतलाया गया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामें मुख्यतया दो मतोंका उल्लेख करके उनकी आलोचना की गयी है। ये दोनों मत नैयायिक सम्मत हैं। नैयायिकोंने प्रत्यक्ष ज्ञानकी उत्पत्तिमें सन्निकर्ष और इन्द्रिय दोनोंको प्रमाण माना है। सन्निकर्ष प्रमाण है इस मत का उल्लेख न्यायभाष्यमें और इन्द्रिय प्रमाण है इस मतका उल्लेख उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें पाया जाता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धिकारने जब इस दूसरे मतका उल्लेख किया है, तो यह भी प्रथम मतके समान प्राचीन प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि इस द्वारा सर्वार्थसिद्धिकारने सांख्यके ‘इन्द्रियवृत्ति प्रमाण है’ इस मतका उल्लेख किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। नैयायिक लोग प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्तिमें सन्निकर्षको असाधारण कारण मानकर उसे प्रमाण मानते हैं। किन्तु आगे चलकर करणके ‘असाधारण कारणको करण कहते हैं’ इस लक्षणके स्थानमें ‘व्यापारवाले कारणको करण कहते हैं’ यह लक्षण भी प्रचलित हो गया जिससे सन्निकर्षके साथ उनके यहाँ इन्द्रियाँ भी प्रमाण मानी जाने लगीं। वे जब सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं तब ज्ञान उसका फल मान लिया जाता है और जब इन्द्रियों को प्रमाण मानते हैं तब भी सन्निकर्षको इन्द्रियोंका व्यापार मानकर ज्ञान उनका फल मान लिया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे ज्ञानको प्रमाण ही नहीं मानते। उनके यहाँ ज्ञानको भी प्रमाण माना गया है। जब वे ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तब हानबुद्धि और उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि उसका फल माना जाता है किन्तु नैयायिकोंकी सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण माननेकी बात समीचीन नहीं है यही निर्णय इस सूत्रकी टीकामें किया गया है। सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें जो दोष प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं—1. सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए सर्वज्ञताका अभाव होता है 2. चक्षु और मनसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ये अप्राप्यकारी हैं। 3. प्रत्येक इन्द्रियका अलग-अलग विषय मानना उचित नहीं, क्योंकि वक्षुका रूपके साथ सन्निकर्ष पाया जानेसे जैसे वह रूपज्ञानका जनक है उसी प्रकार उसका रसके साथ भी सन्निकर्ष पाया जाता है अतः उससे रसका भी ज्ञान होना चाहिए। 4. सन्निकर्ष एकका न होकर इन्द्रिय और अर्थ इन दो या दोसे अधिकका होता है अतः सन्निकर्षका फल जो ज्ञान है वह भी दोनोंमें होना चाहिए। इन्द्रियको प्रमाण माननेमें ये दोष आते हैं—1. सर्वज्ञताका अभाव होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ सब पदार्थोंको एक साथ जाननेमें असमर्थ हैं। 2. इन्द्रियोंसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंका ज्ञान सम्भव न होनेसे भी सर्वज्ञताका अभाव होता है। 3. अनुमान आदि ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि इन ज्ञानोंकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे नहीं होती। सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण मानने पर इसी प्रकार और भी दोष आते हैं। सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण माननेवाले लोग ज्ञानको प्रमाण माननेपर एक बड़ी भारी आपत्ति यह देते हैं कि यदि ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो प्रमाण निष्फल हो जाता है। किन्तु उनकी यह आपत्ति भी समीचीन नहीं है, क्योंकि

§ 173. 'उक्तस्य पञ्चविधस्य ज्ञानस्य प्रमाणद्वयात्तःपातित्वे प्रतिपादिते प्रत्याक्षानु-
मानादिप्रमाणद्वयकल्पनानिर्वृत्त्यर्थमाह—

आद्ये परोक्षम् ॥11॥

§ 174. आदिशब्दः प्राथम्यवचनः। आद्यो भवमाद्यम्। कथं द्वयोः प्रथमत्वम्? मुख्योपचार-
कल्पनया। मतिज्ञानं तावत्मुख्यकल्पनया प्रथमम्। श्रुतमपि तस्य प्रत्यासत्त्या प्रथममित्युपपन्न्यते।
द्विवचननिर्देशसामर्थ्याद् गौणस्यापि ग्रहणम्। आद्यं च आद्यं च आद्ये मतिश्रुते इत्यर्थः। तदुभयमपि
परोक्षं प्रमाणमित्यभिसंबध्यते। कुतोऽस्य परोक्षत्वम्¹। परायत्तत्वात् “मतिज्ञानं इन्द्रियानिन्द्रिय-
निमित्तम्” इति वक्ष्यते “श्रुतमनिन्द्रियस्य” इति च। अतः पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि
च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्या-

ज्ञानको प्रमाण माननेपर प्रीति, अज्ञाननाश, त्यागबुद्धि, ग्रहणबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि आदि अनेक
फल बन जाते हैं। उन्होंने भी जब ज्ञानको प्रमाण माना है तब ये ही फल माने हैं। न्यायभाष्यमें
लिखा है कि 'जब ज्ञान प्रमाण होता है तब हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि उसके फल
प्राप्त होते हैं। इसलिए ज्ञानको ही सर्वत्र प्रमाण मानना चाहिए यही निष्कर्ष निकलता है। इससे
पूर्वोक्त सभी दोषोंका निराकरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस सूत्रकी टीकामें इन बातोंपर
और प्रकाश डाला गया है—1. प्रमाणकी निरुक्ति। 2. जीवादि पदार्थोंके जाननेके लिए जैसे
प्रमाण माना गया है वैसे प्रमाणके जानने के लिए अन्य प्रमाण अपेक्षित नहीं, इसका खुलासा।
3. सूत्रमें 'प्रमाणे' इस प्रकार द्विवचन रखनेका कारण। ये विषय सुगम हैं।

§ 173 पहले कहे गये पाँच कारकके ज्ञान दो प्रमाणोंमें आ जाते हैं इस प्रकार सुनिश्चित
हो जाने पर भी वे दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक भी हो सकते हैं अतः इस कल्पनाको
दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ॥11॥

§ 174. आदि शब्द प्राथम्यवाची है। जो आदिमें हो वह आद्य कहालता है। शंका—
दो प्रथम कैसे हो सकते हैं? समाधान—पहला मुख्यकल्पनासे प्रथम है और दूसरा उपचार
कल्पनासे प्रथम है। मतिज्ञान तो मुख्यकल्पनासे प्रथम है और श्रुतज्ञान भी उसके समीपका
होनेसे प्रथम है ऐसा उपचार किया जाता है। सूत्रमें 'आद्ये' इस प्रकार द्विवचनका निर्देश किया
है अतः उसकी सामर्थ्यसे गौणका भी ग्रहण हो जाता है। 'आद्ये' पदका समास 'आद्यं च आद्यं'
च आद्ये' है। इससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों लिये गये हैं। ये दोनों ज्ञान मिलकर
परोक्ष प्रमाण हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए। शंका—ये दोनों ज्ञान परोक्ष क्यों हैं?
समाधान—क्योंकि ये दोनों ज्ञान पराधीन हैं। 'मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे
होता है, यह आगे कहेंगे और 'अनिन्द्रियका विषय श्रुत है' यह भी आगे कहेंगे। अतः 'पर' से
यहाँ इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्त लेने चाहिए। तात्पर्य यह
है कि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके
इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान

1. त्वर्थः। ---उपमानार्थापर्यादीनामत्रैवान्तर्भावादुक्त—मु.। 2. —क्षत्वम्? परोपेक्षत्वात्। मति
—आ., दि. 1, दि. 2।

ख्यायते । अत उपमानागमादीनामन्तर्भावः ।

§ 175. अभिहितलक्षणात्परोक्षादितरस्य सर्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनार्थमाह—

प्रत्यक्षमन्यत् ॥12॥

§ 176. अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । तमेव प्राप्नोत्यपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षम् । अवधिदर्शनं केवलदर्शनमपि अक्षमेव प्रतिनियतमस्तस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति । नैव दोषः ; ज्ञानमित्यनुवर्तते, तेन दर्शनस्य व्युदासः । एवमपि विभङ्गज्ञानमक्षमेव¹

उत्पन्न होते हैं अतः ये परोक्ष कहलाते हैं । उपमान और आगमादिक भी ऐसे ही हैं अतः इनको भी इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

विशेषार्थ—पिछले सूत्रमें दो प्रकारके प्रमाणोंका उल्लेख कर आये हैं । वे दो प्रमाण कीन हैं और उनमें पाँच ज्ञानोंका कैसे विभाग होता है यह बतलाना शेष है, अतः ग्यारहवें और बारहवें सूत्रों द्वारा यही बतलाया गया है । उसमें भी ग्यारहवें सूत्र द्वारा प्रमाणके पहले भेदकी परोक्ष संज्ञा बतलाकर उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका अन्तर्भाव किया गया है । दूसरे लोग जो इन्द्रियोंका अविषय है उसे परोक्ष कहते हैं । किन्तु जैन परम्परामें परोक्षता और प्रत्यक्षता यह ज्ञानका धर्म मानकर उस प्रकारसे उनकी व्याख्या की गयी है । जैन परम्पराके अनुसार, परकी सहायतासे जो अक्ष अर्थात् आत्माके ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान कहलता है परोक्ष शब्दका यह अर्थ लिया गया है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान ऐसे हैं जो यथासम्भव इन्द्रिय, मन तथा प्रकाश और उपदेश आदिके बिना नहीं हो सकते, अतः ये दोनों परोक्ष माने गये हैं । दार्शनिक ग्रन्थोंमें इन्द्रिय ज्ञानका सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षरूपसे उल्लेख देखनेको मिलता है । सो यह कथन औपचारिक जानना चाहिए । दूसरे लोगोंने अक्षका अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है । वहाँ इसी अपेक्षासे इन्द्रिय ज्ञानको सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष लिखा गया है ऐसा यहाँ जानना चाहिए । वस्तुतः आत्माके सिवा अन्य निमित्तसे जितना भी ज्ञान होता है वह सब परोक्ष ही है । उपमान, आगम आदि और जितने ज्ञान हैं वे भी अन्यकी अपेक्षाके बिना नहीं होते अतः उनका इन्हीं ज्ञानोंमें अन्तर्भाव हो जानेसे मुख्यतः परोक्ष ज्ञान दो ही ठहरते हैं एक मतिज्ञान और दूसरा श्रुतज्ञान । यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि ये ज्ञान केवल बाह्य निमित्तसे नहीं होते हैं । मुख्यतया इनकी उत्पत्तिमें मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम आवश्यक है । आत्माकी ऐसी योग्यता हुए, बिना ये ज्ञान नहीं होते । ऐसी योग्यताके होने पर बाह्यनिमित्त सापेक्ष इनकी प्रवृत्ति होती है यह उक्त कथनाका सार है ।

§ 175 परोक्षका लक्षण कहा । इससे बाकीके सब ज्ञान प्रत्यक्ष हैं इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥12॥

§ 176 अक्ष शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । अक्ष, व्याप और जा ये धातुएँ एकार्थक हैं, इसलिए अक्षका अर्थ आत्मा होता है । इस प्रकार क्षयोपशमवाले या आवरणरहित केवल आत्माके प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिककी अपेक्षासे न होकर केवल क्षयोपशमवाले या आवरणरहित आत्मासे होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । शंका—अवधिदर्शन और केवलदर्शन भी अक्ष अर्थात् आत्माके प्रति नियत हैं अतः प्रत्यक्ष शब्दके द्वारा उनका भी ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि प्रकृतमें ज्ञान शब्दकी अनुवृत्ति है, जिससे दर्शनका निराकरण हो जाता है ।

1. —ज्ञानमपि प्रति—मु. ।

प्रतिनियतमतोऽस्यापि ग्रहणं प्राप्नोति । सम्यगित्यधिकारात् तन्नित्यवृत्तिः । सम्यगित्यनुवर्तते तेन ज्ञानं विशिष्यते ततो विभङ्गज्ञानस्य निवृत्तिः कृता । तद्धि मिथ्यादर्शनोदयाद्विपरीतार्थविषयमिति न सम्यक् ।

§ 177. स्यान्मतमिन्द्रियव्यापारजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षं व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापारं परोक्षमित्येतदविसंवादि लक्षणमभ्युपगन्तव्यमिति । तदनुवृत्तम्, आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावप्रसङ्गात्⁴ यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते⁵ एवं सति आप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात् । न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थविधिमः । अयं तस्यापि करणपूर्वकमेव ज्ञानं कल्प्यते, तस्यासर्वज्ञत्वं स्यात् । तस्य मानसं प्रत्यक्षमिति चेत् ; मनः⁶प्रणिधानपूर्वकत्वात् ज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाभाव एव । आगमतरुत्ति-द्विरिति चेत् । न ; तस्य⁷ प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात् ।

§ 178. योगिप्रत्यक्षमभ्युपगन्तव्यमिति चेत् । न तस्य प्रत्यक्षत्वं ; इन्द्रियनिमित्तत्वाभावात् ; अक्षमक्षं प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात् ।

§ 179. किञ्च सर्वज्ञत्वाभावः प्रतिज्ञाहानिर्वा । अस्य योगिनो यज्ज्ञानं तत्प्रत्यर्थवशावति

शंका—यद्यपि इससे दर्शनका निराकरण हो जाता है तो भी विभंगज्ञान केवल आत्माके प्रति नियत है अतः उसका ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान—यहाँ 'सम्यक्' पदका अधिकार है, अतः उसका निराकरण हो जाता है । तात्पर्य यह है की इस सूत्रमें 'सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति होती है, जिससे ज्ञान विशेष्य हो जाता है इसलिए विभंगज्ञानका निराकरण हो जाता है । क्योंकि विभंगज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयसे विपरीत पदार्थको विषय करता है, इसलिए वह समीचीन नहीं है ।

§ 177. शंका—जो ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है और जो इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित होकर विषयको ग्रहण करता है वह परोक्ष है । प्रत्यक्ष और परोक्षका यह अविसंवादी लक्षण मानना चाहिए ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उक्त लक्षणके मानने पर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञानका अभाव प्राप्त होता है । यदि इन्द्रियोंके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको ही प्रत्यक्ष कहा जाता है तो ऐसा मानने पर आप्तके प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि आप्तके इन्द्रियपूर्वक पदार्थका ज्ञान नहीं होता । कदाचित् उसके भी इन्द्रियपूर्वक ही ज्ञान माना जाता है तो उसके सर्वज्ञता नहीं रहती । शंका—उसके मानस प्रत्यक्ष होता है ? समाधान—मनके प्रयत्नसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानने पर सर्वज्ञत्वका अभाव ही होता है । शंका—आगमसे सब पदार्थोंका ज्ञान हो जायगा । समाधान—नहीं, क्योंकि आगम प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक प्राप्त होता है ।

§ 178. शंका—योगी प्रत्यक्ष नामका एक अन्य दिव्य ज्ञान है । समाधान—तो भी उसमें प्रत्यक्षता नहीं बनती, क्योंकि वह इन्द्रियोंके निमित्तसे नहीं होता है । जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक इन्द्रियसे होती है वह प्रत्यक्ष है ऐसा आपके मतमें स्वीकार किया गया है ।

§ 179. दूसरे प्रत्यक्षका पूर्वोक्त लक्षण माननेपर सर्वज्ञत्वका अभाव और प्रतिज्ञाहानि ये दो दोष आते हैं । विशेष इस प्रकार है—इस योगीके जो ज्ञान होता है वह प्रत्येक पदार्थको क्रमसे जानता है या अनेक अर्थोंको युगपत् जानता है । यदि प्रत्येक पदार्थको क्रमसे जानता है तो

1. रात् तस्तग्नि—मु. । 2. 'अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।' — 1, 1, 3 न्याय. भा. । 3. 'परोक्ष इत्युच्यते किं परोक्षं नाम । परमक्षः परोक्षम् ।' — पा. म. भा. 3।2।2।115 । 4. — प्रसंगता । यदि आ, दि. 1, दि. 2 । 5. एवं प्रसक्त्या आप्त—मु. । 6. 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिङ्गम् ।' — न्या. सू. 1।1।16 । 7. तस्य आगमस्य प्रत्य—मु. । 8. निमित्ताभा—मु. । 9. 'अक्षमक्षं प्रति वर्तते तत्प्रत्यक्षम् ।' — न्याय बिन्दु. टी. पृ. 11 ।

या स्याद् अनेकार्थप्राप्तिरिति वा । यदि प्रत्यर्थवशवति, सर्वज्ञत्वमस्य नास्ति योगिनः, ज्ञेयस्यानस्यात् । अथानेकार्थप्राप्तिरिति, या प्रतिज्ञा—

“विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा । एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा ।”
सा हीयते ।

§ 180. अथवा “क्षणिकाः¹ सर्वसंस्काराः” इति प्रतिज्ञा हीयते; अनेकक्षण² व्यूष्येकविज्ञानाभ्युपगमात् । अनेकार्थग्रहणं हि क्रमेणेति । युगपदेवेति चेत् । योऽस्य जन्मक्षणः स आत्म-
साभार्य एव । लब्धात्मजाभं हि किञ्चित्स्वकार्यं प्रति व्याप्रियते । प्रदीपवदिति चेत् । तस्याप्यनेक-
क्षणविक्रयतायां सत्यामेव प्रकाश्यप्रकाशनाभ्युपगमात् । विकल्पातीतत्वात्तस्य शून्यताप्रसंगश्च ।

इस योगीके सर्वज्ञताका अभाव होता है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं । और यदि अनेक अर्थोंको युगपत् जानता है तो जो यह प्रतिज्ञा है कि ‘जिस प्रकार एक विज्ञान दो अर्थोंको नहीं जानता है उसी प्रकार दो विज्ञान एक अर्थ को नहीं जानते हैं ।’ वह नहीं रहती ।

§ 180. अथवा ‘सब पदार्थ क्षणिक हैं’ यह प्रतिज्ञा नहीं रहती, क्योंकि आपके मतमें अनेक क्षणतक रहनेवाला एक विज्ञान स्वीकार किया गया है । अतः अनेक पदार्थोंका ग्रहण क्रमसे ही होता है । शंका—अनेक पदार्थोंका ग्रहण एक साथ हो जायगा । समाधान—जो ज्ञानकी उत्पत्तिका समय है उस समय तो वह स्वरूप लाभ ही करता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ स्वरूप-
लाभ करनेके पश्चात् ही अपने कार्यके प्रति व्यापार करता है । शंका—विज्ञान दीपके समान है, अतः उसमें दोनों बातें एक साथ बन जायेंगी । समाधान—नहीं, क्योंकि उसके अनेक क्षण तक रहनेपर ही प्रकाश्यभूत पदार्थोंका प्रकाशन करना स्वीकार किया गया है । यदि ज्ञानको विकल्पातीत माना जाता है तो शून्यताकी प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें कौन-कौन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं यह बतलाया गया है । प्रसंगसे इसकी टीकाके इन विशेषताओंपर प्रकाश डाला गया है—

1. अक्ष शब्दका अर्थ । 2. प्रत्यक्ष शब्दकी व्युत्पत्ति । 3. अक्ष शब्दका अर्थ इन्द्रिय या मनको निमित्त कर प्रत्यक्ष शब्दका लक्षण करनेपर क्या दोष आते हैं इनका निर्देश । 4. आगमसे सर्वज्ञता नहीं बनती, किन्तु आगम प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक ही प्राप्त होता है इसका निर्देश । 5. बौद्धोंके द्वारा माने गये प्रत्यक्षके लक्षणको स्वीकार करनेपर क्या दोष प्राप्त होते हैं इसकी चर्चा । 6. प्रसंगसे बौद्धोंके यहाँ सर्वज्ञता कैसे नहीं बनती और प्रतिज्ञाहानि दोष कैसे आता है इसका निर्देश । तीसरी बातको स्पष्ट करते हुए जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि प्रत्यक्षज्ञानको इन्द्रियनिमित्तक या मननिमित्तक मानने पर सर्वज्ञता नहीं बनती । वेद ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान, दूरवर्ती, सूक्ष्म इत्यादि अर्थोंका ज्ञान करानेमें समर्थ है । इसीसे सकल पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है । इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान और मनोजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ऐसा मीमांसक मानते हैं । परन्तु उनका ऐसा मानना समीचीन नहीं है, क्योंकि आगम प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना नहीं बन सकता है । यह बात चौथी विशेषता द्वारा बतलायी गयी है । बौद्ध भी अक्षका अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु उनका ऐसा मानना क्यों समीचीन नहीं है यह पाँचवीं विशेषता द्वारा बतलाया गया है । शेष कथन सुगम है ।

1. ‘क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः क्रिया । भूतियेषां क्रिया सैव कारकां सैव चोच्यते ।’...

2. क्षणवर्त्यक—मु. ।

§ 181. अभिहितोभयप्रकारस्य प्रमाणस्य आदिप्रकारविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताअभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥13॥

§ 182. 'आदौ उद्दिष्टं यज्ज्ञानं तस्य पर्यायशब्दा एते वेदितव्याः; मतिज्ञानावरणक्षयोपशमान्तरंगनिमित्तजनितोपयोगविषयत्वादेतेषां श्रुतादिष्वप्रवृत्तेऽच । मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता, अभिनिबोधनमभिनिबोध इति । यथासंभवं विग्रहान्तरं विज्ञेयम् ।

§ 183. सत्यपि प्रकृतिभेदे रुढिबललाभात् पर्यायशब्दत्वम् । यथा इन्द्रः^२ शक्रः पुरन्दर इति इन्दनादिक्रियाभेदेऽपि शचीपतेरेकस्यैव संज्ञा^३ । समभिरूढनयापेक्षया तेषामर्थान्तरकल्पनायां मत्थादिष्वपि स क्रमो विद्यत एव । किं तु मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तोपयोगं 'नातिवर्तन्त इति अयमत्रार्थो विवक्षितः । 'इति' शब्दः 'प्रकारार्थः' एवं प्रकारा अस्य पर्यायशब्दा इति । अभिधेयार्थो वा । मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्येतैर्योऽर्थोऽभिधीयते स एक एव इति ।

§ 181. प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद कहे । अब हम प्रथम प्रकारके प्रमाणके विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम हैं ॥13॥

§ 182. आदिमें जो ज्ञान कहा है उसके ये पर्यायवाची शब्द जानने चाहिए, क्योंकि ये मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप अन्तरंग निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको विषय करते हैं और इनकी श्रुतादिकमें प्रवृत्ति नहीं होती । 'मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता और अभिनिबोधनमभिनिबोधः' यह इनकी व्युत्पत्ति है । यथा सम्भव इनका दूसरा विग्रह जानना चाहिए ।

§ 183. यद्यपि इन शब्दोंकी प्रकृति अलग-अलग है अर्थात् यद्यपि ये शब्द अलग-अलग धातुसे बने हैं तो भी रुढ़िसे पर्यायवाची हैं । जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर । इनमें यद्यपि इन्दन आदि क्रियाकी अपेक्षा भेद है तो भी ये सब एक शचीपतिकी वाचक संज्ञाएँ हैं । अब यदि समभिरूढ नयकी अपेक्षा इन शब्दोंका अलग-अलग अर्थ लिया जाता है तो वह क्रम मति आदि शब्दोंमें भी पाया जाता है । किन्तु ये मति आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको उल्लंघन नहीं करते हैं यह अर्थ यहाँपर विवक्षित है । प्रकृतमें 'इति' शब्द प्रकारवाची है जिससे यह अर्थ होता है कि इस प्रकार ये मति आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची शब्द हैं । अथवा प्रकृतमें मति शब्द अभिधेयवाची है जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इनके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह एक ही है ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम दिये गये हैं । षट्खण्डागमके प्रकृति अनुयोगद्वारमें भी मतिज्ञानके ये ही पर्यायवाची नाम आये हैं । अन्तर केवल यह है कि वहाँ मतिज्ञान नाम न देकर आभिनिबोधकज्ञान नाम दिया है और फिर इसके संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये चार पर्यायवाची नाम दिये हैं । इससे जो लोग प्रकृतमें मतिका अर्थ वर्तमान ज्ञान, स्मृतिका अर्थ स्मरणज्ञान, संज्ञाका अर्थ प्रत्याभिज्ञान, चिन्ताका अर्थ तर्क और अभिनिबोधका अर्थ अनुमान करते हैं वह विचारणीय हो जाता है । वास्तव में यहाँ इन नामोंका विविध ज्ञानों

1. आदौ यदुद्दिष्टं ज्ञानं मु. । 2. 'बहवो हि शब्दाः एकार्थी भवन्ति । तद्यथा—'इन्द्रः शक्रः पुरुहूतः पुरन्दरः ।'—पा. म. भा. 11212145 । 3. संज्ञाः । सम—मु. । 4. नातिवर्तन्त इति—मु. । 5. —कारार्थे । एवं—आ., दि. 1, दि. 2 । 'हेतावेव प्रकारे ष्व व्यवच्छेदे विपर्यये । प्रादुर्भावे समाप्ती च इतिशब्दः प्रकीर्तितः ।'—अने. ना. श्लो. ।

§ 184. अथास्यात्मलाभे किं निमित्तमित्यत आह—

तदिन्द्रियानिन्द्रियमित्तम् ॥14॥

§ 185. इन्दतीति इन्द्र आत्मा । तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धि¹लिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते । अथवा लीनमर्थं ज्ञयतीति लिंगम् । आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिंगमिन्द्रियम् । यथा इह धूमोऽग्नेः । ऐवमिदं स्पर्शनादि करणं नासति कर्तव्यतामिदं भवितुमर्हतीति ज्ञातुरस्तित्वं गम्यते । अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते । तेन सृष्टिमिन्द्रियमिति² । तत्स्पर्शनादि उत्तरत्र वक्ष्यते ।

§ 186. अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम् । कथं पुनरिन्द्रियप्रतिषेधेन इन्द्रि-
यिणे एव मनसि अनिन्द्रियशब्दस्य वृत्तिः । ईषदर्थस्य नञः प्रयोगात् । ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियमिति ।

की अपेक्षासे संग्रह नहीं किया गया है, किन्तु मतिज्ञानके पर्यायवाची नामोंकी अपेक्षासे ही संग्रह किया गया है । सूत्रकारने इसी अर्थमें इनका अनर्थान्तररूपसे निर्देश किया है । इस सूत्रकी टीकामें इन विशेषताओंपर प्रकाश डाला गया है । 1. मति आदि शब्दोंके पर्यायवाची होनेमें हेतु । 2. मति आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति । 3. मति आदि शब्दोंमें प्रकृति भेद होनेपर भी उनके पर्याय-वाचित्वका दृष्टान्त-द्वारा समर्थन । 4. समभिरूढनयकी अपेक्षा इनमें अर्थ भेद होने पर भी प्रकृत में ये पर्यायवाची क्यों हैं इनमें पुनः युक्ति । 5. सूत्रमें आये हुए 'इति' शब्दकी सार्थकता ।

§ 184. मतिज्ञानके स्वरूप लाभमें क्या निमित्त है अब यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह (मतिज्ञान) इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है ॥14॥

§ 185. इन्द्र शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'इन्दतीति इन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्यवाला है वह इन्द्र । इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है । वह यद्यपि ज्ञस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके रहते हुए स्वयं पदार्थोंको जानने में असमर्थ है, अतः उसको पदार्थके जानने में जो लिंग (निमित्त) होता है वह इन्द्रका लिंग इन्द्रिय कही जाती है । अथवा जो लीन अर्थात् गूढ़ पदार्थ-का ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं । इसके अनुसार इन्द्रिय शब्दका यह अर्थ हुआ कि जो सूक्ष्म आत्माके अस्तित्वका ज्ञान करानेमें लिंग अर्थात् कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं । जैसे लोकमें धूम अग्निका ज्ञान करानेमें कारण होता है । इसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण कर्ता आत्माके अभावमें नहीं हो सकते हैं, अतः उनसे ज्ञाताका अस्तित्व जाना जाता है । अथवा इन्द्र शब्द नामकर्मका वाची है । अतः यह अर्थ हुआ कि उससे रची गयी इन्द्रिय हैं । वे इन्द्रियाँ स्पर्शनादिक हैं जिनका कथन आगे करेंगे । अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची नाम हैं ।

§ 186 शंका—अनिन्द्रिय शब्द इन्द्रियका निषेधपरक है अतः इन्द्रके लिंग मनमें अनिन्द्रिय शब्दका व्यापार कैसे हो सकता है ? समाधान—यहाँ नञ्का प्रयोग 'ईषद्' अर्थ में किया है ईषत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय । यथा अनुदरा कन्या । इस प्रयोगमें जो अनुदरा शब्द है उससे उदरका अभाव रूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए । शंका—अनिन्द्रिय

1.—लब्धिनिमित्त लिंग—मु. । 2. 'मोगसाधनानिन्द्रियाणि ।'—त्या. भा. 11119 । 3. 'मयदां हि पश्मासंबुद्धो परमिस्सरियभावतो इन्दो, कुसलाकुसलं च कम्मं, कम्मसु कस्सचि इस्सरियाभावतो । तेनेत्थ कम्मसज्जनितानि ताव इन्द्रियाणि कुसलाकुसलं कम्मं उल्लिगेन्ति, तेन च सिद्धानीति इन्दलिगट्ठेन इन्द-सिद्धट्ठेन च इन्द्रियाणि ।'—वि. म. पृ. 343 ।

यथा अनुदरा कन्या इति । कथमेषदर्थः । इमानिन्द्रियाणि^१ प्रतिनियतदेशविषयाणि कालान्तरा-
वस्थायीनि च । न तथा मनः इन्द्रस्य लिंगमपि सत्प्रतिनियतदेशविषयं कालान्तरावस्थायि च ।

§ 187. तदन्तःकरणमिति चोच्यते । गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे इन्द्रियानपेक्ष-
त्वाच्चक्षुरादिषु बहिरनुपस्थेऽच अन्तर्गतं^२ करणमन्तःकरणमित्युच्यते ।

§ 188. तदिति किमर्थम् । मतिज्ञाननिर्देशार्थम् । ननु च तदनन्तरं 'अनन्तरस्य विविधा
भवति प्रतिषेधो वा' इति तस्यैव ग्रहणं भवति । इहार्थमुत्तरार्थं च तदित्युच्यते । यन्मत्यादिपर्याय-
शब्दवाच्यं ज्ञानं तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तदेवावग्रहेहावायधारणा इति । इतरथा हि प्रथमं
मत्यादिशब्दवाच्यं ज्ञानमित्युक्त्वा इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं श्रुतम् । तदेवावग्रहेहावायधारणा
इत्यनिष्टमभिसंबध्यते ।

में नञ्का निषेधरूप अर्थ न लेकर 'ईषद्' अर्थ कैसे लिया गया है ? समाधान—ये इन्द्रियां
नियत देशमें स्थित पदार्थोंको विषय करती हैं और कालान्तरमें अवस्थित रहती हैं । किन्तु
मन इन्द्रका लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देशमें स्थित पदार्थोंको विषय नहीं करता और
कालान्तरमें अवस्थित नहीं रहता ।

§ 187. यह अन्तःकरण कहा जाता है । इसे गुण और दोषोंके विचार और स्मरण करने
आदि कार्योंमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके समान इसकी
बाहर उपलब्धि भी नहीं होती इसलिए यह अन्तर्गत करण होनेसे अन्तःकरण कहलाता है ।
इसलिए अनिन्द्रिय में नञ्का निषेधरूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है ।

§ 188 शंका—सूत्रमें 'तत्' पद किसलिए दिया है ? समाधान—सूत्रमें 'तत्' पद मति-
ज्ञानका निर्देश करनेके लिए दिया है । शंका—मतिज्ञान निर्देश का अनन्तर किया ही है और
ऐसा नियम है कि 'विधान या निषेध अनन्तरवर्ती पदार्थका ही होता है' अतः यदि सूत्रमें 'तत्' पद
न दिया जाय तो भी मतिज्ञानका ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान—इस सूत्रके लिए और अगले
सूत्रके लिए 'तत्' पदका निर्देश किया है । मति आदि पर्यायवाची शब्दोंके द्वारा जो ज्ञान कहा
गया है वह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है और उसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और
धारणा ये चार भेद हैं, इसलिए पूर्वोक्त दोष नहीं प्राप्त होता । यदि 'तत्' पद न दिया जाये तो
मति आदि पर्यायवाची नाम प्रथम ज्ञानके हो जायेंगे और इन्द्रिय-अनिन्द्रियके निमित्त होनेवाला
ज्ञान श्रुतज्ञान कहलायेगा और इसीके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद प्राप्त होंगे
इस प्रकार अनिष्ट अर्थके सम्बन्धकी प्राप्ति होगी । अतः इस अनिष्ट अर्थके सम्बन्धके निराकरण
करनेके लिए सूत्रमें 'तत्' पद का निर्देश करना आवश्यक है ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तोंकी चर्चा करते हुए वे इन्द्रिय और
मनके भेदसे दो प्रकारके बतलाये हैं । यद्यपि इस ज्ञानकी उत्पत्तिमें अर्थ और आलोक आदि भी
निमित्त होते हैं पर वे अव्यभिचारी कारण न होने से उनका यहाँ निर्देश नहीं किया है । इसकी
टोकमें इन्द्रिय-अनिन्द्रिय शब्दका अर्थ क्या है इस पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रियोंको जो प्रतिनियत
देशको विषय करनेवाला और कालान्तरमें अवस्थित रहनेवाला तथा मनको अनियत देशमें स्थित

1. 'अनुदरा कन्येति ।' पा. म. भा. 6।3।2।42 । 2. 'इन्द्रस्य वे सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो
धर्मभेदात् । भौतिकानिन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैवामिन्द्रियभाव इति । मनस्त्वभौतिकं
सर्वविषयं च...' न्या. भा. 1।1।4 । 'सर्वविषयमन्तःकरणं मनः ।'—न्या. भा. 1।1।9 । 3.—'गंतं
करणमित्यु—मु. ।

§ 189. एवं निज्ञातोत्पत्तिनिमित्तमनिर्णीतभेदमिति तद्भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥15॥

§ 190. विषयविषयिसंनिपातसमन्तरमाद्य¹ ग्रहणमवग्रहः । विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति । तदनन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः । यथा—चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः । अवग्रहग्रहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमोहा । यथा शुक्लं रूपं किं बलाका² पताका वेति । विशेषनिज्ञा-
माद्याथात्म्यावगमनमवायः । उत्पत्तननिप³ तनपक्षविक्षेपादिभिर्वलाकैवेयं न पताकेति । अथेतस्य⁴
कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा⁵ । यथा संवेयं बलाका पूर्वाह्णे यामहमद्राक्षमिति । 'एषाम-
वग्रहादीनामुपन्यासक्रम उत्पत्तिक्रमकृतः ।

पदार्थको विषय करनेवाला और कालान्तर में अवस्थित नहीं रहनेवाला बतलाया है सो इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन्द्रियां देश और काल दोनोंकी अपेक्षा नियत विषयको ग्रहण करती हैं वैसा मन नहीं है । इस प्रकार मनका विषय नियत नहीं है । उसकी इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रिय सब विषयोंमें प्रवृत्ति होती है । इसका दूसरा नाम अन्तःकरण क्यों है इसका स्पष्टार्थ टीकामें किया ही है । शेष कथन सुगम है ।

§ 189. इस प्रकार मतिज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्त ज्ञान लिये, किन्तु अभी उसके भेदोंका नियम नहीं किया अतः उसके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए अगला सूत्र कहते हैं—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञानके चार भेद हैं ॥15॥

§ 190 विषय और विषयीके सम्बन्धके बाद होनेवाले प्रथम ग्रहणको अवग्रह कहते हैं । विषय और विषयीका संनिपात होनेपर दर्शन होता है उसके पश्चात् जो पदार्थका ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है । जैसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है । अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंमें उसके विशेषके जानने की इच्छा ईहा कहलाती है । जैसे, जो शुक्ल रूप देखा है 'वह क्या वक्पवित है' इस प्रकार विशेष जाननेकी इच्छा या 'वह क्या पताका है' इस प्रकार विशेष जाननेकी इच्छा ईहा है । विशेषके निर्णय-द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं । जैसे उत्पत्तन, निपत्तन और पक्षविक्षेप आदि के द्वारा 'यह वक्पवित ही है ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना अवाय है । जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तरमें विस्मरण नहीं होता उसे धारणा कहते हैं । जैसे यह वही वक्पवित है जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था ऐसा जानना धारणा है । सूत्रमें इन अवग्रहादिकका उपन्यासक्रम इनके उत्पत्तिक्रमकी अपेक्षा किया है । तात्पर्य यह है कि जिस क्रमसे ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रमसे इनका सूत्रमें निर्देश किया है ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें मतिज्ञान के चार भेद किये हैं सो ये भेद मतिज्ञानकी उपयोगरूप अवस्थाकी प्रधानतासे किये गये हैं । इससे इसका क्षयोपशम भी इतने प्रकारका मान लिया गया है । पदार्थको जानते समय किस क्रमसे वह उसे जानता है यह इन भेदों-द्वारा बतलाया गया है यह इस कथनका तात्पर्य है । भेदके स्वरूपका निर्देश टीकामें किया ही है । विशेष वक्तव्य इतना

1.—माद्य ग्रह—मु. । 2.—मर्थस्य ग्रह—मु. । 3. पताकेति—मु. । 4. उत्पत्तनपक्ष—आ., दि. 1, दि. 2 । 5. अथेतस्य—मु. । 6. 'तयणंतरं तयस्थाविच्छवर्णं जो य वासणाजोगो । कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ ।'—वि. भा. गा. 291 । 7. ईहिज्जइ नागहियं नज्जइ नाणीहियं न यावायं । धारिज्जइ जं वत्थुं जेण कमोऽवगहाईओ ॥—वि. भा. गा. 296 ।

§ 191. उक्तानामवग्रहादीनां प्रभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुवतध्रुवाणां सेतराणाम् ॥16॥

§ 192. अवग्रहादयः क्रियाविशेषाः प्रकृताः । तदपेक्षोऽयं कर्मनिर्देशः । बह्वादीनां सेतराणामिति । बहुशब्दस्य संख्यावैपुल्यवाचिनो ग्रहणमविशेषात् । संख्यावाची¹ यथा, एको द्वौ बहव इति । वैपुल्यवाची यथा, ²बहुरोदनो बहुः सूप इति । विधशब्दः प्रकारवाची । क्षिप्रग्रहण-मच्चिरप्रतिपत्त्यर्थम् । अनिःसृतग्रहणं असकलपुद्गलोद्गमार्थम् । अनुक्तमभिप्रायेण ग्रहणम् । ध्रुवं³ निरन्तरं यथार्थग्रहणम् । सेतरग्रहणं प्रतिपक्षसंग्रहार्थम् ।

§ 193. बहूनामवग्रहः अल्पस्यावग्रहः बहुविधस्यावग्रहः एकविधस्यावग्रहः क्षिप्रमवग्रहः चिरेणावग्रहः अनिःसृतस्यावग्रहः निःसृतस्यावग्रहः अनुवतस्यावग्रहः उक्तस्यावग्रहः ध्रुवस्यावग्रहः अध्रुवस्यावग्रहश्चेति अवग्रहो द्वादशविकल्पः । एवमोहादयोऽपि । त एते पञ्चभिरिन्द्रियद्वारैर्मनसा च प्रत्येकं प्रादुर्भाव्यन्ते । तत्र बह्ववग्रहादयः मतिज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् प्रभवन्ति नेतरे इति । तेषामभ्यहितत्वादादौ ग्रहणं त्रियते ।

है कि यह ज्ञान किसी विषयको जानते समय उसीको जानता है । एक विषयके निमित्तसे इसका दूसरे विषय में प्रवेश नहीं होने पाता । टीकामें अवग्रह आदिके जो दृष्टान्त दिये हैं सो उनका वर्गीकरण इसी दृष्टिसे किया गया है ।

§ 191. इस प्रकार अवग्रह आदिका कथन किया । अब इनके भेदोंके दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सेतर (प्रतिपक्षसहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुवत और ध्रुवके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञान होते हैं ॥16॥

§ 192. अवग्रह आदि क्रियाविशेषोंका प्रकरण है उनकी अपेक्षा 'बह्वादीनां सेतराणां' इस प्रकार कर्मकारकका निर्देश किया है । 'बहु' शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकारका है । इन दोनोंका यहाँ ग्रहण किया है, क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है । संख्यावाची बहु शब्द यथा—एक, दो, बहुत । वैपुल्यवाची बहु शब्द यथा—बहुत भात, बहुत दाल । 'विध' शब्द प्रकारवाची है । सूत्रमें 'क्षिप्र' शब्दका ग्रहण, जल्दी होनेवाले ज्ञानके जतानेके लिए किया है । जब पूरी वस्तु प्रकट न होकर कुछ प्रकट रहती है और कुछ अप्रकट तब वह अनिःसृत कही जाती है । यहाँ अनिःसृत अर्थ ईषदनिःसृत है, अतः इसका ग्रहण करनेके लिए सूत्रमें 'अनिःसृत' पद दिया है । जो कही या बिना कही वस्तु अभिप्राय से जानी जाती है उसके ग्रहण करनेके लिए 'अनुक्त' पद दिया है । जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर होता है उसके जतानेके लिए 'ध्रुव' पद दिया है । इनसे प्रतिपक्षभूत पदार्थोंका संग्रह करनेके लिए 'सेतर' पद दिया है ।

§ 193. बहुतका अवग्रह, अल्पका अवग्रह, बहुविधका अवग्रह, एकविधका अवग्रह, क्षिप्रावग्रह, अक्षिप्रावग्रह, अनिःसृतका अवग्रह, निःसृतका अवग्रह, अनुवतका अवग्रह, उक्तका अवग्रह, ध्रुवका अवग्रह और अध्रुवका अवग्रह ये अवग्रहके बारह भेद हैं । इसी प्रकार ईहादिकमेंसे प्रत्येकके बारह-बारह भेद हैं । ये सब अलग-अलग पाँच इन्द्रिय और मनके द्वारा उत्पन्न कराने चाहिए । इनमेंसे बहु अवग्रह आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके प्रकर्षसे होते हैं, इतर नहीं । बहु आदि श्रेष्ठ हैं, अतः उनका प्रथम ग्रहण किया है ।

-1. 'अत्स्येव संख्यावाची । तद्यथा एको द्वौ बहव इति ।'—पा. म. मा. 1।4।2।21 । 2. 'बहुरोदनो बहुः सूप इति ।'—पा. म. मा. 1।4।2।21 । 3. ध्रुवं यथा—ता., न. ।

§ 194. बहुबहुविधयोः कः प्रतिविशेषः; यावता बहुव्यपि बहुत्वमस्ति बहुविधेऽपि बहुत्वमस्ति ? एकप्रकारनानाप्रकारकृतो विशेषः । उक्तनिःसृतयोः कः प्रतिविशेषः; यावता सकलनिःसरणानिःसृतम् । उत्तमपदेवविधमेव ? अयमस्ति विशेषः, अन्योपदेशपूर्वकं ग्रहणमुक्तम् । स्वत एव ग्रहणं निःसृतम् ।

§ 195. अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः । त एवं वर्णयन्ति श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुरुरस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते । अपरः स्वरूपमेवाश्रित्य² इति ।

§ 196 ध्रुवावग्रहस्य धारणायाश्च कः प्रतिविशेषः ? उच्यते, क्षयोपशमप्राप्तिकाले विशुद्धपरिणामसंतत्या प्राप्तात्क्षयोपशमात्प्रथमसमये यथावग्रहतथैव द्वितीयादिव्यपि समयेषु नोनाभ्यधिक इति ध्रुवावग्रह इत्युच्यते । यदा पुनर्विशुद्धपरिणामस्य संक्लेशपरिणामस्य च मिश्रणात्क्षयोपशमो भवति तत उत्पद्यमानोऽवग्रहः कदाचित् बहुतां कदाचिदल्पस्य कदाचिद् बहुविधस्य कदाचिदेकविधस्य वेति न्यूनाधिकभावादध्रुवावग्रह इत्युच्यते । धारणा पुनर्गृहीतार्था-
विस्मरणकारणमिति महदनयोःन्तरम् ।

§ 191. शंका—बहु और बहुविधमें क्या अन्तर है, क्योंकि बहु और बहुविध इन दोनोंमें बहुतपना पाया जाता है ? समाधान—इनमें एक प्रकार और नाना प्रकारकी अपेक्षा अन्तर है । अर्थात् बहुमें प्रकारभेद इष्ट नहीं और बहुविधमें प्रकारभेद इष्ट है । शंका—उक्त और निःसृतमें क्या अन्तर है—क्योंकि वस्तुका पूरा प्रकट होना निःसृत है और उक्त भी इसी प्रकार है ? समाधान—इन दोनोंमें अन्तर यह है—अन्यके उपदेशपूर्वक वस्तुका ग्रहण करना उक्त है और स्वतः ग्रहण करना निःसृत है ।

§ 195. कुछ आचार्योंके मतसे क्षिप्रानिःसृतके स्थानमें 'क्षिप्रनिःसृत' ऐसा पाठ है । वे ऐसा व्याख्यान करते हैं कि श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा शब्दको ग्रहण करते समय वह मयूरका है अथवा कुरुरका है ऐसा कोई जानता है । दूसरा स्वरूपके आश्रयसे ही जानता है ।

§ 196 शंका—ध्रुवावग्रह और धारणामें क्या अन्तर है ? समाधान—क्षयोपशमकी प्राप्तिके समय विशुद्ध परिणामोंकी परम्पराके कारण प्राप्त हुए क्षयोपशमसे प्रथम समयमें जैसा अवग्रह होता है वैसा ही द्वितीयादिक समयोंमें भी होता है, न न्यून होता है और न अधिक । यह ध्रुवावग्रह है । किन्तु जब विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणामोंके मिश्रणसे क्षयोपशम होकर उसमें अवग्रह होता है तब वह कदाचित् बहुतका होता है, कदाचित् अल्पका होता है, कदाचित् बहुविधका होता है और कदाचित् एकविधका होता है । तात्पर्य यह कि उनमें न्यूनाधिक भाव होता रहता है, इसलिए वह अध्रुवावग्रह कहलाता है किन्तु धारणा तो गृहीत अर्थके नहीं भूलनेके कारणभूत ज्ञानको कहते हैं, अतः ध्रुवावग्रह और धारणामें बड़ा अन्तर है ।

विशेषार्थ—ये अवग्रह आदि मतिज्ञान-द्वारा जाननेरूप क्रियाके भेद हैं और बहु आदि उनके कर्म हैं इसलिए इस सूत्रमें इनका इसीरूपसे निर्देश किया गया है । मतिज्ञान-द्वारा पदार्थोंका बहु आदिरूप इतने प्रकारसे अवग्रहण, ईहन, अवाय और धारण होता है यह इसका तात्पर्य है । इन बहु आदिके स्वरूपका तथा उनके अन्तरका व्याख्यान टीकामें किया ही है । मालूम होता है कि पूज्यपाद स्वामीके समय इस सूत्रके दो पाठ प्रचलित थे और उनका दो प्रकारसे व्याख्यान भी किया जाता था जिनका उल्लेख पूज्यपाद स्वामीने स्वयं किया है । एक पाठ जो उस समय अधिक मान्य था या पूज्यपाद स्वामी जिसे मूल पाठ मानते रहे उसका उल्लेख तो उन्होंने व्याख्यानरूपसे किया

1. बहुपु बहुविधे ।—मु. । 2. —मेवानिःसृत—आ., दि. 1, दि. 2, मु. । 3. नोनाभ्य—ता., न., मु. ।

§ 197. यद्यवग्रहादयो बह्वादीनां कर्मणामाक्षेप्तारः, बह्वादीनि पञ्चविशेषणानि कस्येत्यत आह—

अर्थस्य ॥17॥

§ 198 चक्षुरादिविषयोऽर्थः । तस्य बह्वादिविशेषणविशिष्टस्य अवग्रहादयो भवन्तीत्य-
भिसंबन्धः क्रियते । किमर्थमिदमुच्यते यावता बह्वादिरर्थ एव ? सत्यमेव, किन्तु प्रवादपरि-
कल्पनानिवृत्त्यर्थं 'अर्थस्य' इत्युच्यते । केचित्प्रवादिनो मन्यन्ते रूपादयो गुणा एव इन्द्रियैः
संनिकृष्यन्ते तेनैतेषामेव ग्रहणमिति । तदयुक्तम् ; न हि ते रूपादयो गुणा अमूर्ता इन्द्रियसंनिकर्ष-
भापयन्ते । न तर्हि इदानीमिदं भवति 'रूपं मया दृष्टं, गन्धो वा घ्रात' इति । भवति च । कथम् ?
इयति पर्यायांस्तेर्वास्यत इत्यर्थो द्रव्यं, तस्मिन्निन्द्रियैः संनिकृष्यमाणे तदव्यतिरेकाद्रूपादिविषयि
संन्यवहारो युज्यते ।

§ 199. किमिमे अवग्रहादयः सर्वस्येन्द्रियानिन्द्रियस्य भवन्ति उत कश्चिद्विषयविशेषोऽ-
स्तीत्यत आह—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥18॥

है और दूसरे पाठका उल्लेख अन्य कुछ आचार्योंके अभिप्रायके रूपमें किया है । इन दोनों व्याख्यानो-
में जो अन्तर है वह इस प्रकार है—मूल पाठके अनुसार—अनिःसृतज्ञान—अवयवके ग्रहणके समय
ही पूरे अवयवकी ज्ञान होना । निःसृत ज्ञान—इससे उलटा । पाठान्तरके अनुसार—निःसृत-
ज्ञान—विशेषताको लिये हुए ज्ञान होना । अनिःसृत ज्ञान—विशेषताके बिना साधारण ज्ञान
होना । शेष कथन सुगम है ।

§ 197. यदि अवग्रह आदि बहु आदिकको जानते हैं तो बहु आदिक किसके विशेषण हैं
अब इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अर्थके (वस्तुके) अवग्रह, ईहा, अवाप और धारणा ये चारों मतिज्ञान होते हैं ॥17॥

§ 198. चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय अर्थ कहलाता है । बहु आदि विशेषणोंसे युक्त उस
(अर्थ) के अवग्रह आदि होते हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए । शंका—यतः बहु आदिक
अर्थ ही हैं, अतः यह सूत्र किसलिए कहा ? समाधान—यह सत्य है कि बहु आदिक अर्थ ही हैं तो
अन्य वादियोंकी कल्पनाका निराकरण करनेके लिए 'अर्थस्य' सूत्र कहा है । कितने ही प्रवादी
मानते हैं कि रूपादिक गुण ही इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, अतः उन्हींका ग्रहण
ही है, किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वे रूपादिक गुण अमूर्त हैं, अतः उनका
इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता । शंका—यदि ऐसा है तो 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूँघा'
यह व्यवहार नहीं हो सकता, किन्तु होता अवश्य है सो इसका क्या कारण है ? समाधान—जो
पर्यायोंको प्राप्त होता है या पर्यायोंके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, यह 'अर्थ' है । इसके अनु-
सार अर्थ द्रव्य ठहरता है । उसके इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध को प्राप्त होने पर चूँकि रूपादिक उससे
अभिन्न है, अतः रूपादिकमें भी ऐसा व्यवहार बन जाता है कि 'मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूँघा ।'

विशेषार्थ—ज्ञानका विषय न केवल सामान्य है और न विशेष, किन्तु उभयात्मक पदार्थ
है । प्रकृतमें इसी बातका ज्ञान करानेके लिए 'अर्थस्य' सूत्रकी रचना हुई है । इससे नैयायिक
वैशेषिकोंके इस मतका खण्डन हो जाता है कि रूपादि गुण इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं ।

§ 199. क्या ये अवग्रह आदि सब इन्द्रिय और मन के होते हैं या इनमें विषयकी अपेक्षा
कुछ भेद हैं ? अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्यञ्जनका अवग्रह ही होता है ॥18॥

1. 'न तर्हि इदानीमिदं भवति ।' वा. भा. 1, 1, 4 ।

§ 200. व्यञ्जनमव्यक्त¹ शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति² नेहादयः । किमर्थमिदम् ? नियमार्थम्, अवग्रह एव नेहादय इति । स तर्हि एवकारः कतंव्यः ? न कतंव्यः, 'सिद्धे विधिरारम्भमाणो नियमार्थ'³ इति अन्तरेणैवकारं नियमार्थो भविष्यति । ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किं कृतोऽयं विशेषः ? अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः । कथम् ? अभिनवशरावाद्गोकरणवत् । यथा जलकणद्वित्रा⁴ सिकतः सरावोऽभिनवो नाद्गोभवति, स एव पुनःपुनः सिध्यमानः शनैस्तिम्यति, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला⁵ द्वित्राद्विषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनःपुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति । अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः । ततोऽव्यक्तावग्रहणादीहादयो न भवन्ति ।

§ 201 सर्वेन्द्रियाणामविशेषेण व्यञ्जनावग्रहप्रसङ्गे यत्रासंभवस्तदर्थप्रतिषेधमाह—

न चक्षुरनिन्द्रियाम्याम् ॥19॥

§ 200. अव्यक्त शब्दादिके स हूको व्यञ्जन कहते हैं । उसका अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते । शंका—यह सूत्र किसलिए आया है ? समाधान—अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं होते इस प्रकारका नियम करनेके लिए यह सूत्र आया है । शंका—तो फिर इस सूत्रमें एवकारका निर्देश करना चाहिए । समाधान—नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'किसी कार्यके सिद्ध रहते हुए यदि उसका पुनः विधान किया जाता है तो वह नियमके लिए होता है' इस नियमके अनुसार सूत्रमें एवकारके न करने पर भी वह नियमका प्रयोजक हो जाता है । शंका—जब कि अवग्रहका ग्रहण दोनों जगह समान है तब फिर इनमें अन्तर किनिमित्तक है ? समाधान—अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह में व्यक्त ग्रहण और अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अन्तर है । शंका—कैसे ? समाधान—जैसे माटीका नया सकोरा जलके दो तीन कणोंसे सौंचने पर गोला नहीं होता और पुनःपुनः सौंचने पर वह धीरे-धीरे गोला हो जाता है इसी प्रकार श्रात्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा किये गये शब्दादिरूप पुद्गल स्कन्ध दा तान समयांमें व्यक्त नहीं होते हैं, किन्तु पुनःपुनः ग्रहण होनेपर वे व्यक्त हो जाते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहणसे पहले-पहले व्यञ्जनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहणका नाम अर्थावग्रह है । यहो कारण है कि अव्यक्त ग्रहणपूर्वक ईहादिक नहीं होते ।

विशेषार्थ—यहाँ अव्यक्त शब्दादिकको व्यञ्जन कहा है । किन्तु वीरसेन स्वामी इस लक्षणसे सहमत नहीं हैं, उनके मतानुसार प्राप्त अर्थका प्रथम ग्रहण व्यञ्जन कहलाता है । विचार करने पर ज्ञात होता है कि दृष्टिभेदसे ही ये दो लक्षण कहे गये हैं । तत्त्वतः इनमें कोई भेद नहीं । प्राप्त अर्थका प्रथम ग्रहण व्यञ्जन है यह तो पूज्यपाद स्वामी और वीरसेन स्वामी दोनोंको इष्ट है । केवल पूज्यपाद स्वामीने स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियोंके द्वारा विषयके प्राप्त होनेपर प्रथम ग्रहणके समय उसकी क्या स्थिति रहती है इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए शब्दजातके पहले अव्यक्त विशेषण दिया है । लेकिन वीरसेन स्वामीने ऐसा विशेषण नहीं दिया है । शेष कथन सुगम है ।

§ 201. सब इन्द्रियोंके समानरूपसे व्यञ्जनावग्रहके प्राप्त होनेपर जिन इन्द्रियोंके द्वारा यह सम्भव नहीं है उसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता ॥19॥

1. 'तत्कालमि वि जाणं तत्स्थित्व तणुं ति तो तमव्वत्तं ।' वि. भा. गा. 196 ।
- 2.—ग्रहो भवति । किम—दि. 1, दि. 2, आ., मु. ।
3. 'सिद्धे विधिरारम्भमाणो ज्ञापकार्थो भवति'—पा. म. भा. 1, 1, 3 ।
4. द्वित्रिसि—मु. । 5. द्वित्र्यादि—मु. ।

§ 202. चक्षुरा अनिन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति । कुतः ? १अप्राप्यकारित्वात् । यतोऽप्राप्तमर्थमविदित्वं युक्तं सन्निकर्षविषये २उत्थितं बाह्यप्रकाशादिबन्धनमुपलभ्यते चक्षुः मनश्चाप्राप्तमित्यनयोर्व्यञ्जनावग्रहो नास्ति ।

§ 203. चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं ३कथमध्यवसीयते ? आगमतो युक्तितश्च । आपन्नतत्त्वात् ४

“पुटं पुणेदि सद् अपुटं चेव पस्सदे रुअं ।

गंध रस च फास बद्धं पुटं विद्याणादि ॥”

§ 204. युक्तितश्च—अप्राप्यकारि चक्षुः, स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्थात् त्वयिन्द्रियवत् ५स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात्, न तु गृह्णात्यतो ६मनोवदप्राप्यकारीत्ववसेषम् । ततश्चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषाणामिन्द्रियाणां व्यञ्जनावग्रहः । सर्वेषामिन्द्रियानिन्द्रियाणामर्थविग्रह इति सिद्धम् ।

§ 202. चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है । शंका—क्यों ? समाधान—क्योंकि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं । चूँकि नेत्र अप्राप्त, योग्य दिशामें अवस्थित, युक्त, सन्निकर्षके योग्य देशमें अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदिसे व्यक्त हुए पदार्थको ग्रहण करता है और मन भी अप्राप्त अर्थको ग्रहण करता है अतः इन दोनोंके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता ।

§ 203. शंका—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है यह कैसे जाना जाता है ? समाधान—आगम और युक्तिसे जाना जाता है । आगमसे यथा—“श्रोत्र स्पृष्ट शब्दको सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूपको ही देखता है । तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रमसे स्पृष्ट मन्ध, रस और स्पर्शको ही जानती हैं ।”

§ 204. युक्तिसे यथा—चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थको नहीं ग्रहण करती । यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होता तो वह त्वचा इन्द्रियके समान स्पृष्ट हुए अंजनको ग्रहण करती । किन्तु वह स्पृष्ट अंजनको नहीं ग्रहण करती है इससे मालूम होता है कि मनके समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है । अतः सिद्ध हुआ कि चक्षु और मनको छोड़कर शेष इन्द्रियोंके व्यञ्जनावग्रह होता है । तथा सब इन्द्रिय और मनके अर्थविग्रह होता है ।

विशेषार्थ—पहले अवग्रहके दो भेद बतला आये हैं—अर्थाविग्रह और व्यञ्जनावग्रह । इनमें से अर्थाविग्रह तो पाँचों इन्द्रियों और मन इन छहोंसे होता है, किन्तु व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन इन दोसे नहीं होता यह इस सूत्रका भाव है । चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह क्यों नहीं होता, इसका निर्देश करते हुए जो टीकामें लिखा है उसका भाव यह है कि ये दोनों अप्राप्यकारी हैं अर्थात् ये दोनों विषयको स्पृष्ट करके नहीं जानते हैं, इसलिए इन द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता । इससे यह अपने आप फलित हो जाता है कि व्यञ्जनावग्रह प्राप्त अर्थका ही होता है और अर्थाविग्रह प्राप्त तथा अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंका होता है । यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि अप्राप्त अर्थका अर्थाविग्रह होता है तो होवे इसमें बाधा नहीं, पर प्राप्त अर्थका अर्थाविग्रह कैसे हो सकता है ? सो इस शंकाका यह समाधान है कि प्राप्त अर्थका सर्व प्रथम ग्रहणके समय तो व्यञ्जनावग्रह ही होता है, किन्तु बादमें उसका भी अर्थाविग्रह हो जाता है । नेत्र प्राप्त अर्थको

1. अप्राप्तिका—आ., दि. 1, दि. 2 । 2. युक्तसं—मु., ता., ना. । 3. विशेषेज्ज—मु. ता., ना. । 4. प्राप्तमतो नानयोर्व्यं—मु., ता., ना. । 5. ग्रहोऽस्ति—मु. । 6. कथमध्यवसी—मु. । 7. तावत्—पुटं पुणेदि सद् अपुटं पुणे पस्सदे रुअं । फासं रसं च गंधं बद्धं पुटं विद्याणादि ॥ युक्ति—मु. । आ. नि. गा. 5 । 8. “जहं पत्तं मेज्जेज्ज उ तमयमंजण—” वि. भा. गा. 212 । 9. ‘लोक्यणमपत्तविसयं मनोव्व’—वि. भा. गा. 209 ।

§ 205. आह निर्दिष्टं मतिज्ञानं लक्षणतो विकल्पतः च; तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् श्रुतं तस्येदानीं लक्षणं विकल्पश्च वक्तव्य इत्यत आह—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥20॥

§ 206. श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रुद्धिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे वर्तते । यथा कुशलवनकर्म प्रतीत्य ¹व्युत्पादितोऽपि कुशलशब्दो रुद्धिवशात्पर्यवदाते² वर्तते । कः पुनरसौ ज्ञानविशेष इति ? अत आह 'श्रुतं मतिपूर्वम्' इति । श्रुतस्य प्रमाणत्वं पूरयतीति³ पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम् । मतिर्निर्दिष्टा । मतिः पूर्वमस्य मतिपूर्वं मतिकारणमित्यर्थः ; यदि मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति 'कारणसदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम्' इति । नैतदेकान्तिकम् । दण्डादिकारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मकः । अपि च सति तस्मिन्स्तदभावात् । सत्यपि मतिज्ञाने बाह्यश्रुतज्ञाननिमित्तसन्निधानेऽपि प्रबलश्रुतावरणोदयस्य श्रुताभावः । श्रुतावरणक्षयोपशमप्रकर्षं तु सति श्रुतज्ञानमुत्पद्यत इति मतिज्ञानं निमित्तमात्रं ज्ञेयम् ।

क्यों नहीं जानता इसका निर्देश टीकामें किया ही है । किन्तु ध्वलाके अभिप्रायानुसार शेष इन्द्रियाँ भी कदाचित् अप्राप्यकारी हैं यह भी सिद्ध होता है । प्रायः पृथिवीमें जिस ओर निधि रखी रहती है उस ओर वनस्पतिके मूलका विकास देखा जाता है । यह तभी बन सकता है जब स्पर्शन इन्द्रिय-द्वारा अप्राप्त अर्थका ग्रहण बन जाता है । इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय-द्वारा भी उसकी सिद्धि हो जाती है । शेष कथन सुगम है ।

§ 205. लक्षण और भेदोंकी अपेक्षा मतिज्ञानका कथन किया । अब उसके बाद क्रमप्राप्त श्रुतज्ञानके लक्षण और भेद कहने चाहिए; इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । वह दो प्रकारका; अनेक प्रकारका और बारह प्रकारका है ॥20॥

§ 206 यह 'श्रुत' शब्द सुननेरूप अर्थकी मुख्यतासे निष्पादित है तो भी रुद्धिसे भी उसका वाच्य कोई ज्ञानविशेष है । जैसे 'कुशल' शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ कुशाका छेदना है तो भी रुद्धिसे उसका अर्थ पर्यवदात अर्थात् विमल या मनोज्ञ लिया जाता है । वह ज्ञानविशेष क्या है इस बात को ध्यानमें रखकर 'श्रुतं मतिपूर्वम्' यह कहा है । जो श्रुतकी प्रमाणताको पूरता है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्व, निमित्त और कारण ये एकार्थवाची हैं । मतिका व्याख्यान पहले कर आये हैं । वह मति जिसका पूर्व अर्थात् निमित्त है वह मतिपूर्वं कहलाता है जिसका अर्थ मतिकारणक होता है । तात्पर्य यह है कि जो मतिज्ञानके निमित्तसे होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । शंका—यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है; क्योंकि लोक में कारणके समान ही कार्य देखा जाता है ? समाधान—यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि कारणके समान कार्य होता है । यद्यपि घटकी उत्पत्ति दण्डादिकसे होती है तो भी वह दण्डाद्यात्मक नहीं होता । दूसरे, मतिज्ञानके रहते हुए भी श्रुतज्ञान नहीं होता । यद्यपि मतिज्ञान रहा आता है और श्रुतज्ञानके बाह्य निमित्त भी रहे आते हैं तो भी जिसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल उदय पाया जाता है उसके श्रुतज्ञान नहीं होता । किन्तु श्रुतज्ञानावरण कर्मका प्रकर्ष क्षयोपशम होनेपर ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र जानना चाहिए ।

1. प्रतीत्या व्यु—मु. । 2. 'अवदातं तु विमलं मनोज्ञ'—अ. ना. 4, 96 । 3. 'पूर्वं' पूरणगालनभावओ जं मई ।' वि. भा. गा. 105 ।

§ 207. आह, श्रुतमनादिनिधनमिष्यते । तस्य मतिपूर्वकत्वे तदभावः; आदिमत्तोऽन्त-
वत्त्वात् । ततश्च 'पुरुषकृतित्वादप्रामाण्यमिति ? नैष दोषः; द्रव्यादिसामान्यार्पणात् श्रुतमनादि-
निधनमिष्यते । न हि केनचित्पुरुषेण क्वचित्कदाचित्कथंचिदुत्प्रेक्षितमिति । तेषामेव विशेषापेक्षया
आदिरन्तश्च संभवतीति 'मतिपूर्वम्' इत्युच्यते । यथाङ्कुरो बीजपूर्वकः स च संतानापेक्षया
अनादिनिधन इति । न चापौरुषेयत्वं प्रामाण्यकारणम्; चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्थमाणकत्वं कस्य
प्रामाण्यप्रसङ्गात् । अनित्यस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये को विरोधः ।

§ 208. आह, 'प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपज्ज्ञानपरिणामान्मतिपूर्वकत्वं श्रुतस्य नोपपद्यत
इति ? तदयुक्तम्; सम्प्रत्यक्षस्य तदपेक्षत्वात् । 'आत्मलाभस्तु क्रमवानिति मतिपूर्वकत्व-
व्याघाताभावः ।

§ 209. आह, मतिपूर्वं श्रुतमित्येतत्लक्षणमव्यापि श्रुतपूर्वमपि श्रुतमिष्यते । तद्यथा—
शब्दपरिणतपुद्गलस्कन्धादाहितवर्णपदवा 'क्यादिभावान्चक्षुरादिविषयान्च आद्यश्रुतविषयभावमा-
पन्नादव्यभिचारिणः 'कृतसंगीतिर्जनो घटाज्जलधारणादि कार्यं संबन्धन्तरं⁶ प्रतिपद्यते, धूमा-
वेर्गान्यादिद्रव्यं, तदा श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति ? नैष दोषः; तस्यापि मतिपूर्वकत्वमुपचारतः ।

§ 207. शंका—श्रुतज्ञानको अनादिनिधन कहा है । ऐसी अवस्थामें उसे मतिज्ञानपूर्वक
मान लेने पर उसको अनादिनिधनता नहीं बनती, क्योंकि जिसका आदि होता है उसका अन्त
अवश्य होता है । और इसलिए वह पुरुषका कार्य होनेसे उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता ।
समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य आदि सामान्य नयको मुख्यतासे श्रुतको अनादि-
निधन कहा है । किसी पुरुषने कहीं और कभी किसी भी प्रकारसे उसे किया नहीं है । हाँ उन्हीं
द्रव्य आदि विशेष नयको अपेक्षा उसका आदि और अन्त सम्भव है इसलिए 'वह मतिपूर्वक होता
है' ऐसा कहा जाता है । जैसे कि अंकुर बीजपूर्वक होता है, फिर भी वह संतानको अपेक्षा
अनादि निधन है । दूसरे, जो यह कहा है कि पुरुषका कार्य होनेसे वह अप्रमाण है सो अपौरुषेयता
प्रमाणताका कारण नहीं है । यदि अपौरुषेयताको प्रमाणताका कारण माना जाय तो जिसके
कर्ताका स्मरण नहीं होता ऐसे चौरों आदिके उद्देश भी प्रमाण हो जाएँगे । तीसरे, प्रत्यक्ष आदि
ज्ञान अनित्य होकर भी यदि प्रमाण माने जाते हैं तो इसमें क्या विरोध है, अर्थात् कुछ भी नहीं ।

§ 208. शंका—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके साथ ही ज्ञानको उत्पत्ति होती है,
अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है यह कथन नहीं बनता ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं
है, क्योंकि ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनके निमित्तसे प्राप्त होती है । इन दोनोंका आत्मलाभ तो
क्रमसे ही होता है, इसलिए 'श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है' इस कथनका व्याघात नहीं होता ।

§ 209. शंका—'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है
क्योंकि श्रुतज्ञानपूर्वक भी श्रुतज्ञान होता है ऐसा कहा जाता है । यथा—किसी एक जीवने वर्ण,
पद और वाक्य आदिरूपसे शब्द परिणत पुद्गल स्कन्धोंको कर्ण इन्द्रियद्वारा ग्रहण किया ।
अनन्तर उससे घटपदार्थविषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ । यदि उसने घटके कार्योंका संकेत कर रखा
है तो उसे उस घटज्ञानके बाद जलधारणादि दूसरे कार्योंका ज्ञान होता है और तब श्रुतज्ञानसे
श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है । या किसी एक जीवने चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयका ग्रहण किया ।

1. -पकृतत्वा—मु. । 2. 'जाणाणाणाणि य समकालाहं जओ मइसुयाइं । तो न सुयं मइपुव्वं मइणणे वा
सुयन्नाणं'—वि. भा. गा. 107 । 3. 'इहलद्धिमइसुयाइं समकालाहं न तूवओगी ति । मइपुव्वं सुयमिह पुण
सुओपओगो मइणभवो । —वि. भा. गा. 108 । 4. पदव्याख्यादि—आ., दि. 1 । 5. संगति—मु. ।
6. सम्बन्धान्तरं—ता., ना. ।

श्रुतमपि क्वचिन्मतिरित्युपचयंते, मतिपूर्वकत्वादिति ।

§ 210. भेदशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते—द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति । द्वि भेदं तावत् — अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टमिति । अङ्गबाह्यमनेकविधं दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि । अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधम् । तद्यथा, आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्याप्रज्ञप्तिः ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनं अन्तःकृद्दशं अनुत्तरौपपादिकदशं प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिवाद इति । दृष्टिवादः पञ्चविधः—परिकर्म सूत्रं प्रथमानुयोगः पूर्वगतं चूलिका चेति । तत्र पूर्वगतं चतुर्दशविधम्—उत्पादपूर्वं अग्रायणीयं वीर्यानुप्रवादं अस्तिनास्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सत्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकविन्दुसारमिति । तदेतत् श्रुतं द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति ।

§ 211. किंकृतोऽयं विशेषः ? १ ववतृविशेषकृतः । त्रयो वक्तारः—सर्वज्ञसतीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः । तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम् । तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्धयतिशयद्विगुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम् । तत्प्रमाणम् ; तत्प्रामाण्यात् । आरातीयः पुनराचार्यः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव ।

अनन्तर उसे उससे धूमादि पदार्थविषयक प्रथम श्रुतज्ञान हुआ । यदि उसे धूमादि और अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धका ज्ञान है तो वह धूमादिके निमित्तसे अग्नि आदि द्रव्यको जानता है और तब भी श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है । इसलिए मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात नहीं बनती ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँपर श्रुतज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है वहाँपर प्रथम श्रुतज्ञान उपचारसे मतिज्ञान माना गया है । श्रुतज्ञान भी कहींपर मतिज्ञानरूपसे उपचरित किया जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है ऐसा नियम है ।

§ 210. सूत्रमें आये हुए 'भेद' शब्दको दो आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा—दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद । श्रुतज्ञानके दो भेद अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट हैं । अंगबाह्यके दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं । अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं । यथा—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद । दृष्टिवादके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेद हैं—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार । इस प्रकार यह श्रुत दो प्रकारका, अनेक प्रकारका और बारह प्रकारका है ।

§ 211. शंका—यह भेद किंकृत है ? समाधान—यह भेद वक्ताविशेषकृत है । वक्ता तीन प्रकारके हैं—सर्वज्ञ (तीर्थकर या सामान्य केवली) तथा श्रुतकेवली और आरातीय । इनमेंसे परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञानरूपी विभूतिविशेषसे युक्त है । इस कारण उन्होंने अर्थरूपसे आगमका उपदेश दिया । ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं, इसलिए प्रमाण हैं । इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धिके अतिशयरूप ऋद्धिसे युक्त गणधर श्रुतकेवलियोंने अर्थरूप आगमका स्मरण कर अंग और पूर्वग्रन्थोंकी रचना की । सर्वज्ञदेवकी प्रमाणताके कारण ये भी प्रमाण हैं । तथा आरातीय आचार्योंने कालदोषसे जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे

1. —शेषः । विशेषपक्षुतो विशेषः कृतः । आ., दि. 1, दि. 2 ।

§ 212. व्याख्यातं परोक्षम् । प्रत्यक्षमिदानीं वक्ष्यम्यम् । तच्च द्वेधा—देशप्रत्यक्षं सर्व-
प्रत्यक्षं च । देशप्रत्यक्षमवधिजनः पर्ययज्ञाने । सर्वप्रत्यक्षं केवलम् । यद्येवमिदमेव तावदवधिज्ञानं
त्रि-प्रकारस्य प्रत्यक्षस्याद्यं व्याक्रियतामित्यत्रोच्यते—द्विविधोऽवधिर्भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्त-
श्चेति । तत्र भवप्रत्यय उच्यते—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥21॥

शिष्योंका उपकार करनेके लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे । जिस प्रकार क्षीरसागरका जल
घटमें भर लिया जाता है उसी प्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिए प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण किस रूपमें है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें अन्तर
क्या है, श्रुत अनादिनिधन और सादि कैसे है, श्रुतके भेद कितने और कौन-कौन हैं, श्रुतमें प्रमा-
णता कैसे आती है इत्यादि बातोंका विशेष विचार तो मूलमें किया ही है । यहाँ केवल विचार-
णीय विषय यह है कि श्रुतज्ञानका निरूपण करते समय सूत्रकारने केवल द्रव्य आगम श्रुतका ही
निरूपण क्यों किया ? अनुमान आदि ऐसे बहुत-से ज्ञान हैं जिनका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें किया
जाता है फिर उनका निर्देश यहाँ क्यों नहीं किया ? क्या श्रुतज्ञान द्रव्य आगम श्रुतके ज्ञान तक
ही सीमित है और अनुमान आदिका अन्तर्भाव सूत्रकारके मतानुसार मतिज्ञानमें होता है ? ये
ऐसे विचारणीय प्रश्न हैं जिनका प्रकृतमें समाधान करना आवश्यक है । बात यह है कि जैन
परम्परामें द्रव्य आगम श्रुतकी प्रधानता सदासे चली आ रही है, इसलिए सूत्रकारने श्रुतज्ञानके
निरूपणके समय उसका प्रमुखतासे निर्देश किया है । पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि श्रुतज्ञान
द्रव्य आगम श्रुतके ज्ञान तक ही सीमित है । मतिके सिवा मतिपूर्वक होनेवाले अन्य अनुमान
आदि सब परोक्ष ज्ञानोंका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें ही होता है, क्योंकि इन ज्ञानोंमें हेतु आदिका
प्रत्यक्ष ज्ञान आदि होने पर ही इन ज्ञानोंकी प्रवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ, नेत्र इन्द्रियसे धूमका
ज्ञान होता है । अनन्तर व्याप्तिका स्मरण होता है तब जाकर 'यहाँ अग्नि होनी चाहिए' यह
अनुमान होता है । कहीं-कहीं मतिज्ञानमें भी इनके अन्तर्भावका निर्देश मिलता है पर वह कारण-
रूपसे ही जानना चाहिए । मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त है, इसलिए कारणमें कार्यका
उपचार करके कहीं-कहीं अनुमान आदिका भी मतिज्ञानरूपसे निर्देश किया जाता है । एक बात
और विचारणीय है, वह यह कि यह श्रुतज्ञानका प्रकरण है द्रव्यश्रुतका नहीं, इसलिए यहाँ सूत्र-
कारने श्रुतज्ञानके भेद न दिखलाकर द्रव्यश्रुतके भेद क्यों दिखलाये ? उत्तर यह है कि श्रुतज्ञाना-
वरण कर्मके क्षयोपशमका और द्रव्यश्रुतका अन्योन्य सम्बन्ध है । क्षयोपशमके अनुसार होनेवाले
श्रुतज्ञानको ध्यानमें रखकर ही द्रव्यश्रुतका विभाग किया गया है । यही कारण है कि यहाँ
श्रुतज्ञानका प्रकरण होते हुए भी द्रव्यश्रुतके भेद गिनाये गये हैं । इस बातकी विशेष जानकारीके
लिए गोम्मटसार जीवकाण्डमें निर्दिष्ट ज्ञानमार्गणा द्रष्टव्य है ।

§ 212. परोक्ष प्रमाणका व्याख्यान किया । अब प्रत्यक्ष प्रमाणका व्याख्यान करना है ।
वह दो प्रकारका है—देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष । देशप्रत्यक्ष अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके
भेदसे दो प्रकारका है । सर्वप्रत्यक्ष केवलज्ञान है । यदि ऐसा है तो तीन प्रकारके प्रत्यक्षके आदिमें
कहे गये अवधिज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए, इसलिए कहते हैं—अवधिज्ञान दो प्रकारका
है—भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक । उनमें-से सर्वप्रथम भवप्रत्यय अवधिज्ञानका अगले सूत्र
द्वारा कथन करते हैं—

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है ॥21॥

1. -त्यक्षं सकलप्र—मु. ।

§ 213. भव इत्युच्यते । को भवः । आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः । प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम् । भवः प्रत्ययोऽस्य भवप्रत्ययोऽवधिदेवनारकाणां वेदितव्यः । यद्येवं तत्र क्षयोपशमनिमित्तत्वं न प्राप्नोति । नैष दोषः; तदाश्रयात्तत्सिद्धेः । भवं प्रतीत्य क्षयोपशमः संजायत' इति कृत्वा भवः प्रधानकारणमित्युपदिश्यते । यथा पतत्रिणो गमनमाकाशे भवनिमित्तम्, न शिक्षागुणविशेषः तथा देवनारकाणां व्रतनियमाद्यभावेऽपि जायत 'इति भवप्रत्ययः' इत्युच्यते । इतरथा हि भवः साधारण इति कृत्वा सर्वेषामविशेषः स्यात् । इष्यते च तत्रावधेः प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिः । 'देवनारकाणाम्' इत्यविशेषाभिधानेऽपि सम्यग्दृष्टोनामेव ग्रहणम् । कुतः । अवधिग्रहणात् । मिथ्यादृष्टोनां च विभङ्ग इत्युच्यते । प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिश्च आगमतो विज्ञेया ।

§ 214. यदि भवप्रत्ययोऽवधिदेवनारकाणाम्, अथ क्षयोपशमहेतुकः केषामित्यत आह—

§ 213. भवका स्वरूप कहते हैं । शंका—भव किसे कहते हैं ? समाधान—आयु नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो जीवकी पर्याय होती है उसे भव कहते हैं ? प्रत्यय, कारण और निमित्त ये एकार्थवाची नाम हैं । जिस अवधिज्ञानके होनेमें भव निमित्त है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है । वह देव और नारकियोंके जानना चाहिए । शंका—यदि ऐसा है तो इनके अवधिज्ञानके होनेमें क्षयोपशमकी निमित्तता नहीं बनती ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि भवके आश्रयसे क्षयोपशमकी सिद्धि हो जाती है । भवका आलम्बन लेकर क्षयोपशम हो जाता है ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है ऐसा उपदेश दिया जाता है । जैसे पक्षियोंका आकाशमें गमन करता भवनिमित्तक होता है, शिक्षा गुणकी अपेक्षासे नहीं होता वैसे ही देव और नारकियोंके व्रत नियमादिकके अभावमें भी अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भवनिमित्तक कहते हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो भव तो सबके साधारण रूपसे पाया जाता है, अतः सबके एक-सा अवधिज्ञान प्राप्त होगा । परन्तु वहाँपर अवधिज्ञान न्यूनाधिक कहा ही जाता है, इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि वहाँपर अवधिज्ञान होता तो क्षयोपशमसे ही है पर वह क्षयोपशम भवके निमित्तसे प्राप्त होता है अतः उसे 'भवप्रत्यय' कहते हैं । सूत्रमें 'देवनारकाणाम्' ऐसा सामान्य वचन होने पर भी इससे सम्यग्दृष्टियोंका ही ग्रहण होता है, क्योंकि सूत्रमें 'अवधि' पदका ग्रहण किया है । मिथ्यादृष्टियोंका वह विभंगज्ञान कहलाता है । अवधिज्ञान देव और नारकियोंमें न्यूनाधिक किसके कितना पाया जाता है यह आगमसे जान लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान वह पर्यायित ज्ञान है जो इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना मूर्तिक पदार्थोंको स्पष्ट जानता है । मनःपर्ययज्ञानका भी यही स्वरूप कहा जाता है पर इससे मनःपर्ययज्ञानमें मौलिक भेद है । वह मनकी पर्यायों-द्वारा ही मूर्तिक पदार्थोंको जानता है, सीधे तौरसे मूर्तिक पदार्थोंको नहीं जानता । यह अवधिज्ञान देव और नारकियोंके उस पर्यायिके प्राप्त होने पर अनायास होता है । इसके लिए उन्हें प्रयत्न विशेष नहीं करना पड़ता । तथा तिर्यञ्चों और मनुष्योंके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे होता है । इससे इसके भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्तक ये दो भेद किये गये हैं । यहाँ भवप्रत्यय अवधिज्ञान मुख्यतः देव और नारकियोंके बतलाया है, पर तीर्थकर आदिके भी इस अवधिज्ञानकी प्राप्ति देखी जाती है इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए । देव और नारकियोंमें भी उन्हींके भवके प्रथम समयसे अवधिज्ञान होता है जो सम्यग्दृष्टि होते हैं । मिथ्यादृष्टियोंके इसकी उत्पत्ति पर्याप्त होनेपर ही होती है और उसका नाम विभंगज्ञान है । इस ज्ञानकी विशेष जानकारी जीवकाण्ड, ध्वला वेदनाखण्ड आदिसे करनी चाहिए ।

§ 214. यदि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है तो क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान किसके होता है । आगे इसी बातको बतलाते हैं—

¹क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥221॥

§ 215. अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्द्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षयः तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः । तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः । स शेषाणां वेदितव्यः । के पुनः शेषाः ? मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च । तेष्वपि यत्र सामर्थ्यमस्ति तत्रैव वेदितव्यः । न ह्यसंज्ञितानामप्याप्तकानां च तत्सामर्थ्यमस्ति । संज्ञितानां पर्याप्तकानां च न सर्वेषाम् । केषां तर्हि ? यथोक्तसम्यग्दर्शनादिनिमित्तसंनिधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति । सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे क्षयोपशमग्रहणं नियमार्थं क्षयोपशम एव निमित्तं न भव इति । स एषोऽवधिः षड्विकल्पः । कृतः ? अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् । कश्चिदवधिर्भास्करप्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति । कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति ²उन्मुखप्रश्नादेशि-पुरुषवचनवत् । अपरोऽवधिः अरणिनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपर्णोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपावकवत्सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसंनिधानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वद्धंते आ असंख्येयलोकेभ्यः । अपरोऽवधिः ³परिच्छिन्नोपादानसंतत्यग्निशिखावत्सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंकलेशपरिणामवृद्धि-योगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्यासंख्येयभागात् । इतरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादि-गुणावस्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवावतिष्ठते; न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत्

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकारका है, जो शेष अर्थात् तिर्यचों और मनुष्योंके होता है ॥221॥

§ 215. अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय रहते हुए सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और अनुदय प्राप्त इन्हींका सदवस्थारूप उपशम इन दोनोंके निमित्तसे जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है । यह शेष जीवोंके जानना चाहिए । शंका—शेष कौन हैं ? समाधान—मनुष्य और तिर्यच । उनमें भी जिनके सामर्थ्य है उन्हींके जानना चाहिए । असंज्ञी और अपर्याप्तकोंके यह सामर्थ्य नहीं है । संज्ञी और पर्याप्तकोंमें भी सबके यह सामर्थ्य नहीं होती । शंका—तो फिर कितने होती है ? समाधान—यथोक्त सम्यग्दर्शन आदि निमित्तोंके मिलने पर जिनके अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त और क्षीण हो गया है उनके यह सामर्थ्य होती है । अवधिज्ञान मात्र क्षयोपशमके निमित्तसे होता है तो भी सूत्रमें क्षयोपशम पदका ग्रहण यह नियम करनेके लिए किया है कि उक्त जीवोंके मात्र क्षयोपशम निमित्त है भव नहीं । यह अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थितके भेदसे छह प्रकारका है । कोई अवधिज्ञान जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ जाता है वैसे अपने स्वाभी का अनुसरण करता है । कोई अवधिज्ञान अनुसरण नहीं करता, किंतु जैसे विमुख हुए पुरुषके प्रश्नके उत्तर-स्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता है वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहींपर छूट जाता है । कोई अवधिज्ञान जंगलके निर्मन्थनसे उत्पन्न हुई और सूखे पत्तोंसे उपचीयमान ईंधनके समुदायसे वृद्धिको प्राप्त हुई अग्निके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी विशुद्धिरूप परिणामोंके सन्निधानवश जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे असंख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक बढ़ता जाता है । कोई अवधिज्ञान परिमित उपादानसन्ततिवाली अग्निशिखाके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी हानिसे हुए संकलेश परिणामोंके बढ़नेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे मात्र अङ्गुलके असंख्यातवें भागप्रमाण जाननेकी योग्यता होने तक घटता चला जाता है । कोई अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणोंके समानरूपसे

1. 'क्षेसाण खओवसमियाओ ।'—वि. भा. गा. 575 । 2. —तति । उन्मुखप्र—ता., ना., मु. । 3. -वधिः परिमितपरि—मु. ।

आ भवत्यादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा । अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानियोगाद्यपरिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोन्मिव । एवं षड्विकल्पोऽवधिर्भवति ।

§ 216. एवं व्याख्यातमवधिज्ञानं, तदनन्तरमिदानीं मनःपर्ययज्ञानं वक्तव्यम् । तस्य भेद-पुरःसरं लक्षणं व्याचिख्यासुरिदमाह—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥23॥

§ 217. ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च । कस्मान्निर्वर्तिता ? वाक्कायमनःकृतार्थस्य परमनो-गतस्य विज्ञानात् । ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजुमतिः । अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला । कस्माद-निर्वर्तिता ? वाक्कायमनःकृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् । विपुला मतिर्यस्य सोऽयं विपुलमतिः । ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती । एकस्य मतिशब्दस्य गतार्थत्वादप्रयोगः । अथवा ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले । ऋजुविपुले मती ययोस्तौ ऋजुविपुलमती इति । स एव मनःपर्यययो द्विविधः ऋजुमतिविपुलमतिरिति ।

§ 218. आह, उक्तो भेदः, लक्षणमिदानीं वक्तव्यमित्यत्रोच्यते—वीर्यान्तरायमनःपर्यय-स्थिर रहनेके कारण जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है । पर्यायके नाश होने तक या केवलज्ञानके उत्पन्न होने तक शरीरमें स्थित मसा आदि चिह्नके समान न घटता है और न बढ़ता है । कोई अवधिज्ञान वायुके वेगसे प्रेरित जलकी तरंगोंके समान सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी कभी वृद्धि और कभी हानि होनेसे जितने परिमाणमें उत्पन्न होता है उससे बढ़ता है जहाँतक उसे बढ़ना चाहिए और घटता है जहाँतक उसे घटना चाहिए । इस प्रकार अवधिज्ञान छह प्रकारका है ।

विशेषार्थः—क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि । देशावधि तिर्यचों और मनुष्योंके होता है पर मनुष्योंके संयत अवस्थामें परमावधि और सर्वावधिका प्राप्त होना भी सम्भव है । मनुष्योंके चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें देशावधि और आगे के गुणस्थानोंमें यथासम्भव तीनों होते हैं । भवप्रत्यय अवधिज्ञानका अन्तर्भाव देशावधिमें होता है ।

§ 216. इस प्रकार अवधिज्ञानका व्याख्यान किया । अब आगे मनःपर्ययज्ञानका व्याख्यान करना चाहिए, अतः उसके भेदोंके साथ लक्षणका कथन करनेकी इच्छासे आगेका सूत्र कहते हैं—

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है ॥23॥

§ 217. ऋजुका अर्थ निर्वर्तित और प्रगुण है । शंका—किससे निर्वर्तित ? समाधान—दूसरेके मनको प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे निर्वर्तित । जिसकी मति ऋजु है वह ऋजुमति कहलाता है । विपुलका अर्थ अनिर्वर्तित और कुटिल है । शंका—किससे अनिर्वर्तित ? समाधान—दूसरेके मनको प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे अनिर्वर्तित । जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है । सूत्रमें जो 'ऋजुविपुलमती' पद आया है वह ऋजुमति और विपुलमति इन पदोंसे समसित होकर बना है । यहाँ एक ही मति शब्द पर्याप्त होनेसे दूसरे मति शब्दका प्रयोग नहीं किया । अथवा ऋजु और विपुल शब्दका कर्मधारय समास करनेके बाद इनका मति शब्दके साथ बहुव्रीहि समास कर लेना चाहिए । तब भी दूसरे मति शब्दकी आवश्यकता नहीं रहती । यह मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति ।

§ 218. शंका—मनःपर्ययज्ञानके भेद तो कह दिये । अब उसका लक्षण कहना चाहिए ।

ज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मनः परकीयमनःसम्बन्धेन लब्धवृत्तिरूपयोगो मनःपर्ययः । मतिज्ञानप्रसंग इति चेत् ? उक्तोत्तरं पुरस्तात् । अपेक्षाकारणं मन इति । परकीय-मनसि व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्ष्यते¹ । तत्र ऋजुमतिर्मनःपर्ययः कासतो जघ-न्येन जीवानामात्मनश्च² द्वित्राणि भवग्रहणानि, उत्कर्षेण सप्ताष्टौ गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति । क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूतिपृथक्त्वं, उत्कर्षेण योजनपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं, न बहिः । द्वितीयः कालतो जघन्येन सप्ताष्टौ भवग्रहणानि, उत्कर्षेणासंख्येयानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति । क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वं, उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलस्याभ्यन्तरं, न बहिः ।

§ 219. उक्तयोरनयोः पुनरपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥24॥

§ 220. तदावरणक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः । प्रतिपत्तनं प्रतिपातः ।

समाधान—वीर्यान्तराय और मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे आत्मामें जो दूसरेके मनके सम्बन्धसे उपयोग जन्म लेता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । शंका—यह ज्ञान मनके सम्बन्धसे होता है, अतः इसे मतिज्ञान होनेका प्रसंग आता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि इस शंकाका उत्तर पहले दे आये हैं । अर्थात् यहाँ मनकी अपेक्षामात्र है । दूसरेके मनमें अवस्थित अर्थको यह जानता है इतनी मात्र यहाँ मनकी अपेक्षा है । इनमेंसे ऋजु-मति मनःपर्ययज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे जीवोंके और दो तीन भावोंको ग्रहण करता है, उत्कृष्टसे गति और आगतिकी अपेक्षा सात-आठ भावोंका कथन करता है । क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे गव्यूतिपृथक्त्व और उत्कृष्टसे योजनपृथक्त्वके भीतरकी बात जानता है, इससे बाहरकी नहीं । विपुलमति कालकी अपेक्षा जघन्यसे सात-आठ भावोंको ग्रहण करता है, उत्कृष्टसे गति और आगतिकी अपेक्षा असंख्यात भावोंका कथन करता है । क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे योजना-पृथक्त्व और उत्कृष्टसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतरकी बात जानता है, इससे बाहरकी बात नहीं जानता ।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रके छठवें अध्यायके दसवें सूत्रके राजवार्तिकमें शंका-समाधानके प्रसंगसे मनःपर्ययज्ञानकी चर्चा की है । वहाँ बतलाया है कि मनःपर्ययज्ञान अपने विषयमें अवधि-ज्ञानके समान स्वमुखसे प्रवृत्त नहीं होता है । किन्तु दूसरेके मनके सम्बन्धसे ही प्रवृत्त होता है, इसलिए जैसे मन अतीत और अनागत विषयोंका विचार तो करता है, पर साक्षात्कार नहीं करता उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यत् विषयोंको जानता तो है पर सीधे तौरसे साक्षात्कार नहीं करता । इसी प्रकार यह वर्तमान विषयको भी मनोगत होते पर विशेष-रूपसे जानता है । राजवार्तिकका यह कथन इतना स्पष्ट है जिससे मनःपर्ययज्ञानकी उपयो-गात्मक दशाका स्पष्ट आभास मिल जाता है । इसका आशय यह है कि करता तो है यह मन की पर्यायोंकी ही विषय किन्तु तद्द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है । इसके दो भेद हैं—ऋजु-मति और विपुलमति ।

§ 219. पहले मनःपर्ययज्ञानके दो भेद कहे हैं उनका और विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा इन दोनोंमें अन्तर है ॥24॥

§ 220. मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मामें निर्मलता आती है

1. -पेक्षते आ. दि. 1, दि. 2 । 2. -द्वित्राणि म. ।

न प्रतिपातः अप्रतिपातः । उपशान्तकषायस्य चारित्र्यनोहोद्रेकात्प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति । क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावादप्रतिपातः । विशुद्धिश्च अप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातो । ताम्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम् । तयोर्विशेषस्तद्विशेषः । तत्र विशुद्ध्या तावत्—ऋजुमतेविपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावविशुद्धतरः । कथम् ? इह यः कार्मणद्रव्यानन्तभागोऽन्त्यः सर्वावधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागः ऋजुमतेविषयः । तस्य ऋजुमतिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागो विपुलमतेविषयः । अनन्तस्यानन्तभेदत्वात् । द्रव्यक्षेत्रकालतो विशुद्धिरुक्ता । भावतो विशुद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या, प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धियोगात् । अप्रतिपातेनापि विपुलमतिविशिष्टः, स्वामिनां प्रवर्द्धमानचारित्र्योदयत्वात् । ऋजुमतिः पुनः प्रतिपाती ; स्वामिनां कषायोद्रेकाद्विद्यमानचारित्र्योदयत्वात् ।

§ 221. यद्यस्य मनःपर्ययस्य प्रत्यात्ममयं विशेषः, अथानयोरवधिमनःपर्यययोः कुतो विशेष इत्यत आह—

उसे विशुद्धि कहते हैं । गिरनेका नाम प्रतिपात है और नहीं गिरना अप्रतिपात कहलाता है । उपशान्तकषाय जीवका चारित्र्य मोहनीयके उदयसे संयम शिखर छूट जाता है, जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीवका पतनका कारण न होनेसे प्रतिपात नहीं होता । इन दोनोंकी अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमतिमें भेद है । विशुद्धि यथा—ऋजुमतिसे विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विशुद्धतर है । शंका—कैसे ? समाधान—यहाँ जो कार्मण द्रव्यका अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वावधिज्ञानका विषय है उसके भी अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमतिका विषय है । और इस ऋजुमतिके विषयके अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमतिका विषय है । अनन्तके अनन्त भेद हैं अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं । इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विशुद्धि कही । भावकी अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्यको विषय करनेवाला होनेसे ही जान लेनी चाहिए, क्योंकि इनके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम रूप विशुद्धि पायी जाती है, इसलिए ऋजुमतिसे विपुलमतिमें विशुद्धि अधिक होती है । अप्रतिपातकी अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है; क्योंकि इसके स्वामियोंके प्रवर्द्धमान चारित्र्य पाया जाता है । परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि इसके स्वामियोंके कषायके उदयसे घटता हुआ चारित्र्य पाया जाता है ।

विशेषार्थ—यहाँ मनःपर्यय ज्ञानके दोनों भेदोंमें अन्तर दिखलाया गया है । ऋजुमति स्थूल ज्ञान है और विपुलमति सूक्ष्मज्ञान । इसीसे इसका भेद स्पष्ट हो जाता है । यह विशुद्धिकृत भेद है । इससे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा पदार्थका ज्ञान करनेमें अन्तर पड़ जाता है । किन्तु इन दोनों ज्ञानोंके अन्तरका एक कारण और है जो कि प्रतिपात और अप्रतिपात शब्दसे पुकारा जाता है । प्रतिपातका अर्थ है गिरना और अप्रतिपातका अर्थ है नहीं गिरना । ऐसा नियम है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान उसीके होता है जो तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है, किन्तु ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानके लिए ऐसा कोई नियम नहीं है । वह तद्भव मोक्षगामीके भी हो सकता है और अन्यके भी हो सकता है । इसी प्रकार जो क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है उसके भी हो सकता है और जो उस पर नहीं चढ़कर उपशमश्रेणी पर चढ़ता है या नहीं भी चढ़ता है उसके भी हो सकता है । इसीसे ऋजुमति प्रतिपाती और विपुलमति अप्रतिपाती माना गया है । यह विशेषता योग्यताजन्य है, इसलिए इसका निर्देश अलगसे किया है ।

§ 221. यदि इस मनःपर्ययज्ञानका अलग-अलग यह भेद है तो अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें किस कारणसे भेद है ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विशुद्धिचेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिजनः पर्यययोः ॥25॥

§ 222. विशुद्धिः प्रसादः । क्षेत्रं यत्र स्थानाभावान्प्रतिपद्यते । स्वामी प्रयोक्ता । विषयो ज्ञेयः । तत्रावधेर्जनः पर्ययो विशुद्धतरः । कुतः ? सूक्ष्मविषयत्वात् । क्षेत्रमुक्तम्¹ । विषयो वक्ष्यते । स्वामित्वं प्रत्युत्पद्यते । प्रकृष्टचारित्र्यगुणोपेतेषु वर्तते² प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु । तत्र चोत्पद्यमानः प्रवर्द्धमानचारित्र्येषु न हीयमानचारित्र्येषु । प्रवर्द्धमानचारित्र्येषु चोत्पद्यमानः सप्तविधान्यतमद्विप्राप्तेषु प्रजायते नेतरेषु । ऋद्धिप्राप्तेषु केषुचिन्त सर्वेषु ।³ इत्यस्यायं स्वामिविशेषो । विशिष्टसंयमग्रहणं वा वाक्ये प्रकृतम् । अवधिः पुनश्चातुर्गतिकेति चेति स्वामिभेदावप्यनयोविशेषः ।

§ 223. इदानीं केवलज्ञानलक्षणाभिधानं प्राप्तकालम् । तदुल्लङ्घ्य ज्ञानानां विषयनिबन्धः परीक्ष्यते । कुतः ? तस्य 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । यद्येवमाद्ययोरेव तावन्मतिश्रुतयोर्विषयनिबन्ध उच्यतामित्यत आह—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायिषु ॥26॥

§ 224. निबन्धनं निबन्धः । कस्य ? विषयस्य । तद्विषयग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् । प्रकृतं विषयग्रहणम् । क्व प्रकृतम् ? 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' इत्यत्र । अतस्तत्स्यार्थवशाद्विशुद्धिः, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें भेद है ॥25॥

§ 222. विशुद्धिका अर्थ निर्मलता है । जिस स्थानमें स्थित भावोंको जानता है वह क्षेत्र है । स्वामीका अर्थ प्रयोक्ता है । विषय ज्ञेयको कहते हैं । सो इन दोनों ज्ञानोंमें अवधिज्ञानसे मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानका विषय सूक्ष्म है । क्षेत्रका कथन पहले कर आये हैं । विषयका कथन आगे करेंगे । यहाँ स्वामीका विचार करते हैं—मनःपर्ययज्ञान प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तकके उत्कृष्ट चारित्र्यगुणसे युक्त जीवोंके ही पाया जाता है । वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह वर्द्धमान चारित्र्यवाले जीवोंके ही उत्पन्न होता है, घटते हुए चारित्र्यवाले जीवोंके नहीं । वर्द्धमान चारित्र्यवाले जीवोंमें उत्पन्न होता हुआ भी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमेंसे किसी एक ऋद्धिको प्राप्त हुए जीवोंके ही उत्पन्न होता है, अन्यके नहीं । ऋद्धिप्राप्त जीवोंमें भी किन्हींके ही उत्पन्न होता है, सबके नहीं, इस प्रकार सूत्रमें इसका स्वामी-विशेष या विशिष्ट संयमका ग्रहण प्रकृत है । परन्तु अवधिज्ञान चारों गतिके जीवोंके होता है, इसलिए स्वामियोंके भेदसे भी इनमें अन्तर है ।

विशेषार्थ—यों तो अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें मौलिक अन्तर है । अवधिज्ञान सीधे तौरसे पदार्थोंको जानता है और मनःपर्ययज्ञान मनकी पर्यायरूपसे । फिर भी यहाँ अन्य आधारोंसे इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर दिखलाया गया है । वे आधार चार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, स्वामी और विषय ।

§ 223. अब केवलज्ञानका लक्षण कहनेका अवसर है । किन्तु उसका कथन न कर पहले ज्ञानोंके विषयका विचार करते हैं, क्योंकि केवलज्ञानका लक्षण 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' यहाँ कहेंगे । यदि ऐसा है तो सर्वप्रथम आदिमें आये हुए मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका कथन करना चाहिए । इसी बातको ध्यान में रखकर आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति कुछ पर्यायोंसे युक्त सब द्रव्योंमें होती है ॥26॥

§ 224. निबन्ध शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—निबन्धनं निबन्धः—जोड़ना, सम्बन्ध करना । शंका—किसका सम्बन्ध ? समाधान—विषयका । शंका—तो सूत्रमें विषय पदका ग्रहण

1. मुक्तं विशेषो व--मु. । 2. -तेऽग्रज-मु., दि, 1, 2 । 3. इत्यस्य स्वामिविशेषविशिष्टसंयमग्रहणं वाक्ये कृतम् । अब-मु. ता., ना. । 4. -येभ्य इत्यतस्त--दि. 1, दि. 2, आ., मु. ।

भक्तिपरिणामो भवतीति विषयस्य' इत्यभिसंबध्यते । 'द्रव्येषु' इति बहुवचननिर्देशः सर्वेषां जीवधर्माधर्म 'कालाकाशपुद्गलानां संग्रहार्थः । तद्विशेषणार्थं 'असर्वपर्याय' ग्रहणम् । तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायरन्तर-पीति । अत्राह—धर्मास्तिकायादीन्यतीन्द्रियाणि तेषु मतिज्ञानं न प्रवर्तते । अतः सर्वद्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तत इत्ययुक्तम् ? नैष दोषः ; अनिन्द्रियाख्यं करणमस्ति तदालम्बनो नोऽनिन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्धि-पूर्वक उपयोगोऽवग्रहादिरूपः प्रागेवोपजायते । ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते ।

§ 225. अथ मतिश्रुतयोरनन्तरनिर्देशाहस्यावधेः को विषयनिबन्ध इत्यत आह—

रूपिष्ववधेः ॥27॥

§ 226. 'विषयनिबन्धः' इत्यनुवर्तते । 'रूपिषु' इत्यनेन पुद्गलाः पुद्गलद्रव्यसंबन्धाश्च जीवाः परिगृह्यन्ते । रूपिष्वेवावधेर्विषयनिबन्धो नारूपिष्विति नियमः क्रियते । रूपिष्वपि भवन्त सर्वपर्यायेषु, स्वयोग्येष्वेवेत्यवधारणार्थमसर्वपर्यायेत्वित्यभिसंबध्यते ।

§ 227. अथ तदनन्तरनिर्देशभाजो मनःपर्ययस्य को विषयनिबन्ध इत्यत आह—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥28॥

करना चाहिए ? समाधान—नहीं करना चाहिए, क्योंकि विषय पदका ग्रहण प्रकरण प्राप्त है । शंका—कहाँ प्रकरणमें आया है ? समाधान—'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः' इस सूत्रमें आया है । वहाँसे 'विषय' पदको ग्रहण कर अर्थके अनुसार उसकी विभक्ति बदल ली है, इसलिए यहाँ षष्ठी विभक्तिके अर्थमें उसका ग्रहण हो जाता है । सूत्रमें 'द्रव्येषु' बहुवचनान्त पदका निर्देश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सब द्रव्योंका संग्रह करनेके लिए किया है । और इन सब द्रव्योंके विशेषणरूपसे 'असर्वपर्यायेषु' पदका ग्रहण किया है । वे सब द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयभावको प्राप्त होते हुए कुछ पर्यायोंके द्वारा ही विषयभावको प्राप्त होते हैं, सब पर्यायोंके द्वारा नहीं और अनन्त पर्यायोंके द्वारा भी नहीं । शंका—धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय हैं । उनमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'सब द्रव्योंमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है' यह कहना अयुक्त है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अनिन्द्रिय नामका एक करण है । उसके आलम्बनसे नोऽनिन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप लब्धिपूर्वक अवग्रह आदिरूप उपयोग पहले ही उत्पन्न हो जाता है, अतः तत्पूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान अपने योग्य इन विषयोंमें व्यापार करता है ।

§ 225. मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके अनन्तर निर्देशके योग्य अवधिज्ञानका विषय क्या है आगे सूत्र द्वारा इसी बातको बतलाते हैं—

अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति रूपी पदार्थोंमें होती है ॥27॥

§ 226. पिछले सूत्रसे 'विषयनिबन्धः' पदकी अनुवृत्ति होती है । 'रूपिषु' पद-द्वारा पुद्गलों और पुद्गलोंमें बद्ध जीवोंका ग्रहण होता है । इस सूत्र-द्वारा 'रूपी पदार्थोंमें ही अवधि-ज्ञानका विषय सम्बन्ध है, अरूपी पदार्थोंमें नहीं' यह नियम किया गया है । रूपी पदार्थोंमें होता हुआ भी उनकी सब पर्यायोंमें नहीं होता, किन्तु स्वयोग्य पर्यायोंमें ही होता है इस प्रकारका निश्चय करनेके लिए 'असर्वपर्यायेषु' पदका सम्बन्ध होता है ।

§ 227. अब इसके अनन्तर निर्देशके योग्य मनःपर्ययज्ञानका विषयसम्बन्ध क्या है इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनःपर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति अवधिज्ञानके विषयके अनन्तर्बे भागमें होती है ॥28॥

1. धर्माकाश—मृ. । 2. नारूपेऽस्त्विति—मृ. ।

§ 228. यदेतद्रूपि¹ द्रव्यं सर्वावधिज्ञानविषयत्वेन समर्थितं तस्यानन्तभागीकृतस्यैकस्मिन्भागे मनःपर्ययः प्रवर्तते ।

§ 229. अयान्ते यन्निर्दिष्टं केवलज्ञानं तस्य को विषयनिबन्ध इत्यत आह—

सर्वद्रव्यपर्यायिषु केवलस्य ॥29॥

§ 230. द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्याया इति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । तद्विशेषणं 'सर्वं' ग्रहणं प्रत्येकमभिसंबध्यते, सर्वेषु द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायिष्विति । जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि ततोऽध्यनन्तानन्तानि पुद्गलद्रव्याणि च अणुस्कन्धभेदभिन्नानि², धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयस्तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभूयः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु । द्रव्यं पर्यायजातं वा न किञ्चित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति । अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं 'सर्वद्रव्यपर्यायिषु' इत्युच्यते ।

§ 231. आह विषयनिबन्धोऽवधूतो मत्यादीनाम् । इदं तु न निर्जातिमेकस्मिन्नात्मनि स्वनिमित्तसंनिधानोपजनितवृत्तीनि ज्ञानानि यौगपद्येन कति भवन्तीत्युच्यते—

§ 228. जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञानका विषय है उसके अनन्त भाग करनेपर उसके एक भागमें मनःपर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है ।

§ 229. अब अन्तमें जो केवलज्ञान कहा है उसका विषय क्या है यह बतलानेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानकी प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंमें होती है ॥29॥

§ 230. सूत्रमें आये हुए द्रव्य और पर्याय इन दोनों पदोंका इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है । तथा इन दोनोंके विशेषरूपसे आये हुए 'सर्वं' पदको द्रव्य और पर्याय इन दोनोंके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा—सब द्रव्योंमें और सब पर्यायोंमें । जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं । पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तानन्तगुण हैं । जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं । धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन हैं और काल असंख्यात हैं । इन सब द्रव्योंकी पृथक्-पृथक् तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं । इन सबमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है । ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्यायसमूह है जो केवलज्ञानके विषयके परे हो । केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है इसी बातका ज्ञान कराने के लिए सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायिषु' पद कहा है ।

विशेषार्थ—यहाँ चार सूत्रोंमें पाँचों ज्ञानोंके विषयका निर्देश किया गया है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मनकी सहायतासे प्रवृत्त होते हैं यह तो स्पष्ट ही है, इसलिए इनका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है । पर मन विकल्प-द्वारा रूपी और अरूपी सभी पदार्थोंको जानता है, इसीसे इन दोनों ज्ञानोंका विषय छहों द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोंको बतलाया है । अवधिज्ञान यद्यपि बाह्य सहायताके बिना प्रवृत्त होता है, पर वह क्षायोपशमिक होनेसे उसका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है । इसी कारणसे अवधिज्ञानका विषय रूपी पदार्थ कहा है । मनःपर्ययज्ञान भी क्षायोपशमिक होता है, इसलिए उसका विषय यद्यपि रूपी पदार्थ ही है, पर यह रूपी पदार्थको मनकी पर्यायों-द्वारा ही ग्रहण करता है, इससे इसका विषय अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवे भागप्रमाण कहा है तथा केवलज्ञान निरावरण होता है, इसलिए उसका विषय सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें हैं ऐसा कहा है ।

§ 231. मत्यादिकके विषयसम्बन्धका निश्चय किया, किन्तु यह न जान सके कि एक

1. यद्रूपि—दि. 1, दि. 2 । 2. भेदेन भि—मु. ।

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्थ्यः ॥30॥

§ 232. एकशब्दः संख्यावाची, आदिशब्दोऽवयववचनः । एक आदियेषां तानि इमान्येकादीनि । भाज्यानि विभक्तव्यानि । युगपद्येनैकस्मिन्नात्मनि । आ कुतः ? आ चतुर्थ्यः । तद्यथा एकं तावत्केवलज्ञानं, न तेन सहान्यानि क्षायोपशमिकानि युगपदवतिष्ठन्ते । द्वे मतिश्रुते । त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा । चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि । न पञ्च सन्ति, केवलस्यासहायत्वात् ।

आत्मामें एक साथ अपने-अपने निमित्तोंके मिलनेपर कितने ज्ञान उत्पन्न हं: सकते हैं, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक आत्मामें एक साथ एकसे लेकर चार ज्ञान तक भजनासे होते हैं ॥30॥

§ 232. 'एक' शब्द संख्यावाची है और 'आदि' शब्द अवयववाची है । जिनका आदि एक है वे एकादि कहलाते हैं । 'भाज्यानि' का अर्थ 'विभाग करना चाहिए' होता है । तात्पर्य यह है कि एक आत्मामें एक साथ एक ज्ञानसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं । यथा—यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान होता है । उसके साथ दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते । दो होते हैं तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं । तीन होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं । तथा चार होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं । एक साथ पाँच ज्ञान नहीं होते, क्योंकि केवलज्ञान असहाय है ।

विशेषार्थ—यहाँ एक साथ एक आत्मामें कमसे कम कितने और अधिकसे अधिक कितने ज्ञान हो सकते हैं इस बातका निर्देश किया है । यह तो स्पष्ट है कि ज्ञान एक है, अतः उसकी पर्याय भी एक कालमें एक ही हो सकती है । फिर भी यहाँ एक आत्मामें एक साथ कई ज्ञान होनेका निर्देश किया है सो उसका कारण अन्य है । बात यह है कि जब ज्ञान निवारण होता है तब तो उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं किया जा सकता है, अतएव ऐसी अवस्थामें एक केवलज्ञान पर्यायका ही प्रकाश माना गया है । किन्तु संसार अवस्थामें जब ज्ञान सावरण होता है तब निमित्त भेदसे उसी ज्ञानको कई भागोंमें विभक्त कर दिया जाता है । सावरण अवस्थामें जितने भी ज्ञान प्रकट होते हैं वे सब क्षायोपशमिक ही होते हैं और क्षयोपशम एक साथ कई प्रकारका हो सकता है, इसलिए सावरण अवस्थामें दो, तीन या चार ज्ञानकी सत्ता युगपत् मानी गयी है । पर इसका यह अर्थ नहीं कि जब दो, तीन या चार ज्ञानकी सत्ता रहती है तब वे सब ज्ञान उपयोगरूप हो सकते हैं । उपयोग तो एक कालमें एक ही ज्ञानका होता है, अन्य ज्ञान उस समय लब्धिरूपसे रहते हैं । आशय यह है कि ऐसा कोई क्षण नहीं जब ज्ञानकी कोई उपयोगात्मक पर्याय प्रकट न हो । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये सब ज्ञानकी पर्यायें हैं, इसलिए इनमेंसे एक कालमें उपयोगात्मक एक ही पर्यायका उदय रहता है । निवारण अवस्थामें मात्र केवलज्ञान पर्यायका उदय रहता है और सावरण अवस्थामें प्रारम्भकी चार पर्यायोंमेंसे एक कालमें किसी एक पर्यायका उदय रहता है । फिर भी तब युगपत् दो, तीन और चार ज्ञानोंकी सत्ताके माननेका कारण एकमात्र निमित्तभेद है । जब मति और श्रुत इन दो पर्यायोंके प्रकट होनेका क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब युगपत् दो ज्ञानोंका सद्भाव कहा जाता है । जब मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मनःपर्यय इन तीन पर्यायोंके प्रकट होनेका क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब युगपत् तीन ज्ञानोंका सद्भाव कहा जाता है और जब मति आदि चार पर्यायोंके प्रकट होनेका क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब युगपत् चार ज्ञानोंका सद्-

§ 233. अथ यथोक्तानि मत्यादीनि ज्ञानव्यपदेशमेव लभन्ते उताऽन्यथापीत्यत आह—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च¹ ॥31॥

§ 234. विपर्ययो मिथ्येत्यर्थः । कुतः ? सम्यग्धिकारात् । 'च'शब्दः समुच्चयार्थः । विपर्ययश्च सम्यक्चेति । कुतः पुनरेषां विपर्ययः ? मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् सरजस्क-कटुकालाबुगतदुग्धवत् । ननु च तत्राधारदोषाद् दुग्धस्य रसविपर्ययो भवति । न च तथा मत्यज्ञा-नादीनां विषयग्रहणे विपर्ययः । तथा हि, सम्यग्दृष्टिर्यथा चक्षुरादिभी रूपादीनुपलभते तथा मिथ्यादृष्टिरपि² मत्यज्ञानेन । यथा च सम्यग्दृष्टिः श्रुतेन रूपादीन् जानाति निरूपयति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि श्रुताज्ञानेन । यथा चावधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टिः रूपिणोऽर्थानवगच्छति तथा मिथ्या-दृष्टिर्विभङ्गज्ञानेनेति ।

§ 235. अत्रोच्यते—

असदसत्तोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥32॥

§ 236. सद्विद्यमानमसदविद्यमानमित्यर्थः । तयोरविशेषेण यदृच्छया उपलब्धेर्विपर्ययो

भाव माना जाता है । यही कारण है कि प्रकृत सूत्रमें एक साथ एक आत्माके एक, दो, तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं यह कहा है ।

§ 233. अब यथोक्त मत्यादिक ज्ञान व्यपदेशको ही प्राप्त होते हैं या अन्यथा भी होते हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र है—

मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय भी हैं ॥31॥

§ 234. विपर्ययका अर्थ मिथ्या है, क्योंकि सम्यग्दर्शनका अधिकार है । 'च' शब्द समुच्चयरूप अर्थमें आया है । इससे यह अर्थ होता है कि मति, श्रुत, और अवधि विपर्यय भी हैं और समीचीन भी । शंका—ये विपर्यय किस कारणसे होते हैं ? समाधान—क्योंकि मिथ्या-दर्शनके साथ एक आत्मामें इनका समवाय पाया जाता है । जिस प्रकार रज सहित कड़वी तूंबड़ीमें रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके निमित्तमे ये विपर्यय होते हैं । कड़वी तूंबड़ीमें आधारके दोषसे दूधका रस मोठेसे कड़वा हो जाता है—यह स्पष्ट है, किन्तु उस प्रकार मत्यादि ज्ञानोंकी विषयके ग्रहण करनेमें विपरीतता नहीं मालूम होती । खुलासा इस प्रकार है—जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि चक्षु आदिके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी मत्यज्ञानके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको ग्रहण करता है । जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रुतके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी श्रुतज्ञानके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है । जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विभग ज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है ।

§ 235. यह एक प्रश्न है जिसका समाधान करनेके लिए अगला सूत्र कहते हैं ।

वास्तविक और अवास्तविकके अन्तरके बिना यदृच्छोपलब्धि (जब जैसा जी में आया उस रूप ग्रहण होने) के कारण उन्मत्तकी तरह ज्ञान भी अज्ञान हो जाता है ॥32॥

§ 236. प्रकृतमें 'सत्' का अर्थ विद्यमान और 'असत्' का अर्थ अविद्यमान है । इनकी

1. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । —पा. यो. सू. 1, 8 । 2. —रपि । यथा—वि. 1, दि. 2, आ. ।

3. 'सदसदविसेषणाओ भवहेउजदिच्छिओवलम्भाओ । ताणफलाभावाओ मिच्छदिदृठस्स अण्णाणं ।'—वि. भा. गा. 115 ।

भवति । कदाचिद्रूपादि सदप्यसदिति प्रतिपद्यते, असदपि सदिति, कदाचित्सत्सदेव, असदप्यसदेवेति मिथ्यादर्शनोदयादप्यवस्यति । यथा पित्तोदयाकुलितबुद्धिमातरं भार्येति, भार्यामपि मातेति मन्यते । यदृच्छया¹ यदापि मातरं मातैवेति भार्यामपि भार्येवेति च तदापि न तत्सम्यग्ज्ञानम् । एवं मत्पादीनामपि रूपादिषु विपर्ययो वेदितव्यः । तथा हि, कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्मन्यवस्थितो रूपाद्युपलब्धौ सत्यामपि कारणविपर्यासं भेदाभेदविपर्यासं स्वरूपविपर्यासं च जनयति ।

§ 237. कारणविपर्यासस्तावद्—रूपादीनामेकं कारणममूर्तं नित्यमिति² केचित्कल्पयन्ति ।³ अपरे पृथिव्यादिजातिभिन्नाः परमाणवश्चतुस्त्रिद्वयेकगुणास्तुल्यजातीयानां कार्याणामारम्भका इति ।⁴ अन्ये वर्णयन्ति—पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकधर्मा वर्णगन्धरसस्पर्शाः, एतेषां समुदायो रूपपरमाणुरष्टक इत्यादि ।⁵ इतरे⁶ वर्णयन्ति—पृथिव्यप्तेजोवायवः काठिन्यादि-द्रवत्वाद्युष्णत्वादोरणत्वादिगुणा⁷ जातिभिन्नाः परमाणवः कार्यस्थारम्भकाः ।

§ 238. भेदाभेदविपर्यासः⁸ कारणात्कार्यमर्थान्तरभूतमेवेति⁹ अनर्थान्तरभूतमेवेति च परिकल्पना ।

§ 239. स्वरूपविपर्यासो रूपादयो निर्विकल्पाः¹⁰ सन्ति न सन्त्येव¹¹ वा । तदाकारपरिणतं विज्ञानमेव¹² । न च तदालम्बनं वस्तु बाह्यमिति । एवमन्यानपि परिकल्पनाभेदान् दृष्टेष्टविरुद्धा-

विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करनेसे विपर्यय होता है । कदाचित् रूपादिक विद्यमान हैं तो भी उन्हें अविद्यमान कहता है । और कदाचित् अविद्यमान वस्तुको भी विद्यमान कहता है । कदाचित् सत्को सत् और असत्को असत् ही मानता है । यह सब निश्चय मिथ्यादर्शनके उदयसे होता है । जैसे पित्तके उदयसे आकुलित बुद्धिवाला मनुष्य माताको भार्या और भार्याको माता मानता है । जब अपनी इच्छाकी लहरके अनुसार माताको माता और भार्याको भार्या ही मानता है तब भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है । इसी प्रकार मत्पादिकका भी रूपादिकमें विपर्यय जानना चाहिए । खुलासा इस प्रकार है—आत्मामें स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिककी उपलब्धि होनेपर भी कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यासको उत्पन्न करता रहता है ।

237. कारणविपर्यास यथा—कोई मानते हैं कि रूपादिकका एक कारण है जो अमूर्त और नित्य है । कोई मानते हैं कि पृथिवी जातिके परमाणु अलग हैं जो चार गुणवाले हैं । जल जातिके परमाणु अलग हैं जो तीन गुणवाले हैं । अग्नि जातिके परमाणु अलग हैं जो दो गुणवाले हैं और वायु जातिके परमाणु अलग हैं जो एक गुणवाले हैं । तथा ये परमाणु अपने समान जातीय कार्यको ही उत्पन्न करते हैं । कोई कहते हैं कि पृथिवी आदि चार भूत हैं और इन भूतोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं । इन सबके समुदायको एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं । कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये क्रमसे काठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और ईरणत्वादि गुणवाले अलग-अलग जातिके परमाणु होकर कार्यको उत्पन्न करते हैं ।

238. भेदाभेदविपर्यास यथा—कारणसे कार्यको सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना ।

§ 239. स्वरूपविपर्यास यथा—रूपादिक निर्विकल्प हैं, या रूपादिक हैं ही नहीं, या रूपादिकके आकाररूपसे परिणत हुआ विज्ञान ही है उसका आलम्बनभूत और कोई बाह्य पदार्थ

1. -च्छया मातरं—मु., ता., ना. । 2. सांख्याः । 3. नैयायिकाः । 4. बौद्धाः । 5. लोकायतिकाः । 6. -तरे कल्पयन्ति पृथि—आ., दि., 1 । 7. -णत्वादिगमनादिगुणा—आ., दि 1, दि. 2 । 8. नैयायिकाः । 9. सांख्याः । 10. बौद्धाः । 11. नैयायिकाः । 12. योगाचाराः ।

मिथ्यादर्शनोदयात्कल्पयन्ति तत्र च श्रद्धानमुत्पादयन्ति । ततस्तन्मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं ¹विभङ्गज्ञानं च भवति । सम्यग्दर्शनं पुनस्तत्त्वार्थाधिगमे श्रद्धानमुत्पादयति । ततस्तन्मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं च भवति ।

§ 240. आह प्रमाणं द्विप्रकारं वर्णितम् । प्रमाणैकदेशाच्च नयस्तदनन्तरोद्देशभाजो निर्देष्टव्या इत्यत आह—

नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दसमभिरुद्धैर्बभूता नयाः ॥33॥

§ 241. एतेषां सामान्यविशेषलक्षणं वक्तव्यम् । सामान्यलक्षणं तावद्वस्तुन्येकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य यथात्म्यप्रापणप्रवणः² प्रयोगो नयः । स द्वेषा द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्चेति । द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयो द्रव्याधिकः । पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयः पर्यायाधिकः । तयोर्भेदा नैगमादयः ।

§ 242. तेषां विशेषलक्षणमुच्यते—अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः । कंचित्पुरुषं नहीं है । इसी प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे ये जीव प्रत्यक्ष और अनुमानके विरुद्ध नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते हैं । इसलिए इनका यह ज्ञान मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान या विभंगज्ञान होता है । किन्तु सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ के ज्ञानमें श्रद्धान उत्पन्न करता है अतः इस प्रकारका ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है ।

विशेषार्थ—यहाँपर प्रारम्भके तीन ज्ञान विपर्यय होते हैं यह बतलाकर वे विपर्यय क्यों होते हैं यह बतलाया गया है । संसारी जीवकी श्रद्धा विपरीत और समीचीनके भेदसे दो प्रकारकी होती है । विपरीत श्रद्धावाले जीवको विश्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता । वह जगत्में कितने पदार्थ हैं उनका स्वरूप क्या है यह नहीं जानता । आत्मा और परमात्माके स्वरूप बोधसे तो वह सर्वथा वंचित ही रहता है । वह घटको घट और पटको पट ही कहता है, पर जिन तत्त्वोंसे इनका निर्माण होता है उनका इसे यथार्थ बोध नहीं होने पाता । यही कारण है कि जीवकी श्रद्धाके अनुसार ज्ञान भी समीचीन ज्ञान और मिथ्या ज्ञान इन दो भागोंमें विभक्त हो जाता है । यथार्थ श्रद्धाके होनेपर जो ज्ञान होते हैं उन्हें समीचीन ज्ञान कहते हैं और यथार्थ श्रद्धाके अभावमें होनेवाले ज्ञानोंका नाम ही मिथ्याज्ञान है । ऐसे मिथ्याज्ञान तीन माने गये हैं—कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और विभंग ज्ञान । ये ही तीन ज्ञान मिथ्या होते हैं, अन्य नहीं, क्योंकि ये ज्ञान विपरीत श्रद्धावालेके भी पाये जाते हैं । विपरीत श्रद्धा होती है इसका निर्देश मूल टीकामें किया ही है ।

§ 240. दो प्रकारके प्रमाणका वर्णन किया । प्रमाणके एकदेशको नय कहते हैं । इनका कथन प्रमाणके अनन्तर करना चाहिए, अतः आगेका सूत्र कहते हैं—

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवंभूत ये सात नय हैं ॥33॥

§ 241. इनका सामान्य और विशेष लक्षण कहना चाहिए । सामान्य लक्षण—अनेकान्तात्मक वस्तुमें विरोधके बिना हेतुकी मुख्यतासे साध्यविशेषकी यथार्थताके प्राप्ति करानेमें समर्थ प्रयोगको नय कहते हैं । इसके दो भेद हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । द्रव्यका अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है और इसको विषय करनेवाला नय द्रव्याधिक नय कहलाता है । तथा पर्यायिका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है और इसको विषय करनेवाला नय पर्यायाधिक नय कहलाता है । इन दोनों नयोंके उत्तर भेद नैगमादिक हैं ।

§ 242. अब इनका विशेष लक्षण कहते हैं—अनिष्पन्न अर्थमें संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नय नैगम है । यथा—हाथमें फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुषको देखकर कोई अन्य पुरुष

1. —ज्ञानमवध्यज्ञा—मु. । 2. —वणप्रयो—मु. ।

परिगृहीतपरशुं गच्छन्तमवलोक्य कश्चित्पृच्छति किमर्थं भवान्गच्छतीति । स आह प्रस्थमानेनु-
मिति । नासौ तदा प्रस्थपर्यायः सन्निहितः । तदभिनिर्वृत्तये संकल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारः । तथा
एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कश्चित्पृच्छति किं करोति भवानिति । स आह ओदनं पचामीति ।
न तदौदनपर्यायः सन्निहितः, त्वर्थं व्यापारे स प्रयुज्यते । एवंप्रकारो लोकसं व्यवहारः अनभिनि-
र्वृत्तार्थसंकल्पमात्रविषयो नैगमस्य मोक्षरः ।

§ 243. स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः ।
सत्, द्रव्यं, घट इत्यादि । सदित्युक्ते सदिति वाग्विज्ञानानुप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानाम-
दि शेषेण सर्वेषां संग्रहः । द्रव्यमित्युक्तेऽपि द्रवति गच्छति तांस्तान्यपर्यायानित्युपलक्षितानां जीवा-
र्जः तद्भेदप्रभेदानां संग्रहः । तथा घट इत्युक्तेऽपि घटबुद्ध्यभिधानानुगमलिङ्गानुमितसत्कार्य-
संग्रहः । एवंप्रकारोऽन्योऽपि संग्रहनयस्य¹ विषयः ।

§ 244. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः । को विधिः ? यः संग्रह-
गृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्वेणैव व्यवहारः प्रवर्तत इत्ययं विधिः । तद्यथा—सर्वसंग्रहेण यत्सत्त्वं गृहीतं
तच्चानपेक्षितविशेषं नालं सं व्यवहारायेति व्यवहारनय आशीयते । यत्सत्तद् द्रव्यं गुणो वेति ।
द्रव्येणापि संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवविशेषानपेक्षेण न शक्यः सं व्यवहार इति जीवद्रव्यमजीवद्रव्य-

पूछता है आप किस कामके लिए जा रहे हैं । वह कहता है प्रस्थ लानेके लिए जा रहा हूँ । उस
समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल उसके बनानेका संकल्प होनेसे उसमें प्रस्थ व्यवहार
किया गया है । तथा ईंधन और जल आदिके लानेमें लगे हुए किसी पुरुषसे कोई पूछता है कि
आप क्या कर रहे हैं । उसने कहा भात पका रहा हूँ । उस समय भात पर्याय सन्निहित नहीं है,
केवल भातके लिए किये गये व्यापारमें भातका प्रयोग किया गया है । इस प्रकारका जितना
लोकव्यवहार अनिष्पन्न अर्थके आलम्बनसे संकल्पमात्रको विषय करता है वह सब नैगम
नयका विषय है ।

§ 243. भेदसहित सब पर्यायोंको अपनी जातिके अविरोध-द्वारा एक मानकर सामान्यसे
सबको ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है । यथा—सत्, द्रव्य और घट आदि । 'सत्' ऐसा कहने-
पर सत् इस प्रकारके वचन और विज्ञानकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सत्ताके आधारभूत सब
पदार्थों का सामान्यरूपसे संग्रह हो जाता है । 'द्रव्य' ऐसा कहनेपर भी 'उन-उन पर्यायोंको द्रवता
है अर्थात् प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्तिसे युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद-
प्रभेदोंका संग्रह हो जाता है । तथा 'घट' ऐसा कहनेपर भी घट इस प्रकारकी बुद्धि और घट इस
प्रकारके शब्दकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सब घट पदार्थोंका संग्रह हो जाता है । इस प्रकार
अन्य भी संग्रह नयका विषय है ।

§ 244. संग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंका विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद
करना व्यवहार नय है । शंका—विधि क्या है ? समाधान—जो संग्रह नयके द्वारा गृहीत अर्थ है
उसीके आनुपूर्वी क्रमसे व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है । यथा—सर्वसंग्रह नयके द्वारा जो
वस्तु ग्रहण की गयी है वह अपने उत्तर भेदोंके बिना व्यवहार कराने में असमर्थ है, इसलिए
व्यवहार नयका आश्रय लिया जाता है । यथा—जो सत् है वह या तो द्रव्य है या गुण । इसी
प्रकार संग्रह नयका विषय जो द्रव्य है वह जीव अजीव विशेषकी अपेक्षा किये बिना व्यवहार
करानेमें असमर्थ है, इसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है इस प्रकारके व्यवहारका आश्रय
लिया जाता है । जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जब तक संग्रह नयके विषय रहते हैं तब तक

1. संग्रहनयः ॥2॥ संग्र-मु. । 2. यत्संग्र-मु., दि. 1, दि. 2, आ. ।

मिति वा व्यवहार आश्रीयते । जीवाजीवावपि च संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेति प्रत्येकं देवनारकाविषंटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते । एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः ।

§ 245. ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति¹ तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः । ²पूर्वापरान्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादते³ अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् । तच्च वर्तमानं समयमात्रम् । तद्विषयपर्यायमात्रमाह्वयमृजुसूत्रः । ननु संव्यहारलोपप्रमङ्ग इति चेद्⁴ ? न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते । सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः ।

§ 246. लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः । तत्र लिङ्गव्यभिचारः—पुण्यस्तारका नक्षत्रमिति । संख्याव्यभिचारः—जलमापः, वर्षा ऋतुः, आम्ना वनम्⁵, वरणा नगरमिति । साधनव्यभिचारः⁶—सेना⁷ पर्वतमधिवसति । पुरुषव्यभिचारः—एहि⁸ मन्ये रथेन यास्यासि, न हि यास्यासि, यातस्ते पितेति । कालव्यभिचारः—विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता । ⁹भावि कृत्यमाप्नोदिति । उपग्रहव्यभिचारः—संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति । एवं प्रकारं व्यवहारमन्याव्य¹⁰

वे व्यवहार करानेमें असमर्थ हैं, इसलिए व्यवहारसे जीव द्रव्यके देव, नारकी आदिरूप और अजीव द्रव्यके घटाटिह्न भेदोंका आश्रय लिया जाता है । इस प्रकार इस नयकी प्रवृत्ति वहीं तक होती है जहाँ तक वस्तुमें फिर कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता ।

§ 245. ऋजु का अर्थ प्रगुण है । जो ऋजु अर्थात् सरलको सूत्रित करता है अर्थात् स्वीकार करता है वह ऋजुसूत्र नय है । यह नय पहले हुए और पश्चात् होनेवाले तीनों कालोंके विषयोंको ग्रहण न करके वर्तमान कालके विषयभूत पदार्थोंको ग्रहण करता है, क्योंकि अतीतके विनष्ट और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे उनमें व्यवहार नहीं हो सकता । वह वर्तमान काल समयमात्र है और उसके विषयभूत पर्यायमात्रको विषय करनेवाला यह ऋजुसूत्र नय है । शंका—इस तरह संव्यवहारके लोपका प्रसंग आता है ? समाधान—नहीं; क्योंकि यहाँ इस नयका विषयमात्र दिखलाया है, लोक संव्यवहार तो सब नयोंके समूहका कार्य है ।

§ 246. लिंग, संख्या और साधन आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला शब्दनय है । लिंगव्यभिचार यथा—पुण्य, तारका और नक्षत्र । ये भिन्न-भिन्न लिंगके शब्द हैं । इनका मिलाकर प्रयोग करना लिंगव्यभिचार है । संख्याव्यभिचार यथा—‘जलं आपः, वर्षाः ऋतुः, आम्ना वनम्, वरणाः नगरम्’ ये एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्द हैं । इनका विशेषणविशेष्यरूपसे प्रयोग करना संख्याव्यभिचार है । साधनव्यभिचार यथा—‘सेना पर्वतमधिवसति’ सेना पर्वतपर है । यहाँ अधिकरण कारकके अर्थमें सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है, इसलिए यह साधनव्यभिचार है । पुरुषव्यभिचार यथा—‘एहि मन्ये रथेन यास्यासि न हि यास्यासि यातस्ते पिता’—आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊँगा, नहीं जाओगे । तुम्हारे पिता गये । यहाँ ‘मन्यसे’ के स्थानमें ‘मन्ये’ और ‘यास्यामि’ के स्थानमें ‘यास्यासि’ क्रियाका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह पुरुषव्यभिचार है । कालव्यभिचार यथा—‘विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता’—इसका विश्वदृश्वा पुत्र होगा । यहाँ ‘विश्वदृश्वा’ कर्ता रखकर ‘जनिता’ क्रियाका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह कालव्यभिचार है । अथवा, ‘भाविकृत्यमासीत्’—होनेवाला कार्य हो गया । यहाँ ‘होनेवाले कार्यको हो गया बतलाया गया है, इसलिए यह कालव्यभिचार है । उपग्रहव्यभिचार

1. यत इति ऋजु—मु., ता. ना., । 2. पूर्वान्तरा—मु. । 3. षयमाद—आ. । 4. चेदस्य—दि. 1, दि. 2 । 5. वनमिति । साध—आ, दि. 1, दि. 2, ता., ना. । 6. —चारः (कारकव्यभिचारः) सेना—मु. । 7. सेना वनमध्यास्ते । पुरु—ता. । 8. ‘एहि मन्ये रथेन यास्यासि’—पा. म. भा. 8।1।1।6 । 9. ‘भाविकृत्यमासीत्’ । पुत्रो जनिष्यमाण आसीत् । पा. म. भा. 3।4।1।2 । 10. हारनयं न्याव्यं—मु. दि. 1, दि. 2, आ. ।

मन्यते; अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात् । लोकसमयविरोध इति चेत् ? विहृद्यताम् । ¹तत्त्व-
सिंह मीमांस्यते, न² भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ति ।

§ 247. नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः । यतो नानार्थान्समतीत्येकमर्थमाभिमुख्येन रूढः
समभिरूढः । गौरित्यर्थं शब्दो वागादिष्वर्थेषु³ वर्तमानः पञ्चावभिरूढः । अथवा ⁴अर्थगत्यर्थः
शब्दप्रयोगः । तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः । शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदे-
नाप्यवश्यं भवितव्यमिति । नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः । इन्द्रनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दार-
णात् पुरन्दर इत्येवं सर्वत्र । अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्समभिरूढः ।
यथा क्व भवानास्ते ? आत्मनीति । कुतः ? वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात् । ⁵यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः
स्यात्, ज्ञानादीनां रूपादीनां आकाशे वृत्तिः स्यात् ।

§ 248. येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवंभूतः । स्वाभिप्रेतक्रियापरिणतिभणे एव
स शब्दो युक्तो नान्यदेति । यदैवेन्द्विति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति । यदैव गच्छति तदैव

यथा—‘संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति ।’ यहाँ ‘सम्’ और ‘प्र’ उपसर्गके कारण ‘स्था’
धातुका आत्मनेपद प्रयोग तथा ‘वि’ और ‘उप’ उपसर्गके कारण ‘रम्’ धातुका परस्मैपदमें प्रयोग
किया गया है, इसलिए यह उपग्रहव्यभिचार है । यद्यपि व्यवहारमें ऐसे प्रयोग होते हैं तथापि इस
प्रकारके व्यवहारको शब्दनय अनुचित मानता है, क्योंकि पर्यायाधिक नयकी दृष्टिसे अन्य अर्थका
अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता । शंका—इससे लोकसमयका (व्याकरण शास्त्रका)
विरोध होता है । समाधान—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं, क्योंकि यहाँ
तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है । दवाई कुछ पीड़ित पुरुषकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली
नहीं होती ।

§ 247. नाना अर्थोंका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ नय कहलाता है । चूँकि
जो नाना अर्थोंको ‘सम्’ अर्थात् छोड़कर प्रधानतासे एक अर्थमें रूढ होता है वह समभिरूढ नय
है । उदाहरणार्थ—‘गो’ इस शब्दके वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह ‘पशु’ इस
अर्थमें रूढ है । अथवा अर्थका ज्ञान करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है । ऐसी हालतमें
एक अर्थका एक शब्दसे ज्ञान हो जाता है, इसलिए पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग करना निष्फल
है । यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए । इस प्रकार नाना अर्थोंका समभिरोहण
करनेवाला होनेसे समभिरूढ नय कहलाता है । जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होनेसे
इनके अर्थ भी तीन हैं । इन्द्रका अर्थ आज्ञा ऐश्वर्यवान् है, शक्रका अर्थ समर्थ है और पुरन्दरका
अर्थ नगरका दारण करनेवाला है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए । अथवा जो जहाँ अभिरूढ
है वह वहाँ ‘सम्’ अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ होनेके कारण समभिरूढ नय कहलाता है ।
यथा—आप कहाँ रहते हैं ? अपनेमें, क्योंकि अन्य वस्तुकी अन्य वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती ।
यदि अन्यकी अन्यमें वृत्ति होती है ऐसा माना जाय तो ज्ञानादिककी और रूपादिककी आकाशमें
वृत्ति होने लगे ।

§ 248. जो वस्तु जिस पर्यायको प्राप्त हुई है उसीरूप निश्चय करानेवाले नयको एवंभूत
नय कहते हैं । आशय यह है कि जिस शब्दका जो वाच्य है उसरूप क्रियाके परिणमनके समय ही

1. तत्त्वं मीमांसा—आ., दि. 1, दि. 2 । 2. न तु भैष—आ., दि. 1 । 3. —गादिषु वर्त—ता, ना. ।

4. ‘अर्थगत्यर्थः’ शब्दप्रयोगः । अर्थ संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते । तत्रैकेनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य द्वितीयस्य
च तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यम् ‘उक्तार्थानामप्रयोगः’ इति—पा. म. भा. 2।1।1।1 ।

5. यद्यन्यस्यान्यत्र आ. ।

गौर्न स्थितो न शयित इति । अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति । यथेन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मेवेन्द्रोऽग्निश्चेति ।

§ 249. उक्ता नैगमादयो नयाः । उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेर्षां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च । एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्तिविभिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते । त एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः ।

§ 250. 'तन्त्वादय इवेति विषय उपन्यासः । तन्त्वादयो निरपेक्षा अपि कांचिदर्थमात्रां जनयन्ति । भवति हि कश्चित्प्रत्येकं ^१तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः । एकश्च बल्वजो बन्धने समर्थः । इमे पुनर्नया निरपेक्षाः सन्तो न कांचिदपि सम्यग्दर्शनमात्रां प्रादुर्भावयन्तीति ? नैष दोषः अभिहिता नवबोध्यात् । अभिहितमर्थमनवबुध्य परेणैवमुपालभ्यते । एतद्वत्, निरपेक्षेषु तन्त्वादिवु पटादिकार्यं नास्तीति । यत्तु तेनोपदर्शितं न तत्पटादिकार्यम् । किं तर्हि ? केवलं तन्त्वादिकार्यम् ^२ । तन्त्वादिकार्यमपि तन्त्वाद्यवयवेषु निरपेक्षेषु नास्त्येव इत्यस्मत्पक्षसिद्धिरेव । अथ तन्त्वादिषु पटादिकार्यं

उक्त शब्दका प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयमें नहीं । जभी आज्ञा ऐश्वर्यवाला हो तभी इन्द्र है, अभिषेक करनेवाला नहीं और न पूजा करनेवाला ही । जब गमन करती हो तभी गाय है, बैठी हुई नहीं और न सोती हुई ही । अथवा जिसरूपसे अर्थात् जिस ज्ञानसे आत्मा परिणत हो उसी-रूपसे उसका निश्चय करनेवाला नय एवंभूत नय है । यथा— इन्द्ररूप ज्ञानसे परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञानसे परिणत आत्मा अग्नि है ।

§ 249. ये नैगमादिक नय कहे । उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले होनेके कारण इनका यह क्रम कहा है । पूर्व-पूर्व नय आगे-आगेके नयका हेतु है, इसलिए भी यह क्रम कहा है । इस प्रकार ये नय पूर्व-पूर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषयवाले हैं । द्रव्यकी अनन्त शक्ति है, इसलिए प्रत्येक शक्तिकी अपेक्षा भेदको प्राप्त होकर ये अनेक विकल्पवाले हो जाते हैं । ये सब नय गौण मुख्यरूपसे एक दूसरेकी अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शनके हेतु हैं । जिस प्रकार पुरुषकी अर्थक्रिया और साधनोंकी सामर्थ्यवश यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदिक पट आदिक संज्ञाको प्राप्त होते हैं और स्वतन्त्र रहनेपर कार्यकारी नहीं होते उसी प्रकार ये नय समझने चाहिए ।

§ 250. शंका—प्रकृतमें 'तन्त्वादय इव' विषय दृष्टान्त है; क्योंकि तन्तु आदिक निरपेक्ष रहकर भी किसी न-किसी कार्यको जन्म देते ही हैं । देखते हैं कि कोई एक तन्तु त्वचाकी रक्षा करनेमें समर्थ है और एक बल्कल किसी वस्तुको बांधनेमें समर्थ है । किन्तु ये नय निरपेक्ष रहते हुए थोड़ा भी सम्यग्दर्शनरूप कार्यको नहीं पैदा कर सकते हैं ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो कुछ कहा गया है उसे समझे नहीं । कहे गये अर्थको समझे बिना दूसरेने यह उपाजम्भ दिया है । हमने यह कहा है कि निरपेक्ष तन्तु आदिमें पटादि कार्य नहीं पाया जाता । किन्तु शंकाकारने जिसका निर्देश किया है वह पटादिका कार्य नहीं है । शंका—तो वह क्या है ? समाधान—केवल तन्तु आदिका कार्य है । तन्तु आदिका कार्य भी सर्वथा निरपेक्ष तन्तु आदिके

1. तन्त्वादिविषय विषय—आ., दि. 1, दि. 2, ता. ना । 2. 'एकस्तन्तुस्त्वक्त्राणेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च कम्बलः समर्थः' × × एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च रज्जु समर्थः भवति । विषय उपन्यासः । भवति हि तत्र या च यावती चार्थमात्रा । भवति हि कश्चित्प्रत्येकस्तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः । × × एकश्च बल्वजो बन्धने समर्थः ।' पा. म. भा. 1।2।2।45। 3. कार्यम् । तर्हि तन्त्वा—ता., ता. । 4. न्यायस्य । ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम् । ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम् ॥ इति प्रतिषेधं पाठः ।

शक्त्यपेक्षया अस्तौत्युच्यते । नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात्सम्यग्दर्शनहेतु-
स्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य⁴ ।

इति तत्त्वार्थवृत्ती सर्वार्थसिद्धिसंज्ञायां प्रथमोऽध्यायः ।

अवयवोंमें नहीं पाया जाता, इसलिए इससे हमारे पक्षका ही समर्थन होता है । यदि यह कहा जाय कि तन्तु आदिमें पटादि कार्य शक्तिकी अपेक्षा है ही तो यह बात बुद्धि और अभिधान—शब्दरूप निरपेक्ष नयोंके विषयमें भी जानना चाहिए । उनमें भी ऐसी शक्ति पायी जाती है जिससे वे कारणवश सम्यग्दर्शनके हेतुरूपसे परिणमन करने में समर्थ हैं, इसलिए दृष्टान्त का दार्ष्टान्तसे साम्य ही है ।

विशेषार्थ—प्रमाणके भेद-प्रभेदोंका कथन करनेके बाद यहाँ नयोंका निर्देश किया गया है । नय श्रुतज्ञानका एक भेद है यह पहले ही बतला आये हैं । यहाँ आलम्बनकी प्रधानतासे उसके सात भेद किये गये हैं । मुख्यतः आलम्बनको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, उपचार, अर्थ और शब्द । पहला नैगमनय उपचारनय होकर भी अर्थनय है । संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थनय हैं और शेष तीन शब्दनय हैं । आशय यह है कि नैगम नयकी प्रवृत्ति उपचारकी प्रधानतासे होती है, इसलिए इसे मुख्यता से उपचार नय कहा है । वैसे तो इसकी परिगणना अर्थनयमें ही की गयी है । संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रकी प्रवृत्ति अर्थकी प्रधानतासे होती है, इसलिए इन्हें अर्थनय कहा है और शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत नयकी प्रवृत्ति शब्दकी प्रधानतासे होती है, इसलिए इन्हें शब्द नय कहा है । जैसा कि हमने संकेत किया है कि नैगमनयका समावेश अर्थनयोंमें किया जाता है, किन्तु शेष अर्थनयोंसे नैगमनयको अर्थनय माननेमें मौलिक भेद है । बात यह है कि उपचारकी प्रधानता से वस्तुको स्वीकार करना यह नैगमनयका काम है, शेष अर्थनयोंका नहीं, इसलिए इसे उपचार नय कहा है । शेष अर्थनय तो भेदाभेद या सामान्य विशेषकी प्रधानतासे सीधा ही वस्तुको विषय करते हैं वहाँ उपचारको विशेष स्थान नहीं, इसलिए हमने अर्थनयोंसे नैगमनयको पृथक् बतलाया है । माना कि नैगमनय भी गौण मुख्यभावसे भेदाभेद या सामान्यविशेषको विषय करता है पर इन सबकी जड़में उपचार काम करता है इसलिए नैगमनय मुख्यतः उपचारनय ही है । सिद्धसेन दिवाकरने नैगमनयको नय ही नहीं माना है इसका कारण यह उपचार ही है । उनके मतसे सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमें उपचारको कहाँ तक स्थान दिया जाय यह एक प्रश्न तो है ही । वस्तुस्पर्शी विकल्प और वस्तुमें आरोपित विकल्प इनमें बड़ा अन्तर है । वस्तुस्पर्शी विकल्पोंको सम्यग्ज्ञानकी कोटिमें स्थान देना तो अनिवार्य है, किन्तु यदि वस्तुमें आरोपित विकल्पोंको सम्यग्ज्ञानकी कोटिमें स्थान दिया जाय तो अनवस्थाकी सीमा ही न रहे यह एक भय था, सम्भवतः इसी कारण आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने नय प्रकरणमें नैगमका नामोल्लेख नहीं किया है । किन्तु ऐसा उपचार, जो परम्परासे ही सही मूल कार्यका ज्ञान करानेमें सहायक हो और जिससे अवास्तविक भ्रम फैलनेका भय न हो या जो वस्तुका विपरीतरूपसे बोध न कराकर वस्तुके गूढ़तम तत्त्वकी ओर इशारा करता हो, ग्राह्य है ऐसा मानकर उपचार प्रधान नैगमनयको नयप्रकरणमें स्थान दिया गया है । इससे विचार करने की परिधि बड़ जाती है और सम्यग्ज्ञानके जनक समग्र विचारोंका वर्गीकरण करनेमें सहायता मिलती है । यदि नैगमनयकी श्रेणीमें जो विचार आते हैं उन्हें मिथ्या मानकर सर्वथा छोड़ दिया जाता है—सम्यग्ज्ञानकी श्रेणीमें स्थान नहीं दिया जाता है तो अभेदकी ओर ले जानेवाले जितने विचार हैं उनकी भी यही गति होनी चाहिए । यदि उनसे वस्तुके स्वरूपका विश्लेषण करनेमें सहायता मिलती है, इसलिए उनकी नयकी श्रेणीमें परिगणना की जाती है तो यही बात नैगमनयके ऊपर भी लागू करनी चाहिए । इन नयोंका सामान्य और विशेष स्वरूप टीकामें दिया ही

है, इसलिए यहाँ इस विषयमें विशेष नहीं लिखा गया है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्याय-द्वारा वस्तुको ग्रहण करता है और शब्दादिक नय शब्दों-द्वारा वर्तमान पर्यायमुखेन वस्तुको ग्रहण करते हैं, इसलिए इन नयोंका विषय द्वित्व नहीं हो सकता। यही कारण है कि शब्दनयके विषयका निरूपण करते समय विशेषण-विशेषभाव आदिसे एक साथ प्रयुक्त किये गये एकवचनान्त और द्विवचनान्त आदि शब्दके वाच्य आदि इसके अविषय बतलाये हैं और समभि ठुके विषयका निरूपण करते समय एक शब्दके अनेक अर्थ या एक अर्थमें अनेक शब्दोंका प्रयोग करना इसका अविषय बतलाया है, क्योंकि एकवचनान्त शब्दका वाच्य अन्यार्थ है और द्विवचनान्त शब्दका वाच्य अन्यार्थ है, इसलिए शब्द नय इनको एक वाच्य रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार गो शब्दका गाय अर्थ अन्यार्थ है और वाणीरूप अर्थ अन्यार्थ है, इसलिए समभिरूढ नय एक शब्दद्वारा इन अर्थोंको ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार सभी नयोंके विषयको समझना चाहिए। नय अंश-द्वारा वस्तुको स्पर्श करनेवाला एक विकल्प है। प्रमाण ज्ञानके समान यह समग्र वस्तुको स्पर्श नहीं करता, इसलिए ही निरपेक्ष नयको मिथ्या और सापेक्ष नयको सम्यक् कहा गया है। इस विषयका विशेष खुलासा और सब नयोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता का विचार मूलमें किया ही है। इस प्रकार नय सात हैं और वे द्रव्याधिक और पर्यायाधिक इन दो भागोंमें बटे हुए हैं यह निश्चित होता है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामावली तत्त्वार्थवृत्तिमें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

§ 251. आह, सम्यग्दर्शनस्य विषयभावेनोपदिष्टेषु जीवादिष्वादावुपन्यस्तस्य जीवस्य किं स्वतत्त्वमित्युच्यते—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

§ 252. आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः । यथा कतकादिद्रव्य-सम्बन्धादम्भसि पंकस्य उपशमः । क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः । यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाज-नान्तरसंक्रान्ते पंकस्यात्यन्ताभावः । उभयात्मको मिश्रः । यथा तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्य-सम्बन्धात्पंकस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिः । द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः । द्रव्यात्मलाभ-मात्रहेतुकः परिणामः । उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः । एवं क्षायिकः क्षायोपशमिकः औदयिकः पारिणामिकश्च । त एते पञ्च भावा असाधारणा जीवस्य स्वतत्त्वमित्युच्यन्ते ।

§ 253. सम्यग्दर्शनस्य प्रकृतत्वात्तस्य त्रिषु विकल्पेषु औपशमिकमादौ लभ्यत इति तस्यादौ ग्रहणं क्रियते । तदनन्तरं क्षायिकग्रहणम् ; तस्य प्रतियोगित्वात् संसार्यपेक्षया द्रव्यतत्त्वतोऽसंख्येय-गुणत्वाच्च । तत उत्तरं मिश्रग्रहणम् ; तदुभयात्मकत्वात्ततोऽसंख्येयगुणत्वाच्च । तेषां सर्वेषामनन्त-गुणत्वाद् औदयिकपारिणामिकग्रहणमन्ते क्रियते । अत्र द्वन्द्वनिर्देशः कर्तव्यः— औपशमिकक्षायिक-

§ 251. सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे जीवादि पदार्थोंका कथन किया । उनके आदिमें जो जीव पदार्थ आया है उसका स्वतत्त्व क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्त्व हैं ॥१॥

§ 252. जैसे कतक आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलमें कीचड़का उपशम हो जाता है उसी प्रकार आत्मामें कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे प्रकट न होना उपशम है । जैसे उसी जलको दूसरे साफ बर्तनमें बदल देनेपर कीचड़का अत्यन्त अभाव हो जाता है वैसे ही कर्मोंका आत्मामें सर्वथा दूर हो जाना क्षय है । जिस प्रकार उसी जलमें कतकादि द्रव्यके सम्बन्धसे कुछ कीचड़का अभाव हो जाता है और कुछ बना रहता है उसी प्रकार उभयरूप भाव मिश्र है । द्रव्यादि निमित्तके वशसे कर्मोंके फलका प्राप्त होना उदय है । और जिनके होनेमें द्रव्यका स्वरूपलाभ-मात्र कारण है वह परिणाम है । जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण उपशम है वह औपश-मिक भाव है । इसी प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावोंकी व्युत्पत्ति कहनी चाहिए । ये पाँच भाव असाधारण हैं, इसलिए जीवके स्वतत्त्व कहलाते हैं ।

§ 253. सम्यग्दर्शनका प्रकरण होनेसे उसके तीन भेदोंमेंसे सर्वप्रथम औपशमिक सम्य-ग्दर्शन होता है अतएव औपशमिक भावको आदिमें ग्रहण किया है । क्षायिक भाव औपशमिक भावका प्रतियोगी है और संसारी जीवोंकी अपेक्षा औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायिक सम्य-ग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं अतः औपशमिक भावके पश्चात् क्षायिक भावको ग्रहण किया है । मिश्र-भाव इन दोनोंरूप होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक और क्षायिक सम्य-ग्दृष्टियोंसे असंख्यातगुणे होते हैं, अतः तत्पश्चात् मिश्रभावको ग्रहण किया है । इन सबसे अनन्तगुणे होनेके कारण इन सबके अन्तमें औदयिक और पारिणामिक भावोंको रखा है । शंका—

मिश्रौदयिकपारिणामिका इति । तथा सति द्विः 'च'शब्दो न कर्तव्यो भवति । नैवं शङ्क्यम् ; अन्यगुणापेक्षया इति प्रतीयेत । वाक्ये पुनः सति 'च'शब्देन प्रकृतोभयानुकर्षः कृतो भवति । तर्हि क्षायोपशमिकग्रहणमेव कर्तव्यमिति चेत् । न ; गौरवात् । मिश्रग्रहणं मध्ये क्रियते उभयापेक्षार्थम् । भव्यस्य औपशमिकक्षायिकौ भावौ । मिश्रः पुनरभव्यस्यापि भवति, औदयिकपारिणामिकाभ्यां सह भव्यस्यापीति । भावापेक्षया तल्लिङ्गसंख्याप्रसङ्गः स्वतत्त्वस्येति चेत् ? न ; उपार्त्तलिंग-संख्यात्वात्¹ । तद्भावस्तत्त्वम् । स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वमिति ।

§ 254. अत्राह तस्यैकस्यात्मनो ये भावा औपशमिकादयस्ते किं भेदवन्त उताभेदा इति । अत्रोच्यते, भेदवन्तः । यद्येवं, भेदा उच्यन्तामित्यत आह—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥21॥

§ 255. द्वयादीनां संख्याशब्दानां कृतद्वन्द्वानां भेदशब्देन सह स्वपदार्थेऽन्यपदार्थे वा वृत्ति-

यहाँ 'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' इस प्रकार द्वन्द्व समास करना चाहिए । ऐसा करनेसे सूत्रमें दो 'च' शब्द नहीं रखने पड़ते हैं । समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सूत्रमें यदि 'च' शब्द न रखकर द्वन्द्व समास करते तो मिश्रकी प्रतीति अन्य गुणकी अपेक्षा होती । किन्तु वाक्यमें 'च' शब्दके रहनेपर उससे प्रकरणमें आये हुए औपशमिक और क्षायिक भावका अनुकर्षण हो जाता है । शंका—तो फिर सूत्रमें 'क्षायोपशमिक' पदका ही ग्रहण करना चाहिए ? समाधान—नहीं, क्योंकि क्षायोपशमिक पदके ग्रहण करनेमें गौरव है ; अतः इस दोष-को दूर करनेके लिए क्षायोपशमिक पदका ग्रहण न करके मिश्र पद रखा है । दोनोंकी अपेक्षासे मिश्र पद मध्यमें रखा है । औपशमिक और क्षायिकभाव भव्यके ही होते हैं । किन्तु मिश्रभाव अभव्यके भी होता है । तथा औदयिक और पारिणामिक भावोंके साथ भव्यके भी होता है । शंका—भावोंके लिंग और संख्या के समान स्वतत्त्वपदका वही लिंग और संख्या प्राप्त होती है । समाधान—नहीं, क्योंकि जिस पदको जो लिंग और संख्या प्राप्त हो गयी है उसका वही लिंग और संख्या बनी रहती है । स्वतत्त्वका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम्—जिस वस्तुका जो भाव है वह तत्त्व है और स्व तत्त्व स्वतत्त्व है ।

विशेषार्थ—पाँच भावोंमें प्रारम्भके चार भाव निमित्तकी प्रधानतासे कहे गये हैं और अन्तिम भाव योग्यताकी प्रधानतासे । जगमें जितने कार्य होते हैं उनका विभागीकरण इसी हिसाबसे किया जाता है । कहीं निमित्तको प्रमुखता दी जाती है और कहीं योग्यताको । पर इससे अन्य वस्तुका कर्तृत्व अन्यमें मानना उचित नहीं । ऐसे विभागीकरणके दिखलानेका इतना ही प्रयोजन है कि जहाँ जिस कार्यका जो सुनिश्चित निमित्त हो उसका परिज्ञान हो जावे । यों तो कार्य अपनी योग्यतासे होता है, किन्तु जिसका जिसके होने के साथ सुनिश्चित अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह उसका सुनिश्चित निमित्त कहा जाता है । इस हिसाबसे विचार करनेपर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक ये चार नैमित्तिक भाव कहलाते हैं ।

§ 254. उस एक आत्माके जो औपशमिक आदि भाव हैं, उनके कोई भेद हैं या नहीं ? भेद हैं । यदि ऐसा है तो इनके भेदोंका कथन करना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त पाँच भावोंके क्रमसे दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ॥21॥

§ 255. संख्यावाची दो आदि शब्दोंका द्वन्द्व समास करके पश्चात् उनका भेद शब्दके

1. संख्यात्वात्—मु. । 2. त्रयः । त एक भेदाः—मु. ।

बोधितव्या । द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः² । ते च ते भेदाश्च, त एव भेदा येषामिति वा वृत्तिद्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति । यदा स्वपदार्थे वृत्तिस्तदा औपशमिकादीनां¹ भावानां द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा इत्यभिसंबन्धः क्रियते; अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति । यदान्यपदार्थे वृत्तिस्तदा निदिष्टाविभक्त्यन्ता एवाभिसंबन्ध्यन्ते, औपशमिकादयो भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा इति । 'यथाक्रम'वचनं यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थम् । औपशमिको द्विभेदः । क्षायिको नवभेदः । मिश्रोऽष्टादशभेदः । औदायिक एकविंशतिभेदः । पारिणामिकस्त्रिभेद इति ।

§ 256. यद्येवमौपशमिकस्य कौ द्वौ भेदावित्यत आह—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥3॥

§ 257. व्याख्यातलक्षणे सम्यक्त्वचारित्रे । औपशमिकत्वं कथमिति चेत् ? उच्यते—चारित्रमोहो द्विविधः कषायवेदनीयो नोकषायवेदनीयश्चेति । तत्र कषायवेदनीयस्य भेदा अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः । दर्शनमोहस्य त्रयो भेदाः सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वमिति । आसां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् ।

§ 258. अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः ? काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात् । तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्मविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति । इयमेका काललब्धिः । अपरा

साथ स्वपदार्थमें या अन्यपदार्थमें समास जानना चाहिए । स्वपदार्थ प्रधान समास यथा—द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च इति द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः, ते एव भेदाः इति द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः । अन्यपदार्थप्रधान समास यथा—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो भेदा येषां ते द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः । जब स्वपदार्थमें समास करते हैं तब औपशमिक आदि भावोंके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेते हैं । यद्यपि पूर्व सूत्रमें औपशमिक आदि पदकी षष्ठी विभक्ति नहीं है तो भी अर्थवश विभक्ति बदल जाती है । और जब अन्य पदार्थोंमें समास करते हैं तब विभक्ति बदलनेका कोई कारण नहीं रहता । सूत्रमें इनकी विभक्तिका जिस प्रकार निर्देश किया है तदनुसार सम्बन्ध हो जाता है । सूत्रमें 'यथाक्रम' वचन यथासंख्याके ज्ञान करानेके लिए दिया है । यथा—औपशमिक भावोंके दो भेद हैं, क्षायिक-के नौ भेद हैं, मिश्रके अठारह भेद हैं, औदायिकके इक्कीस भेद हैं और पारिणामिकके तीन भेद हैं ।

§ 256. यदि ऐसा है तो औपशमिकके दो भेद कौन-से हैं ? इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औपशमिक भावके दो भेद हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ॥3॥

§ 257. सम्यक्त्व और चारित्रके लक्षणका व्याख्यान पहले कर आये हैं । शंका—इनके औपशमिकपत्ता किस कारणसे है ? समाधान—चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय । इनमें-से कषायवेदनीयके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद और दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद—इन सातके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है ।

§ 258. शंका—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोंके उदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए इनका उपशम कैसे होता है ? समाधान—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है । अब यहाँ काललब्धिकी बतलाते हैं—कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन नाम-

1. —दीनां द्वि—मु.

कर्मस्थितिका काललब्धिः । उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति । क्व तर्हि भवति ? अन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्ध-परिणामवशात्सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति । अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया । भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तिकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति । 'आदि'शब्देन जातिस्मरणादिः परिगृह्यते ।

§ 259. कृत्स्नस्य मोहनीयस्योपशमादौपशमिकं चारित्रम् । तत्र सम्यक्त्वस्यादौ वचनं ; तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।

§ 260. यः क्षायिको भावो नवविध उद्दिष्टस्तस्य भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यारि च ॥4॥

§ 261. 'च'शब्दः सम्यक्त्वचारित्रानुकर्षणार्थः । ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षयात्केवलज्ञानं

के कालके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके योग्य होता है, इससे अधिक कालके शेष रहनेपर नहीं होता यह एक काललब्धि है । दूसरी काललब्धिका सम्बन्ध कर्म स्थितिसे है । उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मोंके शेष रहनेपर या जघन्य स्थितिवाले कर्मोंके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वका लाभ नहीं होता । शंका—तो फिर किस अवस्थामें होता है ? समाधान—जब बँधनेवाले कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम पड़ती है और विशुद्ध परिणामोंके वशसे सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार सागरोपम कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके योग्य होता है । एक काललब्धि भवकी अपेक्षा होती है—जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तिक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है । 'आदि' शब्दसे जातिस्मरण आदिका ग्रहण करना चाहिए ।

§ 259. समस्त मोहनीय कर्मके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है । इनमेंसे 'सम्यक्त्व' पदको आदिमें रखा है, क्योंकि चारित्र सम्यक्त्व पूर्वक होता है ।

विशेषार्थ—उपशम दो प्रकारका है—करणोपशम और अकरणोपशम । कर्मोंका अन्तरकरण होकर जो उपशम होता है वह करणोपशम कहलाता है । ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो का ही होता है, इसलिए उपशम भावके दो ही भेद बतलाये हैं । किन्तु इतनी विशेषता है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अन्तरकरण उपशम नहीं होता, इसलिए जहाँ भी इसके उपशमका विधान किया गया है वहाँ इसका विशुद्ध विशेषसे पाया गया अनुदयोपशम ही लेना चाहिए । औपशमिक सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहनीयका तो अन्तरकरण उपशम होता है व अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अनुदयरूप उपशम—यह उक्त कथनका भाव है । प्रकृतमें जिस जीवके औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उसकी योग्यताका निर्देश करते हुए ऐसी चार योग्यताएँ बतलायी हैं । विशेष इस प्रकार है—पहली योग्यता अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण कालकी है । जिस जीवके संसारमें रहनेका इतना काल शेष रहा है उसे ही सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है । पर इतने कालके शेष रहनेपर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनी ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है । इसके पहले सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती इतना सुनिश्चित है ।

§ 260. जो क्षायिकभाव नौ प्रकारका कहा है उसके भेदोंके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्षायिक भावके नौ भेद हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ॥4॥

§ 261. सूत्रमें 'च' शब्द सम्यक्त्व और चारित्रके ग्रहण करनेके लिए आया है । ज्ञाना-

क्षायिकं तथा केवलदर्शनम् । दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयदानन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभय-
दानम् । लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलितानां यतः शरीरबला-
धानहेतवोऽन्यमनुज्ञासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स-
क्षायिको लाभः । कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य^१ तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिकः ।
यतः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । निरवशेषस्थोपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनन्त
उपभोगः क्षायिकः । यतः सिंहासनचामरच्छत्रयादयो विभूतयः । वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तक्षया-
दाविर्भूतमनन्तवीर्यं क्षायिकम् । पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनामत्यन्तक्षयात्क्षायिकं सम्यक्त्वम् ।
चारित्र्यमपि तथा । यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः ? नैष दोषः ;
शरीरनामतीर्थकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् । तेषां तदभावे तदप्रसंगः । कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु
वृत्तिः ? ^२परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः । केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत् ।

वरण कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक केवलज्ञान होता है । इसी प्रकार केवलदर्शन भी होता है ।
दानान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोंके समुदायका उपकार करनेवाला क्षायिक
अभयदान होता है । समस्त लाभान्तराय कर्मके क्षयके कवलाहार क्रियासे रहित केवलियोंके
क्षायिक लाभ होता है, जिससे उनके शरीरको बल प्रदान करनेमें कारणभूत, दूसरे मनुष्योंको
असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होनेवाले, परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय
सम्बन्धको प्राप्त होते हैं । समस्त भोगान्तराय कर्मके क्षयसे अतिशयवाले क्षायिक अनन्त भोगका
प्रादुर्भाव होता है । जिससे कुसुमवृष्टि आदि अतिशय विशेष होते हैं । समस्त उपभोगान्तरायके
नष्ट हो जानेसे अनन्त क्षायिक उपभोग होता है । जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि
विभूतियाँ होती हैं । वीर्यान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक अनन्तवीर्यं प्रकट होता है ।
पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके अत्यन्त विनाशसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है । इसी प्रकार क्षायिक
चारित्र्यका स्वरूप समझना चाहिए । शंका—यदि क्षायिक दान आदि भावोंके निमित्तसे अभय-
दान आदि कार्य होते हैं तो सिद्धोंमें भी उनका प्रसंग प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष
नहीं है, क्योंकि इन अभयदान आदिके होनेमें शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्मके उदयकी
अपेक्षा रहती है । परन्तु सिद्धोंके शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्म नहीं होते, अतः उनके
अभयदान आदि प्राप्त नहीं होते । शंका—तो सिद्धोंके क्षायिक दान आदि भावोंका सद्भाव कैसे
माना जाय ? समाधान—जिस प्रकार सिद्धोंके केवलज्ञान रूपसे अनन्तवीर्यका सद्भाव माना
गया है उसी प्रकार परमानन्द और अव्याबाध रूपसे ही उनका सिद्धोंके सद्भाव है ।

विशेषार्थः—घातिकर्मोंके चार भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्त-
राय । इनमेंसे ज्ञानावरणके अभावसे क्षायिक ज्ञान, दर्शनावरणके अभावसे क्षायिक दर्शन, मोह-
नीयके अभावसे क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र्य तथा अन्तरायके अभावसे क्षायिक
दानादि पाँच लब्धियाँ होती हैं । इसीसे क्षायिक भावके नौ भेद किये हैं । यद्यपि अघाति कर्मोंके
अभावसे जीवके क्षायिक अगुलघु आदि गुण प्रकट होते हैं पर वे अनुजीवी न होनेसे उनका
यहाँ ग्रहण नहीं किया है । प्रश्न यह है कि टीकामें जो अभयदान आदिको शरीर नामकर्म और
तीर्थकर नामकर्मकी अपेक्षा रखनेवाले क्षायिक दान आदिके कार्य बतलाये हैं सो ऐसा बतलाना
कहाँ तक उचित है ? बात यह है कि ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि तीर्थकरके गर्भमें
आनेपर छह महीना पहलेसे भक्तिवश देव आकर, जिस नगरीमें तीर्थकर जन्म लेते हैं वहाँ रत्न

1. —यस्यात्यन्ताभा—मु । 2. —मानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपे—मु. ।—मानन्ताव्याबाधसुखरूप—आ., दि. 1,
दि. 2 ।

§ 262. य उक्तः क्षायोपशमिको भावोऽष्टादशविकल्पस्तद्भेदनिरूपणार्थमाह—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥5॥

§ 263. चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रिपञ्च¹ । ते भेदाः यासां तादृचतुस्त्रिपञ्चभेदाः । यथाक्रममित्यनुवर्तते । तेनाभिसंबन्धाच्चतुरादिभिर्ज्ञानादीन्यभिसंबध्यन्ते । चत्वारि ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि, त्रीणि दर्शनानि, पञ्च लब्धय इति । सर्वघातिस्पृष्टकानामुदय-

वर्षा करते हैं । छप्पन कुमारिकाएँ आकर माताकी सेवा करती हैं, गर्भशोधन करती हैं, रक्षा करती हैं । तीर्थकरके गर्भमें आनेपर देव-देवियाँ उत्सव मनाते हैं । जन्म, तप, केवल और निर्वाणके समय भी ऐसा ही करते हैं । केवलज्ञान होनेके बाद समवसरणकी रचना करते हैं, कुसुमवृष्टि करते हैं आदि । इसलिए मुख्यतः ये अभयदानादि देवादिकोंकी भक्ति और धर्मानुरागके कार्य हैं, शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्मकी अपेक्षा रखनवाले क्षायिक दान आदिके नहीं । फिर भी इन अभयदानादिको उपचारसे इनका कार्य कहा है । ऐसा नहीं माननेपर ये तीन दोष आते हैं—1. निर्वाण कल्याणकके समय शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्म नहीं रहता, इसलिए वह नहीं बन सकेगा । 2. गर्भमें आनेके पहले जो रत्नवर्षा आदि कार्य होते हैं उन्हें अकारण मानना पड़ेगा । 3. गर्भ, जन्म और तप कल्याणकके समय न तो क्षायिक दान आदि ही पाये जाते हैं और न तीर्थकर प्रकृतिका उदय ही रहता है, इसलिए इन कारणोंके अभावसे इन्हें भी अकारण मानना पड़ेगा । इन सब दोषोंसे बचनेका एक ही उपाय है कि पाँच कल्याणकोंको और समवसरण आदि बाह्य विभूतिको देवादिककी भक्ति और धर्मानुरागका कार्य मान लिया जाय । जिस प्रकार जिन-प्रतिमाका अभिषेक आदि महोत्सव भी इसीके कार्य हैं इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए । इसपर यह प्रश्न होता है कि उक्त कार्य भले ही देवादिककी भक्ति और धर्मानुराग वश होते हों पर जन्मकल्याणकके समय जो घटना आदि कार्य विशेष होते हैं उनका कारण तो धर्मानुराग और भक्ति नहीं है । यदि उनका कारण पुण्यातिशय माना जाता है तो शेष कार्योका कारण पुण्यातिशय माननेमें क्या आपत्ति है ? समाधान यह है कि जिस प्रकार एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीमें चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र आदिके होनेका नियम है—यह कर्म विशेषका कार्य नहीं । उस-उस कालके साथ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस कालमें इतने तीर्थकर, इतने चक्रवर्ती आदि ही होंगे न्यूनाधिक नहीं, इसी प्रकार तीर्थकरके जन्मकालके साथ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि इस समय अमुक स्थानके अमुक प्रकारके बाजे बजेंगे, इसलिए इसे कर्म विशेषका कार्य मानना उचित नहीं । कर्मकी अपनी मर्यादाएँ हैं । उन तक ही वह सीमित है । फिर भी मूलमें जिस स्थितिके रहते हुए ये कार्य होते हैं उस स्थितिको ध्यानमें रखकर उपचारसे उस स्थितिको इनका कारण कहा है । शेष कथन सुगम है ।

§ 262. जो अठारह प्रकारका क्षायोपशमिक भाव कहा है उसके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद हैं—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ॥5॥

§ 263. जिनके चार, तीन, तीन और पाँच भेद हैं वे चार, तीन, तीन और पाँच भेदवाले कहलाते हैं । इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, जिससे चार आदि पदोंके साथ ज्ञान आदि पदोंका क्रमसे सम्बन्ध होता है । यथा—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन और पाँच

1, पञ्च भेदा यासां—मु. ।

क्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति । तत्र ज्ञानादीनां वृत्तिः स्वावरणान्तरायक्षयोपशमाद् व्याख्यातव्या । 'सम्यक्त्व'ग्रहणेन वेदकसम्यक्त्वं गृह्यते । अनन्तानुबन्धकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्बन्धम् । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्द्धकोदये नो-
कषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम् । अनन्तानु-
बन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदक्षयात्सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये संज्वलनकषायस्य देश-
घातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिकः संयमा-
संयम इत्याख्यायते ।

लब्धिर्या । वर्तमान कालमें सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी कालकी अपेक्षा उन्हींका सदवस्थारूप उपशम होनेसे देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय रहते हुए क्षायोप-
शमिक भाव होता है । इन पूर्वोक्त भावोंमेंसे ज्ञान आदि भाव अपने-अपने आवरण और अन्त-
राय कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं ऐसा व्याख्यान यहाँ कर लेना चाहिए । सूत्रमें आये हुए सम्य-
क्त्वपदसे वेदक सम्यक्त्व लेना चाहिए । तात्पर्य यह है कि चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व
और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे देशघाती
स्पर्द्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व
है । अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानान्तराय और प्रत्याख्यानान्तराय इन बारह कषायोंके उदयाभावी
क्षय होनेसे और इन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा चार संज्वलनोंमेंसे किसी एक देश-
घाती प्रकृतिके उदय होनेपर और नौ नोकषायोंका यथासम्भव उदय होनेपर जो संसारसे पूरी
निवृत्तिरूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है । अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानान्-
तराय इन आठ कषायोंके उदयाभावी क्षय होनेसे और सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्या-
ख्यानान्तराय कषायके और संज्वलन कषायके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदय होनेपर तथा नौ नोकषायों-
के यथासम्भव उदय होनेपर जो विरताविरतरूप परिणाम होता है वह संयमासंयम कहलाता है ।

विशेषार्थः—वर्तमान समयमें सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय, आगामी कालकी
अपेक्षा उन्हींका सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्द्धकोंका उदय यह क्षयोपशमका लक्षण
है । यह तो सुनिश्चित है कि अधिकतर देशघाति कर्म ऐसे होते हैं जिनमें देशघाति और सर्व-
घाति दोनों प्रकारके स्पर्द्धक पाये जाते हैं । केवल नौ नोकषाय और सम्यक् प्रकृति ये दस
प्रकृतियाँ इसकी अपवाद हैं । इनमें मात्र देशघाति स्पर्द्धक ही पाये जाते हैं, अतः नौ नोकषायोंके
सिवा शेष सब देशघाति कर्मोंका क्षयोपशम सम्भव है, क्योंकि पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार क्षयो-
पशममें दोनों प्रकारकी शक्तिवाले कर्म लगते हैं । सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्वसे
मिलकर क्षायोपशमिक भावको जन्म देनेमें निमित्त होती है, इसलिए क्षायोपशमिक भावके कुल
अठारह भेद ही घटित होते हैं । उदाहरणार्थ—ज्ञानावरणकी देशघाति प्रकृतियाँ चार हैं, अतः
इनके क्षयोपशमसे चार ज्ञान प्रकट होते हैं, पर मिथ्यादृष्टिके तीन अज्ञान और सम्यग्दृष्टिके चार
ज्ञान इस प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञानके कुल भेद सात होते हैं । इसीसे अठारह क्षायोपशमिक
भावोंमें इन सात ज्ञानोंकी परिगणना की जाती है । प्रकृतमें दर्शन तीन और लब्धि पाँच क्षायो-
पशमिक भाव हैं यह स्पष्ट ही है । शेष रहे तीन भाव सो ये वेदक सम्यक्त्व, संयमासंयम और
संयम लिये गये हैं । इन सब भावोंमें देशघाति स्पर्द्धकोंका उदय होता है, इसलिए इन्हें वेदक
भाव भी कहते हैं । जितने भी क्षायोपशमिक भाव होते हैं वे देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे वेदक
भी कहलाते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इसमें सर्वघाति स्पर्द्धकों या सर्वघाति प्रकृतियोंका

§ 264. य एकविंशतिविकल्पौदयिको भावउद्दिष्टस्तस्य भेदसंज्ञासंकीर्तनार्थमिदमुच्यते—
गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्येकैकैकषडभेदाः ॥ 6।

§ २६५. यथाक्रममित्यनुवर्तते, तेनाभिसंबन्धाद् गतिश्चतुर्भेदा, नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्य-
गतिर्देवगतिरिति । तत्र नरकगतिनामकर्मोदयाग्नारको भावो भवतीति नरकगतिरौदयिकी ।
एवमितरत्रापि । कषायश्चतुर्भेदः, क्रोधो मानो माया लोभ इति । तत्र क्रोधनिर्वर्तनस्य कर्मण
उदयात्क्रोधः औदयिकः । एवमितरत्रापि । लिङ्गं त्रिभेदं, स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेद इति । स्त्री-
वेदकर्मण उदयात्स्त्रीवेद औदयिकः । एवमितरत्रापि । मिथ्यादर्शनमेकभेदम् । मिथ्यादर्शनकर्मण
उदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनमौदयिकम् । ज्ञानावरणकर्मण उदयात्पदार्थानवबोधो
भवति तदज्ञानमौदयिकम् । चारित्रमोहस्य सर्वधातिस्पर्द्धकस्योदयादसंयत औदयिकः । कर्मोदय-
सामान्यापेक्षोऽसिद्ध औदयिकः । लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति । जीवभावाधिकाराद्
द्रव्यलेश्या नाधिकृता । भावलेश्या कषायोदयराज्जता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीमुच्यते ।

वर्तमान समयमें अनुदय रहता है, इसलिए इनका उदय कालके एक समय पहले उदयरूप स्पर्धकों
या प्रकृतिमें स्तिवुक संक्रमण हो जाता है । प्रकृतमें इसे ही उदयाभावी क्षय कहते हैं । यहाँ
स्वरूपसे उदय न होना ही क्षय रूपसे विवक्षित है । और आगामी कालमें उदयमें आने योग्य
इन्हीं सर्वधाति स्पर्धकों व प्रकृतियोंका सदैवस्थारूप उपशम रहता है । इसका आशय यह है कि
वे सत्तामें रहते हैं । उदयवलिसे ऊपरके उन निषेकोंकी उदीरणा नहीं होती । मात्र उदयावलिमें
स्तिवुक संक्रमणके द्वारा इनका उदय कालसे एक समय पहले राज्ञातीय देशधाति प्रकृति या
स्पर्धकरूपसे संक्रमण होता रहता है । सर्वधाति अंशका उदय और उदीरणा न होनेसे जीवका
निजभाव प्रकाशमें आता है और देशधाति अंशका उदय रहनेसे उसमें सदीपता आती है यह
इस भावका तात्पर्य है ।

§ 264. अब जो इक्कीस प्रकारका औदयिक भाव कहा है उसके भेदोंका कथन करनेके
लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं—चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन,
एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्याएँ ॥6॥

§ 265. इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' पदकी अनुवृत्ति होती है, क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध
है । गति चार प्रकारकी है—नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति और देवगति । इनमेंसे नरक-
गति नामकर्मके उदयसे नारकभाव होता है, इसलिए नरकगति औदयिक है । इसी प्रकार शेष
तीन गतियोंका भी अर्थ करना चाहिए । कषाय चार प्रकारका है—क्रोध, मान, माया और
लोभ । इनमेंसे क्रोधको पैदा करनेवाले कर्मके उदयसे क्रोध औदयिक होता है । इसी प्रकार शेष
तीन कषायोंको औदयिक जानना चाहिए । लिंग तीन प्रकारका है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुं-
कवेद । स्त्रीवेद कर्मके उदयसे स्त्रीवेद औदयिक होता है । इसी प्रकार शेष दो वेद औदयिक हैं ।
मिथ्यादर्शन एक प्रकारका है । मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धानरूप परिणाम
होता है वह मिथ्यादर्शन है, इसलिए वह औदयिक है । पदार्थोंके नहीं जाननेको अज्ञान कहते हैं ।
चूँकि वह ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है, इसलिए औदयिक है । असंयतभाव चारित्रमोहनीय
कर्मके सर्वधातीस्पर्द्धाओंके उदयसे होता है, इसलिए औदयिक है । असिद्धभाव कर्मोदय सामान्य
की अपेक्षा होता है, इसलिए औदयिक है । लेश्या दो प्रकारकी है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या ।
यहाँ जीवके भावोंका अधिकार होनेसे द्रव्यलेश्या नहीं ली गयी है । चूँकि भावलेश्या कषायके
संज्ञाकीर्त—आ., दि. 1, दि. 2 ।

सा षड्विधा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या चेति ।

§ 266. तनु च उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलानि च शुक्ललेश्याऽस्तीत्यागमः । तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकत्वं नोपपद्यते । नैष दोषः; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता संवेत्युपचारादौदयिकोत्पद्यते । तदभावादयोगकेवल्यलेश्य इति निश्चीयते ।

§ 267. यः पारिणामिको भावस्त्रिभेद उक्तस्तद्भेदस्वरूपप्रतिपादनार्थमाहुः—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥7॥

§ 268. जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयो भावाः पारिणामिका अन्यद्रव्यासाधारणा आत्मनो वेदितव्याः । कुतः पुनरेषां पारिणामिकत्वम् । कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमानपेक्षित्वात् । जीवत्वं सैन्यमित्यर्थः । सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः । तद्विपरीतोऽभव्यः । त एते उदयसे अनुरजित योगकी प्रवृत्तिरूप है, इसलिए वह औदयिक है ऐसा कहा जाता है । वह छह प्रकारकी है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ।

§ 266. शंका—उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानमें शुक्ललेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु वहाँपर कषायका उदय नहीं है इसलिए औदयिकपणा नहीं बन सकता । समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायोंके उदयसे अनुरजित होती रही वह यह है इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानोंमें भी लेश्याकी औदयिक कहा गया है । किन्तु अयोगकेवलीके योगप्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए वे लेश्या-रहित हैं ऐसा निश्चय होता है ।

विशेषार्थ—कर्मोंकी जातियाँ और उनके अवान्तर भेद अनेक हैं, इसलिए उनके उदयसे होनेवाले भाव भी अनेक हैं, पर यहाँ मुख्य-मुख्य औदयिक भाव ही गिनाये गये हैं । ऐसे भाव इक्कीस होते हैं । प्रथम चार भेद चार गति हैं । ये गति-नामकर्मके उदयसे होते हैं । नामकर्म अघातिकर्म है । गति-नामकर्म उसीका एक भेद है । जो प्रकृतमें अन्य जीवविपाकी अघाति कर्मोंका उपलक्षण है । पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे जीवभाव नहीं होते, अतः उनकी यहाँ परिगणना नहीं की गयी है । घाति कर्मोंमें क्रोधादि चारों कषायोंके उदयसे क्रोधादि चार भाव होते हैं । तीन वेदोंके उदयसे तीन विग होते हैं । तीन वेद उपलक्षण हैं । इनसे हास्य आदि छह भावोंका भी ग्रहण होता है । दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्यादर्शन होता है । दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शनभावोंका इसीमें ग्रहण होता है । ज्ञानावरणके उदयसे अज्ञानभाव होता है, असंयत भाव चारित्रमोहनीयके उदयका कार्य है और असिद्ध भाव सब कर्मोंके उदयका कार्य है । रहीं लेश्याएँ सो ये कषाय और योग इनके मिलनेसे उत्पन्न हुई परिणति विशेष हैं । फिर भी इनमें कर्मोदयकी मुख्यता होनेसे इनकी औदयिक भावोंमें परिगणना की गयी है । इन भावोंमें कर्मोंका उदय निमित्त है, इसलिए इन्हें औदयिक कहते हैं ।

§ 267. अब जो तीन प्रकारका पारिणामिक भाव कहा है उसके भेदोंके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पारिणामिक भावके तीन भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ॥7॥

§ 268. जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव अन्य द्रव्योंमें नहीं होते इसलिए ये आत्माके जानने चाहिए । शंका—ये पारिणामिक क्यों हैं ? समाधान—ये तीनों भाव कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना होते हैं, इसलिए पारिणामिक हैं । जीवत्वका

त्रयो भावा जीवस्य पारिणामिकाः ।

§ 269. ननु चास्तित्वनित्यत्वप्रदेशवत्त्वादयोऽपि भावाः पारिणामिकाः सन्ति, तेषामिह ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम्; कृतमेव । कथम् ? 'च'शब्देन समुच्चितत्वात् । यद्येवं त्रय इति संख्या विरुध्यते । न विरुध्यते, असाधारणा जीवस्य भावाः पारिणामिकास्त्रय एव । अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति 'च'शब्देन पृथग्गृह्यन्ते । आह, औपशमिकादिभावानुप-
तिरमूर्तत्वादात्मनः । कर्मबन्धापेक्षा हि ते भावाः । न चामूर्तः कर्मणां बन्धो युज्यत इति । तन्न; अनेकान्तात् । नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति । कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः । शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः । यद्येवं कर्मबन्धावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेकः प्राप्नोति । नैव दोषः; बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते । उक्तं च—

“ब्रधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं ।

तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होइ जीवस्स ॥” इति ।

अर्थ चैतन्य है । जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होनेकी योग्यता है । वह भव्य कहलाता है । अभव्य इसका उलटा है । ये तीनों जीवके पारिणामिक भाव हैं ।

§ 269. शंका—अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्त्व आदिक भी भाव हैं उनका इस सूत्र-
में ग्रहण करना चाहिए ? समाधान—अलगसे उनके ग्रहण करनेका कोई काम नहीं; क्योंकि उनका ग्रहण किया ही है । शंका—कैसे ? समाधान—क्योंकि सूत्रमें आये हुए 'च'शब्दसे उनका समुच्चय हो जाता है । शंका—यदि ऐसा है तो 'तीन' संख्या विरोधको प्राप्त होती है, क्योंकि इस प्रकार तीनसे अधिक पारिणामिक भाव हो जाते हैं ? समाधान—तब भी 'तीन' यह संख्या विरोधको नहीं प्राप्त होती, क्योंकि जीवके असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं । अस्तित्वादिक तो जीव और अजीव दोनोंके साधारण हैं इसलिए उनका 'च'शब्दके द्वारा अलगसे ग्रहण किया है । शंका—औपशमिक आदि भाव नहीं बन सकते; क्योंकि आत्मा अमूर्त है । ये औप-
शमिक आदि भाव कर्मबन्धकी अपेक्षा होते हैं परन्तु अमूर्त आत्माके कर्मोंका बन्ध नहीं बनता है ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माके अमूर्तत्वके विषयमें अनेकान्त है । यह कोई एकान्त नहीं कि आत्मा अमूर्त ही है । कर्मबन्धरूप पर्यायकी अपेक्षा उसका आवेश होनेके कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है । शंका—यदि ऐसा है तो कर्मबन्धके आवेशसे आत्माका ऐक्य हो जानेपर आत्माका उससे भेद नहीं रहता ? समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यद्यपि बन्धकी अपेक्षा अभेद है तो भी लक्षणके भेदसे कर्मसे आत्माका भेद जाना जाता है । कहा भी है—

‘आत्मा बन्धकी अपेक्षा एक है तो भी लक्षणकी अपेक्षा वह भिन्न है । इसलिए जीवका अमूर्तिकभाव अनेकान्तरूप है । वह एक अपेक्षासे है और एक अपेक्षासे नहीं है ।

विशेषार्थ—पारिणामिक भाव तीन हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । जीवत्वके दो भेद हैं—एक जीवन-क्रियासापेक्ष और दूसरा चैतन्यगुणसापेक्ष । जीवनक्रिया प्राणसापेक्ष होती है, इसलिए ऐसे जीवत्वकी मुख्यता नहीं है, यहाँ तो चैतन्यगुणसापेक्ष जीवत्वकी ही मुख्यता है । यह सब जीवोंमें समानरूपसे पाया जाता है और कारणनिरपेक्ष होता है, इसलिए इसे पारिणामिक कहा है । यही बात भव्यत्व और अभव्यत्वके सम्बन्धमें भी जाननी चाहिए, क्योंकि ये दोनों भाव भी कारणनिरपेक्ष होते हैं । साधारणतः जिनमें रतनत्रय गुण प्रकट होनेकी योग्यता होती है वे

1. प्रदेशत्वा—आ., दि. 1 दि. 2, मु. । 2. कथं चेच्चशब्देन मु. । कथं चैतनशब्देन आ. । 3. ते । न चामूर्तः कर्मणा आ. दि. 1, दि. 2; ता., ना. । 4. प्रत्येकत्वे (ऽविवेके) सत्य—मु. ।

§ 270. यद्येवं तदेव लक्षणमुच्यतां येन नानात्वमवसीयते इत्यत आह—

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

§ 271. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः । तेन बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यप्यात्मा लक्ष्यते सुवर्णरजतयोर्बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि वर्णादिभेदवत् ।

§ 272. तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

§ 273. स उपयोगो द्विविधः—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति । ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति । दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः—चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति । तयोः कथं भेदः ?

भव्य कहलाते हैं और जिनमें ऐसी योग्यता नहीं होती उन्हें अभव्य कहते हैं । जीवमें ये दोनों प्रकारकी योग्यताएँ स्वभावसे होती हैं । इसीसे भव्यत्व और अभव्यत्व ये दोनों भाव भी पारिणामिक माने गये हैं । अभिप्राय यह है कि किन्हीं जीवोंका स्वभावसे अनादि-अनन्त बन्ध होता है और किन्हींका अनादिसान्त । जीवोंका इस तरहका बन्ध कारणनिरपेक्ष होता है । यह किसी कर्मविशेषका कार्य नहीं है, किन्तु ऐसी योग्यता पारिणामिक मानो गयी है । इसीसे जीवत्वके साथ भव्यत्व और अभव्यत्व ये दोनों भाव भी कहे गये हैं । यद्यपि जीवमें अस्तित्व आदि और बहुत-से पारिणामिक भाव पाये जाते हैं पर वे जीवके असाधारण धर्म न होनेसे उनकी यहाँ परिगणना नहीं की गयी है ।

इन भावोंके सम्बन्धमें मुख्य प्रश्न यह है कि जब कि जीव अमूर्त है ऐसी दशामें उसका कर्मके साथ बन्ध नहीं हो सकता और कर्मबन्धके अभावमें औपशमिक आदि भावोंकी उत्पत्ति नहीं बन सकती, क्योंकि पारिणामिक भावोंके सिवा शेष भाव कर्मनिमित्तक माने गये हैं ? उत्तर यह है कि कर्मका आत्मासे अनादि सम्बन्ध है, इसलिए कोई दोष नहीं आता । आशय यह है कि संसार अवस्थामें जीवका कर्मके साथ अनादिकालीन बन्ध होनेके कारण वह व्यवहारसे मूर्त हो रहा है । और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि मदिरा आदिका सेवन करनेपर ज्ञानमें मूर्च्छा देखी जाती है । पर इतने मात्रसे आत्माको मूर्तस्वभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पुद्गलके धर्म हैं । आत्मा मूर्तरूप इन धर्मोंसे भिन्न उपयोगस्वभाववाला है ।

§ 270. यदि ऐसा है तो वही लक्षण कहिए जिससे कर्मसे आत्माका भेद जाना जाता है, इसी बातको ध्यानमें रखकर आगेका सूत्र कहते हैं—

उपयोग जीवका लक्षण है ॥८॥

§ 271. जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके निमित्तोंसे होता है और चैतन्यका अन्वयी है अर्थात् चैतन्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है । यद्यपि आत्मा बन्धकी अपेक्षा एक है तो भी इससे वह स्वतन्त्र जाना जाता है । जिस प्रकार स्वर्ण और चाँदी बन्धकी अपेक्षा एक हैं तो भी वर्णादिके भेदसे उनमें पार्थक्य रहता है उसीप्रकार प्रकृतमें समझना चाहिए ।

§ 272. अब उपयोगके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है और दर्शनोपयोग चार प्रकारका है ॥९॥

§ 273. वह उपयोग दो प्रकारका है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान,

साकारानाकारभेदात् । साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति । तच्छब्दस्थेषु क्रमेण वर्तते । निरावरणेषु युगपत् पूर्वकालभावितोऽपि दर्शनाज्ज्ञानस्य प्रागुपन्यासः; अस्म्यहितत्वात् । सम्यग्ज्ञान-प्रकरणात्पूर्वं पञ्चविधो ज्ञानोपयोगो व्याख्यातः । इह पुनरुपयोगग्रहणाद्विपर्ययोऽपि गृह्यते इत्यष्ट-विधे इति उच्यते ।

§ 274. यथोक्तनानेनाभिहितपरिणामेन सर्वात्मसाधारणेनोपयोगेन ये उपलक्षिता उप-योगिनस्ते द्विविधाः—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ 10॥

और विभंगज्ञान । दर्शनोपयोग चार प्रकारका है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।

शंका—इन दोनों उपयोगोंमें किस कारणसे भेद है ? समाधान—साकार और अनाकार-के भेदसे इन दोनों उपयोगोंमें भेद है । साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग है । ये दोनों छद्मस्थोंमें क्रमसे होते हैं और आवरणरहित जीवोंमें युगपत् होते हैं । यद्यपि दर्शन पहले होता है तो भी श्रेष्ठ होनेके कारण सूत्रमें ज्ञानको दर्शनसे पहले रखा है । सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेके कारण पहले पाँच प्रकारके ज्ञानोपयोगका व्याख्यान कर आये हैं । परन्तु यहाँ उपयोगका ग्रहण करनेसे विपर्ययका भी ग्रहण होता है, इसलिए वह आठ प्रकारका कहा है ।

विशेषार्थ—यहाँ जीवका लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेदोंकी परिगणना की गयी है । उपयोगके मुख्य भेद दो हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ये दोनों प्रकारके उपयोग सब जीवोंके पाये जाते हैं । इनके अवान्तर भेद कई हैं जो निमित्तविशेषसे होते हैं । ज्ञानावरण और दर्शनावरणके अवान्तर भेदोंका यथायोग्य क्षयोपशम और क्षय तथा दर्शनमोहनीयका उदयादि ये प्रधान निमित्त हैं । इनके कारण दोनों प्रकारके उपयोग बारह भेदोंमें विभक्त हो जाते हैं । इस प्रकार ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार भेद प्राप्त होते हैं । मुख्यतया संसारी जीवके एक कालमें एक उपयोग और केवलीके दो उपयोग होते हैं । पर नाना जीवोंकी अपेक्षा परिगणना करनेपर वे बारह होते हैं । यद्यपि प्रथम अध्यायमें एक जीवके एक साथ चार ज्ञान बतला आये हैं और जिसके एक साथ चार ज्ञान होंगे उसके उसी समय तीन दर्शन भी पाये जायेंगे, पर यह कथन क्षयोपशमकी प्रधानतासे किया गया जानना चाहिए । एक जीवके एक कालमें मतिज्ञानावरण आदि चार ज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण आदि तीन दर्शनावरण इन सात कर्मोंका क्षयोपशम हो सकता है पर तत्त्वतः उनके उस समय उपयोग एक ही होगा । क्षयोपशम ज्ञानोत्पत्ति और दर्शनोत्पत्तिमें निमित्त है और उपयोग ज्ञान दर्शनकी प्रवृत्ति है । जीवमें ज्ञान और दर्शन गुणकी धारा निरन्तर प्रवर्तित होती रहती है । वह जिस समय बाह्य और अन्तरंग जैसा निमित्त मिलता है उसके अनुसार काम करने लगती है । इतना अवश्य है कि संसार अवस्थामें वह मलिन, मलिनतर और मलिनतम रहती है और केवल लाभ होनेपर वह विशुद्ध हो जाती है फिर उसकी प्रवृत्तिके लिए अन्तरंग व बाह्य कारण अपेक्षित नहीं रहते । यही कारण है कि यहाँ जीवका लक्षण उपयोग कहा है ।

§ 274. सब आत्माओंमें साधारण उपयोगरूप जिस आत्मपरिणामका पहले व्याख्यान किया है उससे उपलक्षित सब उपयोगवाले जीव दो प्रकारके हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त ॥10॥

1. —विष उच्यते दि. 2, मु. ।

§ 275. संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः । स एषामस्ति ते संसारिणः । तत्परिवर्तनं पञ्चविधम्—द्रव्यपरिवर्तनं क्षेत्रपरिवर्तनं कालपरिवर्तनं भवपरिवर्तनं भावपरिवर्तनं चेति । तत्र द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधम्—नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां वर्णां पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तोत्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य मिश्रकांश्चानन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतांश्चानन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनम् । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविधकर्मभावेन ये गृहीताः पुद्गलाः सगयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, पूर्ववत्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनम् । उक्तं च—

“सर्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण ।

‘असइ’ अणंतखुत्तो पुग्गलपरिघट्टसंसारे’ ॥”

§ 276. क्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते—सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान्तवशरीरमध्ये³ कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः । स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिस्तथा चतुरित्येवं यावद् “घनांगुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्व-

§ 275. संसरण करनेको संसार कहते हैं, जिसका अर्थ परिवर्तन है । यह जिन जीवोंके पाया जाता है वे सगरी हैं । परिवर्तनके पाँच भेद हैं—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन । द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्म द्रव्यपरिवर्तन । अब नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—किसी एक जीवने तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया । अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदिके द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भावरूप से ग्रहण किये थे उस रूपसे अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयोंमें निर्जीर्ण हो गये । तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीचमें गृहीत परमाणुओंको अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा । तत्पश्चात् जब उसी जीवके सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही नोकर्म परमाणु उसी प्रकारसे नोकर्म भावको प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है । अब कर्मद्रव्यपरिवर्तनका कथन करते हैं—एक जीवने आठ प्रकारके कर्मरूपसे जिन पुद्गलोंको ग्रहण किया, वे समयाधिक एक आवली-कालके बाद द्वितीयादिक समयोंमें झर गये । पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्यपरिवर्तनमें बतलाया है उसी क्रमसे वे ही पुद्गल उसी प्रकारसे उस जीवके जब कर्मभावको प्राप्त होते हैं तब यह सब एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन कहलाता है । कहा भी है—

‘इस जीवने सभी पुद्गलोंको क्रमसे भोगकर छोड़ दिया । और इस प्रकार यह जीव असकृत अनन्तबार पुद्गल परिवर्तनरूप संसारमें घूमता है ।’

§ 276. अब क्षेत्रपरिवर्तनका कथन करते हैं—जिसका शरीर आकाशके सबसे कम प्रदेशोंपर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तक जीव लोकके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभवग्रहण काल तक जीकर मर गया । पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहनासे वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार

1. अच्छइ अणं— दि. 1, दि. 2, आ., मु. । 2. बा. अणु., गा. 25 । 3. शरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वा मु. । 4. यावदङ्गुलस्या— दि. 1, दि. 2, आ. ।

स्तत्रैव जनिता पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वो लोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति याव-
त्तावत्क्षेत्रपरिवर्तनम् । उक्तं च—

“सर्वमिह लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं ।
ओगाहणाए^१ बहुसो परिभमिदो खेतसंसारे ॥”

§ 277. कालपरिवर्तनमुच्यते—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः
परिसमाप्तौ मृतः । स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स
एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः । एवमनेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता । तथा-
वसर्पिणी च । एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तम् । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यम् । एतावत्कालपरि-
वर्तनम् । उक्तं च—

“उत्सर्पिणिअवसर्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥”

§ 278. भवपरिवर्तनमुच्यते—नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रो-
त्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा जातः । एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वस्तत्रैव
जातो मृतः । पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य
तिर्यग्गतावन्तर्मुहूर्तायुः समुत्पन्नः । पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमापितानि ।

उत्पन्न हुआ । इस प्रकार घनांगुलके असंख्यातवें भागमें आकाशके जितने प्रदेश प्राप्त हों उतनी
बार वहीं उत्पन्न हुआ । पुनः उसने आकाशका एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोककी अपना जन्म-
क्षेत्र बनाया । इस प्रकार यह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है । कहा भी है—

‘सब लोक क्षेत्रमें ऐसा एक प्रदेश नहीं है जहाँ यह अवगाहनके साथ क्रमसे नहीं उत्पन्न
हुआ । इस प्रकार इस जीवने क्षेत्र संसारमें अनेक बार परिभ्रमण किया ।’

§ 277. अब कालपरिवर्तनका कथन करते हैं—कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें
उत्पन्न हुआ और आयुके समाप्त हो जानेपर मर गया । पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे
समयमें उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होनेपर मर गया । पुनः वही जीव तीसरी
उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार इसने क्रमसे उत्सर्पिणी समाप्त की और
इसी प्रकार अवसर्पिणी भी । यह जन्मका नैरन्तर्य कहा । तथा इसी प्रकार मरण का भी नैरन्तर्य
लेना चाहिए । इस प्रकार यह सब मिलकर एक कालपरिवर्तन है । कहा भी है—

‘कालसंसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब
समयोंमें अनेक बार जन्मा और मरा ।’

§ 278. अब भवपरिवर्तनका कथन करते हैं—नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार
वर्षकी है । एक जीव उस आयुसे वहाँ उत्पन्न हुआ, पुनः घूम-फिरकर उसी आयुसे वहीं उत्पन्न
हुआ । इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मरा ।
पुनः आयुके एक-एक समय बढ़ाकर नरककी तैंतीस सागर आयु समाप्त की । तदनन्तर नरकसे
निकलकर अन्तर्मुहूर्त आयुके साथ तिर्यग्गतिमें उत्पन्न हुआ । और पूर्वोक्त क्रमसे उसने तिर्यग्-
गतिकी तीन पल्योपम आयु समाप्त की । इसी प्रकार मनुष्यगतिमें अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन
पल्योपम आयु समाप्त की । तथा देवगतिमें नरकगतिके समान आयु समाप्त की । किन्तु देव-

1. बा. आ., आयु, गा. 26 । 2. --हणेण बहुसो मु., ना. । 3. एव तृती-आ., दि. 1, दि. 2 । 4. मरण-
मपि तथैव ग्रा—ता. । मरणस्यापि तथैव ग्रा.—ना. । 5. बा. अणु. गा. 27 ।

एवं मनुष्यगतौ च^१ । देवगतौ च नारकवत् । अयं तु विशेषः—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमा-
पितानि यावत्तावद् भवपरिवर्तनम् । ज्वरं च—

“अणिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा ।

मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवद्विदी भमिदा ।”

§ 279. भावपरिवर्तनमुच्यते—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः स सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटीसंज्ञिकामापद्यते । तस्य कषायध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्य-
कषायध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनु^३भागध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति । एवं सर्वजघन्यां स्थितिं सर्वजघन्यं च कषायध्यवसायस्थानं सर्वजघन्यमेवानुभागबन्धस्थानमास्कन्दत-
स्तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति । तेषामेव स्थितिकषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभाग-
वृद्धियुक्तं योगस्थानं भवति । एवं च तृतीयादिषु^४ चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति । तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीय-
मनुभावाध्यवसायस्थानं भवति । तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि
गतिमें इतनी विशेषता है कि यहाँ इकतीस सागरोपम आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए । इस प्रकार यह सब मिलकर एक भवपरिवर्तन है । कहा भी है—

‘इस जीवने मिथ्यात्वके संसर्गसे उपरिम ग्रंथेयक तक नरक आदि गतियोंकी जघन्य आदि स्थितियोंमें उत्पन्न हो-होकर अनेक बार परिभ्रमण किया ।’

§ 279. अब भावपरिवर्तनका कथन करते हैं—पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृतिकी सबसे जघन्य अपने योग्य अन्तःकोड़ाकोड़ीप्रमाण स्थितिको प्राप्त होता है । उसके उस स्थितिके योग्य षट्स्थानपतित असंख्यात लोकप्रमाण कषायअध्यवसाय स्थान होते हैं । और सबसे जघन्य इन कषायअध्यवसायस्थानोंके निमित्तसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागअध्यवसायस्थान होते हैं । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायअध्यवसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभागअध्यवसायस्थानको धारण करनेवाले इस जीवके तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान होता है । तत्पश्चात् स्थिति, कषायअध्यवसायस्थान और अनुभागअध्यवसायस्थान वही रहते हैं, किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यात भागवृद्धिसंयुक्त होता है । इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानोंमें समझना चाहिए । ये सब योगस्थान चार स्थान पतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण है । तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषायअध्यवसायस्थानको धारण करनेवाले जीवके दूसरा अनुभागअध्यवसायस्थान होता है । इसके योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि यहाँ भी पूर्वोक्त तीनों बातें ध्रुव रहती हैं किन्तु योगस्थान जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं । इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागअध्यवसायस्थानोंके होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसायस्थानोंमें जानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसायस्थान तो जघन्य ही रहते हैं किन्तु अनुभागअध्यवसायस्थान क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभागअध्यवसायस्थानके प्रति जगश्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान होते हैं । तत्पश्चात् उसी स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीवके दूसरा कषायअध्यवसायस्थान होता है । इसके भी अनुभागअध्यवसायस्थान और योगस्थान पहलेके समान जानना चाहिए । अर्थात्

1. च तिर्यक्वत् । मू., ता. । 2. बा. अ. गा. 28 । 3. -नुभावाध्य- दि. । 4. -दिषु योगस्थानेषु चतुः-
-नु. ता. ।

अनुभवाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेः । एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदित-
व्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेषु आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिकमो
वेदितव्यः । उक्ताया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कषायादिस्थानानि पूर्ववत् । एवं
समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेरित्रशस्तागरोपमकोटीकोटीपरिमितायाः कषायादिस्थानानि^२
वेदितव्यानि । अनन्तभागवृद्धिः असंख्येयभागवृद्धिः संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिः असंख्येय-
गुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः इमानि षट् वृद्धिस्थानानि । हानिरपि तथैव । अनन्तभागवृद्ध्यनन्त-
गुणवृद्धिरहितानि चत्वारि स्थानानि । एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च परिवर्तन-
क्रमो वेदितव्यः । तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनम् । उक्तं च -

३“सत्त्वा पयडिद्विदीओ अणुभागपदेसवव्रठाणाणि ।

मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे ॥”

§ 280. उक्तात्पञ्चविधासंसारान्निवृत्ता ये ते मुक्ताः । संसारिणां प्रागुपादानं तत्पूर्वक-
त्वान्मुक्तव्यपदेशस्य ।

एक-एक कषायअध्यवसायस्थानके प्रति असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागअध्यवसायस्थान होते हैं और एक-एक अनुभागअध्यवसायस्थानके प्रति जगत्त्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान होते हैं । इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण कषायअध्यवसायस्थानोंके होने तक तीसरे आदि कषायअध्यवसायस्थानोंमें वृद्धिका क्रम जानना चाहिए । जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थितिके कषायादि स्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थितिके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए और इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे तोस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिके प्रत्येक स्थितिविकल्पके भी कषायादि स्थान जानना चाहिए । अनन्त भाग-
वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इस प्रकार ये वृद्धिके छह स्थान हैं तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकारकी है । इनमें-
से अनन्त भागवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इन दो स्थानोंके क्रम कर देनेपर चार स्थान होते हैं । इसी प्रकार सब मूल प्रकृतियोंका और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके परिवर्तनका क्रम जानना चाहिए । यह सब मिलकर एक भावपरिवर्तन होता है । कहा भी है—

‘इस जीवने मिध्यात्वके संगर्भसे सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशवन्धके स्थानों को प्राप्त कर भावसंसारमें परिभ्रमण किया ।’

§ 280. जो उक्त पाँच प्रकारके संसारसे निवृत्त हैं वे मुक्त हैं । सूत्रमें ‘संसारि’ पदका पहले ग्रहण किया, क्योंकि ‘मुक्त’ यह संज्ञा संसारपूर्वक प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ—जीवके मुख्य भेद दो हैं—संसारी और मुक्त । ये भेद जीवकी बद्ध और अबद्ध अवस्थाको ध्यानमें रखकर किये गये हैं । वस्तुतः ये जीवकी दो अवस्थाएँ हैं । पहले जीव बद्ध अवस्थामें रहता है, इसलिए उसे संसारी कहते हैं और बादमें उसके मुक्त होनेपर वही मुक्त कहलाता है । जीवका संसार निमित्त-सापेक्ष होता है, इसलिए इस अपेक्षासे संसारके पाँच भेद किये गये हैं—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार । इनका दूसरा नाम परिवर्तन भी है । द्रव्य पदसे कर्म और नोकर्म लिये गये हैं, क्षेत्र पदसे लोकाकाशके प्रदेशोंका ग्रहण किया है, काल पदसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी सम्बन्धी समयका ग्रहण किया है, भव पदसे जीवकी नर नारक आदि अवस्थाओंका ग्रहण किया है और भाव पदसे जीवके योग

1. पूर्ववदेकसम—मु. । 2. —स्थानानि (पूर्ववत्) वेदि—मु. । 3. बा. अणु. गा. 29 ।

§ 281. य एते संसारिणस्ते द्विविधाः—

समनस्कामनस्काः ॥11॥

§ 282. मनो द्विविधम्—द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः । वीर्यान्तरायनोऽन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा¹ आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः । तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्काः । न विद्यते मनो येषां त इमे अमनस्काः । एवं मनसो भावाभावाभ्यां संसारिणो द्विविधा विभज्यन्ते । समनस्काश्चासमनस्काश्च समनस्कामनस्का इति । अभ्यर्हितत्वात्समनस्कशब्दस्य पूर्वनिपातः । कथमभ्यर्हितत्वम् ? गुणदोषविचारकत्वात् ।

§ 283. पुनरपि संसारिणां भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥12॥

§ 284. 'संसारि' ग्रहणमनर्थकम् ; प्रकृतत्वात् । क्व प्रकृतम् ? 'संसारिणो मुक्ताश्च' इति । नानर्थकम्, पूर्वपेक्षार्थम् । ये उक्ताः समनस्का अमनस्कास्ते संसारिण इति । यदि हि पूर्वस्य विशेषणं न स्यात्, समनस्कामनस्कग्रहणं संसारिणो मुक्ताश्चेत्यनेन यथासंख्यमभिसंबध्येत ।

और कषायस्थान विवक्षित हैं । इन द्रव्यादिके निमित्तसे संसारमें जीवका परिभ्रमण किस प्रकार होता रहता है यही यहाँ बतलाया गया है । इन परिवर्तनोंके होनेमें उत्तरोत्तर अधिक-अधिक काल लगता है । मुख्यरूपसे जीवका संसार सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेके पूर्वतक माना गया है, इससे ये परिवर्तन जीवकी मिथ्यात्व अवस्थामें होते हैं यह सिद्ध होता है । सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवका ईषत् संसार शेष रहनेपर भी वह इन परिवर्तनोंसे मुक्त हो जाता है । पूर्ण मोक्ष मुक्त अवस्थामें होता है । इसीसे जीवके संसारी और मुक्त ये दो भेद किये गये हैं ।

§ 281. पहले जो संसारी जीव कह आये हैं वे दो प्रकारके हैं । आगेके सूत्र-द्वारा इसी बातको बतलाते हैं—

मनवाले और मनरहित ऐसे संसारी जीव हैं ॥11॥

§ 282. मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन । उनमें-से द्रव्यमन पुद्गलविपाकी अंगोपांग नामकर्मके उदयसे होता है तथा वीर्यान्तराय और नोऽन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माकी विशुद्धिको भावमन कहते हैं । यह मन जिन जीवोंके पाया जाता है वे समनस्क हैं । और जिनके मन नहीं पाया जाता है वे अमनस्क हैं । इस प्रकार मनके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा संसारी जीव दो भागोंमें बँट जाते हैं । 'समनस्कामनस्काः' इसमें समनस्क और अमनस्क इस प्रकार द्वन्द्व समाप्त है । समनस्क शब्द श्रेष्ठ है अतः उसे सूत्रमें पहले रखा । शंका—श्रेष्ठता किस कारणसे है ? समाधान—क्योंकि समनस्क जीव गुण और दोषोंके विचारक होते हैं, इसलिए समनस्क पद श्रेष्ठ है ।

§ 283. अब फिरसे भी संसारी जीवोंके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
तथा संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकार हैं ॥12॥

§ 284. शंका—सूत्रमें 'संसारी' पदका ग्रहण करना निरर्थक है, क्योंकि वह प्रकरण प्राप्त है ? प्रतिशंका—इसका प्रकरण कहाँ है ? शंकाकार—'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रमें उसका प्रकरण है । समाधान—सूत्रमें 'संसारी' पदका ग्रहण करना अनर्थक नहीं है, क्योंकि पूर्व सूत्रकी अपेक्षा इस सूत्रमें 'संसारी' पदका ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्रमें जो समनस्क और अमनस्क जीव बतलाये हैं वे संसारी हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए इस सूत्रमें 'संसारी' पद दिया है । यदि 'संसारी' पदको पूर्वका विशेषण न माना जाय तो समनस्क और अमनस्क

1. -पेक्षया आत्मनो मु., ता. ।

एवं च कृत्वा 'संसारि' ग्रहणमादौ क्रियमाणभुपपन्नं भवति । तत्पूर्वपेक्षं सदुत्तरार्थमपि भवति¹ । ते संसारिणो द्विविधाः—त्रसाः स्थावरा इति । त्रसनामकर्मोदयवशीकृताः त्रसा² । स्थावरनामकर्मोदयवशीकृतिनः स्थावराः । त्रस्यन्तीति त्रसाः, स्थानशीलाः स्थावरा इति चेत् ? न; आगमविरोधात् । आगमे हि कायानुवादेन त्रसा द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति । तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वम् । कर्मोदयापेक्षमेव । त्रसग्रहणमादौ क्रियते; अल्पात्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च । तर्जोपयोगसंभवादभ्यर्हितत्वम् ।

§ 285. एकेन्द्रियाणामतिबहुवक्तव्याभावादुल्लङ्घ्यानुपूर्वी स्थावरभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पृथिग्यत्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥13॥

§ 286. स्थावरनामकर्मभेदाः पृथिवीकायादयः सन्ति । तदुदयनिमित्ता³ जीवेषु पृथिव्यादयः संज्ञा वेदितव्याः । प्रथमादिप्रकृतिनिष्पन्ना अपि रुद्धिवशात्प्रथमाद्यनपेक्षा वर्तन्ते । एषां पृथिव्यादीनामात्रं धातुविध्यनुक्तं प्रत्येकम् । तत्कयमिति चेत् ? उच्यते—पृथिवी पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः पृथिवीजीव इत्यादि । तत्र अचेतना वैश्वसिकपरिणामनिर्मुक्ता काठिःशुण्णात्मिका पृथिवी । अचेतनत्वावसत्त्वमपि पृथिवीकायनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितंवेद्यम् । अथवा पृथिवीति सामान्यम्;

इनका संसारी और मुक्त इनके साथ क्रमसे सम्बन्ध हो जायेगा । और इस अभिप्रायसे 'संसारिणो' पदका इस सूत्रके आदिमें ग्रहण करना बन जाता है । इस प्रकार 'संसारिणो' पदका ग्रहण पूर्व सूत्र की अपेक्षासे होकर अगले सूत्रके लिए भी हो जाता है । यथा—वे संसारी जीव दो प्रकारके हैं त्रस और स्थावर । जिनके त्रस नामकर्मका उदय है वे त्रस कहलाते हैं और जिनके स्थावर नाम कर्मका उदय है उन्हें स्थावर कहते हैं । शंका—'त्रस्यन्ति' अर्थात् जो चलते-फिरते हैं वे त्रस हैं और जो स्थिति स्वभाववाले हैं वे स्थावर हैं, क्या त्रस और स्थावरका यह लक्षण ठीक है ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें आगमसे विरोध आता है, क्योंकि कायानुवादकी अपेक्षा कथन करते हुए आगम में बतलाया है कि द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोग-केवली तकके सब जीव त्रस हैं, इसलिए गमन करने और न करनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावर यह भेद नहीं है, किन्तु त्रस और स्थावर कर्मोंके उदयकी अपेक्षासे ही है । सूत्रमें त्रसपदका प्रारम्भमें ग्रहण किया है, क्योंकि स्थावर पदसे इसमें कम अक्षर हैं और यह श्रेष्ठ है । त्रस श्रेष्ठ इसलिए है कि इनके सब उपयोगोंका पाया जाना सम्भव है ।

§ 285. एकेन्द्रियोंके विषयमें अधिक वक्तव्य नहीं है, इसलिए आनुपूर्वी को छोड़कर पहले स्थावरके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच स्थावर हैं ॥13॥

§ 286. पृथिवीकाय आदि स्थावर नामकर्मके भेद हैं । उनके उदयके निमित्तसे जीवोंके पृथिवी आदिक नाम जानने चाहिए । यद्यपि ये नाम प्रथन आदि धातुओंसे बने हैं तो भी ये रौढिक हैं, इसलिए इनमें प्रथन आदि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं है । शंका—आर्यमें ये पृथिवी आदिक अलग-अलग चार प्रकारके कहे हैं सो ये चार-चार भेद किस प्रकार प्राप्त होते हैं ? समाधान—पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव ये पृथिवीके चार भेद हैं । इनमें-से जो अचेतन है, प्राकृतिक परिणमनोंसे बनी है और कठिन गुणवाली है वह पृथिवी है । अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी नामकर्मका उदय नहीं है तो भी प्रथनक्रियासे उपलक्षित होनेके कारण

1. भवति । संसा—मु. । 2. त्रसनाम आ., दि. 1, दि. 2, ता. । 3. —रिमित्ता भमी इति जीवेषु मु. ना. ।

उत्तरत्रयेऽपि सद्भावात् । कायः शरीरम् । पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत् । पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः । तत्कायसंबन्धवशीकृत आत्मा । समवाप्त-पृथिवीकायनामकर्मोदयः कामणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवी-जीवः¹ । एवमवाविष्यपि योज्यम् । एते मञ्चविधाः प्राणिनः स्थावराः । कति पुनरेषां प्राणाः ? अस्वारः—स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राणः उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुःप्राणश्चेति ।

§ 287. अथ त्रसाः के ते, इत्यत्रोच्यते—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥14॥

§ 288. द्वे इन्द्रिये यस्य सोऽयं द्वीन्द्रियः । द्वीन्द्रिव आविर्येयां ते द्वीन्द्रियावयः² । 'आवि'-शब्दो व्यवस्थावाची । क्व व्यवस्थिताः ? आगमे । कथम् ? द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियश्चेति । 'तद्गुणसंविज्ञानवृत्तिग्रहणाद् द्वीन्द्रियस्याप्यन्तर्भावः । कति पुनरेषां प्राणाः ? द्वीन्द्रियस्य तावत् षट् प्राणाः, पूर्वोक्ता एव रसनवाक्प्राणाधिकाः । त्रीन्द्रियस्य सप्त त एव घ्राण-प्राणाधिकाः । चतुरिन्द्रियस्याष्टौ त एव चक्षुःप्राणाधिकाः । पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनो नव त एव श्रोत्रप्राणाधिकाः । संज्ञिनो दश त एव मनोबलप्राणाधिकाः³ ।

अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होनेके कारण यह पृथिवी कहलाती है । अथवा पृथिवी यह सामान्य वाची संज्ञा है, क्योंकि आगेके तीन भेदोंमें भी यह पायी जाती है । कायका अर्थ शरीर है, अतः पृथिवीकायिक जीव द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह पृथिवीकाय कहलाता है । यथा मरे हुए मनुष्य आदिकका शरीर । जिस जीवके पृथिवीरूप काय विद्यमान है उसे पृथिवीकायिक कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जीव पृथिवीरूप शरीरके सम्बन्धसे युक्त है । कामणकाययोगमें स्थित जिस जीवने जबतक पृथिवीको कायरूपसे ग्रहण नहीं किया है तबतक वह पृथिवीजीव कहलाता है । इसी प्रकार जलादिकमें भी चार-चार भेद कर लेने चाहिए । ये पाँचों प्रकारके प्राणी स्थावर हैं । शंका—इनके कितने प्राण होते हैं ? समाधान—इनके चार प्राण होते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय-प्राण, कायबलप्राण, उच्छ्वास-निःश्वासप्राण और आयुःप्राण ।

§ 287. अब त्रस कौन हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो इन्द्रिय आदि त्रस हैं ॥14॥

§ 288. जिन जीवोंके दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो-इन्द्रिय कहते हैं । तथा जिनके प्रारम्भमें दो इन्द्रिय जीव हैं वे दो-इन्द्रियादिक कहलाते हैं । यहाँ आदि शब्द व्यवस्थावाची है । शंका—ये कहाँ व्यवस्थित होकर बतलाये गये हैं ? समाधान—आगम में । शंका—किस क्रमसे ? समाधान—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस क्रमसे व्यवस्थित हैं । यहाँ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समासका ग्रहण किया है, अतः द्वीन्द्रियका भी अन्तर्भाव हो जाता है । शंका—इन द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके कितने प्राण होते हैं ? समाधान—पूर्वोक्त चार प्राणोंमें रसनप्राण और वचनप्राण इन दो प्राणोंके मिला देनेपर दो इन्द्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं । इनमें घ्राणप्राणके मिला देनेपर तीन इन्द्रिय जीवके सात प्राण होते हैं । इनमें चक्षुःप्राणके मिला देनेपर चोइन्द्रिय जीवके आठ प्राण होते हैं । इनमें श्रोत्रप्राणके मिला देनेपर तिर्यच असंज्ञीके नौ प्राण होते हैं । इनमें मनोबलके मिला देनेपर संज्ञी जीवोंके दस प्राण होते हैं ।

1. जीवः । उक्तं च-पृथ्वी पृथ्वीकायो पृथ्वीकाय्य पृथ्वीजीवो य । साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंत-रिदो । एव—मु. । 2. 'बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि—परि.-सो. प. 4, 4 । 3. बलाधिकाः, आ., दि. 1, दि. 2 ।

§ 289. 'आदि'शब्देन निर्विष्टानामनिर्ज्ञातिसंख्यानामियत्तावधारणं कर्तव्यमित्यत आह—
पंचेन्द्रियारिण ॥15॥

§ 290. 'इन्द्रिय'शब्दो व्याख्यातार्थः । 'पञ्च'ग्रहणमवधारणार्थम्, पंचैव नाधिकसंख्या-
नीति । कर्मेन्द्रियाणां 'वागादीनामिह ग्रहणं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् ; उपयोगप्रकरणात् । उप-
योगसाधनानामिह ग्रहणं^३, न क्रियासाधनानाम् ; अवस्थानाच्च । क्रियासाधनानामङ्गोपाङ्ग-
नामकर्मनिर्वर्तितानां सर्वेषामपि क्रियासाधनत्वमस्तीति न पंचैव कर्मेन्द्रियारिण ।

§ 291. तेषामन्तर्भवप्रदर्शनार्थमाह—

द्विविधानि^३ ॥16॥

§ 292. 'विध'शब्दः प्रकारवाची । द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि, द्विप्रकाराणीत्यर्थः ।

विशेषार्थः—यहाँ द्वीन्द्रियके छह, त्रीन्द्रियके सात, चतुरिन्द्रियके आठ, असंज्ञी पंचेन्द्रियके
नौ और संज्ञीके दस प्राण पर्याप्त अवस्थाकी अपेक्षा बतलाये हैं । अपर्याप्त अवस्थामें इनके क्रमसे
चार, पाँच, छह और सात प्राण होते हैं । खुलासा इस प्रकार है—कुल प्राण दस हैं—पाँच
इन्द्रियप्राण; तीन बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास । इनमें-से संज्ञी और असंज्ञीके अपर्याप्त
अवस्थामें श्वासोच्छ्वास, मनोबल और वचनबल ये तीन प्राण नहीं होते, शेष सात प्राण होते
हैं । चतुरिन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामें तीन ये और श्रोत्रेन्द्रिय ये चार प्राण नहीं होते, शेष छह
प्राण होते हैं । त्रीन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामें चार ये और चक्षुरिन्द्रिय ये पाँच प्राण नहीं होते,
शेष पाँच प्राण होते हैं और द्वीन्द्रियके अपर्याप्त अवस्थामें पाँच ये और घ्राणेन्द्रिय ये छह प्राण
नहीं होते, शेष चार प्राण होते हैं तथा एकेन्द्रियके छह ये तथा श्वासोच्छ्वास ये सात प्राण नहीं
होते, शेष तीन प्राण होते हैं ।

§ 289. पूर्व सूत्रमें जो आदि शब्द दिया है उससे इन्द्रियोंकी संख्या नहीं ज्ञात होती,
अतः उनके परिमाणका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियाँ पाँच हैं ॥15॥

§ 290. इन्द्रिय शब्दका व्याख्यान कर आये । सूत्रमें जो 'पंच' पदका ग्रहण किया है
वह मर्यादाके निश्चित करनेके लिए किया है कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं । इससे इन्द्रियोंकी
और अधिक संख्या नहीं पायी जाती । शंका—इस सूत्रमें वचनादिक कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण करना
चाहिए ? समाधान—नहीं करना चाहिए, क्योंकि उपयोगका प्रकरण है । इस सूत्रमें उपयोग-
की साधनभूत इन्द्रियोंका ग्रहण किया है, क्रियाकी साधनभूत इन्द्रियोंका नहीं । दूसरे, क्रिया की
साधनभूत इन्द्रियोंकी मर्यादा नहीं है । अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे जितने भी अङ्गोपाङ्गोंकी रचना
होती है वे सब क्रियाके साधन हैं, इसलिए कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं किया
जा सकता ।

§ 291. अब उन पाँचों इन्द्रियोंके अन्तर्भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
वे प्रत्येक दो-दो प्रकार की हैं ॥16॥

§ 292. विध शब्द प्रकारवाची है । 'द्विविधानि' पदमें 'द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि'
इस प्रकार बहुव्रीहि समास है । आशय यह है कि ये पाँचों इन्द्रियाँ प्रत्येक दो-दो प्रकारकी हैं ।

1. 'वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ।—सां. को. श्लो. 26 । 2. ग्रहणं कृतं न क्रिया—मु., तः,
ना. । 3. 'कतिविहणं भन्ते इदिया पण्णत्ता । रोयमा, दुविहं पण्णत्ता । तं जहा—दन्विदिया य भाविदिया य
—पण्णत्ता पद 15 ।

को पुनस्तौ द्वौ प्रकारौ ? द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति ।

§ 293. तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥17॥

§ 294. निर्वर्त्यते 'इति निर्वृत्तिः । केन निर्वर्त्यते ? कर्मणा । सा द्विविधा; बाह्याभ्यन्तरभेदात् । उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यान्तरा निर्वृत्तिः । तेष्व्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृत्तिः । येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् । पूर्ववत्तदपि द्विविधम् । तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलं, बाह्यमक्षिपत्रपञ्चमद्वयादि । एवं शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम् ।

§ 295. भावेन्द्रियमुच्यते—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥18॥

§ 296. लम्भनं लब्धिः । का पुनरसौ ? ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः । यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः । तदुभये भावे-

शङ्का—वे दो प्रकार कोन हैं ? समाधान—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ।

§ 293. अब द्रव्येन्द्रियके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है ॥17॥

§ 294. रचनाका नाम निर्वृत्ति है । शङ्का—किसके द्वारा यह रचना की जाती है ? समाधान—कर्म के द्वारा । निर्वृत्ति दो प्रकार की है—बाह्यनिर्वृत्ति और आभ्यन्तर निर्वृत्ति । उत्सेधाङ्गुलके असंख्यातवें भागप्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकाररूपसे अवस्थित शुद्ध आत्मप्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं । तथा इन्द्रिय नामवाले उन्हीं आत्मप्रदेशोंमें प्रतिनियत आकाररूप और नामकर्मके उदयसे विशेष अवस्थाको प्राप्त जो पुद्गलप्रचय होता है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं । जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं । निर्वृत्तिके समान यह भी दो प्रकारका है—आभ्यन्तर और बाह्य । नेत्र इन्द्रियमें कृष्ण शुक्लमण्डल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक और दोनों बरोनी आदि बाह्य उपकरण हैं । इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंमें भी जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—आगममें संसारी जीवके प्रदेश चलाचल बतलाये हैं । मध्यके आठ प्रदेश अचल होते हैं और प्रदेश चल । ऐसी अवस्थामें नियत आत्मप्रदेश ही सदा विवक्षित इन्द्रियरूप बने रहते हैं यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु प्रदेश परिस्पन्दके अनुसार प्रति समय अन्य-अन्य प्रदेश आभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप होते रहते हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए । जिसके जितनी इन्द्रियाँ होती हैं उसके उतने इन्द्रियावरण कर्मोंका क्षयोपशम सर्वांग होता है, इसलिए आभ्यन्तर निर्वृत्तिकी उक्त प्रकारसे व्यवस्था होनेमें कोई बाधा नहीं आती । यह उक्त कथनका तात्पर्य है । शेष कथन सुगम है ।

§ 295. अब भावेन्द्रियका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

लब्धि और उपयोगरूप भावेन्द्रिय है ॥18॥

§ 296. लब्धि शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—लम्भनं लब्धिः—प्राप्त होना । शङ्का—लब्धि किसे कहते हैं ? समाधान—ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषको लब्धि कहते हैं । जिसके

1. निर्वर्त्यत इति मु. । 2. शेषेष्विन्द्रि—मु. ।

न्द्रियम् । इन्द्रियफलमुपयोगः, तस्य कथमिन्द्रियत्वम् ? कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात् । यथा घटा-
कारपरिणतं विज्ञानं घट इति । स्वार्थस्य तत्र मुख्यत्वाच्च । इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमिति यः स्वार्थः
स उपयोगो¹ मुख्यः, 'उपयोगलक्षणो जीव' इति वचनात् । अतः उपयोगस्येन्द्रियत्वं न्याय्यम् ।

संसर्गसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचना करनेके लिए उद्यत होता है, तन्निमित्तक आत्माके परिणाम-
को उपयोग कहते हैं । लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियाँ हैं । शंका—उपयोग इन्द्रियका
फल है, वह इन्द्रिय कैसे हो सकता है ? समाधान—कारणका धर्म कार्यमें देखा जाता है । जैसे
घटाकार परिणत हुआ ज्ञान भी घट कहलाता है, अतः इन्द्रियके फलको इन्द्रिय माननेमें कोई
आपत्ति नहीं है । दूसरे इन्द्रियका जो अर्थ है वह मुख्यतासे उपयोगमें पाया जाता है । तात्पर्य यह
है कि 'इन्द्रके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं' यह जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ है वह उपयोगमें मुख्य है,
क्योंकि जीवका लक्षण उपयोग है' ऐसा वचन है, अतः उपयोगको इन्द्रिय मानना उचित है ।

विशेषार्थ—ज्ञानकी अमुक पर्यायिको प्रकट न होने देना विवक्षित ज्ञानावरणके सर्वघाती
स्पर्धकोंके उदयका काम है । किन्तु जिस जीवके विवक्षित ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है उसके
उस ज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय न होनेसे विवक्षित ज्ञानके प्रकाशमें आनेकी योग्यता
होती है और इसी योग्यताका नाम लब्धि है । ऐसी योग्यता एक साथ सभी क्षायोपशमिक
ज्ञानोंकी हो सकती है, किन्तु उपयोगमें एक कालमें एक ही ज्ञान आता है । इसका अभिप्राय यह
है कि क्षायोपशमिक ज्ञानकी जाननेके सन्मुख हुई पर्यायिका नाम लब्धि न होकर क्षयोपशम-
विशेषका नाम लब्धि है और उपयोग ज्ञानकी उपयुक्त पर्यायिका नाम है । यही कारण है कि
लब्धि एक साथ अनेक ज्ञानोंकी हो सकती है पर उपयोग एक कालमें एक ही ज्ञानका होता है ।
पहले प्रथम अध्याय सूत्र 14 में यह कह आये हैं कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता
है । इससे ज्ञात होता है कि उपयोग स्वरूप ज्ञानकी इन्द्रिय संज्ञा न होकर जो उपयोगरूप मति-
ज्ञान और श्रुतज्ञानके होनेमें साधकतम कारण है उसीकी इन्द्रिय संज्ञा है, इसलिए वहाँ निर्वृत्ति,
उपकरण और लब्धिको इन्द्रिय कहना तो ठीक है, क्योंकि ये उपयोगरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-
के होनेमें साधकतम कारण हैं पर स्वयं उपयोगको इन्द्रिय कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय
व्यापारका फल है । यह एक शंका है जिसका समाधान पूज्यपाद स्वामीने दो प्रकारसे किया
है । प्रथम तो यह बतलाया है कि कारणके धर्म इन्द्रियत्वका कार्यमें उपचार करके उपयोगको
भी इन्द्रिय कहा है । अर्थात् उपयोग स्वयं इन्द्रिय नहीं है, किन्तु इन्द्रियके निमित्तसे वह होता
है, इसलिए यहाँ उपचारसे उसे इन्द्रिय कहा है । यह प्रथम समाधान है । दूसरा समाधान करते
हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका भाव यह है कि जिससे इन्द्र अर्थात् आत्माको पहचान हो
वह इन्द्रिय कहलाती है और ऐसी पहचान करानेवाली वस्तु निज अर्थ होनी चाहिए । यदि इस
दृष्टिसे देखा जाता है तो इन्द्रिय शब्दका मुख्य वाच्य उपयोग ही ठहरता है, क्योंकि वह आत्मा-
का निज अर्थ है । यही कारण है कि यहाँ उपयोगको भी इन्द्रिय कहा है । तात्पर्य यह है कि
निमित्तकी अपेक्षा विचार करनेपर निर्वृत्ति, उपकरण और लब्धिको इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है
और स्वार्थकी अपेक्षा विचार करनेपर उपयोगको इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है । पहले प्रथम
अध्यायमें केवल निमित्तकी अपेक्षा इन्द्रिय शब्दका व्यवहार किया गया था और यहाँ निमित्त
और मुख्यार्थ दोनोंको ध्यानमें रखकर इन्द्रियके भेद दिखलाये गये हैं इसलिए कोई विरोध नहीं है ।

1. —योगो मुख्यः दि. 1, दि. 2, मु. 1. 2. 'बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।' सां. की.,
श्लो. 6 । घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।'—न्या. सू. 1, 1, 12 ।

§ 297. उक्तानामिन्द्रियाणां संज्ञानुपूर्वप्रतिपादनार्थमाह—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥19॥

§ 298. लोके इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यविवक्षा वृश्यते । अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति । ततः पारतन्त्र्यात्स्पर्शनादीनां करणत्वम् । वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरण-क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम् । रस्यतेऽनेनेति रसनम् । घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम् । चक्षरेनेकार्थत्वाद्दर्शनार्थविवक्षायां चष्टे अर्थान्पश्यत्यनेनेति चक्षुः । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम् । स्वातन्त्र्यविवक्षा च वृश्यते । इदं^१ मे अक्षि सुष्ठु पश्यति । अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति । ततः स्पर्शनादीनां कर्तरि निष्पत्तिः । स्पृशतीति स्पर्शनम् । रसतीति रसनम् । जिघृ-
त्तीति घ्राणम् । चष्टे इति चक्षुः । शृणोतीति श्रोत्रम् । एषां निर्देशक्रमः एकैकवृद्धिक्रमप्रज्ञापनार्थः ।

§ 299. तेषामिन्द्रियाणां विषयप्रदर्शनार्थमाह—

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थः 20॥

§ 300. द्रव्यपर्याययोः प्राधान्यविवक्षायां कर्मभावसाधनत्वं स्पर्शादिशब्दानां वेदितव्यम् । द्रव्यप्राधान्यविवक्षायां कर्मनिर्देशः । स्पृश्यत इति स्पर्शः । रस्यत इति रसः । गन्ध्यत इति गन्धः ।

§ 297. अब उक्त इन्द्रियोंके क्रमसे संज्ञा दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ॥ 19 ॥ इस आँखसे मैं अच्छा

§ २९८. लोकमें इन्द्रियोंको पारतन्त्र्य विवक्षा देखी जाती है । जैसे इस आँखसे मैं अच्छा देखता हूँ, इस कानसे मैं अच्छा सुनता हूँ । अतः पारतन्त्र्य विवक्षामें स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका करणपना बन जाता है । वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नाम-कर्मके आलम्बनसे आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा स्वाद लेता है वह रसन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूँघता है वह घ्राण इन्द्रिय है । चक्षि धातुके अनेक अर्थ हैं । उनमेंसे यहाँ दर्शनरूप अर्थ लिया गया है इसलिए जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है । इसीप्रकार इन इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है । जैसे यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । और इसलिए इन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको कर्ताकारकमें सिद्धि होती है । यथा—जो स्पर्श करती है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो स्वाद लेती है वह रसन इन्द्रिय है, जो सूँघती है वह घ्राण इन्द्रिय है, जो देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है और जो सुनती है वह कर्ण इन्द्रिय है । सूत्रमें इन इन्द्रियोंका जो स्पर्शनके बाद रसना और उसके बाद घ्राण इत्यादि क्रमसे निर्देश किया है वह एक-एक इन्द्रियको इस क्रमसे वृद्धि होती है यह दिखलानेके लिए किया है ।

§ २९९. अब उन इन्द्रियोंका विषय दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्शन, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रमसे उन इन्द्रियोंके विषय हैं ॥२०॥

§ ३००. द्रव्य और पर्यायकी प्राधान्य विवक्षामें स्पर्शादि शब्दोंकी क्रमसे कर्मसाधन अरी भावसाधनमें सिद्धि जानना चाहिए । जब द्रव्यकी अपेक्षा प्रधान रहती है तब कर्मनिर्देश होता है । जैसे—जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है, जो स्वादको प्राप्त होता है वह रस है, जो सूँघा जाता है वह घ्राण है जो देखा जाता है वह वर्ण है और जो शब्दरूप होता है वह शब्द है । इस

१. जिघ्रत्यनेन घ्राणं गन्धं गृह्णातीति । रसयत्यनेनेन रसनं रसं गृह्णातीति । चष्टेऽनेनेति चक्षु रूपं पश्यतीति × × शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति । —वा० भा० १, १, १२ । २. इमानिन्द्रियाणि कदाचित्स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति । तद्यथा—इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । कदाचित्पारतन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति—अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि । अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि इति । —पा० म० सा० १।२।१५९ । ३. गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थः । —वा० भा० १।

वर्ण्यत इति वर्णः । शब्दघत इति शब्दः । पर्यायप्राधान्यविवक्षायां भावनिर्देशः । स्पर्शनं स्पर्शः । रसनं रसः । गन्धनं गन्धः । वर्णनं वर्णः । शब्दनं शब्द¹ इति । एषां क्रम इन्द्रियक्रमेणैव व्याख्यातः ।

§ 301. अत्राह, यत्तावन्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियं न भवतीति प्रत्याख्यातं तत्किमुपयोग-
स्योपकारि उत नेति । तदव्युपकार्येव । तेन विनेन्द्रियाणां विषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात् । किञ्चा-
स्येषां सहकारित्वमात्रमेव प्रयोजनमुतान्यदपीत्यत आह—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥21॥

§ 302. श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतम् । स विषयोऽनिन्द्रियस्य; परिप्राप्तश्रुतज्ञानावरण-
क्षयोपशमस्यात्मनः ²श्रुतार्थेऽनिन्द्रियालम्बनज्ञानप्रवृत्तेः । अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतम्, तदनिन्द्रियस्यार्थः
प्रयोजनमिति यावत् । स्वातन्त्र्यसाध्यमिदं प्रयोजनमनिन्द्रियस्य ।

§ 303. उपतानामिन्द्रियाणां प्रतिनियतविषयाणां स्वामित्वनिर्देशे कर्तव्ये यत्प्रथमं गृहीतं
स्पर्शनं तस्य तावत्स्वामित्वावधारणार्थमाह—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥22॥

व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक द्रव्य ठहरते हैं । तथा जब पर्यायकी विवक्षा प्रधान रहती
है तब भावनिर्देश होता है । जैसे—स्पर्शन स्पर्श है, रसन रस है, गन्धन गन्ध है, वर्णन वर्ण है
और शब्दन शब्द है । इस व्युत्पत्तिके अनुसार ये सब स्पर्शादिक धर्म निश्चित होते हैं । इन
स्पर्शादिकका क्रम इन्द्रियोंके क्रमसे ही व्याख्यात है । अर्थात् इन्द्रियोंके क्रमको ध्यानमें रखकर
इनका क्रमसे कथन किया है ।

§ 301. आगे कहते हैं कि मन अनवस्थित है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं । इस प्रकार जो
मनके इन्द्रियपनेका निषेध किया है, सो यह मन उपयोगका उपकारी है या नहीं ? मन भी उप-
कारी है, क्योंकि मनके बिना स्पर्शादि विषयोंमें इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धि करनेमें
समर्थ नहीं होतीं । तो क्या इन्द्रियोंकी सहायता करना ही मनका प्रयोजन है या और भी इसका
प्रयोजन है ? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

श्रुत मनका विषय है ॥21॥

§ 302. श्रुतज्ञानका विषयभूत अर्थ श्रुत है वह अनिन्द्रिय अर्थात् मनका विषय है, क्योंकि
श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमको प्राप्त हुए जीवके श्रुतज्ञानके विषयमें मनके आलम्बनसे ज्ञान की
प्रवृत्ति होती है । अथवा श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है । और वह मनका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है ।
यह प्रयोजन मनके स्वतः आधीन है, इसमें उसे दूसरेके साहाय्यकी आवश्यकता नहीं लेनी पड़ती ।

विशेषार्थ—यहाँ श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञानका विषय या श्रुतज्ञान किया है और उसे
अनिन्द्रियका विषय बतलाया है । आशय यह है कि श्रुतज्ञानकी उपयोग दशा पाँच इन्द्रियोंके
निमित्तसे न होकर केवल अनिन्द्रियके निमित्तसे होती है । इसका यह अभिप्राय नहीं कि अनि-
न्द्रियके निमित्तसे केवल श्रुतज्ञान ही होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार
मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनोंके निमित्तसे होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान इन दोनोंके
निमित्तसे न होकर केवल अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है । इन्द्रियाँ परम्परा निमित्त हैं ।

§ 303. किस इन्द्रियका क्या विषय है यह बतला आये । अब उनके स्वामीका कथन
करना है, अतः सर्व प्रथम जो स्पर्शन इन्द्रिय कही है उसके स्वामीका निश्चय करनेके लिए आगे-
का सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकायिक तपके जीवोंके एक अर्थात् प्रथम इन्द्रिय होती है ॥22॥

1. — शब्दः । एषा — मु. ता । — शब्दः । तेषां — मु. । 2. श्रुतस्मार्थ — मु. ता., ना. ।

§ 304. एकं प्रथममित्यर्थः । किं तत् ? स्पर्शनम् । तत्केषाम् ? पृथिव्यादीनां वनस्पत्य-
न्यतनां वेदितुम्यम् । तस्योत्पत्तिकारणमुच्यते — वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमं सः
शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये च शरीरनामलाभावच्छम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदयवर्शतितायां
सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

§ 305. इतरेषामिन्द्रियाणां स्वामित्वप्रदर्शनार्थमाह—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ 23॥

§ 306. 'एकैकम्' इति बोधसायां द्वित्वम् । एकैकेन वृद्धानि एकैकवृद्धानि । कृमिमादि¹
कृत्वा, स्पर्शनाधिकारात् स्पर्शनमादि कृत्वा एकैकवृद्धानीत्यभिसम्बन्धः श्रियते । 'आदि'शब्दः
प्रत्येकं परिसमाप्यते । कृम्यादीनां स्पर्शनं रसनाधिकम्, पिपीलिकादीनां स्पर्शनरसने घ्राणधिके,
भ्रमरादीनां स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुरधिकानि, मनुष्यादीनां ताप्येव श्रोत्राधिकानीति यथा-
संस्थेनाभिसम्बन्धो व्याख्यातः । तेषां निष्पत्तिः स्पर्शनोत्पत्त्या व्याख्याता उत्तरोत्तरसर्वधाति-
स्पर्धकोदयेन ।

§ 307. एवमेतेषु संसारिषु द्विभेदेषु इन्द्रियभेदात्पञ्चविधेषु ये पञ्चेन्द्रियास्तद्भेदस्या-
नुक्तस्य प्रतिपादनार्थमाह—

§ 304. सूत्रमें आये हुए 'एक' शब्दका अर्थ प्रथम है । शंका—यह कौन है ? समाधान—
स्पर्शन । शंका—वह किन जीवोंके होती है ? समाधान—पृथिवीकायिक जीवोंसे लेकर वनस्पति-
कायिक तकके जीवोंके जानना चाहिए । अब उसकी उत्पत्तिके कारणका कथन करते हैं—वीर्या-
न्तराय तथा स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर और शेष इन्द्रियोंके सर्वधाती
स्पर्धकोंके उदयके होनेपर तथा शरीर नामकर्मके आलम्बनके होनेपर और एकेन्द्रिय जाति नाम-
कर्मके उदयकी आधीनताके रहते हुए एक स्पर्शन इन्द्रिय प्रकट होती है ।

§ 305. अब इतर इन्द्रियोंके स्वामित्वका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य आदिके क्रमसे एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है ॥ 23॥

§ 306. 'एकैकम्' यह बोधसामे द्वित्व है । इन्द्रियाँ एक-एकके क्रमसे बढ़ी हैं इसलिए वे
'एकैकवृद्ध' कही गयी हैं । ये इन्द्रियाँ कृमिसे लेकर बढ़ी हैं । स्पर्शन इन्द्रिय का अधिकार है, अतः
स्पर्शन इन्द्रियसे लेकर एक-एकके क्रमसे बढ़ी हैं इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध कर लेना चाहिए ।
आदि शब्दका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होता है । जिससे यह अर्थ हुआ कि कृमि आदि जीवोंके
स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । पिपीलिका आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण
ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । भ्रमर आदि जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ
होती हैं । मनुष्यादिकके श्रोत्र इन्द्रियके और मिला देनेपर पाँच इन्द्रियाँ होती हैं । इस प्रकार
उक्त जीव और इन्द्रिय इनका यथाक्रमसे सम्बन्धका व्याख्यान किया । पहले स्पर्शन इन्द्रियकी
उत्पत्तिका व्याख्यान कर आये हैं उसी प्रकार शेष इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका व्याख्यान करना
चाहिए । किन्तु उत्पत्तिके कारणका व्याख्यान करते समय जिस इन्द्रियकी उत्पत्तिके कारणका
व्याख्यान किया जाय, वहाँ उससे अगली इन्द्रिय सम्बन्धी सर्वधाती स्पर्धकोंके उदयके साथ वह
व्याख्यान करना चाहिए ।

§ 307. इस प्रकार इन दो प्रकारके और इन्द्रिय-भेदोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारके संसारी
जीवोंमें जो पञ्चेन्द्रिय जीव हैं उनके भेद नहीं कहे, अतः उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

1. —कृम्यादि आ. 1. —कृम्यादि दि. 1, दि. 2 ।

संज्ञिनः समनस्काः ॥24॥

§ 308. मनो व्याख्यातम् । सह तेन ये वर्तन्ते ते समनस्काः । संज्ञिन¹ इत्युच्यन्ते । पारि-
शेष्यादितरे संसारिणः प्राणिनोऽसंज्ञिन इति सिद्धम् । ननु च संज्ञिन इत्यनेनैव गतार्थत्वात्-
समनस्का इति विशेषणमनर्थकम्² । यतो मनोव्यापारो हिताहितप्राप्तिपरिहारपरीक्षा । संज्ञापि
सैवेति । नैतद्युक्तम्, संज्ञाशब्दार्थव्यभिचारात् । संज्ञा नामेत्युच्यते । तद्वन्तः संज्ञिन इति सर्वेषां-
मतिप्रसङ्गः । संज्ञा ज्ञानमिति चेत् ; सर्वेषां प्राणिनां ज्ञानात्मकत्वादिति प्रसङ्गः । आहारादिविषया-
भिलाषः संज्ञेति चेत् । तुल्यम् । तस्मात्समनस्का इत्युच्यते । एवं च कृत्वा गर्भजं अणुजं मूर्च्छित-
सुषुप्त्याद्यवस्थासु हिताहितपरीक्षाभावेऽपि मनःसंनिधानात्संज्ञित्वमुपपन्नं भवति ।

§ 309. यदि हिताहितादिविषयपरिस्पन्दः प्राणिनां मनःप्राणिधानपूर्वकः । अथाभिनव-
शरीरग्रहणं प्रत्यापूर्णस्य विशेषणपूर्वभूतनिर्मनस्कस्य यत्कर्म तत्कृत इत्युच्यते—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥25॥

मनवाले जीव संज्ञी होते हैं ॥24॥

§ 308. मनका व्याख्यान कर आयेही उसके साथ जो रहते हैं वे समनस्क कहलाते हैं ।
और उन्हें ही संज्ञी कहते हैं । परिशेष न्यायसे यह सिद्ध हुआ कि इनसे अतिरिक्त जितने संसारी
जीव होते हैं वे सब असंज्ञी होते हैं । शंका—सूत्रमें 'संज्ञिनः' इतना पद देनेसे ही काम चल जाता
है, अतः 'समनस्काः' यह विशेषण देना निष्फल है, क्योंकि हितकी प्राप्ति और अहितके त्यागकी
परीक्षा करनेमें मनका व्यापार होता है और यही संज्ञा है ? समाधान—यह कहना उचित नहीं,
क्योंकि संज्ञा शब्दके अर्थमें व्यभिचार पाया जाता है । अर्थात् संज्ञा शब्दके अनेक अर्थ हैं । संज्ञा-
का अर्थ नाम है । यदि नामवाले जीव संज्ञी माने जायें तो सब जीवोंको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त
होता है । संज्ञाका अर्थ यदि ज्ञान लिया जाता है तो भी सभी प्राणी ज्ञानस्वभाव होनेसे सबको
संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है । यदि आहारादि विषयोंकी अभिलाषाको संज्ञा कहा जाता है
तो भी पहलेके समान दोष प्राप्त होता है । अर्थात् आहारादि विषयक अभिलाषा सबके पायी
जाती है, इसलिए भी सबको संज्ञीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है । चूँकि ये दोष न प्राप्त हों अतः
सूत्रमें 'समनस्काः' यह पद रखा है । इससे यह लाभ है कि गर्भज, अणुज, मूर्च्छित और सुषुप्ति
आदि अवस्थाओंमें हिताहितकी परीक्षाके न होनेपर भी मनके सम्बन्धसे संज्ञीपना बन जाता है ।

विशेषार्थ—प्रायः एकेन्द्रिय आदि प्रत्येक जीव अपने इष्ट विषयमें प्रवृत्ति करता है और
अनिष्ट विषयसे निवृत्त होता है, फिर भी मनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है सो इसका
कारण यह है कि तुलनात्मक अध्ययन, लोक-परलोकका विचार, हिताहितका विवेक आदि
कार्य ऐसे हैं जो मनके बिना नहीं हो सकते । इसीसे मनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है ।
यह मन जिनके होता है वे संज्ञी होते हैं अन्य नहीं । जीवोंका संज्ञी और असंज्ञी यह भेद पंचेन्द्रिय
जीवोंमें ही पाया जाता है । अन्य एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके जीव तो असंज्ञी ही होते
हैं । अर्थात् उनके मन न होनेसे वे उक्त प्रकारके ज्ञानसे वंचित रहते हैं ।

§ 309. यदि जीवोंके हित और अहित आदि विषयके लिए क्रिया मनके निमित्तसे
होती है तो जिसने पूर्व शरीरको छोड़ दिया है और जो मनरहित है ऐसा जीव जब नूतन शरीर
को ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता है तब उसके जो क्रिया होती है वह किस निमित्तसे होती है
यही बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतिमें कर्मणकाय योग होता है ॥ 25 ॥

1. —ज्ञिनः उच्य—दि. 1, दि. 2, आ. । 2. —नर्थकम् । मनो—ता. ना. ।

§ 310. विग्रहो देहः । विग्रहार्था गतिविग्रहगतिः । अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः¹ । कर्मादानेऽपि नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः । विग्रहेण गतिविग्रहगतिः । सर्वशरीर-प्ररोहणबीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते । योगो बाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरि-स्पन्दः । कर्मणा कृतो योगः कर्मयोगो विग्रहगतौ भवतीत्यर्थः । तेन कर्मादानं देशान्तरसंक्रमश्च भवति ।

§ 311. आह जीवपुद्गलानां गतिमास्कन्दतां देशान्तरसंक्रमः किमाकाशप्रदेशक्रमवृत्त्या भवति, उताविशेषेणेत्यत आह—

अनुश्रेणि गतिः ॥26॥

§ 312. लोकमध्यादारम्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसंनिविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिः इत्युच्यते । 'अनु'शब्दस्यानुपूर्व्येण वृत्तिः । 'श्रेणे'रानुपूर्व्येणानुश्रेणीति जीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवतीत्यर्थः । अनधिकृतानां पुद्गलानां कथं ग्रहणमिति चेत् । गतिग्रहणात् । यदि जीवाना-मेव गतिरिष्टा स्याद् गतिग्रहणमनर्थकम् ; अधिकारात्तत्सिद्धेः । उत्तरत्र जीवग्रहणाच्च पुद्गल-संप्रत्ययः । ननु चन्द्रादीनां ज्योतिष्काणां² मेरुप्रदक्षिणाकाले विद्याधरादीनां च विश्रेणिगतिरपि दृश्यते, तत्र किमुच्यते, 'अनुश्रेणि गतिः' इति । कालदेशनियमोऽत्र वेदितव्यः । तत्र कालनियम-

§ 310. विग्रहका अर्थ देह है । विग्रह अर्थात् शरीरके लिए जो गति होती है वह विग्रह गति है । अथवा विरुद्ध ग्रहको विग्रह कहते हैं जिसका अर्थ व्याघात है । तात्पर्य यह है कि जिस अवस्थामें कर्मके ग्रहण होनेपर भी नोकर्मरूप पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह है और इस विग्रहके साथ होनेवाली गतिका नाम विग्रहगति है । सब शरीरोंकी उत्पत्तिके मूलकारण कार्मण शरीरको कर्म कहते हैं । तथा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके हलनचलनको योग कहते हैं । कर्मके निमित्तसे जो योग होता है वह कर्मयोग है । वह विग्रहगतिमें होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इससे नूतन कर्मका ग्रहण और एक देशसे दूसरे देशमें गमन होता है ।

§ 311. गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंका एक देशसे दूसरे देशमें गमन क्या आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिक्रमसे होता है या इसके बिना होता है, अब इसका खुलासा करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गति श्रेणीके अनुसार होती है ॥26॥

§ 312. लोकके मध्यसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं । अनु शब्द 'आनुपूर्वी' अर्थमें समसित है । इसलिए 'अनुश्रेणि' का अर्थ 'श्रेणीकी आनुपूर्वीसे' होता है । इस प्रकारकी गति जीव और पुद्गलोंकी होती है यह इसका भाव है । शंका—पुद्गलोंका अधिकार न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण कैसे हो सकता है ? समा-धान—सूत्रमें गतिपदका ग्रहण किया है इससे सिद्ध हुआ कि अनधिकृत पुद्गल भी यहाँ विवक्षित हैं । यदि जीवोंकी गति ही इष्ट होती तो सूत्रमें गति पदके ग्रहण करनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि गति पदका ग्रहण अधिकारसे सिद्ध है । दूसरे अगले सूत्रमें जीव पदका ग्रहण किया है, इसलिए इस सूत्रमें पुद्गलोंका भी ग्रहण इष्ट है यह ज्ञान होता है । शंका—चन्द्रमा आदि ज्योति-षियोंकी और मेरुकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी विश्रेणी गति देखी जाती है, इसलिए जीव और पुद्गलोंकी अनुश्रेणी गति होती है यह किसलिए कहा ? समाधान—यहाँ कालनियम और देशनियम जानना चाहिए । कालनियम यथा—मरणके समय जब जीव एक भवको छोड़कर

1. -व्याघातः । नोकर्म—ता., ना. । 2. -रानुपूर्व्येणा- आ. । 3. ज्योतिषां आ., दि. 1, दि. 2 ।

स्तावज्जीवानां मरणकाले भवान्तरसंक्रमे मुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गतिः । देश-
नियमोऽपि ऊर्ध्वलोकादधोगतिः, अधोलोकादूर्ध्वगतिः, तिर्यग्लोकादधोगतिरूर्ध्वा वा तत्रानुश्रेण्येव ।
पुद्गलानां च या लोकान्तप्रविणी सा नियमादनुश्रेण्येव । इतरा गतिर्भजनीया ।

§ 313. पुनरपि गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अविग्रहा जीवस्य ॥27॥

§ 314. विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः । स यस्यां न विद्यतेऽसावविग्रहा गतिः ।
कस्य ? जीवस्य । कीदृशस्य ? मुक्तस्य । कथं गम्यते मुक्तस्येति ? उत्तरसूत्रे संसारिग्रहणादिह
मुक्तस्येति विज्ञायते । ननु च 'अनुश्रेणि गतिः' इत्यनेनैव श्रेण्यन्तरसंक्रमाभावो व्याख्यातः ।
नार्थोऽनेन । पूर्वसूत्रे विश्रेणिगतिरपि क्वचिदस्तीति ज्ञापनार्थमिदं वचनम् । ननु तत्रैव देशकाल-
नियम उक्तः । न; अतस्तत्सिद्धेः ।

§ 315. यद्यसङ्गस्यात्मनोऽप्रतिबन्धेन गतिरालोकान्तादवधृतकाला¹ प्रतिज्ञायते, सदेहस्य
पुनर्गतिः किं प्रतिबन्धिनी उत मुक्तात्मवदित्यत आह—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥28॥

दूम्नरे भवके लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब ऊर्ध्व गमन करते हैं तब उनकी गति अनु-
श्रेणि ही होती है । देशनियम यथा—जब कोई ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोकसे
ऊर्ध्वलोकके प्रति आता जाता है । इसी प्रकार तिर्यग्लोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोक से
ऊर्ध्वलोकके प्रति आता जाता है तब उस अवस्थामें गति अनुश्रेणि ही होती है । इसी प्रकार
पुद्गलोंकी जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है । हाँ, इसके
अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणि भी होती है और विश्रेणि भी । किसी एक प्रकारकी गति
होनेका कोई नियम नहीं है ।

§ 313. अब फिर भी गति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मुक्त जीवकी गति विग्रहरहित होती है ॥27॥

§ 314. विग्रहका अर्थ व्याघात या कुटिलता है । जिस गतिमें विग्रह अर्थात् कुटिलता
नहीं होती वह विग्रहरहित गति है । शंका—यह किसके होती है ? समाधान—जीवके । शंका—
किस प्रकारके जीवके ? समाधान—मुक्त जीवके । शंका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है कि
मुक्त जीवके विग्रहरहित गति होती है ? समाधान—अगले सूत्रमें 'संसारी'पदका ग्रहण किया है
इससे ज्ञात होता है कि इस सूत्रमें मुक्त जीवके विग्रहरहित गति ली गयी है । शंका—'अनुश्रेणि
गतिः' इस सूत्रसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि एक श्रेणिसे दूसरी श्रेणिमें संक्रमण नहीं होता फिर
इस सूत्रके लिखनेसे क्या प्रयोजन है ? समाधान—पूर्व सूत्रमें कहींपर विश्रेणिगति भी होती है
इस बातका ज्ञान करानेके लिए यह सूत्र रचा है । शंका—पूर्वसूत्रकी टीकामें ही देशनियम और
कालनियम कहा है ? समाधान—नहीं; क्योंकि उसकी सिद्धि इस सूत्रसे होती है ।

§ 315. मुक्तात्माकी लोकपर्यन्त गति बिना प्रतिबन्धके नियत समयके भीतर होती है
यदि ऐसा आपका निश्चय है तो अब यह बतलाइए कि सदेह आत्माकी गति क्या प्रतिबन्धके
साथ होती है या मुक्तात्माके समान बिना प्रतिबन्धके होती है, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए
आगेका सूत्र कहते हैं—

संसारी जीवकी गति विग्रहरहित और विग्रहवाली होती है । उसमें विग्रहवाली गति चार
समयसे पहले अर्थात् तीन समय तक होती है ।

1. -न्तादवगतकाला मु. ।

§ 316. कालावधारणार्थं 'प्राक्चतुर्भ्यः' इत्युच्यते । 'प्राग्' इति वचनं मर्यादार्थम्, चतुर्थात्समयात्प्राग्विग्रहवती गतिर्भवति न चतुर्थे इति । कुत इति चेत् ? सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे उत्पित्तुः प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावादिषु गत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणतिमित्तां त्रिविग्रहां गतिमारभते नोर्ध्वम्; तथाविधोपपादक्षेत्राभावात् । 'च'शब्दः समुच्चयार्थः । विग्रहवती चाविग्रहा¹ चेति ।

§ 317. विग्रहवत्या गतेः कालोऽवधूतः । अविग्रहायाः कियान् काल इत्युच्यते—

एकसमयाऽविग्रहा ॥29॥

§ 318. एकः समयो² यस्याः सा एकसमया । न विद्यते विग्रहो³ यस्याः सा अविग्रहा । गतिमतां हि जीवपुद्गलानामध्याघातेनैकसमयिकी गतिरालोकान्तादपोति ।

§ 319. अनादिकर्मबन्धसंततो मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययवशात्कर्माण्याददानो विग्रहगतावत्याहारकः प्रसक्तस्ततो नियमार्थमिवमुच्यते—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥30॥

§ 320. अधिकारात्समयाभिसंबन्धः । 'वा'शब्दो विकल्पार्थः । विकल्पश्च यथेच्छाति-सर्गः । एकं वा द्वौ वा त्रीन्वा 'समयाननाहारको भवतीत्यर्थः । त्रयाणां शरीराणां वर्णानां पर्याप्तीनां

§ 316. कालका अवधारण करनेके लिए 'प्राक्चतुर्भ्यः' पद दिया है । 'प्राक्' पद मर्यादा निश्चित करनेके लिए दिया है । चार समयसे पहले मोड़ेवाली गति होती है, चौथे समयमें नहीं यह इसका तात्पर्य है । शंका—मोड़ेवाली गति चार समयसे पूर्व अर्थात् तीन समय तक ही क्यों होती है चौथे समय समयमें क्यों नहीं होती ? समाधान—निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले दूसरे निष्कुट क्षेत्र वाले जीवको सबसे अधिक मोड़े लेने पड़ते हैं; क्योंकि वहाँ आनुपूर्वसि अनुश्रेणिका अभाव होने से इषुगति नहीं हो पाती । अतः यह जीव निष्कुट क्षेत्रको प्राप्त करनेके लिए तीन मोड़ेवाली गतिका आरम्भ करता है । यहाँ इससे अधिक मोड़ोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि इस प्रकारका कोई उपपादक्षेत्र नहीं पाया जाता, अतः मोड़ेवाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समयमें नहीं होती । 'च' शब्द समुच्चयके लिए दिया है । जिससे विग्रहवाली और विग्रहरहित दोनों गतियों का समुच्चय होता है ।

§ 317. विग्रहवाली गतिका काल मालूम पड़ा । अब विग्रहरहित गतिका कितना काल है इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक समयवाली गति विग्रहरहित होती है ॥29॥

§ 318. जिस गतिमें एक समय लगता है वह एक समयवाली गति है । जिस गतिमें विग्रह अर्थात् मोड़ा नहीं लेना पड़ता वह मोड़ारहित गति है । गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंके व्याघातके अभावमें एक समयवाली गति लोकपर्यन्त भी होती है यह इस सूत्रका तात्पर्य है ।

§ 319. कर्मबन्धकी परम्परा अनादिकालीन है, अतः मिथ्यादर्शन आदि बन्ध कारणोंके वशसे कर्मोंको ग्रहण करनेवाला जीव विग्रहगतिमें भी आहारक प्राप्त होता है, अतः नियम करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक, दो या तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है ॥30॥

§ 320 समयका अधिकार होनेसे यहाँ उसका सम्बन्ध होता है । 'वा' पदका अर्थ विकल्प है और विकल्प जहाँ तक अभिप्रेत है वहाँ तक लिया जाता है । जीव एक समय तक, दो समय

1 चाविग्रहवती चेति मु. । 2. समयोऽस्याः, एक- आ., दि. 1 । समयोऽस्याः सा एक- दि, 2, ता., ना. ।

3. —ग्रहोऽस्याः अवि- आ., दि. 1, ता., ना. । 4. 'कालावधनोऽत्यन्तसंयोगे ।'—पा. 2, 3, 5 ।

योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः । तदभावादनाहारकः । कर्मादानं हि निरन्तरं कर्मणशरीरसद्भावे । उपपादक्षेत्रं प्रति ऋज्व्यां गतौ आहारकः । इतरेषु त्रिषु समयेषु अनाहारकः ।

§ 321. एवं गच्छतोऽभिनवमूर्त्यन्तरनिर्वृत्तिप्रकारप्रतिपादनार्थमाह—

संमूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥31॥

§ 322. त्रिषु लोकेष्वध्वंमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो मूर्च्छनं संमूर्च्छनमवयवप्रकल्पनम् । स्त्रिया उदरे ^१शुक्रशोणितयोगरणं मिश्रणं गर्भः । ^२मात्रोपभुक्ताहारगरणाद्वा गर्भः । उपेत्य ^४पद्य-
तेऽस्मिन्निति उपपादः । देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेषसंज्ञा । एते त्रयः संसारिणां जीवानां जन्म-
प्रकाराः शुभाशुभपरिणामनिमित्तकर्मभेदविपाककृताः ।

§ 323. अथाधिकृतस्य संसारविषयोपभोगोपलब्ध्यधिष्ठानप्रवणस्य जन्मनो योगि-
विकल्पा^६ वक्तव्या इत्यत आह—

सच्चित्शीतसंवृतः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥32॥

§ 324. आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम् । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः । शीत
इति स्पर्शविशेषः, शुक्लादिवदुभयवचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमय^७ह^७ । सम्पद्भूतः संवृतः । संवृत इति

तक या तीन समय तक अनाहारक होता है यह इस सूत्रका अभिप्राय है । तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । जिन जीवोंके इस प्रकारका आहार नहीं होता वे अनाहारक कहलाते हैं । किन्तु कर्मण शरीरके सद्भावमें कर्मके ग्रहण करनेमें अन्तर नहीं पड़ता । जब यह जीव उपपादक्षेत्रके प्रति ऋजुगतिमें रहता है तब आहारक होता है । बाकीके तीन समयोंमें अनाहारक होता है ।

§ 321. इस प्रकार अन्य गतिको गमन करनेवाले जीवके नूतन दूसरे पर्यायिकी उत्पत्तिके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

संमूर्च्छन, गर्भ और उपपाद ये (तीन) जन्म हैं ॥31॥

§ 322. तीनों लोकोंमें ऊपर, नीचे और तिरछे देहका चारों ओरसे मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना संमूर्च्छन है । इतका अभिप्राय है चारों ओरसे पुद्गलोंका ग्रहण कर अवयवोंकी रचना होना । स्त्रीके उदरमें शुक्र और शोणितके परस्पर गरण अर्थात् मिश्रणको गर्भ कहते हैं । अथवा माताके द्वारा उपभुक्त आहारके गरण होनेको गर्भ कहते हैं । प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते हैं । उपपाद यह देव और नारकियोंके उत्पत्तिस्थान विशेषकी संज्ञा है । संसारी जीवोंके ये तीनों जन्मके भेद हैं, जो शुभ और अशुभ परिणामोंके निमित्तसे अनेक प्रकारके कर्म बँधते हैं, उनके फल हैं ।

§ 323. यहाँ तक संसारी विषयोंके उपभोगकी प्राप्तिमें आधारभूत जन्मोंका अधिकार था । अब इनकी योनियोंके भेद कहने चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये उसकी अर्थात् जन्मकी योनियाँ हैं ॥32॥

§ 324. आत्माके चैतन्यविशेषरूप परिणामको चित्त कहते हैं । जो चित्तके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है । शीत यह स्पर्शका एक भेद है । शुक्ल आदिके समान यह द्रव्य और

1. -निर्वृत्तिजन्मप्रका- मु. । 2. शुक्लशोणित- ता., ना., दि. 1, मु. । 3. मात्रोपभुक्त- मु. । मात्रो-पभुक्त—दि. 1, दि. 2 । 4. उपेत्योत्पद्य- मु. । 5. -अध्व्याधिष्ठा- आ., दि. 1, दि. 2 । 6. -कल्पो वक्तव्यः आ. ता., ना. । 7. सम्पद्भूतः संवृत इति आ, दि. 1, दि. 2 ।

दुस्फलक्ष्यप्रदेश उच्यते । सह इतरैर्वर्तन्त इति सेतराः । सप्रतिपक्षा इत्यर्थः । के पुनरितरे ? अचित्तोष्णविवृताः । उभयात्मको मिश्रः । सचित्ताचित्तः शीतोष्णः संवृतविवृत इति । 'च'शब्दः समुच्चयार्थः मिश्राश्च योनयो भवन्तीति । इतरथा हि पूर्वोक्तानामेव विशेषणं स्यात् । 'एकशः' इति वीप्सार्थः । तस्य ग्रहणं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम् । यथैवं विज्ञायेत—सचित्तश्च अचित्तश्च, शीतश्च उष्णश्च, संवृतश्च विवृतश्चेति । मैवं विज्ञायि—सचित्तश्च शीतश्चेत्यादि । 'तद्ग्रहणं जन्मप्रकारप्रतिनिर्देशार्थम् । तेषां संमूर्च्छनादीनां जन्मनां योनय इति । त एते नव योनयो वेदितव्याः । योनिजन्मनोरविशेष इति चेत् ? न; आधाराधेयभेदात्तद्भेदः । त एते सचित्तादयो योनय आधाराः । आधेया जन्मप्रकाराः । यतः सचित्तादियोन्यधिष्ठाने आत्मा संमूर्च्छनादिना जन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यापुद्गलानुपादत्ते । देवनारका अचित्तयोनयः । तेषां हि योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचययोऽचित्तः । गर्भजा मिश्रयोनयः । तेषां हि मानुस्सदरे शुक्रशोणितमचित्तम्, तदात्मना चित्तवता मिश्रणान्मिश्रयोनिः¹ । संमूर्च्छनजास्त्रिविकल्पयोनयः । केचित्सचित्तयोनयः ॥ अन्ये अचित्तयोनयः । अपरे मिश्रयोनयः । सचित्तयोनयः साधारणशरीराः । कुतः ? परस्पराश्रयत्वात् । इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च । शीतोष्णयोनयो देवनारकाः । तेषां हि उपपादस्थानानि

गुण दोनोंका वाची है, अतः शीतगुणवाला द्रव्य भी शीत कहलाता है । जो भले प्रकार ढका हो वह संवृत कहलाता है । यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमें न आवे । इतर का अर्थ अन्य है और इनके साथ रहनेवाले सेतर कहे जाते हैं । शंका—वे इतर कौन हैं ? समाधान—अचित्त, उष्ण और विवृत । जो उभयरूप होते हैं वे मिश्र कहलाते हैं । यथा—सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत । सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयवाची है । जिससे योनियाँ मिश्र भी होती हैं इसका समुच्चय हो जाता है । यदि 'च' पदका यह अर्थ न लिया जाय तो मिश्रपद पूर्वोक्त पदोंका ही विशेषण हो जाता । 'एकशः' यह पद वीप्सावाची है । सूत्रमें इस पदका ग्रहण क्रम और मिश्रका ज्ञान करानेके लिए किया है । जिससे यह ज्ञान हो कि सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत, विवृत इस क्रमसे योनियाँ ली हैं । यह ज्ञान न हो कि सचित्त, शीत इत्यादि क्रमसे योनियाँ ली हैं । जन्मके भेदोंके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'तत्' पदका ग्रहण किया है । उन संमूर्च्छन आदि जन्मोंकी ये योनियाँ हैं यह इसका भाव है । ये सब मिलाकर नौ योनियाँ जानना चाहिए । शंका—योनि और जन्ममें कोई भेद नहीं ? समाधान—नहीं; क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे उनमें भेद है । ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं और जन्मके भेद आधेय हैं, क्योंकि सचित्त आदि योनिरूप आधारमें संमूर्च्छन आदि जन्मके द्वारा आत्मा शरीर, आहार और इन्द्रियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है । देव और नारकियोंकी अचित्त योनि होती है, क्योंकि उनके उपपाददेशके पुद्गलप्रचयरूप योनि अचित्त है । गर्भजोंकी मिश्र योनि होती है, क्योंकि उनकी माताके उदरमें शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं जिनका सचित्त माताकी आत्मासे मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है । संमूर्च्छनोंकी तीन प्रकारकी योनियाँ होती हैं । किन्हींकी सचित्त योनि होती है, अन्यकी अचित्तयोनि होती है और दूसरोंकी मिश्रयोनि होती है । साधारण शरीरवाले जीवोंकी सचित्त योनि होती है, क्योंकि ये एक-दूसरेके आश्रयसे रहते हैं । इनसे अतिरिक्त शेष संमूर्च्छन जीवोंके अचित्त और मिश्र दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं । देव और नारकियोंकी शीत और उष्ण दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं; क्योंकि उनके कुछ उपपादस्थान शीत हैं और कुछ उष्ण । तेजस्कायिक जीवोंकी उष्णयोनि होती है । इनसे अतिरिक्त जीवोंकी योनियाँ तीन प्रकारकी होती हैं । किन्हींकी शीत योनियाँ होती हैं, किन्हींकी उष्णयोनियाँ होती हैं और

1. —मिश्र मिश्रयोनिः आ., दि. 1, दि. 2 ।

कानिचिच्छ्रोतानि कानिचिदुष्णानीति । उष्णयोनयस्तैजस्कायिकाः । इतरे त्रिविकल्पयोनयः । केचिच्छ्रोतयोनयः । केचिदुष्णयोनयः । अपरे मिश्रयोनय इति । देवनारककेन्द्रियाः संवृतयोनयः । विकलेन्द्रिया विवृतयोनयः । गर्भजाः मिश्रयोनयः । तद्भूदेवाश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्या आगमतो वेदितव्याः । उक्तं च—

“णिच्चिदरधातु सत्त य तरु दस विर्यालिदिण्मु छञ्चेव ।

सुरणिरयतिरिय चउरो चोदस मणुए सदसहस्सा¹ ॥”

§ 325. एवमेतस्मिन्नवयोनिभेदसंकटे त्रिविधजन्मनि सर्वप्राणभूतामनियमेन प्रसक्ते तदवधारणार्थमाह—

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥33॥

§ 326. यज्जालवत्प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुः । यन्नस्त्वक्सदृशमुपात्त-काठिन्यं शुक्रशोणितपरिवरणं परिमण्डलं तदण्डम् । किञ्चित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णविवयो योनि-निर्यतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोतः । जरायु जाता जरायुजाः । अण्ड जाता अण्डजाः । जरायुजाश्च अण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोता गर्भयोनयः ।

§ 327. यद्यमीषां जरायुजाण्डजपोतानां गर्भोऽवधिष्यते, अथोपपादः केषां भवतीत्यत आह—
देवनारकाणामुपपादः ॥34॥

देवानां नारकाणां चोपपादो जन्म वेदितव्यम् ।

किन्हींकी मिश्रयोनियाँ होती हैं । देव, नारकी और एकेन्द्रियोंकी संवृत योनियाँ होती हैं । विकलेन्द्रियोंकी निवृत योनियाँ होती हैं । तथा गर्भजोंकी मिश्र योनियाँ होती हैं । इन सब योनियोंके चौरासी लाख भेद हैं यह बात आगमसे जाननी चाहिए । कहा भी है—

‘नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंकी सात-सात लाख योनियाँ हैं । वृक्षोंकी दस लाख योनियाँ हैं । विकलेन्द्रियोंकी मिलाकर छह लाख योनियाँ हैं । देव, नारकी और तिर्यचोंकी चार-चार लाख योनियाँ हैं तथा मनुष्योंकी चौदह लाख योनियाँ हैं ।’

§ 325. इस प्रकार नौ योनियोंसे युक्त तीन जन्म सब जीवोंके अनियमसे प्राप्त हुए, अतः निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका गर्भजन्म होता है ॥33॥

§ 326. जो जालके समान प्राणियोंका आवरण है और जो मांस और शोणितसे बना है उसे जरायु कहते हैं । जो नखकी त्वचाके समान कठिन है, गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणितसे बना है उसे अण्ड कहते हैं । जिसके सब अवयव बिना आवरणके पूरे हुए हैं और जो योनिसे निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्यसे युक्त है उसे पोत कहते हैं । इनमें जो जरसे पैदा होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं । जो अण्डोसे पैदा होते हैं वे अण्डज कहलाते हैं । सूत्रमें जरायुज, अण्डज और पोत इनका द्वन्द्व समास है । ये सब गर्भकी योनियाँ हैं ।

§ 327. यदि इन जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका गर्भ जन्म निर्णीत होता है तो अब यह बतलाइए कि उपपाद जन्म किन जीवोंके होता है, अतः इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है ॥34॥

1. मूलाचार. गा. 5.29 एवं 12.63 । गो. जी. गा. ।

§ 328. अथान्येषां किं जन्मेत्यत आह—

शेषाणां समूच्छेदनम् ॥35॥

§ 329. गर्भजेभ्य औपपादिकेभ्यश्चान्ये शेषाः । समूच्छेदनं जन्मेति । एते त्रयोऽपि योगा नियमार्थाः । उभयतो नियमश्च द्रष्टव्यः । जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः । गर्भ एव च जरायुजाण्डजपोतानाम् । देवनारकाणामेवोपपादः । उपपाद एव च देवनारकाणाम् । शेषाणामेव समूच्छेदनम् । समूच्छेदनमेव शेषाणामिति ।

§ 330. तेषां पुनः संसारिणां त्रिविधजन्मनामाहितबहुविकल्पनवयोनिभेदानां शुभाशुभनामकर्मविपाकनिर्वर्तितानि बन्धफलानुभवनाधिष्ठानानि शरीराणि कामीत्यत आह—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकर्मणानि शरीराणि ॥36॥

§ 331. विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्ते इति शरीराणि¹ । औदारिकादिप्रकृतिविशेषोदयप्राप्तवृत्तीनि औदारिकादीनि । उदारं स्थूलम् । उदारे² भवं उदारं प्रयोजनमस्येति वा, औदारिकम् । अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणामहच्छरीरविधिकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् । सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमररिजिहोषया वा प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् । यत्तेजोनिमित्तं तेजसि वा भवं तत्तैजसम् । कर्मणां कार्यं कर्मणम् । सर्वेषां कर्मनिमित्तत्वेऽपि रूढिबशाद्विशिष्टविषये वृत्तिरवसेया ।

§ 328. इनसे अतिरिक्त अन्य जीवोंके कौन-सा जन्म होता है । अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेष सब जीवोंका समूच्छेदन जन्म होता है ॥35॥

§ 329. इस सूत्रमें 'शेष' पदसे वे जीव लिये गये हैं जो गर्भ और उपपाद जन्मसे नहीं पैदा होते । इनके समूच्छेदन जन्म होता है । ये तीनों ही सूत्र नियम करते हैं । और यह नियम दोनों ओरसे जानना चाहिए । यथा—गर्भ जन्म जरायुज, अण्डज और पोत जीवोंका ही होता है । या जरायुज, अण्डज और पोत जीवों के गर्भजन्म ही होता है । उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है या देव और नारकियोंके उपपाद जन्म ही होता है । समूच्छेदन जन्म शेष जीवोंके ही होता है या शेष जीवोंके समूच्छेदन जन्म ही होता है ।

§ 330. जो तीन जन्मोंसे पैदा होते हैं और जिनके अपने अवान्तर भेदोंसे युक्त नौ योनियाँ हैं उन संसारी जीवोंके शुभ और अशुभ नामकर्मके उदयसे निष्पन्न हुए और बन्धफलके अनुभव करनेमें आधारभूत शरीर कितने हैं । अब इसी बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कर्मण ये पाँच शरीर हैं ॥36॥

§ 331. जो विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते हैं वे शरीर हैं । इसके औदारिक आदि पाँच भेद हैं । ये औदारिक आदि प्रकृति विशेषके उदयसे होते हैं । उदार और स्थूल ये एकार्थवाची शब्द हैं । उदार शब्दसे होनेरूप अर्थमें या प्रयोजनरूप अर्थमें ठक् प्रत्यय होकर औदारिक शब्द बनता है । अणिमा आदि आठ गुणोंके ऐश्वर्यके सम्बन्धसे एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकारका शरीर करना विक्रिया है । यह विक्रिया जिस शरीरका प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है । सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान करनेके लिए या असंयमको दूर करनेकी इच्छासे प्रमत्तसंयत जिस शरीरकी रचना करता है वह आहारक शरीर है । जो दीप्तिका कारण है या तेजमें उत्पन्न होता है उसे तैजस शरीर कहते हैं । कर्मोंका कार्य कर्मण शरीर है । यद्यपि सब शरीर कर्मके निमित्तसे होते हैं तो भी रूढ़िसे विशिष्ट शरीरको कर्मण शरीर कहा है ।

1. 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।' न्या. सू. 1, 1. 11 । 2. उदारे भवमौदारिकम् । उदारं मु. ।

§ 332. यथौदारिकस्येन्द्रियैरुपलब्धिस्तथेतरेषां कस्मान्न भवतीत्यत आह—

परं परं सूक्ष्मम् ॥37॥

§ 333. 'पर'शब्दस्यानेकार्थवृत्तित्वेऽपि विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः । पृथग्भूतानां, शरीराणां सूक्ष्मगुणेन बोध्यानिर्देशः क्रियते परम्परमिति । औदारिकं स्थूलम्, ततः सूक्ष्मं वैक्रियिकम्, ततः सूक्ष्मं आहारकम् ततः सूक्ष्मं तैजसम्, तैजसात्कार्मणं सूक्ष्ममिति ।

§ 334. यदि परम्परं सूक्ष्मम्, प्रदेशतोऽपि¹ न्यूनं परम्परं हीनमिति विपरीतप्रतिपत्ति-निवृत्त्यर्थमाह—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥38॥

§ 335. प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः परमाणवः । संख्यामतीतोऽसंख्येयः । असंख्येयो गुणोऽस्य तद्विदमसंख्येयगुणम् । कुतः ? प्रदेशतः । नावगाहतः । परम्परमित्यनुवृत्तेरा कार्मणात्प्रसङ्गे तन्निवृत्त्यर्थमाह प्राक्तैजसादिति । औदारिकादसंख्येयगुणप्रदेशं वैक्रियिकम् । वैक्रियिकादसंख्येयगुण-प्रदेशमाहारकमिति । को गुणकारः । पत्योपमासंख्येयभागः । यद्येवम्, परम्परं महापरिमाणं प्राप्नोति² ? नैवम् ; बन्धविशेषात्परिमाणभेदाभावस्तूलनिचयायःपिण्डवत् ।

§ 336. अथोत्तरयोः किं समप्रदेशत्वमुतास्ति कश्चिद्विशेष इत्यत आह—

§ 332. जिस प्रकार इन्द्रियाँ औदारिक शरीरको जानती हैं उस प्रकार इतर शरीरोंको क्यों नहीं जानती ? अब इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आगे-आगेका शरीर सूक्ष्म है ॥37॥

§ 333. पर शब्दके अनेक अर्थ हैं तो भी यहाँ विवक्षासे व्यवस्थारूप अर्थका ज्ञान होता है । यद्यपि शरीर अलग-अलग हैं तो भी उनमें सूक्ष्म गुणका अन्वय है यह दिखलानेके लिए 'परम्परम्' इस प्रकार बोधा निर्देश किया है । औदारिक शरीर स्थूल है । इससे वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है । इससे आहारक शरीर सूक्ष्म है । इससे तैजस शरीर सूक्ष्म है और इससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है ।

§ 334. यदि ये उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म हैं तो प्रदेशोंकी अपेक्षा भी उत्तरोत्तर हीन होंगे । इस प्रकार विपरीत ज्ञानका निराकरण करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तैजससे पूर्व तीन शरीरोंमें आगे-आगेका शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणा है ॥38॥

§ 335. प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है । इसका अर्थ परमाणु है । संख्या-तीतको असंख्येय कहते हैं । जिसका गुणकार असंख्यात है वह असंख्येयगुणा कहलाता है । शंका—किसकी अपेक्षा ? समाधान—प्रदेशोंकी अपेक्षा, अवगाहनकी अपेक्षा नहीं । पूर्व सूत्रमें 'परम्परम्' इस पदकी अनुवृत्ति होकर असंख्येयगुणत्वका प्रसंग कार्मण शरीर तक प्राप्त होता है अतः उसकी निवृत्तिके लिए सूत्रमें 'प्राक् तैजसात्' पद रखा है । अर्थात् तैजस शरीरसे पूर्ववर्ती शरीर तक ये शरीर उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं । औदारिक शरीरसे वैक्रियिक शरीर असंख्यातगुणे प्रदेशवाला है । शंका—गुणकारका प्रमाण क्या है ? समाधान—पत्यका असंख्यातवाँ भाग । शंका—यदि ऐसा है तो उत्तरोत्तर एक शरीरसे दूसरा शरीर महापरिमाणवाला प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि बन्धविशेषके कारण परिमाणमें भेद नहीं होता । जैसे रुईका ढेर और लोहेका गोला ।

§ 336. आगेके दो शरीरोंके प्रदेश क्या समान हैं या उनमें भी कुछ भेद है । इस बात-

1. —प्रदेशतः । परम्पर-ता., ना. । 2. प्राप्नोति । बन्ध-ता. ।

अनन्तगुणे परे ॥39॥

§ 337. प्रवेशत इत्यनुवर्तते, तेनैवमभिसंबन्धः कियते—आहारकात्तैजसं प्रवेशतोऽनन्तगुणम्, तैजसात्कामर्णं प्रवेशतोऽनन्तगुणगति । को गुणकारः ? अभव्यानामनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागः¹ ।

§ 338. तत्रैतस्याच्छत्यकवन्मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात्संसारिणो जीवस्याभिप्रेतगतिनिरोधप्रसङ्ग इति ? तन्न; किं कारणम् । यस्मादुभे अध्येते—

अप्रतीघाते ॥40॥

§ 339. मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतीघातः । स नास्थनयोरित्यप्रतीघाते; सूक्ष्मपरिणामात् अयःपिण्डे तेजोऽनुप्रवेशवत्तैजसकामर्णयोर्नास्ति वज्रपटलादिषु व्याघातः । ननु च वैक्रियिकाहारकयोरपि नास्ति प्रतीघातः ? सर्वत्राप्रतीघातोऽत्र विवक्षितः । यथा तैजसकामर्णयोरां लोकान्तात् सर्वत्र नास्ति प्रतीघातः, न तथा वैक्रियिकाहारकयोः ।

§ 340. आह किमेतावानेव विशेष उत कश्चिदन्योऽप्यस्तीत्याह—

अनादिसंबन्धे च ॥41॥

§ 341. 'च' शब्दो विकल्पायः । अनादिसंबन्धे सादिसंबन्धे चेति । कार्यकारणभावसंतत्या को बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परवर्ती दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं ॥39॥

§ 337. पूर्व सूत्रसे 'प्रवेशतः' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । जिससे इसकार सम्बन्ध करना चाहिए कि आहारक शरीरसे तैजस शरीरके प्रवेश अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीरसे कामर्ण शरीरके प्रवेश अनन्तगुणे हैं । शंका—गुणकार क्या है ? समाधान—अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंका अनन्तवां भाग गुणकार है ।

§ 338. शंका—जिस प्रकार कील आदिके लग जानेसे कोई भी प्राणी इच्छित स्थानको नहीं जा सकता उसी प्रकार मूर्तिक द्रव्यसे उपचित होनेके कारण संसारी जीवकी इच्छित गतिके निरोधका प्रसंग प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ये दोनों शरीर—प्रतीघातरहित हैं ॥40॥

§ 339. एक मूर्तिक पदार्थका दूसरे मूर्तिक पदार्थके द्वारा जो व्याघात होता है उसे प्रतीघात कहते हैं । इन दोनों शरीरोंका इस प्रकारका प्रतीघात नहीं होता, इसलिए ये प्रतीघात रहित हैं । जिस प्रकार सूक्ष्म होनेसे अग्नि लोहेके गोलेमें प्रवेश कर जाती है । उसी प्रकार तैजस और कामर्ण शरीरका वज्रपटलादिकमें भी व्याघात नहीं होता । शंका—वैक्रियिक और आहारक शरीरका भी प्रतीघात नहीं होता फिर यहाँ तैजस और कामर्ण शरीरको ही अप्रतीघात क्यों कहा ? समाधान—इस सूत्रमें सर्वत्र प्रतीघातका अभाव विवक्षित है । जिस प्रकार तैजस और कामर्ण शरीरका लोक पर्यन्त सर्वत्र प्रतीघात नहीं होता वह बात वैक्रियिक और आहारक शरीरकी नहीं है ।

§ 340. इन दोनों शरीरोंमें क्या इतनी ही विशेषता है या और भी कोई विशेषता है । इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

आत्माके साथ अनादि सम्बन्धवाले हैं ॥41॥

§ 341. सूत्रमें 'च' शब्द विकल्पको सूचित करनेके लिए दिया है । जिससे यह अर्थ हुआ

1. —मनन्तो भागः ता., ना. । 2. —परिमाणात्, मु. ।

अनादिसंबन्धे, विशेषापेक्षया सादिसंबन्धे¹ च बीजवृक्षवत् । यथौदारिकवैक्रियिकाहारकाणि जीवस्य कदाचित्कानि, न तथा तैजसकर्मणे । नित्यसंबन्धिनी हि ते आ संसारक्षयात् ।

§ 342. त एते तैजसकर्मणे किं कस्यचिदेव भवत उताविशेषेणेत्यत आह—

सर्वस्य ॥42॥

§ 343. 'सर्व' शब्दो निरवशेषवाची । निरवशेषस्य संसारिणो जीवस्य ते द्वे अपि शरीरे भवत इत्यर्थः ।

§ 344. अविशेषाभिधानात्तैरौदारिकादिभिः सर्वस्य संसारिणो योगपक्षेन संबन्धप्रसंगे संभविशरीरप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

तदादीनि भाज्यानि युगपदे²कस्या चतुर्भ्यः ॥43॥

§ 345. 'तत्' शब्दः प्रकृततैजसकर्मणप्रतिनिर्देशार्थः । ते तैजसकर्मणे आदिर्येषां तानि तदादीनि । भाज्यानि विकल्प्यानि । आ कुतः ? आ चतुर्भ्यः । युगपदेकस्यात्मनः । कस्यचिद् द्वे तैजसकर्मणे । अपरस्य त्रीणि औदारिकतैजसकर्मणानि वैक्रियिकतैजसकर्मणानि वा । अन्यस्य चत्वारि औदारिकाहारकतैजसकर्मणानीति विभागः क्रियते ।

किं तैजस और कर्मण शरीरका अनादि सम्बन्ध है और सादि सम्बन्ध भी है । कार्यकारणभावकी परम्पराकी अपेक्षा अनादि सम्बन्धवाले हैं और विशेषकी अपेक्षा सादि सम्बन्धवाले हैं । यथा बीज और वृक्ष । जिस प्रकार औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर जीवके कदाचित् होते हैं उस प्रकार तैजस और कर्मण शरीर नहीं हैं । संसारका क्षय होने तक उनका जीवके साथ सदा सम्बन्ध है ।

§ 342. ये तैजस और कर्मण शरीर क्या किसी जीवके ही होते हैं या सामान्यरूपसे सबके होते हैं । इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा सब संसारी जीवोंके होते हैं ॥42॥

§ 343. यहाँ 'सर्व' शब्द निरवशेषवाची है । वे दोनों ही शरीर सब संसारी जीवोंके होते हैं यह इस सूत्र का तात्पर्य है ।

§ 344. सामान्य कथन करनेसे उन औदारिकादि शरीरोंके साथ सब संसारी जीवोंका एक साथ सम्बन्ध प्राप्त होता है, अतः एक साथ कितने शरीर सम्भव हैं इस बातको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक साथ एक जीवके तैजस और कर्मणसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते हैं ॥43॥

§ 345. सूत्रमें प्रकरणप्राप्त तैजस और कर्मण शरीरका निर्देश करनेके लिए 'तत्' शब्द दिया है । तदादि शब्दका समासलभ्य अर्थ है—तैजस और कर्मण शरीर जिनके आदि हैं वे । भाज्य और विकल्प्य ये पर्यायवाची नाम हैं । तात्पर्य यह है कि एक साथ एक आत्माके पूर्वोक्त दो शरीरसे लेकर चार शरीर तक विकल्पसे होते हैं । किसीके तैजस और कर्मण ये दो शरीर होते हैं । अन्यके औदारिक, तैजस और कर्मण या वैक्रियिक, तैजस और कर्मण ये तीन शरीर होते हैं । किसी दूसरेके औदारिक, आहारक, तैजस और कर्मण ये चार शरीर होते हैं । इस प्रकार यह विभाग यहाँ किया गया है ।

विशेषार्थ—आगे 47वें सूत्रमें तपोविशेषके बलसे वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिका निर्देश किया है, इसलिए प्रश्न होता है कि किसी ऋद्धिधारी साधुके एक साथ पाँच शरीरका सद्भाव

1. -सम्बन्धेऽपि च मु. । 2. -देकस्मिन्ना च- मु. ।

§ 346. पुनरपि तेषां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥44॥

§ 347. अन्ते भवमन्त्यम् । किं तत् ? कर्मणम् । इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुप-
लब्धिरुपभोगः । तदभावान्निरुपभोगम् । विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियलब्धौ द्रव्येन्द्रियनिर्बन्ध-
भावाच्छब्दाद्युपभोगाभाव इति । ननु तैजसमपि निरुपभोगम् तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्य-
मिति ? तैजसं शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति, ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकारः ।¹

माननेमें क्या हानि है ? समाधान यह है कि एक साथ वैक्रियिक और आहारक ऋद्धिकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए एक तो एक साथ आहारक शरीरके साथ वैक्रियिक शरीरका अवस्थान नहीं बन सकता । दूसरे तपोविशेषसे जो विक्रिया प्राप्त होती है वह औदारिक शरीरसम्बन्धी ही विक्रिया है । उसे स्वतन्त्र वैक्रियिक शरीर मानना उचित नहीं है । कर्मसाहित्यमें वैक्रियिक शरीर नामकर्मके उदयसे जो शरीर प्राप्त होता है उसकी परिगणना ही वैक्रियिक शरीरमें की गयी है । इसलिए अधिकारी भेद होनेसे औदारिक और आहारक शरीरके साथ वैक्रियिक शरीर नहीं बन सकता । यही कारण है कि एक साथ अधिकसे अधिक चार शरीर बतलाये हैं ।

§ 346. फिर भी उन शरीरोंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अन्तिम शरीर उपभोगरहित है ॥44॥

§ 347. जो अन्तमें होता है वह अन्त्य कहलाता है । शंका—वह अन्तका शरीर कौन है ? समाधान—कर्मण । इन्द्रियरूपी नालियोंके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं । यह बात अन्तके शरीरमें नहीं पायी जाती; अतः वह निरुपभोग है । विग्रहगतिमें लब्धिरूप भावेन्द्रियके रहते हुए भी वहाँ द्रव्येन्द्रियकी रचना न होनेसे शब्दादिकका उपभोग नहीं होता । शंका—तैजस शरीर भी निरुपभोग है, इसलिए वहाँ यह क्यों कहते हो कि अन्तका शरीर निरुप-
भोग है ? समाधान—तैजस शरीर योगमें निमित्त भी नहीं होता, इसलिए इसका उपभोगके विचारमें अधिकार नहीं है ।

विशेषार्थ—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीनों शरीरोंमें इन्द्रियोंकी रचना होकर उन द्वारा अपने-अपने विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिए ये तीनों शरीर सोपभोग माने गये हैं । यद्यपि कर्मण काययोग केवली जिनके प्रतर और लोकपूरण समुद्घात के समय तथा विग्रहगतिमें होता है । पर इनमें-से प्रतर और लोकपूरण समुद्घातके समय केवलज्ञान होनेसे वहाँ उपभोगका प्रश्न ही नहीं उठता । मात्र विग्रहगतिमें कर्मण काययोगके रहते हुए उपभोग होता है या नहीं यह प्रश्न होता है और इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए 'निरुपभोगमन्त्यम्' यह सूत्र रचा गया है । अन्तका शरीर उपभोगरहित क्यों है इस बातका खुलासा करते हुए बतलाया है कि विग्रहगतिमें भावेन्द्रियाँ तो होती हैं पर द्रव्येन्द्रियाँ नहीं होती, इसलिए यहाँ शब्दादि विषयोंका ग्रहण नहीं होता । यही कारण है कि अन्तके शरीरको निरुपभोग कहा है । रहा तैजस शरीर सो अन्य चार शरीरोंके समान इसका स्वतन्त्र अधिकार नहीं है । अनिसृत तैजस शरीर सब संसारी जीवोंके सदा होता है और निसृत तैजस शरीर कादाचित्क होता है । इस प्रकार तैजस शरीर पाया तो जाता है सब संसारी जीवोंके, पर आत्मप्रवेश परिस्पन्दमें यह शरीर कारण नहीं है, इसलिए इन्द्रियों-द्वारा विषयोंके ग्रहण करनेमें इस शरीरको उपयोगी नहीं माना गया है । यही कारण है कि तैजस शरीर निरुपभोग है कि सोपभोग यह प्रश्न ही नहीं उठता ।

1. -नधिकारः । तत्रोक्त- ता., ना. ।

§ 348: एवं तत्रोक्तलक्षणेषु जन्मसु अमूनि शरीराणि प्रादुर्भावमापद्यमानानि किम-
विशेषेण भवन्ति, उत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत आह—

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम् ॥45॥

§ 349: सूत्रक्रमापेक्षया आदौ भवमाद्यम् । औदारिकमित्यर्थः । यद् गर्भजं यच्च संमूर्च्छ-
नजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यम् ।

§ 350. तदनन्तरं यन्निर्दिष्टं तत्कस्मिन् जन्मनीत्यत आह—

औपपादिकं वैक्रियिकम् 46॥

§ 351. उपपादे भवमौपपादिकम् । तत्सर्वं वैक्रियिकं वेदितव्यम् ।

§ 352. यद्यौपपादिकं वैक्रियिकम्, अनौपपादिकस्य वैक्रियिकत्वाभाव इत्यत आह—

लब्धिप्रत्ययं च ॥47॥

§ 353. 'च' शब्देन वैक्रियिकमभिसंबध्यते । तपोविशेषादृद्धिप्राप्तिर्लब्धिः । लब्धिः
प्रत्ययः कारणमस्य लब्धिप्रत्ययम् । वैक्रियिकं लब्धिप्रत्ययं च भवतीत्यभिसंबध्यते ।

§ 354. किमेतदेव लब्ध्यपेक्षमुतान्यदप्यस्तीत्यत आह—

तैजसमपि ॥48॥

§ 348. इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाले इन जन्मोंमें क्या सामान्यसे सब शरीर उत्पन्न होते हैं या इसमें कुछ विशेषता है । इस बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला शरीर गर्भ और संमूर्च्छन जन्मसे पैदा होता है ॥45॥

§ 349. सूत्रमें जिस क्रमसे निर्देश किया है तदनुसार यहाँ आद्यपदेसे औदारिक शरीरका ग्रहण करना चाहिए । जो शरीर गर्भजन्मसे और संमूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होता है वह सब औदारिक शरीर है यह इस सूत्रका तात्पर्य है ।

§ 350. इसके अनन्तर जिस शरीरका निर्देश किया है उसकी उत्पत्ति किस जन्मसे होती है अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है ॥46॥

§ 351. जो उपपादमें होता है उसे औपपादिक कहते हैं । इस प्रकार उपपाद जन्मसे पैदा होनेवाले शरीरको वैक्रियिक जानना चाहिए ।

§ 352. यदि जो शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है वह वैक्रियिक है तो जो शरीर उपपाद जन्मसे नहीं पैदा होता उसमें वैक्रियिकपन नहीं बन सकता । अब इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा लब्धिसे भी पैदा होता है ॥47॥

§ 353. सूत्रमें 'च' शब्द आया है । उससे वैक्रियिक शरीरका सम्बन्ध करना चाहिए । तपोविशेषसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको लब्धि कहते हैं । इस प्रकारकी लब्धिसे जो शरीर उत्पन्न होता है वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है । वैक्रियिक शरीर लब्धिप्रत्यय भी होता है ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए ।

§ 354. क्या यही शरीर लब्धिकी अपेक्षासे होता है या दूसरा शरीर भी होता है । अब इसी बातका ज्ञान करानेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

तैजस शरीर भी लब्धिसे पैदा होता है ॥48॥

§ 355. 'अपि' शब्देन लब्धिप्रत्ययमभिसंबध्यते । तैजसमपि लब्धिप्रत्ययं भवतीति ।

§ 356. वैक्रियिकानन्तरं यदुपविष्टं तस्य स्वरूपनिर्धारणार्थं स्वामिनिर्देशार्थं चाह—

शुभं विशुद्धमव्याधाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥49॥

§ 357. शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशः । शुभकर्मण आहारककाययोगस्य कारणत्वाच्छुभमित्युच्यते अन्नस्य प्राणव्यपदेशवत् । विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धव्यपदेशः । विशुद्धस्य पुण्यकर्मणः अशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्युच्यते तन्तूनां कर्पासव्यपदेशवत् । उभयतो व्याघाताभावादव्याधाति । न ह्याहारकशरीरेणान्यस्य व्याधातः । नाप्यन्येनाहारकस्येति । तस्य प्रयोजनसमुच्चयार्थः 'च' शब्दः क्रियते । तद्यथा—कदाचित् लब्धिविशेषसद्भावज्ञापनार्थं कदाचिदसूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च । आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः । यदाहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवतीति 'प्रमत्तसंयतस्य' इत्युच्यते । इष्टतोऽवधारणार्थं 'एव'-कारोपादानम् । यथैवं विज्ञायेत प्रमत्तसंयतस्यैवाहारकं नान्यस्येति । एवं विज्ञायि प्रमत्तसंयतस्याहारकमेवेति । मा भूदौदारिकादिनिवृत्तिरिति ।

§ 358. एवं विभक्तानि शरीराणि बिभ्रतां संसारिणां प्रतिगतिं किं त्रिलिङ्गसंनिधानं

§ 355. सूत्रमें 'अपि' शब्द आया है । उससे 'लब्धिप्रत्ययम्' पदका ग्रहण होता है । तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय होता है यह इस सूत्रका भाव है ।

§ 356. वैक्रियिक शरीरके पश्चात् जिस शरीरका उपदेश दिया है उसके स्वरूपका निश्चय करनेके लिए और उसके स्वामीका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसंयतके ही होता है ॥४९॥

§ 357. शुभकर्मका कारण होनेसे इसे शुभ कहा है । यह शरीर आहारक काययोगरूप शुभकर्मका कारण है, इसलिए आहारक शरीर शुभ कहलाता है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार है । जैसे अन्नमें प्राणका उपचार करके अन्नको प्राण कहते हैं । विशुद्ध कर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको विशुद्ध कहा है । तात्पर्य यह है कि जो चित्र-विचित्र न होकर निर्दोष है ऐसे विशुद्ध अर्थात् पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको विशुद्ध कहते हैं । यहाँ कार्यमें कारणका उपचार है । जैसे तन्तुओंमें कपासका उपचार करके तन्तुओं को कपास कहते हैं । दोनों ओरसे व्याघात नहीं होता, इसलिए यह अव्याधाती है । तात्पर्य यह है कि आहारक शरीरसे अन्य पदार्थका व्याघात नहीं होता और अन्य पदार्थसे आहारक शरीरका व्याघात नहीं होता । आहारक शरीरके प्रयोजनका समुच्चय करनेके लिए सूत्रमें 'च' शब्द दिया है । यथा—आहारक शरीर कदाचित् लब्धिविशेषके सद्भावको जतानेके लिए, कदाचित् सूक्ष्म पदार्थका निश्चय करनेके लिए और संयमकी रक्षा करनेके लिए उत्पन्न होता है । सूत्रमें 'आहारक' पद आया है उससे पूर्वमें कहे गये आहारक शरीरको दुहराया है । जिस समय जीव आहारक शरीरकी रचनाका आरम्भ करता है उस समय वह प्रमत्त हो जाता है, इसलिए सूत्रमें प्रमत्तसंयतके ही आहारक शरीर होता है यह कहा है । इष्ट अर्थके निश्चय करनेके लिए सूत्रमें 'एवकार' पदको ग्रहण किया है । जिससे यह जाना जाय कि आहारक शरीर प्रमत्तसंयतके ही होता है अन्यके नहीं । किन्तु यह न जाना जाय कि प्रमत्तसंयतके आहारक ही होता है । तात्पर्य यह है कि प्रमत्तसंयतके औदारिक आदि शरीरोंका निराकरण न हो, इसलिए प्रमत्तसंयत पदके साथ ही एवकार पद लगाया है ।

§ 358. इस प्रकार इन शरीरोंको धारण करनेवाले संसारी जीवोंके प्रत्येक गतिमें क्या

1. पुण्यस्य कर्मणः मु. ।

उत लिङ्गनियमः कश्चिदस्तीत्यत आह—

नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥50॥

§ 359. नरकाणि वक्ष्यन्ते । नरकेषु भवा नारकाः । संमूर्च्छनं संमूर्च्छः स येषामस्ति¹ ते संमूर्च्छिनः । नारकाश्च संमूर्च्छिनश्च नारकसंमूर्च्छिनः । चारित्र्यमोहविकल्पनोक्तायभेदस्य नपुंसक-वेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्त स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति । नारकसंमूर्च्छिनो नपुंस-कान्येवेति नियमः । तत्र हि स्त्रीपुंसविषयमनोज्ञशब्दगन्धरूपरसस्पर्शसंबन्धनिमित्ता स्वल्पापि सुखमात्रा नास्ति ।

§ 360. यद्येवमवधियते, अर्थादापन्नमेतदुक्तं स्योऽन्ये संसारिणस्त्रिलिङ्गा इति यन्नात्यन्तं² नपुंसकलिङ्गस्याभावस्तत्र प्रतिपादनार्थमाह—

न देवाः ॥51॥

§ 361. स्त्रेण पौंसं च यन्निरतिशयसुखं³ शुभगतिनामोदयागेशं तद्देवा अनुभवन्तीति न तेषु नपुंसकानि⁴ सन्ति ।

§ 362. अथेतरे कियल्लिङ्गा इत्यत आह—

शेषास्त्रिवेदाः ॥52॥

§ 363. त्रयो वेदा येषां ते त्रिवेदाः । के पुनस्ते वेदाः ? स्त्रीत्वं पुंस्त्वं नपुंसकत्वमिति ।

तीनों लिंग होते हैं या लिंगका कोई स्वतन्त्र नियम है ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

नारक और संमूर्च्छिन नपुंसक होते हैं ॥50॥

§ 359. नरकोंका कथन आगे करेंगे । जो नरकोंमें उत्पन्न होते हैं वे नारकी कहलाते हैं । जो संमूर्च्छन जन्मसे पैदा होते हैं वे संमूर्च्छिन कहलाते हैं । सूत्रमें नारक और संमूर्च्छिन इन दोनों पदोंका द्वन्द्वसमास है । चारित्र्यमोहके दो भेद हैं—कषाय और नोक्षाय । इनमेंसे नोक्षायके भेद नपुंसकवेदके उदयसे और अशुभ नामकर्मके उदयसे उक्त जीव स्त्री और पुरुष न होकर नपुंसक होते हैं । यहाँ ऐसा नियम जानना कि नारक और संमूर्च्छिन नपुंसक ही होते हैं । इन जीवोंके मनोज्ञ शब्द, गन्ध, रूप, रस और स्पर्शके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुष विषयक थोड़ा भी सुख नहीं पाया जाता है ।

§ 360. यदि उक्त जीवोंके नपुंसकवेद निश्चित होता है तो यह अर्थात् सिद्ध है कि इनसे अतिरिक्त अन्य संसारी जीव तीन वेदवाले होते हैं । इसमें भी जिनके नपुंसकवेदका अत्यन्त अभाव है उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव नपुंसक नहीं होते ॥51॥

§ 361. शुभगति नामकर्मके उदयसे स्त्री और पुरुषसम्बन्धी जो निरतिशय सुख है उसका देव अनुभव करते हैं इसलिए उनमें नपुंसक नहीं होते ।

§ 362. इनमें अतिरिक्त शेष जीव कितने लिंगवाले होते हैं, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेषके सब जीव तीन वेदवाले होते हैं ॥52॥

§ 363. जिनके तीन वेद होते हैं वे तीन वेदवाले कहलाते हैं । शंका—वे तीन वेद कौन

1. --मस्तीति सम्भू- मु. 1 । 2. --न्यत्कनपुं-आ., दि. 1 । न्यत्तिकनपुं-दि. 2 । 3. शयं सुखं गति- मु. 1 । 4. नपुंसकलिंगानि सन्ति मु. ।

कथं तेषां सिद्धिः ? वेद्यत इति वेदः । लिङ्गमित्यर्थः । तद् द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति । द्रव्यलिङ्गं योनिमेहनादि नामकर्मोदयनिर्वर्तितम् । नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम् । स्त्री-वेदोदयात् स्त्र्यायस्त्यस्यां गर्भं इति स्त्री । पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान् । नपुंसकवेदो-दयात्तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम् । रुद्धिशब्दाश्चेते । रुद्धिषु च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थं च । यथा गच्छ-तीति गौरिति । इतरथा हि गर्भधारणादिक्रियाप्राधान्ये बालवृद्धानां तिर्यङ्मनुष्याणां देवानां कार्मणकाययोगस्थानां च तदभावात्स्त्रीत्वादिव्यपदेशो न स्यात् । त एते त्रयो वेदाः शेषाणां गर्भ-जानां भवन्ति ।

§ 364. य इमे जन्मयोनिशरीरलिङ्गसम्बन्धाहितविशेषाः प्राणिनो निर्दिश्यन्ते देवादयो विचित्रधर्मधर्मवशीकृताश्चतसृषु गतिषु शरीराणि धारयन्तस्ते किं यथाकालमुपभुक्तायुषो मूर्त्यन्त-राण्यास्कन्दन्ति उताग्रथाकालमपीत्यत आह—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥53॥

हैं ? समाधान—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद । शंका—इनकी सिद्धि कैसे होती है ? समाधान—जो वेद जाना है उसे वेद कहते हैं । इसीका दूसरा नाम लिङ्ग है । इसके दो भेद हैं—द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग । जो योनि मेहन आदि नामकर्मके उदयसे रचा जाता है वह द्रव्य-लिङ्ग है और जिसकी स्थिति नोकषायके उदयसे प्राप्त होती है वह भावलिङ्ग है । स्त्रीवेदके उदय-से जिसमें गर्भ रहता है वह स्त्री है । पुंवेदके उदयसे जो अपत्यको जनता है वह पुरुष है और नपुंसकवेदके उदयसे जो उक्त दोनों प्रकारकी शक्तिसे रहित है वह नपुंसक है । वास्तवमें ये तीनों रौढ़िक शब्द हैं और रुद्धिमें क्रिया व्युत्पत्तिके लिए ही होती हैं । यथा जो गमन करती है वह गाय है । यदि ऐसा न माना जाय और इसका अर्थ गर्भधारण आदि क्रियाप्रधान लिया जाय तो बालक और वृद्धोंके, तिर्यच और मनुष्योंके, देवोंके तथा कार्मणकाययोगमें स्थित जीवोंके गर्भधारण आदि क्रियाका अभाव होनेसे स्त्री आदि संज्ञा नहीं बन सकती है । ये तीनों वेद शेष जीवोंके अर्थात् गर्भजोंके होते हैं ।

विशेषार्थ—इसी अध्यायमें औदयिक भावोंका निर्देश करते समय उनमें तीन लिङ्ग भी गिनाये हैं । ये तीनों लिङ्ग वेदके पर्यायवाची हैं जो वेद-नोकषायके उदयसे होते हैं । यहाँ किन जीवोंके कौन लिङ्ग होता है इसका विचार हो रहा है । इसी प्रसंगसे आचार्य पूज्यपादने लिङ्गके दो भेद बतलाये हैं—द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग । प्रश्न यह है कि लिङ्गके ये दो भेद सूत्रोंसे फलित होते हैं या विशेष जानकारीके लिए मात्र टीकाकारने इनका निर्देश किया है । उत्तर स्पष्ट है कि मूल सूत्रोंमें मात्र वेद नोकषायके उदयसे होनेवाले वेदोंका ही निर्देश किया है जैसा कि इसी अध्यायके (वे) सूत्रसे ज्ञात होता है ।

§ 364. जो ये देवादिक प्राणी जन्म, योनि, शरीर और लिङ्गके सम्बन्धसे अनेक प्रकार-के बतलाये हैं वे विचित्र पुण्य और पापके वशीभूत होकर चारों गतियोंमें शरीरको धारण करते हुए यथाकाल आयुको भोगकर अन्य शरीरको धारण करते हैं या आयुको पूरा न करके भी शरीरको धारण करते हैं ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उपपादजन्मवाले, चरमोत्तमदेहवाले और असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीव अनपवर्त्यायुषः आयुवाले होते हैं ॥53॥

1. पुमान् । तदुभय- आ., दि. 1- दि. 2 ।

§ 365. औपपादिका व्याख्याता देवनारका इति । चरमशब्दोऽन्त्यवाची । उत्तम उत्कृष्टः । चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः । 'परीतसंसारस्तज्जन्मनिर्वाणार्हा' इत्यर्थः । असंख्येय-मतीतसंख्यानमुपमाप्रमाणेन पल्यादिना गम्यमायुर्वर्षां त इमे असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्या उत्तरकुर्वादिषु प्रसूताः । औपपादिकाश्च चरमोत्तमदेहाश्च असंख्येयवर्षायुषश्च औपपादिकचरमो-त्तमदेहासंख्येयवर्षायुषः । बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विषशस्त्रादेः सति संनिधाने हृत्स्थं भवतीत्य-पवर्त्यम् । अपवर्त्यमायुर्वर्षां त इमे अपवर्त्यायुषः । न अपवर्त्यायुषः अनपवर्त्यायुषः । न ह्येषामोप-

§ 365. उपपादजन्मवाले देव और नारकी हैं यह व्याख्यान कर आये । चरम शब्द अन्त्यवाची है । उत्तम शब्द का अर्थ उत्कृष्ट है । जिनका शरीर चरम होकर उत्तम है वे चरमोत्तम देहवाले कहे जाते हैं । जिनका संसार निकट है अर्थात् उसी भवसे मोक्षको प्राप्त होनेवाले जीव चरमोत्तम देहवाले कहलाते हैं । असंख्येय परिमाण विशेष है जो संख्यातसे परे है । तात्पर्य यह है कि पत्य आदि उपमा प्रमाणके द्वारा जिनकी आयु जानी जाती है वे उत्तरकुरु आदिमें उत्पन्न हुए तिर्यच और मनुष्य असंख्यात वर्षकी आयुवाले कहलाते हैं । उपघातके निमित्त विष शस्त्रा-दिक बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर जो आयु घट जाती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है । इस प्रकार जिनकी आयु घट जाती है वे अपवर्त्य आयुवाले कहलाते हैं और जिनकी आयु नहीं घटती वे अनपवर्त्य आयुवाले कहलाते हैं । इन औपपादिक आदि जीवोंकी आयु बाह्य निमित्तसे नहीं घटती यह नियम है तथा इनसे अतिरिक्त शेष जीवोंका ऐसा कोई नियम नहीं है । सूत्रमें जो उत्तम विशेषण दिया है वह चरम शरीरके उत्कृष्टपनको दिखलानेके लिए दिया है । यहाँ इसका और कोई विशेष अर्थ नहीं है । अथवा 'चरमोत्तमदेहा' पाठके स्थानमें 'चरमदेहा' यह पाठ भी मिलता है ।

विशेषार्थ—भुज्यमान आयुका उत्कर्षण नहीं होता, केवल उदीरणा होकर आयु घट सकती है, इसलिए प्रश्न होता है कि क्या सब संसारो जीवोंकी आयुका ह्रास होता है या इसका भी कोई अपवाद है । इसी प्रश्नके उत्तर स्वरूप प्रकृत सूत्रकी रचना हुई है । इसमें बतलाया है कि उपपादजन्मवाले देव और नारकी, तद्भवमोक्षगामी मनुष्य और असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यच और मनुष्य इनकी भुज्यमान आयुका ह्रास नहीं होता । इन्हें जो आयु प्राप्त होती है उसका पूरा भोग होकर ही उस पर्यायका अन्त होता है । यह विशेष नियम करनेका कारण यह है कि कर्मशास्त्रके अनुसार निकाचना, निधृति और उपशमकरण का प्राप्त कर्मको छोड़कर अन्य कोई भी अधिक स्थितिवाला कर्म उभयरूप कारणविशेषके मिलनेपर अल्पकालमें भोगा जा सकता है । भुज्यमान आयुपर भी यह नियम लागू होता है, इसलिए इस सूत्र-द्वारा यह व्यवस्था दी गयी है कि उक्त जीवोंकी भुज्यमान आयुपर यह नियम लागू नहीं होता । आशय यह है कि इन जीवोंके भुज्यमान आयुके प्रारम्भ होनेके प्रथम समयमें आयुके जितने निषेक होते हैं वे क्रम-से एक-एक निषेक उदयमें आकर ही निर्जराको प्राप्त होते हैं । विष शस्त्रादिक बाह्य निमित्तके बलसे उनका घात नहीं होता । पर इसका अर्थ यह नहीं कि इन जीवोंके आयुकर्मकी उदीरणा ही न होती होगी । इनके उदीरणाका होना तो सम्भव है पर निषेक स्थितिघात न होकर ही यह उदीरणा होती है । स्थितिघात न होनेसे हमारा अभिप्राय है कि इनके पूरे निषेकका उदीरणा-द्वारा क्षय नहीं होता । सूत्रमें तद्भव मोक्षगामीके लिए 'चरमोत्तमदेह' पाठ आया है । सर्वार्थ-सिद्धि टीकामें इसकी व्याख्या करते हुए चरम शरीरको ही उत्तम बतलाया गया है, किन्तु तत्त्वार्थराजवातिकमें पहले तो चरमदेह और उत्तमदेह ऐसा अलग-अलग अर्थ किया गया है किन्तु बादमें उत्तम देहवाले चक्रधर आदिके शरीरको अपवर्त्य आयुवाला बतलाकर उत्तम शब्दको

1. --देहाः । विपरीत- मु. । 2. इत्यर्थः । अतीतसंख्यान- ता. ना. ।

पादिकादीनां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्यते, इत्ययं नियमः । इतरेषामनियमः । चरमस्य देहस्यो-
त्कृष्टत्वप्रदर्शनार्थमुत्तमग्रहणं नार्थान्तरविशेषोऽस्ति । 'चरमदेहा' इति वा पाठः¹ ।

इति तत्त्वार्थवृत्ती सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥2॥

चरमदेहका ही विशेषण मान लिया है । एक बात स्पष्ट है कि प्रारम्भसे ही उत्तम पदपर विवाद रहा है । तभी तो सर्वार्थसिद्धिमें 'चरमदेह' इस प्रकार पाठान्तरकी सूचना की गयी है और यह पाठान्तर उन्हें पूर्व परम्परासे प्राप्त था ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिनामक तत्त्वार्थवृत्तिमें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥2॥

1. पाठः ॥2॥ जीवस्वभावलक्षणसाधनविषयस्वरूपभेदाश्च । गतिजन्मयोनिदेहलिगानपवर्तितायुष्कभेदाश्चा-
ध्यायेऽस्मिन्निरूपिता भवन्तीति संबन्धः ॥ इति तत्त्वा- मु. ॥ पाठः ॥2॥ जीवस्वभावलक्षणसाधनविषयस्व-
रूपभेदाश्च । गतिजन्मयोनिदेहलिगानपवर्त्यायुभिदास्तत्र ॥ इति तत्त्वा- ता. ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

§ 366. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्येवमादिषु नारकाः श्रुतास्ततः पृच्छति के ते नारका इति । तत्प्रतिपादनार्थं तदधिकरणनिर्देशः क्रियते—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो

घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः समाधोऽवः ॥१॥

§ 367. रत्नं च शर्करा च वालुका च पङ्कश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमांसि । 'प्रभा' शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । साहचर्यात्ताच्छब्दम् । चित्रादिरत्नप्रभासहचरिता भूमिः रत्नप्रभा, शर्कराप्रभासहचरिता भूमिः शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभासहचरिता भूमिर्वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभासहचरिता भूमिः पङ्कप्रभा, धूमप्रभासहचरिता भूमिर्धूमप्रभा, तमःप्रभासहचरिता भूमिस्तमःप्रभा, महातमःप्रभासहचरिता भूमिर्महातमःप्रभा इति । एताः संज्ञा अनेनोपायेन व्युत्पाद्यन्ते । 'भूमि'ग्रहणमधिकरणविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । यथा स्वर्गपटलानि भूमिमनाश्रित्य व्यवस्थितानि न तथा नारकावासाः । किं तर्हि । भूमिमाश्रिता इति । आसां भूमीनामालम्बननिर्ज्ञानार्थं घनाम्बुवातादिग्रहणं क्रियते । घनाम्बु च वातश्च आकाशं च घनाम्बुवाताकाशानि । तानि प्रतिष्ठा आश्रयो यासा ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः^२ । सर्वा एता भूमयो घनोदधिबलप्रतिष्ठाः । घनोदधिबलयं घनवातबलप्रतिष्ठम् । घनवातबलयं तनुवातबलप्रतिष्ठम् ।

§ 366. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्यादिक सूत्रोंमें नारक शब्द सुना है इसलिए पूछते हैं कि वे नारकी कौन हैं ? अतः नारकियोंका कथन करनेके लिए उनकी आधारभूत पृथिवियोंका निर्देश करते हैं—

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाशके सहारे स्थित हैं तथा क्रमसे नीचे-नीचे हैं ॥१॥

§ 367. 'रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमाः' इसमें सब पदोंका परस्पर द्वन्द्व समास है । प्रभा शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । पृथिवियोंकी प्रभा क्रमसे रत्न आदिके समान होनेसे इनके रत्नप्रभा आदि नाम पड़े हैं । यथा—जिसकी प्रभा चित्र आदि रत्नोंकी प्रभाके समान है वह रत्नप्रभा भूमि है । जिसकी प्रभा शर्कराके समान है वह शर्कराप्रभा भूमि है । जिसकी प्रभा वालुकाकी प्रभाके समान है वह वालुका प्रभा भूमि है । जिसकी प्रभा कीचड़के समान है वह पङ्कप्रभा भूमि है । जिसकी प्रभा धुँवाँके समान है वह धूमप्रभा भूमि है । जिसकी प्रभा अन्धकारके समान है वह तमःप्रभा भूमि है और जिसकी प्रभा गाढ़अन्धकारके समान है वह महातमःप्रभा भूमि है । इस प्रकार इन नामोंकी व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिए । सूत्रमें भूमि पदका ग्रहण अधिकरण विशेषका ज्ञान करानेके लिए किया है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वर्गपटल भूमिके बिना स्थित है उस प्रकार नारकियोंके निवासस्थान नहीं हैं । किन्तु वे भूमिके आश्रयसे अवस्थित हैं । इन भूमियोंके आलम्बनका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'घनाम्बुवात' आदि पदका ग्रहण किया है । अभिप्राय यह है कि ये भूमियाँ क्रमसे घनोदधिवातबलय, घनवातबलय,

१. --इति । तासां भूमी- मु., ता., ना. । २. प्रतिष्ठाः । घनं च घनो मन्दो महान् आयत, इत्यर्थः । अम्बु च जलम् उदकमित्यर्थः । वात-शब्दोऽन्त्यदीपकः । तत एवं संबन्धनीयः । घनो घनवातः । अम्बु अम्बुवातः । वातस्तनुवातः । इति महदपेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्यः । अन्यः पाठः । सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वातश्चेति । वातशब्दः सोपस्क्रियते । वातस्तनुवात इति वा । सर्वा एता मु., ता., ना. ।

तनुवातबलयमाकाशप्रतिष्ठम् । आकाशमात्मप्रतिष्ठं, तस्यैवाधाराधेयत्वात् । त्रीण्यप्येतानि बलयानि प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्रबाहुल्यानि । 'सप्त' ग्रहणं संख्यान्तरनिवृत्त्यर्थम् । सप्त भूमयो नाष्टी न नव चेति 'अधोऽधः' वचनं तिर्यक्प्रचयनिवृत्त्यर्थम् ।

§ 368. किं ता भूमयो नारकाणां सर्वत्रावासा आहोस्वित्त्वचित्त्वचित्तिदिति प्रन्निवारणार्थमाह—

तनुवातबलय और आकाशके आश्रयसे स्थित हैं इस बातके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'घनाम्बु आकाशप्रतिष्ठाः' पद दिया है । ये सब भूमियाँ घनोदधिवातबलयके आश्रयसे स्थित हैं । घनोदधिवातबलय घनवातबलयके आधारसे स्थित है । घनवातबलय तनुवातबलयके आश्रयसे स्थित है । तनुवातबलय आकाशके आश्रयसे स्थित हैं और आकाश स्वयं अपने आधारसे स्थित है; क्योंकि वह आधार और आधेय दोनों है । ये तीनों वातबलय प्रत्येक बीस-तीस हजार योजन मोटे हैं । सूत्रमें 'सप्त' पदका ग्रहण दूसरी संख्याके निराकरण करनेके लिए दिया है । भूमियाँ सात ही हैं, न आठ हैं और न नौ हैं । ये भूमियाँ तिर्यक् रूपसे अवस्थित नहीं हैं । इस बातको दिखानेके लिए सूत्रमें 'अधोऽधः' यह वचन दिया है ।

विशेषार्थः—आकाशके दो भेद हैं—अलोकाकाश और लोकाकाश । लोकाकाश अलोकाकाशके बीचोंबीच अवस्थित है । यह अकृत्रिम, अनादिनिधन स्वभावसे निर्मित और छह द्रव्योंसे व्याप्त है । यह उत्तर-दक्षिण अधोभागसे लेकर ऊर्ध्वभाग तक विस्तारकी अपेक्षा सर्वत्र सात राजु है । पूर्व-पश्चिम नीचे सात राजु चौड़ा है । फिर दोनों ओरसे घटते-घटते सात राजुकी ऊँचाईपर एक राजु चौड़ा है । फिर दोनों ओर बढ़ते-बढ़ते साढ़े दस राजुकी ऊँचाईपर पाँच राजु चौड़ा है । फिर दोनों ओर घटते-घटते चौदह राजुकी ऊँचाईपर एक राजु चौड़ा है । पूर्व पश्चिमकी ओरसे लोकका आकार कटिपर दोनों हाथ रखकर और पैरोंको फैलाकर खड़े मनुष्यके आकारसा प्रतीत होता है । इससे अधोभाग बेटके आसनके समान, मध्यभाग झालरके समान और ऊर्ध्वभाग मृदंगके समान दिखाई देता है । इसके तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक । मध्यलोकके बीचोंबीच मेरु पर्वत है जो एक लाख चालीस योजन ऊँचा है । उसके नीचेका भाग अधोलोक, ऊपरका भाग ऊर्ध्वलोक और बराबर रेखामें तिरछा फैला हुआ मध्यलोक है । मध्यलोकका तिरछा विस्तार अधिक होनेसे इसे तिर्यग्लोक भी कहते हैं । प्रकृत सूत्रमें अधोलोकका विचार किया गया है । इसमें सात भूमियाँ हैं जो उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं पर आपसमें भिड़कर नहीं हैं । किन्तु एक दूसरी भूमिके बीचमें असंख्य योजनोंका अन्तर है । इन भूमियोंके नाम सूत्रमें क्रमसे दिये ही हैं । ये इनके गुणनाम हैं । घम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्ठा, मघवी और माघवी ये इनके रौढ़िक नाम हैं । पहली पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है । दूसरी बत्तीस हजार योजन मोटी है, तीसरी अट्ठाईस हजार योजन मोटी है, चौथी चौबीस हजार योजन मोटी है, पाँचवीं बीस हजार योजन मोटी है, छठी सोलह हजार योजन मोटी है, और सातवीं आठ हजार योजन मोटी है । ये सातों भूमियाँ घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाशके आधारसे स्थित हैं । अर्थात् प्रत्येक पृथिवी घनोदधिके आधारसे स्थित है, घनोदधि घनवातके आधारसे स्थित है, घनवात तनुवातके आधारसे स्थित है, तनुवात आकाशके आधारसे स्थित है और आकाश अपने आधारसे स्थित है ।

§ 368. क्या इन भूमियोंमें सर्वत्र नारकियोंके निवास-स्थान हैं या कहीं-कहीं, इस बातका निश्चय करनेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोन्नैकनरकशतसहस्राणि

पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥2॥

§ 369. तासु रत्नप्रभादिषु भूमिषु नरकाण्यनेन संख्यायन्ते यथाक्रमम् । रत्नप्रभायां त्रिंशत्नरकशतसहस्राणि, शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि, बालुकाप्रभायां पञ्चदश नरकशतसहस्राणि, पंकप्रभायां दश नरकशतसहस्राणि, धूमप्रभायां त्रीणि नरकशतसहस्राणि, तमःप्रभायां पञ्चोन्नमेकं नरकशतसहस्रं, महातमःप्रभायां पञ्च नरकाणि । रत्नप्रभायां नरकप्रस्तारास्त्रयोदश । ततोऽध आ सप्तम्या द्वौ¹ द्वौ नरकप्रस्तारौ² हीनौ । इतरो विशेषो लोकानुयोगतो वेदितव्यः ।

§ 370. अथ तासु भूमिषु नारकाणां कः प्रतिविशेष इत्यत आह—

उन भूमियोंमें क्रमसे तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक हैं ॥2॥

§ 369. उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें, इस सूत्र-द्वारा क्रमसे नरकोंकी संख्या बतलायी गयी है । रत्नप्रभामें तीस लाख नरक हैं । शर्कराप्रभामें पचीस लाख नरक हैं । बालुकाप्रभामें पन्द्रह लाख नरक हैं । पंकप्रभामें दश लाख नरक हैं । धूमप्रभामें तीन लाख नरक हैं । तमःप्रभामें पाँच कम एक लाख नरक हैं और महातमःप्रभामें पाँच नरक हैं । रत्नप्रभामें तेरह नरक पटल हैं । इससे आगे सातवीं भूमि तक दो-दो नरक पटल कम हैं । इसके अतिरिक्त और विशेषता लोकानुयोगसे जान लेनी चाहिए ।

विशेषार्थ—पहले सात पृथिवियोंका निर्देश किया ही है । उनमें-से पहली पृथिवीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग । खर भाग सबसे ऊपर है । इसमें रत्नोंकी बहुतायत है और यह सोलह हजार योजन मोटा है । दूसरा पंकभाग है, इसकी मोटाई चौरासी हजार योजन है । तथा तीसरा अब्बहुल भाग है । इसकी मोटाई अस्सी हजार योजन है । नारकियोंके रहनेके आवासको नरक कहते हैं । रत्नप्रभा भूमिके प्रथम भाग और दूसरे भाग में नरक नहीं हैं । तीसरे भागमें हैं । इस प्रकार प्रथम भूमिके तीसरे भागकी और शेष छह भूमियों की जितनी-जितनी मोटाई बतलायी है उसमें-से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन भूमिको छोड़कर सातों भूमियोंके बाकीके मध्य भागमें नरक हैं । इनका आकार विविध प्रकारका है । कोई गोल हैं, कोई त्रिकोण हैं, कोई चौकोण हैं और कोई अनिश्चित आकारवाले हैं । ये सब नरकपटल क्रमसे अवस्थित हैं । जिस प्रकार पत्थर या मिट्टीके एक थरपर दूसरा थर अवस्थित होता है उसी प्रकार ये पटल हैं । पहली भूमिमें ये पटल तेरह हैं और आगेकी भूमियोंमें क्रमसे दो-दो पटल कम होते गये हैं । एक पटल दूसरे पटलसे सटा हुआ है । इनमें नरक हैं । नरक जमीनके भीतर कुएँके समान पोलका नाम है । यह ऊपर, नीचे चारों ओर जमीनसे घिरी रहती है । इन्हीं नरकोंमें नारकी जीव अपनी आयुके अन्तिम समय तक रहते हैं और वहाँ नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं ।

§ 370 उन भूमियोंमें रहनेवाले नारकियोंमें क्या विशेषता है इस बातको बतलानेके लिए अब आगे सूत्र को कहते हैं—

1. —सप्तम्या द्व द्व नरक— आ. दि. 1, दि. 2 । 2. —प्रस्तारा हीनाः । इतरो आ. दि. 1, दि. 2 ।
2. लोकानुयोगतो दि. 1, दि. 2 ।

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

§ 371. लेश्यादयो व्याख्यातार्थाः । अशुभतरा इति प्रकर्षानंदशः तिर्यग्गतिविषयाशुभ-
लेश्याद्यपेक्षया अधोऽधः स्वगत्यपेक्षया च वेदितव्यः । 'नित्य'शब्द¹ आभीक्ष्ण्यवचनः । नित्य-
मशुभतरा लेश्यादयो येषां ते नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया नारकाः । प्रथमा-
द्वितीययोः कापोती लेश्या, तृतीयायामुपरिष्ठात्कापोती अधो नीला, चतुर्थ्या नीला, पञ्च-
म्यामुपरि नीला अधः कृष्णा, षष्ठ्या कृष्णा, सप्तम्या परमकृष्णा । स्वायुः²प्रमाणावधूता³ द्रव्य-
लेश्या उक्ताः । भावलेस्यास्तु अन्तर्भूतपरिवर्तिन्यः । परिणामाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः क्षेत्र-
विशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवोऽशुभतराः । देहाश्च तेषामशुभनाम⁴कर्मोदयादत्यन्ताशुभतरा
विकृताकृतयो हुण्डसंस्थाना⁵ दुर्दंशनाः । तेषामुत्तरेः प्रथमायां सप्त धनुर्वि त्रयो हस्ताः षडंगुलयः ।
अधोऽधो— द्विगुणद्विगुण⁶ उत्तरेः । अभ्यन्तरासद्वेद्योदये सति अनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्य-
निमित्तजनिता⁷ अतितीव्रा वेदना भवन्ति नारकाणाम् । प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थ्यां उष्णवेद-
नान्येव नरकाणि । पञ्चम्यामुपरि उष्णवेदने द्वे नरकशतसहस्रे । अधः शीतवेदन⁸मेकं शत-
सहस्रम् । षष्ठीसप्तम्योः शीतवेदनान्येव । शुभं⁹ विकरिष्याम इति अशुभतरमेव विकुर्वन्ति, सुख-

नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रियावाले हैं ॥३॥

§ 371. लेश्यादिकका पहले व्याख्यान कर आये हैं । 'अशुभतर' इस पद के द्वारा
तिर्यग्गतिमें प्राप्त होनेवाली अशुभ लेश्या आदिककी अपेक्षा और नीचे-नीचे अपनी गतिकी
अपेक्षा लेश्यादिककी प्रकर्षता बतलायी है । अर्थात् तिर्यग्गतिमें जो लेश्यादिक हैं उनसे प्रथम नरक-
के नारकियोंके अधिक अशुभ हैं आदि । नित्य शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थात् निरन्तरवाची है । तात्पर्य
यह है कि नारकियोंकी लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया निरन्तर अशुभ होते हैं । यथा,
प्रथम और दूसरी पृथिवीमें कापोत लेश्या है । तीसरी पृथिवीमें ऊपरके भागमें कापोत लेश्या है
और नीचेके भागमें नील लेश्या है । चौथी पृथिवीमें नील लेश्या है । पाँचवीं पृथिवीमें ऊपरके
भागमें नील लेश्या है और नीचेके भागमें कृष्ण लेश्या है । छठी पृथिवीमें कृष्ण लेश्या है । और
सातवीं पृथिवी में परम कृष्ण लेश्या है । द्रव्य लेश्याएँ अपनी आयु तक एक सी कही गयी हैं ।
किन्तु भावलेस्याएँ अन्तर्भूतमें बदलती रहती हैं । परिणामसे यहाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और
शब्द लिये गये हैं । ये क्षेत्रविशेषके निमित्तसे अत्यन्त दुःखके कारण अशुभतर हैं । नारकियोंके
शरीर अशुभ नामकर्मके उदयसे होनेके कारण उत्तरोत्तर अशुभ हैं । उनकी विकृत आकृति है,
हुंड संस्थान है और देखनेमें बुरे लगते हैं । उनकी ऊँचाई प्रथम पृथिवीमें सात धनुष, तीन हाथ
और छह अंगुल है । तथा नीचे-नीचे प्रत्येक पृथिवीमें बहू दूनी-दूनी है । नारकियोंके अभ्यन्तर
कारण असाता वेदनीयका उदय रहते हुए अनादिकालीन शीत और उष्णरूप बाह्य निमित्तसे
उत्पन्न हुई अति तीव्र वेदना होती है । पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पृथिवीमें मात्र उष्ण
वेदनावाले नरक हैं । पाँचवीं पृथिवीमें ऊपरके दो लाख नरक उष्ण वेदनावाले हैं । और
नीचेके एक लाख नरक शीत वेदनावाले हैं । तथा छठी और सातवीं पृथिवीके नरक शीत
वेदनावाले ही हैं । नारकी 'शुभ विक्रिया करेंगे' ऐसा विचार करते हैं पर उत्तरोत्तर अशुभ
विक्रियाकी ही करते हैं । 'सुखकर हेतुओंको उत्पन्न करेंगे' ऐसा विचार करते हैं, परन्तु वे दुःख-

1. 'अयं खलु नित्यशब्दो तावत्स्थं कूटस्थेष्वविवर्तितेषु भावेषु वर्तते । किं तर्हि ? आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते । तद्यथा-
नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति ।' पा. म. भा. पृ. 57 । 2. स्वायुधः प्रमा-मु, ता., ना., । 3. -भाणेष्व-
वृता आ., दि. 1, दि. 2 । 4. नामोदया-आ., दि. 1, दि. 2 । 5. संस्थापना । तेषां, आ., दि. 1, दि. 1,
दि. 2 । 6. द्विगुणो द्विगुण आ., दि. 1, दि. 2 । 7. जनिताः सुतीव्रा मु, दि. 1, दि. 2, आ., ता. ।
8. -वेदनानामेकं आ., दि. 1, दि. 2 । 9. शुभं करि- मु., आ., दि. 1, दि. 2 ।

हेतुमुत्पादयाम इति दुःखहेतुनेवोत्पादयन्ति । त एते भावा अधोऽधोऽनुतरा वेदितव्याः ।

§ 372. किमेतेषां नारकाणां शीतोष्णजनितमेव दुःखमुत्पान्यथापि भवतीत्यत आह—

परस्परोदीरितदुःखाः ॥4॥

§ 373. कथं परस्परोदीरितदुःखत्वम् ? नारकाः¹ भवप्रत्ययेनावधिना मिथ्यादर्शनोदया-
द्विभङ्गप्रवेशभाजा च दूरदेव दुःखहेतुनवगम्योत्पन्नदुःखाः प्रत्यासत्तो परस्परालोकनाच्च प्रज्व-
लितकोपाग्नयः पूर्वभवानुस्मरणाच्चातितीव्रानुबद्धवैराश्च श्वश्रृगालादिवत्स्वाभिघाते प्रवर्तमानाः
स्वविक्रियाकृतासिवासीपरशुभिण्डिमालशक्तिसोमरकुन्तायोधनादिभिरायुधैः स्वकरचरणदशनैश्च
छेदनभेदनतक्षणवंशनादिभिः परस्परस्यातितीव्रं दुःखमुत्पादयन्ति ।

§ 374. किमेतावानेव दुःखोत्पत्तिकारणप्रकार उतान्योऽपि कश्चिदस्तीत्यत आह—

संकलिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्, चतुर्थ्याः ॥5॥

कर हेतुओंको ही उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार ये भाव नीचे-नीचे अशुभतर जानने चाहिए ।

विशेषार्थ—यहाँ टीकामें लेश्याके दो भेद करके भावलेश्या अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती है यह कहा है । सो इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ जो भावलेश्या कही है उसमें परिवर्तन नहीं होता । मात्र उसमें योग और कषायके अनुसार तरतमभाव होता रहता है; क्योंकि प्रत्येक नारकीके वही योग और वही कषाय रहनी चाहिए ऐसा नियम नहीं है । किन्तु अपने-अपने जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट कालके अनुसार या द्रव्य, क्षेत्र और भावके अनुसार योग और कषायका परिवर्तन नियमसे होता है । यतः कषायानुरंजित योगप्रवृत्तिका नाम लेश्या है अतः योग और कषायके बदलनेसे अपनी मर्यादा के भीतर वह भी बदल जाती है । मात्र जहाँ कापोत लेश्याका जघन्य अंश कहा है वहाँ वही रहता है वह बदलकर कापोत लेश्याका मध्यम और उत्कृष्ट अंश नहीं होता या जहाँ परम कृष्ण लेश्या कही है वहाँ वही रहती है वह बदल कर अन्य लेश्या नहीं होती । शेष कथन सुगम है ।

§ 372. क्या इन नारकियोंके शीतोष्णजनित ही दुःख है या दूसरे प्रकारका भी दुःख है, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा वे परस्पर उत्पन्न किये गये दुःखवाले होते हैं ॥4॥

§ 373. शंका—नारकी परस्पर एक-दूसरेको कैसे दुःख उत्पन्न करते हैं ? समाधान—
नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान है जिसे मिथ्यादर्शनके उदयसे विभंगज्ञान कहते हैं । इस ज्ञान-
के कारण दूरसे ही दुःखके कारणोंको जानकर उनको दुःख उत्पन्न हो जाता है और समीपमें
आनेपर एक-दूसरेको देखनेसे उनकी क्रोधाग्नि भभक उठती है । तथा पूर्वभवका स्मरण होनेसे
उनकी वैरकी गाँठ और दृढ़तर हो जाती है । जिससे वे कुत्ता और गीदड़के समान एक-दूसरे का
घात करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं । वे अपनी विक्रियासे तलवार, बसूला, फरसा, हाथसे चलानेका
तीर, बछी, तोमर नामका अस्त्र विशेष, बरछा और हथौड़ा आदि अस्त्र-शस्त्र बनाकर उनसे
तथा अपने हाथ, पाँव और दाँतोंसे छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदिके द्वारा परस्पर
अतितीव्र दुःखको उत्पन्न करते हैं ।

§ 374. जिन कारणोंसे दुःख उत्पन्न होता है वे क्या इतने ही हैं या और भी हैं ? अब
इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

और चौथी भूमिसे पहले तक वे संकलिष्ट असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये गये दुःखवाले भी
होते हैं ॥5॥

1. नारकाणम् ? भव- मु. ता. ना. ।

§ 375. देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरत्वसंवर्तनस्य कर्मण उदधावस्यन्ति परानित्यसुराः । पूर्वजन्मनि¹ भावितेनातितीव्रेण संक्लेशपरिणामेन यदुपाजितं पापकर्म तस्योदधात्सततं² क्लिष्टाः³ संक्लिष्टाः, संक्लिष्टाः असुराः, संक्लिष्टासुराः । संक्लिष्टा इति विशेषणान्न सर्वे असुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति । किं तर्हि ? अम्बावरीषादय एव केचनेति । अवधिप्रवर्शनार्थं 'प्राक् चतुर्थ्याः' इति विशेषणम् । उपरि तिसृषु पृथ्वीषु संक्लिष्टासुरा बाधाहेतवो नातः परमिति प्रदर्शनार्थम् । 'च' अञ्जः पूर्वोक्तदुःखहेतुसमुच्चयार्थः । सुतप्तायोरसपायननिष्ठतायस्तम्भालिङ्गनकूटशात्मत्या-रोहणाद्यतरणायोधनार्भिघातवासीक्षुरतक्षणशारतप्ततैलावसेचनायःकुम्भीपाकाम्बरीषभजनवैतरणीमज्जनयन्त्रनिष्पीडनादिभिर्नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति । एवं छेदनभेदनाविभिः शकलीकृतमूर्त्तिनामापि तेषां न मरणप्रकाले भवति । कृतः ? अनपवर्त्यायुष्कत्वात्³ ।

§ 376. यद्येवं, तदेव तादनुच्यतां नारकाणामायुःपरिमाणमित्यत आह—

तेष्वेकत्रिंशत्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां

परा स्थितिः ॥६॥

§ 375. देवगति नामक नामकर्मके भेदोंमें एक असुर नामकर्म है जिसके उदयसे 'परान् अस्यन्ति' जो दूसरोंको फेंकते हैं उन्हें असुर कहते हैं । पूर्व जन्ममें किये गये अतितीव्र संक्लेशरूप परिणामोंसे इन्होंने जो पापकर्म उपाजित किया उसके उदयसे ये निरन्तर क्लिष्ट रहते हैं इस-लिए संक्लिष्ट असुर कहलाते हैं । सूत्रमें यद्यपि असुरोंको संक्लिष्ट विशेषण दिया है पर इसका यह अर्थ नहीं कि सब असुर नारकियोंको दुःख उत्पन्न कराते हैं । किन्तु अम्बावरीष आदि कुछ असुर ही दुःख उत्पन्न कराते हैं । मर्यादाके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'प्राक् चतुर्थ्याः' यह विशेषण दिया है । इससे यह दिखलाया है कि उपरकी तीन पृथिवियोंमें ही संक्लिष्ट असुर बाधाके कारण हैं, इससे आगे नहीं । सूत्रमें 'च' शब्द पूर्वोक्त दुःखके कारणोंका समुच्चय करनेके लिए दिया है । परस्पर खूब तपाया हुआ लोहेका रस पिलाना, अत्यन्त तपाये गये लौहस्तम्भका आलिङ्गन, कूट सेमरके वृक्षपर चढ़ाना-उतारना, लोहेके घनसे मारना, बसूला और छुरासे तरासना, तपाये गये खारे तेलसे सींचना, तेलकी कढ़ाईमें पकाना, भाड़में भूँजना, वैतरणीमें डुबाना, यन्त्रसे पेलना आदिके द्वारा नारकियोंके परस्पर दुःख उत्पन्न कराते हैं । इस प्रकार छेदन, भेदन आदिके द्वारा उनका शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है तो भी उनका अकालमें मरण नहीं होता है, क्योंकि उनकी आयु घटती नहीं ।

विशेषार्थ—नारक जीव स्वभावसे क्रूर स्वभाववाले होते हैं । एक-दूसरेको देखते ही उनका क्रोध भभक उठता है और वे एक-दूसरेको मारने काटने लगते हैं । उनका शरीर वैक्रियिक होता है इसलिए उससे वे नाना प्रकारके आयुध आदिका आकार धारण कर उनसे दूसरे नार-कियोंको पीड़ा पहुँचाते हैं । तीसरे नरक तक देवोंका भी गमन होता है, इसलिए ये भी कुतूहल वश उन्हें आपसमें भिड़ा देते हैं और उनका घात-प्रत्याघात देखकर मजा लूटते हैं । पर यह काम सब देव नहीं करते किन्तु अम्बावरीष आदि जातिके कुछ ही असुर कुमार देव करते हैं । इतना सब होते हुए भी उन नारकियोंका अकाल मरण नहीं होता इतना यहाँ विशेष जानना चाहिए ।

§ 376. यदि ऐसा है तो यह कहिए कि उन नारकियोंकी कितनी आयु है ? इसी बातको बतसानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम है ॥६॥

1. जन्मनि संभाकि- मु. । 2. क्लिष्टाः संक्लिष्टा असुराः मु. । 3. -युवत्वात् आ. दि. 2 ।

§ 377. यथाक्रममित्यनुवर्तते । तेषु नरकेषु भूमिक्रमेण यथासंख्यमेकादयः स्थितयोऽभि-
संबध्यन्ते । रत्नप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिरेकसागरोपमा । शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा । बालुका-
प्रभायां सप्तसागरोपमा । पंकप्रभायां दशसागरोपमा । धूमप्रभायां सप्तदशसागरोपमा । तमःप्रभायां
द्वाविंशतिसागरोपमा । महातमःप्रभायां त्र्यविंशतिसागरोपमा इति । परा उत्कृष्टेत्यर्थः । 'सत्त्वाना-
नाम्' इति वचनं भूमिनिवृत्त्यर्थम् । भूमिषु सत्त्वानामियं स्थितिः, न भूमीनामिति ।

§ 378. उक्तः सप्तभूमिविस्तीर्णोऽधोलोकः । इदानीं तिर्यग्लोको वक्ष्यः । कथं पुन-
स्तिर्यग्लोकः । यतोऽसंख्येयाः स्वयंभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणावस्थिता द्वीपसमुद्रास्तत-
स्तिर्यग्लोक इति । के^१ पुनस्तिर्यग्व्यवस्थिता इत्यत आह—

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभमानानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

§ 379. जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः । लवणोदादयः समुद्राः । यानि लोके शुभानि नामानि
तन्नामानस्ते । तद्यथा—जम्बूद्वीपो द्वीपः । लवणोदः समुद्रः । धातकीखण्डो द्वीपः । कालोदः
समुद्रः । पुष्करवरो द्वीपः । पुष्करवरः समुद्रः । वारुणीवरः द्वीपः । वारुणीवरः समुद्रः । क्षीरवरो
द्वीपः । क्षीरवरः समुद्रः । घृतवरो द्वीपः । घृतवरः समुद्रः । इक्षुवरो द्वीपः । इक्षुवरः समुद्रः ।
नन्दीश्वरवरो द्वीपः । नन्दीश्वरवरः समुद्रः । अरुणवरो द्वीपः । अरुणवरः समुद्रः । इत्येवमसंख्येया
द्वीपसमुद्राः स्वयंभूरमणपर्यन्ता वेदितव्याः ।

§ 380. अमीषां विष्कम्भसंनिवेशसंस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

§ 377. इस सूत्रमें 'यथाक्रमम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । जिससे उन नरकोंमें भूमि-
के क्रमसे एक सागरोपम आदि स्थितियोंका क्रमसे सम्बन्ध हो जाता है । रत्नप्रभामें एक साग-
रोपम उत्कृष्ट स्थिति है । शर्कराप्रभामें तीन सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । बालुकाप्रभामें सात
सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । पंकप्रभामें दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । धूमप्रभामें सत्रह
सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । तमःप्रभामें बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और महातमः-
प्रभामें तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । 'परा' शब्दका अर्थ 'उत्कृष्ट' है । और 'सत्त्वानाम्'
पद भूमियोंके निराकरण करनेके लिए दिया है । अभिप्राय यह है कि भूमियोंमें जीवोंकी यह
स्थिति है, भूमियोंकी नहीं ।

§ 378. सात भूमियोंमें फैले हुए अधोलोकका वर्णन किया । अब तिर्यग्लोकका कथन
करना चाहिए । शंका—तिर्यग्लोक यह संज्ञा क्यों है ? समाधान—चूँकि स्वयंभूरमण समुद्र
पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र तिर्यक् प्रचयविशेषरूपसे अवस्थित हैं, इसलिए तिर्यग्लोक संज्ञा है ।
वे तिर्यक् रूपसे अवस्थित क्या हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जम्बूद्वीप आदि शुभ नामवाले द्वीप और लवणोद आदि शुभ नामवाले समुद्र हैं ॥७॥

§ 379. जम्बूद्वीप आदिक द्वीप हैं और लवणोद आदिक समुद्र हैं । तात्पर्य यह है कि
लोकमें जितने शुभ नाम हैं उन नामवाले वे द्वीप-समुद्र हैं । यथा—जम्बूद्वीप नामक द्वीप, लव-
णोद समुद्र, धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप,
वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर
समुद्र, नन्दीश्वरवर द्वीप, नन्दीश्वरवर समुद्र, अरुणवर द्वीप और अरुणवर समुद्र, इस प्रकार
स्वयंभूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र जानने चाहिए ।

§ 380. अब इन द्वीप-समुद्रोंके विस्तार, रचना और आकारविशेषका ज्ञान करानेके
लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. के पुनस्ते तिर्य- आ., वि. 1 ।

द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः ॥८॥

§ 381. द्विद्विरिति ¹वीप्साभ्यावृत्तिवचनं विष्कम्भद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थम् । आद्यस्य द्वीपस्य यो विष्कम्भः तद्विगुणविष्कम्भो लवणजलधिः । तद्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो द्वीपः । तद्विगुणविष्कम्भो द्वितीयो जलधिरिति । द्विद्विविष्कम्भो येषां ते द्विद्विविष्कम्भाः । पूर्वपूर्वपरिक्षेपिवचनं ग्रामनगरादिवद्विनिवेशो मा विज्ञायीति । बलयाकृतिवचनं चतुरस्त्रादिसंस्थानान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।

§ 382. अत्राह, जम्बूद्वीपस्य प्रदेशसंस्थानविष्कम्भा वस्तव्यास्तन्मूलत्वादितरविष्कम्भा विविज्ञानस्येत्युच्यते—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

§ 383. तेषां मध्ये तन्मध्ये । केषाम् ? पूर्वोक्तानां² द्वीपसमुद्राणाम् । नाभिरिव नाभिः³ । मेरुनाभिर्भ्यस्य स मेरुनाभिः । वृत्त आदित्यमण्डलोपमानः । शतानां सहस्रं शतसहस्रम् । योजनानां शतसहस्रं योजनशतसहस्रम् । योजनशतसहस्रं विष्कम्भो यस्य सोऽयं योजनशतसहस्रविष्कम्भः । कोऽसौ ? जम्बूद्वीपः । कथं जम्बूद्वीपः ? जम्बूवृक्षोपलक्षितत्वात् । उत्तरकुरुणां मध्ये जम्बूवृक्षो-
ज्जादिनिधनः पृथिवीपरिणामो⁴ऽकृत्रिमः सपरिवारस्तदुपलक्षितोऽयं द्वीपः ।

वे सभी द्वीप और समुद्र दूने-दूने व्यासवाले, पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्रको वेष्टित करने-वाले और चूड़ीके आकारवाले हैं ॥८॥

§ 381. द्वीप-समुद्रोंका विस्तार दूना-दूना है इस बातको दिखलानेके लिए सूत्रमें 'द्विद्विः' इस प्रकार वीप्सा अर्थमें अभ्यावृत्ति वचन है । प्रथम द्वीपका जो विस्तार है लवणसमुद्रका विस्तार उससे दूना है तथा दूसरे द्वीपका विस्तार इससे दूना है और समुद्र का इससे दूना है । इस प्रकार उत्तरोत्तर दूना-दूना विस्तार है । तात्पर्य यह है कि इन द्वीप-समुद्रोंका विस्तार दूना-दूना है, इसलिए सूत्रमें उन्हें दूने-दूने विस्तारवाला कहा है । ग्राम और नगरादिकके समान इन द्वीप-समुद्रोंकी रचना न समझी जाये इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः' यह वचन दिया है । अर्थात् वे द्वीप और समुद्र उत्तरोत्तर एक दूसरेको घेरे हुए हैं । सूत्रमें जो 'बल-याकृतयः' वचन दिया है वह चौकोर आदि आकारोंके निराकरण करनेके लिए दिया है ।

§ 382. अब पहले जम्बूद्वीपका आकार और विस्तार कहना चाहिए, क्योंकि दूसरे द्वीप समुद्रोंका विस्तार आदि तन्मूलक है, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन सबके बीचमें गोल और एक लाख योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप है । जिसके मध्यमें नाभिके समान मेरु पर्वत है ॥९॥

§ 383. 'तन्मध्ये' पदका अर्थ है 'उनके बीचमें' । शंका—किनके बीचमें ? समाधान—पूर्वोक्त द्वीप और समुद्रोंके बीचमें । नाभिस्थानीय होनेसे नाभि कहा है । जिसका अर्थ मध्य है । अभिप्राय यह है कि जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है, जो सूर्यके मण्डलके समान गोल है और जिसका एक लाख योजन विस्तार है ऐसा यह जम्बूद्वीप है । शंका—इसे जम्बूद्वीप क्यों कहते हैं ? समाधान—जम्बूवृक्षसे उपलक्षित होनेके कारण इसे जम्बूद्वीप कहते हैं । उत्तरकुरुमें अनादिनिधन, पृथिवी से बना हुआ, अकृत्रिम और परिवार वृक्षोंसे युक्त जम्बूवृक्ष है, उसके कारण यह जम्बू-द्वीप कहलाता है ।

विशेषार्थ—अधोलोकका विवेचन कर आये हैं । इसके बाद मध्यलोक . . .

1. वीप्सायां वृत्तिवचनं आ., दि. 1, दि. 2, मु. ।
2. पूर्वोक्तद्वीप— आ., दि. 1, दि. 2, मु. ।
3. नाभिर्मध्यम । मेरु- आ., दि. 1, दि. 2, मु. ।
4. परिमाणोऽकृ- मु. ।

§ 384. तत्र जम्बूद्वीपे षडभिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि कानि तानीत्यत आह—
भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ¹ ॥10॥

। 385. भरतादयः संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्ताः । तत्र भरतवर्षः क्व संनिविष्टः ? दक्षिणदिग्भागे हिमवतोऽद्रेस्त्रयाणां² समुद्राणां मध्ये आरोपितचापाकारो भरतवर्षः । विजयाह्वेन गङ्गासिन्धुभ्यां च विभक्तः³ स षट्खण्डः । क्षुद्रहिमवन्तमुत्तरेण दक्षिणेन महाहिमवन्तं पूर्वापर-समुद्रयोर्मध्ये हैमवतवर्षः । निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले हरिवर्षः । निषधस्योत्तरान्नीलतो दक्षिणतः पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे विदेहस्य संनिवेशो द्व्यष्टयः । नीलतः⁴ उत्तरात्⁵ (द) रुक्मिणो दक्षिणात् पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये रम्यकवर्षः । रुक्मिण उत्तराच्छिख-

पृथिवीके ऊपरी भागपर अवस्थित है । इसमें गोल आकारको लिये हुए और एकके बाद एकको घरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं । इन सबके बीचमें जम्बूद्वीप है । इसके बीचमें और दूसरा द्वीप समुद्र नहीं है । यद्यपि गोल तो सब द्वीप और समुद्र हैं पर वे सब चूड़ीके समान गोल हैं और यह थालीके समान गोल है । इसका व्यास एक लाख योजन है । इसके ठीक बीचमें मेरु पर्वत है । यह एक लाख चालीस योजन ऊँचा है । इसमें-से एक हजार योजन जमीन में है । चालीस योजनकी आखीरमें चोटी है और शेष भिन्यानवे हजार योजनका समतलसे चूलिका तक है । प्रारम्भमें जमीनपर मेरु पर्वतका व्यास दस हजार योजन है । ऊपर क्रमसे घटता गया है । जिस हिसाबसे ऊपर घटा है उसी हिसाबसे जमीनमें उसका व्यास बढ़ा है । मेरु पर्वतके तीन काण्ड हैं । पहला काण्ड जमीनसे पाँच सौ योजनका, दूसरा साढ़े बासठ हजार योजनका और तीसरा छत्तीस हजार योजनका है । प्रत्येक काण्डके अन्तमें एक-एक कटनी है । जिसका एक ओरका व्यास पाँचसौ योजन है । अन्तिम कटनीका व्यास मात्र छह योजन कम है । एक जमीनपर और तीन इन तीन कटनियोंपर इस प्रकार यह चार वनोंसे सुशोभित है । इनके क्रमसे भद्रसाल, नन्दन, सीमनस और पाण्डुक ये नाम हैं । पहली और दूसरी कटनीके बाद मेरु पर्वत सीधा गया है फिर क्रमसे घटने लगता है । इसके चारों वनोंमें चारों दिशाओंमें एक-एक वनमें चार-चार इस हिसाबसे सोलह चैत्यालय हैं । पाण्डुक वनमें चारों दिशाओंमें चार पाण्डुक शिलाएँ हैं जिनपर उस-उस दिशाके क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए तीर्थकरीका अभिषेक होता है । इसका रंग पीला है ।

§ 384. इस जम्बूद्वीपमें छह कुलपर्वतोंसे विभाजित होकर जो सात क्षेत्र हैं वे कौन-से हैं ? इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं ॥10॥

§ 385. क्षेत्रोंकी भरत आदि संज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही हैं और अनिमित्तक हैं । इनमें-से भरत क्षेत्र कहाँ स्थित है ? हिमवान् पर्वतके दक्षिणमें और तीन समुद्रोंके बीचमें चढ़े हुए धनुषके आकारवाला भरत क्षेत्र है जो विजयार्ध और गंगा-सिन्धुसे विभाजित होकर छह खण्डोंमें बँटा हुआ है । क्षुद्र हिमवान्के उत्तरमें और महाहिमवान्के दक्षिणमें तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रके बीचमें हैमवत क्षेत्र है । निषधके दक्षिणमें और महाहिमवान्के उत्तरमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हरिक्षेत्र है । निषधके उत्तरमें और नीलके दक्षिणमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें विदेह क्षेत्रकी रचना है । नीलके उत्तरमें और रुक्मीके दक्षिणमें तथा पूर्व

1. क्षेत्राणि ॥10॥ भिन्न-भिन्नानि भरता- आ. । 2. -याणां च समु- मु. । 3. विभक्तः षट्- मु. । 4. नील- वत उत्त- आ., दि. 1, दि. 2 । 5. उत्तरः दक्षिणो दक्षिणः मु. ।

रिणो दक्षिणात्पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये संनिवेशी¹ हैरण्यवतवर्षः । शिखरिण उत्तरतरत्रयाणां समुद्राणां मध्ये ऐरावतवर्षः । विजयार्द्धेन रक्तारक्तोदाभ्यां च विभक्तः² स षट्खण्डः ।

§ 386. षट् कुलपर्वता इत्युक्तं के पुनस्ते कथं वा व्यवस्थिता इत्यत आह—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-

रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥11॥

§ 387. तानि क्षेत्राणि विभजन्त इत्येवंशीलारतद्विभाजिनः । पूर्वापरायता इति पूर्वापर-कोटिभ्यां लवणजलधिस्पर्शिन इत्यर्थः । हिमवदादयोऽनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्तसंज्ञा वर्षविभाग-हेतुत्वाद्वर्षधरपर्वता इत्युच्यन्ते । तत्र क्व हिमवान् ? भरतस्य हैमवतस्य च सीमनि³ व्यवस्थितः । क्षुद्रहिमवान् योजनशतोच्छ्रायः । हैमवतस्य हरिवर्षस्य⁴ च विभागकरो महाहिमवान् द्वियोजन-शतोच्छ्रायः⁵ । विदेहस्य दक्षिणतो हरिवर्षस्योत्तरतो निषधो नाम पर्वतश्चतुर्योजनशतोच्छ्रायः । उत्तरे त्रयोऽपि पर्वताः स्ववर्षविभाजिनो व्याख्याताः । उच्छ्रायश्च तेषां चत्वारि द्वे एकं च योजन-शतं वेदितव्यम्⁶ । सर्वेषां पर्वतानामुच्छ्रायस्य चतुर्भागोऽवगाहः ।

§ 388. तेषां वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

हेमाजुनितपनीयनौडूर्यरजतहेममयाः ॥12॥

पश्चिम समुद्रके बीचमें रम्यक क्षेत्र है । रुक्मीके उत्तरमें और शिखरीके दक्षिणमें तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हैरण्यवत क्षेत्र है । शिखरीके उत्तरमें और तीन समुद्रोंके बीचमें ऐरावत क्षेत्र है जो विजयार्द्ध और रक्ता रक्तोदासे विभाजित होकर छट् खण्डोंमें बँटा हुआ है ।

§ 386. कुलपर्वत छह हैं यह पहले कह आये हैं, परन्तु वे कौन हैं और कहाँ स्थित हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन क्षेत्रोंको विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं ॥11॥

§ 387. इन पर्वतोंका स्वभाव उन क्षेत्रोंका विभाग करना है, इसलिए इन्हें उनका विभाग करनेवाला कहा है । ये पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हैं । इसका यह भाव है कि इन्होंने अपने पूर्व और पश्चिम सिरेसे लवण समुद्रको स्पर्श किया है । ये हिमवान् आदि संज्ञाएँ अनादि कालसे चली आ रही हैं और बिना निमित्तकी हैं । इन पर्वतोंके कारण क्षेत्रोंका विभाग होता है इसलिए इन्हें वर्षधर पर्वत कहते हैं । हिमवान् पर्वत कहाँ है अब इसे बतलाते हैं—भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमापर हिमवान् पर्वत स्थित है । इसे क्षुद्र हिमवान् भी कहते हैं । यह सौ योजन ऊँचा है । हैमवत और हरिवर्षका विभाग करनेवाला महाहिमवान् है । यह दो सौ योजन ऊँचा है । विदेहके दक्षिणमें और हरिवर्षके उत्तरमें निषध पर्वत है । यह चार सौ योजन ऊँचा है । इसी प्रकार आगेके तीन पर्वत भी अपने-अपने क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले जानने चाहिए । उनकी ऊँचाई क्रमशः चार सौ, दो सौ और सौ योजन जाननी चाहिए । इन सब पर्वतोंकी जड़ अपनी ऊँचाईका एक-चौथाई भाग है ।

§ 388. अब इन पर्वतोंके वर्णविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ये छहों पर्वत क्रमसे सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना इनके समान रंगवाले हैं ॥12॥

1. संनिवेशो हैर- मु. । 2. -विभक्तः षट्- मु. । 3. सीमन्यव- आ., दि. 1, दि. 2 । 4. हरिवर्षस्य च विभा- आ., दि. 1, दि. 2 । 5. -च्छ्रायः । महाविदेहस्य आ., दि. 1, दि. 2 । 6. -तम्यम् । पर्वता- मु. ।

§ 389. त एते हिमवदादयः पर्वता हेमादिमया वेदितव्या यथाक्रमम् । हेममयो हिमवान् चीनपट्टवर्णः । अर्जुनमयो महाहिमवान् शुक्लवर्णः । तपनीयमयो निषधस्तटणादित्यवर्णः । वैडूर्यमयो नीलो मयूरग्रीवाभः । रजतमयो रुक्मी शुक्लः । हेममयः शिखरो चीनपट्टवर्णः ।

§ 390. पुनरपि तद्विशेषणार्थमाह—

मणिविचित्रपाश्र्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः॥13॥

§ 391. नानावर्णप्रभादिगुणोपेतैर्मणिभिर्विचित्राणि पाश्र्वाणि येषां ते मणिविचित्र-पाश्र्वाः । अनिष्ट^२संस्थानस्य निवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनं क्रियते । 'च'शब्दो मध्यसमुच्चयार्थः । य एषां मूले विस्तारः स उपरि मध्ये च तुल्यः ।

§ 392. तेषां मध्ये लब्धास्पदा ह्रदा उच्यन्ते—

पद्ममहापद्मतिगिच्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥14॥

§ 393. पद्मो महापद्मस्तिगिच्छः केसरी महापुण्डरीकः पुण्डरीक इति तेषां हिमवदादीनामुपरि यथाक्रममेते ह्रदा वेदितव्याः ।

§ 394. तत्राद्यस्य संस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

§ 389. वे पर्वत क्रमसे हेम आदि वर्णवाले जानने चाहिए । हिमवान् पर्वतका रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है । महाहिमवान्का रंग अर्जुनमय अर्थात् सफेद है । निषध पर्वतका रंग तपाये गये सोनेके समान अर्थात् उगते हुए सूर्यके रंगके समान है । नील पर्वतका रंग वैडूर्यमय अर्थात् मोरके गलेकी आभावाला है । रुक्मी पर्वतका रंग रजतमय अर्थात् सफेद है और शिखरी पर्वतका रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशमके समान है ।

§ 390. फिर भी इन पर्वतोंकी और विशेषता का ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इनके पाश्र्व मणियोंसे चित्र-विचित्र हैं तथा वे ऊपर, मध्य और मूलमें समान विस्तारवाले हैं ॥13॥

§ 391. इन पर्वतोंके पाश्र्व भाग नाना रंग और नाना प्रकार की प्रभा आदि गुणोंसे युक्त मणियोंसे विचित्र हैं, इसलिए सूत्रमें इन्हें मणियोंसे विचित्र पाश्र्ववाले कहा है । अनिष्ट आकारके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'उपरि' आदि पद रखे हैं । 'च' शब्द मध्यभागका समुच्चय करनेके लिए है । तात्पर्य यह है कि इनका मूलमें जो विस्तार है वही ऊपर और मध्यमें है ।

§ 392. इन पर्वतोंके मध्यमें जो तालाब हैं उनका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन पर्वतोंके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये तालाब हैं ॥14॥

§ 393. पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह तालाब हैं जो उन हिमवान् आदि पर्वतोंपर क्रमसे जानना चाहिए ।

§ 394. इनमें-से पहले तालाबके आकार-विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह मु. । 2. -ष्टस्य संस्था- मु. ।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तवर्द्धविष्कम्भो हृदः ॥15॥

§ 395. प्राक्प्रत्यग् योजनसहस्रायाम उदगवाक् पञ्चयोजनशतविस्तारो वज्रमयतलो विविधमणिकनकविचित्रिततटः पद्मनामाहृदः ।

§ 396. तस्यावगाहप्रकल्पार्थमिदमुच्यते—

दशयोजनावगाहः ॥16॥

§ 397. अवगाहोऽधःप्रवेशो निम्नता । दशयोजनान्यवगाहोऽस्य दशयोजनावगाहः ।

§ 398. 'तन्मध्ये किम्—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥17॥

§ 399. योजनप्रमाणं योजनम्, क्रोशायामपत्रत्वात्क्रोशद्वयविष्कम्भकर्णिकत्वाच्च योजनायामविष्कम्भम् । जलतलात्क्रोशद्वयोच्छ्रायनालं यावद्बहुलपत्रप्रचयं पुष्करमवगन्तव्यम् ।

§ 400. इतरेषां हृदानां पुष्कराणां चायामादिनिर्ज्ञानार्थमाह—

तद्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ॥18॥

§ 401. स च तच्च ते, तयोद्विगुणा² द्विगुणास्तद्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वं व्याप्तिज्ञापनार्थम् । केन द्विगुणाः ? आयामादिना । पद्महृदस्य द्विगुणायामविष्कम्भभावगाहो महापद्मो⁴

पहला तालाब एक हजार योजन लम्बा और इससे आधा चौड़ा है ॥15॥

§ 395. पद्म नामक तालाब पूर्व और पश्चिम एक हजार योजन लम्बा है तथा उत्तर और दक्षिण पाँच सौ योजन चौड़ा है । इसका तलभाग वज्रसे बना हुआ है । तथा इसका तट नाना प्रकारके मणि और सोनेसे चित्रविचित्र है ।

§ 396. अब इसकी गहराई दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा दस योजन गहरा है ॥16॥

§ 397. अवगाह, अधःप्रवेश और निम्नता ये एकार्थवाची नाम हैं । पद्म तालाबकी गहराई दस योजन है यह इस सूत्रका तात्पर्य है ।

§ 398. इसके बीचमें क्या है ?

इसके बीचमें एक योजनका कमल है ॥17॥

§ 399. सूत्रमें जो 'योजनम्' पद दिया है उससे एक योजन प्रमाण लेना चाहिए । तात्पर्य यह है कि कमलका पत्ता एक कोस लम्बा है और उसकी कर्णिकाका विस्तार दो कोसका है, इसलिए कमल एक योजन लम्बा और एक योजन विस्तारवाला है । इस कमलकी नाल जलतल से दो कोस ऊपर उठी है और इसके पत्तोंकी उगनी ही मोटाई है । इस प्रकार यह कमल जानना चाहिए ।

§ 400. अब दूसरे तालाब और कमलोंकी लम्बाई आदिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आगेके तालाब और कमल दूने-दूने हैं ॥18॥

§ 401. सूत्रमें जो 'तत्' पद आया है उससे तालाब और कमल दोनोंका ग्रहण किया है । आगेके तालाब और कमल दूने-दूने हैं इस व्याप्तिका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'तद्विगुणद्विगुणाः' कहा है । शंका—ये तालाब और कमल किसकी अपेक्षा दूने हैं ? समाधान—लम्बाई आदिकी

1. --गाहः । तन्मध्ये योजनं आ., दि. 1, दि. 2 । 2. --तयोद्विगुणास्तद्विगुणास्त- मु. । 3. --ज्ञानार्थम् मु. । 4. --पद्महृदः मु. ।

हृदः । तस्य द्विगुणायामविष्कम्भादगाहरितमिच्छो¹ हृदः । पुष्कराणि च । किम् ? द्विगुणानि द्विगुणानीत्यभिसंबध्यते ।

§ 402. तन्निवासिनीनां देवीनां संज्ञाजीवितपरिवारप्रतिपादनार्थमाह—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पत्न्योपमस्थितयः

ससामानिकपरिषत्काः ॥19॥

§ 403. तेषु पुष्करेषु कर्णिकामध्यदेशनिवेशिनः शरद्विमलपूर्णचन्द्रद्युतिहराः क्रोशायामाः क्रोशाद्धविष्कम्भा देशोनक्रोशोत्सेधाः प्रासादाः । तेषु निवसन्तीत्येवंशीलास्तन्निवासिन्यः, देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मीसंज्ञिकारतेषु पद्मादिषु यथाक्रमं वेदितव्याः । ‘पत्न्योपमस्थितयः’ इत्यनेनायुषः प्रमाणमुक्तम् । समाने स्थाने भवाः सामानिकाः । सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषदः । सह सामानिकपरिषद्भिर्बर्तन्त इति ससामानिकपरिषत्काः । तस्य पद्मस्य परिवारपद्मेषु प्रासादानामुपरि सामानिकाः परिषदश्च वसन्ति ।

§ 404. यकाराभिः सरिद्रुस्तानि क्षेत्राणि प्रविभक्तानि ता उच्यन्ते—

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्वरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्ता-

सुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥20॥

§ 405. सरितो न वाप्यः । ताः किमन्तरा उत समीपा इति ? आह—तन्मध्यगाः तेषां

अपेक्षा । पद्म तालावकी जो लम्बाई, विस्तार और गहराई है महापद्म तालावकी लम्बाई, विस्तार और गहराई इससे दूनी है । इससे तिगुछ तालावकी लम्बाई, विस्तार और गहराई दूनी है । शंका—कमल क्या हैं ? समाधान—वे भी लम्बाई आदिकी अपेक्षा दूने-दूने हैं ऐसा यहाँ सम्बन्ध करना चाहिए ।

§ 402. इनमें निवास करनेवाली देवियोंके नाम, आयु और परिवारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इनमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ सामानिक और परिषद् देवोंके साथ निवास करती हैं । तथा इनकी आयु एक पत्न्योपम है ॥19॥

§ 403. इन कमलोंकी कर्णिकाके मध्यमें शरत्कालीन निर्मल पूर्ण चन्द्रमाकी कान्तिको हरनेवाले एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और पौन कोस ऊँचे महल हैं । उनमें निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामवाली देवियाँ क्रमसे पद्म आदि छह कमलोंमें जानना चाहिए । ‘उनकी स्थिति एक पत्न्योपमकी है’ इस पदके द्वारा उनकी आयुका प्रमाण कहा है । समान स्थानमें जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं । सामानिक और परिषत्क ये देव हैं । वे देवियाँ इनके साथ रहती हैं । तात्पर्य यह है कि मुख्य कमलके जो परिवार कमल हैं उनके महलोंमें सामानिक और परिषद् जातिके देव रहते हैं ।

§ 404. जिन नदियोंसे क्षेत्रोंका विभाग हुआ है अब उन नदियोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन भरत आदि क्षेत्रोंमें-से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ बही हैं ॥20॥

§ 405. ये नदियाँ हैं तालाव नहीं । वे नदियाँ अन्तरालसे हैं या पास-पास इस बातका

1. -गिच्छहृदः मु. ।

क्षेत्राणां मध्यं¹ तन्मध्यम् । तन्मध्यं तन्मध्येन वा गच्छन्तीति तन्मध्यगाः । एकत्र सर्वासां प्रसंग-
निवृत्त्यर्थं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं चाह—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥21॥

§ 406. द्वयोर्द्वयोः सरितोरेकं क्षेत्रं विषय इति वाक्यशेषाभिसंबन्धादेकत्र सर्वासां प्रसंगनिवृत्तिः कृता । ‘पूर्वाः पूर्वगाः’ इति वचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । तत्र पूर्वा याः सरितस्ताः पूर्वगाः । ‘पूर्वजलाधि गच्छन्तीति पूर्वगाः । किमपेक्षं पूर्वत्वम् ? सूत्रनिर्देशापेक्षम् । यद्येवं गङ्गा-
सिन्ध्वादयः सप्त पूर्वगा इति प्राप्तम् ? नैष दोषः ; द्वयोर्द्वयोरित्यभिसंबन्धात् । द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगा इति वेदितव्याः ।

§ 407. इतरासां दिग्विभागप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शेषास्त्वपरगाः ॥22॥

§ 408. द्वयोर्द्वयोर्वा अवशिष्टास्ता अपरगाः प्रत्येतव्याः । अपरसमुद्रं गच्छन्तीत्यपरगाः । तत्र पद्महृदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गा । अपरतोरणद्वारनिर्गता सिन्धुः । उदीच्यतोरणद्वार-
निर्गता रोहितास्या । महापद्महृदप्रभवा² अपाच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहिता । उदीच्यतोरणद्वार-
निर्गता हरिकान्ता । तिगिच्छहृदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता हरित् । उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता

खुलासा करनेके लिए सूत्रमें ‘तन्मध्यगाः’ पद दिया है । इसका यह भाव है कि उन क्षेत्रोंमें या उन क्षेत्रोंमें-से होकर वे नदियाँ बही है । एक स्थानमें सबका प्रसंग प्राप्त होता है, अतः इसका निराकरण करके दिशा विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो-दो नदियोंमें-से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्रको जाती है ॥21॥

§ 406. इस सूत्रमें ‘दो-दो नदियाँ एक-एक क्षेत्रमें हैं’ इस प्रकार वाक्यविशेषका सम्बन्ध कर लेनेसे एक क्षेत्रमें सब नदियोंके प्रसंग होनेका निराकरण हो जाता है । ‘पूर्वाः पूर्वगाः’ यह वचन दिशाविशेषका ज्ञान करानेके लिए दिया है । इन नदियोंमें जो प्रथम नदियाँ हैं वे पूर्व समुद्रमें जाकर मिली हैं । सूत्रमें जो ‘पूर्वगाः’ पद है उसका अर्थ ‘पूर्व समुद्रको जाती हैं’ यह है । शंका—पूर्वत्व किस अपेक्षासे है ? समाधान—सूत्रमें किये गये निर्देशकी अपेक्षा । शंका—यदि ऐसा है तो गंगा, सिन्धु आदि सात नदियाँ पूर्व समुद्रको जानेवाली प्राप्त होती हैं ? समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि ‘द्वयोः द्वयोः’ इन पदोंका सम्बन्ध है । तात्पर्य यह है कि दो-दो नदियोंमें-से प्रथम-प्रथम नदी बहकर पूर्व समुद्रमें मिली है ।

§ 407. अब इतर नदियोंके दिशाविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

किन्तु शेष नदियाँ पश्चिम समुद्रको जाती हैं ॥22॥

§ 408. दो-दो नदियोंमें जो शेष नदियाँ हैं वे बहकर पश्चिम समुद्रमें मिली हैं । ‘अप-
रगाः’ पदका अर्थ अपर समुद्रको जाती हैं यह है । उनमें-से पद्म तालाबसे उत्पन्न हुई और पूर्व तोरण द्वारसे निकली हुई गंगा नदी है । पश्चिम तोरण द्वारसे निकली हुई सिन्धु नदी है तथा उत्तर तोरण द्वारसे निकली हुई रोहितास्या नदी है । महापद्म तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई रोहिता नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई हरिकान्ता नदी है । तिगिच्छ तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई हरित नदी है । और उत्तर तोरण द्वारसे निकली हुई सोतोदा नदी है । केसरी तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे

1. मध्यं तन्मध्यं तन्मध्येन मु. । मध्यं तन्मध्येन आ., दि. 1, दि. 2 । 2. --पूर्व जलाधि मु. । 3. अपाच्य-
तोरण- आ. 2, दि. 1, दि. 2, ता., ना. ।

सीतोदा । केसरिह्रवप्रभवा अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता सीता । उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता नरकान्ता । महापुण्डरीकह्रवप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता नारी । उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रूप्यकूला । पुण्डरीकह्रवप्रभवा अवाच्यतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूला । पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता । ¹प्रतीच्यतोरणद्वारनिर्गता रक्तोदा ।

§ 409. तासां परिवारप्रतिपादनार्थमाह—

चतुर्वंशनदीसहस्रपरिवृत्ता गंगासिन्धवादयो नद्यः ॥23॥

§ 410. किमर्थं 'गङ्गासिन्धादि' ग्रहणं क्रियते ? नदीग्रहणार्थम् । प्रकृतास्ता अभिसंबध्यन्ते ? नैवं शक्यम् ; ²अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति अपरगणामेव ग्रहणं स्यात् । गङ्गाविग्रहणमेवास्तीति चेत् ? पूर्वगणामेव ग्रहणं स्यात् । अत उभयोर्नां ग्रहणार्थं 'गङ्गासिन्धादि' ग्रहणं क्रियते । 'नदी'ग्रहणं द्विगुणा द्विगुणा इत्यभिसंबन्धार्थम् । गङ्गा चतुर्वंशनदीसहस्रपरिवृत्ता । सिन्धुरपि । एवमुत्तरा अपि नद्यः प्रतिक्षेत्रं तद्द्विगुणद्विगुणा³ भवन्ति ; आ विदेहान्तात् । तत उत्तरा अर्द्धार्द्धहीनाः ।

§ 411. उक्तानां क्षेत्राणां विष्कम्भप्रतिपत्त्यर्थमाह—

भरतः षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट् चौनविंशतिभागा योजनस्य ॥24॥

§ 412. षडधिका विंशतिः षड्विंशतिः । षड्विंशतिरधिका⁴ येषु तानि षड्विंशानि ।

निकली हुई सीता नदी है तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई नरकान्ता नदी है । महापुण्डरीक तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई नारी नदी है । तथा उत्तर तोरणद्वारसे निकली हुई रूप्यकूला नदी है । पुण्डरीक तालाबसे उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वारसे निकली हुई सुवर्णकूला नदी है । पूर्व तोरणद्वारसे निकली हुई रक्ता नदी है और पश्चिम तोरणद्वारसे निकली हुई रक्तोदा नदी है ।

§ 409. अब इनकी परिवार-नदियोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गंगा और सिन्धु आदि नदियोंकी चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं ॥23॥

§ 410. शंका—'गंगा सिन्धु आदि' पदका ग्रहण किसलिए किया है ? समाधान—नदियों का ग्रहण करनेके लिए । शंका—उनका तो प्रकरण है ही, अतः 'गंगासिन्धादि' पदके बिना ग्रहण किये ही उनका सम्बन्ध हो जाता है ? समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'अनन्तरका विधान होता है या प्रतिषेध' इस नियमके अनुसार पश्चिमकी ओर बहनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता जो कि इष्ट नहीं, अतः सूत्रमें 'गंगासिन्धादि' पद दिया है । शंका—तो सूत्र में 'गंगादि' इतने पद का ही ग्रहण रहे ? समाधान—यदि 'गंगादि' इतने पदका ही ग्रहण किया जाये तो पूर्वकी ओर बहनेवाली नदियोंका ही ग्रहण होवे जो भी इष्ट नहीं, अतः दोनों प्रकारकी नदियोंका ग्रहण करनेके लिए 'गंगासिन्धादि' पदका ग्रहण किया है । यद्यपि 'गंगासिन्धादि' इतने पदके ग्रहण करनेसे ही यह बोध हो जाता है कि ये नदियाँ हैं, फिर भी सूत्रमें जो 'नदी' पदका ग्रहण किया है वह 'द्विगुणा द्विगुणाः' इसके सम्बन्धके लिए किया है । गंगाकी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं । इसी प्रकार सिन्धुकी भी परिवार नदियाँ चौदह हजार हैं । इस प्रकार आगेकी परिवार नदियाँ विदेह पर्यन्त दूनी-दूनी होती गयी हैं । और इससे आगेकी परिवार नदियाँ आधी-आधी होती गयी हैं ।

§ 411. अब उक्त क्षेत्रोंके विस्तारका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन है ॥25॥

§ 412. यहाँ ठीकामें 'पहले 'षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः' पदका समास किया गया

1. अपरतीर्य-मु. । 2. पा. म. भा., पृ. 335 । 3. -क्षेत्रं द्विगुणा द्विगुणा मु. । 4. -रधिकानि येषु मु. ।

षड्विंशानि पञ्चयोजनशतानि विस्तारो यस्य षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारो भरतः । किमेता-
वानेव ? न; इत्याह षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य विस्तारोऽस्येत्यभिसंबध्यते ।

§ 413. इतरेषां विष्कम्भविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥25॥

§ 414. 'ततो भरताद् द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषां त इमे तद्विगुणद्विगुणविस्ताराः ।
के ते वर्षधरवर्षाः । किं सर्वे ? न; इत्याह विदेहान्ता इति ।

§ 415. अथोत्तरेषां कथमित्यस आह—

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥26॥

§ 416. उत्तरा ऐरावतादयो नीलान्ता भरतादिभिर्दक्षिणं तुल्या द्रष्टव्याः । अतीतस्य सर्व-
स्यायं विशेषो वेदितव्यः । तेन हृदपुष्करादीनां तुल्यता योज्या ।

§ 417. अत्राह, उक्तेषु भरतादिषु क्षेत्रेषु मनुष्याणां किं तुल्योऽनुभवादिः², आहोस्त्विति
कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

भरतैराजतयोर्बृद्धिहासौ षट्समयाम्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

§ 418. बृद्धिश्च ह्रासश्च बृद्धिहासौ । काम्याम् ? षट्समयाम्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणी-

है जिसका अभिप्राय यह है कि भरतवर्ष पाँच सौ छब्बीस योजनप्रमाण विस्तार से युक्त है ।
शंका—क्या इसका इतना ही विस्तार है ? समाधान—नहीं, क्योंकि इसका एक योजनका छह
बटे उन्नीस योजन विस्तार और जोड़ लेना चाहिए ।

§ 413. अब इतर क्षेत्रोंके विस्तार विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं--

विदेह पर्यन्त पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार भरत क्षेत्रके विस्तारसे दूना-दूना है ॥25॥

§ 414. जिनका भरतसे दूना-दूना विस्तार है वे भरतसे दूने-दूने विस्तारवाले कहे
गये हैं । यहाँ 'तद्विगुणद्विगुणविस्ताराः' में बहुव्रीहि समास है । शंका—वे दूने-दूने विस्तारवाले
क्या हैं ? समाधान—पर्वत और क्षेत्र । शंका—क्या सबका दूना-दूना विस्तार है ? समाधान—
नहीं, किन्तु विदेह क्षेत्र तक दूना-दूना विस्तार है ।

§ 415. क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार क्रमसे किस प्रकार है अब इस बातके बतलाव्हेके
लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उत्तरके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार दक्षिणके क्षेत्र और पर्वतोंके समान है ॥26॥

§ 416. 'उत्तर' इस पदसे ऐरावत क्षेत्रसे लेकर नील पर्यन्त क्षेत्र और पर्वत लिये गये हैं ।
इनका विस्तार दक्षिण दिशावर्ती भरतादिके समान जानना चाहिए । पहले जितना भी कथन
कर आये हैं उन क्षेत्रमें यह विशेषता जाननी चाहिए । इससे तालाब और कमल आदिकी
समानता लगा लेनी चाहिए ।

§ 417. यहाँ पर शंकाकार कहता है कि इन पूर्वोक्त भरतादि क्षेत्रोंमें मनुष्योंका अनुभव
आदि क्या समान हैं या कुछ विशेषता है ? इस शंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह समयांकी अपेक्षा बृद्धि और
ह्रास होता रहता है ॥27॥

§ 418. बृद्धि और ह्रास इन दोनों पदोंमें कर्मधारय समास है । शंका—किनकी अपेक्षा

1. ततो द्विगुणो ता., ना. । 2. -तुल्योऽनुभवः आहो- ता., ना. । 3. -याम्याम् । कयोः मु. ।

भ्याम् । कयोः ? भरतैरावतयोः । न तयोः क्षेत्रयोर्बृद्धिह्रासी स्तः ; असंभवात् । तत्स्थानां मनुष्याणां वृद्धिह्रासी भवतः । अथवाधिकरणनिर्देशः । भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासाविति । किंकृतौ वृद्धिह्रासी ? अनुभवायुः प्रमाणादिकृतौ । अनुभव उपभोगः, आयुर्जीवितपरिमाणम्¹, प्रमाणं शरीरोत्सेध इत्येवमादिभिर्बृद्धिह्रासी मनुष्याणां भवतः² । किहेतुको पुनस्तौ ? कालहेतुको । स च कालो द्विविधः—उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति । तद्भेदाः प्रत्येकं षट् । अन्वर्थसंज्ञे चैते । अनुभवादिविभक्त्यर्पणशीला उत्सर्पिणी । तैरेवावसर्पणशीला अवसर्पिणी । तत्रावसर्पिणी षड्विधा—सुषम-सुषमा सुषमा सुषमदुषमा दुषमसुषमा दुषमा अतिदुषमा चेति । उत्सर्पिण्यपि अतिदुषमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव भवति । अवसर्पिण्याः परिमाणं दशसागरोपमकोटीकोटयः । उत्सर्पिण्या अपि तावत्य एव । सोभयी कल्प इत्याख्याते । तत्र सुषमसुषमा चतस्रः सागरोपमकोटीकोटयः । तदादौ मनुष्या उत्तरकुलमनुष्यतुल्याः । ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमा भवति तिस्रः सागरोपमकोटीकोटयः । तदादौ मनुष्या हरिवर्षमनुष्यसमाः । ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमदुषमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोटयोः । तदादौ मनुष्या हैमवतकमनुष्यसमाः । ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुषमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्विवर्तारिशद्वर्षसहस्रोना । तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति । ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुषमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि । ततः क्रमेण हानौ सत्या-

वृद्धि और ह्रास होता है ? समाधान—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीसम्बन्धी छह समयोंकी अपेक्षा । शंका—किनका छह समयोंकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता है ? समाधान—भरत और ऐरावत क्षेत्रका । इसका यह मतलब नहीं कि उन क्षेत्रोंका वृद्धि और ह्रास होता है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है । किन्तु उन क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है । अथवा, 'भरतैरावतयोः' षष्ठी विभक्ति न होकर अधिकरणमें यह निर्देश किया है जिससे इस प्रकार अर्थ होता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रमें मनुष्योंकी वृद्धि और ह्रास होता है । शंका—यह वृद्धि और ह्रास किनिमित्तक होता है ? समाधान—अनुभव, आयु और प्रमाण आदि निमित्तक होता है । अनुभव उपभोगका कहते हैं, जावित रहनेके परिमाणको आयु कहते हैं और शरीरकी ऊँचाईको प्रमाण कहते हैं । इस प्रकार इत्यादि कारणोंसे मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है । शंका—ये वृद्धि-ह्रास किस निमित्तसे होते हैं ? समाधान—ये कालके निमित्त से होते हैं । वह काल दो प्रकारका है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी । इनमेंसे प्रत्येकके छह भेद हैं । ये दोनों काल सार्थक नामवाले हैं । जिसमें मनुष्योंके अनुभव आदिकी वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें इनका ह्रास होता है वह अवसर्पिणी है । अवसर्पिणीके छह भेद हैं—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुषमा, दुषमसुषमा, दुषमा और अतिदुषमा । इसीप्रकार उत्सर्पिणी भी अतिदुषमासे लेकर सुषमसुषमा तक छह प्रकार का है । अवसर्पिणी कालका परिमाण दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और उत्सर्पिणीका भी इतना ही है । ये दोनों मिलकर एक कल्पकाल कहे जाते हैं । इनमेंसे सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य उत्तरकुलके मनुष्योंके समान होते हैं । फिर क्रमसे हानि होनेपर तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषमा काल प्राप्त होता है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान होते हैं । तदनन्तर क्रमसे हानि होनेपर दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषमदुषमा काल प्राप्त होता है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य हैमवतके मनुष्योंके समान होते हैं । तदनन्तर क्रमसे हानि होकर ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण दुषमसुषमा काल प्राप्त होता है । इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके समान होते हैं । तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस

1. —परिमाणम्, शरी - भू । 2. भवतः तयोः । किहेतु- ता., ना. ।

मतिदुष्णमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि । एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या ।

§ 419. अथेतरासु भूमिषु कावस्थेत्यत आह—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥28॥

§ 420. ताभ्यां भरतैरावताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता भवन्ति । न हि तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ स्तः ।

§ 421. किं तासु भूमिषु मनुष्यास्तुल्यायुष आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत आह—
एकद्वित्रिपत्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेवकुरवकाः ॥29॥

§ 422. हैमवते भवा हैमवतका इत्येवं 'वुजि' सति मनुष्यसंप्रत्ययो भवति । एवमुत्तरयोरपि । हैमवतकावयस्त्रयः । एकावयस्त्रयः । तत्र यथासंख्यमभिसंबन्धः क्रियते । एकपत्योपमस्थितयो हैमवतकाः । द्विपत्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः । त्रिपत्योपमस्थितयो देवकुरवका इति । तत्र पंचसु हैमवतेषु सुषमदुष्णमा सदावस्थिता । तत्र मनुष्या एकपत्योपमायुषो द्विधनुःसहस्रोच्छ्रिताश्चतुर्थभक्ताहारा नीलोत्पलवर्णाः । पञ्चसु हरिवर्षेषु सुषमा सदावस्थिता । तत्र मनुष्या द्विपत्योपमायुषश्चापसहस्रोत्सेधाः षष्ठभक्ताहाराः शंखवर्णाः । पञ्चसु देवकुरुषु सुषमदुष्णमा सदावस्थिता ।

हजार वर्षका दुष्णमा काल प्राप्त होता है । तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुष्णमा काल प्राप्त होता है । इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी इससे विपरीत क्रमसे जाननी चाहिए ।

§ 419. इतर भूमियोंमें क्या अवस्था है अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत और ऐरावतके सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित हैं ॥28॥

§ 420. सूत्रमें 'ताभ्याम्' पदसे भरत और ऐरावत क्षेत्रका ग्रहण किया है । इन दोनों क्षेत्रोंसे शेष भूमियाँ अवस्थित हैं । उन क्षेत्रोंमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल नहीं हैं ।

§ 421. इन भूमियोंमें मनुष्य क्या तुल्य आयुवाले होते हैं या कुछ विशेषता है इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरुके मनुष्योंकी स्थिति क्रमसे एक, दो और तीन पत्योपम प्रमाण है ॥29॥

§ 422. हैमवत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैमवतक कहलाते हैं । यहाँ हैमवत शब्दसे 'वुज्' प्रत्यय करके हैमवतक शब्द बना है जिससे मनुष्योंका ज्ञान होता है । इसी प्रकार आगेके हारिवर्षक और देवकुरुवक इन दो शब्दोंमें जान लेना चाहिए । हैमवतक आदि तीन हैं और एक आदि तीन हैं । यहाँ इनका क्रमसे सम्बन्ध करते हैं जिससे यह अर्थ हुआ कि हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति एक पत्योपम है । हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति दो पत्योपम है और देवकुरुक्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति तीन पत्योपम है । ढाई द्वीपमें जो पाँच हैमवत क्षेत्र हैं उनमें सदा सुषमदुष्णमा काल है । वहाँ मनुष्योंकी आयु एक पत्योपम है, शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष है, उनका आहार एक दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग नील कमलके समान है । पाँच हरिवर्ष नामके क्षेत्रोंमें सदा सुषमा काल रहता है । वहाँ मनुष्योंकी आयु दो पत्योपम है, शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है, उनका आहार दो दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग शंखके समान सफेद है । पाँच देवकुरु नामके क्षेत्रमें सदा सुषमसुषमा काल है । वहाँ मनुष्योंकी आयु तीन पत्योपम है, शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुष है । उनका भोजन तीन

तत्र मनुष्या स्त्रियल्योपमामुषः षडधनुःसहस्रोच्छ्राया अष्टमभक्ताहाराः कनकवर्णाः ।

§ 423. अथोत्तरेषु कावस्थेत्यत आह—

तथोत्तराः ॥30॥

§ 424. यथा दक्षिणा व्याख्यातास्तथैवोत्तरा वेदितव्याः । हैरण्यवतका हैमवतक-
स्तुल्याः । रम्यका हरिवर्षकस्तुल्याः । देवकुरवकरोत्तरकुरवकाः समाख्याताः ।

§ 425. अथ विदेहेष्ववस्थितेषु का स्थितिरित्यत्रोच्यते—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥31॥

§ 426. 'सर्वेषु विदेहेषु संख्येयकाला मनुष्याः । तत्र कालः ^१सुषमदुषमान्तोपमः सदा-
वस्थितः । मनुष्याश्च पञ्चधनुःशतोत्सेधाः । नित्याहाराः । उत्कर्षेणैकपूर्वकोटोस्थितिकाः ।
जघन्येनाम्तर्मुहूर्तायुषः । तस्याश्च ^३सम्बन्धे गाथां पठन्ति—

“पुवस्स दु परिमाणं सदरि खलु कोडिसदसहस्साइ^१ ।

छप्पणं च सहस्सा वोद्धवा वासकोडीण^४ ॥”

§ 427. उक्तो भरतस्य विष्कम्भः । पुनः प्रकारान्तरेण तत्प्रतिपत्त्यर्थमाह—

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥32॥

§ 428. जम्बूद्वीपविष्कम्भस्य योजनशतसहस्रस्य नवतिशतभागीकृतस्यैको भागो भरतस्य
दिनके अन्तरालसे होता है और शरीरका रंग सानेके समान पीला है ।

§ 423. उत्तर दिशावर्ती क्षेत्रोंमें क्या अवस्था है इसके बतलानेके लिए अब आगेका
सूत्र कहते हैं—

दक्षिणके समान उत्तरमें है ॥30॥

§ 424. जिस प्रकार दक्षिणके क्षेत्रोंका व्याख्यान किया उसी प्रकार उत्तरके क्षेत्रोंका
जानना चाहिए । हैरण्यवत क्षेत्रोंके मनुष्योंकी सब बातें हैमवतके मनुष्योंके समान हैं, रम्यक
क्षेत्रके मनुष्योंकी सब बातें हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंके समान हैं और देवकुरु क्षेत्रके मनुष्योंकी
सब बातें उत्तरकुरु क्षेत्रके मनुष्योंके समान हैं ।

§ 425. पाँच विदेहोंमें क्या स्थिति है इसके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विदेहोंमें संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य हैं ॥31॥

§ 426. सब विदेहोंमें संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य होते हैं । वहाँ सुषमदुषमा
कालके अन्तके समान काल सदा अवस्थित है । मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष होती
है, वे प्रतिदिन आहार करते हैं । उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्षप्रमाण और जघन्य आयु
अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । इसके सम्बन्धमें एक गाथा कही जाती है—

“एक पूर्वकोटिका प्रमाण सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जानना
चाहिए ।”

§ 427. भरतक्षेत्रका विस्तार पहले कह आये हैं । अब प्रकारान्तरसे उसका ज्ञान कराने-
के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भरत क्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपका एकसौ नब्बेवाँ भाग है ॥32॥

§ 428. एक लाख योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विस्तारके एक सौ नब्बे भाग करनेपर

1. सर्वेषु पंचसु महाविदे- मु. । 2. कालः दुःषमसुषमादिः सदा ता., ना. । 3. तस्यास्ति सम्बन्धे आ., दि.
1, दि. 2 । 4. -डीणं ॥ 7056000000000 उक्तो मु. ता., ना., ।

विष्कम्भः । स पूर्वोक्त एव । उक्तं जम्बूद्वीपं परिवृत्तं वेदिका स्थिता, ततः परो लवणोदः समुद्रो द्वियोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः । ततः परो धातकीखण्डो द्वीपश्चतुर्थ्योजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः ।

§ 429. तत्र वर्षादीनां संख्याविधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

द्विधातकीखण्डे ॥33॥

§ 430. भरतादीनां द्रव्याणामिहाम्यावृत्तिविवक्षिता । तत्र कथं सुचं ? अध्याह्नियमाण-क्रियाभ्यामवृत्तिद्योतनार्थः सुचं । यथा द्विस्तावानयं प्रासादो भोयत इति । एवं ²द्विधातकीखण्डे भरतादयो सीयन्ते इति । तद्यथा—द्वाभ्यानिष्वाकारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां लवणोदकालोदवेदिकास्पृष्टकोटिभ्यां विभक्तो धातकीखण्डः पूर्वापर इति । तत्र पूर्वस्य³ अपरस्य च मध्ये द्वौ मन्दरौ । तयोर्बभूवौ भरतादीनि क्षेत्राणि हिमवदादयश्च वर्षधरपर्वताः । एवं द्वौ भरतौ द्वौ हिमवन्तौ इत्येवमादि संस्थानं द्विगुणं वेदितव्यम् । जम्बूद्वीपहिमवदादीनां वर्षधराणां यो विष्कम्भस्तद्द्विगुणो धातकीखण्डे हिमवदादीनां वर्षधराणाम् । वर्षधराश्चकारवदवस्थिताः । अरविकर-संस्थानानि क्षेत्राणि । जम्बूद्वीपे यत्र जम्बूवृक्षः स्थितः तत्र धातकीखण्डे धातकीवृक्षः सपरिवारः । तद्योगाद्धातकीखण्ड इति द्वीपस्य नाम प्रतीतम् । तत्परिक्षेपी कालोदः समुद्रः टङ्कच्छन्नतीर्थः अष्ट-

जो एक भाग प्राप्त हो उतना भरतक्षेत्रका विस्तार है जो कि पूर्वोक्त पांचसौ छन्वीस सही छह बटे उन्नीस योजन होता है ।

§ 429. जो पहले जम्बूद्वीप कह आये हैं उसके चारों ओर एक वेदिका है । इसके बाद लवणसमुद्र है जिसका विस्तार दो लाख योजन है । इसके बाद धातकीखण्ड द्वीप है जिसका विस्तार चार लाख योजन है । अब इसमें क्षेत्र आदिकी संख्याका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धातकीखण्डमें क्षेत्र तथा पर्वत आदि जम्बूद्वीपसे दूने हैं ॥33॥

§ 430. भरत आदि क्षेत्रोंकी यहाँ आवृत्ति विवक्षित है । शंका—सूत्रमें 'सुचं' प्रत्यय किसलिए किया है ? समाधान—वाक्य पूरा करने के लिए जो क्रिया जोड़ी जाती है उसकी आवृत्ति बतलानेके लिए 'सुचं' प्रत्यय किया है । जैसे 'द्विस्तावान् अयं प्रासादः' यहाँ 'सुचं' प्रत्ययके रहनेसे यह प्रासाद दुमंजिला है यह समझा जाता है । इसी प्रकार धातकीखण्डमें 'सुचं' से भरतादिक दूने ज्ञात हो जाते हैं । यथा—अपने सिरेसे लवणोद और कालोदको स्पर्श करनेवाले और दक्षिणसे उत्तर तक लम्बे इष्वाकार नामक दो पर्वतोंसे विभक्त होकर धातकीखण्ड द्वीपके दो भाग हो जाते हैं—पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड । इन पूर्व और पश्चिम दोनों खण्डोंके मध्यमें दो मन्दर अर्थात् मेरु पर्वत हैं । इन दोनों के दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वत हैं । इस प्रकार दो भरत दो हिमवान् इत्यादि रूपसे जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड द्वीपमें दूनी संख्या जाननी चाहिए । जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंका जो विस्तार है धातकीखण्ड द्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंका उससे दूना विस्तार है । चक्केमें जिस प्रकार आरे होते हैं उसी प्रकार ये पर्वत क्षेत्रोंके मध्यमें अवस्थित हैं । और चक्केमें छिद्रोंका जो आकार होता है यहाँ क्षेत्रोंका वही आकार है । जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बू वृक्ष स्थित है धातकीखण्डद्वीपमें परिवार वृक्षोंके साथ वहाँ धातकी वृक्ष स्थित है । और इसके सम्बन्धसे द्वीपका नाम धातकीखण्ड प्रसिद्ध है । इसको घेरे हुए कालोद समुद्र है । जिसका घाट ऐसा मालूम देता है कि उसे टांकीसे काट

1. संस्थाविधि- मु. । 2. —तकीखंडे ता., ना., दि. 1, दि. 2, आ. । 3. —वंस्य चापरस्य मध्ये मु. ।

योजनशतसहस्रवलयविकम्भः । कालोदपरिक्षेपी पुष्करद्वीपः षोडशयोजनशतसहस्रवलयविकम्भः ।

§ 431. तत्र द्वीपाम्भोनिधिविकम्भद्विगुणपरिकल्पितबद्धातकीखण्डवर्षाद्विगुणवृद्धि-
प्रसंगे विशेषावधारणार्थमाह—

पुष्करार्द्धं च ॥34॥

§ 432. किम् । द्विरित्यनुवर्तते । किमपेक्षा द्विरावृत्तिः ? जम्बूद्वीपभरतहिमवदाद्यपेक्ष-
यैव¹ । कुतः ? व्याख्यानतः । यथा धातकीखण्डे हिमवदादीनां विकम्भस्तथा पुष्करार्द्धं हिमवदा-
दीनां विकम्भो द्विगुण इति व्याख्यायते । नामानि तान्येव, इष्वाकारौ मन्दरौ च पूर्ववत् । यत्र²
जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारम् । तत एव तस्य³ द्वीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति । अथ कथं
पुष्करार्द्धसंज्ञा । मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात्पुष्करार्द्धसंज्ञा ।

§ 433. अत्राह किमर्थं जम्बूद्वीपहिमवदादिसंख्या द्विरावृत्ता पुष्करार्द्धं कथ्यते, न पुनः
कृत्स्न एव पुष्करद्वीपे । इत्यत्रोच्यते—

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥35॥

§ 434. पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागी वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलः । तस्मात्प्रमेव
मनुष्या न बहिरिति । ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति । नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधरा
दिया हो और जिसका विस्तार आठ लाख योजन है । कालोदको घेरे हुए पुष्करद्वीप है जिसका
विस्तार सोलह लाख योजन है ।

§ 431. द्वीप और समुद्रोंका उत्तरोत्तर जिस प्रकार दूना दूना विस्तार बतलाया है
उसी प्रकार यहाँ धातकीखण्ड द्वीपके क्षेत्र आदिकी संख्या दूनी प्राप्त होती है अतः विशेष
निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुष्करार्द्धमें उतने ही क्षेत्र और पर्वत हैं ॥34॥

§ 432. यहाँ 'द्वि' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । शंका—'द्वि' इस पदकी किसकी अपेक्षा
अनुवृत्ति होती है ? समाधान—जम्बूद्वीपके भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंकी
अपेक्षा 'द्विः' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । शंका—यह कैसे समझा जाता है ? समाधान—
व्याख्यानसे । जिस प्रकार धातकीखण्ड द्वीपमें हिमवान् आदिका विस्तार कहा है उसी प्रकार
पुष्करार्द्धमें हिमवान् आदिका विस्तार दूना बतलाया है । नाम वे ही हैं । दो इष्वाकार और दो
मन्दर पर्वत पहलेके समान जानना चाहिए । जहाँ पर जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष हैं पुष्कर द्वीपमें
वहाँ अपने परिवार वृक्षोंके साथ पुष्करवृक्ष हैं । इसीलिए इस द्वीपका पुष्करद्वीप यह नाम रूढ
हुआ है । शंका—इस द्वीपको पुष्करार्द्ध यह संज्ञा कैसे प्राप्त हुई ? समाधान—मानुषोत्तर पर्वतके
कारण इस द्वीपके दो विभाग हो गये हैं अतः आधे द्वीपको पुष्करार्द्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई ।

§ 433. यहाँ शंकाकारका कहना है कि जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदिकी जो संख्या है
उससे हिमवान् आदिकी दूनी संख्या आधे पुष्करद्वीपमें क्यों कही जाती है पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों
नहीं कही जाती ? अब इस शंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मानुषोत्तर पर्वतके पहले तक ही मनुष्य हैं ॥35॥

§ 434. पुष्करद्वीपके ठीक मध्यमें चूड़ीके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत है ।
उससे पहले ही मनुष्य हैं, उसके बाहर नहीं । इसलिए मानुषोत्तर पर्वतके बाहर पूर्वोक्त क्षेत्रों-

1. -पेक्षयैव । जम्बूद्वीपात्पुष्करार्द्धं द्वौ भरती द्वौ हिमवन्तौ, इत्यादि । कुतः मु., दि. 1, दि. 2, आ. ।
2. यत्र जम्बूद्वीपे जम्बू- मू., दि., दि. 2, आ. । 3. तस्य द्वीपस्यानुरूढं पुष्करद्वीप इति नाम । अथ मु. ।

ऋद्धिप्राप्ता अपि मनुष्या गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम् । ततोऽस्यान्वर्थसंज्ञा । एवं जम्बूद्वीपादिष्वर्धतृतीयेषु¹ द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्मनुष्या वेदितव्याः । ते द्विविधाः—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥36॥

§ 435. गुणगुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः । ते द्विविधा ऋद्धिप्राप्तार्या अनृद्धिप्राप्तार्या-
श्चेति । अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः क्षेत्रार्या जात्यार्याः कर्मार्याश्चारित्र्यार्या दर्शनार्याश्चेति । ऋद्धि-
प्राप्तार्याः सप्तविधाः; बुद्धिविक्रियातपोबलौषधरसाक्षीणभेदात् । म्लेच्छा द्विविधाः—अन्तर्द्वीपजाः
कर्मभूमिजाश्चेति । तत्रान्तर्द्वीपा लवणोदधेरभ्यन्तरे² पार्श्वेऽष्टासु दिक्ष्वष्टौ । तदन्तरेषु चाष्टौ ।
हिमवच्छिन्नरिणोरुभयोश्च विजयार्द्धयोरन्तेष्वष्टौ । तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक् पञ्चयोजन-
शतानि प्रविश्य भवन्ति । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशत्पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति । शैला-

का विभाग नहीं है । इस पर्वतके उस ओर उपपाद जन्मवाले और समुद्घातको प्राप्त हुए मनुष्योंको छोड़ कर और दूसरे विद्याधर या ऋद्धिप्राप्त मुनि भी कदाचित् नहीं जाते हैं इस-
लिए इस पर्वतका मानुषोत्तर यह सार्थक नाम है । इस प्रकार जम्बूद्वीप आदि ढाई द्वीपोंमें और दो समुद्रोंमें मनुष्य जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—ढाई द्वीप और इनके मध्यमें आनेवाले दो समुद्र यह मनुष्यलोक है । मनुष्य इसी क्षेत्रमें पाये जाते हैं । मानुषोत्तर पर्वत मनुष्यलोककी सीमापर स्थित होनेसे इसका मानु-
षोत्तर यह नाम सार्थक है । मनुष्य इसी क्षेत्रमें रहते हैं, उनका बाहर जाना सम्भव नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि गर्भमें आनेके बाद मरण पर्वन्त औदारिक शरीर या आहारक शरीरके साथ वे इस क्षेत्रमें बाहर नहीं जा सकते । सम्मूच्छन् मनुष्य तो इसके औदारिक शरीर के आश्रयसे होते हैं, इसलिए उनका मनुष्यलोकके बाहर जाना कथमपि सम्भव नहीं है । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी भी अवस्थामें मनुष्य इस क्षेत्रके बाहर नहीं पाये जाते हैं । ऐसी तीन अवस्थाएँ हैं जिनके होनेपर मनुष्य इस क्षेत्रके भी बाहर पाये जाते हैं, यथा—(1) जो मनुष्य मरकर ढाई द्वीपके बाहर उत्पन्न होनेवाले हैं वे यदि मरणके पहले मारणान्तिक समुद्घात करते हैं तो इसके द्वारा उनका ढाई द्वीपके बाहर गमन देखा जाना है । (2) ढाई द्वीपके बाहर निवास करनेवाले जो जीव मरकर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं उनके मनुष्यायु और मनुष्य गतिनाम कर्मका उदय होनेपर भी ढाई द्वीपमें प्रवेश करनेके पूर्व तक उनका इस क्षेत्रके बाहर अस्तित्व देखा जाता है । (3) केवलसमुद्घातके समय उनका मनुष्यलोकके बाहर अस्तित्व देखा जाता है । इन तीन अपवादोंको छोड़कर और किसी अवस्थामें मनुष्योंका मनुष्यलोकके बाहर अस्तित्व नहीं देखा जाता । वे मनुष्य दो प्रकारके हैं अब ये बतलाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ ॥36॥

§ 435. जो गुणों या गुणवालोंके द्वारा माने जाते हैं—वे आर्य कहलाते हैं । उनके दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य । ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकारके हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्र्य और दर्शनार्य । बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ऋद्धिके भेदसे ऋद्धिप्राप्त आर्य सात प्रकारके हैं । म्लेच्छ दो प्रकारके हैं—अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ । लवणसमुद्रके भीतर आठों दिशाओंमें आठ अन्तर्द्वीप हैं और उनके अन्तरालमें आठ अन्तर्द्वीप और हैं । तथा हिमवान् और शिखरी इन दोनों पर्वतोंके अन्तमें और दोनों विजयार्ध पर्वतोंके अन्तमें आठ अन्तर्द्वीप हैं । इनमेंसे जो दिशाओंमें द्वीप हैं वे वेदिकासे

1. —तीयेषु द्वयोश्च मु. । 2. लवणोदे अष्टासु दिक्ष्वष्टौ आ. दि, 1, दि. 2 । लवणोदधेरभ्यन्तरेऽष्टासु दिक्ष्वष्टौ मु. ।

न्तेषु द्वीपाः षड्योजनशतेषु गतेषु भवन्ति । विक्षु द्वीपाः शतयोजनविस्ताराः । विदिश्वन्तरेषु च द्वीपास्तदर्धविष्कम्भाः । शैलान्तेषु पञ्चविंशतियोजनविस्ताराः । तत्र पूर्वस्यां विद्येकोरुकाः । अपरस्यां विशि लाङ्गूलिनः । उत्तरस्यां^१ विद्यभाषकाः । दक्षिणस्यां^२ विशि विषागिनः । शशकर्ण-शङ्कुलीकर्णप्रा^३वरणकर्णलम्बकर्णाः विदिक्षु । अश्वसिंहश्वमहिषवराहव्याघ्र^४काककपिमुखा अन्तरेषु । मेघ^५मुखविद्यु^६मुखाः शिखरिण उभयोरन्तयोः । मत्स्यमुखकालमुखा हिमवत उभयोर-न्तयोः । हस्तिमुखावशंमुखा उत्तरविजयार्धस्योभयोरन्तयोः । गोमुखमेघमुखा^७दक्षिणविजयार्धस्यो-भयोरन्तयोः । एकोरुका मूढाहारा गुहावासिनः । शेषाः पुष्पफलाहारा वृक्षवासिनः । सर्वे ते पत्न्यो-पमायुषः । ते चतुर्विंशतिरपि^८ द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधाः^९ । लवणोदधेर्बाह्यापाश्वर्येण चतु-र्विंशतिद्वीपा विशातव्याः । तथा कालोदेऽपि वेदितव्याः । त एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः । कर्मभूमि-जाश्च शक्यवनशबरपुलिन्दादयः ।

तिरछे पाँचसी योजन भीतर जाकर हैं । विदिशाओं और अन्तरालों में जो द्वीप हैं वे पाँचसी पचास योजन भीतर जाकर हैं । तथा पर्वतोंके अन्तमें जो द्वीप हैं वे छहसी योजन भीतर जाकर हैं । दिशाओंमें स्थित द्वीपोंका विस्तार सी योजन है । विदिशाओं और अन्तरालोंमें स्थित द्वीपोंका विस्तार उससे आधा अर्थात् पचास योजन है । तथा पर्वतोंके अन्तमें स्थित द्वीपोंका विस्तार पच्चीस योजन है । पूर्व दिशामें एक टाँगवाले मनुष्य है । पश्चिम दिशामें पूँछवाले मनुष्य हैं । उत्तर दिशा-में गूँगे मनुष्य हैं और दक्षिण दिशामें सींगवाले मनुष्य हैं । चारों विदिशाओंमें क्रमसे खरगोश-के समान कानवाले, शङ्कुली अर्थात् मछली अथवा पूँछीके समान कानवाले, प्रावरणके समान कानवाले और लम्बे कानवाले मनुष्य हैं । आठों अन्तरालके द्वीपोंमें क्रमसे घोड़ेके समान मुखवाले, सिंहके समान मुखवाले, कुत्तोंके समान मुखवाले, भैंसाके समान मुखवाले, सुअरके समान मुखवाले, व्याघ्रके समान मुखवाले, कौआके समान मुखवाले और बन्दरके समान मुखवाले मनुष्य हैं । शिखरी पर्वतके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें मेघके समान मुखवाले और बिजली के समान मुखवाले मनुष्य हैं । हिमवान् पर्वतके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें मछलीके समान मुखवाले और कालके समान मुखवाले मनुष्य हैं । उत्तर विजयार्धके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें हाथीके समान मुखवाले और दर्पणके समान मुखवाले मनुष्य हैं । तथा दक्षिण विजयार्धके दोनों कोणोंकी सीधमें जो अन्तर्द्वीप है उनमें गायके समान मुखवाले और मेढाके समान मुखवाले मनुष्य हैं । इनमेंसे एक टाँगवाले मनुष्य गुफाओंमें निवास करते हैं और मिट्टीका आहार करते हैं तथा शेष मनुष्य फूलों और फलोंका आहार करते हैं और पेड़ोंपर रहते हैं । इन सबकी आयु एक पत्न्योपम है । ये चोबीसों अन्तर्द्वीप जलकी सतहसे एक योजन ऊँचे हैं । इसी प्रकार कालोद समुद्रमें भी जानना चाहिए । ये सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं । इनसे अतिरिक्त जो शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक हैं वे सब कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं ।

विशेषार्थ—षट्खण्डागममें मनुष्योंके दो भेद किये गये हैं—कर्मभूमिज और अकर्म-भूमिज । अकर्मभूमि भोगभूमिका दूसरा नाम है । भोगभूमिका एक भेद कुभोगभूमि है । उसमें जन्म लेनेवाले मनुष्य ही यहाँ अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे गये हैं । शेष रहे शक, यवन, शबर और पुलिन्द आदि म्लेच्छ कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं । इसी प्रकार आर्य भी क्षेत्रकी अपेक्षा दो भागोंमें

1. उत्तरस्यामभाषकाः आ. दि. 1, दि. 2 । 2. -णस्यां विषा- दि. 1, दि. 2 । 3. -वरणलम्ब मु. ।
4. काकपूकपि- मु. । 5. मेघविद्यु- मु. । 6. दक्षिणदिग्बिज- मु. । 7. -शतिद्वितीयपक्षेऽपि उभयो- रतत्प्रोष्टचत्वारिंशद्वीपाः जलतला- दि. 2 । 8. -त्सेधाः । तथा कालोदेऽपि आ., दि. 1 ।

§ 436. काः पुनः कर्मभूमय इत्यत आह—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ॥37॥

§ 437. भरता¹ ऐरावता विदेहाश्च पंच, पंच, एताः कर्मभूमय इति व्यपदिश्यन्ते । तत्र 'विदेह' ग्रहणादेवकुरुत्तरकुरुग्रहणे प्रसवते तत्प्रतिषेधार्थमाह—'अन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः' इति । 'अन्यत्र' शब्दो वर्जनार्थः । देवकुरुव उत्तरकुरुवो हैमवतो हरिवर्षो² रम्यको हैरण्यवतोऽन्तर्द्वीपाश्च भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते । अथ कथं कर्मभूमित्वम् ? शुभाशुभलक्षणस्य कर्मणोऽधिष्ठानत्वात् । ननु सर्वं³ लोकत्रितयं कर्मणोऽधिष्ठानमेव । तत एव⁴ प्रकर्षगतिविज्ञास्यते, प्रकर्षेण यत्कर्मणोऽधिष्ठानमिति । तत्राशुभकर्मणस्तावत्सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवाजर्जनम्, शुभस्य⁵ च सर्वार्थसिद्धिचादि⁶ स्थानविशेषप्रापणस्य⁷ कर्मण उपार्जनं तत्रैव, कृष्यादिलक्षणस्य वृद्धिपत्त्यस्य कर्मणः पात्रदानादिसहितस्य तत्रैवारम्भात्कर्मभूमिव्यपदेशो वेदितव्यः । इतरास्तु दशविधकल्पवृक्षकस्तिभोगानुभवनविषयत्वाद् भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते ।

विभक्त है—कर्मभूमिज आर्य और अकर्मभूमिज आर्य । तीस भोगभूमियोंके मनुष्य अकर्मभूमिज आर्य हैं और कर्मभूमिके आर्य कर्मभूमिज आर्य हैं । इनमें-से अकर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छोंके अविरत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु कर्मभूमिज आर्य और म्लेच्छ अणुव्रत और महान्नतके भी अधिकारी हैं । इनके समयमासयम और संयमस्थानोंका विशेष व्याख्यान कषायप्राभृत लब्धिसार क्षपणासारमें किया है ।

§ 436. कर्मभूमियाँ कौन-कौन हैं, अब इस बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देवकुरु और उत्तरकुरुके सिवा भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमियाँ हैं ॥37॥

§ 437. भरत, ऐरावत और विदेह ये प्रत्येक पाँच-पाँच हैं । ये सब कर्मभूमियाँ कही जाती हैं । इनमें विदेहका ग्रहण किया है, इसलिए देवकुरु और उत्तरकुरुका भी ग्रहण प्राप्त होता है, अतः उनका निषेध करनेके लिए 'अन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः' यह पद रखा है । अन्यत्र शब्दका अर्थ निषेध है । देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत और अन्तर्द्वीप ये भोगभूमियाँ कही जाती हैं । शंका—कर्मभूमि यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ? समाधान—जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आश्रय हो उसे कर्मभूमि कहते हैं । यद्यपि तीनों लोक कर्मका आश्रय हैं, फिर भी इससे उत्कृष्टताका ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूपसे कर्मका आश्रय हैं । सातवें नरकको प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्मका भरतादि क्षेत्रोंमें ही अर्जन किया जाता है । इसी प्रकार सर्वार्थ-सिद्धि आदि स्थान विशेषको प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मका उपार्जन भी यहीं पर होता है । तथा पात्रदान आदिके साथ कृषि आदि छह प्रकारके कर्मका आरम्भ यहीं पर होता है, इसलिए भरतादिकी कर्मभूमि संज्ञा जाननी चाहिए । इतर क्षेत्रोंमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त भोगोंकी मुख्यता है, इसलिए वे भोगभूमियाँ कहलाती हैं ।

विशेषार्थ—यह पहले ही बतला आये हैं कि भरतादि क्षेत्रोंका विभाग ढाई द्वीपमें ही है । जम्बूद्वीपमें भरतादि क्षेत्र एक-एक हैं और धातकोखण्ड व पुष्करार्धमें ये दो-दो हैं । इस प्रकार कुल क्षेत्र 35 होते हैं । उसमें भी उत्तरकुरु और देवकुरु विदेह क्षेत्रमें होकर भी अलग गिने जाते हैं, क्योंकि यहाँ उत्तम भोगभूमिकी व्यवस्था है, इसलिए पाँच विदेहोंके पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु इनको उक्त 35 क्षेत्रोंमें मिलानेपर कुल 45 क्षेत्र होते हैं । इनमेंसे 5 भरत,

1. भरतैरावतविदेहाश्च मु., ता., ना. । 2. हरिवंशः रम्य-आ., दि. 1, दि. 2 । 3. सर्वो लोकत्रितयः कर्म-आ., दि. 1, दि. 2 । 4. एक प्रक- मु. । 5. शुभस्य सर्वा- मु. । 6. दृष्यादिषु स्थान- आ., दि. 1, दि. 2 । 7. -पणस्य पुण्यकर्म- मु. ।

§ 438. उक्तासु भूमिषु¹ मनुष्याणां स्थितिपरिच्छेदार्थमाह—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तमुहूर्तं ॥38॥

§ 439. त्रीणि पल्योपमानि यस्याः सा त्रिपल्योपमा । अन्तर्गतो मुहूर्तो यस्याः सा अन्त-
मुहूर्ता । यथासंख्येनाभिसंबन्धः । मनुष्याणां परा उत्कृष्टा स्थितिस्त्रिपल्योपमा । अपरा जघन्या
अन्तर्मुहूर्ता । मध्ये अनेकविकल्पाः । तत्र पल्यं त्रिविधम्—व्यवहारपल्यमुद्धारपल्यमद्वापल्यमिति ।
अन्वर्थसंज्ञा एताः । आद्यं व्यवहारपल्यमित्युच्यते ; उत्तरपल्यं² द्वयव्यवहारबीजत्वात् । नानेन किञ्चि-
त्परिच्छेद्यमस्तीति । द्वितीयमुद्धारपल्यम् । तत् उद्धृतैर्लोमकच्छेदैर्द्वीपसमुद्राः संख्यायन्त इति ।
तृतीयमद्वापल्यम् । अद्वा कालस्थितिरित्यर्थः । तत्राद्यस्य प्रमाणं कथ्यते³, तत्परिच्छेदनार्थत्वात् ।
तद्यथा—प्रमाणाङ्गुलपरिमितयोजनविक्रमभायामावगाहानि त्रीणि पल्यानि कुशूला इत्यर्थः ।
एकादिसप्तान्ताहोरात्रजातविवालाग्राणि तावच्छिन्नानि यावद्वितीयं कर्तरिच्छेदं⁴ नावा-
प्नुवन्ति, तावद्लोमकच्छेदः परिपूर्णं⁵ घनीकृतं व्यवहारपल्यमित्युच्यते । ततो वर्षशते वर्षशते⁶
गते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्विषयं भवेत्तावान्कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः ।
त्रेरेव लोमकच्छेदः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटीसमयमात्रच्छिन्नैस्तत्पूर्णमुद्धारपल्यम् । ततः समये समये
एकैकस्मिन् रोमकच्छेदेऽप्युपलब्धे यावता कालेन तद्विषयं भवति तावान्काल उद्धारपल्योपमाख्यः ।
एषामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोटय एकमुद्धारसागरोपमम् । अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमानां यावन्तो

5 विदेह और 5 ऐरावत ये 15 कर्मभूमियाँ हैं और शेष 30 भोगभूमियाँ हैं । ये सब कर्मभूमि और भोगभूमि क्यों कहलाती हैं इस बातका निर्देश मूल टीकामें किया ही है ।

§ 438. उक्त भूमियोंमें स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है ॥38॥

§ 439. 'त्रिपल्योपमा' इस वाक्यमें 'त्रि' और 'पल्योपम' का बहुव्रीहि समास है । मुहूर्त के भीतरके कालको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । पर और अपर के साथ इन दोनोंका क्रमसे सम्बन्ध है । मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । तथा मध्यकी स्थिति अनेक प्रकारकी है । पल्य तीन प्रकारका है—व्यवहार पल्य, उद्धारपल्य और अद्वापल्य । ये तीनों सार्थक नाम हैं । आदिके पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं, क्योंकि वह आगेके दो पल्योंके व्यवहारका मूल है । इसके द्वारा और किसी वस्तुका परिमाण नहीं किया जाता । दूसरा उद्धार-पल्य है । उद्धारपल्यमें-से निकाले गये लोमके छेदोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी गिनती की जाती है । तीसरा अद्वापल्य है । अद्वा और कालस्थिति ये एकार्थवाची शब्द हैं । इनमें-से अब प्रथम पल्यका प्रमाण कहते हैं—जो इस प्रकार है—प्रमाणाङ्गुलकी गणनासे एक-एक योजन लम्बे, चौड़े और गहरे तीन गढ़ा करो और इनमें-से एकमें एक दिनसे लेकर सात दिन तकके पैदा हुए मेढ़के रोमोंके अग्र भागोंको ऐसे टुकड़े करके भरों जिससे कैचीसे उनके दूसरे टुकड़े न किये जा सकें । अनन्तर सौ-सौ वर्षमें एक-एक रोमका टुकड़ा निकालो । इस विधिसे जितने कालमें वह गढ़ा खाली हो वह सब काल व्यवहार पल्योपम नामसे कहा जाता है । अनन्तर असंख्यात करोड़ वर्षोंके जितने समय हों उतने उन लोमकच्छेदोंमें-से प्रत्येक खण्ड करके उनसे दूसरे गढ़के भरनेपर उद्धारपल्य होता है । और इसमें-से प्रत्येक समयमें एक-एक रोमको निकालते हुए जितने कालमें वह गढ़ा खाली हो जाय उतने कालका नाम उद्धार पल्योपम है । इन दस कोड़ाकोड़ी उद्धार-

1. -मिषु स्थिति- मु. । 2. -द्वयस्य व्यव- मु. । 3. कथ्यते । तद्यथा मु. । 4. नाप्नु- मु. । 5. घनी- भूतं मु. । 6. ततो वर्षशते एकैक- मु. ।

रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः । पुनरुद्धारपत्यरोमच्छेदेर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्वापत्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृत्यमाणे यावता कालेन तद्विक्तं भवति तावान्कालोऽद्वापत्योपमाप्यः । एषामद्वापत्यानां दशकोटीकोटय एकमद्वासागरोपमम् । दशाद्वासागरोपमकोटीकोटय एकावसर्पिणी । तावत्येवोत्सर्पिणी । अनेनाद्वापत्येन नारकतैर्यग्योनिजानां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेदेतव्या । उक्ता च संग्रहाथा—

“व्यवहारद्वारद्वा पल्ला तिण्णेव होंति बोद्धव्वा ।

संखा दीव-समुद्दा कम्मट्ठिदि वणिणदा तदिए ॥”

§ 440. यथेवंते^२ उत्कृष्टजघन्ये स्थितौ नृणां तथैव—

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

§ 441. तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः । तिर्यगतिनामकर्मोदधापादितं जन्मेत्यर्थः । तिर्यग्योनौ जातास्तिर्यग्योनिजाः । तेषां तिर्यग्योनिजानामुत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रिपत्योपमा । जघन्या अन्तर्मुहूर्ता । मध्येऽनेकविकल्पाः ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

पत्योका एक उद्धार सागरोपम काल होता है । तथा ढाई उद्धार सागरके जितने रोमखण्ड हों उतने सब दीप और समुद्र हैं । अनन्तर सौ वर्षके जितने समय हों उतने उद्धारपत्यके रोम-खण्डोंमें-से प्रत्येकके खण्ड करके और उनसे तीसरे गढ़के भरनेपर एक अद्वापत्य होता है । और इनमें-से प्रत्येक समयमें एक-एक रोमके निकालनेपर जितने समयमें वह गढ़ा खाली हो जाय उतने कालका नाम अद्वापत्योपम है । तथा ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्वापत्योका एक अद्वासागर होता है । दस कोड़ाकोड़ी अद्वासागरोका एक अवसर्पिणी काल होता है और उत्सर्पिणी भी इतना ही बड़ा होता है ।

इस अद्वापत्यके द्वारा नारकी, तिर्यच, देव और मनुष्योंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयु-स्थिति और कायस्थिति की गणना करनी चाहिए । संग्रह गाथा भी कही है—

‘व्यवहार, उद्धार और अद्वा ये तीन पत्य जानने चाहिए । संख्याका प्रयोजक व्यवहार पत्य है । इससे द्वीप-समुद्रोंकी गणना की जाती है और तीसरे अद्वापत्यमें कर्मोंकी स्थितिका लेखा निवा जाता है ।’

§ 440. जिस प्रकार मनुष्योंकी यह उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति है उसी प्रकार—

तिर्यचों की स्थिति भी उसनी ही है ॥३९॥

§ 441. तिर्यचोंकी योनिको तिर्यग्योनि कहते हैं । इसका अर्थ तिर्यचगति नामकर्मके उदय-से प्राप्त हुआ जन्म है । जो तिर्यचयोनिमें पैदा होते हैं वे तिर्यग्योनिज कहलाते हैं । इन तिर्यच-योनिसे उत्पन्न जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पत्योपम और जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है । तथा बीचकी स्थितिके अनेक विकल्प हैं ।

विशेषार्थ—स्थिति दो प्रकारकी होती है—भवस्थिति और कायस्थिति । एक पर्यायमें रहनेमें जितना काल लगे वह भवस्थिति है । तथा विवक्षित पर्यायके सिवा अन्य पर्यायमें उत्पन्न न होकर पुनः पुनः उसी पर्यायमें निरन्तर उत्पन्न होनेसे जो स्थिति प्राप्त होती है वह काय-स्थिति है । यहाँ मनुष्यों और तिर्यचोंकी भवस्थिति कही गयी है इनकी जघन्य कायस्थिति जघन्य

1. व्यवहारद्वारद्वा त्रिपल्ला पडम्मि संखाओ । विदिए दीवसमुद्दा तदिए मिज्जेदि कम्मठिदी । ति. प. गा. 94 । 2. -वेते द्वे उत्कृ- आ., दि. 1, दि. 2 ।

भवस्थिति प्रमाण है, क्योंकि एक बार जघन्य आयुके साथ भव पाकर उसका अन्य पर्यायमें जाना संभव है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पश्योपम है। पृथक्त्व यह रौद्रिक संज्ञा है। मुख्यतः इसका अर्थ तीनसे ऊपर और नौसे नीचे होता है। यहाँ बहुत अर्थमें पृथक्त्व शब्द आया है। तिर्यचोंकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल है जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तनोंके बराबर है। यह तिर्यचगति सामान्यकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति कही है। यदि अन्य गतिसे आकर कोई जीव निरन्तर तिर्यचगतिमें परिभ्रमण करता रहता है तो अधिकसे अधिक इतने काल तक वह तिर्यचगति में रह सकता है। इसके बाद वह नियमसे अन्य गतिमें जन्म लेता है। वैसे तिर्यचोंके अनेक भेद हैं, इसलिए उन भेदोंकी अपेक्षा उनकी कायस्थिति जुदी-जूदी है।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

§ 442. 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इत्येवमादिष्वसकृद्देशश्च उक्तस्तत्र न ज्ञायते के देवाः कतिविधा इति¹ तन्निर्णयार्थमाह—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥1॥

§ 443. देवगतिनामकर्मोदये सत्यम्यन्तरे हेतो बाह्यविभूति²विशेषैः द्वीपात्रिसमुद्रादिप्रदेशेषु³ व्ययेष्टं दीव्यन्ति 'क्रीडन्तीति देवाः । इहैकवचननिर्देशो युक्तः 'देवश्चतुर्णिकायः' इति⁴ । स 'जात्यभिधानाद् बहूनां प्रतिपादको भवति । बहुत्वनिर्देशस्तदन्तर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः । इन्द्रसामानिकाद्यो बहवो भेदाः सन्ति स्थित्यादिकृताश्च सत्सूचनार्थः । देवगतिनामकर्मोदयस्य 'स्वकर्म-विशेषापादितभेदस्य सामर्थ्याग्निर्जीयन्त इति' निकायाः संघाता इत्यर्थः । अस्वारो निकाया येषां ते चतुर्णिकायाः । के पुनस्ते ? भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति ।

§ 444. तेषां लेख्यावधारणार्थमुच्यते—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेऽयाः ॥2॥

§ 442. 'देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है' इत्यादि सूत्रोंमें अनेक बार देव शब्द आया है । किन्तु वहाँ यह न जान सके कि देव कौन हैं और वे कितने प्रकारके हैं, अतः इसका निर्णय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

देव चार निकायवाले हैं ॥1॥

§ 443. अभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्मका उदय होनेपर जो नाना प्रकारकी बाह्य विभूतिसे द्वीपसमुद्रादि अनेक स्थानोंमें इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं । शंका—'देवश्चतुर्णिकायः' इस प्रकार एकवचनरूप निर्देश करना उचित था, क्योंकि जातिका कथन कर देनेसे बहुतका कथन हो ही जाता है । समाधान—देवोंके अन्तर्गत अनेक भेद हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें बहुवचनका निर्देश किया है । तात्पर्य यह है कि देवोंके इन्द्र, सामानिक आदिकी अपेक्षा अनेक भेद हैं और स्थिति आदिकी अपेक्षा भी अनेक भेद हैं, अतः उनको सूचित करनेके लिए बहुवचनका निर्देश किया है । अपने अवान्तर कर्मोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले देव गति नामकर्मके उदयकी सामर्थ्यसे जो संग्रह किये जाते हैं वे निकाय कहलाते हैं । निकाय शब्द का अर्थ संघात है । 'चतुर्णिकाय' में बहुव्रीहि समास है, जिससे देवोंके मुख्य निकाय चार ज्ञात होते हैं । शंका—इन चार निकायोंके क्या नाम हैं ? समाधान—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।

§ 444. अब इनकी लेख्याओंका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
आदिके तीन निकायोंमें पीत पर्यन्त चार लेख्याएँ हैं ॥2॥

1. इति वा तन्नि- मु. ।
2. विशेषाद् द्वीपा- मु. ।
3. मुद्रादिषु प्रदे- मु. ।
4. --उन्ति ते देवाः मु. ।
5. इति । जात्य- मु. ।
6. 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' पा. 1, 2, 2, 58 ।
7. स्वधर्म- विसे- मु. ता., ना. ।

§ 445. 'आदित' इत्युच्यते^१, अन्ते मध्ये अन्यथा वा ग्रहणं मा विज्ञायीति । आदौ आदितः । द्वयोरेकस्य च निवृत्त्यर्थं 'त्रि'ग्रहणं क्रियते । अथ चतुर्णां निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति ? 'आदितः' इति वचनात् । षड्लेश्या उच्यताः । तत्र चतसृणां लेश्यानां ग्रहणार्थं 'पीतान्त'ग्रहणं क्रियते । पीतं तेज इत्यर्थः । पीता अन्ते यासां ताः पीतान्ताः^२ । पीतान्ता लेश्या येषां ते पीतान्त-लेश्याः । एतदुक्तं भवति—आदितस्त्रिषु निकायेषु भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कनामसु देवानां कृष्णा नीला कापोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवन्ति ।

§ 446. तेषां निकायानामन्तर्विकल्पप्रतिपादनार्थमाह—

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥३॥

§ 447. चतुर्णां देवनिकायानां दशादिभिः संख्याशब्दैर्यथासंख्यमभिसंख्यो वेदितव्यः । दशविकल्पा भवनवासिनः । अष्टविकल्पा व्यन्तराः । पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः । द्वादशविकल्पा वैमानिका इति । सर्ववैमानिकानां द्वादशविकल्पान्तःपातित्वे प्रसक्ते ग्रन्थेयकादिनिवृत्त्यर्थं विशेषण-मुपादीयते 'कल्पोपपन्नपर्यन्ताः' इति । अथ कथं कल्पसंज्ञा ? इन्द्रादयः प्रकारा दश एतेषु कल्प्यन्त

§ 445. अन्ते की तीन निकायोका, मध्यके निकायोका या विपरीत क्रमसे निकायोका ग्रहण न समझ लिया जाय, इसलिए सूत्रमें 'आदितः' पद दिया है । दो और एक निकायके निराकरण करनेके लिए 'त्रि' पदका ग्रहण किया है । शंका—'त्रि' पदसे चारकी निवृत्ति क्यों नहीं होती है ? समाधान—सूत्रमें जो 'आदितः' पद दिया है इससे ज्ञात होता है कि 'त्रि' पद चारकी निवृत्तिके लिए नहीं है । लेश्याएँ छह कहीं हैं । उनमें-से चार लेश्याओंके ग्रहण करनेके लिए सूत्रमें 'पीतान्त' पदका ग्रहण किया है । यहाँ पीतसे तेज लेश्या लेनी चाहिए । यहाँ पहले पीत और अन्त इन शब्दोंमें और अनन्तर पीतान्त और लेश्या शब्दोंमें बहुव्रीहि समास है । इसका यह अभिप्राय है कि आदिके भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन निकायोंमें देवोंके कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं ।

विशेषार्थ—यों तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी-देवोंके एक पीत लेश्या ही होती है किन्तु ऐसा नियम है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्याके मध्यम अंशसे मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच और पीत लेश्याके मध्यम अंशसे मरे हुए भोगभूमियाँ मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच भवनत्रिकमें उत्पन्न होते हैं । यतः ऐसे कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यचोंके मरते समय प्रारम्भकी तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं अतः इनके मरकर भवनत्रिकोंमें उत्पन्न होनेपर वहाँ भी अपर्याप्त अवस्थामें ये तीन अशुभ लेश्याएँ पायी जाती हैं । इसीसे इनके पीत तक चार लेश्याएँ कही हैं । अभिप्राय यह है कि भवनत्रिकोंके अपर्याप्त अवस्थामें पीत तक चार लेश्याएँ और पर्याप्त अवस्थामें एक पीत लेश्या होती है ।

§ 446. अब इन निकायोंके भीतरी भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे कल्पोपपन्न देव तकके चार निकायके देव क्रमसे दस, आठ, पाँच और बारह भेद-वाले हैं ॥३॥

§ 447. देव निकाय चार हैं और दश आदि संख्या शब्द चार हैं अतः इनका क्रमसे जानना चाहिए । यथा—भवनवासी दस प्रकारके हैं, व्यन्तर आठ प्रकारके हैं, ज्योतिषी पाँच प्रकारके हैं और वैमानिक बारह प्रकारके हैं । पूर्वोक्त कथनसे सब वैमानिक बारह भेदोंमें आ जाते हैं, अतः ग्रन्थेयक आदिके निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'कल्पोपपन्नपर्यन्ताः'

1. —च्यते अन्यथा वा ग्रह- वि. 2 । —च्यते अन्ते मध्ये वा ग्रह- मु., ता., ना. । —च्यते अन्ते अन्यथा वा ग्रह- अ. । 2. —ताः पीतान्ता लेश्या मु., दि. 2 । 3. ज्योतिष्काणां देवा- आ., दि. 1; वि. 2 ।

इति कल्पाः । भवनवासिषु तत्कल्पनासंभवेऽपि रुदिवशाद्वैमानिकेऽवेव व्रतंते कल्पशब्दः । कल्पेषूपपन्ना कल्पोपपन्नाः । कल्पोपपन्नाः पर्यन्ता येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।

§ 448. पुनरपि तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशदारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णका-
भियोग्यकित्विषिकाऽचैकशः ॥4॥

§ 449. अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणयोगादिन्दन्तीति इन्द्राः । आज्ञैश्वर्यवर्जितं यत्स्या-
त्तादुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादि तत्समानं, तस्मिन्समाने भवाः सामानिका महसराः पितृ-
गुरुपाध्यायमुत्थाः । मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशः । त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशः । वयस्यपीठ-
मर्दसदृशः परिषदि भवाः पारिषदाः । आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमानाः । अर्थचरा रक्षकसमाना
लोकपालाः । लोकं पालयन्तीति लोकपालाः । पदात्पादीनि सप्त अनीकानि दण्डस्थानीयानि ।
प्रकीर्णकाः पौरजानपदकल्पाः । आभियोग्या दाससमाना बाहनादिकर्मणि प्रवृत्ताः² । अन्तेवासि-
स्थानीयाः³ कित्विषिकाः । कित्विषं पापं येषामस्तीति कित्विषिकाः ।

§ 450. एकैकस्य निकायस्य एकश एते इन्द्रादयो दश धित्कपाश्चतुर्षु निकायेषूत्सर्गेण
यह पद दिया है । शंका—कल्प इस संज्ञाका क्या कारण है ? समाधान—जिनमें इन्द्र आदि दस
प्रकार कल्पे जाते हैं वे कल्प कहलाते हैं । इस प्रकार इन्द्रादिककी कल्पना ही कल्प संज्ञाका
कारण है । यद्यपि इन्द्रादिक-की कल्पना भवनवासियों में भी सम्भव है फिर भी रुद्रिसे कल्प
शब्द का व्यवहार वैमानिकोंमें ही किया जाता है । जो कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपन्न कह-
लाते हैं । तथा जिनके अन्तमें कल्पोपपन्न देव हैं उनको कल्पोपपन्नपर्यन्त कहा है ।

§ 448. प्रकारान्तरसे उनके भेदोंका ज्ञान कराने के लिए अगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त दस आदि भेदोंमें-से प्रत्येक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोक-
पाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और कित्विषिक रूप हैं ॥4॥

§ 449. जो अन्य देवोंमें असाधारण अणिमादि गुणोंके सम्बन्धसे शोभते हैं वे इन्द्र
कहलाते हैं । आज्ञा और ऐश्वर्यके सिवा जो स्थान, आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग आदि
हैं वे समान कहलाते हैं । उस समानमें जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं । ये पिता, गुरु और
उपाध्यायके समान सबसे बड़े हैं । जो मन्त्री और पुरोहित के समान हैं वे त्रायस्त्रिंश हैं । ये
तत्तांसां हां हांते हैं इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं । जो सभा में मित्र और प्रेमीजनों के समान
होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं । जो अंगरक्षक के समान हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं । जो रक्षकके
समान अर्थचर हैं वे लोकपाल कहलाते हैं । तात्पर्य यह है कि जो लोकका पालन करते हैं वे
लोकपाल कहलाते हैं । जैसे यहाँ सेना है उसी प्रकार सात प्रकारके पदाति आदि अनीक
कहलाते हैं । जो गाँव और शहरों में रहनेवालों के समान हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं । जो दास
के समान बाहन आदि कर्ममें प्रवृत्त होते हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं । जो सीमाके पास रहने
वालों के समान हैं वे कित्विषिक कहलाते हैं । कित्विष पापको कहते हैं इसकी जिनके बहुलता
होती है वे कित्विषिक कहलाते हैं ।

§ 450. चारों निकायोंमें-से प्रत्येक निकायमें ये इन्द्रादिक दस भेद उत्सर्गसे प्राप्त हुए,

1. —यत्समानायु- मु. । 2. -वृत्ताः । अन्त्यवासि- आ., दि. 1, दि. 2 । 3. -स्थानीयाः । कित्विषं मु. ।
4. -येषामस्ति ते कित्वि- मु. ।

प्रसक्तास्ततोऽपवादायमाह—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तर¹ज्योतिष्काः ॥5॥

§ 451. व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशाल्लोकपालाश्च वर्जयित्वा इतरेऽष्टो विकल्पा द्रष्टव्याः ।

§ 452. अथ तेषु निकायेषु किमेकं इन्द्र उतान्यः प्रतिनियमः कश्चिदस्तोत्यत आह—
पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥6॥

§ 453. पूर्वयोनिकाययोर्भवनवासिव्यन्तरनिकाययोः । कथं द्वितीयस्य पूर्वत्वम् ? सामीप्यात्पूर्वत्वमुपचर्योक्तम् । 'द्वीन्द्राः' इति अन्तर्नीतवीप्सार्थः । द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्रा इति । यथा सप्तपर्णोऽष्टापद इति । तथा—भवनवासिषु तावदसुरकुमाराणां द्वाविन्द्रौ चमरो वैरोचनश्च । नागकुमाराणां धरणो भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणां हरिसिंहो हरिकान्तश्च । सुपर्णकुमाराणां वेणुदेवो वेणुधारी च । अग्निकुमाराणामग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणां बेलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां सुघोषो महाघोषश्च । उदधिकुमाराणां जलकान्तो जलप्रभश्च । दीपकुमाराणां पूर्णो वसिष्ठश्च । दिक्कुमाराणाममितगतिरमितवाहनश्चेति । व्यन्तरेष्वपि किन्नराणां द्वाविन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो महापुरुषश्च² । महोरगाणां अतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च ।

अतः जहाँ अपवाद है उसका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क द्वे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदों से रहित हैं ॥5॥

§ 551. व्यन्तर और ज्योतिषियोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदोंके सिवा शेष आठ भेद जानना चाहिए ।

§ 452. उन निकायोंमें क्या एक-एक इन्द्र है या और दूसरा कोई नियम है इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रथम दो निकायोंमें दो दो इन्द्र हैं ॥6॥

§ 453. पूर्वके दो निकायोंसे भवनवासी और व्यन्तर ये दो निकाय लेना चाहिए । शंका—दूसरे निकायको पूर्व कैसे कहा जा सकता है ? समाधान—प्रथमके समीपवर्ती होनेसे दूसरे निकाय को उपचारसे पूर्व कहा है । 'द्वीन्द्राः' इस पदमें वीप्सारूप अर्थ गर्भित है अतः इसका विग्रह इस प्रकार हुआ कि 'द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्राः' जैसे सप्तपर्ण और अष्टापद । तात्पर्य यह है जिस प्रकार सप्तपर्ण और अष्टापद इन पदोंमें वीप्सारूप अर्थ गर्भित है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए । खुलासा इस प्रकार है—भवनवासियोंमें असुरकुमारोंके चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं । नागकुमारोंके धरण और भूतानन्द ये दो इन्द्र हैं । विद्युत्कुमारोंके हरिसिंह और हरिकान्त ये दो इन्द्र हैं । सुपर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं । अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव ये दो इन्द्र हैं । वातकुमारोंके बेलम्ब और प्रभञ्जन ये दो इन्द्र हैं । स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं । उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं । दीपकुमारोंके पूर्ण और वसिष्ठ ये दो इन्द्र हैं । तथा दिक्कुमारोंके अमित गति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं । व्यन्तरोंमें भी किन्नरोंके किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र हैं । किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष ये दो इन्द्र हैं । महोरगोंके अतिकाय और महाकाय ये दो इन्द्र हैं । गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयश ये दो इन्द्र हैं । यक्षोंके पूर्णभद्र और मणिभद्र ये

1. -वर्जा व्य- ता., ना., 2. -रूपश्चेति महो- मु. ।

राक्षसानां भीमो महाभीमश्च । भूतानां प्रतिरूपोऽप्रतिरूपश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्च ।

§ 454. अथेषां देवानां सुखं कीदृशमित्युक्ते सुखावबोधनार्थमाह—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥7॥

§ 455. प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम् । कायेन प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः । 'आङ्' अभिविध्यर्थः । असंहितया निर्देशः असंदेहार्थः । एते भवनवास्यादय ऐशानान्ताः संक्लिष्टकर्म-त्वान्मनुष्यवत्स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः ।

§ 456. अवधिग्रहणादितरेषां सुखविभागेऽनिर्ज्ञाते तत्प्रतिपादनार्थमाह—

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥8॥

§ 457. उक्तावशिष्टग्रहणार्थं 'शेष' ग्रहणम् । के पुनरुक्तावशिष्टाः ? कल्पवातिनः । स्पर्शश्च रूपं च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि, तेषु प्रवीचारो येषां ते स्पर्शरूपशब्दमनः-प्रवीचाराः । कथमभिसंबन्धः ? आर्षाविरोधेन । कुतः पुनः 'प्रवीचार'ग्रहणम् ? इष्टसंप्रत्ययार्थ-मिति । कः पुनरिष्टोऽभिसंबन्धः ? आर्षाविरोधी—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवा देवाङ्गना^१ङ्गस्पर्श-मात्रादेव परां प्रीतिमुपलभन्ते, तथा देव्योऽपि । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवा दिव्याङ्गनानां

दो इन्द्र हैं । राक्षसोंके भीम और महाभीम ये दो इन्द्र हैं । भूतोंके प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इन्द्र हैं । तथा पिशाचोंके काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं ।

§ 454. इन देवोंका सुख किस प्रकारका होता है ऐसा पूछने पर सुखका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ऐशान तकके देव कायप्रवीचार अर्थात् शरीरसे विषय-सुख भोगनेवाले होते हैं ॥7॥

§ 455. मैथुनद्वारा उपसेवनको प्रवीचार कहते हैं । जिनका कायसे प्रवीचार है वे कायप्रवीचारवाले कहे जाते हैं । कहाँतक कायसे प्रवीचारकी व्याप्ति है इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'आङ्' का निर्देश किया है । सन्देह न हो इसलिए 'आ ऐशानात्' इस प्रकार सन्धिके बिना निर्देश किया है । तात्पर्य यह है कि ऐशान स्वर्ग पर्यन्त ये भवनवासी आदि देव संक्लिष्ट कर्म-वाले होनेके कारण मनुष्योंके समान स्त्रीविषयक सुखका अनुभव करते हैं ।

§ 456. पूर्वोक्त सूत्रमें कायसे प्रवीचारकी मर्यादा कर दी है इसलिए इतर देवोंके सुखका विभाग नहीं ज्ञात होता है, अतः इसके प्रतिपादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेष देव स्पर्श, रूप, शब्द और मनसे विषय-सुख भोगनेवाले होते हैं ॥8॥

§ 457. पहले जिन देवोंका प्रवीचार कहा है उनसे अतिरिक्त देवोंके ग्रहण करनेके लिए 'शेष' पदका ग्रहण किया है । शंका—उक्त देवोंसे अवशिष्ट और कौन देव हैं ? समाधान—कल्पवासी । यहाँ स्पर्श, रूप, शब्द और मन इनका परस्पर द्वन्द्व समास करके अनन्तर प्रवीचार शब्दके साथ बहुव्रीहि समास किया है । शंका—इनमें-से किन देवोंके कौन-सा प्रवीचार है इसका सम्बन्ध कैसे करना चाहिए ? समाधान—इसका सम्बन्ध जिस प्रकार आर्षमें विरोध न आवे उस प्रकार कर लेना चाहिए । शंका—पुनः 'प्रवीचार' शब्दका ग्रहण किसलिए किया है ? समाधान—इष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिए । शंका—जिसमें आर्षसे विरोध न आवे ऐसा वह इष्ट अर्थ क्या है ? समाधान—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव देवाङ्गनाओंके स्पर्श मात्रसे परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार वहाँकी देवियाँ भी । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गके देव देवाङ्गनाओंके शृङ्गार, आकृति, विलास, चतुर और मनोज्ञ वेष तथा मनोज्ञ रूपके

1. 'आङ् मर्यादाभिविध्योः ।' पा. 2, 1, 13 । 2. -नाङ्गकास्पर्शः- मु. ।

शृङ्गाराकारधिलासचतुरमनोजवेषरूपावलोकनमात्रादेव परमसुखमाप्नुवन्ति । शुक्रमहाशुक्रशतार-
सहस्रारेषु देवा देववनितानां मधुरसंगीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवभ्रवणमात्रादेव परां प्रीति-
मास्कन्दन्ति । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवा स्वाङ्गनामनःसंकल्पमात्रादेव परं सुखमाप्नुवन्ति ।

§ 458. अथोत्तरेषां किंप्रकारं सुखमित्युक्ते तन्निश्चयार्थमाह—

परेऽप्रवीचाराः ॥9॥

§ 459. 'पर'ग्रहणमितराशेषसंग्रहार्थम् । 'अप्रवीचार'ग्रहणं परमसुखप्रतिपत्त्यर्थम् ।
प्रवीचारो हि वेदनाप्रतिकारः । तदभावे तेषां परमसुखमनवरतं भवति ।

§ 460. उक्ता ये आदिनिकायदेवा दशविकल्पा इति तेषां सामान्यविशेषसंज्ञाविज्ञाप-
नार्थमिदमुच्यते—

भवनवासिनोऽसुरनामविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिकुमाराः ॥10॥

§ 461. भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनः । आदिनिकायस्येयं सामान्यसंज्ञा ।
असुरादयो विशेषसंज्ञा विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तयः सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि
वेषभूषायुधयानवाहनक्रीडादिकुमारवदेषामाभासत इति भवनवासिषु कुमारव्यपदेशो रूढः । स
प्रत्येकं परिसमाप्यते असुरकुमारा इत्येवमादि । क्व तेषां भवनानीति चेत् । उच्यते—रत्नप्रभायाः
पंकवहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि । खरपृथिवीभागे उपर्यधश्च एकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा

देखने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं । शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गके देव
देवांगनाओंके मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित कथित और भूषणोंके कोमल शब्दोंके सुननेमात्र
से ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं । तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पके देव अपने
अंगनाका मनमें संकल्प करनेमात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं ।

§ 458. अब आगेके देवोंका किस प्रकारका सुख है ऐसा प्रश्न करनेपर उसका निश्चय
करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाकीके सब देव विषय-सुख से रहित होते हैं ॥9॥

§ 459. शेष सब देवोंका संग्रह करनेके लिए सूत्रमें 'पर' शब्दका ग्रहण किया है । परम
सुखका ज्ञान करानेके लिए अप्रवीचार पदका ग्रहण किया है । प्रवीचार वेदनाका प्रतिकारमात्र
है । इसके अभावमें उनके सदा परम सुख पाया जाता है ।

§ 460. आदिके निकायके देवोंके दस भेद कहे हैं । अब उनकी सामान्य और विशेष
संज्ञाका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भवनवासी देव दस प्रकारके हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार,
अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ॥10॥

§ 461. जिनका स्वभाव भवनोंमें निवास करना है वे भवनवासी कहे जाते हैं । प्रथम
निकायकी यह सामान्य संज्ञा है । तथा असुरादिक विशेष संज्ञाएँ हैं जो विशिष्ट नामकर्मके
उदयसे प्राप्त होती हैं । यद्यपि इन सब देवोंका वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनके
वेष, भूषा, शस्त्र, यान, वाहन और क्रीड़ा आदि कुमारोंके समान होती हैं, इसलिए सब भवन-
वासियोंमें कुमार शब्द रूढ़ है । यह कुमार शब्द प्रत्येकके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा असुर-
कुमार आदि । शंका—इनके भवन कहाँ हैं ? समाधान—रत्नप्रभाके पंकवहुल भागमें असुर-
कुमारोंके भवन हैं । और खर पृथिवीभागमें ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष

1. पंकवहुल- आ., दि. 1, दि. 2 ।

शेषनवानां कुमारानामावासाः ।

§ 462. द्वितीयनिकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञावधारणार्थमाह—

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥11॥

§ 463. विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते 'व्यन्तराः' इत्यन्वर्था सामान्यसंज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम् । तेषां व्यन्तराणामष्टौ विकल्पाः किन्नरादयो वेदितव्या नामकर्मोदयविशेषापादिताः । क्व पुनस्तेषामावासा इति चेत् । उच्यते—अस्माज्जम्बूद्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतीत्य उपरिष्टे¹ खरपृथिवीभागे सप्तानां व्यन्तराणामावासाः । राक्षसानां पङ्कबहुलभागे ।

§ 464. तृतीयस्य निकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥12॥

§ 465. ज्योतिस्त्वभावत्वादेषां पञ्चानामपि 'ज्योतिष्काः' इति सामान्यसंज्ञा अन्वर्था । सूर्यादयस्तद्विशेषसंज्ञा नामकर्मोदयप्रत्ययाः । 'सूर्याचन्द्रमसौ' इति पृथग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । किंकृतं पुनः प्राधान्यम् ? प्रभावादिकृतम् । क्व पुनस्तेषामावासाः ? इत्यत्रोच्यते, अस्मात्समाद्भूमिभागदूर्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्युत्तराणि² उत्पत्य सर्वज्योतिषामधोभागविन्यस्तास्तारकाश्चरन्ति । ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति । ततोऽशीतियोजनान्युत्पत्य चन्द्रमसौ चरन्ति । ततश्चत्वारि³ योजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि । ततश्चत्वारि⁴ योजनान्युत्पत्य बुधाः । ततस्त्रीणि नौ प्रकारके कुमारोके भवन है ।

§ 462. अब दूसरे निकायकी सामान्य और विशेष संज्ञाके निश्चय करनेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

व्यन्तर देव आठ प्रकारके हैं—किन्नर, किम्पुस्य, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ॥11॥

§ 463. जिनका नानाप्रकारके देशोंमें निवास है वे व्यन्तर देव कहलाते हैं । यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठों ही भेदोंमें लागू है । इन व्यन्तरोंके किन्नरादिक आठों भेद विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं ऐसा जानना चाहिए । शंका—इन व्यन्तरोंके आवास कहाँ हैं ? समाधान—इस जम्बूद्वीपसे असंख्यात द्वीप और समुद्र लाँघकर ऊपरके खर पृथिवी भागमें सात प्रकारके व्यन्तरोंके आवास हैं । तथा पंकबहुल भागमें राक्षसोंके आवास हैं ।

§ 464. अब तीसरे निकायकी सामान्य और विशेष संज्ञाका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषी देव पाँच प्रकारके हैं—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ॥12॥

§ 465. ये सब पाँचों प्रकारके देव ज्योतिर्मय हैं, इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है । तथा सूर्य आदि विशेष संज्ञाएँ विशेष नामकर्मके उदयसे प्राप्त होती हैं । सूर्य और चन्द्रमाकी प्रधानताको दिखलानेके लिए 'सूर्याचन्द्रमसौ' इस प्रकार इन दोनोंका अलगसे ग्रहण किया है । शंका—इनमें प्रधानता किस निमित्तसे प्राप्त होती है ? समाधान—इनमें प्रभाव आदिककी अपेक्षा प्रधानता प्राप्त होती है । शंका—इनका आवास कहाँपर है ? समाधान—इस समान भूमिभागसे सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ताराभागे विचरण करती हैं जो सब ज्योतिषियोंके अधोभागमें स्थित हैं । इससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य विचरण करते हैं । इससे

1. तीत्य परिष्टे आ., ता., ना., दि. 1, दि. 2 । 2. त्तराणि 790 उत्प- मु. । 3. ततस्त्रीणि योज- ता., ना., तत्त्वा. । 4. ततस्त्रीणि योज- ता., ना., तत्त्वा. ।

योजनान्युत्पत्य शुक्राः । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य बृहस्पतयः । ततस्त्रीणि² योजनान्युत्पत्या-
गारकाः । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शनैश्चराश्चरन्ति । स एष ज्योतिर्गणगोचरो नभोऽवकाशो
दशाधिकयोजनशतबहलस्तिर्यगसंख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तः । उक्तं च ।

“णउदुत्तरसत्तसया दससीदी⁴ चदुगं तियचउक्कं ।

तारारविससिरिक्खा बृहभग्गवगुरुअंगिरारसणी³ ।”

§ 466. ज्योतिष्काणां गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥13॥

§ 467. मेरोः प्रदक्षिणा मेरुप्रदक्षिणा । ‘मेरुप्रदक्षिणाः’ इति वचनं गतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं
विपरीता गतिर्मा विज्ञायीति । ‘नित्यगतयः’ इति विशेषणमनुपरतक्रियाप्रतिपादनार्थम् ।
‘नृलोक’ग्रहणं विषयार्थम् । अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोज्योतिष्का नित्यगतयो नान्यत्रेति ।
ज्योतिष्कविमानानां गतिहेत्वभावात्तद्वृत्त्यभाव इति चेत् । न; असिद्धत्वात्, गतिरताभियोग्य-
देवप्रेरित गतिपरिणामात्कर्मविपाकस्य वैचित्र्यात् । तेषां हि गतिमुखेनैव कर्म विपच्यत इति ।

अस्मी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा परिभ्रमण करते हैं । इससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र
हैं । इससे चार योजन ऊपर जाकर बुध हैं । इससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र हैं । इससे तीन योजन
ऊपर जाकर बृहस्पति हैं । इससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल हैं । इससे तीन योजन
ऊपर जाकर शनीचर हैं । यह ज्योतिषियोंसे व्याप्त नभःप्रदेश एक सौ दस योजन मोटा और
घनोदधि-पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र-प्रमाण लम्बा है । कहा भी है --

‘इस पृथिवी-तलसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ताराएँ हैं । पुनः दस योजन
ऊपर जाकर सूर्य हैं । पुनः अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा हैं । पुनः चार योजन ऊपर
जाकर नक्षत्र और चार योजन ऊपर जाकर बुध हैं । पुनः चार बार तीन योजन ऊपर जाकर
अर्थात् तीन-तीन योजन ऊपर जाकर क्रमसे शुक्र, गुरु, मंगल और शनि हैं ॥’

§ 466. अब ज्योतिषी देवोंकी गतिविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषी देव मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं और निरन्तर गतिशील हैं ॥ 13 ॥

§ 467. ‘मेरुप्रदक्षिणा’ इस पदमें षष्ठी तत्पुरुष समास है । ‘मेरुप्रदक्षिणा’ यह वचन
गतिविशेष का ज्ञान करनेके लिए और कोई विपरीत गति न समझ बैठे इसके लिए दिया है ।
वे निरन्तर गतिरूप क्रिया युक्त हैं इस बात का ज्ञान करानेके लिए ‘नित्यगतयः’ पद दिया है ।
इस प्रकार के ज्योतिषी देवोंका क्षेत्र बतानेके लिए ‘नृलोक’ पदका ग्रहण किया है । तात्पर्य यह
है कि ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते रहते हैं अन्यत्र नहीं ।
शंका—ज्योतिषी देवोंके विमानों की गति का कारण नहीं पाया जाता अतः उनका गमन नहीं
बन सकता ? समाधान—नहीं, क्योंकि यह हेतु असिद्ध है । बात यह है कि गमन करनेमें रत जो
आभियोग्य जातिके देव हैं उनसे प्रेरित होकर ज्योतिषी देवों के विमानों का गमन होता रहता
है । यदि कहा जाय कि आभियोग्य जाति के देव निरन्तर गति में ही क्यों रत रहते हैं तो
उसका उत्तर यह है कि यह कर्म के परिपाककी विचित्रता है । उनका कर्म गतिरूप से ही

1. ततश्चत्वारि योज- ता., ना., तत्त्वा. । 2. ततश्चत्वारि योज- ता., ना., तत्त्वा. । 3. -सीदि चदुतिमं
दुगचउक्कं । तारा- ता., ना., तत्त्वा. । 4. ‘णउदुत्तरसत्तसए दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के । तारिणससि-
रिक्खनुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी ।’- ति., सा., गा. 332 ।

एकादशभिर्गोत्रैश्चैतद्विशंसेरमप्राप्य ज्योतिष्काः प्रदक्षिणाश्चरन्ति ।

§ 468. गतिमज्ज्योतिसंबन्धेन व्यवहारकालप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तत्कृतः कालविभागः ॥14॥

§ 469. 'तद्'ग्रहणं गतिमज्ज्योतिःप्रतिनिर्देशार्थम् । न केवलया गत्या नापि केवलज्योतिभिः कालः परिच्छद्यते; अनुपलब्धेरपरिवर्तनाच्च । कालो द्विविधो व्यावहारिको मुख्यश्च । व्यावहारिकः कालविभागतत्कृतः समयावलि कादिः क्रियाविशेषपरिच्छिन्नोऽन्यथापरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः । मुख्योऽन्यो वक्ष्यमाणलक्षणः ।

फलता है । यहो कारण है कि वे निरन्तर गमन करने में ही रत रहते हैं । यद्यपि ज्योतिषी देव मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं तो भी वे मेरु पर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रह कर ही विचरण करते हैं ।

§ 468. अब गमन करनेवाले ज्योतिषियोंके सम्बन्धसे व्यवहार-काल का ज्ञान करानेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

उन गमन करनेवाले ज्योतिषियोंके द्वारा किया हुआ कालविभाग है ॥14॥

§ 469. गमन करनेवाले ज्योतिषी देवोंका निर्देश करनेके लिए सूत्रमें 'तद्'पदका ग्रहण किया है । केवल गतिसे कालका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि वह पायी नहीं जाती और गतिके बिना केवल ज्योतिसे भी कालका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि परिवर्तनके बिना वह सदा एक-सी रहेगी । यही कारण है कि यहाँ 'तद्' पदके द्वारा गतिवाले ज्योतिषियोंका निर्देश किया है । काल दो प्रकार का है—व्यावहारिक काल और मुख्य काल । इनमेंसे समय और आवृत्ति आदि रूप व्यावहारिक कालविभाग गतिवाले ज्योतिषी देवोंके द्वारा किया हुआ है । यह क्रिया विशेषसे जाना जाता है और अन्य नहीं जानी हुई वस्तुओंके जाननेका हेतु है । मुख्य-काल इससे भिन्न है जिसका लक्षण आगे कहनेवाले हैं—

विशेषार्थ—मनुष्य मानुषोत्तर पर्वतके भीतर पाये जाते हैं । मानुषोत्तर पर्वतके एक ओर-से लेकर दूसरी ओर तक कुल विस्तार पैंतालीस लाख योजन है । मनुष्य इसी क्षेत्रमें पाये जाते हैं इसलिए यह मनुष्यलोक कहलाता है । इस लोकमें ज्योतिष्क सदा भ्रमण किया करते हैं । इनका भ्रमण मेरुके चारों ओर होता है । मेरुके चारों ओर ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक ज्योतिष्क मण्डल नहीं है । इसके आगे वह आकाशमें सर्वत्र बिखरा हुआ है । जम्बूद्वीपमें दो सूर्य और दो चन्द्र हैं । एक सूर्य जम्बूद्वीपकी पूरी प्रदक्षिणा दो दिन-रातमें करता है । इसका चार क्षेत्र जम्बूद्वीपमें 180 योजन और लवण समुद्रमें 330 $\frac{1}{2}$ योजन माना गया है । सूर्यके घूमनेकी कुल गतिथी 184 हैं । इनमें यह क्षेत्र विभाजित हो जाता है । एक गलीसे दूसरी गलीमें दो योजनका अन्तर माना गया है । इसमें सूर्यबिम्बके प्रमाणको मिला देनेपर वह 2 $\frac{1}{2}$ योजन होता है । इतना उदयान्तर है । मण्डलान्तर दो योजनका ही है । चन्द्रको पूरी प्रदक्षिणा करनेमें दो दिन-रातसे कुछ अधिक समय लगता है । चन्द्रोदयमें न्यूनाधिकता इसीसे आती है । लवण समुद्रमें चार सूर्य, चार चन्द्र; धातकीखण्डमें बारह सूर्य, बारह चन्द्र; कालोदधिमें व्यालीस सूर्य, व्यालीस चन्द्र और पुष्करार्थमें बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्र हैं । इस प्रकार द्वा द्वीपमें एक सौ बत्तीस सूर्य और एक सौ बत्तीस चन्द्र हैं । इन दोनोंमें चन्द्र, इन्द्र और सूर्य त्रयीन्द्र हैं । एक-एक चन्द्रका परिवार एक सूर्य, अट्ठाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छयासठ हजार नौ सौ कोड़ाकोड़ी तारे हैं । इन ज्योतिष्कोंका गमन स्वभाव है तो भी आभियोग्य देव सूर्य आदि के विमानोंको निरन्तर ढोया करते हैं । ये देव सिंह, गज, बैल और घोड़ेका आकार धारण किये रहते हैं । सिंहाकार देवोंका

§ 470. इतरत्र ज्योतिषामवस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

बहिरवस्थिताः ॥15॥

§ 471. 'बहिः' इत्युच्यते । कुतो बहिः ? नृलोकात् । कथमवगम्यते ? अर्थवशाद्विभक्ति-परिणामो भवति । ननु च नृलोके 'नित्यगति'वचनादव्यवस्थानं ज्योतिष्काणां सिद्धम् । अतो बहिरवस्थिता इति वचनमनर्थकमिति । तन्न; किं कारणम् ? नृलोकादन्यत्र¹ हि ज्योतिषामस्ति-
श्वमवस्थानं चासिद्धम् । अतस्तदुभयसिद्ध्यर्थं बहिरवस्थिता इत्युच्यते । विपरीतगतिनिवृत्त्यर्थं
कादाचित्कगतिनिवृत्त्यर्थं च सूत्रमारब्धम् ।

§ 472. तुरीयस्य निकायस्य सामान्यसंज्ञासंकीर्तनार्थमाह—

वैमानिकाः ॥16॥

§ 473. 'वैमानिक'ग्रहणमधिकारार्थम् । इत उत्तरं ये वक्ष्यन्ते तेषां वैमानिकसंप्रत्ययो
यथा स्यादिति अधिकारः क्रियते । विशेषेणावस्थानं सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि । विमानेषु
यथा वैमानिकाः । तानि विमानानि² त्रिविधानि—इन्द्रकश्रेणीपुष्पप्रकीर्णकभेदेन । तत्र इन्द्रक-
विमानानि इन्द्रवन्मध्यस्थितानि³ । तेषां चतसृषु दिक्षु आकाशप्रदेशश्रेणिवदवस्थानात् श्रेणि-
मुख पूर्व दिशाकी ओर रहता है । तथा गजाकार देवोंका मुख दक्षिण दिशाकी ओर, वृषभाकार
देवोंका मुख पश्चिमकी ओर, और अश्वाकार देवोंका मुख उत्तर दिशाकी ओर रहता है ।

§ 470. अब डाई द्वीपके बाहर ज्योतिषियोंके अवस्थानका कथन करनेके लिए आगेका
सूत्र कहते हैं—

मनुष्य-लोकके बाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं ॥15॥

§ 471. सूत्रमें 'बहिः' पद दिया है । शंका— किससे बाहर ? समाधान—मनुष्य-लोकसे
बाहर । शंका—यह कैसे जाना जाता है ? समाधान—पिछले सूत्रमें 'नृलोके' पद आया है ।
अर्थके अनुसार उसकी विभक्ति बढ़त जाती है, जिससे यह जाना जाता है कि यहाँ 'बहिः'
पदसे मनुष्यलोकके बाहर यह अर्थ इष्ट है । शंका—मनुष्य-लोकमें ज्योतिषी निरन्तर भ्रमण
करते हैं यह पिछले सूत्रमें कहा ही है, अतः अन्यत्र ज्योतिषियोंका अवस्थान सुतरां सिद्ध है ।
इसलिए 'बहिरवस्थिताः' यह सूत्रवचन निरर्थक है ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि
मनुष्यलोकके बाहर ज्योतिषियोंका अस्तित्व और अवस्थान ये दोनों असिद्ध हैं । अतः इन दोनों
की सिद्धिके लिए 'बहिरवस्थिताः' यह सूत्रवचन कहा है । दूसरे विपरीत गतिके निराकरण
करनेके लिए और कादाचित्क गतिके निराकरण करनेके लिए यह सूत्र रचा है । अतः यह सूत्र-
वचन अनर्थक नहीं है ।

§ 472. अब चौथे निकायकी सामान्य संज्ञाके कथन करनेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

चौथे निकायके देव वैमानिक हैं ॥16॥

§ 473. वैमानिकोंका अधिकार है यह बतलानेके लिए 'वैमानिक' शब्दका ग्रहण किया
है । आगे जिनका कथन करनेवाले हैं वे वैमानिक हैं । इनका ज्ञान जैसे ही इसके लिए यह अधि-
कार वचन है । जो विशेषतः अपनेमें रहनेवाले जीवोंको पुण्यात्मा मानते हैं वे विमान हैं और
जो उन विमानोंमें होते हैं वे वैमानिक हैं । इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णकके भेदेन विमान
अनेक प्रकारके हैं । उनमेंसे इन्द्रक विमान इन्द्रके समान मध्यमें स्थित है । उनके चारों ओर

1. -न्यत्र बहिर्ज्यो - मु. । 2. -नानि विविधा- मु. । 3. मध्ये व्यव- मु. ।

विमानानि । विविक्षु प्रकीर्णपुष्पवदवस्थानात्पुष्पप्रकीर्णकानि ।

§ 474. तेषां वैमानिकानां भेदावबोधनार्थमाह—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥17॥

§ 475. कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः—कल्पातीताः कल्पातीताश्चेति द्विविधा वैमानिकाः

§ 476. तेषामवस्थानविशेषनिर्ज्ञानार्थमाह—

उपर्युपरि ॥18॥

§ 477. किमर्थमिदमुच्यते । त्र्यंगवस्थितिप्रतिषेधार्थमुच्यते । न ज्योतिष्कवत्त्र्यंगवस्थिताः । न व्यन्तरवदसमावस्थितयः । ‘उपर्युपरि’ इत्युच्यन्ते । के ते ? कल्पाः ।

§ 478. यद्येवं, कियत्सु कल्पविमानेषु ते देवा भवन्तीत्यत आह—

सौधमैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुकमहाशुकशतारसह-
स्रारेणानतप्राणतयोरारणान्च्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताप-
राजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

§ 479. कथमेषां सौधर्मादिशब्दानां कल्पाभिधानम् ? चातुरथिकेनाणा स्वभावतो वा कल्पस्याभिधानं भवति । अथ कथमिन्द्राभिधानम् ? स्वभावात् साहचर्याद्वा । तत्कथमिति चेत् ? उच्यते—सुधर्मा नाम सभा, साऽस्मिन्नस्तीति सौधमः कल्पः । ‘तदस्मिन्नस्तीति’¹ अण् । तत्कल्प-

आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिके समान जो स्थित हैं वे श्रेणिविमान हैं । तथा बिखरे हुए फूलोंके समान विविक्षाओंमें जो विमान हैं वे पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं ।

§ 474. उन वैमानिकोंके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे दो प्रकारके हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत ॥17॥

§ 475. जा कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं । और जो कल्पोंके परे हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं । इस प्रकार वैमानिक दो प्रकारके हैं ।

§ 476. अब उनका अवस्थान विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वे ऊपर-ऊपर रहते हैं ॥18॥

§ 477. शंका—यह सूत्र किसलिए कहा है ? समाधान—ये कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिक तिरछे रूपसे रहते हैं इसका निषेध करनेके लिए कहा है । ये ज्योतिषियोंके समान तिरछे रूपसे नहीं रहते हैं । उसी प्रकार व्यन्तरोके समान विषमरूपसे नहीं रहते हैं । किन्तु ऊपर-ऊपर हैं । शंका—वे ऊपर-ऊपर क्या हैं ? समाधान—कल्प ।

§ 478. यदि ऐसा है तो कितने कल्प विमानोंमें वे देव निवास करते हैं, इस बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक, महाशुक, शतार और सहस्रार तथा आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धिमें वे निवास करते हैं ॥19॥

§ 479. शंका—इन सौधर्मादिक शब्दोंका कल्प संज्ञा किस निमित्तसे मिली है ? समाधान—व्याकरणमें चार अर्थमें ‘अण्’ प्रत्यय होता है उससे सौधर्म आदि शब्दोंकी कल्पसंज्ञा है या स्वभावसे ही वे कल्प कहलाते हैं । शंका—सौधर्म आदि शब्द इन्द्रके वाचों कैसे हैं ? समा-

1. ‘तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि’- पा. 4, 2, 67 । ‘तदस्मिन्नन् प्राये खौ’-जनेन्द्र 4, 1, 25 ।

साहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्मः । ईशानो नाम इन्द्रः स्वभावतः । ईशानस्य निवासः कल्प ऐशानः ।
 “तस्य निवासः¹” इत्यण् । तत्साहचर्यादिन्द्रोऽप्यैशानः । सनत्कुमारो नाम इन्द्रः स्वभावतः ।
 “तस्य निवासः” इत्यण् । सानत्कुमारः कल्पः । तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि सानत्कुमारः । महेन्द्रो
 नामेन्द्रः स्वभावतः । तस्य निवासः कल्पो माहेन्द्रः । तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि माहेन्द्रः । एवमुत्तरत्रापि
 योज्यम् । आगमापेक्षया व्यवस्था भवतीति ‘उपर्युपरि’ इत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः ।
 प्रथमो सौधर्मेशानकल्पो, तयोरुपरि सानत्कुमारमाहेन्द्रौ, तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ, तयोरुपरि
 लान्तवकापिष्ठौ, तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ, तयोरुपरि शतारसहस्रारौ, तयोरुपरि आनतप्राणतौ,
 तयोरुपरि आरणाच्युतौ । अध उपरि च प्रत्येकमिन्द्रसंबन्धो वेदितव्यः । मध्ये तु प्रतिद्वयम्² ।
 सौधर्मेशानसानत्कुमारमाहेन्द्राणां चतुर्णां चत्वार इन्द्राः । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरेको ब्रह्मा³ नाम ।
 लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाख्यः । शुक्रमहाशुक्रयोरेकः शुक्रसंज्ञः । शतारसहस्रारयोरेकः
 शतारनामा । आनतप्राणतारणाच्युतानां चतुर्णां चत्वारः । एवं कल्पवासिनां द्वादश इन्द्रा
 भवन्ति । जम्बूद्वीपे महामन्दरो योजनसहस्रावगाहो⁴ नवनवतियोजनसहस्रोच्छायः । तस्याधस्ताद-
 धोलोकः । बाहुल्येन⁵ तत्प्रमाण⁶ स्तिर्यक्प्रसूतस्तिर्यग्लोकः । तस्योपरिष्ठादूर्ध्वलोकः । मेरुचूलिका

धान—स्वभावसे या साहचर्य से । शका—कैसे ? समाधान—सुधर्मा नामकी सभा है, वह जहाँ है
 उस कल्पका नाम सौधर्म है । यहाँ ‘तदस्मिन्नस्ति’ इससे ‘अण्’ प्रत्यय हुआ है । और इस कल्प-
 के सम्बन्धसे वहाँका इन्द्र भी सौधर्म कहलाता है । इन्द्रका ईशान यह नाम स्वभावसे है । वह
 इन्द्र जिस कल्पमें रहता है उसका नाम ऐशान कल्प है । यहाँ ‘तस्य निवासः’ इस सूत्रसे ‘अण्’
 प्रत्यय हुआ है । तथा इस कल्पके सम्बन्धसे इन्द्र भी ऐशान कहलाता है । इन्द्रका सनत्कुमार
 नाम स्वभावसे है । यहाँ ‘तस्य निवासः’ इस सूत्रसे ‘अण्’ प्रत्यय हुआ है इससे कल्पका नाम
 सानत्कुमार पड़ा और इसके सम्बन्धसे इन्द्र भी सानत्कुमार कहलाता है । इन्द्रका महेन्द्र नाम
 स्वभावसे है । वह इन्द्र जिस कल्पमें रहता है उसका नाम माहेन्द्र है । और इसके सम्बन्धसे इन्द्र
 भी माहेन्द्र कहलाता है । इसी प्रकार आगे भी जानना । व्यवस्था आगमके अनुसार होती है
 इसलिए ‘उपर्युपरि’ इस पदके साथ दो दो कल्पोंका सम्बन्ध कर लेना चाहिए । सर्वप्रथम
 सौधर्म और ऐशान कल्प हैं । इनके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प हैं । इनके ऊपर ब्रह्म
 और ब्रह्मोत्तर कल्प हैं । इनके ऊपर लान्तव और कापिष्ठ कल्प हैं । इनके ऊपर शुक्र और
 महाशुक्र कल्प हैं । इनके ऊपर शतार और सहस्रार कल्प हैं । इनके ऊपर आनत और प्राणत
 कल्प हैं । इनके ऊपर आरण और अच्युत कल्प है । नीचे और ऊपर प्रत्येक कल्पमें एक एक इन्द्र
 है तथा मध्यमें दो दो कल्पोंमें एक एक इन्द्र है । तात्पर्य यह है कि सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार
 और माहेन्द्र इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं । ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर इन दो कल्पोंका एक ब्रह्म
 नामक इन्द्र है । लान्तव और कापिष्ठ इन दो कल्पोंमें एक लान्तव नामका इन्द्र है । शुक्र और
 महाशुक्रमें एक शुक्र नामका इन्द्र है । शतार और सहस्रार इन दो कल्पोंमें एक शतार नामका
 इन्द्र है । तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्पोंके चार इन्द्र हैं । इस प्रकार
 कल्पवासियोंके बारह इन्द्र होते हैं । जम्बूद्वीप में एक महामन्दर नामका पर्वत है जो मूलमें एक
 हजार योजन गहरा है । और निम्नानवे हजार योजन ऊँचा है । उसके नीचे अधोलोक है । मेरु
 पर्वतकी जितनी ऊँचाई है उतना मोटा और तिरछा फँला हुआ तिर्यग्लोक है । उसके ऊपर
 ऊर्ध्वलोक है, जिसकी मेरु चूलिका चालीस योजन विस्तृत है । उसके ऊपर एक ढालके अन्तरसे

1. ‘तस्य निवासः’ -पा. 4, 2, 69, । तस्य निवासाद्वरभवी - जेनेन्द्र. 3, 2, 86 । 2. द्वयमेकम् मु. । 3. ब्रह्मो
 नाम मु. । 4. -गाहो भवति नव मु., ता., ना. । 5. बाहुल्येन मु., ता., ना., दि. 2 । 6. तत्प्रमाण
 (मेरुप्रमाण) स्तिर्यक्- मु. ।

चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रया । तस्या उपरि केशान्तरमात्रे व्यवस्थितमृजुविमानमिन्द्रकं सौधमस्य । सर्वमन्यल्लोकानुयोगाद्वेदितव्यम् । 'नवसु ग्रंथेयकेषु' इति नवशब्दस्य पृथग्वचनं¹ किमर्थम् ? अन्यान्यपि नवविमानानि² अनुदिशसंज्ञकानि सन्तीति ज्ञापनार्थम् । तेनानुदिशानां ग्रहणं वेदितव्यम् ।

§ 480. एषामधिकृतानां³ वैमानिकानां परस्परतो विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

स्थितिप्रभावमुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥20॥

§ 481. स्वोपात्तस्यायुष उदयात्तस्मिन्भवे शरीरेण सहावस्थानं⁴ स्थितिः । शापानुग्रह-शक्तिः प्रभावः । मुखमिन्द्रियार्थानुभवः । शरीरवसनाभरणादिदीप्तिः द्युतिः । लेश्या उक्ता । लेश्याया विशुद्धिलेश्याविशुद्धिः । इन्द्रियाणामवधेऽत्र विषय इन्द्रियावधिविषयः ।⁵ तेभ्यस्तैर्वाऽधिका इति⁶ तसिः । उपर्युपरि प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च वैमानिकाः स्थित्यादिभिरधिका इत्यर्थः ।

§ 482. यथा स्थित्यादिभिरुपर्युपर्यधिका एवं गत्यादिभिरपीत्यतिप्रसंगे तन्निवृत्त्यर्थमाह—

ऋजुविमान है जो सौधर्म कल्पका इन्द्रक विमान है । शेष सब लोकानुयोगसे जानना चाहिए । शंका—'नवसु ग्रंथेयकेषु' यहाँ 'नव' शब्दका कथन अलगसे क्यों किया है ? समाधान—अनुदिश नामके नौ विमान और हैं इस बातके बतलानेके लिए 'नव' शब्दका अलगसे कथन किया है । इससे भी अनुदिशोंका ग्रहण कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले वैमानिक निकायके बारह भेद कर आये हैं और यहाँ सोलह भेद गिनाये हैं इसलिए यह शंका होती है कि इनमें-से कोई एक कथन समीचीन होना चाहिए ? समाधान यह है कि कल्पोपपन्नोंके बारह इन्द्र होते हैं, इसलिए उनके भेद भी बारह ही हैं पर वे रहते हैं सोलह कल्पोंमें । यहाँ कल्पोंमें रहनेवाले देवोंके भेद नहीं गिनाये हैं । यहाँ तो उनके निवास-स्थानोंकी परिगणना की गयी है, इसलिए दोनों कथनोंमें कोई विरोध नहीं है । शेष कथन सुगम है ।

§ 480. अब इन अधिकार प्राप्त वैमानिकोंके परस्पर विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्थिति, प्रभाव, मुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि इन्द्रियविषय और अवधिविषयकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव अधिक हैं ॥20॥

§ 481. अपने द्वारा प्राप्त हुई आयुके उदयसे उस भवमें शरीरके साथ रहना स्थिति कहलाती है । शाप और अनुग्रहरूप शक्तिको प्रभाव कहते हैं । इन्द्रियोंके विषयोंको अनुभवन करनेको सुख कहते हैं । शरीर, वस्त्र और आभूषण आदिकी कान्तिको द्युति कहते हैं । लेश्याका कथन कर आये हैं । लेश्याकी विशुद्धि लेश्याविशुद्धि कहलाती है । इन्द्रिय और अवधिज्ञानका विषय इन्द्रियविषय और अवधिविषय कहलाता है । इनसे या इनकी अपेक्षा वे सब देव उत्तरोत्तर अधिक-अधिक हैं । तात्पर्य यह है कि ऊपर-ऊपर प्रत्येक कल्पमें और प्रत्येक प्रस्तारमें वैमानिक देव स्थिति आदिकी अपेक्षा अधिक-अधिक हैं ।

§ 482. जिस प्रकार ये वैमानिक देव स्थिति आदिकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर अधिक हैं उसी प्रकार गति आदिकी अपेक्षा भी प्राप्त हुए, अतः इसका निराकरण करनेके लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

1. -वचनं अन्या- ता., ता. । 2. -मानानि सन्तीति आ., ता., ना. । 3. --तानां परस्पर- आ. । 4. सह स्थानं आ., दि. 1, दि. 2 । 5. 'अपादाने चाहीयस्तुः'- पा. 5, 4, 45 । । -अपादाने- -जनेन्द्र 4, 2, 62 । 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्'- पा. 5, 4, 44 वार्ति. । 'आद्यादिभ्यस्तसि'- 4, 2, 60 । 6. इति तस्मिन्नुप- मु. ।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥21॥

§ 483. देशादेशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः । शरीरं वैक्रियिकमुक्तम् । लोभकषायोदयाद्विषयेषु सङ्गः परिग्रहः । मानकषायादुत्पन्नोऽहंकारोऽभिमानः । एतैर्गत्यादिभिरुपर्युपरि हीनाः । देशान्तर-विषयक्रीडारतिप्रकर्षाभावादुपर्युपरि गतिहीनाः । शरीरं सौधर्मशानयोर्देवानां सप्तारतिप्रमाणम् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः षडरतिप्रमाणम् । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पञ्चारतिप्रमाणम् । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्राण्येषु चतुररतिप्रमाणम् । आनतप्राणतयोरद्वैतचतुर्थारतिप्रमाणम् । आरणा-च्युतयोस्त्रयरतिप्रमाणम् । अधोग्रैवेयकेषु अर्द्धतृतीयारतिप्रमाणम् । मध्यग्रैवेयकेष्वरतिद्वयप्रमा-णम् । उपरिमग्रैवेयकेषु अनुदिशविमानकेषु च अध्यर्द्धारतिप्रमाणम् । अनुत्तरेष्वरतिप्रमाणम् । परिग्रहश्च विमानपरिच्छेदादिरुपर्युपरि हीनः । अभिमानश्चोपर्युपरि तनुकषायत्वाद्धीनः ।

§ 484. पुरस्तात्त्रिषु निकायेषु देवानां लेश्याविधिहस्तः । इदानीं वैमानिकेषु लेश्या-विधिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥22॥

§ 485. पीता च पद्मा च शुक्ला च^१ ताः पीतपद्मशुक्लाः । पीतपद्मशुक्ला लेश्या येषां

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव हीन हैं ॥21॥

§ 483. एक देशमें दूसरे देशमें प्राप्त करनेका जो साधन है उसे गति कहते हैं । यहाँ शरीरमें वैक्रियिक शरीर लिया गया है यह पहले कह आये हैं । लोभ कषायके उदयसे विषयोंके संगको परिग्रह कहते हैं । मानकषायके उदयसे उत्पन्न हुए अहंकारको अभिमान कहते हैं । इन गति आदिकी अपेक्षा वैमानिक देव ऊपर-ऊपर हीन हैं । भिन्न देशमें स्थित विषयोंमें क्रीड़ा विषयक रतिका प्रकर्ष नहीं पाया जाता इसलिए ऊपर-ऊपर गमन कम है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंका शरीर सात अरतिप्रमाण है । सानत्कुमार आर माहेन्द्र स्वर्गके देवोंका शरीर छह अरतिप्रमाण है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पके देवोंका शरीर पाँच अरति-प्रमाण है । शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पके देवोंका शरीर चार अरतिप्रमाण है । आनत और प्राणत कल्पके देवोंका शरीर साढ़े तीन अरतिप्रमाण है । आरण और अच्युत कल्पके देवोंका शरीर तीन अरतिप्रमाण है । अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्रोंका शरीर ढाई अरति-प्रमाण है । मध्यग्रैवेयकमें अहमिन्द्रोंका शरीर दो अरतिप्रमाण है । उपरिम ग्रैवेयकमें और अनुदिशोंमें अहमिन्द्रोंका शरीर डेढ़ अरतिप्रमाण है । तथा पाँच अनुत्तर विमानोंमें अहमिन्द्रों-का शरीर एक अरतिप्रमाण है । विमानोंकी लम्बाई चौड़ाई आदि रूप परिग्रह ऊपर-ऊपर कम है । अल्प कषाय होनेसे अभिमान भी ऊपर-ऊपर कम है ।

विशेषार्थ—ऊपरके देवोंमें परिग्रह कमती-कमती होता है और पुण्यातिशय अधिक-अधिक, इससे ज्ञात होता है कि बाह्य परिग्रहका संचय मुख्यतः पुण्यका फल न होकर मूर्च्छाका फल है । ऊपर-ऊपर मूर्च्छा न्यून होती है जो उनके पूर्वभवके संस्कारका फल है, इसलिए परिग्रह भी न्यून-न्यून होता है ।

§ 484. पहले तीन निकायोंमें लेश्याका कथन कर आये । अब वैमानिकोंमें लेश्याओंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो, तीन कल्प युगलोंमें और शेषमें क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं ॥22॥

§ 485. पीता, पद्मा और शुक्लामें द्वन्द्व समास है, अनन्तर लेश्या शब्दके साथ बहुव्रीहि

1. -रतिमात्रम् । अनु- आ., दि. 1, दि. 2, ता. 1 2. च पीत- आ., दि. 2, ।

ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः । कथं ह्रस्वत्वम् । औत्तरपदिकम्¹ । यथा²—“द्रुतायां³ तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्⁴” इति । अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीतपद्मशुक्ला वर्णवन्तोऽर्थाः । तेषामिव लेश्या येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः । तत्र कस्य का लेश्या इति । अत्रोच्यते—सौधर्मशानयोः पीतलेश्याः । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पीतपद्मलेश्याः । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्मलेश्याः । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः । आनतादिषु शुक्ललेश्याः । तत्राप्यनुदिशानुत्तरेषु परमशुक्ललेश्याः । सूत्रेऽनभिहितं कथं मिश्रग्रहणम् ? साहचर्यल्लोकवत् । तद्यथा—छत्रिणो गच्छन्ति इति अच्छत्रिषु छत्रव्यवहारः । एवमिहापि मिश्रयोरन्यतरग्रहणं भवति । अयमर्थः सूत्रतः कथं गम्यते इति चेत् । उच्यते—एवमभिस्वबन्धः क्रियते, द्वयोः कल्पयुगलयोः पीतलेश्याः ; सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पद्मलेश्याया अविबक्षतः । ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्याः ; शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविबक्षतः । शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्याः ; पद्मलेश्याया अविबक्षतः । इति नास्ति दोषः ।

समाप्त है । जिनके ये पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं । शंका—पीता, पद्मा और शुक्ला ये तीनों शब्द दीर्घ हैं वे ह्रस्व किस नियमसे हो गये ? समाधान—जैसे ‘द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्’ अर्थात् द्रुतावृत्तिमें तपरकरण करनेपर मध्यमा और विलम्बितावृत्तिमें उसका उपसंख्यान होता है इसके अनुसार यहाँ ‘मध्यमा’ शब्दमें औत्तरपदिक ह्रस्व हुआ है । उसी प्रकार प्रकृतमें भी औत्तरपदिक ह्रस्व जानना चाहिए । अथवा यहाँ पीता, पद्मा और शुक्ला शब्द न लेकर पीत, पद्म और शुक्ल वर्णवाले पदार्थ लेने चाहिए । जिनके इन वर्णोंके समान लेश्याएँ पायी जाती हैं वे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले जीव हैं । इस प्रकार यहाँ पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शब्द ह्रस्व ही समझना चाहिए । अब किसके कौन लेश्या है यह बतलाते हैं—सौधर्म और ऐशान कल्पमें पीतलेश्या है । सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पमें पीत और पद्म लेश्याएँ हैं । ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्पोंमें पद्मलेश्या है । शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पमें पद्म और शुक्ल ये दो लेश्याएँ हैं । तथा आनतादिकमें शुक्ल लेश्या है । उसमें भी अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें परम शुक्ल लेश्या है । शंका—सूत्रमें तो मिश्र लेश्याएँ नहीं कही हैं फिर उनका ग्रहण कैसे होता है ? समाधान—साहचर्यवश मिश्र लेश्याओंका ग्रहण होता है, लोकके समान । जैसे, ‘छत्री जाते हैं’ ऐसा कथन करने पर अच्छत्रियोंमें भी छत्री व्यवहार होता है उसी प्रकार यहाँ भी दोनों मिश्र लेश्याओंमेंसे किसी एकका ग्रहण होता है । शंका—यह अर्थ सूत्रसे कैसे जाना जाता है ? समाधान—यहाँ ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए कि दो कल्प युगलोंमें पीत लेश्या है । यहाँ सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की । ब्रह्मलोक आदि तीन कल्पयुगलोंमें पद्म लेश्या है । शुक्र और महाशुक्रमें शुक्ल लेश्याकी विवक्षा नहीं की । शेष शतार आदिमें शुक्ललेश्या है । पद्म लेश्याकी विवक्षा नहीं की । इसलिए कोई दोष नहीं है ।

1. -तरपदिकम् आ., दि. 1, दि. 2 । 2. यथाहुः द्रु- मु., ना. ता. । 3. ‘द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात् । द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यम् । तथा मध्यमायां द्रुतविलम्बितयोः तथा विलम्बितायां द्रुतमध्यमयोः । किं पुनः कारणं न सिद्धयति । कालभेदात् । ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायाम् । ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम् ।’ -पा. म. भा. 1, 1, 9 । 4. -ख्यानमिति । द्रुतमध्यमविलम्बिता इति । अथवा आ., दि. 1 । -ख्यानमिति । द्रुतमध्यमविलम्बिता इति । अथवा दि. 2 ।

§ 486. आह कल्पोपपन्ना इत्युक्तं तत्रेदं न ज्ञायते के कल्पा इत्यत्रोच्यते—

प्राग्ग्रेवेयकेभ्यः कल्पाः ॥23॥

§ 487. इदं न ज्ञायते इति आरभ्य कल्पा भवन्तीति सौधर्माविग्रहणमनुवर्तते । तेनायमर्थो लभ्यते—सौधर्मादयः प्राग्ग्रेवेयकेभ्यः कल्पा इति । पारिशेष्यादितरे कल्पातीता इति ।

§ 488. लौकान्तिका देवा वैमानिकाः सन्तः यव गृह्णन्ते ? कल्पोपपन्नेषु । कथमिति चेदुच्यते—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥24॥

§ 489. एतन् तस्मिन् लीयन्त इति आलय आवासः । ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका देवा वेदितव्याः । यद्येवं सर्वेषां ब्रह्मलोकालयानां देवानां लौकान्तिकत्वं प्रसक्तम् । अन्वर्थसंज्ञाग्रहणाददोषः । ब्रह्मलोको लोकः, तस्यान्तो लोकान्तः, तस्मिन् भवा लौकान्तिका इति न सर्वेषां ग्रहणम् । तेषां हि विमानानि ब्रह्मलोकस्यान्तेषु स्थितानि । अथवा जन्म-जरामरणाकीर्णो लोकः संसारः, तस्यान्तो लोकान्तः । लोकान्ते भवा लौकान्तिकाः । ते सर्वे परीत-संसारः, ततश्च्युता एकं गर्भावासं प्राप्य परिनिर्वास्यन्तीति ।

§ 490. तेषां सामान्येनोपदिष्टानां भेदप्रदर्शनार्थमाह—

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्वतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥25॥

§ 486. कल्पोपपन्न देव हैं यह कह आये पर यह नहीं ज्ञात हुआ कि कल्प कोन हैं, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ग्रेवेयकोंसे पहले तक कल्प हैं ॥23॥

§ 487. यह नहीं मालूम होता कि यहाँसे लेकर कल्प हैं, इसलिए सौधर्म आदि पदकी अनुवृत्ति होती है । इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि सौधर्मसे लेकर और नौ ग्रेवेयकसे पूर्वतक कल्प हैं । पारिशेष न्यायसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि शेष सब कल्पातीत हैं ।

§ 488. लौकान्तिक देव वैमानिक हैं उनका किनमें समावेश होता है ? वैमानिकोंमें । कैसे ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

लौकान्तिक देवोंका ब्रह्मलोक निवासस्थान है ॥24॥

§ 489. आकर जिसमें लयको प्राप्त होते हैं अर्थात् निवास करते हैं वह आलय या आवास कहलाता है । ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोकमें रहनेवाले लौकान्तिक देव जानना चाहिए । शंका—यदि ऐसा है तो ब्रह्मलोकमें रहनेवाले सब देव लौकान्तिक हुए ? समाधान—सार्थक संज्ञाके ग्रहण करनेसे यह दोष नहीं रहता । लौकान्तिक शब्दमें जो लोक शब्द है उससे ब्रह्मलोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्तभाग लोकान्त कहलाया । वहाँ जो होते हैं वे लौकान्तिक कहलाते हैं, इसलिए ब्रह्मलोकमें रहनेवाले सब देवोंका ग्रहण नहीं होता है । इन लौकान्तिक देवोंके विमान ब्रह्मलोकके प्रान्तभाग में स्थित हैं । अथवा जन्म, जरा और मरणसे व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है । इस प्रकार संसारके अन्तमें जो होते हैं वे लौकान्तिक हैं, क्योंकि ये सब परीतसंसारी होते हैं । वहाँसे च्युत होकर और एक बार गर्भमें रहकर निर्वाणको प्राप्त होंगे ।

§ 490. सामान्यसे कहे गये उन लौकान्तिक देवोंके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्वतोय, तुषित, अव्याबाध और अनिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं ॥25॥

§ 491. क्व इमे सारस्वतादयः ? अष्टास्वपि पूर्वात्तरादिषु दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्याः । तद्यथा—पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्यां दिशि वह्निविमानम्, दक्षिणस्यां दिशि अरुणविमानम्, दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, अपरस्यां दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यां दिशि अव्याबाधविमानम्, उत्तरस्यां दिशि अरिष्टविमानम् । 'च' शब्दसमुच्चितास्तेषामन्तरेषु द्वौ देवगणौ । तद्यथा—सारस्वतादित्यान्तरे अन्याभसूर्याभाः । आदित्यस्य च वह्नेश्चान्तरे चन्द्राभसत्याभाः । वह्निचरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमकराः । अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्टकामचाराः गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिताः । तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः । अव्याबाधारिष्टान्तराले मरुत्वसवः । अरिष्टसारस्वतान्तराले अश्वविश्वाः । सर्वे एते स्वतन्त्राः; हीनाधिकत्वाभावात्, विषयरतिविरहाद्देवर्षयः, इतरेषां देवानामर्चनीयाः, चतुर्दशपूर्वधराः तीर्थकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरा वेदितव्याः ।

§ 492. आह, उक्ता लौकान्तिकास्ततश्च्युता एकं गर्भवासमवाप्य निर्वास्यन्तीत्युक्ताः । किमेवमन्येष्वपि निर्वाणप्राप्तिकालविभागो विद्यते । इत्यत आह—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥26॥

§ 493. 'आदि' शब्दः प्रकारार्थे वर्तते, तेन विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानुदिशविमानानामिष्टानां ग्रहणं सिद्धं भवति । कः पुनरत्र प्रकारः ? अहमिन्द्रत्वे सति सम्यग्बृष्ट्युपपादः । सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्ग इति चेत् । न; तेषां परमोत्कृष्टत्वात्, अन्वर्थसंज्ञात एकचरमत्वसिद्धेः । चरमत्वं

§ 491. शंका—ये सारस्वत आदिक कहाँ रहते हैं ? समाधान—पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओंमें क्रमसे ये सारस्वत आदि देवगण रहते हैं ऐसा जानना चाहिए । यथा—पूर्वोत्तर कोणमें सारस्वतोंके विमान हैं । पूर्व दिशामें आदित्योंके विमान हैं । पूर्व-दक्षिण दिशामें वह्नि-देवोंके विमान हैं । दक्षिण दिशामें अरुण विमान हैं । दक्षिण-पश्चिम कोनेमें गर्दतोयदेवोंके विमान हैं । पश्चिम दिशामें तुषितविमान हैं । उत्तर-पश्चिम दिशामें अव्याबाधदेवोंके विमान हैं । और उत्तर दिशामें अरिष्टदेवोंके विमान हैं । सूत्रमें 'च' शब्द है उससे इनके मध्यमें दो दो देवगण और हैं इसका समुच्चय होता है । यथा—सारस्वत और आदित्यके मध्यमें अन्याभ और सूर्याभ हैं । आदित्य और वह्नि के मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ हैं । वह्नि और अरुणके मध्यमें श्रेयस्कर और क्षेमकर हैं । अरुण और गर्दतोयके मध्यमें वृषभेष्ट और कामचार हैं । गर्दतोय और तुषितके मध्यमें निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित हैं । तुषित और अव्याबाधके मध्यमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित हैं । अव्याबाध और अरिष्टके मध्यमें मरुत् और वसु हैं । अरिष्ट और सारस्वतके मध्यमें अश्व और विश्व हैं । ये सब देव स्वतन्त्र हैं क्योंकि इनमें हीनाधिकता नहीं पायी जाती । विषय-रतिसे रहित होनेके कारण देवऋषि हैं । दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं । चौदह पूर्वोंके जाता हैं और वैराग्य कल्याणकके समय निर्वाण को संबोधन करनेमें तत्पर हैं ।

§ 492. लौकान्तिक देवोंका कथन किया और वहाँसे च्युत होकर तथा एक गर्भका धारण करके निर्वाणको प्राप्त होंगे यह भी कहा । क्या इसी प्रकार अन्य देवोंमें भी निर्वाणको प्राप्त होनेके कालमें भेद है ? अब इसी बातका ज्ञान कराने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विजयादिकमें दो चरमवाले देव होते हैं ॥26॥

§ 493. यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची है । इससे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिशोंका ग्रहण सिद्ध हो जाता है । शंका—यहाँ कौन-सा प्रकार लिया है ? समाधान—अहमिन्द्र होते हुए सम्यग्बृष्टियोंका उत्पन्न होना, यह प्रकार यहाँ लिया गया है । शंका—इससे

देहस्य मनुष्यभवापेक्षया । द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः । विजयादिभ्यश्च्युता अप्रतिपत्ति-
सम्भक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य ततश्च्युताः पुनर्मनुष्यभवमवाप्य सिद्धय-
न्तीति द्विचरमदेहत्वम् ।

§ 494. आह, जीवस्यौदयिकेषु भावेषु तिर्यग्योनिगतिरौदयिकीत्युक्तं, पुनश्च स्थितौ
'तिर्यग्योनिजानां च' इति । तत्र न ज्ञायते के तिर्यग्योनयः । इत्यत्रोच्यते—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥27॥

§ 495. औपपादिका उक्ता देवनारकाः । मनुष्याश्च निर्दिष्टाः 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः'
इति । एभ्योऽन्ये संसारिणो जीवाः शेषास्ते¹ तिर्यग्योनयो वेदितव्याः । तेषां तिरश्चां देवादीना-
मिव क्षेत्रविभागः पुनर्निर्दिष्टव्यः ? सर्वलोकव्यापित्वात्तेषां क्षेत्रविभागो नोक्तः ।

§ 496. आह, स्थितिरुक्ता नारकाणां मनुष्याणां तिरश्चां च । देवानां नोक्ता । तस्यां
वक्तव्यायामादावुद्दिष्टानां भवनवासिनां स्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

सर्वार्थसिद्धिका भी ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि वे परम उत्कृष्ट हैं । उनका
सर्वार्थसिद्धि यह सार्थक नाम है, इसलिए वे एक भवावतारी होते हैं । देहका चरमपना मनुष्य
भवकी अपेक्षा लिया है । जिसके दो चरम भव होते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं । जो विजयादिक-
से च्युत होकर और सम्यक्त्वको न छोड़कर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं और संयमकी आराधना
कर पुनः विजयादिकमें उत्पन्न होकर और वहाँसे च्युत होकर मनुष्य भवको प्राप्त करके सिद्ध
होते हैं । इस प्रकार यहाँ मनुष्य भवकी अपेक्षा द्विचरमपना है ।

विशेषार्थ—कोई-कोई विजयादिकके देव मनुष्य होते हैं । अनन्तर सौधर्म और ईशान
कल्पमें देव होते हैं । अनन्तर मनुष्य होते हैं । फिर विजयादिकमें देव होते हैं और अन्तमें वहाँसे
च्युत होकर मनुष्य होते हैं । तब कहीं मोक्ष जाते हैं । इस प्रकार इस विधिसे विचार करनेपर
मनुष्यके तीन भव हो जाते हैं । इसलिए मनुष्य भवकी अपेक्षा द्विचरमपना नहीं घटित होता ?
इसका समाधान यह है कि विजयादिकसे तो दो बार ही मनुष्य जन्म लेना पड़ता है, इसलिए
पूर्वोक्त कथन बन जाता है । ऐसा जीव यद्यपि मध्यमें एक बार अन्य कल्पमें हो आया है, पर
सूत्रकारने यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है । उनकी दृष्टि यही बतलानेकी रही है कि विजया-
दिकसे अधिकसे अधिक कितनी बार मनुष्य होकर जीव मोक्ष जाता है ।

§ 494. कहते हैं, जीवके औदयिक भावोंको बतलाते हुए तिर्यचगति औदयिकी कही
है । पुनः स्थितिका कथन करते समय 'तिर्यग्योनिजानां च' यह सूत्र कहा है । पर यह न जान
सके कि तिर्यच कौन हैं इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उपपाद जन्मवाले और मनुष्योंके सिवा शेष सब जीव तिर्यचयोनिवाले हैं ॥27॥

§ 495. औपपादिक देव और नारकी हैं यह पहले कह आये हैं । 'प्राङ्मानुषोत्तरा-
न्मनुष्याः' इसका व्याख्यान करते समय मनुष्योंका भी कथन कर आये हैं । इनसे अन्य जितने
संसारो जीव हैं उनका यहाँ शेष पदके द्वारा ग्रहण किया है । वे सब तिर्यच जानना चाहिए ।
शंका—जिस प्रकार देवादिकका पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है उसी प्रकार इनका क्षेत्र बतलाना
चाहिए ? समाधान—तिर्यच सब लोकमें रहते हैं, अतः उनका अलगसे क्षेत्र नहीं कहा ।

§ 496. नारकी, मनुष्य और तिर्यचोंकी स्थिति पहले कही जा चुकी है । परन्तु अभी
तक देवोंकी स्थिति नहीं कही है, अतः उसका कथन करते हुए सर्वप्रथम प्रारम्भमें कहे गये
भवनवासियोंकी स्थितिका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. शेषास्तिर्य- मु., वि. 2 ।

स्थितिरसुरनागसुपर्णाद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपत्योपमार्द्धहीनमिता ॥28॥

§ 497. असुरादीनां सागरोपमादिभिर्यथाक्रममत्राभिसंबन्धो वेदितव्यः । इयं स्थिति-
रुत्कृष्टा जघन्याप्युत्तरत्र वक्ष्यते । तद्यथा असुराणां सागरोपमा स्थितिः । नागानां त्रिपत्योप-
मानि¹ स्थितिः । सुपर्णानामर्द्धतृतीयानि । द्वीपानां द्वे । शेषाणां षण्णामर्द्धपत्योपमम् ।

§ 498. आद्यदेवनिकायस्थित्यभिधानादनन्तरं व्यन्तरज्योतिष्कस्थितिवचने क्रमप्राप्ते सति
तदुत्पत्त्ययं वैमानिकानां स्थितिरुच्यते । कुतः ? तयोत्तरत्र लघुनोपायेन स्थितिवचनात् । तेषु
चादानुद्दिष्टयोः कल्पयोः स्थितिविधानार्थमाह—

सौधर्मज्ञानयोः सागरोपमे अधिके ॥29॥

§ 499. 'सागरोपमे' इति द्विवचननिर्देशाद् द्वित्वगतिः । 'अधिके' इत्ययमधिकारः । आ
कुतः ? आ सहस्रारात् । इदं तु कुतो जायते ? उत्तरत्र 'तु' शब्दग्रहणात् । तेन सौधर्मज्ञानयोर्दे-
वानां द्वे सागरोपमे सातिरेके प्रत्येतव्ये ।

§ 500. उत्तरयोः स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥30॥

§ 501. अनयोः कल्पयोर्देवानां सप्तसागरोपमाणि साधिकानि उत्कृष्टा स्थितिः ।

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासियों की उत्कृष्ट
स्थिति क्रमसे एक सागरोपम, तीन पत्योपम, ढाई पत्योपम, दो पत्योपम और डेढ़ पत्योपम
होती है ॥28॥

§ 497. यहाँ सागरोपम आदि शब्दोंके साथ असुरकुमार आदि शब्दोंका क्रमसे सम्बन्ध
जान लेना चाहिए । यह उत्कृष्ट स्थिति है । जघन्य स्थिति भी आगे कहेंगे । वह उत्कृष्ट स्थिति
इस प्रकार है—असुरोंकी स्थिति एक सागरोपम है । नागकुमारोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्यो-
पम है । सुपर्णोंकी उत्कृष्ट स्थिति ढाई पत्योपम है । द्वीपोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो पत्योपम है ।
और शेष छह कुमारोंकी उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पत्योपम है ।

§ 498. देवोंके प्रथम निकायकी स्थिति कहनेके पश्चात् व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी
स्थिति क्रमप्राप्त है, किन्तु उसे छोड़कर वैमानिकोंकी स्थिति कहते हैं; क्योंकि व्यन्तर और ज्योति-
षियोंकी स्थिति आगे थोड़में कही जा सकेगी । वैमानिकोंमें आदिमें कहे गये दो कल्पोंकी स्थिति-
का कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान कल्पमें दो सागरोपमसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है ॥29॥

§ 499. सूत्रमें 'सागरोपमे' यह द्विवचन प्रयोग किया है उससे दो सागरोपमोंका ज्ञान
होता है । 'अधिके' यह अधिकार वचन है । शंका—इसका कहाँतक अधिकार है ? समाधान—
सहस्रार कल्प तक । शंका—यह कैसे जाना जाता है ? समाधान—अगले सूत्रमें जो 'तु' पद दिया
है उससे जाना जाता है । इससे यह निश्चित होता है कि सौधर्म और ऐशान कल्पमें दो साग-
रोप से कम अधिक स्थिति है ।

§ 500. अब आगेके दो कल्पोंमें स्थिति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें सात सागरोपमसे कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है ॥30॥

§ 501. इन दो कल्पोंमें देवोंकी साधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ।

§ 502. ब्रह्मलोकादिविच्युतावसानेषु स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

त्रिसप्ततनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥31॥

§ 503. 'सप्त'ग्रहणं प्रकृतम् । तस्येह त्र्याविभिर्निदिष्टैरभिसंबन्धो वेदितव्यः । सप्त त्रिभिरधिकानि, सप्त सप्तभिरधिकानीत्यादिः । द्वयोर्द्वयोरभिसंबन्धो वेदितव्यः । 'तु'शब्दो विशेष-
गार्थः । किं विशिनष्टि ? 'अधिक'शब्दोऽनुवर्तमानश्चतुर्भिर'भिसंबध्यते नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो
विशिष्यते । तेनायमर्थो भवति—ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्दशसागरोपमाणि साधिकानि । लान्तवका-
पिष्ठयोश्चतुर्दशसागरोपमाणि साधिकानि । शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसागरोपमाणि साधिकानि ।
शतारसहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि । आनतप्राणतयोर्विशतिसागरोपमाणि ।
आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिसागरोपमाणि ।

§ 504. तत ऊर्ध्वं स्थितिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकैषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥32॥

§ 505. 'अधिक'ग्रहणमनुवर्तते । तेनेहाभिसंबन्धो वेदितव्यः । एकैकेनाधिकानीति ।

§ 502. अब ब्रह्मलोकसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पोंमें स्थिति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगलसे लेकर प्रत्येक युगलमें आरण-अच्युत तक क्रमसे साधिक तीनसे अधिक सात सागरोपम, साधिक सातसे अधिक सात सागरोपम, साधिक नौसे अधिक सात सागरोपम, साधिक ग्यारहसे अधिक सात सागरोपम, तेरहसे अधिक सात सागरोपम और पन्ध्रह-
से अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ॥31॥

§ 503. यहाँ पिछले सूत्रसे 'सप्त' पदका ग्रहण प्रकृत है । उसका यहाँ तीन आदि निदिष्ट संख्याओं के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए । यथा—तीन अधिक सात, सात साधिक सात आदि । तथा इनका क्रमसे दो दो कल्पोंके साथ सम्बन्ध जानना चाहिए । सूत्रमें 'तु' शब्द विशेषताके दिखलानेके लिए आया है । शंका—इससे क्या विशेषता मालूम पड़ती है ? समा-
धान—इससे यहाँ यह विशेषता मालूम पड़ती है कि अधिक शब्दकी अनुवृत्ति होकर उसका सम्बन्ध त्रि आदि चार शब्दोंसे ही होता है, अन्तके दो स्थितिविकल्पोंसे नहीं । इससे यहाँ यह अर्थ प्राप्त हो जाता है, ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तरमें साधिक दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । लान्तव और कापिष्ठमें साधिक चौदहसागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । शुक्र और महाशुक्रमें साधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । शतार और सहस्रारमें साधिक अठारह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । आनत और प्राणतमें बीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण और अच्युतमें बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ।

§ 504. अब इसके आगेके विमानोंमें स्थितिविशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आरण-अच्युतके ऊपर नौ ग्रैवेयकमें-से प्रत्येकमें नौ अनुदिशमें, चार विजयादिकमें एक-
एक सागरोपम अधिक उत्कृष्ट स्थिति है । तथा सर्वार्थसिद्धिमें पूरी तैत्तिरीय सागरोपम स्थिति है ॥32॥

§ 505. पूर्व सूत्रसे अधिक पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए यहाँ इस प्रकार सम्बन्ध

1. -तुर्भिरिह सम्ब- आ. 1, दि. 2 ।

‘नव’ ग्रहणं किमर्थम् ? प्रत्येकमेकैकमधिकमिति ज्ञापनार्थम् । इतरथा हि ग्रंथेयकेष्वेकमेवाधिकं स्यात् । विजयादिष्विति ‘आदि’शब्दस्य प्रकारार्थत्वादनुदिशानामपि ग्रहणम् । सर्वार्थसिद्धेस्तु पृथग्ग्रहणं जघन्याभावप्रतिपादनार्थम् । तेनायमर्थः, अधोग्रंथेयकेषु प्रथमे त्रयोविंशतिः, द्वितीये चतुर्विंशतिः, तृतीये पञ्चविंशतिः । मध्यमग्रंथेयकेषु प्रथमे षड्विंशतिः द्वितीये सप्तविंशतिः तृतीयेऽष्टाविंशतिः । उपरिमग्रंथेयकेषु प्रथमे एकोनविंशत् द्वितीये त्रिंशत् तृतीये एकविंशत् । अनुदिशविमानेषु द्वाविंशत् । विजयादिषु त्रयोविंशत्सागरोपमण्युत्कृष्टा स्थितिः । सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिंशदेवेति ।

§ 506. निर्विडोत्कृष्टस्थितिकेषु देवेषु जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

अपरा पत्योपममधिकम् ॥33॥

§ 507. पत्योपमं व्याख्यातम् । अपरा जघन्या स्थितिः । पत्योपमं साधिकम् । केषाम् ? सौधर्मशान्तीयानाम् । कथं भव्यते ? ‘परतः परतः’ इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् ।

§ 508. सत उर्ध्वं जघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा ॥34॥

करना चाहिए कि एक-एक सागरोपम अधिक है । शंका—सूत्रमें ‘नव’ पदका ग्रहण किसलिए किया ? समाधान—प्रत्येक ग्रंथेयकमें एक-एक सागरोपम अधिक उत्कृष्ट स्थिति है इस बातका ज्ञान करानेके लिए ‘नव’ पदका अलगसे ग्रहण किया है । यदि ऐसा न करते तो सब ग्रंथेयकोंमें एक सागरोपम अधिक स्थिति ही प्राप्त होती । ‘विजयादिषु’ में आदि शब्द प्रकारवाची है जिससे अनुदिशोंका ग्रहण हो जाता है । सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं है यह बतलानेके लिए ‘सर्वार्थ-सिद्धि’ पदका अलगसे ग्रहण किया है । इससे यह अर्थ प्राप्त हुआ कि अधोग्रंथेयकमेंसे प्रथममें तेईस सागरोपम, दूसरेमें चौबीस सागरोपम और तीसरेमें पचवीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । मध्यम ग्रंथेयकमेंसे प्रथममें छब्बीस सागरोपम, दूसरेमें सत्ताईस सागरोपम और तीसरेमें अट्ठाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । उपरिम ग्रंथेयकमेंसे पहलेमें उनतीस सागरोपम, दूसरेमें तीस सागरोपम और तीसरेमें इकतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । अनुदिश विमानोंमें बत्तीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । विजयादिकमें तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है और सर्वार्थ-सिद्धिमें तेतीस सागरोपम ही स्थिति है । यहाँ उत्कृष्ट और जघन्यका भेद नहीं है ।

§ 506. जिनमें उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं उनमें जघन्य स्थिति का कथन करने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान कल्पमें जघन्य स्थिति साधिक एक पत्योपम है ॥33॥

§ 507. पत्योपमका व्याख्यान कर आये । यहाँ ‘अपरा’ पदसे जघन्य स्थिति ली गयी है जो साधिक एक पत्योपम है । शंका—यह जघन्य स्थिति किनकी है ? समाधान—सौधर्म और ऐशान कल्पके देवोंकी । शंका—कैसे जाना जाता है ? समाधान—जो पूर्व-पूर्व देवों की उत्कृष्ट स्थिति है वह अगले-अगले देवों की जघन्य स्थिति है यह आगे कहनेवाले हैं इससे जाना जाता है कि यह सौधर्म और ऐशान कल्पके देवों की जघन्य स्थिति है ।

§ 508. अब सौधर्म और ऐशान कल्पसे आगेके देवोंकी जघन्य स्थितिका प्रतिपादन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आगे-आगे पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर-अनन्तरकी जघन्य स्थिति है ॥34॥

§ 509. परस्मिन्देशे परतः । वीप्सायां द्वित्वम् । 'पूर्व' शब्दस्यापि । 'अधिक' ग्रहणमनुवर्तते । तेनैवमभिसंबन्धः क्रियते—सौधर्मेशानयोर्द्वे सागरोपमे साधिके उक्ते, ते साधिके सानत्कुमार-माहेन्द्रयोर्जघन्या स्थितिः । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः परा स्थितिः सन्तसागरोपमाणि साधिकानि, तानि साधिकानि ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्जघन्या स्थितिरित्यादि ।

§ 510. नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिस्तथा । जघन्यां सूत्रेऽनुपात्तामप्रकृतामपि लघुनोपायेन प्रतिपादयितुमिच्छन्माह—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥35॥

§ 511. 'च' शब्दः किमर्थः ? प्रकृतसमुच्चयार्थः । किं च प्रकृतम् ? 'परतः परतः पूर्वापूर्वा-जनन्तरा' अपरा स्थितिरिति । तेनायमर्थो लभ्यते—रत्नप्रभायां नारकाणां परा स्थितिरेकं साग-रोपम् । सा शर्कराप्रभायां जघन्या । शर्कराप्रभायामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रीणि सागरोपमाणि । सा बालुकाप्रभायां जघन्येत्यादि ।

§ 512. एवं द्वितीयादिषु जघन्या स्थितिस्तथा । प्रथमायां का जघन्येति तत्प्रवर्णनार्थमाह-
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥36॥

§ 513. अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते² । रत्नप्रभायां दशवर्षसहस्राणि अपरा स्थितिर्वै कितव्या ।

§ 509. यहाँ 'परतः' पदका अर्थ 'पर स्थानमें' लिया गया है । तथा द्वित्व वीप्सा रूप अर्थमें आया है । इसी प्रकार 'पूर्व' शब्द को भी वीप्सा अर्थमें द्वित्व किया है । अधिक पदकी यहाँ अनुवृत्ति होती है । इसलिए इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि सौधर्म और ऐशान कल्पमें जो साधिक दो सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है उसमें एक समय मिला देने पर वह सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पमें जघन्य स्थिति होती है । सानत्कुमार और माहेन्द्रमें जो साधिक सात साग-रोपम उत्कृष्ट स्थिति कही है उसमें एक समय मिला देने पर वह ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में जघन्य स्थिति होती है इत्यादि ।

§ 510. नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं पर सूत्र-द्वारा अभी जघन्य स्थिति नहीं कही है । यद्यपि उसका प्रकरण नहीं है तो भी यहाँ उसका थोड़ेमें कथन हो सकता है इस इच्छासे आचार्यने आगेका सूत्र कहा है—

दूसरी आदि भूमियोंमें नारकोंकी पूर्व-पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर-अनन्तरकी जघन्य स्थिति है ॥35॥

§ 511. शंका—सूत्रमें 'च' शब्द किसलिए दिया है ? समाधान—प्रकृत विषयका समु-च्चय करनेके लिए 'च' शब्द दिया है । शंका—क्या प्रकृत है ? समाधान—'परतः परतः पूर्वा पूर्वाजनन्तरा अपरा स्थितिः' यह प्रकृत है अतः 'च' शब्द से इसका समुच्चय हो जाता है । इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि रत्नप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति जो एक सागरोपम है वह शर्कराप्रभामें जघन्य स्थिति है । शर्कराप्रभामें उत्कृष्ट स्थिति जो तीन सागरोपम है वह बालुका प्रभामें जघन्य स्थिति है इत्यादि ।

§ 512. इस प्रकार द्वितीयादि नरकोंमें जघन्य स्थिति कही । प्रथम नरकमें जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रथम भूमिमें दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥36॥

§ 513. इस सूत्रमें 'अपरा स्थितिः' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । तात्पर्य यह है कि रत्नप्रभा पृथिवीमें दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ।

1. तानि ब्रह्म-मु. ता. । 2. -र्तते । अथ भवन- आ., दि. 1, दि. 2 ।

§ 514. अयं भवनवासिनां का जघन्या स्थितिरित्यत आह—

भवेनेषु च ॥37॥

§ 515. 'च' शब्द किमर्थः ? प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेन भवनवासिनामपरा स्थितिर्दशवर्ष-सहस्राणीत्यभिसंबध्यते ।

§ 516. व्यन्तराणां तर्हि का जघन्या स्थितिरित्यत आह—

व्यन्तराणां च ॥38॥

§ 517. 'च'शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेन व्यन्तराणामपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीत्यव-गम्यते ।

§ 518. अर्थेषां परा स्थितिः का इत्यत्रोच्यते—

परा पत्योपममधिकम् ॥39॥

§ 519. परा उत्कृष्टा स्थितिर्व्यन्तराणां पत्योपममधिकम् ।

§ 520. इदानीं ज्योतिष्काणां परा स्थितिर्वक्तव्येत्यत आह—

ज्योतिष्काणां च ॥40॥

§ 521. 'च'शब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेनैवमभिसंबन्धः । ज्योतिष्काणां परा स्थितिः पत्योपममधिकमिति ।

§ 522. अथापरा कियतीत्यत आह—

§ 514. अब भवनवासियोंकी जघन्य स्थिति कितनी है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भवनवासियों में भी दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥37॥

§ 515. शंका—सूत्रमें 'च' शब्द किसलिए दिया है ? समाधान—प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए । इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि भवनवासियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है ।

§ 516. तो व्यन्तरीकी जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्यन्तरी की दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है ॥38॥

§ 517. सूत्रमें 'च' शब्द प्रकृत विषयका समुच्चय करनेके लिए दिया है । इससे ऐसा अर्थ घटित होता है कि व्यन्तरीकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है ।

§ 518. अब व्यन्तरी की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है यह बतलाने के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

और उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्योपम है ॥39॥

§ 519. पर शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है । तात्पर्य यह है कि व्यन्तरी की उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्योपम है ।

§ 520. अब ज्योतिषियों की स्थिति कहनी चाहिए, अतः आगे का सूत्र कहते हैं—

ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्योपम है ॥40॥

§ 521. सूत्रमें 'च' शब्द प्रकृतका समुच्चय करनेके लिए दिया है । इससे यह अर्थ घटित होता है कि ज्योतिषियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्योपम है ।

§ 522. ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति कितनी है अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तदष्टभागोऽपरा ॥41॥

§ 523. तस्य पत्योपमस्याष्टभागो ज्योतिष्काणामपरा स्थितिरित्यर्थः ।

§ 524. अथ लौकान्तिकानां विशेषोक्तानां स्थितिर्विशेषो नोक्तः । स कियानित्य-
ब्रूयते—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥42॥

§ 525. अविशिष्टाः सर्वे ते शुक्ललेश्याः पञ्चहस्तोत्सेधशरीराः¹ ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥4॥

ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति उत्कृष्ट स्थितिका आठवां भाग है ॥41॥

§ 523. इस सूत्रका यह भाव है कि उसका अर्थात् पत्योपमका आठवां भाग ज्योति-
षियोंकी जघन्य स्थिति है ।

§ 524. विशेषरूपमें कहे गये लौकान्तिक देवोंकी स्थिति नहीं कही है । वह कितनी है
अब यह बतलाते हैं—

सब लौकान्तिकोंकी स्थिति आठ सागरोपम है ॥42॥

§ 525. इन सब लौकान्तिकोंकी शुक्ल लेश्या होती है । और शरीरकी ऊँचाई पाँच
हाथ होती है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामवाली तत्त्वार्थवृत्तिमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥4॥

1. शरीराः । चतुर्णिकायदेवानां स्थानं भेदः सुखादिकम् । परांपरा स्थितिलेश्या तुर्याध्याये निरूपितम् ॥ इति
तत्त्वा- मु., दि. 1, मि. 2, आ. ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

§ 526. इदानीं सम्प्रदर्शनस्य विषयभावेनोपक्षिप्तेषु जीवादिषु जीवपदार्थो व्याख्यातः । अथाजीवपदार्थो विचारप्राप्तस्य संज्ञाभेदसंकीर्तनार्थमिदमुच्यते—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

§ 527. 'काय'शब्दः शरीरे व्युत्पादितः । इहोपचारादध्यारोप्यते । कुत उपचारः ? यथा शरीरं पुद्गलद्रव्यप्रचयात्मकं तथा धर्मादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया काया इव काया इति । अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः "विशेषणं विशेष्येणेति^१" वृत्तिः । ननु च नीलोत्पलादिषु व्यभिचारे सति विशेषणविशेष्ययोगः । इहापि व्यभिचारयोगोऽस्ति । अजीवशब्दोऽकाये कालेऽपि वर्तते, कायोऽपि जीवे । किमर्थः कायशब्दः ? प्रदेशबहुत्वज्ञापनार्थः । धर्मादीनां प्रदेशा बहव इति । ननु च 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' इत्यनेनैव प्रदेशबहुत्वं ज्ञापितम् । ^२सत्यमिदम् । परं किन्त्वस्मिन्विधौ सति तदवधारणं विज्ञायते, असंख्येयाः प्रदेशा न संख्येया नाप्यनन्ता इति । ^३कालस्य प्रदेशप्रचयाभावज्ञापनार्थं च इह 'काय'ग्रहणम् । कालो वक्ष्यते । तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह

§ 526. सम्प्रदर्शनके विषयरूपसे जो जीवादि पदार्थ कहे हैं उनमें-से जीव पदार्थका व्याख्यान किया । अब अजीव पदार्थका व्याख्यान विचार प्राप्त है अतः उसकी संज्ञा और भेदों-का कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीवकाय हैं ॥१॥

§ 527. व्युत्पत्तिसे काय शब्दका अर्थ शरीर है तो भी इन द्रव्योंमें उपचारसे उसका आरोप किया है । शंका—उपचारका क्या कारण है ? समाधान—जिस प्रकार शरीर पुद्गल द्रव्यके प्रचयरूप होता है उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य भी प्रदेशप्रचयकी अपेक्षा कायके समान होने से काय कहे गये हैं । अजीव और काय इनमें कर्मधारय समास है जो 'विशेषणं विशेष्येण' इस सूत्रसे हुआ है । शंका—नीलोत्पल इत्यादिमें नील और उत्पल इन दोनों का व्यभिचार देखा जाता है अतः वहाँ विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध किया गया है, किन्तु अजीवकायमें विशेषणविशेष्य सम्बन्ध करनेका क्या कारण है ? समाधान—अजीवकायका यहाँ भी व्यभिचार देखा जाता है क्योंकि अजीव शब्द कालमें भी रहता है जो कि काय नहीं है और काय शब्द जीवमें रहता है, अतः इस दोषके निवारण करनेके लिए यहाँ विशेषणविशेष्य सम्बन्ध किया है । शंका—काय शब्द किसलिए दिया है ? समाधान—प्रदेश बहुत्वका ज्ञान करानेके लिए । धर्मादिक द्रव्योंके बहुत प्रदेश हैं यह इससे जाना जाता है । शंका—आगे यह सूत्र आया है कि 'धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं' इसीसे इनके बहुत प्रदेशोंका ज्ञान हो जाता है फिर यहाँ कायशब्दके देनेकी क्या आवश्यकता ? समाधान—यह ठीक है । तो भी इस कथनके होनेपर उस सूत्रसे प्रदेशों-के विषयमें यह निश्चय किया जाता है कि इन धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेश असंख्यात हैं, न संख्यात हैं और न अनन्त । दूसरे काल द्रव्यमें प्रदेशोंका प्रचय नहीं है यह ज्ञान कराने के लिए इस सूत्रमें 'काय' पदका ग्रहण किया है । कालका आगे व्याख्यान करेंगे । उसके प्रदेशोंका निषेध करनेके लिए

1. जैनेन्द्र. 113148 । 2. सत्यं अस्मिन् ता, ना. । 3. कालप्रदेश- आ., वि. 1, दि. 2 ।

‘काय’ग्रहणम् । यथाऽणोः प्रदेशमात्रत्वाद् द्वितीयादयोऽस्य^१ प्रदेशा न सन्तीत्यप्रदेशोऽणुः, तथा कालपरमाणुरप्येकप्रदेशत्वादप्रदेश इति । तेषां धर्मादीनाम् ‘अजीव’ इति सामान्यसंज्ञा जीव-लक्षणाभावमुखेन प्रवृत्ता । ‘धर्माधर्मकार्शपुद्गलाः’ इति विशेषसंज्ञाः सामयिक्यः ।

§ 528. अत्राह, ‘सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य’ इत्येवमादिषु द्रव्याण्युक्तानि, कानि तानीत्युच्यते—

द्रव्याणि ॥2॥

§ 529. यथास्वं पर्यायैर्द्रव्यन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि । द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यमिति चेत् ? न; उभयासिद्धेः । यथा दण्डदण्डिनोर्योगो भवति पृथक्सिद्धयोः, न च तथा द्रव्यद्रव्यत्वे पृथक्सिद्धे स्तः । यद्यपृथक्सिद्धयोरपि योगः स्यादाकाशकुसुमस्य प्रकृत^३पुरुषस्य द्वितीयशिरसश्च योगः स्यादिति । अथ पृथक्सिद्धिरभ्युपगम्यते, द्रव्यत्वकल्पना निरर्थिका । गुणसमुदायो^४ द्रव्यमिति चेत् ? तत्रापि गुणानां समुदायस्य च भेदाभावे तद्^५ व्यपदेशो नोपपद्यते । भेदान्मुपगमे च पूर्वोक्त एव दोषः । ननु गुणान्द्रवन्ति^६ गुणैर्वा द्रवन्ति^७ इति विग्रहेऽपि स एव दोष इति चेत् ? न; कथंचिद्-

यहाँ ‘काय’ शब्दका ग्रहण किया है । जिस प्रकार अणु एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसके द्वितीय आदि प्रदेश नहीं होते इसलिए अणुको अप्रदेशी कहते हैं उसी प्रकार काल परमाणु भी एकप्रदेश-रूप होनेके कारण अप्रदेशी है । धर्मादिक द्रव्योंमें जीवका लक्षण नहीं पाया जाता, इसलिए उनकी अजीव यह सामान्य संज्ञा है । तथा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये उनकी विशेष संज्ञाएँ हैं जो कि यौगिक हैं ।

§ 528. ‘सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य’ इत्यादि सूत्रोंमें द्रव्य कह आये हैं । वे कौन हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ये धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल द्रव्य हैं ॥2॥

§ 529. द्रव्य शब्दमें ‘द्रु’ धातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है । इससे द्रव्य शब्द-का व्युत्पत्तिरूप अर्थ इस प्रकार हुआ कि जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायोंको प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं । शंका—द्रव्यत्व नामकी एक जाति है उसके सम्बन्धसे द्रव्य कहना ठीक है । समाधान—नहीं, क्योंकि इस तरह दोनों की सिद्धि नहीं होती । जिस प्रकार दण्ड और दण्डी ये दोनों पृथक् सिद्ध हैं अतः उनका सम्बन्ध बन जाता है उस प्रकार द्रव्य और द्रव्यत्व ये अलग-अलग सिद्ध नहीं हैं । यदि अलग-अलग सिद्ध न होनेपर भी इनका सम्बन्ध माना जाता है तो आकाश-कुसुम का और प्रकृत पुरुषके दूसरे शिरका भी सम्बन्ध मानना पड़ेगा । यदि इनकी पृथक् सिद्धि स्वीकार करते हो तो द्रव्यत्वका अलगसे मानना निष्फल है । गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं यदि ऐसा मानते हो तो यहाँ भी गुणोंका और समुदायका भेद नहीं रहनेपर पूर्वोक्त संज्ञा नहीं बन सकती है । यदि भेद माना जाता है तो द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है इसमें जो दोष दे आये हैं वही दोष यहाँ भी प्राप्त होता है । शंका—जो गुणोंको प्राप्त हों या गुणोंके द्वारा प्राप्त हों उन्हें द्रव्य कहते हैं, द्रव्यका इस प्रकार विग्रह करनेपर भी वही दोष प्राप्त होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि कथंचित् भेद और कथंचित् अभेदके बन जानेसे द्रव्य इस संज्ञाकी सिद्धि हो जाती है । गुण और द्रव्य ये एक दूसरेको छोड़कर नहीं पाये

1. योज्य न मु. । 2. धर्मोऽधर्म आकाश पुद्गलाः इति आ., दि. 1, दि. 2 । 3. प्रकृतपुरुषद्वितीय-आ., दि. 1, दि.2, ता. । प्रकृतिपुरुषस्य द्वितीय- मु. । 4. गुणसंज्ञावो द्रव्य- आ., दि. 1 दि. 2, ता., ना. । 5. तद्द्रव्यव्यप- मु. । 6. द्रवन्ति आ., दि. 1, दि. 2 । 7. द्रूयते आ., दि. 1, दि. 2 ।

भेदाभेदोपपत्तेस्तद्द्रव्यपदेशसिद्धिः । व्यतिरेकेणानुपलब्धेरभेदः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदाद् भेद इति । प्रकृता धर्मादयो बहवस्तत्सामानाधिकरण्याद् बहुत्वनिर्देशः । स्यादेतत्संस्थानुवृत्तिवत्पुल्लिङ्गानुवृत्तिरपि प्राप्नोति ? नैष दोषः; आविष्टलिङ्गाः शब्दा न कदाचिद्विज्ञां व्यभिचरन्ति¹ । अतो धर्मादयो द्रव्याणि भवन्तीति ।

§ 530. अनन्तरत्वाच्चतुणमिव द्रव्यव्यपदेशप्रसंगेऽध्यारोपणार्थमिदमुच्यते—

जीवाश्च ॥3॥

§ 531. 'जीव'शब्दो व्याख्यातार्थः । बहुत्वनिर्देशो व्याख्यातभेदप्रतिपत्त्यर्थः । 'च'²शब्दः द्रव्यसंज्ञानुकर्षणार्थः जीवाश्च द्रव्याणीति । एवमेतानि वक्ष्यमाणेन कालेन सह षड् द्रव्याणि भवन्ति । ननु द्रव्यस्य लक्षणं वक्ष्यते 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति । तल्लक्षणयोगाद्धर्मादीनां द्रव्य-व्यपदेशो भवति, नार्थः परिगणनेन ? परिगणनमवधारणार्थम् । तेनाप्यवादिपरिकल्पितानां पृथिव्यादीनां निवृत्तिः कृता भवति । कथम् ? पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि पुद्गलद्रव्येऽस्तभवंति; रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वात्³ । वायुमनसो रूपादियोगाभाव इति चेत् ? न; वायुस्तावद्रूपाविमान्; स्पर्शवत्त्वाद्घटादिवत् । चक्षुरादिकरणग्राह्यत्वाभावाद्रूपाद्यभाव इति⁴ चेत् ? न; परमाण्वादि-

जाते, इसलिए तो इनमें अभेद है । तथा संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद होनेसे इनमें भेद है । प्रकृत धर्मादिक द्रव्य बहुत हैं, इसलिए उनके साथ समानाधिकरण करनेके अभि-प्रायसे 'द्रव्याणि' इस प्रकार बहुवचनरूप निर्देश किया है । शंका—जिस प्रकार यहाँ स्रष्टाकी अनुवृत्ति प्राप्त हुई है उसी प्रकार पुल्लिङ्गको भी अनुवृत्ति प्राप्त होती है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिस शब्दका जाँ लिंग है वह कभी भी अपने लिंगका त्याग करके अन्य लिंगके द्वारा व्यवहृत नहीं होता, इसलिए 'धर्मादयो द्रव्याणि भवन्ति' ऐसा सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए ।

§ 530. अव्यवहित होनेके कारण धर्मादिक चारको ही द्रव्य संज्ञा प्राप्त हुई, अतः अन्यका अध्यारोप करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जीव भी द्रव्य हैं ॥3॥

§ 531. जीव शब्दका व्याख्यान कर आये । सूत्रमें जो बहुवचन दिया है वह जीव द्रव्यके कहे गये भेदोंके दिखलानेके लिए दिया है । 'च' शब्द द्रव्य संज्ञाके खींचनेके लिए दिया है जिससे 'जीव भी द्रव्य हैं' यह अर्थ फलित हो जाता है । इस प्रकार ये पाँच आगे कहे जानेवाले कालके साथ छह द्रव्य होते हैं । शंका—आगे 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र-द्वारा द्रव्यका लक्षण कहेंगे, अतः लक्षणके सम्बन्धसे धर्मादिकको 'द्रव्य' संज्ञा प्राप्त हो जाती है फिर यहाँ उनकी अलगसे गिनती करनेका कोई कारण नहीं ? समाधान—गिनती निश्चय करनेके लिए की है । इससे अन्यवादियोंके द्वारा माने गये पृथिवी आदि द्रव्योंका निराकरण हो जाता है । शंका—कैसे ? समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इनका पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि ये रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले होते हैं । शंका—वायु और मनमें रूपादिक नहीं हैं ? समाधान—नहीं, क्योंकि वायु रूपादिवाला है, स्पर्शवाला होनेसे, घटके समान । इस अनुमानके द्वारा वायुमें रूपादिकका सिद्धि होती है । शंका—चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा वायुका ग्रहण नहीं होता, इसलिए उसमें रूपादिकका अभाव है ? समाधान—नहीं; क्योंकि इस प्रकार

1. --चरन्ति, अनन्तरत्वात् ता., ना. । 2. च शब्दः संज्ञा—मु. । 3. द्रव्यत्वव्यप—मु. । 4. 'पृथिव्याप स्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।'—वै. सू. 1-1, 5 । 5. —त्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत् । वायु—मु., ता., ना. ।

व्यतिप्रसङ्गः स्यात् । आपो गन्धवत्यः ; स्पर्शवत्त्वात्पृथिवीवत् । तेजोऽपि रसगन्धवद् ; रूपवत्त्वात् तद्वदेव । मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र भावमनो ज्ञातम् ; तस्य जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भावः । द्रव्यमनश्च रूपादियोगात्पुद्गलद्रव्यविकारः । रूपादिब्रह्मनः, ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत् । ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनाद् व्यभिचारी हेतुरिति चेत् ? न ; तस्य पौद्गलिकत्वान्मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः । ननु यथा परमाणूनां रूपादिमत्कार्यदर्शनाद्रूपादिमत्त्वं न तथा वायुमनसो रूपादिसत्कार्यं दृश्यते¹ इति चेत् ? न ; तेषामपि तदुपपत्तेः । सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्यत्वान्मुपगमात् । न च केचित्पाथिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति ; जातिसंकरेणारम्भदर्शनात् । दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः, आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इवमिति व्यवहारोपपत्तेः ।

माननेपर परमाणु आदिमें अतिप्रसंग दोष आता है । अर्थात् परमाणु आदिको भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण करती, इसलिए उनमें भी रूपादिकका अभाव मानना पड़ेगा । इसी प्रकार जल गन्धवाला है, स्पर्शवाला होनेसे, पृथिवीके समान । अग्नि भी रस और गन्धवाली है, रूपवाली होनेसे, पृथिवीके समान । मन भी दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन । उनमेंसे भावमन ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान जीवका गुण है, इसलिए इसका आत्मामें अन्तर्भाव होता है । तथा द्रव्यमनमें रूपादिक पाये जाते हैं, अतः वह पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है । यथा—मन रूपादिवाला है, ज्ञानोपयोगका करण होनेसे, चक्षु इन्द्रियके समान । शंका—शब्द अमूर्त होते हुए भी उसमें ज्ञानोपयोगकी करणता देखी जाती है, अतः मनको रूपादिवाला सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है ? समाधान—नहीं, क्योंकि शब्द पौद्गलिक है, अतः उसमें मूर्तपना बन जाता है । शंका—जिस प्रकार परमाणुओंके रूपादि गुणवाले कार्य देखे जाते हैं अतः वे रूपादिवाले सिद्ध होते हैं उस प्रकार वायु और मनके रूपादि गुणवाले कार्य नहीं दिखाई देते ? समाधान—नहीं, क्योंकि वायु और मनके भी रूपादि गुणवाले कार्य सिद्ध हो जाते हैं ; क्योंकि सब परमाणुओंमें सब रूपादि गुणवाले कार्योंके होनेकी योग्यता मानी है । कोई पाथिव आदि भिन्न-भिन्न जातिके अलग-अलग परमाणु हैं, यह बात नहीं है, क्योंकि जातिका संकर होकर सब कार्योंका आरम्भ देखा जाता है । इसी प्रकार दिशाका भी आकाशमें अन्तर्भाव होता है, क्योंकि सूर्यके उदयादिककी अपेक्षा आकाश प्रदेशपङ्क्तियोंमें यहाँसे यह दिशा है इस प्रकारके व्यवहारकी उत्पत्ति होती है ।

विशेषार्थ—जातिकी अपेक्षा ये जीव पुद्गलादि जितने पदार्थ हैं वे सब द्रव्य कहलाते हैं । द्रव्य इस शब्दमें दो अर्थ छिपे हुए हैं—द्रवणशीलता और ध्रुवता । जगत्का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है, इसलिए उसे द्रव्य कहते हैं । आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों और पर्यायोंका कभी भी उल्लंघन नहीं करता । उसके प्रवाहित होनेकी नियत धारा है जिसके आश्रयसे वह प्रवाहित होता रहता है । द्रव्य इस शब्दका उपयोग हमें जैन दर्शनके सिद्धांत वैशेषिक दर्शनमें विशेष रूपसे व्यवहृत दिखाई देता है । वैशेषिकदर्शनमें गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् और सामान्य-विशेषमें सर्वथा भेद माना गया है, इसलिए वह द्रव्यत्वके सम्बन्धसे द्रव्य होता है, द्रव्य शब्दका ऐसा अर्थ करता है, किन्तु उसका यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि द्रव्यत्व नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ अनुभवमें नहीं आता । इस दर्शनने द्रव्यके पृथ्वी, जल अग्नि, वायु,

1. इति चेत्पर-- मु., आ. दि. 1, दि. 2 । 2. --योगकरणत्व-- मु. । 3. --कार्यत्वदर्श-- मु. । 4. दृश्यते न तेषा-- आ., दि. 1, दि. 2 । 5. तदुत्पत्तेः मु. ।

§ 532. उक्तानां द्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥4॥

§ 533. नित्यं ध्रुवमित्यर्थः । 'नेध्रुवे^१ त्यः' इति निष्पादितत्वात् । धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादिविशेषलक्षणद्रव्यार्थादेशादस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न व्ययन्तीति नित्यानि । वक्ष्यते हि 'तदभावाव्ययं नित्यम्' इति । इयत्ताऽव्यभिचारवस्थितानि । धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते । ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते । न विद्यते रूपमेषामित्यरूपाणि, रूपप्रतिषेधे^३ तत्सहचारिणां रसादीनामपि प्रतिषेधः । तेन अरूपाण्य-मूर्तानीत्यर्थः ।

§ 534. यथा सर्वेषां द्रव्याणां 'नित्यावस्थितानि' इत्येतत्साधारणं लक्षणं^४ प्राप्तं तथा पुद्गलानामपि अरूपित्वं प्राप्तम्, अतस्तदपवादार्थमाह—

रूपिणः पुद्गलाः ॥5॥

मन, दिशा आदि अनेक भेद किये हैं, किन्तु विचार करनेपर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका अन्तर्भाव पुद्गलमें हो जाता है । पुद्गलका स्वरूप आगे बतलानेवाले हैं । वहाँ उसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाला बतलाया है । पृथ्वी जलादि जो पदार्थ पहले कह आये हैं, उन सबमें ये स्पर्शादिक उपलब्ध होते हैं यह निर्विवाद है । मनके दो भेद हैं—द्रव्यमन और भावमन । उनमें से द्रव्यमनका अन्तर्भाव पुद्गलमें और भावमनका अन्तर्भाव जीवमें होता है । इसी प्रकार दिशा आकाशसे पृथक् भूत पदार्थ नहीं हैं क्योंकि सूर्यके उदयादिकी अपेक्षा आकाशमें ही दिशा का व्यवहार होता है । इस प्रकार विचार करनेपर जैन दर्शनमें जो जीवादि पदार्थ गिनाये गये हैं वे ही द्रव्य ठहरते हैं अन्य नहीं, ऐसा सिद्ध होता है ।

§ 532. अब उक्त द्रव्योंके विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उक्त द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं ॥4॥

§ 533. नित्य शब्दका अर्थ ध्रुव है । 'नेध्रुवे^१ त्यः' इस वार्तिकके अनुसार 'नि' शब्दसे ध्रुव अर्थ में 'त्य' प्रत्यय लगाकर नित्य शब्द बना है । पर्यायाधिकनय की अपेक्षा गतिहेतुत्व आदि रूप विशेष लक्षणोंको ग्रहण करनेवाले और द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा अस्तित्व आदि रूप सामान्यलक्षणको ग्रहण करनेवाले ये छहों द्रव्यकभी भी विनाशकी प्राप्त नहीं होते, इसलिए नित्य हैं । 'तदभावाव्ययं नित्यम्' इस सूत्र द्वारा यही बात आगे कहनेवाले भी हैं । संख्याका कभी व्यवहार नहीं होता, इसलिए ये अवस्थित हैं । धर्मादिक छहों द्रव्य कभी भी छह इस संख्याका उल्लंघन नहीं करते, इसलिए ये अवस्थित कहे जाते हैं । इनमें रूप नहीं पाया जाता इसलिए अरूपी हैं । यहाँ केवल रूपका निषेध किया है, किन्तु रसादिक उसके सहचारी हैं अतः उनका भी निषेध हो जाता है । इससे अरूपीका अर्थ अमूर्त होता है ।

§ 534. जिस प्रकार सब द्रव्योंका नित्य और अवस्थित यह साधारण लक्षण प्राप्त होता है उसी प्रकार पुद्गलोंमें अरूपीपना भी प्राप्त होता है, अतः इसका अपवाद करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गल रूपी हैं ॥5॥

1. नि ध्रुवे नित्य इति आ., दि. 1, दि. 2 । नेध्रुवेऽर्थं त्यः ता. । 2. 'त्यन्नेध्रुव इति वक्तव्यम्'— पा 4, 2, 104 वार्तिकम् । नेध्रुवे— जैनेन्द्र. 3, 2, 82 वार्तिकम् । 3. -षेधेन तत्सह-सु. । 4. लक्षणं तथा अरूपित्वं पुद्गलानामपि प्राप्तम् मु. ।

§ 535. रूपं मूर्तिरित्यर्थः । का मूर्तिः ? रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः । रूपमेवामस्तीति रूपिणः । मूर्तिमन्त इत्यर्थः । अथवा रूपमिति गुणविशेषवचन¹शब्दः । तदेषामस्तीति रूपिणः । रसाद्यग्रहणमिति चेत् ? न ; तदविनाभावात्तदन्तर्भावः । 'पुद्गलाः' इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थम् । भिन्ना हि पुद्गलाः ; स्कन्धपरमाणुभेदात् । तद्विकल्प उपरिष्ठाद्वक्ष्यते । यदि प्रधानवदरूपित्वमेकत्वं चेष्टं स्यात्, विद्वद्रूपकार्यदर्शनविरोधः स्यात् ।

§ 536. आह, किं पुद्गलवद्वर्मादीन्यपि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नानीत्यत्रोच्यते—
आ² आकाशादेकद्रव्याणि ॥6॥

§ 537. 'आङ्' अयमभिधिव्यर्थः । सौत्रोमानुपूर्वी³मासृत्येतदुक्तम् । तेन धर्माधर्माकाशानि गृह्यन्ते । 'एक' शब्दः संख्यावचनः । तेन द्रव्यं विशिष्यते, एकं द्रव्यं एकद्रव्यमिति । यद्येवं बहुवचनमयुक्तम् ? धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धिर्भवंति । 'ननु एकस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्तियोगादेकैकमित्यस्तु, लघुत्वाद् । 'द्रव्य' ग्रहणमनर्थकम् ? (सत्यम् ;⁵) तथापि द्रव्यापेक्षया एकत्वव्यापनार्थं

§ 535. रूप और मूर्ति इनका एक अर्थ है । शंका—मूर्ति किसे कहते हैं ? समाधान—रूपादिसंस्थानके परिणामको मूर्ति कहते हैं । जिनके रूप पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं । इसका अर्थ मूर्तिमान् है । अथवा, रूप यह गुणविशेषका वाची शब्द है । वह जिनके पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं । शंका—यहाँ रसादिकका ग्रहण नहीं किया है ? समाधान—नहीं; क्योंकि रसादिक रूपके अविनाभावी हैं, इसलिए उनका अन्तर्भाव हो जाता है ।

पुद्गलके भेदोंका कथन करनेके लिए सूत्रमें 'पुद्गलाः' यह बहुवचन दिया है । स्कन्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गल अनेक प्रकारके हैं । पुद्गलके ये सब भेद आगे कहेंगे । यदि पुद्गलको प्रधानके समान एक और अरूपी माना जाय तो जो विश्वरूप कार्य दिखाई देता है उसके होनेमें विरोध आता है ।

§ 536. पुद्गल द्रव्यके समान क्या धर्मादिक प्रत्येक द्रव्य भी अनेक हैं ? अब इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आकाश तक एक-एक द्रव्य हैं ॥6॥

§ 537. इस सूत्रमें 'आङ्' अभिविधि अर्थमें आया है । सूत्र सम्बन्धी आनुपूर्वीका अनुसरण करके यह कहा है । इससे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनका ग्रहण होता है । एक शब्द संख्यावाची है और वह द्रव्यका विशेषण है । तात्पर्य यह है कि धर्म, अधर्म और आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं । शंका—यदि ऐसा है तो सूत्र में 'एकद्रव्याणि' इस प्रकार बहुवचनका प्रकार करना अयुक्त है ? समाधान—धर्मादिक द्रव्योंकी अपेक्षा बहुवचन बन जाता है । शंका—एकमें अनेकके ज्ञान करानेकी शक्ति होती है, इसलिए 'एकद्रव्याणि' के स्थानमें 'एकैकम्' इतना ही रहा आवे । इससे सूत्र छोटा हो जाता है । तथा 'द्रव्य' पदका ग्रहण करना भी निष्फल है ? समाधान—ये धर्मादिक द्रव्यकी अपेक्षा एक है इस बातके बतलानेके लिए सूत्रमें 'द्रव्य' पदका ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि यदि सूत्रमें 'एकैकम्' इतना ही कहा जाता तो यह नहीं मालूम पड़ता कि ये धर्मादिक द्रव्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनमें-से किसकी अपेक्षा एक हैं, अतः सन्देहके निवारण करनेके लिए 'एकद्रव्याणि' पद रखा है । इनमें-से धर्म और अधर्म द्रव्यके क्षेत्रकी अपेक्षा असंख्यात विकल्प इष्ट होनेसे और भावकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे तथा

1. शब्दः । तथा-आ., दि. 1, दि. 2 । 2. -ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं डितं विद्याद् वाक्यस्मरयोरडितं । 3. -पूर्वमनुसृत्यै- मु. । 4. -वति । एक- आ. दि. 1, दि- 2 । 5. -र्थकं । तत्क्रियते द्रव्या- ता ना. । -र्थकं । तज्ज्ञायते द्रव्या- आ. दि. 1, दि. 2 ।

द्रव्यग्रहणम् । क्षेत्रभावा¹द्यपेक्षया असंख्येयत्वानन्तविकल्पपर्येष्टरवान् जीवपुद्गलवदेषां बहुत्वमित्येतदनेन कथ्यते ।

§ 538. अधिकृतानामेव एकद्रव्याणां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—
निष्क्रियाणि च ॥7॥

§ 539. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशांतरप्राप्तिहेतुः क्रिया । तस्या निष्क्रान्तानि निष्क्रियाणि । अत्र चोच्यते—धर्मादीनि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि ततस्तेषामुत्पादो न भवेत् । क्रियापूर्वको हि घटादीनामुत्पादो दृष्टः । उत्पादाभावाच्च व्ययाभाव इति । अतः सर्व-द्रव्याणामुत्पादादित्रैतयकल्पनाध्याघात इति ? तन्न ; किं कारणम् ? अन्यथोपपत्तेः । क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽप्येषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते । तद्यथा—द्विविध उत्पादः—स्वनिमित्तः पर-प्रत्ययश्च । स्वनिमित्तस्तावदन्तानामगुरुलघुगुणानामागम²प्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थान-पतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च । परप्रत्ययोऽपि अश्वादि-गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते । ननु यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि, जीवपुद्गलानां गत्यादिहेतुत्वं नोपपद्यते । जलादीनि हि क्रियावन्ति मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानीति ? नैष दोषः ; जलाधाननि-

आकाशके क्षेत्र और भाव दोनोंकी अपेक्षा अनन्त विकल्प इष्ट होनेसे ये जीव और पुद्गलोंके समान बहुत नहीं हैं इस प्रकार यह बात इस सूत्रमें दिखायी गयी है ।

§ 538. अब अधिकार प्राप्त उन्हीं एक-एक द्रव्योंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा निष्क्रिय हैं ॥7॥

§ 539. अन्तरंग और बहिरंग निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय द्रव्यके एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें प्राप्त करानेका कारण है वह क्रिया कहलाती है और जो इस प्रकारकी क्रियासे रहित हैं वे निष्क्रिय कहलाते हैं । शंका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनका उत्पाद नहीं बन सकता, क्योंकि घटादिकका क्रियापूर्वक ही उत्पाद देखा जाता है । और उत्पाद नहीं बननेसे उनका व्यय नहीं बनता । अतः सब द्रव्य उत्पाद आदि तीन रूप होते हैं इस कल्पनाका व्याघात हो जाता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि इनमें उत्पाद आदिक तीन अन्य प्रकारसे बन जाते हैं । यद्यपि इन धर्मादिक द्रव्योंमें क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं है तो भी इनमें अन्य प्रकारसे उत्पाद माना गया है । यथा—उत्पाद दो प्रकारका है, स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद । स्वनिमित्तक यथा—प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अनन्त अगुरुलघु गुण (अविभागप्रविच्छेद) स्वीकार किये गये हैं जिनका छह स्थानपतित वृद्धि और हानिके द्वारा वर्तन होता रहता है, अतः इनका उत्पाद और व्यय स्वभावसे होता है । इसी प्रकार परप्रत्यय का भी उत्पाद और व्यय होता है । यथा—ये धर्मादिक द्रव्य क्रमसे अश्व आदिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें कारण हैं । चूँकि इन गति आदिक में क्षण-क्षणमें अन्तर पड़ता है इसीलिए इनके कारण भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए, इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्योंमें परप्रत्ययकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है । शंका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो ये जीव और पुद्गलोंकी गति आदिकके कारण नहीं हो सकते, क्योंकि जलादिक क्रिया-वान् होकर ही मछली आदिकी गति आदिमें निमित्त देखे जाते हैं, अन्यथा नहीं ? समाधान—

1. -भावापेक्षया आ., ता., ना., दि. 1, दि. 2 । 2. -दादित्रयकल्प- मु. । 3. -गमप्रमाणादभ्यु- आ., दि. 1, दि. 2 ।

निमित्त्वाच्चक्षुर्वत् । यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्त¹मिति न व्याक्षिप्तमनस्कस्यापि भवति । अधि-
कृतानां धर्माधर्माकाशानां निष्क्रियत्वेऽभ्युपगते जीवपुद्गलानां सक्रियत्वमर्थादापन्नम् । कालस्यापि
सक्रियत्वमिति चेत् ? न; अनधिकारात् । अत एवासावेतैः सह नाधिक्रियते ।

§ 540. अजीवकाया इत्यत्र कायग्रहणेन प्रदेशास्तित्वमात्रं निर्जातं न त्वियत्तावधारिता
प्रदेशानामतस्तन्निर्धारणार्थमिदमुच्यते—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥४॥

§ 541. संख्यामतीता असंख्येयाः । असंख्येयास्त्रिविधः—जघन्य उत्कृष्टोऽजघन्योत्कृष्ट-
श्चेति । तत्रेहाजघन्योत्कृष्टासंख्येयः परिगृह्यते । प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशाः । वक्ष्यमाणलक्षणः परमाणुः
स यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते । धर्माधर्मैकजीवास्तुत्यासंख्येयप्रदेशाः ।
तत्र धर्माधर्मो निष्क्रियो लोकाकाशं व्याप्य स्थितौ । जीवस्तावत्प्रदेशोऽपि सन् संहरणविसर्पणस्व-
भावत्वात् कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणु महद्वाऽधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते । यदा तु लोकपूरणं भवति
तदा मन्दरस्थाधिश्वत्रवज्रपटलमध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशा व्यवतिष्ठन्ते । इतरे प्रदेशा ऊर्ध्व-
मधस्तिर्यक् च कृत्स्नं लोकाकाशं व्यनुवर्तते ।

यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि चक्षु इन्द्रियके समान ये बलाधानमें निमित्तमात्र हैं । जैसे चक्षु
इन्द्रिय रूपके ग्रहण करनेमें निमित्तमात्र है, इसलिए जिसका मन व्याक्षिप्त है उसके चक्षु
इन्द्रियके रहते हुए भी रूपका ग्रहण नहीं होता । उसी प्रकार प्रकृतमें समझ लेना चाहिए । इस
प्रकार अधिकार प्राप्त धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यको निष्क्रिय मान लेने पर जीव और पुद्गल
सक्रिय हैं यह प्रकरणसे अपने-आप प्राप्त हो जाता है । शंका—काल द्रव्य भी सक्रिय होगा ?
समाधान—नहीं; क्योंकि उसका यहाँ अधिकार नहीं है । इसलिए इन द्रव्यों के साथ उसका
अधिकार नहीं किया है ।

§ 540. 'अजीवकायाः' इत्यादि सूत्रमें 'काय' पदके ग्रहण करनेसे प्रदेशोंका अस्तित्व
मात्र जाना जाता है, प्रदेशोंकी संख्या नहीं मालूम होती, अतः उसका निर्धारण करनेके लिए
आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं ॥४॥

§ 541. जो संख्यासे परे हैं वे असंख्यात कहलाते हैं । असंख्यात तीन प्रकारका है—
जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट । उनमें-से यहाँ अजघन्योत्कृष्ट असंख्यातका ग्रहण किया है ।
'प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशः' यह प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति है । तात्पर्य यह है कि जिससे विवक्षित परि-
माणका संकेत मिलता है, उसे प्रदेश कहते हैं । परमाणुका लक्षण आगे कहेंगे । वह जितने क्षेत्रमें
रहता है वह प्रदेश है ऐसा व्यवहार किया जाता है । धर्म, अधर्म और एक जीवके प्रदेशोंकी
संख्या समान है । इनमें-से धर्म और अधर्मद्रव्य निष्क्रिय हैं और लोकाकाशभरमें फैले हुए हैं ।
यद्यपि जीवके प्रदेश धर्म और अधर्म द्रव्यके बराबर ही हैं तो भी वह संकोच और विस्तारस्व-
भाववाला है, इसलिए कर्मके निमित्तसे छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है उतनी अवगाहना-
कां होकर रहता है । और केवलिसमुद्घातके समय जब यह लोकको व्यापता है उस
समय जीवके मध्यके आठ प्रदेश मेरु पर्वतके नीचे चित्रा पृथिवीके वज्रमय पटलके मध्यमें स्थित
हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर, नीचे और तिरछे समस्त लोकको व्याप लेते हैं ।

1. -निमित्तमपि न मु., ता., ना. ।

§ 542. अथाकाशस्य कति प्रदेशा इत्यत आह—

आकाशस्यानन्ताः¹ ॥9॥

§ 543. अविद्यमानोऽन्तो येषां ते अनन्ताः । के ? प्रदेशाः । कस्य ? आकाशस्य । पूर्व-
वदस्यापि प्रदेशकल्पनाऽवसेया ।

§ 544. उक्तममूर्तानां प्रदेशपरिमाणम् । इदानीं मूर्तानां पुद्गलानां प्रदेशपरिमाणं
निर्ज्ञातव्यमित्यत आह—

संख्येयाऽसंख्येयाऽच पुद्गलानाम् ॥10॥

§ 545. 'च'²शब्दादनन्ताश्चेत्यनुकुर्यते । कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः संख्येयाः
प्रदेशाः कस्यचिदसंख्येया अनन्ताश्च । अनन्तानन्तोपसंख्यानमिति चेत् । न; अनन्तसामान्यात् ।
अनन्तप्रमाणं त्रिविधमुक्तं परीतानन्तं युक्तानन्तमनन्तानन्तं चेति । तत्सर्वमनन्तसामान्येन
गृह्यते । स्यादेतदसंख्यातप्रदेशो लोकः अनन्तप्रदेशस्थानन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति
विरोधस्ततो नानन्त्यमिति ? नैष दोषः; सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात् । परमाण्वादयो हि
सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते, अवगाहनशक्तिश्चैषाम-
व्याहृतास्ति । तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशे अनन्तानन्तानामवस्थानं न विरुध्यते ।

§ 542. अब आकाश द्रव्यके कितने प्रदेश हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आकाशके अनन्त प्रदेश हैं ॥9॥

§ 543. जिनका अन्त नहीं है वे अनन्त कहलाते हैं ? शंका—अनन्त क्या हैं ? समाधान—
प्रदेश । शंका—किसके ? समाधान—आकाशके । पहलेके समान इसके भी प्रदेशकी कल्पना जान
लेनी चाहिए । अर्थात् जितने क्षेत्रमें एक परमाणु रहता है उसे प्रदेश कहते हैं । प्रदेशका यह
अर्थ यहाँ जानना चाहिए ।

§ 544. अमूर्त द्रव्योंके प्रदेश कहे । अब मूर्त पुद्गलोंके प्रदेशोंकी संख्या ज्ञातव्य है,
अतः उसका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं ॥10॥

§ 545. सूत्रमें जो 'च' शब्द दिया है, उससे अनन्तकी अनुवृत्ति होती है । तात्पर्य यह है
कि किसी द्व्यणुक आदि पुद्गल द्रव्यके संख्यात प्रदेश होते हैं और किसीके असंख्यात तथा अनन्त
प्रदेश होते हैं । शंका—यहाँ अनन्तानन्तका उपसंख्यान करना चाहिए ? समाधान—नहीं,
क्योंकि यहाँ अनन्त सामान्यका ग्रहण किया है । अनन्त प्रमाण तीन प्रकारका कहा है—परीता-
नन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त । इसलिए इन सबका अनन्त सामान्यसे ग्रहण हो जाता है ।
शंका—लोक असंख्यात प्रदेशवाला है, इसलिए वह अनन्त प्रदेशवाले और अनन्तानन्त प्रदेश-
वाले स्कन्धका आधार है, इस बातके माननेमें विरोध आता है, अतः पुद्गलके अनन्त प्रदेश
नहीं बनते ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि सूक्ष्म परिणमन होनेसे और अवगाहन
शक्तिके निमित्तसे अनन्त या अनन्तानन्त प्रदेशवाले पुद्गल स्कन्धोंका आकाश आधार हो जाता
है । सूक्ष्मरूपसे परिणत हुए अनन्तानन्त परमाणु आकाशके एक-एक प्रदेशमें ठहर जाते हैं ।
इनकी यह अवगाहन शक्ति व्याघात रहित है, इसलिए आकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त
परमाणुओंका अवस्थान विरोधको प्राप्त नहीं होता ।

1. -नन्ताः ॥9॥ लोकेऽलोके चाकाशं वर्तते । अवि- मु. । 2. च शब्देनानन्ता- मु. ता., ना. ।

§ 546: 'पुद्गलानाम्' इत्यविशेषवचनात्परमाणोरपि प्रदेशवत्त्वप्रसंगे तत्प्रतिषेधार्थ-
माह—

नारणोः ॥111॥

§ 547. अणोः 'प्रदेशा न सन्ति' इति वाक्यशेषः । कुतो न सन्तीति चेत् ? प्रदेशमात्र-
त्वात् । यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावादप्रदेशत्वमेवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात्प्रदेशभेदा-
भावः । किं च ततोऽल्पपरिमाणाभावात् । न ह्यणोरत्पीयानन्योऽस्ति, यतोऽस्य प्रदेशा भिद्येरन् ।

§ 548. एषामवधृतप्रदेशानां धर्मादीनामाधारप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥12॥

§ 549. उक्तानां धर्मादीनां द्रव्याणां लोकाकाशेऽवगाहो न बहिरित्यर्थः । यदि धर्मादीनां
लोकाकाशमाधारः, आकाशस्य क आधार इति ? आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः । स्वप्रतिष्ठमा-
काशम् । यथाकाशं स्वप्रतिष्ठम्; धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव । अथ धर्मादीनामन्य आधारः
कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधार कल्प्यः । तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत् ? नैष दोषः;
नाकाशादन्यर्थाधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्यते । सर्वतोऽनन्तं हि तत्¹ । धर्मा-
दीनां पुनरधिकरणमाकाशमित्युच्यते व्यवहारनयवशात् । एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्वाणि द्रव्याणि
स्वप्रतिष्ठान्येव । तथा चोक्तम्, "क्व भवानास्ते । आत्मनि" इति । धर्मादीनि लोकाकाशान्न बहिः
सन्तीत्येतावदन्नाधाराभेयकल्पनासाध्यं फलम् । ननु च लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराभेयभावो

§ 546. पूर्व सूत्रमें 'पुद्गलानाम्' यह सामान्य वचन कहा है । इससे परमाणुके भी
प्रदेशों का प्रसंग प्राप्त होता है, अतः उसका निषेध करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परमाणुके प्रदेश नहीं होते ॥11॥

§ 547. परमाणुके प्रदेश नहीं हैं, यहाँ 'सन्ति' यह वाक्यका शेष है । शंका—परमाणुके
प्रदेश क्यों नहीं होते ? समाधान—क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशमात्र है । जिस प्रकार एक आकाश
प्रदेशमें प्रदेश-भेद नहीं होनेसे वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेशरूप
है इसलिए उसमें प्रदेशभेद नहीं होता । दूसरे अणुसे अल्प परिमाण नहीं पाया जाता । ऐसी कोई
अन्य वस्तु नहीं जो परमाणुसे छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेदको प्राप्त होवें ।

§ 548. इस प्रकार निश्चित प्रदेशवाले इन धर्मादिक द्रव्योंके आधारका ज्ञान करानेके
लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इन धर्मादिक द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें है ॥12॥

§ 549. उक्त धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाशमें अवगाह है बाहर नहीं, यह इस सूत्रका
तात्पर्य है । शंका—यदि धर्मादिक द्रव्योंका लोकाकाश आधार है तो आकाशका क्या
आधार है ? समाधान—आकाशका अन्य आधार नहीं है, क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है ।
शंका—यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ ही होने चाहिए ।
यदि धर्मादिक द्रव्योंका अन्य आधार माना जाता है तो आकाशका भी अन्य आधार मानना
चाहिए । और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है,
क्योंकि आकाशसे अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नहीं है जहाँ आकाश स्थित है यह कहा जाय ।
वह सब ओर से अनन्त है । परन्तु धर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनयकी
अपेक्षा कहा जाता है । एवंभूत नयकी अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं । कहा भी है—आप
कहाँ रहते हैं ? अपनेमें । धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नहीं हैं, यहाँ आधार-आधेय कल्पनासे-

1. तत् । ततो धर्मा- ता., ना. मु. ।

दृष्टो यथा कुण्डे बदरादीनाम् । न तथाऽऽकाशं पूर्वं धर्मादीन्युत्तरकालभावीनि; अतो व्यवहार-
नयापेक्षयाऽपि आधारार्थेयकल्पनानुपपत्तिरिति ? नैष दोषः, युगपद्भाविनामपि आधारार्थेयभावी
दृश्यते । घटे रूपादयः शरीरे हस्तादय इति । लोक इत्युच्यते । को लोकः ? धर्माधर्मादीनि
द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति । ¹अधिकरणसाधनो घञ् । आकाशं द्विधा विभक्तं—लोका-
काशमलोकाकाशं चेति । लोक उक्तः । स यत्र तल्लोकाकाशम् । ततो बहिः सर्वतोऽनन्तमलोका-
काशम् । लोकालोकविभागश्च धर्माधर्मास्तिकाय²सद्भावसद्भावाद्विज्ञेयः । असति हि तस्मिन्धर्मा-
स्तिकाये जीवपुद्गलानां गतिनियमहेत्वभावाद्विभागो न स्यात् । असति चाधर्मास्तिकाये स्थिते-
राश्रयनिमित्ताभावात् ³स्थितेरभावो लोकालोकविभागाभावो वा स्यात् । तस्मादुभयसद्भावा⁴-
सद्भावाल्लोकालोकविभागसिद्धिः ।

§ 550. तत्रावधियमाणानामवस्थानभेदसंभवाद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥13॥

§ 551. कृत्स्नवचनभ्रमशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थम् । अगारेऽस्थितो घट इति यथा तथा धर्मा-
धर्मयोर्लोकाकाशोऽवगाहो न भवति । किं तर्हि ? कृत्स्ने तिलेषु तैलवदिति । अन्योन्यप्रदेशप्रवेश-

इतना ही फलितार्थ लिया गया है । शंका—लोकमें जो पूर्वोत्तर कालभावी होते हैं उन्हींका
आधार-आधेयभाव देखा गया है । जैसे कि बेरोंका आधार कुण्ड होता है । उसीप्रकार आकाश
पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य पीछेसे उत्पन्न हुए हों, ऐसा तो है नहीं, अतः व्यवहारनय-
की अपेक्षा भी आधार-आधेयकल्पना नहीं बनती ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि
एक साथ होनेवाले पदार्थों में भी आधार-आधेयभाव देखा जाता है । यथा—घट में रूपादिक हैं ।
और शरीर में हाथ आदि हैं । अब लोकका स्वरूप कहते हैं । शंका—लोक किसे कहते हैं ?
समाधान—जहाँ धर्मादिक द्रव्य विलोके जाते हैं उसे लोक कहते हैं । 'लोक' धातुसे अधिकरण
अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय करके लोक शब्द बना है । आकाश दो प्रकारका है—लोकाकाश और
अलोकाकाश । लोकका स्वरूप पहले कह आये हैं । वह जितने आकाशमें पाया जाता है लोका-
काश है और उससे बाहर सबसे अनन्त अलोकाकाश है । यह लोकालोकका विभाग धर्मास्ति-
काय और अधर्मास्तिकायके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षासे जानना चाहिए । अर्थात्
धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और इससे बाहर
अलोकाकाश है । यदि धर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो जीव और पुद्गलोंकी गतिके
नियमका हेतु न रहने से लोकालोकका विभाग नहीं बनता । उसी प्रकार यदि अधर्मास्तिकायका
सद्भाव न माना जाये तो स्थितिका निमित्त न रहने से जीव और पुद्गलों की स्थितिका अभाव
होता है जिससे लोकालोकका विभाग नहीं बनता । अतः इन दोनों के सद्भाव और असद्भाव-
की अपेक्षा लोकालोकके विभाग की सिद्धि होती है ।

§ 550. लोकाकाशमें जितने द्रव्य बतलाये हैं उनके अवस्थानमें भेद हो सकता है, इस
लिए प्रत्येक द्रव्यके अवस्थान विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह समग्र लोकाकाशमें है ॥13॥

§ 551. सब लोकाकाशके साथ व्याप्तिके दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कृत्स्न' पद रखा है ।
घरमें जिस प्रकार घट अवस्थित रहता उस प्रकार लोकाकाशमें धर्म और अधर्म द्रव्यका
अवगाह नहीं है । किन्तु जिस प्रकार तिलमें तैल रहता है उस प्रकार सब लोकाकाशमें धर्म

1. 'हलः' जैनन्द, 2।3।118। 'हलश्च' पाणिनि, 3।3।12।1। 2. -कायसद्भावाद्वि- मु. । 3. -रसावः ।
तस्या अभावे लोका- मु., ता. ना. । 4. भयसद्भावाल्लोका- मु. ।

व्याघातभावः अवगाहनशक्तियोगाद्वेदितव्यः ।

§ 552. अतो विपरीतानां मूर्तिमता¹मप्रदेशसंख्येयासंख्येयान्तप्रदेशानां पुद्गलानामवगाहविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥14॥

§ 553. ²एकः प्रदेश एकप्रदेशः । एकप्रदेश आदिर्येषां त इमे एकप्रदेशादयः । तेषु पुद्गलानामवगाहो भाज्यो विकल्प्यः । “अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः”³ इति एकप्रदेशोऽपि गृह्यते । तद्यथा—एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे परमाणोरवगाहः । द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरवद्वयोश्च । त्रयाणां⁴मध्येकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामवद्वानां च । एवं संख्येयासंख्येयान्तप्रदेशानां स्कन्धानामेकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशेष्वस्थानं प्रत्येतव्यम् । ननु युक्तं तावदमूर्तयोर्धर्माधर्मयोरेकत्राविरोधेनावरोध इति । मूर्तिमतां पुद्गलानां कथम् ? इत्यत्रोच्यते—अवगाहनस्वभावत्वात्सूक्ष्मपरिणामाच्च मूर्तिमतामप्यवगाहो न विरुध्यते एकापवरके अनेकदीपप्रकाशावस्थानवत् । आगमप्रामाण्याच्च तथाऽध्यवसेयम् । तदुक्तम्—

“ओगाढगाढणिचिओ पुगलकाएहि सव्वदो लोगो ।

सुहुमेहि बादरेहि अणंताणतेहि विवहेहि⁵ ॥”

और अधर्म द्रव्यका अवगाह है । यद्यपि ये सब द्रव्य एक जगह रहते हैं तो भी अवगाह शक्ति के निमित्तसे इनके प्रदेश परस्पर प्रविष्ट होकर व्याघातको नहीं प्राप्त होते ।

§ 552. अब जो उक्त द्रव्योसे विपरीत हैं और जो अप्रदेशी हैं या संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशी हैं ऐसे मूर्तिमान् पुद्गलोंके अवगाह विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गलोंका अवगाह लोकाकाशके एक प्रदेश आदिमें विकल्पसे होता है ॥14॥

§ 553. एक और प्रदेश इन दोनोंका द्वन्द्व समास है । जिनके आदिमें एक प्रदेश है वे एक प्रदेश आदि कहलाते हैं । उनमें पुद्गलोंका अवगाह विकल्पसे है । यहाँ पर विग्रह अवयवके साथ है किन्तु समासार्थ समुदायरूप लिया गया है, इसलिए एक प्रदेशका भी ग्रहण होता है । खुलासा इस प्रकार है—आकाशके एक प्रदेशमें एक परमाणुका अवगाह है । बन्धको प्राप्त हुए या खुले हुए दो परमाणुओंका आकाशके एक प्रदेशमें या दो प्रदेशों में अवगाह है । बन्धको प्राप्त हुए या खुले हुए तीन परमाणुओंका आकाशके एक, दो या तीन प्रदेशोंमें अवगाह है । इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाह जानना चाहिए । शंका—यह तो युक्त है कि धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं, इसलिए उनका एक जगह बिना विरोधके रहना बन जाता है, किन्तु पुद्गल मूर्त हैं इसलिए उनका बिना विरोधके एक जगह रहना कैसे बन सकता है ? समाधान—इनका अवगाहन स्वभाव है और सूक्ष्म रूपसे परिणमन हो जाता है, इसलिए एक ढक्कनमें जिस प्रकार अनेक दीपकोंका प्रकाश रह जाता है उसी प्रकार मूर्तमान् पुद्गलोंका एक जगह अवगाह विरोधको प्राप्त नहीं होता । तथा आगम प्रमाणसे यह बात जानी जाती है । कहा भी है—

‘लोक सूक्ष्म और स्थूल अनन्तानन्त नाना प्रकारके पुद्गलकायोंसे चारों ओरसे खचा-खच भरा है ।’

1. मतामेकप्रदे- मु. । 2. एक एव प्रदेशः मु. । 3. पा. म. भा. 2, 2, 2, 24 । 4. त्रयाणामेकत्र मु., ता. । 5. पंचत्वि, गा. 64 ।

§ 554. अथ जीवानां कथमवगाहनमित्यत्रोच्यते—

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥15॥

§ 555. 'लोकाकाशे' इत्यनुवर्तते । तस्यासंख्येयभागीकृतस्यैको भागोऽसंख्येयभाग इत्युच्यते । स आदिर्येषां तेऽसंख्येयभागादयः । तेषु जीवानामवगाहो वेदितव्यः । तद्यथा—एकस्मिन्नसंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते । एवं द्वित्रिचतुरादिविषु असंख्येयभागेषु अत्र सर्वलोकादवगाहः प्रत्येतव्यः । नानाजीवानां तु सर्वलोक एव । यद्येकस्मिन्नसंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते, कथं ब्रह्मप्रमाणेनानन्तानन्तो जीवराशिः सशरीरोऽवतिष्ठते लोकाकाशे ? सूक्ष्मबादरभेदादवस्थानं प्रत्येतव्यम् । बावरास्तावत्सप्रतिघातशरीराः । सूक्ष्मास्तु सशरीराः¹ अपि सूक्ष्मभावादेवैकनिगोदजीवावगाहोऽपि प्रदेशे साधारणशरीरा अनन्तानन्ता वसन्ति । न ते परस्परेण बादरंश्च व्याहन्यन्त इति नास्त्यवगाहविरोधः² ।

§ 556. अत्राह लोकाकाशतुल्यप्रदेश एकजीव इत्युक्तम्, तस्य कथं लोकस्यासंख्येयभागादिषु वृत्तिः । ननु सर्वलोकव्याप्त्येव भवितव्यमित्यत्रोच्यते—

प्रदेशसंहारविसर्पभ्यां प्रदीपवत् ॥16॥

§ 557. अमूर्तस्वभावस्यात्मनोऽनादिबन्धं प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्ततां विभ्रतः कर्मणशरीर-

§ 554. अब जीवोंका अवगाह किस प्रकार है इस बातको अगले सूत्रमें कहते हैं—

लोकाकाशके असंख्यातवें भाग आदिमें जीवोंका अवगाह है ॥15॥

§ 555. इस सूत्रमें 'लोकाकाशे' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । उसके असंख्यात भाग करके जो एक भाग प्राप्त हो वह असंख्यातवाँ भाग कहलाता है । वह जिनके आदिमें है वे सब असंख्यातवें भाग आदि हैं । उनमें जीवोंका अवगाह जानना चाहिए । वह इस प्रकार है—एक एक असंख्यातवें भागमें एक जीव रहता है । इस प्रकार दो, तीन और चार आदि असंख्यात भागों से लेकर सब लोकपर्यन्त एक जीवका अवगाह जानना चाहिए । किन्तु नाना जीवोंका अवगाह सब लोकमें ही होता है । शंका—यदि लोकके एक असंख्यातवें भागमें एक जीव रहता है तो संख्याकी अपेक्षा अनन्तानन्त सशरीर जीवराशि लोकाकाशमें कैसे रह सकती है ? समाधान—जीव दो प्रकारके हैं सूक्ष्म और बादर, अतः उनका लोकाकाशमें अवस्थान बन जाता है । जो बादर जीव हैं उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है किन्तु जो सूक्ष्म हैं वे यद्यपि सशरीर हैं तो भी सूक्ष्म होनेके कारण एक निगोद जीव आकाशके जितने प्रदेशोंको अवगाहन करता है उतनेमें साधारण शरीरवाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं । वे परस्परमें और बादरोंके साथ व्याघातको नहीं प्राप्त होते, इसलिए लोकाकाशमें अनन्तानन्त जीवोंके अवगाहमें कोई विरोध नहीं आता ।

§ 556. यहाँ पर शंकाकारका कहना है कि जब एक जीवके प्रदेश लोकाकाशके बराबर बतलाये हैं तो लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें एक जीव कैसे रह सकता है, उसे तो सब लोक को व्याप्त कर ही रहना चाहिए ? अब इस शंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्योंकि प्रदीपके समान जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार होने के कारण लोकाकाशके असंख्येयभागादिकमें जीवोंका अवगाह बन जाता है ॥16॥

§ 557. चूँकि आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्धके कारण एकपनेको

1. सशरीरत्वेऽपि अ., वि. 1, दि. 2 । 2. -वगाहेऽपि मु. ।

वशान्महदणु च शरीरमधितिष्ठतस्तद्वशात्प्रदेशसंहरणविसर्पणस्वभावस्य तावत्प्रमाणतायां सत्या-
मसंख्येयभागाविषु वृत्तिरूपपद्यते, प्रदीपवत् । यथा निरावरणव्योमप्रदेशेऽनव^१धृतप्रकाशपरिमाणस्य
प्रदीपस्य शरावमणिकापवरकाद्यावरणवशात्तत्परिमाणतेति । अत्राह धर्मादीनामन्योन्यप्रवेशानु-
प्रवेशात्संकरे^२ सति, एकत्वं प्राप्नोतीति ? तन्न; परस्परमत्यन्तसंश्लेषे सत्यपि स्वभावं न जहति ।
उक्तं च—

“अण्णोणं पविसंता दिता ओगासमणमणस्स ।

मेलंता वि य णिच्चं सगसम्भावं ण जहति ।”

§ 558. यद्येवं धर्मादीनां स्वभावभेद उच्यतामित्यत आह—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥17॥

§ 559. देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः । तद्विपरीता स्थितिः । उपगृह्यत इत्युपग्रहः । गतिश्च
स्थितिश्च गतिस्थितौ । गतिस्थितौ एव उपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहौ । धर्माधर्मयोरिति कर्तुं निर्देशः ।
उपक्रियत इत्युपकारः । कः पुनरसौ ? गत्युपग्रहः स्थित्युपग्रहश्च । यद्येवं द्विस्वनिर्देशः प्राप्नोति ।
नेष दोषः; सामान्येन व्युत्पादितः^३ शब्द उपात्तसंख्यः शब्दान्तरसंबन्धे सत्यपि न पूर्वोपात्तां संख्यां
जहाति । यथा—“साधोः कार्यं तपःश्रुते” इति । एतदुक्तं भवति—गतिपरिणामिनां जीवपुद्गलानां
गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायः साधारणाश्रयो जलवन्मत्स्यगमने । तथा स्थितिपरिणामिनां

प्राप्त होनेसे वह मूर्त हो रहा है और कर्मण शरीरके कारण वह छोटे-बड़े शरीरमें रहता है,
इसलिए वह प्रदेशोंके संकोच और विस्तार स्वभाववाला है और इसलिए शरीरके अनुसार
दीपकके समान उसका लोकके असंख्यप्रातवें भाग आदिमें रहना बन जाता है । जिस प्रकार
निरावरण आकाश-प्रदेशमें यद्यपि दीपकके प्रकाशके परिमाणका निश्चय नहीं होता तथापि वह
सकोरा, ढक्कन, तथा आवरण करनेवाले दूसरे पदार्थोंके आवरणके वशसे तत्परिमाण होता है
उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए । शंका—धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेश होनेके
कारण संकर होनेसे अभेद प्राप्त होता है ? समाधान—नहीं; क्योंकि परस्पर अत्यन्त संश्लेषण
सम्बन्ध हो जाने पर भी वे अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते; इसलिए उनमें अभेद नहीं
होता । कहा भी है—

‘सब द्रव्य परस्पर प्रविष्ट हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, और सदा मिलकर रह रहे
हैं तो भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते ।’

§ 558. यदि ऐसा है तो धर्मादिक द्रव्योंका स्वभावभेद कहना चाहिए इसलिए आगेका
सूत्र कहते हैं—

गति और स्थितिमें निमित्त होना यह क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है ॥17॥

§ 559. एक स्थानसे दूसरे स्थानके प्राप्त करानेमें जो कारण है उसे गति कहते हैं ।
स्थितिका स्वरूप इससे उलटा है । उपग्रह शब्द उपकारका पर्यायवाची है जिसकी व्युत्पत्ति
‘उपगृह्यते’ है । गति और स्थिति इन दोनोंमें द्वन्द्व समास है । गति और स्थिति ही उपग्रह हैं,
इसलिए ‘गतिस्थित्युपग्रहौ’ यह सूत्रवचन कहा है । ‘धर्माधर्मयोः’ यह कर्ता अर्थमें षष्ठी निर्देश
है । उपकारकी व्युत्पत्ति ‘उपक्रियते’ है । शंका—यह उपकार क्या है ? समाधान— गति उप-
ग्रह और स्थिति उपग्रह यही उपकार है । शंका—यदि ऐसा है तो द्विवचनका निर्देश प्राप्त होता
है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सामान्यसे ग्रहण किया गया शब्द जिस संख्याको
प्राप्त कर लेता है दूसरे शब्दके सम्बन्ध होनेपर भी वह उस संख्याको नहीं छोड़ता । जैसे ‘साधोः

1. -देशेऽनव- ता. ना. । 2. पंचस्थि, गा. 7 । 3. -दितः उपात्त- ता., ना., मु. ।

जीवपुद्गलानां स्थित्युपग्रहे कर्तव्ये अधर्मास्तिकायः साधारणाश्रयः पृथिवीघातुरिवाश्वादस्थिता-
विति । ननु च 'उपग्रह' वचनमनर्थकम् 'उपकारः' इत्येवं' सिद्धत्वात् । 'गतिस्थिती धर्माधर्म-
योरुपकारः' इति ? नैव दोषः ; यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् 'उपग्रह' वचनम् । धर्माधर्मयोरगतिस्थित्योश्च
यथासंख्यं भवति, एवं जीवपुद्गलानां यथासंख्यं प्राप्नोति धर्मस्योपकारो जीवानां गतिः अधर्म-
स्योपकारः पुद्गलानां स्थितिरिति । तन्निवृत्त्यर्थमुपग्रहवचनं क्रियते । आह धर्माधर्मयोर्यं उपकारः
स आकाशस्य युक्तः ; सर्वगतत्वादिति चेत् ? तदयुक्तम् ; तद्व्याप्योपकारसद्भावात् । सर्वेषां धर्मा-
दीनां द्रव्याणामवगाहनं तत्प्रयोजनम् । एकस्थानेकप्रयोजनकल्पनायां लोकालोकविभागाभावः ।
भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेत् ? न ; साधारणाश्रय इति
विशिष्योक्तत्वात् । अनेककारणसाध्यत्वान्नेकस्य कार्यस्य । तुल्यबलत्वात्तद्योगतिस्थितिप्रतिबन्ध
इति चेत् ? न ; अप्रेरकत्वात् । अनुपलब्धेर्न तौ स्तः खरविषाणवदिति चेत् ? न ; सर्वप्रवाद्यावि-
प्रतिपत्तेः । सर्वे हि 'प्रवादिनः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षानर्थानभिवाञ्छन्ति । अस्मान्प्रति हेतोरसिद्धेयं ।

कार्यं तपःश्रुते' इस वाक्य में 'कार्यम्' एकवचन और 'तपःश्रुते' द्विवचन है । यही बात प्रकृतमें जानना चाहिए । इस सूत्रका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मछलीके गमनमें जल साधारण निमित्त है उसी प्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनमें धर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है । तथा जिस प्रकार घोड़ा आदिके ठहरनेमें पृथिवी साधारण निमित्त है उसी प्रकार ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है । शंका—सूत्रमें 'उपग्रह' वचन निरर्थक है, क्योंकि 'उपकार' इसीसे काम चल जाता है । यथा—'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है ; क्योंकि यथाक्रमके निराकरण करनेके लिए 'उपग्रह' पद रखा है । जिस प्रकार धर्म और अधर्मके साथ गति और स्थितिका क्रमसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलोंका क्रमसे सम्बन्ध प्राप्त होता है । यथा—धर्म द्रव्यका उपकार जीवोंकी गति है और अधर्म द्रव्यका उपकार पुद्गलोंकी स्थिति है, अतः इसका निराकरण करनेके लिए सूत्रमें 'उपग्रह' पद रखा है । शंका—धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार है उसे आकाशका मान लेना युक्त है, क्योंकि आकाश सर्वगत है ? समाधान—यह कहना युक्त नहीं है ; क्योंकि आकाशका अन्य उपकार है । सब धर्मादिक द्रव्योंको अवगाहन देना आकाशका प्रयोजन है । यदि एक द्रव्यके अनेक प्रयोजन माने जाते हैं तो लोकालोकके विभागका अभाव होता है, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार है वह आकाशका मानना युक्त नहीं । शंका—धर्म और अधर्म द्रव्यके जो प्रयोजन हैं पृथिवी और जल आदिक ही उनके करनेमें समर्थ हैं, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक नहीं ? समाधान—नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिके साधारण कारण हैं यह विशेष रूपसे कहा है । तथा एक कार्य अनेक कारणोंसे होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक है । शंका—धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य तुल्य बलवाले हैं, अतः गतिसे स्थितिका और स्थितिसे गतिका प्रतिबन्ध होना चाहिए ? समाधान—नहीं, क्योंकि ये अप्रेरक हैं । शंका—धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं हैं, क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधेके सींग ? समाधान—नहीं ; क्योंकि इसमें सब वादियोंको विवाद नहीं है । तात्पर्य यह है कि जितने वादी हैं वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके पदार्थोंको स्वीकार करते हैं । इसलिए इनका अभाव नहीं किया जा सकता । दूसरे हम जैनोके प्रति 'अनुपलब्धि' हेतु असिद्ध है, क्योंकि जिनके सातिशय प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी नेत्र विद्यमान

1. इत्येव सिद्ध- ता, । 2. प्रतिवाद्य ता., ना. । 3. प्रतिवादिनः ता., ना. ।

सर्वज्ञेन निरतिशयप्रत्यक्षज्ञानचक्षुषा धर्मादयः सर्वे उपलभ्यन्ते । तदुपदेशाच्च श्रुतज्ञानिभिरपि ।

§ 560. अत्राह, यद्यतीन्द्रिययोर्धर्मार्थयोरुपकारसम्बन्धेनास्तित्वमवधिष्यते, तदनन्तरमुद्दिष्टस्य नभसोऽतीन्द्रियस्याधिगमे क उपकार इत्युच्यते—

आकाशस्यावगाहः ॥18॥

§ 561. 'उपकारः'¹ इत्यनुवर्तते । जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाह आकाशस्योपकारो वेदितव्यः । आह, जीवपुद्गलानां क्रियावतामवगाहिनामवकाशदानं युक्तम् । धर्मास्ति कायादयः पुनर्निष्क्रिया नित्यसम्बन्धास्तेषां कथमवगाह इति चेत् ? न; उपचारस्तस्मिन्नेति । यथा गमनाभावेऽपि 'सर्वगतमाकाशम्' इत्युच्यते; सर्वत्र सद्भावात्, एवं धर्माधर्मावपि अवगाह क्रियाभावेऽपि सर्वत्र व्याप्तिदर्शनादवगाहिनावित्युपचर्यते । आह यद्यवकाशदानमस्य स्वभावो वज्राग्निभिलोष्टादीनां भित्त्यादिभिर्गवादीनां च व्याघातो न प्राप्नोति । दृश्यते च व्याघातः । तस्मादवकाशदानं हीयते इति ? नैष दोषः; वज्रलोष्टादीनां स्थूलानां परस्परव्याघात इति नास्यावकाशदानसामर्थ्यं हीयते; तत्रावगाहिनामेव व्याघातात् । वज्रादयः पुनः स्थूलत्वात्परस्परं प्रत्यवकाशदानं कुर्वन्तीति नासावाकाशदोषः । ये खलु पुद्गलाः सूक्ष्मास्ते² परस्परं प्रत्यवकाशदानं कुर्वन्ति । यद्येवं नेदमाकाशस्यासाधारणं लक्षणम्; इतरेषामपि तत्सद्भावाविति ? तन्न; सर्वपदार्थानां

हैं ऐसे सर्वज्ञ देव सब धर्मादिक द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानते हैं और उनके उपदेशसे श्रुतज्ञानी भी जानते हैं ।

§ 560. यदि अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकारके सम्बन्धसे अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो इनके अनन्तर जो अतीन्द्रिय आकाश द्रव्य कहा है, ऐसा कौन-सा उपकार है जिससे उसका ज्ञान होता है ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अवकाश देना आकाशका उपकार है ॥18॥

§ 561. इस सूत्रमें 'उपकार' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । अवगाहन करनेवाले जीव और पुद्गलोंको अवकाश देना आकाशका उपकार जानना चाहिए । शंका—अवगाहन स्वभाव वाले जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं इसलिए इनको अवकाश देना युक्त है परन्तु धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय और नित्य सम्बन्धवाले हैं, उनका अवगाह कैसे बन सकता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि उपचारसे इसकी सिद्ध होती है । जैसे गमन नहीं करने पर भी आकाश सर्वगत कहा जाता है, क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है इसी प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्यमें अवगारूप क्रिया नहीं पायी जाती तो भी लोकाकाशमें वे सर्वत्र व्याप्त हैं, अतः वे अवगाही हैं ऐसा उपचार कर लिया जाता है । शंका—यदि अवकाश देना आकाशका स्वभाव है तो वज्रादिकसे लोढ़ा आदिकका और भीत आदिकसे गाय आदिका व्याघात नहीं प्राप्त होता है, किन्तु व्याघात तो देखा जाता है । इससे मालूम होता है कि अवकाश देना आकाशका स्वभाव नहीं ठहरता ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वज्र और लोढ़ा आदि स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए उनका आपसमें व्याघात होता है, अतः आकाशकी अवकाश देने रूप सामर्थ्य नहीं नष्ट होती । यहाँ जो व्याघात दिखाई देता है वह अवगाहन करनेवाले पदार्थोंका ही है । तात्पर्य यह है कि वज्रादिक स्थूल पदार्थ हैं, इसलिए वे परस्पर अवकाश नहीं देते, यह कुछ आकाशका दोष नहीं है । हाँ, जो पुद्गल सूक्ष्म होते हैं वे परस्पर अवकाश देते हैं । शंका—यदि ऐसा है तो यह आकाशका

1. उपकार इति वर्तते आ., ता., ना. । 2. स्तेऽपि परस्प- आ., दि. 1, दि. 2 । 3. -क्षणमिति परे- आ., दि. 1, दि. 2 ।

साधारणावगाहनहेतुत्वमस्यासाधारणं लक्षणमिति नास्ति दोषः । अलोकाकाशे तद्भावादभाव इति चेत् ? न; स्वभावापरित्यागात् ।

§ 562. उक्त आकाशस्योपकारः । अथ तदनन्तरोद्दिष्टानां पुद्गलानां क उपकार इत्य-
ब्रवीत्ये—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥19॥

§ 563. इदमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? पुद्गलानां क उपकार इति परिप्रश्ने पुद्गला-
नां लक्षणमुच्यते;¹ शरीरादीनि पुद्गलमयानीति ? नैतदयुक्तम्; पुद्गलानां लक्षणमुत्तरत्र² वक्ष्यते ।
इदं तु जीवान् प्रति पुद्गलानामुपकारप्रतिपादनार्थमेवेति उपकारप्रकरणे उच्यते । शरीराण्युक्तानि ।
औदारिकादीनि सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षाणि । तदुदयापादित³ वृत्तीन्युपचयशरीराणि कानिचित्प्रत्यक्षाणि
कानिचिदप्रत्यक्षाणि । एतेषां कारणभूतानि कर्माण्यपि शरीरग्रहणेन गृह्यन्ते । एतानि पौद्गलिका-
नीति कृत्वा जीवानामुपकारे पुद्गलाः प्रवर्तन्ते । स्यान्मतं कार्मणमपौद्गलिकम्; अनाकारत्वाद्⁴ ।
आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तमिति ? तन्न; तवपि पौद्गलिकमेव; तद्विपा-
कस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात् । वक्ष्यते हि ब्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्रापितपरिपाकानां
पौद्गलिकत्वम् । तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात्पौद्-

असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे पदार्थोंमें भी इसका सद्भाव पाया जाता है ?
समाधान—नहीं क्योंकि, आकाश द्रव्य सब पदार्थोंको अवकाश देने में साधारण कारण है यही
इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है । शंका—अलोकाकाशमें अवकाशदान रूप
स्वभाव नहीं पाया जाता, इससे ज्ञात होता है कि यह आकाशका स्वभाव नहीं है ? समाधान—
नहीं, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता ।

§ 562. आकाश द्रव्यका उपकार कहा । अब उसके अनन्तर कहे गये पुद्गलोंका क्या
उपकार है, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शरीर, बचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलोंका उपकार है ॥19॥

§ 563. शंका—यह अयुक्त है । प्रतिशंका—क्या अयुक्त है ? शंका—पुद्गलोंका क्या
उपकार है यह प्रश्न था पर उसके उत्तरमें 'शरीरादिक पुद्गलमय हैं' इस प्रकार पुद्गलों का
लक्षण कहा जाता है ? समाधान—यह अयुक्त नहीं है, क्योंकि पुद्गलोंका लक्षण आगे कहा जायगा,
यह सूत्र तो जीवोंके प्रति पुद्गलोंके उपकारका कथन करनेके लिए ही आया है, अतः उपकार
प्रकरणमें ही यह सूत्र कहा है । औदारिक आदि पाँचों शरीरोंका कथन पहले कर आये हैं । वे
सूक्ष्म होनेसे इन्द्रियगोचर नहीं हैं । किन्तु उनके उदयसे जो उपचय शरीर प्राप्त होते हैं उनमें-से
कुछ शरीर इन्द्रियगोचर हैं और कुछ इन्द्रियातीत हैं । इन पाँचों शरीरोंके कारणभूत जो कर्म हैं
उनका भी शरीर पदके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है । ये सब शरीर पौद्गलिक हैं ऐसा समझ-
कर जीवोंका उपकार पुद्गल करते हैं यह कहा है । शंका—आकाशके समान कार्मण शरीरका
कोई आकार नहीं पाया जाता, इसलिए उसे पौद्गलिक मानना युक्त नहीं है । हाँ, जो औदारिक
आदिक शरीर आकारवाले हैं उनको पौद्गलिक मानना युक्त है ? समाधान—यह कहना ठीक
नहीं है, क्योंकि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है, क्योंकि उसका फल मूर्तिमान् पदार्थोंके
सम्बन्धसे होता है । यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जलादिकके संबन्धसे पकनेवाले घान आदि

1. -च्यते भवता शरी- मु. । 2. -रत्र स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः इत्यत्र वक्ष्यते मु. । 3. -पादित-
(तदुदयोपपादित) वृत्ती- मु. । 4. -कारत्वादाकाशवत् । आकार- मु. ।

गलिकमित्यवसेयम् । वाग् द्विविधा—द्रव्यवाग् भाववागिति । तत्र भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमति-
श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी । तदभावे तद्वृत्त्यभावात् ।
तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि
पौद्गलिकी; श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात् । इतरेन्द्रियविषया कस्मान्न भवति । तद्ग्रहणायोग्यत्वात् ।
घ्राणग्राह्ये गन्धद्रव्ये रसाद्यनुपलब्धिवत् । अमूर्ता वागिति चेत् ? न; मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्या-
घाताभिभवादिदर्शनामूर्तिमत्त्वसिद्धेः । मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति । भावमनस्तावत्त-
द्व्युपयोगलक्षणं पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम् । द्रव्यमनश्च, ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपश-
माङ्गोपाङ्गनामलाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला
मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम् । कश्चिदाह मनो द्रव्यान्तरं रूपादिपरिणामरहितमणुमात्रं
तस्य पौद्गलिकत्वमयुक्तमिति ? तदयुक्तम् । कथम् ? उच्यते—तदिन्द्रियेणात्मना च संबद्धं वा
स्यादसंबद्धं वा । यद्यसंबद्धम्, तन्नात्मन उपकारकं भवितुमर्हति इन्द्रियस्य च साचिव्यं न करोति ।
अथ संबद्धम्, एकस्मिन् प्रदेशे संबद्धं सत्तदणु इतरेषु प्रदेशेषु उपकारं न कुर्यात् । अदृष्टवशा-
दस्य अलातचक्रवत्परिभ्रमणमिति चेत् । न; तत्सामर्थ्याभावात् । अमूर्तस्यात्मनो निष्क्रिय-
स्यादृष्टो गुणः, स निष्क्रियः सन्नन्यत्र क्रियारम्भे न समर्थः । दृष्टो हि वायुद्रव्यविशेषः

पौद्गलिक हैं । उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुड़ और काँटे आदि मूर्तिमान् पदार्थोंके मिलने पर
फल देते हैं, इससे ज्ञात होता है कि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक है । वचन दो प्रकार का है—द्रव्य-
वचन और भाववचन । इनमें-से भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण
कर्मोंके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके निमित्तसे होता है, इसलिए वह पौद्गलिक है, क्योंकि
पुद्गलोंके अभावमें भाववचनका सद्भाव नहीं पाया जाता । चूँकि इस प्रकारकी सामर्थ्यसे युक्त
क्रियावाले आत्माके द्वारा प्रेरित हो कर पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्य वचन
भी पौद्गलिक है । दूसरे द्रव्य वचन श्रोत्र इन्द्रियके विषय हैं, इससे भी ज्ञात होता है कि वे पौद्गलिक
हैं । शंका—वचन इतर इन्द्रियोंके विषय क्यों नहीं होते ? समाधान—घ्राण इन्द्रिय गन्धको ग्रहण
करती है उससे जिस प्रकार रसादिककी उपलब्धि नहीं होती उसी प्रकार इतर इन्द्रियोंमें वचनके
ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है । शंका—वचन अमूर्त हैं ? समाधान—नहीं, क्योंकि वचनोंका
मूर्त इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदिके द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदिके
द्वारा उनका व्याघात देखा जाता है तथा अन्य कारणोंसे उनका अभिभव आदि देखा जाता है ।
इससे शब्द मूर्त सिद्ध होते हैं । मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन और भावमन । लब्धि और उपयोग-
लक्षण भावमन पुद्गलोंके आलम्बनसे होता है, इसलिए पौद्गलिक है । तथा ज्ञानावरण और
वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके निमित्तसे जो पुद्गल गुण-दोषका विचार
और स्मरण आदि उपयोगके सम्मुख हुए आत्माके उपकारक हैं वे ही मनरूपसे परिणत होते हैं,
अतः द्रव्यमन भी पौद्गलिक है । शंका—मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है । वह रूपादिरूप परिणमनसे
रहित है और अणुमात्र है, इसलिए उसे पौद्गलिक मानना अयुक्त है । समाधान—शंकाकार-
का इस प्रकार कहना अयुक्त है । खुलासा इस प्रकार है—वह मन आत्मा और इन्द्रियसे सम्बद्ध
है या असम्बद्ध । यदि असम्बद्ध है तो वह आत्माका उपकारक नहीं हो सकता और इन्द्रियोंकी
सहायता भी नहीं कर सकता । यदि सम्बद्ध है तो जिस प्रदेशमें वह अणु मन सम्बद्ध है उस
प्रदेशको छोड़ कर इतर प्रदेशोंका उपकार नहीं कर सकता । शंका—अदृष्ट नामका एक गुण है
उसके वशसे वह मन अलातचक्रके समान सब प्रदेशोंमें घूमता रहता है ? समाधान—नहीं,
क्योंकि अदृष्ट नामके गुणमें इस प्रकारकी सामर्थ्य नहीं पायी जाती । यतः अमूर्त और निष्क्रिय

क्रियावान्स्पर्शवान्प्राप्त¹वनस्पतौ परिस्पन्दहेतुस्तद्विपरीतलक्षणश्चायमिति क्रियाहेतुत्वाभावः । वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षि²णात्मना उव्वस्यमानः कोष्ठयो वायु-
रुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते । तेनैवात्मना बाह्यो वायुरम्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽ-
पान इत्याख्यायते । एवं तावप्यात्मानुग्राहिणौ ; जीवितहेतुत्वात् । तेषां मनःप्राणापानानां मूर्ति-
मत्वमवसेयम् । कुतः³ ? मूर्तिमद्भिः प्रतिघातादिदर्शनात् । प्रतिभयहेतुभिराशनिपातादिभिर्मनसः
प्रतिघातो दृश्यते । सुरादिभिश्चाभिभवः । ⁴हस्ततलपटादिभिरास्यसंवरणात्प्राणापानयोः प्रतिघात
उपलभ्यते । श्लेष्मणा चाभिभवः । न चामूर्तस्य मूर्तिमद्भिः प्रतिघातादयः स्युः । अत एवात्मास्तित्व-
सिद्धिः । यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्ति त्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्त-
मात्मानं साधयति ।

§ 564. किमेतावानेव पुद्गलकृत उपकार आहोस्विदन्वोऽप्यस्तीत्यत आह—

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥20॥

§ 565. ⁵सदसद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः
प्रीतिपरितापरूपः परिणामः सुखदुःखमित्याख्यायते । भवधारणकारणायुराख्यकर्मोदयाद् भव-

आत्माका अदृष्ट गुण है । अतः यह गुण भी निष्क्रिय है, इसलिए अन्यत्र क्रियाका आरम्भ करनेमें असमर्थ है । देखा जाता है कि वायु नामक द्रव्य विशेष स्वयं क्रियावाला और स्पर्शवाला होकर ही वनस्पतिमें परिस्पन्दका कारण होता है, परन्तु यह अदृष्ट उससे विपरीत लक्षणवाला है, इस लिए यह क्रियाका हेतु नहीं हो सकता । वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला आत्मा कोष्ठगत जिस वायुको बाहर निकालता है उच्छ्-
वासलक्षण उस वायुको प्राण कहते हैं । तथा वही आत्मा बाहरी जिस वायुको भीतर करता है निःश्वासलक्षण उस वायुको अपान कहते हैं । इस प्रकार ये प्राण और अपान भी आत्माका उप-
कार करते हैं, क्योंकि इनसे आत्मा जीवित रहता है । ये मन, प्राण और अपान मूर्त हैं, क्योंकि दूसरे मूर्तपदार्थोंके द्वारा इनका प्रतिघात आदि देखा जाता है । जैसे—प्रतिभय पैदा करनेवाले बिजलीपात आदिके द्वारा मनका प्रतिघात होता है और सुरा आदिके द्वारा अभिभव । तथा हस्ततल और वस्त्र आदिके द्वारा मुखके ढँक लेनेसे प्राण और अपानका प्रतिघात उपलब्ध होता है और कफके द्वारा अभिभव । परन्तु अमूर्तका मूर्त पदार्थोंके द्वारा प्रतिघात आदि नहीं हो सकता, इससे प्रतीत होता है कि ये सब मूर्त हैं । तथा इसीसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि होती है । जैसे यन्त्रप्रतिमाकी चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ताके अस्तित्वका ज्ञान कराती हैं उसी प्रकार प्राण और अपान आदि रूप कार्य भी क्रिया वाले आत्माके अस्तित्वके साधक हैं ।

§ 564. क्या पुद्गलोंका इतना ही उपकार है या और भी उपकार है, इस बातके बतलाने के लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

सुख, दुःख जीवित और मरण ये भी पुद्गलोंके उपकार हैं ॥ 20 ॥

§ 565. साता और असाताके उदयरूप अन्तरंग हेतुके रहते हुए बाह्य द्रव्यादिके परि-
पाकके निमित्तसे जो प्रीति और परितापरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं वे सुख और दुःख कहे जाते

1. प्राप्तः वन- आ., दि. 1, दि. 2, ता., ना. । 2. -वेक्षणा- आ., दि. 1, दि. 2 । 3. कुतः । प्रतिघा-
ता. । 4. हस्ततलपटादि- ता., ना. मु. । 5. -वेद्येऽन्त- मु. ।

स्थितिभादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तप्राणापानक्रियाविशेषाव्युच्छेदो जीवितमित्युच्यते । तदुच्छेदो मरणम् । एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः¹; मूर्तिमद्वेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः । उपकाराधिकारात् 'उपग्रह' बध्ननमनर्थकम् ? नानर्थकम् । स्वोपग्रहप्रदर्शनार्थमिवम् । पुद्गलानां पुद्गलकृत उपकार इति । तद्यथा—कांस्यादीनां भस्मादिभिर्जलादीनां कतकादिभिरपःप्रभृतीनामुपकारादिविरूपकारः क्रियते । 'च' शब्दः किमर्थः ? समुच्चयार्थः । अन्योऽपि पुद्गलकृत उपकारोऽस्तीति समुच्चयीयते । यथा शरीराणि एवं चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपीति ।

§ 566. एवमाद्यमजीवकृतमुपकारं प्रदर्श्य जीवकृतोपकारप्रदर्शनार्थमाह—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥21॥

§ 567. 'परस्पर' शब्दः कर्मव्यतिहारे वर्तते । कर्मव्यतिहारश्च क्रियाव्यतिहारः । परस्पर-स्योपग्रहः परस्परोपग्रहः । जीवानामुपकारः । कः पुनरसौ ? स्वामी भृत्यः, आचार्यः शिष्यः, इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहः । स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते । भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च । आचार्य उभयलोकफलप्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेश-विहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते । शिष्या अपि तदानुकूल्यवृत्त्या आचार्याणाम्² ।

है । पर्यायके धारण करनेमें कारणभूत आयुर्कर्मके उदयसे भवस्थितिको धारण करनेवाले जीवके पूर्वोक्त प्राण और अपानरूप क्रिया विशेष का विच्छेद नहीं होना जीवित है । तथा उसका उच्छेद मरण है । ये सुखादिक जीवके पुद्गलकृत उपकार हैं; क्योंकि मूर्त कारणोंके रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है । शंका—उपकारका प्रकरण होनेसे सूत्रमें उपग्रह शब्दका प्रयोग करना निष्फल है ? समाधान—निष्फल नहीं है, क्योंकि स्वतःके उपकारके दिखलानेके लिए सूत्रमें उपग्रह शब्दका प्रयोग किया है । पुद्गलोंका भी पुद्गलकृत उपकार होता है । यथा—कांसे आदिका राख आदिके द्वारा, जल आदिका कतके आदिके द्वारा और लौह आदिका जल आदिके द्वारा उपकार किया जाता है । शंका—सूत्रमें 'च' शब्द किस लिए दिया है ? समाधान—समुच्चयके लिए । पुद्गलकृत और भी उपकार हैं इसके समुच्चयके लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है । जिस प्रकार शरीर आदिक पुद्गलकृत उपकार हैं उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार हैं ।

§ 566. इस प्रकार पहले अजीवकृत उपकारको दिखलाकर अब जीवकृत उपकारके दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परस्पर निमित्त होना यह जीवोंका उपकार है ॥21॥

§ 567. परस्पर यह शब्द कर्म व्यतिहार अर्थमें रहता है । और कर्मव्यतिहारका अर्थ क्रियाव्यतिहार है । परस्परका उपग्रह परस्परोपग्रह है । यह जीवोंका उपकार है । शंका—वह क्या है ? समाधान—स्वामी और सेवक तथा आचार्य और शिष्य इत्यादि रूपसे वर्तन करना परस्परोपग्रह है । स्वामी तो धन आदि देकर सेवकका उपकार करता है और सेवक हित का कथन करके तथा अहितका निषेध करके स्वामीका उपकार करता है । आचार्य दोनों लोक में सुखदायी उपदेश-द्वारा तथा उस उपदेशके अनुसार क्रियामें लगाकर शिष्योंका उपकार करता है और शिष्य भी आचार्यके अनुकूल प्रवृत्ति करके आचार्यका उपकार करते हैं । शंका—उपकारका अधिकार है, इसलिए सूत्रमें फिर से 'उपग्रह' शब्द किसलिए दिया है ? समाधान—पिछले

1. कारः । कुतः । मूर्ति- म., आ. । 2. -याणां कृतोप- आ. ।

उपकाराधिकारे पुनः 'उपग्रह' वचनं किमर्थम् ? पूर्वोक्तसुखादिषु तुष्टयप्रदर्शनार्थं पुनः 'उपग्रह' वचनं क्रियते¹ । सुखादीन्यपि जीवानां जीवकृत उपकार इति ।

सूत्रमें जो सुखादिक चार कह आये हैं उनके दिखलानेके लिए फिरसे 'उपग्रह' शब्द दिया है । तात्पर्य यह है कि सुखादिक भी जीवोंके जीवकृत उपकार हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ उपकार के प्रकरणमें कौन द्रव्य अन्यका क्या उपकार करता है इस बातका निर्देश किया गया है, इसलिए विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अन्य द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यका भला-बुरा कुछ कर सकता है। यदि कर सकता है तो यह मान लिया जाय कि जैन-दर्शनमें ईश्वरवादका निषेध क्यों किया गया है ? यह तो मानी हुई बात है कि एक द्रव्यके जो गुण और पर्याय होते हैं वे उसे छोड़कर अन्य द्रव्यमें प्रविष्ट नहीं होते । इसलिए एक द्रव्य अपने से भिन्न दूसरेका उपकार करता है यह विचारणीय हो जाता है । जिन दर्शनोंने ईश्वरवादको स्वीकार किया है वे प्रत्येक कार्यके प्रेरक रूपसे ईश्वरको निमित्त कारण मानते हैं । उनका कहना है कि यह प्राणी अज्ञ है, अपने सुख-दुःखका स्वामी नहीं है । ईश्वरकी प्रेरणावश स्वर्ग जाता है या नरक । इसमें स्वर्ग और नरक आदि गतियोंकी प्राप्ति जीवको होती है यह बात स्वीकार की गयी है, तथापि उनकी प्राप्तिमें ईश्वरका पूरा हाथ रहता है । अगर ईश्वर चाहे तो जीवको इन गतियोंमें आनेसे बचा भी सकता है । इसी अभिप्रायसे एक द्रव्यको अन्य द्रव्यका उपकारक माना है तब तो ईश्वरवादका निषेध करना न करनेके बराबर होता है और यदि इस उपकार प्रकरणका कोई भिन्न अभिप्राय है तो उनका दार्शनिक विश्लेषण होना अत्यावश्यक है । आगे संक्षेपमें इसी बातपर प्रकाश डाला जाता है—

लोकमें जितने द्रव्य हैं वे सब अपने-अपने गुण और पर्यायोंको लिये हुए हैं । द्रव्यदृष्टिसे वे अनन्त काल पहले जैसे थे आज भी वैसे ही हैं और आगे भी वैसे ही बने रहेंगे । किन्तु पर्यायदृष्टिसे वे सदा परिवर्तनशील हैं । उनका यह परिवर्तन द्रव्यकी मर्यादाके भीतर ही होता है । प्रत्येक द्रव्यका यह स्वभाव है । इसलिए प्रत्येक द्रव्यमें जो भी परिणाम होता है वह अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होता है । संसारी जीव पुद्गल द्रव्यसे बँधा हुआ है यह भी अपनी योग्यताके कारण ही कालान्तरमें मुक्त होता है यह भी अपनी योग्यतानुसार ही । तथापि प्रत्येक द्रव्यके इस योग्यतानुसार कार्यके होनेमें बाह्य पदार्थ निमित्त माना जाता है । जैसे बालक में पढ़नेकी योग्यता है, इसलिए उसे अध्यापक व पुस्तक आदिका निमित्त मिलने पर वह पढ़कर विद्वान् बनता है, इसलिए ये अध्यापक आदि उसके निमित्त हैं । पर तत्त्वतः विचार करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ कुछ अध्यापक या पुस्तक आदिने बालककी आत्मामें बुद्धि नहीं उत्पन्न कर दी । यदि इन बाह्य पदार्थोंमें बुद्धि उत्पन्न करनेकी योग्यता होती तो जितने बालक उस अध्यापकके पास पढ़ते हैं उन सबमें वह बुद्धि उत्पन्न कर सकता था । पर देखा जाता है कि कोई मूर्ख रहता है, कोई अल्पज्ञानी हो पाता है और कोई महाज्ञानी हो जाता है । एक ओर तो अध्यापकके बिना बालक पढ़ नहीं पाता और दूसरी ओर यदि बालकमें बुद्धिके प्रादुर्भाव होनेकी योग्यता नहीं है तो अध्यापकके लाख चेष्टा करने पर भी वह मूर्ख बना रहता है । इससे ज्ञात होता है कि कार्यकी उत्पत्तिमें अध्यापक निमित्त तो है पर वह परमार्थसे प्रेरक नहीं । ईश्वरकी मान्यतामें प्रेरकतापर बल दिया गया है और यहाँ उपकार प्रकरणमें बाह्य निमित्तको तो स्वीकार किया गया है पर उसे परमार्थ से प्रेरक नहीं माना है । यहाँ उपकार प्रकरणके ग्रथित करनेका यही अभिप्राय है ।

1. क्रियते । आह यद्यवश्यं ता., ना. ।

§ 568. आह, यद्यवश्यं सतोपकारिणा भवितव्यम्; संशय कालोऽभिमतस्तस्य क उपकार इत्यत्रोच्यते—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥22॥

§ 569. वृत्तेर्णिजतन्तात्कर्मणि भावे वा युट् स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति भवति । वर्त्यते¹ वर्तनमात्रं वा वर्तना इति । धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिवृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्प्रवर्तनीयलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः । को णिजर्थः ? वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः । यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति । यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति ? नैष दोषः; निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः । यथा “²कारीषोऽग्निरध्यापयति³ । एवं कालस्य हेतुकर्तृता । स कथं काल इत्यवसीयते ? समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिभिर्निर्वर्त्यमानानां च पाकादीनां समयः पाक इत्येवमादि⁴ स्वसंज्ञारूढिसद्भावेऽपि समयः कालः ओदनपाकः⁵ काल इति अध्यारोप्यमाणः कालव्यपदेशस्तद्व्यपदेशनिमित्तस्य कालस्यास्तित्वं गमयति । कुतः ? गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात् । द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दान्तकः परिणामः । जीवस्य क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः । धर्माधर्माकाशानामगुरुलघु-

§ 568. यदि ऐसा है कि जो है उसे अवश्य उपकारी होना चाहिए तो काल भी सद्रूप माना गया है इसलिए उसका क्या उपकार है, इसी बातके बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं ।

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं ॥22॥

§ 569. णिजन्त वृत्ति धातुसे कर्म या भावमें 'युट्' प्रत्ययके करनेपर स्त्रीलिङ्गमें वर्तना शब्द बनता है जिसकी व्युत्पत्ति 'वर्त्यते' या वर्तनमात्रम् होती है । यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्यायके उत्पन्न करनेमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी उनकी वृत्ति बाह्य सहायरी कारणके बिना नहीं हो सकती, इसलिए उसे प्रवर्तनेवाला काल है ऐसा मान कर वर्तना कालका उपकार कहा है । शंका—णिजर्थ क्या है ? समाधान—द्रव्यकी पर्याय बदलती है और उसे बदलानेवाला काल है । शंका—यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है ? जैसे शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है । (यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है ।) समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्त मात्रमें भी हेतुकर्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है । जैसे कंडेकी अग्नि पढ़ाती है । यहाँ कंडेकी अग्नि निमित्तमात्र है उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है । शंका—वह काल है यह कैसे जाना जाता है ? समाधान—समयादिक क्रियाविशेषोंकी और समयादिकके द्वारा होने वाले पाक आदिककी समय, पाक इत्यादि रूपसे अपनी अपनी रौढ़िक संज्ञाके रहते हुए भी उसमें जो समय काल, ओदनपाक काल इत्यादि रूपसे काल संज्ञाका अध्यारोप होता है वह उस संज्ञाके निमित्तभूत मुख्यकालके अस्तित्वका ज्ञान कराता है, क्योंकि गौण व्यवहार मुख्यकी अपेक्षा रखता है । एक धर्मकी निवृत्ति करके दूसरे धर्मके पैदा करने रूप और परिस्पन्दसे रहित द्रव्यकी जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं । यथा जीवके क्रोधादि और पुद्गलके वर्णादि । इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यमें परिणाम होता है जो अगुरुलघु गुणों (अविभाग-

1. -त्यते वर्तते वर्तन- मु. 2. कारीषाग्नि- आ. । 3. 'हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे. भिक्षादिषु दर्शनात् । हेतुनिर्देशश्च निमित्तमात्रे द्रष्टव्यः । यावद् ब्रूयन्निमित्त' कारणमिति तावद्वेतुरिति । किं प्रयोजनम् ? भिक्षादिषु दर्शनात् । भिक्षादिष्वपि णिज्द्रव्यते भिक्षा वासयन्ति कारीषोऽग्निरध्यापयति इति ।- पा. म. भा. 3, 1, 2, 26 । 4. -दिष्वसंज्ञा- मु. । 5. पाककालः मु. ।

गुणवृद्धिहानिकृतः । क्रिया परिस्पन्दरूपः^१ । सा द्विविधा; प्रायोगिकवैयर्थ्यभेदात् । तत्र प्रायोगिकी शकटादीनाम्, वैयर्थ्यिकी मेधादीनाम् । परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः । तत्र^२ कालोपकारप्रकरणात्कालकृते गृह्यते । त एते वर्तनादय उपकाराः कालस्यास्तित्वं गमयन्ति । ननु 'वर्तना'ग्रहणमेवास्तु, तद्भेदाः परिणामादयस्तेषां पृथग्रहणमनर्थकम् ? नानर्थकम्; काल-द्वयसूचनार्थत्वात्प्रपञ्चस्य । कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च । परमार्थकालो वर्तनालक्षणः । परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः । अन्येन परिच्छिन्नः अन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवहियते । स त्रिविधा व्यवतिष्ठते—भूतो वर्तमानो भविष्यन्ति । तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः । भूतादिव्यपदेशो गौणः । व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः । कालव्यपदेशो गौणः; क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात्कालकृतत्वाच्च । अत्राह, धर्माधर्मकाश-पुद्गलजीवकालानामुपकारा उक्ताः । लक्षणं चोक्तम् 'उपयोगो लक्षणम्' इत्येवमादि । पुद्गलानां तु सामान्यलक्षणमुक्तम्^३ 'अजीवकायाः' इति । विशेषलक्षणं नोक्तम् । तत्किमित्यत्रोच्यते—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥23॥

§ 570. स्पृश्यते स्पर्शनमात्रं वा स्पर्शः । सोऽष्टविधः; मृदुकठिनगुल्लघुशीतोष्णस्निग्ध-रूक्षभेदात् । रस्यते रसनमात्रं वा रसः । स पञ्चविधः; तिक्ताम्लकटुकमधुरकषायभेदात् ।

प्रतिच्छेदों) की वृद्धि और हानिसे उत्पन्न होता है । द्रव्यमें जो परिस्पन्दरूप परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं । प्रायोगिक और वैयर्थ्यिकके भेदसे वह दो प्रकारकी है । उनमें-से गाड़ी आदि की प्रायोगिक क्रिया है और मेधादिककी वैयर्थ्यिकी । परत्व और अपरत्व दो प्रकारका है—क्षेत्रकृत और कालकृत । प्रकृतमें कालकृत उपकारका प्रकरण है, इसलिए कालकृत परत्व और अपरत्व लिये गये हैं । ये सब वर्तनादिक उपकार कालके अस्तित्वका ज्ञान कराते हैं । शंका—सूत्रमें केवल वर्तना पदका ग्रहण करना पर्याप्त है । परिणाम आदिक उसके भेद हैं, अतः उनका अलगसे ग्रहण करना निष्फल है । समाधान—परिणाम आदिकका अलगसे ग्रहण करना निष्फल नहीं है, क्योंकि दो प्रकारके कालके सूचन करनेके लिए इतना विस्तारसे कथन किया है । काल दो प्रकारका है—परमार्थ काल और व्यवहारकाल । इनमें-से परमार्थ काल वर्तना लक्षणवाला है और परिणाम आदि लक्षणवाला व्यवहार काल है । तात्पर्य यह है कि जो क्रिया विशेष अन्यसे परिच्छिन्न होकर अन्यके परिच्छेदका हेतु है उसमें काल इस प्रकारका व्यवहार किया गया है । वह काल तीन प्रकारका है—भूत, वर्तमान और भविष्यत् । उनमें-से परमार्थ कालमें काल यह संज्ञा मुख्य है और भूतादिक व्यपदेश गौण है । तथा व्यवहार कालमें भूतादिकरूप संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है, क्योंकि इस प्रकारका व्यवहार क्रिया वाले द्रव्यकी अपेक्षासे होता है तथा कालका कार्य है । यहाँ पर शंकाकार कहता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल द्रव्यका उपकार कहा तथा, 'उपयोगो लक्षणम्' इत्यादि सूत्र द्वारा इनका लक्षण भी कहा । इसी प्रकार 'अजीवकाया' इत्यादि सूत्र द्वारा पुद्गलोंका सामान्य लक्षण भी कहा, किन्तु पुद्गलोंका विशेष लक्षण नहीं कहा, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले पुद्गल होते हैं ॥23॥

§ 570. जो स्पर्श किया जाता है उसे या स्पर्शनमात्रको स्पर्श कहते हैं । कोमल, कठोर, भारी, हल्का, ठंडा, गरम, स्निग्ध और रूक्षके भेदसे वह आठ प्रकारका है । जो स्वाद रूप होता

1. -त्मिका । परत्वापरत्वे ता. । 2. कालोपकरणा- मु. । 3. -मुक्त विशेष- आ., दि. 1, दि. 2 ।

गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्धः । स द्वेषा; सुरभिरसुरभि^१रिति । वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः । स पञ्चविधः; कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात् । त एते मूलभेदाः प्रत्येकं संख्येयास्तस्येयानन्तभेदाश्च भवन्ति । स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्त एतेषां सन्तीति स्पर्शरसगन्धवर्ण-
वत्स इति । नित्ययोगे 'मनुनिर्देशः' । यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति । मनु च रूपिणः पुद्गला इत्यत्र पुद्गलानां रूपवत्त्वमुक्तं तदविनाभाविनश्च रसादयस्तत्रैव परिगृहीता इति व्याख्यातं तस्मात्तेनैव पुद्गलानां रूपादिभस्त्वसिद्धेः सूत्रमिदमनर्थकमिति ? नैष दोषः; 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्यत्र धर्मादीनां नित्यत्वादिनिरूपणेन पुद्गलानामरूपित्वप्रसंगे तदपाकरणार्थं तदुक्तम् । इदं तु तेषां स्वरूपविशेषप्रतिपत्त्यर्थमुच्यते ।

§ 571. अवशिष्टपुद्गलविकारप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमञ्छायातपोद्योतधन्तश्च ॥24॥

§ 572. शब्दो द्विविधः भाषालक्षणो विपरीतश्चेति । भाषालक्षणो द्विविधः—साक्षरी-
अक्षरश्चेति । अक्षरीकृतः शास्त्राभिप्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदाद्यार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः । अभाषा-
रात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः । स एष सर्वः प्रायोगिकः । अभाषात्मको

है या स्वादमात्रको रस कहते हैं । तीता, खट्टा, कड़ुआ, मीठा और कसैलाके भेदसे वह पाँच प्रकारका है । जो सूँघा जाता है या सूँघनेमात्रको गन्ध कहते हैं । सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे वह दो प्रकारका है । जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्रको वर्ण कहते हैं । काला, नीला, पीला, सफेद और लालके भेदसे वह पाँच प्रकारका है । ये स्पर्श आदिके मूल भेद हैं । वैसे प्रत्येकके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं । इस प्रकार ये स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनमें पाये जाते हैं वे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले कहे जाते हैं । इनका पुद्गल द्रव्यसे सदा सम्बन्ध है यह बतलाने के लिए 'मनुप्, प्रत्यय किया है । जैसे 'क्षीरिणो न्यग्रोधाः' । यहाँ न्यग्रोध वृक्षमें दूधका सदा सम्बन्ध बतलानेके लिए 'णिनी' प्रत्यय किया है—उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए । शंका—'रूपिणः पुद्गलाः' इस सूत्रमें पुद्गलोंको रूपवाला बतला आये हैं । और रसादिक वही रहते हैं जहाँ रूप पाया जाता है; क्योंकि इनका परस्परमें सहचर नामका अविनाभाव सम्बन्ध है इसलिए रूपके ग्रहण करनेसे रसादिका ग्रहण हो ही जाता है यह भी पहले बतला आये हैं, इसलिए उसी सूत्रके बलसे पुद्गल रूपादिवाला सिद्ध हो जाता है अतः यह सूत्र निष्फल है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्रमें धर्मादिक द्रव्योंका नित्य आदि रूपसे निरूपण किया है इससे पुद्गलोंको अरूपित्व प्राप्त हुआ, अतः इस दोष के दूर करनेके लिए 'रूपिणः पुद्गलाः' यह सूत्र कहा है । परन्तु यह सूत्र पुद्गलोंके स्वरूप विशेषका ज्ञान कराने के लिए कहा है ।

§ 571. अब पुद्गलोंकी शेष रहीं पर्यायोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत-
वाले होते हैं ॥24॥

§ 572. भाषारूप शब्द और अभाषारूप शब्द इस प्रकार शब्दोंके दो भेद हैं । भाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—साक्षर और अनक्षर । जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं और जिससे आर्य और म्लेच्छोंका व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं । जिससे उनके सातिशय ज्ञानके स्वरूपका पता लगता है ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं । ये दोनों प्रकारके शब्द प्रायोगिक हैं । अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—

1. सुरभिसुरभि- आ. दि. 1, दि. 2 । 2. -वन्निर्देशः मु. । मन्निर्देशः ना. ।

द्विविधः प्रायोगिको वैखसिकश्चेति । वैखसिको बलाहकादिप्रभवः । प्रायोगिकश्चतुर्धा, तत्तद्वितत-
घनसौषिरभेदात् । तत्र चर्मतनननिमित्तः पुष्करभेरीददुरादिप्रभवस्ततः । तन्त्रोक्तवीणासुघोषा-
दिसमुद्भवो विततः । तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घनः । वंशशंखादिनिमित्तः सौषिरः । बन्धो
द्विविधः—वैखसिकः प्रायोगिकश्च । पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैखसिकः । तद्यथा-स्निग्धरुक्षत्वगुणनिमित्तो
विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः । पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः अजीवविषयो जीवाजीव-
विषयश्चेति द्विधा भिन्नः । तत्राजीवविषयो जतुकाण्डादिलक्षणः । जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्म-
बन्धः । सौक्ष्म्यं द्विविधं—अन्त्यमापेक्षिकं च । तत्रान्त्यं परमाणूनाम् । आपेक्षिकं क्लृप्तमलकबदरा-
दीनाम् । स्थूल्यमपि द्विविधमन्त्यमापेक्षिकं चेति । तत्रान्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे । आपेक्षिकं
बदरामलकक्लृप्तादिषु । संस्थानमाकृतिः । तद् द्विविधम्—इत्थंलक्षणमनित्यंलक्षणं चेति ।
वृत्तत्रिकोणचतुरस्रायतपरिमण्डलादीनामित्यंलक्षणम् । अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्य-
भिधमिति निरूपणाभावादनित्यंलक्षणम् । भेदाः षोढा; उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटन-
विकल्पात् । तत्रोत्करः काण्डादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम् । चूर्णो यदगोधूमादीनां सक्तुकाणि-
कादिः । खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः । चूर्णिका माषमुद्गादीनाम् । प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम् ।
अणुचटनं सन्तप्तायः पिण्डादिषु अमोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः । तस्यो दृष्टिप्रतिबन्ध-

प्रायोगिक और वैखसिक । मेघ आदि के निमित्तसे जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे वैखसिक शब्द हैं ।
तथा तत, वितत, घन और सौषिरके भेदसे प्रायोगिक शब्द चार प्रकारके हैं । चमड़ेसे मढ़े हुए
पुष्कर, भेरी और ददुरसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह तत शब्द है । ताँतवाले वीणा और
सुघोष आदिसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितत शब्द है । ताल, घण्टा और लालन आदिके
ताड़नसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है तथा बाँसुरी और शंख आदिके फूँकनेसे जो
शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है । बन्धके दो भेद हैं—वैखसिक और प्रायोगिक । जिसमें
पुरुषका प्रयोग अपेक्षित नहीं है वह वैखसिक बन्ध है । जैसे, स्निग्ध और रुक्ष गुणके निमित्तसे
होनेवाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदिका विषयभूत बन्ध वैखसिक बन्ध
है । और जो बन्ध पुरुषके प्रयोगके निमित्तसे होता है वह प्रायोगिक बन्ध है । इसके दो भेद हैं—
अजीवसम्बन्धी और जीवाजीवसम्बन्धी । लाख और लकड़ी आदिका अजीवसम्बन्धी प्रायोगिक
बन्ध है । तथा कर्म और नोकर्मका जो जीवसे बन्ध होता है वह जीवाजीवसम्बन्धी प्रायोगिक
बन्ध है । सूक्ष्मताके दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक । परमाणुओंमें अन्त्य सूक्ष्मत्व है । तथा
बेल, आँवला और बेर आदिमें आपेक्षिक सूक्ष्मत्व है । स्थूल्य भी दो प्रकारका है—अन्त्य और
आपेक्षिक । जगद्व्यापी महास्कन्धमें अन्त्य स्थूल्य है । तथा बेर, आँवला और बेल आदिमें आपेक्षिक
स्थूल्य है । संस्थानका अर्थ आकृति है । इसके दो भेद हैं—इत्थंलक्षण और अनित्यंलक्षण । जिसके
विषयमें 'यह संस्थान इस प्रकारका है' यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है ।
वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान हैं । तथा इससे
अतिरिक्त मेघ आदिके आकार जो कि अनेक प्रकारके हैं और जिनके विषयमें यह इस प्रकार-
का है यह नहीं कहा जा सकता वह अनित्यंलक्षण संस्थान है । भेदके छह भेद हैं—उत्कर, चूर्ण,
खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन । करोँत आदिसे जो लकड़ी आदि को चीरा जाता है वह
उत्कर नामका भेद है । जौ और गेहूँ आदिका जो सत्तू और कनक आदि बनता है वह चूर्ण
नामका भेद है । घट आदिके जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं वह खण्ड नामका भेद
है । उड़द और मूँग आदिका जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नामका भेद है । मेघके जो
अलग-अलग पटल आदि होते हैं वह प्रतर नामका भेद है । तपाये हुए लोहेके गोले आदिको घन

कारणं प्रकाशविरोधि । छाया प्रकाशावरणनिमित्ता । सा द्वेधा—वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्ब-
मात्रात्मिका चेति । आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः । उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादि-
प्रभवः प्रकाशः । त एते शब्दादयः पुद्गलद्रव्यविकाराः । त एषां सन्तीति शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य-
संस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः पुद्गला इत्यभिसंबध्यते । 'च'शब्देन नोदनाभिघातादयः
पुद्गलपरिणामा आगमे प्रसिद्धाः समुन्नीयन्ते ।

§ 573. उक्तानां पुद्गलानां भेदप्रदर्शनार्थमाह—

अश्वः स्कन्धाश्च ॥25॥

§ 574. प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाप्यन्ते शब्दन्त इत्यणवः । सौक्ष्म्यादा-
त्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च ॥ उक्तं च—

“अत्तादि अतमज्ज्ञं अत्तंतं णेव इदिये गेज्ज्ञं ।

जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥”¹

स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारस्कन्धनात्स्कन्धा इति संज्ञायन्ते । रूढौ क्रिया क्वचि-
त्सती उपलक्षणत्वेनाश्रीयते इति ग्रहणादिव्यापारायोभ्येवपि द्व्यणुकादिषु स्कन्धाख्या प्रवर्तते ।
अनन्तभेदा अपि पुद्गला अणुजात्या स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमापद्यमानाः सर्वे गृह्यन्ते इति

आदिसे पीटने पर जो फुलंगे निकलते हैं वह अणुचटम नामका भेद है । जिससे दृष्टिमें प्रतिबन्ध
होता है और जो प्रकाशका विरोधी है वह तम कहलाता है । प्रकाशको रोकनेवाले पदार्थोंके
निमित्तसे जो पैदा होती है वह छाया कहलाती है । उसके दो भेद हैं—एक तो वर्णादिके विकार
रूपसे परिणत हुई और दूसरी प्रतिबिम्बरूप । जो सूर्यके निमित्तसे उष्ण प्रकाश होता है उसे
आतप कहते हैं । तथा चन्द्रमणि और जुगुनू आदिके निमित्तसे जो प्रकाश पैदा होता है उसे
उद्योत कहते हैं । ये सब शब्दादिक पुद्गल द्रव्यके विकार (पर्याय) हैं । इसीलिए सूत्रमें पुद्गल-
को इन शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योतवाला कहा
है । सूत्रमें दिये हुए 'च' शब्द से नोदन अभिघात आदिक जो पुद्गलकी पर्यायें आगममें प्रसिद्ध
हैं उनका संग्रह करना चाहिए ।

§ 573. अब पूर्वोक्त पुद्गलोंके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पुद्गल के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध ॥25॥

§ 574. एका प्रदेशमें होनेवाले स्पर्शादि पर्यायको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रूपसे जो
'अप्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं । तात्पर्य यह है कि अणु एकप्रदेशी होनेसे सबसे
छोटा होता है इसलिए वह अणु कहलाता है । यह इतना सूक्ष्म होता है जिससे वही आदि है,
वही मध्य है और वही अन्त है । कहा भी है—

‘जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है, और जिसे इन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकतीं ऐसा
जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु समझो ।

जिनमें स्थूल रूपसे पकड़ना, रखना आदि व्यापारका स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है
वे स्कन्ध कहे जाते हैं । रूढ़िमें क्रिया कहीं पर होती हुई उपलक्षणरूपसे वह सर्वत्र ली जाती है,
इसलिए ग्रहण आदि व्यापारके अयोग्य द्व्यणुक आदिकमें भी स्कन्ध संज्ञा प्रवृत्त होती है ।
पुद्गलोंके अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणुजाति और स्कन्धजातिके भेदसे दो प्रकारके हैं ।

1. नि. सा., गा. 26 ।

तज्जात्याधारानन्तभेदसंज्ञनार्थं बहुवचनं क्रियते । अणवः स्कन्धा इति भेदाभिधानं पूर्वोक्त-
सूत्रद्वयभेदसंबन्धनार्थम् । स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तोऽणवः । स्कन्धाः पुनः शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य-
संस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च स्पर्शादिमन्तश्चेति ।

§ 575. आह, किमेषां पुद्गलानामणुस्कन्धलक्षणः परिणामोऽनादिरुत आदिमानित्युच्यते ।
स खलूत्पत्तिमत्त्वादादिमानप्रतिज्ञायते । यद्येवं तस्मादभिधीयतां कस्मान्निमित्तादुत्पद्यन्त इति । तत्र
स्कन्धानां तावदुत्पत्तिहेतुप्रतिपादनार्थमुच्यते—

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥26॥

§ 576. संघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः । पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः संघातः ।
तनु च द्वित्वाद् द्विवचनेन भवितव्यम् । बहुवचननिर्देशस्त्रितयसंग्रहार्थः । भेदात्संघाताद् भेदसंघा-
ताभ्यां च उत्पद्यन्त इति । तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः संघाताद् द्विप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते ।
द्विप्रदेशस्याणोश्च त्रयाणां वा अणूनां संघातात्त्रिप्रदेशः । द्वयोर्द्विप्रदेशयोस्त्रिप्रदेशस्याणोश्च
चतुर्णां वा अणूनां संघाताच्चतुःप्रदेशः । एवं संख्येयासंख्येयानन्तानामनन्तानन्तानां च
संघातात्तावत्प्रदेशः । एषामेव भेदात्तावद् द्विप्रदेशपर्यन्तः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । एवं भेदसंघाताभ्या-

इस प्रकार पुद्गलोंकी इन दोनों जातियोंके आधारभूत अनन्त भेदोंके सूचन करनेके लिए सूत्रमें
बहुवचनका निर्देश किया है । यद्यपि सूत्रमें अणु और स्कन्ध इन दोनों पदोंको समसित रखा जा
सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणवः स्कन्धाः' इस प्रकार भेद रूपसे जो कथन किया है वह
इस सूत्रसे पहले कहे गये दो सूत्रोंके साथ अलग अलग सम्बन्ध बतलानेके लिए किया है । जिससे
यह ज्ञात हो कि अणु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य
संस्थान, भेद, छाया, आप्त और उद्योतवाले हैं तथा स्पर्शादिवाले भी हैं ।

§ 575. इन पुद्गलोंका अणु और स्कन्धरूप परिणाम होना अनादि है या सादि ? वह
उत्पन्न होता है इसलिए सादि है । यदि ऐसा है तो उस निमित्तका कथन करो जिससे अणु और
स्कन्ध ये भेद उत्पन्न होते हैं । इसलिए पहले स्कन्धोंकी उत्पत्तिके हेतुका कथन करनेके लिए
आगेका सूत्र कहते हैं—

भेदसे, संघातसे तथा भेद और संघात दोनोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं ॥26॥

§ 576 अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकारके निमित्तोंसे संघातोंके विदारण करनेको
भेद कहते हैं । तथा पृथग्भूत हुए पदार्थोंके एकरूप हो जानेको संघात कहते हैं । शंका—भेद और
संघात दो हैं, इसलिए सूत्रमें द्विवचन होना चाहिए ? समाधान—तीनका संग्रह करनेके लिए
सूत्रमें बहुवचनका निर्देश किया है । जिससे यह अर्थ सम्पन्न होता है कि भेदसे, संघातसे तथा
भेद और संघात इन दोनोंसे स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । खुलासा इस प्रकार है—दो परमाणुओंके
संघातसे दो प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है । दो प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके संघातसे या तीन
अणुओंके संघातसे तीन प्रदेशवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है । दो प्रदेशवाले दो स्कन्धोंके संघातसे,
तीन प्रदेशवाले स्कन्ध और अणुके संघातसे या चार अणुओंके संघातसे चार प्रदेशवाला स्कन्ध
उत्पन्न होता है । इस प्रकार संख्यात, असंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त अणुओंके संघातसे
उतने उतने प्रदेशोंवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । तथा इन्हीं संख्यात आदि परमाणुवाले स्कन्धोंके
भेदसे दो प्रदेशवाले स्कन्ध तक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार एक समयमें होनेवाले भेद

1. तृतीय- मु. । 2. -ख्येयानन्तानां च संघा- ता., ना. । 3. भेदाद्द्विप्रदे- ता., आ., दि. 1, दि. 2 ।

मेकसमधिकान्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । अन्यतो भेदेनान्यस्य संघातेनेति । एवं स्कन्धानामुत्पत्तिहेतुरुक्तः ।

§ 577. अणोरुत्पत्तिहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

भेदादणुः ॥27॥

§ 578. “सिद्धे¹ विधिरारम्भमाणो नियमार्थो भवति ।” अणोरुत्पत्तिर्भेदादेव, न संघातान्नापि भेदसंघातान्यामिति ।

§ 579. आह, संघातादेव स्कन्धानामात्मलाभे सिद्धे भेदसंघातग्रहणमनर्थकमिति तद्ग्रहण-प्रयोजनप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥28॥

§ 580. अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि कश्चिच्चाक्षुषः कश्चिदचाक्षुषः । तत्र योऽचाक्षुषः स कथं चाक्षुषो भवतीति चेदुच्यते—भेदसंघातान्यां चाक्षुषः । न भेदादिति । कात्रोप-पत्तिरिति चेत् ? ब्रूमः; सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्मापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव । सौक्ष्म्य-परिणतः पुनरपरः सत्यपि तद्भेदेऽन्यसंघातान्तरसंयोगात्सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ चाक्षुषो भवति ।

और संघात इन दोनोंसे दो प्रदेशवाले आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । तात्पर्य यह है कि जब अन्य स्कन्ध से भेद होता है और अन्यका संघात, तब एक साथ भेद और संघात इन दोनोंसे भी स्कन्धकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण कहा ।

§ 577. अब अणुकी उत्पत्तिके हेतुको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भेदसे अणु उत्पन्न होता है ॥27॥

§ 578. कोई विधि सिद्ध हो, फिर भी यदि उसका आरम्भ किया जाता है तो वह नियम के लिए होती है । तात्पर्य यह है कि अणु भेदसे होता है यद्यपि यह सिद्ध है फिर भी ‘भेदादणुः’ इस सूत्रके निर्माण करनेसे यह नियम फलित होता है कि अणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है । न संघातसे होती है और न भेद और संघात इन दोनोंसे ही होती है ।

§ 579. जब संघातसे ही स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है तब सूत्रमें भेद और संघात इन दोनों पदोंका ग्रहण करना निष्फल है ? अतः इन दोनों पदोंके ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है इसका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

भेद और संघातसे चाक्षुष स्कन्ध बनता है ॥28॥

§ 580. अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायसे निष्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है और कोई अचाक्षुष । उसमें जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे होता है इसी बात-के बतलाने के लिए यह कहा है कि भेद और संघातसे चाक्षुष स्कन्ध होता है, केवल भेदसे नहीं, यह इस सूत्रका अभिप्राय है । शंका—इसका क्या कारण है ? समाधान—आगे उसी कारणको बतलाते हैं—सूक्ष्मपरिणामवाले स्कन्धका भेद होनेपर वह अपनी सूक्ष्मताको नहीं छोड़ता इस-लिए उसमें अचाक्षुषपना ही रहता है । एक दूसरा सूक्ष्मपरिणामवाला स्कन्ध है जिसका यद्यपि भेद हुआ तथापि उसका दूसरे संघातसे संयोग हो गया अतः सूक्ष्मपना निकलकर उसमें स्थूलपने की उत्पत्ति हो जाती है और इसलिए वह चाक्षुष हो जाता है ।

1. ‘सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः’ न्यायसंग्रहः ।

§ 581. आह, धर्मादीनां द्रव्याणां विशेषलक्षणान्युक्तानि, सामान्यलक्षणं नोक्तम्, तद्वस्तव्यम् । उच्यते—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥29॥

§ 582. यत्सत्तद् द्रव्यमित्यर्थः ।

§ 583. यद्येवं तदेव तावद्वक्तव्यं किं सत् । इत्यत आह—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥30॥

§ 584. चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य त्वां जातिमजहत्¹ उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् । तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः । यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः । अनादिवारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः । ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम् । यथा मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः । तैरुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं² उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति । आह, भेदे सति युक्तशब्दो दृष्टः । यथा दण्डेन युक्तो देवदत्त इति । तथा सति तेषां त्रयाणां तैर्युक्तस्य द्रव्यस्य चाभावः प्राप्नोति ? नैष दोषः; अभेदेऽपि कथञ्चिद् भेदनयापेक्षया युक्तशब्दो दृष्टः । यथा सारयुक्तः स्तम्भ इति । तथा सति तेषामविनाभावस्तद्व्ययपदेशो युक्तः । समाधिवचनो वा युक्तशब्दः । युक्तः समाहितस्तदात्मक इत्यर्थः । उत्पादव्यय-

§ 581. धर्मादिक द्रव्यके विशेष लक्षण कहे, सामान्य लक्षण नहीं कहा, जो कहना चाहिए इसलिए सूत्र द्वारा सामान्य लक्षण कहते हैं—

द्रव्यका लक्षण सत् है ॥29॥

§ 582. जो सत् है वह द्रव्य है यह इस सूत्रका भाव है ।

§ 583. यदि ऐसा है तो यही कहिए कि सत् क्या है ? इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंसे युक्त अर्थात् इन तीनोंरूप है वह सत् है ॥30॥

§ 584. द्रव्य दो हैं—चेतन और अचेतन । वे अपनी जातिको तो कभी नहीं छोड़ते फिर भी उनकी अन्तरंग और बहिरंग निमित्तके वशसे प्रति समय जो नवीन अवस्थाकी प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं । जैसे मिट्टीके पिण्डकी घट पर्याय । तथा पूर्व अवस्थाके त्यागको व्यय कहते हैं । जैसे घटकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डरूप आकारका त्याग तथा जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं । तथा इस ध्रुवका भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है । जैसे मिट्टीके पिण्ड और घटादि अवस्थाओंमें मिट्टीका अन्वय बना रहता है । इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे जो युक्त है वह सत् है । शंका—भेदके रहते हुए युक्त शब्द देखा जाता है । जैसे दण्डसे युक्त देवदत्त । यहाँ दण्ड और देवदत्तमें भेद है प्रकृतमें भी यदि ऐसा मान लिया जाय तो उन तीनोंका और उन तीनोंसे युक्त द्रव्यका अभाव प्राप्त होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि अभेदमें भी कथञ्चित् भेदग्राही नयकी अपेक्षा युक्त शब्दका प्रयोग देखा जाता है । जैसे सार युक्त स्तम्भ । ऐसी हालतमें उन तीनोंका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से यहाँ युक्त शब्दका प्रयोग करना युक्त है । अथवा यह युक्त शब्द समाधिवाची है । भाव यह है कि युक्त, समाहित और तदात्मक ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं जिससे 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है' इसका भाव 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है' यह होता है । उक्त कथन

1. -जहत् निमित्त- आ., वि. 1, दि. 2 । 2. -ध्रौव्ययुक्तं सदिति मु.।

ध्रौव्ययुक्तं सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमिति यावत् । एतदुक्तं भवति—उत्पादादीनि¹ द्रव्यस्य लक्षणानि । द्रव्यं लक्ष्यम्² । तत्र पर्यायाधिकनयापेक्षया परस्परतो द्रव्याच्चार्थान्तरभावः । द्रव्याधिकनयापेक्षया व्यतिरेकेणानुपलब्धेरनर्थान्तरभावः । इति लक्ष्यलक्षणभावसिद्धिः ।

§ 585. आह 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्युक्तं तत्र न ज्ञायते किं नित्यमित्यत आह—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥31॥

§ 586. 'तद्भावः' इत्युच्यते । कस्तद्भावः ? प्रत्यभिज्ञानहेतुता । तदेवेदमिति स्मरणं

का तात्पर्यं यह है कि उत्पाद आदि द्रव्यके लक्षण हैं और द्रव्य लक्ष्य है । यदि इनका पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा विचार करते हैं तो ये आपसमें और द्रव्यसे पृथक् पृथक् हैं और यदि द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा विचार करते हैं तो ये पृथक् पृथक् उपलब्ध नहीं होनेसे अभिन्न हैं । इस प्रकार इनमें और द्रव्यमें लक्ष्य-लक्षणभावकी सिद्धि होती है ।

विशेषार्थ—यहाँ द्रव्यका लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव बतलाया है । उभय निमित्तवश अपनी जातिका त्याग किये बिना नवीन पर्यायकी प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व पर्यायका त्याग व्यय है, और अनादि पारिणामिक स्वभावरूप अन्वयका बना रहना ध्रौव्य है । उदाहरणार्थ—कोयला जलकर राख हो जाता है, इसमें पुद्गलकी कोयलारूप पर्यायका व्यय हुआ है और क्षार रूप पर्यायका उत्पाद हुआ है, किन्तु दोनों अवस्थाओंमें पुद्गल द्रव्यका अस्तित्व बना रहता है । पुद्गलपनेका कभी भी नाश नहीं होता यही उसकी ध्रुवता है । आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और उसमें यह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है । जैसे दूध कुछ समय बाद दही रूपसे परिणम जाता है और फिर दहीका मट्ठा बना लिया जाता है, यहाँ यद्यपि दूधसे दही और दहीसे मट्ठा ये तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हुई हैं पर हैं ये तीनों एक गोरसकी ही । इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें अवस्था भेदके होनेपर भी उसका अन्वय पाया जाता है, इसलिए वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त सिद्ध होता है । यह प्रत्येक द्रव्यका सामान्य स्वभाव है । अब प्रश्न यह होता है कि प्रत्येक द्रव्य एक साथ तीनरूप कैसे हो सकता है । कदाचित् कालभेदसे उसे उत्पाद और व्ययरूप मान भी लिया जाय, क्योंकि जिसका उत्पाद होता है उसका कालान्तर में नाश अवश्य होता है । तथापि वह ऐसी अवस्थामें ध्रौव्यरूप नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका उत्पाद और व्यय होता है उसे ध्रौव्य स्वभाव माननेमें विरोध आता है । समाधान यह है कि अवस्थाभेदसे द्रव्यमें ये तीनों धर्म माने गये हैं । जिस समय द्रव्यकी पूर्व अवस्था नाशको प्राप्त होती है उसी समय उसकी नयी अवस्था उत्पन्न होती है फिर भी उसका त्रैकालिक अन्वय स्वभाव बना रहता है । इसी बातको आचार्य समन्तभद्रने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'घटका इच्छुक उसका नाश होने पर दुखी होता है, मुकुटका इच्छुक उसका उत्पाद होनेपर हर्षित होता है और स्वर्णका इच्छुक न दुखी होता है न हर्षित होता है, वह मध्यस्थ रहता है ।' एक ही समयमें यह शोक, प्रमोद और मध्यस्थभाव बिना कारणके नहीं हो सकता, इससे प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है यह सिद्ध होता है ।

§ 585. 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' यह सूत्र कह आये हैं । वहाँ यह नहीं ज्ञात होता कि नित्य क्या है, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उसके भावसे (अपनी जातिसे) च्युत न होना नित्य है ॥31॥

§ 586. अब तद्भाव इस पदका खुलासा करते हैं । शंका—'तद्भाव' क्या वस्तु है ?

1. -दादीनि त्रीणि द्रव्य --मु. । 2. लक्ष्यम् । तत्पर्या- मु., आ., दि. 1 ।

प्रत्यभिज्ञानम् । तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स 'तद्भावः' भवनं भावः । तस्य भावस्तद्भावः । येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते । यद्यत्यन्तैर्निरोधोऽभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव वा स्यात्ततः स्मरणानुपपत्तिः । तदधीनो लोकसंव्यवहारो विरुध्यते । ततस्तदभावेनाव्ययं³ तद्भावाव्ययं नित्यमिति निश्चयते । तत् तु कथंचिद्वेदितव्यम् । सर्वथा नित्यत्वे अन्यथाभावाभावात्संसारतद्विनिवृत्तिकारणप्रक्रियाविरोधः स्यात् ।

§ 587. ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेवानित्यमिति । यदि नित्यं व्ययोदयाभावाद-नित्यताव्याघातः । अनित्यमेव स्थित्यभावान्नित्यताव्याघात इति ? नेतद्विरुद्धम् । कुतः—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥32॥

§ 588. अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया⁴ प्रापितं प्रधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत् । तद्विपरीतमनर्पितम् । प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते । अर्पितं चानर्पितं चार्पितानर्पिते । ताभ्यां सिद्धेरर्पितानर्पितसिद्धेर्नास्ति विरोधः । तद्यथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता पुत्रो भ्राता⁵ भागिनेय इत्येवमादयः

समाधान—जो प्रत्यभिज्ञानका कारण है वह तद्भाव है, 'वही यह है' इस प्रकारके स्मरणको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है । इसकी निरुक्ति 'भवनं भावः, तस्य भावः तद्भावः' इस प्रकार होती है । तात्पर्य यह है कि पहले जिसरूप वस्तुको देखा है उसी रूप उसके पुनः होनेसे 'यह वही है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है । यदि पूर्व वस्तुका सर्वथा नाश हो जाय या सर्वथा नयी वस्तुका उत्पाद माना जाय तो इससे स्मरणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरणकी उत्पत्ति न हो सकनेसे स्मरणके आधीन जितना लोकसंव्यवहार चालू है वह सब विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए जिस वस्तुका जो भाव है उस रूपसे व्युत्पन्न न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है । परन्तु इसे कथंचित् जानना चाहिए । यदि सर्वथा नित्यता मान ली जाय तो परिणमनका सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और ऐसा होनेसे संसार और इसकी निवृत्तिके कारणरूप प्रक्रियाका विरोध प्राप्त होता है ।

§ 587. श्रंका—उसीको नित्य कहना और उसीको अनित्य कहना यही विरुद्ध है । यदि नित्य है तो उसका व्यय और उत्पाद न होनेसे उसमें अनित्यता नहीं बनती । और यदि अनित्य है तो स्थितिका अभाव होनेसे नित्यताका व्याघात होता है ? समाधान—नित्यता और अनित्यताका एक साथ रहना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि—

मुख्यता और गौणताकी अपेक्षा एक वस्तुमें विरोधी मालूम पड़नेवाले दो धर्मोंकी सिद्धि होती है ॥32॥

§ 588. वस्तु अनेकान्तात्मक है । प्रयोजनके अनुसार उसके किसी एक धर्मको विवक्षासे जब प्रधानता प्राप्त होती है तो वह अर्पित या उपनीत कहलाता है और प्रयोजनके अभावमें जिसकी प्रधानता नहीं रहती वह अनर्पित कहलाता है । तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु या धर्मके रहते हुए भी उसकी विवक्षा नहीं होती, इसलिए जो गौण हो जाता वह अनर्पित कहलाता है । इन दोनोंका 'अनर्पितं च अर्पितं च' इस प्रकार द्वन्द्व समास है । इन दोनोंकी अपेक्षा एक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंकी सिद्धि होती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है । खुलासा इस

1. तद्भावः । तस्य मु. । 2. -त्यन्ताविरोधो मु. । 3. -ताव्ययं नित्य- मु. । 4. विवक्षया- आ., दि. 1, दि. 2 । 5. भ्राता माता भाग- मु. ।

संबन्धा जनकत्वजन्यत्वाविनिमित्ता न विरुध्यन्ते; अर्पणाभेदात् । पुत्रापेक्षया पिता, पित्र-
पेक्षया पुत्र इत्येवमादिः । तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यम्, विशेषार्पणयानित्यमिति नास्ति
विरोधः । तौ च सामान्यविशेषौ कथंचिद् भेदाभेदाभ्यां व्यवहारहेतु भवतः ।

§ 589. अत्राह, सतोऽनेकनयव्यवहारतन्त्रत्वात् उपपन्ना भेदसंघातेभ्यः सतां ¹स्कन्धात्म-
नोत्पत्तिः । इदं तु संदिग्धम्, किं संघातः संयोगादेव द्व्यणुकादिलक्षणो भवति, उत कश्चिद्विशेषोऽव-
ध्रियत इति ? उच्यते, 'सति संयोगे बन्धादेकत्वपरिणामात्मकात्संघातो निष्पद्यते । यद्येवमिद-
मुच्यतां, कुतो² नु खलु पुद्गलजात्यपरित्यागे³ संयोगे च सति भवति केषांचिद् बन्धोऽप्येषां च
नेति ? उच्यते, यस्मात्तेषां पुद्गलात्माविशेषेऽप्यनन्तपर्यायाणां परस्परविलक्षणपरिणामादाहित-
सामर्थ्याद्भवन्प्रतीतः—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥33॥

§ 590. बाह्याभ्यन्तरकारणयशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते⁴ स्मेति स्निग्धः । तथा
रूक्षणाद्रूक्षः । स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ । तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वम् । स्निग्धत्वं चिकणगुण-
लक्षणः पर्यायः । तद्विपरीतपरिणामो रूक्षत्वम् । 'स्निग्धरूक्षत्वात्' इति हेतुनिर्देशः । तत्कृतो

प्रकार है—जैसे देवदत्तके पिता, पुत्र, भाई और भान्जे इसी प्रकार और भी जनकत्व और
जन्यत्व आदिके निमित्तसे होने वाले सम्बन्ध विरोधको प्राप्त नहीं होते । जब जिस धर्मकी
प्रधानता होती है उस समय उसमें वह धर्म माना जाता है । उदाहरणार्थ—पुत्रकी अपेक्षा वह
पिता है और पिताकी अपेक्षा वह पुत्र है आदि । उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्यकी अपेक्षा नित्य
है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है, इसलिए कोई विरोध नहीं है । वे सामान्य और विशेष
कथंचित् भेद और अभेदकी अपेक्षा ही व्यवहारके कारण होते हैं ।

§ 589. शंका—सत् अनेक प्रकारके नयके व्यवहारके आधीन होनेसे भेद, संघात और
भेद-संघातसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति भले ही बन जावे परन्तु यह संदिग्ध है कि द्व्यणुक आदि लक्षण-
वाला संघात संयोगसे ही होता है या उसमें और कोई विशेषता है ? समाधान—संयोगके होने-
पर एकत्व परिणमन रूप बन्धसे संघातकी उत्पत्ति होती है । शंका—यदि ऐसा है तो यह बतलाइए
कि सब पुद्गलजातिके होकर भी उनका संयोग होनेपर किन्हींका बन्ध होता है और किन्हींका
नहीं होता, इसका क्या कारण है ? समाधान—चूँकि वे सब जातिसे पुद्गल हैं तो भी उनकी
जो अनन्त पर्यायें हैं उनका परस्पर विलक्षण परिणमन होता है, इसलिए उससे जो सामर्थ्य
उत्पन्न होती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि—

स्निग्धत्व और रूक्षत्वसे बन्ध होता है ॥33॥

§ 590. बाह्य और आभ्यन्तर कारणसे जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उससे पुद्गल
स्निग्ध कहलाता है । इसकी व्युत्पत्ति 'स्निह्यते स्मेति स्निग्धः' होगी । तथा रूखापनके कारण
पुद्गल रूक्ष कहा जाता है । स्निग्ध पुद्गलका धर्म स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गलका धर्म रूक्षत्व
है । पुद्गलकी चिकने गुणरूप जो पर्याय है वह स्निग्धत्व है और इससे जो विपरीत परिणमन है
वह रूक्षत्व है । सूत्रमें 'स्निग्धरूक्षत्वात्' इस प्रकार हेतुपरक निर्देश किया है । तात्पर्य यह है कि

1. स्कन्धानामेवोत्प- दि. 1, दि., 2, आ. । 2. कुतोऽत्र खलु दि. 1, दि. 2 । 3. -त्यागे सति मु. ।
4. -ह्यतेऽस्मिन्निति मु. ।

बन्धो द्व्यणुकदिपरिणामः । द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्परश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुक-
स्कन्धो भवति । एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशः स्कन्धो योज्यः । तत्र स्नेहगुण एकद्वित्रिचतुः
संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पः । तथा रूक्षगुणोऽपि । तद्गुणाः परमाणवः सन्ति । यथा तोयाजामो-
महिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु स्नेहगुणः प्रकर्षप्रकर्षेण प्रवर्तते । पांशुकणिकाशर्करादिषु च रूक्षगुणो दृष्टः ।
तथा परमाणुष्वपि स्निग्धरूक्षगुणयोर्द्विः प्रकर्षप्रकर्षेणानुमीयते ।

§ 591. स्निग्धरूक्षत्वगुणनिमित्ते बन्धे अविशेषेण प्रसक्ते अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

न जघन्यगुणानाम् ॥34॥

§ 592. जघन्यो निकृष्टः । गुणो भागः । जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणाः । तेषां जघन्य-
गुणानां नास्ति बन्धः । तथा—एकगुणस्निग्धशक्त्येकगुणस्निग्धेन द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुण-
स्निग्धेन वा नास्ति बन्धः । तस्यैकगुणस्निग्धस्य एकगुणरूक्षेण द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तगुण-
रूक्षेण वा नास्ति बन्धः । तथा एकगुणरूक्षस्यापि योज्यमिति ।

§ 593. एतौ जघन्यगुणस्निग्धरूक्षौ वर्जयित्वा अन्येषां स्निग्धानां रूक्षानां च परस्परेण
बन्धो भवतीत्यविशेषेण प्रसंगे तत्रापि प्रतिषेधविषयस्थापनार्थमाह—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥35॥

द्व्यणुक आदि लक्षणवाला जो बन्ध होता है वह इनका कार्य है । स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले दो
परमाणुओंका परस्पर संश्लेषलक्षण बन्ध होनेपर द्व्यणुक नामका स्कन्ध बनता है । इसी प्रकार
संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । स्निग्ध गुणके एक, दो, तीन,
चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं । इसी प्रकार रूक्ष गुणके भी एक, दो, तीन, चार,
संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं । और इन गुणवाले परमाणु होते हैं । जिस प्रकार जल
तथा बकरी, गाय, भैंस, और ऊँटके दूध और घीमें उत्तरोत्तर अधिक रूपसे स्नेह गुण रहता है
तथा पांशु, कणिका और शर्करा आदिमें उत्तरोत्तर न्यूनरूपसे रूक्ष गुण रहता है उसी प्रकार
परमाणुओंमें भी न्यूनाधिकरूपसे स्निग्ध और रूक्ष गुणका अनुमान होता है ।

§ 591. स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुणके निमित्तसे सामान्यसे बन्धके प्राप्त होनेपर बन्धमें
अप्रयोजनीय गुणके निराकरण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जघन्य गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता ॥34॥

§ 592. यहाँ जघन्य शब्दका अर्थ निकृष्ट है और गुण शब्दका अर्थ भाग है । जिनमें
जघन्य गुण होता है अर्थात् जिनका शक्त्यंश निकृष्ट होता है वे जघन्य गुणवाले कहलाते हैं ।
उन जघन्य गुणवालोंका बन्ध नहीं होता । यथा—एक स्निग्ध शक्त्यंशवालेका एक स्निग्ध
शक्त्यंशवालेके साथ या दो से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त शक्त्यंशवालोंके साथ बन्ध
नहीं होता । उसी प्रकार एक स्निग्ध शक्त्यंशवालेका एक रूक्ष शक्त्यंशवालेके साथ या दोसे
लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूक्षशक्त्यंशवालोंके साथ बन्ध नहीं होता । उसी प्रकार
एक रूक्ष शक्त्यंशवालेकी भी योजना करनी चाहिए ।

§ 593. इन जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्त्यंशवालोंके सिवा अन्य स्निग्ध और रूक्ष
पुद्गलोंका परस्पर बन्ध सामान्य रीतिसे प्राप्त हुआ, इसलिए इनमें भी जो बन्धयोग्य नहीं हैं
वे प्रतिषेधके विषय हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गुणोंकी समानता होने पर तुल्यजातिवालोंका बन्ध नहीं होता ॥35॥

§ 594. 'सदृश'ग्रहणं तुल्यजातीयसंप्रत्ययार्थम् । 'गुणसाम्य'ग्रहणं तुल्यभागसंप्रत्ययार्थम् । एतदुक्तं भवति—द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षेः त्रिगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षेः द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धेः द्विगुणरूक्षाणां द्विगुणरूक्षेःश्चेत्येवमादिषु नास्ति बन्ध इति । यद्येवं 'सदृश'ग्रहणं किमर्थम् ? गुणवैषम्ये सदृशानामपि बन्धप्रतिपत्त्यर्थं 'सदृश'ग्रहणं क्रियते ।

§ 595. अतो विषमगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां चानियमेन बन्धप्रसक्तौ^१ इष्टार्थसंप्रत्ययार्थमिदमुच्यते—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥36॥

§ 596. द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिकः । कः पुनरसौ ? चतुर्गुणः । 'आदि'शब्दः प्रकारार्थः । कः पुनरसौ प्रकारः ? द्व्यधिकता । तेन पञ्चगुणादीनां संप्रत्ययो न भवति । तेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां च बन्ध उक्तो भवति नेतरेषाम् । तद्यथा—द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोरेकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति बन्धः । चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति बन्धः । तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षट्सप्ताष्टसंख्येयानन्तगुणस्निग्धेन वा बन्धो नास्ति । एवं त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति । शेषैः पूर्वोत्तरेन भवति । चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः । शेषैः पूर्वोत्तरे-

§ 594. तुल्य जातिवालोंका ज्ञान करानेके लिए सदृश पदका ग्रहण किया है । तुल्य शक्त्यंशोंका ज्ञान करानेके लिए 'गुणसाम्य' पदका ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि दो स्निग्ध शक्त्यंशवालोंका दो रूक्ष शक्त्यंशवालोंके साथ, तीन स्निग्ध शक्त्यंशवालोंका तीन रूक्ष शक्त्यंशवालोंके साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंशवालोंका दो स्निग्ध शक्त्यंशवालोंके साथ, दो रूक्ष शक्त्यंशवालोंका दो रूक्ष शक्त्यंशवालोंके साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए । शंका—यदि ऐसा है तो सूत्रमें 'सदृश' पद किसलिए ग्रहण किया है ? समाधान—शक्त्यंशोंकी असमानताके रहते हुए बन्ध होता है इसका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें सदृश पद ग्रहण किया है ।

§ 595. इस पूर्वोक्त कथनसे समानजातीय या असमानजातीय विषम शक्त्यंशवालोंका अनियमसे बन्ध प्राप्त हुआ, अतः इष्ट अर्थका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दो अधिक आदि शक्त्यंशवालोंका तो बन्ध होता है ॥36॥

§ 596. जिसमें दो शक्त्यंश अधिक हों उसे द्व्यधिक कहते हैं । शंका—वह द्व्यधिक कौन हुआ ? समाधान—चार शक्त्यंशवाला । सूत्रमें आदि शब्द प्रकारवाची है । शंका—वह प्रकार रूप अर्थ क्या है ? समाधान—द्व्यधिकपणा । इससे पाँच शक्त्यंश आदिका ज्ञान नहीं होता । तथा इससे यह भी तात्पर्य निकल आता है कि समानजातीय या असमानजातीय दो अधिक आदि शक्त्यंशवालोंका बन्ध होता है दूसरोंका नहीं । जैसे दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ और तीन स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । हाँ, चार स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ अवश्य बन्ध होता है । तथा उसी दो स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका पाँच स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ, इसी प्रकार छह, सात, आठ, संख्यात, असंख्यात और अनन्त स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार तीन स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका पाँच स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध होता है । किन्तु आगे-पीछेके शेष स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । चार स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुका छह स्निग्ध शक्त्यंशवाले

1. —सक्तौ विशिष्टा मु. ।

नस्ति । एवं शेषेष्वपि योज्यः । तथा द्विगुणरूक्षस्य एकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः । चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः । तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति बन्धः । एवं त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्यः । एवं भिन्नजातीयेष्वपि योज्यः । उक्तं च—

“णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिण ।

णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ।”

‘तु’शब्दो विशेषणार्थः । प्रतिषेधं व्यावर्तयति बन्धं च विशेषयति ।

§ 597. किमर्थमधिकगुणविषयो बन्धो व्याख्यातो न समगुणविषय इत्यत आह—

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥37॥

§ 598. अधिकाराद् ‘गुण’शब्दः संबध्यते । अधिकगुणावधिकाविति । भावान्तरापादनं पारिणामिकत्वं क्लिन्नगुडवत् । यथा क्लिन्नो गुडोऽधिकमधुररसः परोतानां रेण्वादीनां स्वगुणापादनात् पारिणामिकः । तथान्योऽप्यधिकगुणः अल्पीयसः पारिणामिक इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्षः पारिणामिको भवति । ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते । इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्नुवत् संयोगे सत्यप्यपारिणामि-

परमाणुके साथ बन्ध होता है किन्तु आगे पीछेके शेष स्निग्ध शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार यह क्रम आगे भी जानना चाहिए । तथा दो रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुका एक, दो और तीन रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । हाँ, चार रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुके साथ अवश्य बन्ध होता है । उसी दो रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुका आगे के पाँच आदि रूक्षशक्त्यंशवाले परमाणुओंके साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार तीन आदि रूक्ष शक्त्यंशवाले परमाणुओंका भी दो अधिक शक्त्यंशवाले परमाणुओंके साथ बन्ध जान लेना चाहिए । समान जातीय परमाणुओंमें बन्धका जो क्रम बतलाया है विजातीय परमाणुओंमें भी बन्धका वही क्रम जानना चाहिए । कहा भी है—‘स्निग्धका दो अधिक शक्त्यंशवाले स्निग्धके साथ बन्ध होता है । रूक्षका दो अधिक शक्त्यंशवाले रूक्षके साथ बन्ध होता है । तथा स्निग्धका रूक्षके साथ इसी नियमसे बन्ध होता है । किन्तु जघन्य शक्त्यंशवालेका बन्ध सर्वथा वर्जनीय है ।’ सूत्रमें ‘तु’ पद विशेषणपरक है जिससे बन्धके प्रतिषेधका निवारण और बन्धका विधान होता है ।

§ 597. अधिक गुणवालेके साथ बन्ध होता है ऐसा क्यों कहा, समगुणवालेके साथ बन्ध होता है ऐसा क्यों नहीं कहा ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्ध होते समय दो अधिक गुणवाला परिणमन करानेवाला होता है ॥37॥

§ 598. ‘गुण’ शब्दका अधिकार चला आ रहा है, इसलिए इस सूत्रमें उनका सम्बन्ध होता है, जिससे ‘अधिकौ’ पदसे ‘अधिकगुणौ’ अर्थका ग्रहण हो जाता है । गीले गुडके समान एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त कराना पारिणामिक कहलाता है । जैसे अधिक मीठे रसवाला गीला गुड उस पर पड़ी हुई धूलिको अपने गुणरूपसे परिणमानेके कारण पारिणामिक होता है उसी प्रकार अधिक गुणवाला अन्य भी अल्प गुणवालेका पारिणामिक होता है । इस व्यवस्थाके अनुसार दो शक्त्यंश आदि वाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका चार शक्त्यंश आदि वाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु पारिणामिक होता है । इससे पूर्व अवस्थाओंका त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है । अतः उनमें एकरूपता आ जाती है । अन्यथा सफेद और काले तन्नुके समान संयोगके होनेसे भी पारिणामिक न होनेसे सब अलग-अलग ही स्थित

1. -गुणोत्पाद- मु. दि. 2 ता. ।

कस्मात्सर्वं विविक्तरूपेणैवावलिष्ठेन । उक्तेन विधिना बन्धे पुनः सति ज्ञानावरणादीनां कर्मणां त्रिस्तसागरोपमकोटीकोट्याविस्थितिरूपपन्न भवति ।

रहेगा । परन्तु उक्त विधिसे बन्धके होनेपर ज्ञानावरणादि कर्मोंकी तीस कोडाकोडी सागरोपम आदि स्थिति बन जाती है ।

विशेषार्थ—यहाँ एक परमाणु आदिका अन्य परमाणु आदिके साथ बन्ध कैसे होता है इसका विचार किया गया है । रूक्ष और स्निग्ध ये विरोधी गुण हैं । जिसमें स्निग्ध गुण होता है उसमें रूक्षगुण नहीं होता और जिसमें रूक्ष गुण होता है उसमें स्निग्ध गुण नहीं होता । ये गुण ही बन्धके कारण होते हैं । किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि रूक्ष और स्निग्ध गुणका सद्भावमात्र बन्धका कारण है, क्योंकि ऐसा माननेपर एक भी पुद्गल परमाणु बन्धके बिना नहीं रह सकता, इसलिए यहाँपर विधिनिषेध-द्वारा बतलाया गया है कि किन पुद्गल परमाणुओं आदिका परस्परमें बन्ध होता है और किनका नहीं होता है । जो स्निग्ध और रूक्ष गुण जघन्य शक्त्यंश लिये हुए होते हैं उन पुद्गल-परमाणुओंका बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार गुणकी समानताके होनेपर सदृशोंका भी बन्ध नहीं होता किन्तु द्व्यधिक गुणवाले पुद्गलपरमाणु आदिका ही द्विघहीन गुणवाले पुद्गलपरमाणुआदि के साथ बन्ध होता है । ऐसा बन्ध स्निग्ध गुणवालेका स्निग्ध गुणवालेके साथ, रूक्ष गुणवालेका रूक्ष गुणवालेके साथ और स्निग्ध गुणवालेका रूक्ष गुणवालेके साथ होता है यह नियम है । इसके अनुसार यह व्यवस्था फलित होती है—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
1	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
3	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
4	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
5	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
6	जघन्येतर + त्र्यादि अधिकजघन्येतर	नहीं	नहीं

तत्त्वार्थसूत्रमें निर्दिष्ट यह बन्ध-व्यवस्था प्रवचनसारका अनुसरण करती है । प्रवचनसार में भी इसी प्रकारसे बन्ध व्यवस्थाका निर्देश किया गया है, किन्तु षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डमें कही गयी बन्ध व्यवस्था इससे कुछ भिन्न है जिसका ठीक तरहसे परिज्ञान होनेके लिए आगे कोष्ठक दिया जाता है—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
1	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
3	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	है
4	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
5	जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
6	जघन्येतर + त्र्यादि अधिकजघन्येतर	नहीं	है

§ 599. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति द्रव्यलक्षणमुक्तं पुनरपरेण प्रकारेण द्रव्यलक्षण-प्रतिपादनार्थमाह—

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥38॥

§ 600. गुणाश्च पर्यायाश्च गुणपर्यायाः । तेऽस्य सन्तीति गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । अत्र सत्तोरु-त्पत्तावुक्त, एवं समाधिः, कथंचिद् भेदोपपत्तेरिति । के गुणाः के पर्यायाः ? अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः । उभयैरूपेतं द्रव्यमिति । उक्तं च—

“गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं ॥” इति

एतदुक्तं भवति, द्रव्यं द्रव्यान्तराद् येन विशिष्यते स गुणः । तेन हि तद् द्रव्यं विधीयते । असति तस्मिन् द्रव्यसंकरप्रसङ्गः¹ स्यात् । तद्वत्तथा—जीवः पुद्गलादिभ्यो ज्ञानादिभिर्गुणैर्विशिष्यते, पुद्गलादयश्च रूपादिभिः । ततश्चाविशेषे संकरः स्यात् । ततः सामान्यापेक्षया अन्वयिनो ज्ञाना-दयो जीवस्य गुणाः पुद्गलादीनां च रूपादयः । तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमानाः पर्यायाः । घटज्ञानं पटज्ञानं क्रोधो मानो गन्धो वर्णस्तीक्ष्णो मन्द इत्येवमादयः । तेभ्योऽन्यत्वं कथंचिदापद्य-मानः समुदायो द्रव्यव्यपदेशभाक् । यदि हि सर्वथा समुदायोऽनर्थान्तरभूत एव स्यात् सर्वाभावः स्यात् । तद्वत्तथा—परस्परविलक्षणानां समुदाये सति एकानर्थान्तरभावात् समुदायस्य सर्वाभावः

§ 599. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस प्रकार द्रव्यका लक्षण कहा किन्तु अब अन्य प्रकारसे द्रव्यके लक्षणका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गुण और पर्यायवाला द्रव्य है ॥38॥

§ 600. जिसमें गुण और पर्याय दोनों हैं वह गुण-पर्यायवाला कहलाता है और वही द्रव्य है । यहाँ 'मतुप्' प्रत्ययका प्रयोग कैसे बनता है इस विषयमें पहले समाधान कर आये हैं । तात्पर्य यह है कि द्रव्यका गुण और पर्यायोंसे कथंचित् भेद है इसलिए यहाँ 'मतुप्' प्रत्ययका प्रयोग बन जाता है । शङ्का—गुण किन्हें कहते हैं और पर्याय किन्हें कहते हैं ? समाधान—गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी । तथा इन दोनोंसे युक्त द्रव्य होता है । कहा भी है—'द्रव्य में भेद करनेवाले धर्मको गुण और द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं । द्रव्य इन दोनोंसे युक्त होता है । तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है ।' तात्पर्य यह है कि जिससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे जुदा होता है वह गुण है । इसी गुणके द्वारा उस द्रव्यका अस्तित्व सिद्ध होता है । यदि भेदक गुण न हो तो द्रव्योंमें सांकर्य हो जाय । खुलासा इस प्रकार है—

जीव द्रव्य पुद्गलादिक द्रव्योंसे ज्ञानादि गुणोंके द्वारा भेदको प्राप्त होता है और पुद्गलादिक द्रव्य भी अपने रूपादि गुणोंके द्वारा भेदको प्राप्त होते हैं । यदि ज्ञानादि गुणोंके कारण विशेषता न मानी जाय तो सांकर्य प्राप्त होता है । इसलिए सामान्यकी अपेक्षा जो अन्वयी ज्ञानादि हैं वे जीवके गुण हैं और रूपादिक पुद्गलादिकके गुण हैं । तथा इनके विकार विशेष रूपसे भेदको प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं । जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान, गन्ध, वर्ण, तीव्र और मन्द आदिक । तथा जो इनसे कथंचित् भिन्न है और समुदाय रूप है वह द्रव्य कहलाता है । यदि समुदायको सर्वथा अभिन्न मान लिया जाय तो सबका अभाव प्राप्त

प्रसंगात् । तद्य- ता., ना. ।

परस्परतोऽर्थान्तरभूतत्वात् । यद्विदं रूपं तस्मादर्थान्तरभूता रसादयः । ततः समुदायोऽर्थान्तरभूतः । यश्च रसादिभ्योऽर्थान्तरभूताद्रूपादनर्थान्तरभूतः समुदायः स कथं रसादिभ्योऽर्थान्तरभूतो न भवेत् । ततश्च रूपमात्रं समुदायः प्रसक्तः । न चैकं रूपं समुदायो भवितुमर्हति । ततः समुदायाभावः । समुदायाभावाच्च तदनर्थान्तरभूतानां समुदायिनामप्यभाव इति सर्वाभावः । एवं रसादिष्वपि योज्यम् । तस्मात्समुदायमिच्छता कथंचिदर्थान्तरभाव एवितव्यः ।

§ 601. उक्तानां द्रव्याणां लक्षणनिर्देशात्तद्विषय एव द्रव्याध्यवसाये प्रसक्ते अनुक्तद्रव्यसंसूचनार्थमाह—

कालश्च ॥39॥

होता है । खुलासा इस प्रकार है—परस्पर विलक्षण धर्मोंका समुदाय होनेपर यदि उसे एक और अभिन्न माना जाय तो समुदायका और सबका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि वे धर्म परस्पर भिन्न हैं । जो यह रूप है उससे रसादिक भिन्न हैं । अब यदि इनका समुदाय अभिन्न माना जाता है तो रसादिकसे भिन्न जो रूप है और उससे अभिन्न जो समुदाय है वह रसादिकसे भिन्न कैसे नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा । और इस प्रकार समुदाय रूपमात्र प्राप्त होता है । परन्तु एक रूप गुण समुदाय हो नहीं सकता इसलिए समुदायका अभाव प्राप्त होता है और समुदायका अभाव हो जानेसे उससे अभिन्न समुदायियोंका भी अभाव होता है । इस प्रकार समुदाय और समुदायी सबका अभाव हो जाता है । जिस प्रकार रूप की अपेक्षा कथन किया उसी प्रकार रसादिककी अपेक्षा भी कथन करना चाहिए । इसलिए यदि समुदाय स्वीकार किया जाता है तो वह कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिए ।

विशेषार्थ—पहले उत्पाद, व्यय और ध्रुव्यसे युक्त द्रव्य होता है यह कह आये हैं । यहाँ प्रकारान्तरसे द्रव्यका लक्षण कहा गया है । इसमें द्रव्यको गुणपर्यायवाला बतलाया गया है । बात यह कि प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणोंका और क्रमसे होनेवाली उनकी पर्यायोंका पिण्डमात्र है । सर्वत्र गुणोंको अन्वयी और पर्यायोंको व्यतिरेकी बतलाया गया है । इसका अर्थ यह है कि जिनसे धारामें एकरूपता बनी रहती है वे गुण कहलाते हैं और जिनसे उसमें भेद प्रतीत होता है वे पर्याय कहलाते हैं । जीवमें ज्ञानादिककी धाराका, पुद्गलमें रूप रसादिकी धाराका, धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्वकी धाराका, अधर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्वकी धाराका, आकाशमें अवगाहन हेतुत्वकी धाराका और काल द्रव्यमें वर्तनाका कभी विच्छेद नहीं होता, इसलिए वे ज्ञानादिक उस उस द्रव्यके गुण हैं किन्तु वे गुण सदाकाल एकरूप नहीं रहते । जो नित्य द्रव्योंके गुण हैं उन्हें यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी जीव और पुद्गलोंके गुणोंमें प्रतिसमय स्पष्टतया परिणाम लक्षित होता है । उदाहरणार्थ—जीवका ज्ञानगुण संसार अवस्थामें कभी मतिज्ञानरूप होता है और कभी श्रुतज्ञान रूप । इसीलिए ये मतिज्ञानादि ज्ञानगुणकी पर्याय हैं । इसी प्रकार अन्य गुणोंमें भी जान लेना चाहिए । द्रव्य सदा इन गुणरूप पर्यायों में रहता है, इसलिए वह गुणपर्यायवाला कहा गया है । फिर भी गुण और पर्यायको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न न जानना चाहिए । वे दोनों मिलकर द्रव्यकी आत्मा हैं । इसका अभिप्राय यह है कि गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं ।

§ 601. पूर्वोक्त द्रव्योंके लक्षणका निर्देश करनेसे यह प्राप्त हुआ कि जो उस लक्षणका विषय है वही द्रव्य है, अतः अभी तक जिस द्रव्यका कथन नहीं किया उसकी सूचना करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

काल भी द्रव्य है ॥39॥

§ 602. किम् ? 'द्रव्यम्' इति वाक्यशेषः । कतः ? तल्लक्षणोपेतत्वात् । द्विविधं लक्षण-
मुक्तम्—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति च । तदुभयं लक्षणं कालस्य
विद्यते । तथा—ध्रौव्यं तावत्कालस्य स्वप्रत्ययं स्वभावव्यवस्थानात् । व्ययोदयौ परप्रत्ययौ,
अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च । तथा गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः
सन्ति । तत्रासाधारणो वर्तनाहेतुत्वम्, साधारणाश्वाचेतनत्वामूर्तत्वसूक्ष्मत्वानुल्लगुत्वादयः । पर्या-
याश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्याः । तस्माद् द्विप्रकारलक्षणोपेतत्वादाकाशादिवत्कालस्य द्रव्यत्वं
सिद्धम् । तस्यास्तित्वलिंगं धर्मादिवद् व्याख्यातम् 'वर्तनालक्षणः कालः' इति¹ । ननु किमर्थमयं
कालः पृथगुच्यते । यत्रैव धर्मादय उक्तास्तत्रैवायमपि वक्तव्यः 'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकाल-
पुद्गलाः' इति । नैवं शङ्क्यम्; तत्रोद्देशे सति कायत्वमस्य स्यात् । नेष्ट्रते च मुख्योपचारप्रदेश-
प्रचयकल्पनाभावात् । धर्मादीनां तावन्मुख्यप्रदेशप्रचय उक्तः 'असंख्येयाः प्रदेशाः' इत्येवमादिनां ।
अणोरप्येकप्रदेशस्य पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेशप्रचय उक्तः । कालस्य
पुनर्द्वधापि प्रदेशप्रचयकल्पना नास्तीत्यकायत्वम् । अपि च तत्र पाठे 'निष्क्रियाणि च' इत्यत्र धर्म-
दीनामाकाशान्तानां निष्क्रियत्वे प्रतिपादिते इतरेषां जीवपुद्गलानां³ सक्रियत्वप्राप्तिवत्कालस्यापि
सक्रियत्वं स्यात् । अथाकाशात्प्राक्काल उद्दिश्यते⁴ । तन्न; 'आ आकाशादेकद्रव्याणि' इत्येकद्रव्य-

§ 602. शंका—क्या है ? समाधान—'द्रव्य है' इतना वाक्य शेष है । शंका—काल द्रव्य
क्यों है ? समाधान—क्योंकि इसमें द्रव्यका लक्षण पाया जाता है । जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य
से युक्त है वह सत् है तथा जो गुण और पर्यायवाला है वह द्रव्य है । इस प्रकार द्रव्यका दो
प्रकारसे लक्षण कहा है । वे दोनों ही लक्षण कालमें पाये जाते हैं । खुलासा इस प्रकार है—काल-
में ध्रुवता स्वनिमित्तक है, क्योंकि उससे अपने स्वभाव की व्यवस्था होती है । व्यय और उत्पाद
परनिमित्तक हैं, और अगुरुलघु गुणोंकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षा स्वनिमित्तक भी हैं । तथा
कालके साधारण और असाधारण रूप दो प्रकारके गुण भी हैं । उनमें-से असाधारण गुण वर्तना-
हेतुत्व है और साधारण गुण अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व आदिक हैं । इसी
प्रकार व्यय और उत्पादरूप पर्याय भी घटित कर लेना चाहिए । इसलिए कालमें जब द्रव्यके
दोनों लक्षण पाये जाते हैं तो वह आकाशादिके समान स्वतन्त्र द्रव्य है यह सिद्ध होता है । धर्मादिक
द्रव्यके समान इसके अस्तित्वके कारण का व्याख्यान किया ही है कि 'कालका लक्षण वर्तना है ।'
शंका—काल द्रव्यको अलगसे क्यों कहा ? जहाँ धर्मादिक द्रव्योंका कथन किया है वहीं पर इसका
कथन करना था, जिससे प्रथम सूत्रका रूप यही होता—'अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः'
समाधान—इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर यदि इसका कथन करते तो
इसे कायपना प्राप्त होता । परन्तु काल द्रव्य कायवान् नहीं कहा है, क्योंकि इसमें मुख्य और
उपचार दोनों प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कल्पनाका अभाव है । धर्मादिक द्रव्योंका तो 'असंख्येयाः
प्रदेशाः' इत्यादिक सूत्रों द्वारा मुख्यरूपसे प्रदेशप्रचय कहा है । उसी प्रकार एक प्रदेशवाले अणुका
भी पूर्वोत्तरभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपचारकल्पनासे प्रदेशप्रचय कहा है, परन्तु कालके दोनों
प्रकारसे प्रदेशप्रचयकी कल्पना नहीं बनती, इसलिए वह अकाय है । दूसरे, यदि प्रथम सूत्र में
कालका पाठ रखते हैं तो 'निष्क्रियाणि च' इस सूत्रमें धर्मसे लेकर आकाश तक के द्रव्योंको
निष्क्रिय कहनेपर जैसे जीव और पुद्गलोंको सक्रियत्व प्राप्त होता है वैसे ही काल द्रव्यको भी
सक्रियत्व प्राप्त होता । शंका—इस दोषको दूर करनेके लिए आकाशसे पहले कालको रख दिया
जाय ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'आकाश तक एक द्रव्य है' इस सूत्र वचनके

1. इति । किमर्थ- मु. । 2. -त्तरप्रश्ना- मु. । 3. -पुद्गलादीनां मु. । 4. -इयते । आ आका- आ., दि. ।

त्वमस्य स्यात् । तस्मात्पृथगिह कालोद्देशः क्रियते । अनेकद्रव्यत्वे सति किमस्य प्रमाणम् । लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो निष्क्रियाः । एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकं व्याप्य व्यवस्थिताः । उक्तं च—

“लोगागासपदेसे एक्केक्के जे द्विया हु एक्कक्का ।

रयणाण रासीविव ते कालाण मुण्येयवा ॥”

रूपादिगुणविरहादमूर्तः ।

अनुसार यदि कालको आकाशके पहले रखते हैं तो उसे एक द्रव्यत्व प्राप्त होता है । ये सब दोष न रहें, इसलिए कालका अलगसे कथन किया है । शंका—काल अनेक द्रव्य हैं इसमें क्या प्रमाण है ? समाधान—लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने कालाणु हैं और वे निष्क्रिय हैं । तात्पर्य यह है कि लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालाणु अवस्थित है । कहा भी है—‘लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर जो रत्नोंकी राशिके समान अवस्थित हैं उन्हें कालाणु जानो ।’ ये कालाणु रूपादि गुणोंसे रहित होनेके कारण अमूर्त हैं ।

विशेषार्थ—पहले पाँच द्रव्योंके अस्तित्वकी चर्चा कर आये हैं । यहाँ छठा द्रव्य काल है इसका विचार किया जा रहा है । काल द्रव्य है या नहीं इस विषयमें श्वेताम्बर परम्परामें दो मत मिलते हैं । एक मत तो कालको द्रव्यरूपसे स्वीकार करता है और दूसरा मत कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता । इस दूसरे मतके अनुसार सूर्यादिके निमित्तसे जो दिन-रात, घड़ी-घण्टा, पल-विपल आदि रूप काल अनुभवमें आता है वह सब पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है । किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इन जीव पुद्गल आदि द्रव्योंका परिणमन किसके निमित्तसे होता है ? यदि कहा जाय कि उत्पन्न होना, व्यय होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव है । इसके लिए अन्य निमित्तके माननेकी क्या आवश्यकता ? तो इस प्रश्नपर यह तर्क होता है कि यदि इस तरह सर्वथा स्वभावसे ही प्रत्येक द्रव्यका परिणमन माना जाता है तो गति, स्थिति और अवगाहको भी सर्वथा स्वभावसे मान लेनेमें क्या आपत्ति है । और ऐसी हालतमें केवल जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही अवशिष्ट रहते हैं, शेष द्रव्योंका अभाव प्राप्त होता है, इतना ही क्यों, जीव और पुद्गलका तथा पुद्गल और पुद्गलका बन्ध भी सर्वथा स्वाभाविक मानना पड़ता है । निमित्त-नैमित्तिक भावके माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती और ऐसी अवस्थामें मुक्त जीव भी स्वभावसे बँधने लगेगा तथा संसारी जीव भी बिना प्रयत्नके कभी भी मुक्त हो जायगा । यदि कहा जाय कि गति, स्थिति आदि कार्य हैं और जितने भी कार्य होते हैं वे निमित्त और उपादान इन दो के मिलने पर ही होते हैं, इसलिए गति, स्थिति और अवगाहनरूप कार्योंके निमित्तरूपसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो प्रत्येक द्रव्यके परिणमनरूपसे काल द्रव्यके अस्तित्वके स्वीकार करनेमें क्या हानि है अर्थात् कुछ भी नहीं । इस प्रकार विचार करनेपर काल द्रव्यका अस्तित्व सिद्ध होता है ।

फिर भी यह काल द्रव्य जीव आदि अन्य द्रव्योंके समान न तो असंख्यातप्रदेशी है और न अनन्तप्रदेशी है किन्तु लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने काल द्रव्य हैं और प्रत्येक कालद्रव्य लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर अवस्थित है । खुलासा इस प्रकार है—

प्रचय दो प्रकारका है—तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय । प्रदेशोंके प्रचयको तिर्यक्प्रचय कहते हैं और निमित्तक पर्यायप्रचयको ऊर्ध्वप्रचय कहते हैं । आकाश अवस्थित अनन्तप्रदेशवाला होनेसे, धर्म और अधर्म अवस्थित असंख्यान प्रदेशवाला होनेसे, जीव असंख्यात प्रदेशवाला होनेसे

§ 603. वर्तनालक्षणस्य मुख्यस्य कालस्य प्रमाणमुक्तम् । परिणामादिगम्यस्य व्यवहार-
कालस्य किं प्रमाणमित्यत इदमुच्यते—

सोऽनन्तसमयः ॥40॥

§ 604. साम्प्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽपि अतीता अनागताश्च समया अनन्ता इति कृत्वा
'अनन्तसमयः' इत्युच्यते । अथवा मुख्यस्यैव कालस्य प्रमाणावधारणार्थमिदमुच्यते । अनन्तपर्याय-

और पुद्गल बन्धकी अपेक्षा अनेक प्रदेशरूप शक्तिसे युक्त होनेके कारण इनका प्रदेशप्रचय बन जाता है, किन्तु कालद्रव्य शक्ति और व्यक्ति दोनों रूपसे एक प्रदेशरूप होनेके कारण उसमें प्रदेशप्रचय नहीं बनता । ऊर्ध्वप्रचय सब द्रव्योंका होता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि अन्य पाँच द्रव्योंमें समयनिमित्तक पर्यायप्रचयरूप ऊर्ध्वप्रचय होता है और कालद्रव्यमें मात्र समयप्रचय रूप ऊर्ध्वप्रचय होता है, क्योंकि अन्य द्रव्योंके परिणमनमें काल द्रव्य निमित्त है और काल द्रव्यके अपने परिणमनमें अन्य कोई निमित्त नहीं है । वही उपादान है । जिस प्रकार वह अन्य द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त होता है उसी प्रकार अपने परिणमनमें भी निमित्त होता है । जिस प्रकार अन्य द्रव्य अपने-अपने उपादानके अनुसार परिणमन करते हैं उसी प्रकार काल द्रव्य भी अपने उपादान के अनुसार परिणमन करता है ।

इस प्रकार यद्यपि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूपसे तथा गुण और पर्यायरूपसे काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है पर वह अखण्ड एकप्रदेशी है यह सिद्ध नहीं होता, इसलिए आगे इसी बातका विचार करते हैं—

एक पुद्गल परमाणु मन्दगतिसे एक आकाश प्रदेशसे दूसरे आकाश प्रदेश पर जाता है और इसमें कुछ समय भी लगता है । यदि विचार कर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यह समय ही काल द्रव्यकी पर्याय है जो कि अतिसूक्ष्म होनेसे निरंश है । यदि कालद्रव्यको लोकाकाशके बराबर अखण्ड और एक माना जाता है तो इस अखण्ड समय पर्यायकी निष्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पुद्गल परमाणु जब एक कालाणुको छोड़कर दूसरे कालाणुके प्रति गमन करता है तब वहाँ दोनों कालाणु पृथक्-पृथक् होनेसे समयका भेद बन जाता है । और यदि एक अखण्ड लोकके बराबर कालद्रव्य होवे तो समय पर्यायकी सिद्धि किस तरह हो सकती है ? यदि कहा जाय कि कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, उसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशके प्रति जानेपर समय पर्यायकी सिद्धि हो जायगी तो इसका समाधान यह है कि ऐसा मानने पर एक अखण्डद्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जाने पर समय पर्यायका भेद नहीं बनता । इसलिए समय पर्यायमें भेद सिद्ध करनेके लिए काल द्रव्यको अणुरूपमें स्वीकार कर लिया गया है । इस प्रकार काल द्रव्य क्या है और वह एक प्रदेशी कैसे है इस बातका विचार किया ।

§ 603. वर्तना लक्षणवाले मुख्य कालका प्रमाण कहा । परन्तु परिणाम आदिके द्वारा जानने योग्य व्यवहार कालका क्या प्रमाण है ? इस बातका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह अनन्त समयवाला है ॥40॥

§ 604. यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय हैं ऐसा मानकर कालको अनन्त समयवाला कहा है । अथवा मुख्य कालका निश्चय करनेके लिए यह सूत्र कहा है । तात्पर्य यह है कि अनन्त पर्याय वर्तना गुणके निमित्तसे होती है, इस-

वर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते । समयः पुनः परमनिर्द्वः¹ कालांशस्तत्प्रचयविशेषा
आवलिकादिरवगन्तव्यः ।

§ 605. आह गुणपर्यायवद् द्रव्यमित्युक्तं तत्र के गुणा इत्यत्रोच्यते—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥41॥

§ 606. द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः । निष्क्रान्ता गुणेभ्यो निर्गुणाः । एवमुभयरूपो-
पेता गुणा इति । 'निर्गुणाः' इति विशेषणं द्व्यणुकादिनिवृत्त्यर्थम् । तान्यपि हि कारणभूतपरमाणु-
द्रव्याश्रयाणि गुणवन्ति तु तस्मात् 'निर्गुणाः' इति विशेषणात्तानि निवर्तितानि भवन्ति । ननु
पर्याया अपि घटसंस्थानादयो द्रव्याश्रया निर्गुणाश्च, तेषामपि गुणत्वं प्राप्नोति । 'द्रव्याश्रयाः' इति
वचनात् 'नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते' ये ते गुणा इति विशेषात्पर्याया निवर्तिता भवन्ति । ते हि
कादाचित्का इति ।

लिए एक कालाणुको भी उपचारसे अनन्त कहा है । परन्तु समय अत्यन्त सूक्ष्म कालांश है और
उसके समुदायकी आवलि आदि जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—समय शब्द द्रव्य और पर्याय दोनों अर्थोंमें व्यवहृत होता है । यहाँ पर्यायरूप
अर्थ लिया गया है । इससे व्यवहार काल और निश्चय काल दोनों की सिद्धि होती है । एक-एक
समयका समुच्चय होकर जो आवलि, पल आदि कालका व्यवहार होता है वह व्यवहारकाल है
और यह समय-पर्याय बिना पर्यायीके नहीं हो सकती, इससे निश्चय कालका ज्ञान होता है यह
उक्त कथनका तात्पर्य है ।

§ 605. 'गुण और पर्यायवाला द्रव्य है' यह पहले कह आये हैं । अब गुण क्या है यह
बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

जो निरन्तर द्रव्यमें रहते हैं और गुणरहित हैं वे गुण हैं ॥41॥

§ 606. जिनके रहनेका आश्रय द्रव्य है वे द्रव्याश्रय कहलाते हैं और जो गुणोंसे रहित
हैं वे निर्गुण कहे जाते हैं । इस प्रकार इन दोनों लक्षणोंसे युक्त गुण होते हैं । सूत्रमें 'निर्गुणाः'
यह विशेषण द्व्यणुक आदिके निराकरण करनेके लिए दिया है । वे भी अपने कारणभूत परमाणु
द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं और गुणवाले हैं, इसलिए 'निर्गुणाः' इस विशेषणसे उनका निषेध किया
गया है । **शंका—**घटसंस्थान आदि जितनी पर्याय हैं वे सब द्रव्यके आश्रयसे रहती हैं और
निर्गुण होती हैं अतः गुणके उक्त लक्षणके अनुसार उन्हें भी गुणत्व प्राप्त होता है ? **समाधान—**
सूत्रमें जो 'द्रव्याश्रयाः' विशेषण है उसका यह अभिप्राय है कि जो सदा द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं
वे गुण हैं । इस प्रकार 'सदा' विशेषण लगानेसे पर्यायोंका निषेध हो जाता है अर्थात् गुणका
लक्षण पर्यायोंमें नहीं जाता है; क्योंकि पर्याय कादाचित्क होती हैं ।

विशेषार्थ—पहले गुण और पर्यायवाला द्रव्य है यह कह आये हैं । यहाँ गुणके स्वरूपका
विचार किया गया है । जब कि द्रव्यको गुण और पर्यायवाला बतलाया है तब इसीसे स्पष्ट है
कि गुण द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं अर्थात् द्रव्य आधार है और गुण आधेय है । पर इससे आधार
और आधेयमें दही और कुण्डके समान सर्वथा भेदपक्षका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुण
द्रव्यके आश्रयसे रहते हुए भी वे उससे कथंचित् अभिन्न हैं । जैसे—तैल तिलके सब अवयवोंमें
व्याप्त होकर रहता है वैसे ही प्रत्येक गुण द्रव्यके सभी अवयवोंमें समान रूपसे व्याप्त होकर
रहता है, पर इससे द्व्यणुक आदिमें भी यह लक्षण घटित हो जाता है क्योंकि द्व्यणुक आदि भी

1. -निर्द्वष्टः कालां- दि. 1 । 2. -वर्तन्ते गुणा मृ. । 3. विशेषणत्वात्पर्यायश्च निव. मृ. ।

§ 607. असकृत् 'परिणाम' शब्द उक्तः । तस्य कोऽर्थ इति प्रश्ने उत्तरमाह—

तद्भावः परिणामः ॥42॥

§ 608. अथवा गुणा द्रव्यावयवान्तरभूता इति केषांचिद्दर्शनं तत्किं भवतोऽभिमतम् । न; इत्याह—यद्यपि कथंचिद् व्यपदेशादिभेदहेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये, तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्च नान्ये । यद्येवं स उच्यतां कः परिणाम इति । तन्निश्चयार्थमिदमुच्यते—धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावस्तत्त्वं परिणाम इति आख्यायते । स द्विविधोऽनादिरादिर्मांश्च । तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः सामान्यापेक्षया । स एवादिर्मांश्च भवति विशेषापेक्षया इति ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां पंचमोऽध्यायः ।

अपने आधारभूत परमाणु द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं । अतएव जो स्वयं विशेष रहित हों वे गुण हैं यह कहा है । ऐसा नियम है कि जैसे द्रव्यमें गुण पाये जाते हैं वैसे गुणमें अन्य गुण नहीं रहते । अतएव गुण स्वयं विशेष रहित रहते हैं, इस प्रकार यद्यपि जो द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं और स्वयं विशेष रहित हैं वे गुण हैं, गुणका इतना लक्षण फलित हो जाता है पर यह पर्यायोंमें भी प्राया हैं । क्योंकि वे भी द्रव्यके आश्रयसे रहती हैं और स्वयं विशेषरहित होती हैं । इसलिए इस अतिव्याप्ति दोषका निराकरण करनेके लिए जो द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं इसका अर्थ—जो द्रव्यके आश्रयसे सदा रहते हैं, इतना समझना चाहिए । इस प्रकार गुणोंके स्वरूपका विचार किया । गुणका एक नाम विशेष भी है । जिनके निमित्तसे एक द्रव्य अन्य द्रव्यसे भेद को व्याप्त हों वे विशेष अर्थात् गुण हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है । ऐसे गुण प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त होते हैं । उनमें कुछ सामान्य होते हैं और कुछ विशेष । जो एकाधिक द्रव्योंमें उपलब्ध होते हैं वे सामान्यगुण कहलाते हैं और जो प्रत्येक द्रव्यकी विशेषताको व्यक्त करते हैं वे विशेषगुण कहलाते हैं ।

§ 607. परिणाम शब्दका अनेक बार उल्लेख किया; परन्तु उसका क्या तात्पर्य है ऐसा प्रश्न होनेपर अगले सूत्र द्वारा इसीका उत्तर देते हैं—

उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है ॥42॥

§ 608. अथवा गुण द्रव्यसे अलग हैं यह किन्हींका मत है । वह क्या आपके (जैन) मतमें स्वीकार है ? नहीं, इसलिए कहते हैं कि संज्ञा आदिके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भेदके कारण गुण द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हैं तो भी वे द्रव्यसे भिन्न नहीं पाये जाते हैं और द्रव्यके परिणाम हैं इसलिए भिन्न नहीं भी हैं । यदि ऐसा है तो वह बात कहिए जिससे परिणामका स्वरूप ज्ञात हो । बस इसी बातका निश्चय करनेके लिए कहते हैं—धर्मादिक द्रव्य जिस रूपसे होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व है और इसे ही परिणाम कहते हैं । वह दो प्रकारका है—अनादि और सादि । उनमेंसे धर्मादिक द्रव्यके जो गत्युपग्रहादिक होते हैं वे सामान्यकी अपेक्षा अनादि हैं और विशेषकी अपेक्षा सादि हैं ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

§ 609. आह,¹ अजीवपदार्थो व्याख्यातः । इदानीं तदनन्तरोद्देशभागास्त्रयपदार्थो व्याख्येय इति ततस्तत्प्रसिद्धार्थमिवमुच्यते—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

§ 610. कायावयवः शब्दा व्याख्यातार्थाः । कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम् । कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ्मनःकर्म योग इत्याख्यायते । आत्मप्रवेशपरिस्पन्दो योगः । स निमित्तभेदात्त्रिधा भिद्यते । काययोगो वाग्योगो मनोयोग इति । तद्यथा—वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकाविसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्ष आत्मप्रवेशपरिस्पन्दः काययोगः । शरीरनाम-कर्मोक्त्यापादितवाचवर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादितान्यन्तर-वाग्लब्धिसंनिधौ वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रवेशपरिस्पन्दो वाग्योगः । अस्यन्तरवीर्यान्तरायनो-इन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसंनिधाने बाह्यानिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति मनःपरि-णामाभिमुखस्यात्मप्रवेशपरिस्पन्दो मनोयोगः । क्षयेऽपि त्रिविधवर्गणापेक्षः सयोगकेवलिन आत्मप्रवेशपरिस्पन्दो योगो वेदितव्यः ।

§ 611. आह,²अभ्युपेयः आहितत्रेविध्याक्रिया योग इति । प्रकृत इदानीं नानुद्दिश्यतां

§ 609. जीव और अजीवका व्याख्यान किया । अब उसके बाद आस्रव पदार्थका व्याख्यान क्रम प्राप्त है । अतः उसे स्पष्ट करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

काय, वचन और मनकी क्रिया योग है ॥१॥

§ 610. काय आदि शब्दोंका व्याख्यान पहले कर आये हैं । कर्म और क्रिया ये एकार्थ-वाचो नाम हैं । काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं यह इसका तात्पर्य है । आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द—हलन चलन योग है । वह निमित्तोंके भेदसे तीन प्रकारका है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग । खुलासा इस प्रकार है—वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमके होनेपर औदारिक आदि सात प्रकारकी कायवर्गणाओंमें-से किसी एक प्रकारकी वर्गणाओंके आलम्बनसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है । शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओंका आलम्बन होनेपर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धिके मिलनेपर वचनरूप पर्यायके सन्मुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है । वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धिके होनेपर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्गणाओंका आलम्बन मिलनेपर मनरूप पर्यायके सन्मुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है । वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षय हो जानेपर भी सयोगकेवलीके जो तीन प्रकारकी वर्गणाओंकी अपेक्षा आत्मप्रदेश-परिस्पन्द होता है वह भी योग है ऐसा जानना चाहिए ।

§ 611. हम तो स्वीकार करते हैं कि तीन प्रकारकी क्रिया योग है । अब यह बतलाइए

1. अयाजीवप- मु. । आह जीवाजीवप- ता., ना. । इत्यजीवप- दि. 2 । 2. आत्मनः प्रदे- आ. दि. 1. दि. 2 । 3. अभ्युपगत आदि- मु. ।

किलक्षण आस्रव इत्युच्यते । योऽयं योगशब्दाभिधेयः संसारिणः पुरुषस्य—

स आस्रवः ॥2॥

§ 612. यथा सरस्सलिलावाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वाद् आस्रव इत्याख्यायते तथा योग-प्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति ।

§ 613. आह कर्म द्विविधं पुण्यं पापं चेति । तस्य किमविशेषेण योग ¹आस्रवहेतुराहोस्वि-दस्तिक्श्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥3॥

§ 614. कः शुभो योगः को वा अशुभः । प्राणातिपातादस्तादानमैथुनादिरशुभः काययोगः । अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योगः । वधचिन्तनेर्ष्याभूयादिरशुभो मनोयोगः । ततो विपरीतः शुभः । कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् । शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः । अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाशुभः । न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन । यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोग-स्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् । पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् । तत्सद्वेद्यादि । पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्² । तदसद्वेद्यादि ।

§ 615. आह किमयमास्रवः सर्वसंसारिणां³ समानफलारम्भहेतुराहोस्वित्क्श्चित्प्रति-

कि आस्रवका क्या लक्षण है ? संसारी जीवके जो यह योग शब्दका वाच्य कहा है—

वही आस्रव है ॥2॥

§ 612. जिस प्रकार तालाबमें जल लानेका दरवाजा जलके आनेका कारण होनेसे आस्रव कहलाता है उसी प्रकार आत्माके साथ बंधनेके लिए कर्म योगरूपी नालीके द्वारा आते हैं, इसलिए योग आस्रव संज्ञाको प्राप्त होता है ।

§ 613. कर्म दो प्रकारका है—पुण्य और पाप, इसलिए क्या योग सामान्यरूपसे उसके आस्रवका कारण है या कोई विशेषता है ? इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शुभयोग पुण्यका और अशुभयोग पापका आस्रव है ॥3॥

§ 614. शंका—शुभ योग क्या है और अशुभ योग क्या है ? समाधान—हिंसा, चोरी, और मैथुन आदिक अशुभ काययोग है । असत्य वचन, कठोर वचन और असभ्य वचन आदि अशुभ वचनयोग है । मारनेका विचार, ईर्ष्या और डाह आदि अशुभ मनोयोग है । तथा इनसे विपरीत शुभकाय योग, शुभ वचनयोग और शुभ मनोयोग है । शंका—योगके शुभ और अशुभ ये भेद किस कारणसे हैं ? समाधान—जो योग शुभ परिणामोंके निमित्तसे होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामोंके निमित्तसे होता है वह अशुभ योग है । शायद कोई यह माने कि शुभ और अशुभ कर्मका कारण होनेसे शुभ और अशुभ योग होता है सो बात नहीं है; क्योंकि यदि इस प्रकार इनका लक्षण कहा जाता है तो शुभयोग ही नहीं हो सकता, क्योंकि शुभयोगको भी ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धका कारण माना है । इसलिए शुभ और अशुभ योगका जो लक्षण यहाँ पर किया है वही सही है । जो आत्माको पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीय आदि । तथा जो आत्माको शुभसे बचाता है वह पाप है; जैसे असता वेदनीय आदि ।

§ 615. क्या यह आस्रव सब संसारी जीवोंके समान फलको पैदा करता है या कोई

1. आस्रवहेतु- मु., ता., ना. । 2. पापम् । असद्वे- मु. । 3. संसारिसमा- आ., ता., ना. संसारसमा- दि. 2 ।

विशेष इत्यत्रोच्यते—

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥4॥

§ 616. स्वामिभेदादात्मवभेदः । स्वामिनौ द्वौ सकषायोऽकषायश्चेति । कषायः क्रोधादिः । कषाय इव कषायः । कः उपमार्थः । यथा कषायो नैयग्रोधः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मेनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते । सह कषायेण वर्तते इति सकषायः । न विद्यते कषायो यस्येत्यकषायः । सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ तयोः सकषायाकषाययोः । संपरायः संसारः तत्प्रयोजनं कर्म सांपरायिकम् । ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः । तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम् । सांपरायिकं च ईर्यापथं च सांपरायिकेर्यापथे । तयोः सांपरायिकेर्यापथयोः । यथासंख्यमभिसंबन्धः सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्ट्यादेः । सांपरायिकस्य कर्मण आत्मनो भवति । अकषायस्य उपशान्तकषायादेरीर्यापथस्य कर्मण आत्मनो भवति ।

§ 617. आदाबुद्दिष्ट्यात्मवस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥5॥

§ 618. अत्र इन्द्रियादीनां पञ्चादिभिर्यथासंख्यमभिसंबन्धो वेदितव्यः । इन्द्रियाणि पञ्च ।

विशेषता है ? अब इसी बातके बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषायसहित और कषायरहित आत्माका योग क्रमसे साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मके आत्मरूप है ॥4॥

§ 616. स्वामीके भेदसे आत्मवमें भेद है । स्वामी दो प्रकारके हैं—कषायसहित और कषायरहित । क्रोधादिक कषाय कहलाते हैं । कषायके समान होनेसे कषाय कहलाता है । उपमारूप अर्थ क्या है ? जिस प्रकार नैयग्रोध आदि कषाय श्लेषका कारण है उसी प्रकार आत्माका क्रोधादि रूप कषाय भी कर्मों के श्लेषका कारण है इसलिए कषायके समान यह कषाय है ऐसा कहते हैं । जिसके कषाय है वह सकषाय जीव है और जिसके कषाय नहीं है वह अकषाय जीव है । यहाँ इन दोनों पदोंका पहले 'सकषायश्च अकषायश्चेति सकषायाकषायौ' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके अनन्तर स्वामित्व दिखलानेके लिए षष्ठीका द्विवचन दिया है । सम्पराय संसारका पर्यायवाची है । जो कर्म संसारका प्रयोजक है वह साम्परायिक कर्म है । ईर्याकी व्युत्पत्ति 'ईरण' होगी । योगका अर्थ गति है । जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्यापथ कर्म है । यहाँ इन दोनों पदोंका पहले 'साम्परायिकं च ईर्यापथं च साम्परायिकेर्यापथे' इस प्रकार द्वन्द्व समास करके तदनन्तर सम्बन्ध दिखलानेके लिए षष्ठीका द्विवचन दिया है । सकषायके साथ साम्परायिक शब्दका और अकषायके साथ ईर्यापथ शब्दका यथाक्रम सम्बन्ध है । जिससे यह अर्थ हुआ कि मिथ्यादृष्टि आदि कषायसहित जीवके साम्परायिक कर्मका आत्मरूप होता है । तथा उपशान्त कषाय आदि कषाय रहित जीवके ईर्यापथ कर्मका आत्मरूप होता है ।

§ 617. आदिमें कहे गये आत्मवके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पूर्वके अर्थात् साम्परायिक कर्मात्मवके इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियारूप भेद हैं जो क्रमसे पाँच, चार, पाँच और पञ्चीस हैं ॥5॥

§ 618. यहाँ इन्द्रिय आदिका पाँच आदिके साथ क्रमसे सम्बन्ध जानना चाहिए । यथा

1. —दृष्टेः साम्प— मृ. ।

चत्वारः कषायाः । पञ्चाव्रतानि । पञ्चविंशतिः क्रिया इति । तत्र पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शनादीन्युक्तानि । चत्वारः कषायाः क्रोधादयः । पञ्चाव्रतानि प्राणव्यपरोपणादीनि वक्ष्यन्ते । पञ्चविंशतिः क्रिया उच्यन्ते—चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुकी^१ प्रवृत्तिमिथ्यात्वक्रिया । गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया । संयतस्य सतः अविरति प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया । ईर्ष्यापथनिमित्तेर्षापथक्रिया । ता एताः पञ्च क्रियाः । क्रोधावेशात्प्रादोषिकी क्रिया । प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया । हिंसोपकरणादानाधिकरणिकी^२ क्रिया । दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात्पारितापिकी क्रिया । आयुरिन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासाप्राणानां वियोगकरणात्प्राणातिपातिकी क्रिया । ता एताः पञ्च क्रियाः । रागाद्रीकृतत्वात्प्रसादिनो रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया । प्रमादवशात्स्पृष्टव्यसंचेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया । अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया । स्त्रीपुरुषपशुसम्पातिदेशोऽन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया । अमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया । ता एताः पञ्च क्रियाः । यां परेण निर्वर्त्या^३ क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया । पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया । पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया । यथोक्तमाज्ञामावश्यकदिबु^४ चारित्रमोहोदयात्कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया । शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया । ता एताः पञ्च क्रियाः । छेदनभेदनविशसनादि-

इन्द्रियां पाँच हैं, कषाय चार हैं, अव्रत पाँच हैं और क्रिया पच्चीस हैं । इनमें-से स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका कथन पहले कर आये हैं । क्रोधादि चार कषाय हैं और हिंसा आदि पाँच अव्रत आगे कहेंगे । पच्चीस क्रियाओंका वर्णन यहाँ करते हैं—चैत्य, गुरु और शास्त्रकी पूजा आदिरूप सम्यक्त्वको बढ़ानेवाली सम्यक्त्वक्रिया है । मिथ्यात्वके उदयसे जो अन्यदेवताके स्तवन आदि रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्व क्रिया है । शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदिरूप प्रवृत्ति प्रयोगक्रिया है । संयतका अविरतिके सम्मुख होना समादान क्रिया है । ईर्ष्यापथकी कारणभूत क्रिया ईर्ष्यापथ क्रिया है । ये पाँच क्रिया हैं । क्रोधके आवेशसे प्रादोषिकी क्रिया होती है । दुष्ट भाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है । हिंसके साधनोंको ग्रहण करना आधिकरणीकी क्रिया है । जो दुःखकी उत्पत्तिका कारण है वह पारितापिकी क्रिया है । आयु, इन्द्रिय, बल और स्वासोच्छ्वास रूप प्राणोंका वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है । ये पाँच क्रिया हैं । रागवश स्नेहसिक्त होनेके कारण प्रमादीका रमणीय रूपके देखनेका अभिप्राय दर्शनक्रिया है । प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थका अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है । नये अधिकरणोंको उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है । स्त्री, पुरुष और पशुओंके जाने, आने, उठने और बैठनेके स्थानमें भीतरी मलका त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है । प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयी भूमिपर शरीर आदिका रखना अनाभोग क्रिया है । ये पाँच क्रिया हैं । जो क्रिया दूसरों द्वारा करनेकी हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्तक्रिया है । पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेषके लिए सम्मति देना निसर्ग क्रिया है । दूसरेने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारणक्रिया है । चारित्रमोहनीयके उदयसे आवश्यक आदिके विषयमें शास्त्रोक्त आज्ञाको न पाल सकनेके कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है । धूर्तता और आलस्यके कारण शास्त्रमें उपदेशी गयी विधि करनेका अनादर अनाकाङ्क्षक्रिया है । ये पाँच क्रिया हैं ।

1. —शक्तिक्रिया मु. । 2. हेतुका कर्मप्रवृत्ति—दि. 1, दि. 2, आ. । 3. क्रिया । सत्त्वदुःखो— ता., ना., मु. । 4. बलप्राणानां— मु. । 5. —शक्यादिचारि— मु. । 6. विसर्जनादि— आ., दि. 1, दि. 2 ।

क्रियापरत्वमन्येन¹ वारम्भे क्रियमाणे प्रहर्षः प्रारम्भक्रिया । परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया । ज्ञानदर्शनविषु निवृत्तिर्वञ्चनं मायाक्रिया । अन्य² मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्दृढयति यथा सा³ करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया । संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया । ता एताः पञ्च क्रियाः । समुदिताः पञ्चविंशतिक्रियाः । एतानीन्द्रियादीनि कार्य-कारणभेदाद्भेदमापद्यमानानि सांपरायिकस्य कर्मण आश्रयद्वाराणि भवन्ति ।

§ 619. अब्राह्म, योगत्रयस्य सर्वात्मकार्यत्वात्सर्वेषां संसारिणां साधारणः,³ ततो बन्ध-फलानुभवनं प्रत्यविशेष इत्यत्रोच्यते—नैतदेवम् । यस्मात् सत्यपि प्रत्यात्मसंभवे तेषां जीवपरिणामेभ्योऽनन्तविकल्पेभ्यो विशेषोऽभ्यनुज्ञायते कथमिति चेदुच्यते—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥6॥

§ 620. बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्दिष्टः परिणामस्तोत्रः । तद्विपरीतो मन्दः । अयं⁴ प्राणी मया हन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवृत्तिर्जातिमित्युच्यते । मदात्प्रमादाद्गानवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम् । अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणं द्रव्यमित्यर्थः । द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम् । भावशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते—तीव्रभावो मन्दभाव इत्यादिः । एतेभ्यस्तस्याल्लवस्य विशेषो भवति । कारण-भेदाद्धि कार्यभेद इति ।

छेदना, भेदना और मारना आदि क्रियामें स्वयं तत्पर रहना और दूसरेके करनेपर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है । परिग्रहका नाश न हो इसलिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी क्रिया है । ज्ञान, दर्शन आदिके विषयमें छल करना मायाक्रिया है । मिथ्यादर्शनके साधनोंसे युक्त पुरुषकी प्रशंसा आदिके द्वारा दृढ़ करना कि 'तू ठीक करता है' मिथ्यादर्शन क्रिया है । संयमका घात करनेवाले कर्मके उदयसे त्यागरूप परिणामोंका न होना अप्रत्याख्यानक्रिया है । ये पाँच क्रिया हैं । ये सब मिलकर पच्चीस क्रियाएँ होती हैं । कार्य-कारणके भेदसे अलग-अलग भेदको प्राप्त होकर ये इन्द्रियादिक साम्परायिक कर्मके आस्रवके द्वार हैं ।

§ 619. शंका—तीनों योग सब आत्माओंके कार्य हैं, इसलिए वे सब संसारी जीवोंके समान रूपसे प्राप्त होते हैं, इसलिए कर्मबन्धके फलके अनुभवके प्रति समानता प्राप्त होनी चाहिए ? समाधान—यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यद्यपि योग प्रत्येक आत्माके होता है, परन्तु जीवोंके परिणामोंके अनन्त भेद हैं, इसलिए कर्मबन्धके फलके अनुभवको विशेषता माननी पड़ती है । शंका—किस प्रकार ? समाधान—अब अगले सूत्रद्वारा इसी बातका समाधान करते हैं—

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्यविशेषके भेदसे उसकी (आश्रवकी) विशेषता होती है ॥6॥

§ 620. बाह्य और आभ्यन्तर हेतुकी उदीरणके कारण जो आवेगयुक्त परिणाम होता है वह तीव्र भाव है । मन्द भाव इससे उलटा है । इस प्राणीका मुझे हनन करना चाहिए इस प्रकार जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है । मद या प्रमादके कारण विना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है । जिसमें पदार्थ रखे जाते हैं वह अधिकरण है । यहाँ अधिकरणसे द्रव्यका ग्रहण किया है । द्रव्यकी अपनी शक्तिविशेष वीर्य है । सूत्रमें जो भाव शब्द आया है वह सब शब्दोंके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा—तीव्रभाव, मन्दभाव इत्यादि । इन सब कारणोंसे आश्रवमें विशेषता आ जाती है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यमें भेद होता है ।

1. दर्शनकरण- ता., ना., मु. । 2. --रणस्य ततो मु. । 3. प्राणी हन्त- मु., ता., ना. । 4. वा क्रिय- मु. ।

§ 621. अत्राह, अधिकरणमुक्तम्¹, तत्स्वरूपमनिर्ज्ञातमतस्तदुच्यतामिति । तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेणाधिकरणस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥7॥

§ 622. उक्तलक्षणा जीवाजीवाः । यद्युक्तलक्षणाः पुनर्वचनं किमर्थम् ? अधिकरणविशेषज्ञापनार्थं पुनर्वचनम् । जीवाजीवा अधिकरणमित्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य² इति । कः पुनरसौ ? हिंसाद्युपकरणभाव इति । स्यादेतन्मूलपदार्थयोर्द्वित्वाज्जीवाजीवाविति³ द्विवचनं न्यायप्राप्तमिति । तन्न, पर्यायाणामधिकरणत्वात् । येन केनचित्पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यमधिकरणम्, न सामान्यमिति बहुवचनं कृतम् । जीवाजीवा अधिकरणं कस्य ? आलवत्येति । अर्थवशादभिसम्बन्धो भवति ।

§ 623. तत्र जीवाधिकरणभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-

विशेषं स्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥8॥

§ 624. प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरम्भः । साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः प्रक्रम आरम्भः । 'योग' शब्दो व्याख्यातार्थः । कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् । कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम् । अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः । अभिहितलक्षणाः

§ 621. पूर्व सूत्रमें 'अधिकरण' पद आया है पर उसका स्वरूप अज्ञात है, इसलिए वह कहना चाहिए ? अब उसके भेदोंके कथन द्वारा उसके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अधिकरण जीव और अजीवरूप हैं ॥7॥

§ 622. जीव और अजीवके लक्षण पहले कह आये हैं । शंका—यदि इनके लक्षण पहले कह आये हैं तो फिरसे इनका उल्लेख किस लिए किया ? समाधान—अधिकरण विशेषका ज्ञान करानेके लिए फिरसे इनका उल्लेख किया है, जिससे जीव और अजीव अधिकरण हैं यह विशेष जताया जा सके । शंका—वह कौन है ? समाधान—हिंसादि उपकरणभाव । शंका—मूल पदार्थ दो हैं इसलिए 'जीवाजीवौ' इस प्रकार सूत्रमें द्विवचन रखना न्यायप्राप्त है ? समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनकी पर्यायोंको अधिकरण माना है । तात्पर्य यह है कि किसी एक पर्यायसे युक्त द्रव्य अधिकरण होता है, केवल द्रव्य नहीं, इसलिए सूत्रमें बहुवचन रखा है । जीव और अजीव किसके अधिकरण हैं ? आलवके । इस प्रकार प्रयोजनके अनुसार यहाँ आलव पदका सम्बन्ध होता है ।

§ 623. अब जीवाधिकरणके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भके भेद से तीन प्रकारका, योगोंके भेदसे तीन प्रकारका; कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकारका तथा कषायोंके भेदसे चार प्रकारका होता हुआ परस्पर मिलानेसे एक सौ आठ प्रकारका है ॥8॥

§ 624. प्रमादी जीवका प्राणोंकी हिंसा आदिकार्यमें प्रयत्नशील होना संरम्भ है । साधनोंका जुटाना समारम्भ है । कार्य करने लगना आरम्भ है । योग शब्दका व्याख्यान पहले कर आये हैं । कर्ताकी कार्यविषयक स्वतन्त्रता दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कृत' वचन रखा है । कार्यमें दूसरे-

1. -करणमित्युक्तम् मु. ता. । 2. -तव्य इत्यर्थः । कः मु. । 3. -जीवा इति मु., दि. 2 ।

कषायाः क्रोधावयः । विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः । स प्रत्येकमभिसंबध्यते—संरम्भविशेषः समारम्भविशेष इत्यादि । आद्यं जीवाधिकरणमेतद्विशेषः 'भिद्यते' इति वाक्यशेषः । एते चत्वारः सुजन्तास्त्रयाविशब्दा यथाक्रममभिसंबध्यन्ते—संरम्भसमारम्भारम्भास्त्रयः, योगास्त्रयः, कृतकारितानुमतस्त्रयः, कषायाश्चत्वार इति । एतेषां गणनाभ्यावृत्तिः सुखा द्योत्यते । एकश इति वीप्सानिर्देशः । एकैकं¹ श्र्यादीन् भेदान् नयेदित्यर्थः । यद्यथा—क्रोधकृतकायसंरम्भः मानकृतकायसंरम्भः मायाकृतकायसंरम्भः लोभकृतकायसंरम्भः क्रोधकारितकायसंरम्भः मानकारितकायसंरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः लोभकारितकायसंरम्भः क्रोधानुमतकायसंरम्भः मानानुमतकायसंरम्भः मायानुमतकायसंरम्भः लोभानुमतकायसंरम्भश्चेति द्वादशधा कायसंरम्भः । एवं वाग्योगे मनोयोगे च द्वादशधा संरम्भः । त एते² संपिण्डिताः षट्त्रिंशत्, तथा समारम्भा अपि षट्त्रिंशत्, आरम्भा अपि षट्त्रिंशत् । एते संपिण्डिता जीवाधिकरणास्त्रयभेदा अष्टोत्तरशतसंख्याः संभवन्ति । 'च' शब्दोऽनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनकषायभेदकुतान्तर्भेदसमुच्चयार्थः ।

§ 625. परस्याजीवाधिकरणस्य³ भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्ग द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥9॥

§ 626. निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना निष्पादना । निक्षिप्यत इति निक्षेपः स्थापना । संयुज्यते इति संयोगो मिश्रीकृतम् । निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्तनम् । एते द्वयादिभिर्यथाक्रममभिसंबध्यन्ते--

प्रयोगकी अपेक्षा दिखलानेके लिए 'कारित' वचन रखा है । तथा प्रयोजकके मानस परिणामकी दिखलानेके लिए अनुमत शब्द रखा है । क्रोधादि कषायोंके लक्षण कहे जा चुके हैं । जिससे एक अर्थ दूसरे अर्थसे विशेषताको प्राप्त हो वह विशेष है । इसे प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए यथा संरम्भविशेष, समारम्भविशेष आदि । यहाँ 'भिद्यते' यह वाक्यशेष है जिससे यह अर्थ होता है कि पहला जीवाधिकरण इन विशेषताओंसे भेदको प्राप्त होता है । मुच् प्रत्ययान्त ये चारों 'तीन' आदि शब्द क्रमसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं । यथा—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ ये तीन; योग तीन; कृत, कारित और अनुमत ये तीन और कषाय चार । इनके गणनाकी पुनरावृत्ति 'सुच्' प्रत्यय-द्वारा प्रकट की गयी है । 'एकशः' यह वीप्सामें निर्देश है । तात्पर्य यह है कि तीन आदि भेदोंको प्रत्येकके प्रति लगा लेना चाहिए । जैसे क्रोधकृतकायसंरम्भ, मानकृतकायसंरम्भ, मायाकृतकायसंरम्भ, लोभकृतकायसंरम्भ, क्रोधकारितकायसंरम्भ, मानकारितकायसंरम्भ, मायाकारितकायसंरम्भ, लोभकारितकायसंरम्भ, क्रोधानुमतकायसंरम्भ, मानानुमतकायसंरम्भ, मायानुमतकायसंरम्भ, लोभानुमतकायसंरम्भ । इसप्रकार कायसंरम्भ बारह प्रकारका है । इसीप्रकार वचनयोग और मनोयोगकी अपेक्षा संरम्भ बारह-बारह प्रकारका है । ये सब मिला कर छत्तीस भेद होते हैं । इसी प्रकार समारम्भ और आरम्भके भी छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं । ये सब मिल कर जीवाधिकरणके 108 भेद होते हैं । 'च' शब्द अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनरूप कषायोंके अवान्तर भेदोंका समुच्चय करनेके लिए दिया है ।

§ 625. अब दूसरे अजीवाधिकरणके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रमसे दो, चार, दो और तीन भेदवाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है ॥9॥

§ 626. निर्वर्तनाका अर्थ निष्पादना अर्थात् रचना है । निक्षेपका अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है । संयोगका अर्थ मिश्रित करना अर्थात् मिलाना है और निसर्गका अर्थ प्रवर्तन है । ये

1. श्र्यादिभेदान् आ., दि. 1, दि. 2 । 2. एते पिण्ड-- मु. । 3. --जीवस्याधि-- मु. ।

निर्वर्तना द्विभेदा निक्षेपश्चतुर्भेदः संयोगो द्विभेदः निसर्गस्त्रिभेद इति । त एते भेदा अजीवाधिकरणस्य वेदितव्याः । परवचनमनर्थकम्, पूर्वसूत्रे आद्यमिति वचनादिदमवशिष्टार्थं भवतीति । नानर्थकम् । अन्यार्थः परशब्दः । संरम्भादिभ्योऽन्यानि निर्वर्तनादीनि । इतरथा हि निर्वर्तनादीनामात्मपरिणामसद्भावाज्जीवाधिकरणविकल्पा एवेति विज्ञायेत । निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति । तत्र ¹मूलगुणनिर्वर्तनं पञ्चविधम्, शरीरवाङ्मनःप्राणापानाश्च । ²उत्तरगुणनिर्वर्तनं काष्ठपुस्तचित्रकमादि । निक्षेपश्चतुर्विधः अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति । निसर्गस्त्रिविधः—कायनिसर्गाधिकरणं वाग्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति ।

§ 627. उक्तः सामान्येन कर्मास्त्रिभेदः । इदानीं कर्मविशेषास्त्रिभेदो दक्षतव्यः । तस्मिन् दक्षतव्ये आद्ययोजननिर्देशनावरणयोरास्त्रिभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तत्प्रदोषनिह्वयमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥10॥

§ 628. तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरतः अंतःपेशुन्यपरिणामः प्रदोषः । कुतश्चित्कारणान्नास्ति न वेदमोत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं निह्वयः । कुतश्चित्कारणाद्भावितमपि विज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम् । ज्ञानव्यवच्छेदकरणमन्तरायः । कायेन

क्रमसे दो आदि शब्दोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते हैं । यथा—निर्वर्तना दो प्रकारकी है । निक्षेप चार प्रकारका है । संयोग दो प्रकारका है । निसर्ग तीन प्रकारका है । ये सब अजीवाधिकरणके भेद हैं । शंका—सूत्रमें 'पर' वचन निरर्थक है; क्योंकि पिछले सूत्रमें 'आद्य' वचन दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह शेषके लिए है । समाधान—अनर्थक नहीं है क्योंकि यहाँ 'पर' शब्दका अन्य अर्थ है जिससे यह ज्ञात होता है कि निर्वर्तना आदिक संरम्भ आदिकसे अन्य हैं । यदि पर शब्द न दिया जाय तो निर्वर्तना आदि आत्माके परिणाम हैं ऐसा हो जानेसे ये जीवाधिकरणके भेद समझे जायँगे । निर्वर्तनाधिकरण दो प्रकारका है—मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण । उनमेंसे मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण पाँच प्रकारका है—शरीर, वचन, मन, प्राण और अपान । तथा काष्ठकर्म, पुस्तकर्म और चित्रकर्म आदि उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण हैं । निक्षेप चार प्रकारका है—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण । संयोग दो प्रकारका है—भक्तपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसंयोगाधिकरण । निसर्ग तीन प्रकारका है—कायनिसर्गाधिकरण, वचननिसर्गाधिकरण और मननिसर्गाधिकरण ।

§ 627. सामान्यसे कर्मास्त्रिभेदके भेद कहे । इस समय अलग-अलग कर्मोंके आस्त्रवके भेदोंका कथन करना चाहिए । उसमें सर्वप्रथम प्रारम्भके ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्त्रवके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्ञान और दर्शनके विषयमें प्रदोष, निह्वय, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्त्रव हैं ॥10॥

§ 628. तत्त्वज्ञान मोक्षका साधन है उसका गुणगान करने पर उस समय नहीं बोलनेवालेके जो भीतर पेशुन्यरूप परिणाम होता है वह प्रदोष है । किसी कारणसे 'ऐसा नहीं है, मैं नहीं जानता' ऐसा कहकर ज्ञानका अपलाप करना निह्वय है । विज्ञानका अभ्यास किया है वह

1, मूलं पञ्च— आ., दि. 1, दि. 2 । 2. उत्तरं काष्ठ— आ. दि. 1, दि. 2 ।

वाचा च परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनमासादनम् । प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः । आसादनमेवेति चेत् ? सतो ज्ञानस्य विनयप्रदानादिगुणकीर्तनानुष्ठानमासादनम् । उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञान-नाशाभिप्रायः । इत्यनयोरयं भेदः । 'तत्'शब्देन ज्ञानदर्शनयोः प्रतिनिर्देशः क्रियते । कथं पुनर-प्रकृतयोरनिर्दिष्टयोस्तच्छब्देन परामर्शः कर्तुं शक्यः ? प्रश्नापेक्षया । ज्ञानदर्शनावरणयोः क आस्रव इति प्रश्ने कृते तदपेक्षया तच्छब्दो ज्ञानदर्शने प्रतिनिर्दिशति । एतेन ज्ञानदर्शनवत्सु तत्सा-धनेषु च प्रदोषादयो योज्याः, तन्निमित्तत्वात् । त एते ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवहेतवः । एक-कारणसाध्यस्य कार्यस्यानेकस्य दर्शनात् तुल्येऽपि प्रदोषादौ ज्ञानदर्शनावरणास्रवसिद्धिः । अथवा विषयभेदादास्रवभेदः । ज्ञानविषयाः प्रदोषादयो ज्ञानावरणस्य । दर्शनविषयाः प्रदोषादयो दर्शना-वरणस्येति ।

§ 629. यथानयोः कर्मप्रकृत्योरास्रवभेदास्तथा—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वैद्यस्य ॥111॥

§ 630. पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् । अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैकल्यविशेषः शोकः । परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः । परितापजाताश्रुपातप्रचुरविप्रलापा-दिभिर्व्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम् । आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः । संवत्सेशपरिणामावलम्बनं¹

कौन योग्य भी है तो जिस कारणसे वह नहीं दिया जाता है वह मात्सर्य है । ज्ञानका विच्छेद करना अन्तराय है । दूसरा कोई ज्ञानका प्रकाश कर रहा हो तब शरीर या वचनसे उसका निषेध करना आसादन है । प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगाना उपघात है । शंका—उपघातका जो लक्षण किया है उससे वह आसादन ही ज्ञात होता है ? समाधान—प्रशस्त ज्ञानकी विनय न करना, उसकी अच्छाईकी प्रशंसा न करना आदि आसादन है । परन्तु ज्ञानको अज्ञान समझकर ज्ञानके नृशका इरादा रखना उपघात है इस प्रकार इन दोनोंमें अन्तर है । सूत्रमें 'तत्' पद ज्ञान और दर्शनका निर्देश करनेके लिए दिया है । शंका—ज्ञान और दर्शन अप्रकृत हैं, तथा उनका निर्देश भी नहीं किया है, फिर यहाँ 'तत्'शब्दके द्वारा उनका ज्ञान कैसे हो सकता है ? समाधान—प्रश्नकी अपेक्षा अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणका क्या आस्रव है ऐसा प्रश्न करनेपर उसकी अपेक्षा 'तत्' शब्द ज्ञान और दर्शनका निर्देश करता है । इससे यह अभिप्राय निकला कि ज्ञान और दर्शनवालोंके विषयमें तथा उनके साधनोंके विषयमें प्रदोषादिककी योजना करनी चाहिए, क्योंकि ये उनके निमित्तसे होते हैं । ये प्रदोषादिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं । एक कारणसे भी अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं, इसलिए प्रदोषादिकके एक समान रहते हुए भी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनोंका आस्रव सिद्ध होता है । अथवा विषयके भेदसे आस्रवमे भेद होता है । ज्ञानसम्बन्धी प्रदोषादिक ज्ञानावरणके आस्रव हैं और दर्शनसम्बन्धी प्रदोषादिक दर्शनावरणके आस्रव हैं ।

§ 629. जिस प्रकार इन दोनों कर्मोंका आस्रव अनेक प्रकारका है उसी प्रकार—

अपनेमें, दूसरेमें या दोनोंमें विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असाता वेदनीय कर्मके आस्रव हैं ॥11॥

§ 630. पीडारूप आत्माका परिणाम दुःख है । उपकार करनेवालेका सम्बन्ध टूट जाने-पर जो विकलता होती है वह शोक है । अपवाद आदिके निमित्तसे मनके खिन्न होनेपर जो तीव्र अनुशय-संताप होता है वह ताप है । परितापके कारण जो आँसू गिरनेके साथ विलाप आदि

1. —लम्बनं स्वपरा— आ., दि. 1, दि. 2 ।

गुणस्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुरं रोदनं परिदेवनम् । ननु च शोकादीनां दुःखविशेषत्वाद् दुःखग्रहणमेवास्तु ? सत्यमेवम् ; तथापि कतिपयविशेषप्रतिपादनेन दुःखजात्यनुविधानं क्रियते । यथा गौरित्युक्ते अनिर्ज्ञाते विशेषे तत्प्रतिपादनार्थं खण्डमुण्डकृष्ण-शुक्लाद्युपादानं क्रियते तथा दुःखविषयास्त्रवासस्यैयलोकभेदसंभवाद् दुःखमित्युक्ते विशेषानिर्ज्ञानात्कतिपयविशेषनिर्देशेन तद्विशेषप्रतिपत्तिः क्रियते । तान्येतानि दुःखादीनि ^१क्रोधाद्यावेशादात्मस्थानि भवन्ति परस्थान्युभयस्थानि च । एतानि सर्वाण्यसद्वेद्यास्त्रवकारणानि वेदितव्यानि । अत्र चोद्यते—यदि दुःखादीन्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यास्त्रवनिमित्तानि, किमर्थमाहृतं? केशनुचनान-शनातपस्थानादीनि दुःखनिमित्तान्यास्थीयन्ते परेषु च प्रतिपाद्यन्ते इति ? नैष दोषः—अन्तरङ्ग-क्रोधाद्यावेशपूर्वकाणि दुःखादीन्यसद्वेद्यास्त्रवनिमित्तानीति विशेष्योक्तत्वात् । यथा कस्यचिद् भिषजः परमकरुणाशस्य निःशत्यस्य संयतस्योपरि गण्डं पाटयतो दुःखहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति । एवं संसारविषयमहादुःखादुद्विग्नस्य भिक्षोस्तन्निवृत्त्युपायं प्रति समाहितमनस्कस्य शास्त्रविहिते कर्मणि प्रवर्तमानस्य संक्लेशपरिणामाभावाद् दुःखनिमित्तत्वे सत्यपि न पापबन्धः । उक्तं च—

“न दुःखं न सुखं यद्वद्धेतुदृष्टश्चिकित्सते ।

चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥

होता है, उससे खुलकर रोना आक्रन्दन है । आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना बध है । संक्लेशरूप परिणामोंके होनेपर गुणोंका स्मरण और प्रशंसा करते हुए अपने और दूसरेके उपकारकी अभिलाषासे करुणाजनक रोना परिदेवन है । शंका—शोकादिक दुःखके भेद हैं, इसलिए दुःखका ग्रहण करना पर्याप्त है ? समाधान—यह कहना सही है तो भी यहाँ कुछ भेदोंका कथन करके दुःखकी जातियाँ दिखलायी हैं । जैसे गौ ऐसा कहनेपर अवान्तर भेदोंका ज्ञान नहीं होता, इसलिए खांडी, मुंडी, काली, सफेद आदि विशेषण दिये जाते हैं उसी प्रकार दुःखविषयक आस्रव असंख्यात लोकप्रमाण संभव हैं । परन्तु दुःख इतना कहनेपर सब भेदोंका ज्ञान नहीं होता अतएव कुछ भेदोंका उल्लेख करके उनको पृथक्-पृथक् जान लिया जाता है । क्रोधादिकके आवेशवश ये दुःखादिक कभी अपनेमें होते हैं, कभी दूसरोंमें होते हैं और कभी दोनोंमें होते हैं । ये सब असाता वेदनीयके आस्रवके कारण जानने चाहिए । शंका—यदि अपनेमें, परमें या दोनोंमें स्थित दुःखादिक असातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं तो अरिहंतके मतको माननेवाले मनुष्य दुःखको पैदा करनेवाले केशलोच, अनशन और आतपस्थान (आतापनयोग) आदिमें क्यों विश्वास करते हैं और दूसरोंको इनका उपदेश क्यों देते हैं ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि अन्तरंगमें क्रोधादिकके आवेशसे जो दुःखादिक पैदा होते हैं वे असातावेदनीयके आस्रवके कारण हैं इतना यहाँ विशेष कहा है । जैसे अत्यन्त दयालु किसी वैद्यके फोड़ेकी चीर-फाड़ और मरहमपट्टी करते समय निःशत्य संयतको दुःख देनेमें निमित्त होनेपर भी केवल बाह्य निमित्त मात्रसे पापबन्ध नहीं होता उसी प्रकार जो भिक्षु संसार-सम्बन्धी दुःखसे उद्विग्न है और जिसका मन उसके दूर करनेके उपायोंमें लगा हुआ है उसके शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्ति करते समय संक्लेशरूप परिणामोंके नहीं होनेसे पापबन्ध नहीं होता । कहा भी है—“जिस प्रकार चिकित्साके साधन न स्वयं दुःखरूप देखे जाते हैं और न सुखरूप, किन्तु जो चिकित्सामें

1. -जात्यन्तरविधा- मृ. । 2. क्रोधावेशा- मृ.

न दुःखं न सुखं तद्वद्धेतुर्मोक्षस्य साधने ।

मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥”

§ 631. उक्ता असद्वेद्याल्लवहेतवः । सद्वेद्यस्य पुनः के इत्यत्रोच्यते—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥12॥

§ 632. तासु तासु गतिषु कर्मोदयकशाद्भवन्तीति भूतानि प्राणिन इत्यर्थः । व्रतान्याहिंसा-
दीनि वक्ष्यन्ते, तद्वन्तो व्रतिनः । ते द्विविधाः । अगारं प्रति निवृत्तौत्सुक्याः संयताः गृहिनश्च
संयतासंयताः । अनुग्रहाद्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कूर्वन्तोऽनुकम्पनमनुकम्पा । भूतेषु
व्रतिषु चानुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा । परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम् । संसारकारणवि-
निवृत्तिं प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते । प्राणीन्द्रियेण्युभयप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः । सरागस्त्वै
संयम सरागो वा संयमः सरागसंयमः । ‘आदि’-शब्देन संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपोऽनुरोधः ।
योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः । भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादीनां योगो भूतव्रत्यनु-
कम्पादानसरागसंयमादियोगः । क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः । लोभप्रकाराणापुपरमः शौचम् ।
‘इति’शब्दः प्रकारार्थः । के पुनस्ते प्रकाराः । अर्हत्पूजाकरणं तत्परताबालबृद्धतपस्विर्वैयावृत्यादयः ।

लग रहा है उसे दुःख भी होता है और सुख भी । उसी प्रकार मोक्ष-साधनके जो हेतु हैं वे स्वयं
न दुःखरूप हैं और न सुखरूप किन्तु जो मोक्षमार्गपर आरुढ़ है उसे दुःख भी होता है और
सुख भी ।”

§ 631. असातावेदनीयके आलस्यके कारण कहे, परन्तु सातावेदनीयके आलस्यके कारण
कोन हैं ? इसी बातको बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदि का योग तथा क्षान्ति और
शौच ये सातावेदनीय कर्मके आलस्य हैं ॥12॥

§ 632. जो कर्मोदयके कारण विविध गतियोंमें होते हैं वे भूत कहलाते हैं । भूत यह
प्राणीका पर्यायवाची शब्द है । अहिंसादिक व्रतोंका वर्णन आगे करेंगे । जो उनसे युक्त हैं वे व्रती
कहलाते हैं । वे दो प्रकारके हैं—पहले वे जो घरसे निवृत्त होकर संयत हो गये हैं और दूसरे
गृहस्थ संयतासंयत । अनुग्रहसे दयाद्रि चित्तवालेके दूसरेकी पीड़ाको अपनी ही माननेका जो भाव
होता है उसे अनुकम्पा कहते हैं । सब प्राणियोंपर अनुकम्पा रखना भूतानुकम्पा है और व्रतियों-
पर अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है । दूसरेका उपकार हो इस बुद्धिसे अपनी वस्तुका अर्पण
करना दान है । जो संसारके कारणोंके त्यागके प्रति उत्सुक है, परन्तु जिसके अभी रागके संस्कार
नष्ट नहीं हुए हैं वह सराग कहलाता है । प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें अशुभ प्रवृत्तिके त्यागको
संयम कहते हैं । सरागका संयम या रागसहित संयम सरागसंयम कहलाता है । सूत्रमें
सरागसंयमके आगे दिये गये आदि पदसे संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतपका ग्रहण होता
है । योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम हैं । पहले जो भूतानुकम्पा, व्रत्यनु-
कम्पा, दान और सरागसंयम ‘आदि’ कहे हैं इनका योग अर्थात् इनमें भले प्रकार मन लगाना
भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग है । क्रोधादि दोषोंका निराकरण करना क्षान्ति है । तथा
लोभके प्रकारोंका त्याग करना शौच है । सूत्रमें आया हुआ ‘इति’ शब्द प्रकारवाची है । वे प्रकार
कोन हैं ? अर्हन्तकी पूजा करनेमें तत्परता तथा बाल और बृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्य आदि

1. —करणपरता— मु. ।

‘भूत’ग्रहणात् सिद्धे ‘व्रति’ग्रहणं तद्विषयानुक्रमप्राधान्यस्थापनार्थम् । त एते सद्देवस्यास्त्ववा ज्ञेयाः ।

§ 633. अथ तदनन्तरोद्देशभाजो मोहस्यास्त्ववहेतौ वक्तव्ये तद्भेदस्य दर्शनमोहस्यास्त्ववहेतुप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

केवलिश्रुतसंघर्षमदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥13॥

§ 634. निरावरणज्ञानाः केवलिनः । तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयव्युक्तगणधरानुस्मृतं ग्रन्थ-
रचनं श्रुतं भवति । रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः । अहिंसालक्षणस्तदागमदेशितो धर्मः ।
देवाश्चतुर्णिकाया उक्ताः । गुणवत्सु महत्सु असद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवादः । एतेष्ववर्णवादो
दर्शनमोहस्यास्त्ववहेतुः । कवलाभ्यवहारजीविनः केवलिन इत्येवमादि वचनं केवलिनामवर्णवादः ।
मांसभक्षणान्नवद्याभिधानं¹ श्रुतावर्णवादः । शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघावर्णवादः । जिनोप-
दिष्टो धर्मो निर्गुणस्तदुपसेविनो ये ते चासुरा भविष्यन्तीत्येवमाद्य²भिधानं धर्मावर्णवादः ।
सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः ।

§ 635. द्वितीयस्य मोहस्यास्त्ववभेदप्रतिपादनार्थमाह—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामञ्चारित्रमोहस्य ॥14॥

§ 636. कषाया उक्ताः । उदयो विपाकः । कषायाणामुदयात्तीव्रपरिणामञ्चारित्रमोहस्या-

करना वे प्रकार हैं । यद्यपि भूतपदके ग्रहण करनेसे व्रतियोंका ग्रहण हो जाता है तो भी व्रती-
विषयक अनुक्रमकी प्रधानता दिखलानेके लिए सूत्रमें ‘व्रतो’ पदको अलगसे ग्रहण किया है । ये
सब सातावेदनीयके आस्त्व जानने चाहिए ।

§ 633. अब इसके बाद मोहनीयके आस्त्वके कारणोंका कथन करना क्रमप्राप्त है ।
उसमें भी पहले उसके प्रथम भेद दर्शनमोहनीयके आस्त्वके कारणोंका कथन करनेके लिए आगे-
का सूत्र कहते हैं—

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्मका आस्त्व है ॥13॥

§ 634. जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे केवली कहलाते हैं । अतिशय बुद्धिवाले गण-
धरदेव उनके उपदेशोंका स्मरण करके जो ग्रन्थोंकी रचना करते हैं वह श्रुत कहलाता है । रत्न-
त्रयसे युक्त श्रमणोंका समुदाय संघ कहलाता है । सर्वज्ञ-द्वारा प्रतिपादित आगममें उपदिष्ट अहिंसा
ही धर्म है । चार निकायवाले देवोंका कथन पहले कर आये हैं । गुणवाले बड़े पुरुषोंमें जो दोष
नहीं हैं उनका उनमें उद्भावन करना अवर्णवाद है । इन केवली आदिके विषयमें किया गया
अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आस्त्वका कारण है । यथा केवली कवलाहारसे जीते हैं इत्यादि रूपसे
कथन करना केवलियोंका अवर्णवाद है । शास्त्रमें मांसभक्षण आदिको निर्दोष कहा है इत्यादि
रूपसे कथन करना श्रुतका अवर्णवाद है । ये शूद्र हैं, असुचि हैं, इत्यादि रूपसे अपवाद करना
संघका अवर्णवाद है । जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट धर्ममें कोई सार नहीं, जो इसका सेवन करते हैं
वे असुर होंगे इस प्रकार कथन करना धर्मका अवर्णवाद है । देव सुरा और मांस आदिका सेवन
करते हैं इस प्रकारका कथन करना देवोंका अवर्णवाद है ।

§ 635. अब मोहनीयका दूसरा भेद जो चारित्र मोहनीय है उसके आस्त्वके भेदोंका
कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषायके उदयसे होनेवाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीयका आस्त्व है ॥14॥

§ 636. कषायोंका व्याख्यान पहले कर आये हैं । विपाकको उदय कहते हैं । कषायोंके

1. —जाद्यभिधानं मु., ना. 2. —त्येवमभि— मु. ।

स्त्रवो वेदितव्यः । तत्र स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीयस्यास्त्रवः । सद्धर्मोपहासनदीनातिहास¹कन्दर्पोपहासबहुविप्रलापोपहासशीलतादिर्हास्य-वेदनीयस्य । विचित्रक्रीडनपरताव्रतशीलारुच्यादिः रतिवेदनीयस्य । पररतिप्रादुर्भावनरतिविनाश-नपापशीलसंसर्गादिः अरतिवेदनीयस्य । स्वशोकोत्पादनं²परशोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनी-यस्य । स्वभयपरिणामपरभयोत्पादनादिर्भयवेदनीयस्य । कुशलक्रियाचारजुगुप्सापरिवादशीलत्वा-दिर्जुगुप्सावेदनीयस्य । अलीकाभिधायितातिसंधानपरत्वपररन्ध्र³प्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादिः स्त्रीवेदनी-यस्य । स्तोत्रकोधानुत्सुकत्वस्वदारसंतोषादिः पुंवेदनीयस्य । प्रचुरकषायागुह्येन्द्रियव्यपरोपण-पराङ्मनावस्क⁴न्दादिर्नपुंसकवेदनीयस्य ।

§ 637. निर्दिष्टो मोहनीयस्यास्त्रवभेदः । इदानीं तदनन्तरनिर्दिष्टस्यायुषः⁵ आस्त्रवहेतौ वक्तव्ये आद्यस्य नियतकालपरिपाकस्यायुषः कारणप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥15॥

§ 638. आरम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः । ममेदंबुद्धितक्षणः परिग्रहः । आरम्भाच्च परि-ग्रहाच्च आरम्भपरिग्रहाः । बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः । तस्य भावो

उदयसे जो आत्माका तीव्र परिणाम होता है वह चारित्रमोहनीयका आस्त्रव जानना चाहिए । स्वयं कषाय करना, दूसरोंमें कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनोंके चारित्रमें दूषण लगाना, संव्लेशको पैदा करनेवाले लिंग (वेष) और व्रतको धारण करना आदि कषायवेदनीयके आस्त्रव हैं । सत्य धर्मका उपहास करना, दीन मनुष्यकी दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित रागको बढ़ानेवाला हँसी मजाक करना, बहुत बकने और हँसनेकी आदत रखना आदि हास्यवेदनीयके आस्त्रव हैं । नाना प्रकारकी क्रीड़ाओंमें लगे रहना, व्रत और शीलके पालन करनेमें रुचि न रखना आदि रति-वेदनीयके आस्त्रव हैं । दूसरोंमें अरति उत्पन्न हो और रतिका विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगोंकी संगति करना आदि अरतिवेदनीयके आस्त्रव हैं । स्वयं शोकातुर होना, दूसरों-के शोकको बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्योंका अभिनन्दन करना आदि शोकवेदनीयके आस्त्रव हैं । भय-रूप अपना परिणाम और दूसरेको भय पैदा करना आदि भयवेदनीयके आस्त्रवके कारण हैं । सुखकर क्रिया और सुखकर आचारसे घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सावेदनीयके आस्त्रव हैं । असत्य बोलनेकी आदत, अतिसन्धानपरता, दूसरेके छिद्र ढूँढ़ना और बढ़ा हुआ राग आदि स्त्रीवेदनीयके आस्त्रव हैं । क्रोधका अल्प होना, ईर्ष्या नहीं करना, अपनी स्त्रीमें सन्तोष करना आदि पुरुषवेदनीयके आस्त्रव हैं । प्रचुर मात्रामें कषाय करना, गुप्त इन्द्रियोंका विनाश करना और परस्त्रीसे बलात्कार करना आदि नपुंसक वेदनीयके आस्त्रव हैं ।

§ 637. मोहनीयके आस्त्रवके भेदोंका कथन किया । इसके बाद आयुर्कर्मके आस्त्रवके कारणोंका कथन क्रमप्राप्त है । उसमें भी पहले जिसका नियत काल तक फल मिलता है उस आयुर्के आस्त्रवके कारण दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहपनेका भाव नारकायुका आस्त्रव है ॥15॥

§ 638. प्राणियोंको दुख पहुँचानेवाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है । यह वस्तु मेरी है इस प्रकारका संकल्प रखना परिग्रह है । जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बह्वारम्भपरिग्रहत्व है । हिंसा आदि

1. --नातिहासबहु-- मु. । 2. --त्पादनं परशोकाविष्करणं शोक-- ता. । 3. --रत्वं पररन्ध्रापे-- मु. । --रत्वं, रन्ध्रापे-- आ. । 4. --नास्कन्दा-- मु. 5. निर्दिष्टस्यायुषः कारण-- मु. ।

बह्वारम्भपरिग्रहत्वम् । हिंसादिक्रूरकर्माजित्प्रवर्तनपरस्वहरणविषयातिगृद्धिकृष्णलेश्याभिजात-
रौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो नारकस्यायुष आस्रवो भवति ।

§ 639. आह, उक्तो नारकस्यायुष आस्रवः । तैर्यग्योनस्येदानीं वक्तव्य इत्यत्रोच्यते—

माया तैर्यग्योनस्य ॥16॥

§ 640. चारित्रमोहकर्मविशेषस्योदयादाविर्भूत आत्मनः कुटिलभावो माया निकृतिः
तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवो वेदितव्यः । तत्प्रपञ्चो मिथ्यात्वोपेतधर्मदेशना निःशीलतातिसंधान-
प्रियता नीलकापोतलेश्यातर्ध्यानमरणकालतादिः ।

§ 641. आह, व्याख्यातस्तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवः । इदानीं मानुषस्यायुषः को हेतुरित्य-
त्रोच्यते—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥17॥

§ 642. नारकायुरास्रवो व्याख्यातः । तद्विपरीतो मानुषस्यायुष इति संक्षेपः । तद्व्यासः—
विनीतस्वभावः प्रकृतिभद्रता प्रगुणव्यवहारता तनुकषायत्वं मरणकालासंक्लेशतादिः ।

§ 643. किमेतावानेव मानुषस्यायुष आस्रव इत्यत्रोच्यते—

स्वभावमार्दवं च ॥18॥

§ 644. मृदोर्भाविो मार्दवम् । स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम् । उपदेशानपेक्षमित्यर्थः ।

क्रूर कार्योंमें निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरेके धनका अपहरण, इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति
तथा मरनेके समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदिका होना नरकायुके आस्रव हैं ।

§ 639. नरकायुका आस्रव कहा । अब तिर्यचायुका आस्रव कहना चाहिए, इसलिए
आगेका सूत्र कहते हैं—

माया तिर्यचायुका आस्रव है ॥16॥

§ 640. माया नामक चारित्रमोहनीयके उदयसे जो आत्मामें कुटिल भाव पैदा होता है
वह माया है । इसका दूसरा नाम निकृति है । इसे तिर्यचायुका आस्रव जानना चाहिए । इसका
विस्तारसे खुलासा—धर्मोपदेशमें मिथ्या बातोंको मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित
जीवन बिताना, अतिसंधानप्रियता, तथा मरणके समय नील व कापोत लेश्या और आर्तध्यान-
का होना आदि तिर्यचायुके आस्रव हैं ।

§ 641. तिर्यचायुके आस्रव कहे । अब मनुष्यायुका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए
आगेका सूत्र कहते हैं—

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहपनेका भाव मनुष्यायुके आस्रव हैं ॥17॥

§ 642. नरकायुका आस्रव पहले कह आये हैं । उससे विपरीत भाव मनुष्यायुका आस्रव
है । संक्षेपमें यह इस सूत्रका अभिप्राय है । उसका विस्तारसे खुलासा—स्वभावका विनम्र होना,
भद्र प्रकृतिका होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषायका होना तथा मरणके समय संक्लेशरूप
परिणतिका नहीं होना आदि मनुष्यायुके आस्रव हैं ।

§ 643. क्या मनुष्यायुका आस्रव इतना ही है या और भी है । इसी बातको बतलानेके
लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्वभावकी मृदुता भी मनुष्यायुका आस्रव है ॥18॥

§ 644. मृदुका भाव मार्दव है । स्वभावसे मार्दव स्वभाव मार्दव है । आशय यह है कि
किसीके समझाये-बुझाये मृदुता अपने जीवनमें उतरी हुई हो इसमें किसीके उपदेशकी आवश्यकता

एतदपि मानुषस्यायुष आस्रवः । पृथग्योगकरणं किमर्थम् ? उत्तरार्थम्, देवायुष आस्रवोऽयमपि यथा स्यात् ।

§ 645. किमेतदेव द्वितीयं² मानुषस्यास्रवः ? न; इत्युच्यते—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥19॥

§ 646. 'च'शब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः । अल्पारम्भपरिग्रहत्वं च निःशीलव्रतत्वं च । शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि³ तानि वक्ष्यन्ते । निष्क्रान्तः शीलव्रतेभ्यो निःशीलव्रतः । तस्य भावो निःशीलव्रतत्वम् । 'सर्वेषां'ग्रहणं सकलापुरास्रवप्रतिपत्त्यर्थम् । किं देवायुषोऽपि भवति ? सत्यम्, भवति भोगभूमिजापेक्षया ।

§ 647. अथ चतुर्थस्यायुषः क आस्रव इत्यत्रोच्यते—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य ॥20॥

§ 648. सरागसंयमः संयमासंयमश्च व्याख्यातौ । अकामनिर्जरा अकामश्चारकनिरोध-
बन्धनबद्धेषु क्षुस्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्यामलधारणपरितापादिः । अकामेन निर्जरा अकाम-
निर्जरा । बालतपो मिथ्यादर्शनोपेतमनुपायकायक्लेशप्रचुरं निकृतिबहुलव्रतधारणम् । तान्येतानि
देवस्यायुष आस्रवहेतवो वेदितव्याः ।

न पड़े । यह भी मनुष्यायुका आस्रव है । शंका—इस सूत्रको अलगसे क्यों बनाया ? समाधान —
स्वभावकी मृदुता देवायुका भी आस्रव है इस बातके बतलानेके लिए इस सूत्रको अलगसे
बनाया है ।

§ 645. क्या ये दो ही मनुष्यायुके आस्रव हैं ? नहीं, किन्तु और भी हैं । इसी बातको
बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

शीलरहित और व्रतरहित होना सब आयुओंका आस्रव है ॥19॥

§ 646. सूत्रमें जो 'च' शब्द है वह अधिकार प्राप्त आस्रवोंके समुच्चय करनेके लिए है ।
इससे यह अर्थ निकलता है कि अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहरूप भाव तथा शील और व्रत-
रहित होना सब आयुओंके आस्रव हैं । शील और व्रतोंका स्वरूप आगे कहनेवाले हैं । इनसे रहित
जीवका जो भाव होता है उससे सब आयुओंका आस्रव होता है यह इस सूत्रका भाव है । यहाँ
सब आयुओंका आस्रव इष्ट है यह दिखलानेके लिए सूत्रमें 'सर्वेषाम्' पदको ग्रहण किया है ।
शंका—क्या शील और व्रतरहितपना देवायुका भी आस्रव है ? समाधान—हाँ, भोगभूमियों
प्राणियोंकी अपेक्षा शील और व्रतरहितपना देवायुका भी आस्रव है ।

§ 647. अब चौथी आयुका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायुके आस्रव हैं ॥20॥

§ 648. सरागसंयम और संयमासंयमका व्याख्यान पहले कर आये हैं । चारकमें रोक
रखनेपर या रस्ती आदिसे बाँध रखनेपर जो भूख प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता
है, भूमिपर सोना पड़ता है, मलमूत्रको रोकना पड़ता है और संताप आदि होता है यह सब अकाम
है और इससे जो निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है । मिथ्यात्वके कारण मोक्षमार्गमें उपयोगी
न पड़नेवाले अनुपाय कायक्लेशबहुल भायासे व्रतोंका धारण करना बालतप है । ये सब देवायुके
आस्रवके कारण जानने चाहिए ।

1. आस्रवोऽपि मु. । 2. द्वितीयं मु. । 3. व्रतानि वक्ष्य- मु. । 4. —पेतमनुकम्पाकाय- ता., ना. ।

§ 649. किमेतावानेव देवस्यायुष आस्रवः । नेत्याह—

सम्यक्त्वं च ॥21॥

§ 650. किम् ? देवस्यायुष आस्रव इत्यनुवर्तते । अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेष-
गतिः । कुतः । पृथक्करणात् । यद्येवम्, पूर्वसूत्रे, उक्त आस्रवविविरविशेषेण प्रसक्तः तेन सराग-
संयमसंयमासंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवो प्राप्नुतः । नैष दोषः; सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्य-
पदेशाभावात्तदुभयमप्यत्रान्तर्भवति ।

§ 651. आयुषोजन्तन्तरमुद्दिष्टस्य नाम्न, आस्रवविधौ वक्तव्ये, तत्राशुभनाम्न आस्रवप्रति-
पत्त्यर्थमाह—

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥22॥

§ 652. योगस्त्रिप्रकारो व्याख्यातः । तस्य वक्रता कौटिल्यम् । विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम् ।
ननु च नार्थभेदः, योगवक्रतैवान्यथाप्रवर्तनम् ? सत्यमेवमेतत्—स्वगता योगवक्रतेत्युच्यते । परगतं
विसंवादनम् । सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थानु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकायवाङ्मनोभि-
संवादयति मेवं कार्यैरेवं कुर्वीति । एतदुभयमशुभनामकर्मसंबकारणं वेदितव्यम् । 'च'शब्देन
मिथ्यादर्शनपेगुन्यास्थिरचित्तताकूटमानतुलाकरणपरनिन्दात्मप्रशंसादिः समुच्चयते ।

§ 649. क्या देवायुका आस्रव इतना ही है या और भी है ? अब इसी बातको बतलानेके
लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यक्त्व भी देवायुका आस्रव है ॥21॥

§ 650. शंका—किस कारणसे । समाधान—अलग सूत्र बनानेसे । शंका—यदि ऐसा है
तो पूर्व सूत्रमें जो विधान किया है वह सामान्यरूपसे प्राप्त होता है और इससे सरागसंयम और
संयमासंयम ये भवनवासी आदिकी आयुके भी आस्रव हैं यह प्राप्त होता है ? समाधान—यह
कोई दोष नहीं है; क्योंकि सम्यक्त्वके अभावमें सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते, इसलिए
उन दोनोंका यहीं अन्तर्भाव होता है । अर्थात् ये भी सौधर्मादि देवायुके आस्रव हैं; क्योंकि ये
सम्यक्त्वके होनेपर ही होते हैं ।

§ 651. आयुके बाद नामके आस्रवका कथन क्रमप्राप्त है । उसमें भी पहले अशुभ नामके
आस्रवका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं ।

योगवक्रता और विसंवाद ये अशुभ नाम कर्मके आस्रव हैं ॥22॥

§ 652. तीन प्रकारके योगका व्याख्यान पहले कर आये हैं । इसकी कुटिलता योगवक्रता
है । अन्यथा प्रवृत्ति करना विसंवाद है । शंका—इस तरह इनमें अर्थभेद नहीं प्राप्त होता; क्योंकि
योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है ? समाधान—यह कहना सही है तब भी
स्वगत योगवक्रता कही जाती है और परगत विसंवादन । जो स्वर्ग और मोक्षके योग्य समीचीन
क्रियाओंका आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिद्वारा रोकना
कि ऐसा मत करो ऐसा करो विसंवादन है । इस प्रकार ये दोनों एक नहीं हैं किन्तु अलग-अलग
हैं । ये दोनों अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए । सूत्रमें आये हुए 'च' पदसे मिथ्या-
दर्शन, चुगलबोरी, चित्तका स्थिर न रहना, मापने और तौलनेके बाँट घट-बढ़ रखना, दूसरोंकी
निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना आदि आस्रवोंका समुच्चय होता है ।

§ 653. अथ शुभनामकर्मणः क आस्रव इत्यत्रोच्यते—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥23॥

§ 654. कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादनं च तद्विपरीतम् । 'च' शब्देन समुच्चितस्य च विपरीतं ग्राह्यम् । धार्मिकदर्शनसंभ्रमसद्भावोपनयनसंसारणभीरुताप्रमादवर्जनादिः । तदेतच्छुभनामकर्मसर्वकारणं वेदितव्यम् ।

§ 655. आह किमेतावानेव शुभनाम्न आस्रवविधिस्त कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—यदिदं तीर्थकरनामकर्मन्तानुपमप्रभावमचिन्त्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं तस्यास्रवविधिविशेषोऽस्तीति । यद्येवमुच्यतां के तस्यास्रवः । इत्यत इदमारभ्यते—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभिक्षणज्ञानोपयोगसंवेगो शक्तिस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्व्यावृत्त्यकरणमहंदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति-
रावश्यकपरिहाराणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥24॥

§ 656. जिनेन भगवताहंत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः प्रागुक्तलक्षणा । तस्या अष्टावङ्गानि निःशङ्कितत्वं निःकाङ्क्षिता विचिकित्साविरहता अमूढदृष्टिता उपबृंहणं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावनं चेति । सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु तत्साधनेषु च शुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन संपन्नता विनयसंपन्नता । अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपाल-

§ 653. अब शुभ नामकर्मका आस्रव क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं । उससे विपरीत अर्थात् योगकी सरलता और अविसंवाद ये शुभनामकर्मके आस्रव हैं ॥23॥

§ 654. काय, वचन और मनकी सरलता तथा अविसंवाद ये उससे विपरीत हैं । उसी प्रकार पूर्व सूत्रकी व्यवस्था करते हुए 'च' शब्दसे जिनका समुच्चय किया गया है उनके विपरीत आस्रवोंका ग्रहण करना चाहिए । जैसे—धार्मिक पुरुषों व स्थानोंका दर्शन करना, आदर सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, संसारसे डरना और प्रमादका त्याग करना आदि । ये सब शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं ।

§ 655. शंका—क्या इतनी ही शुभ नामकर्मकी आस्रवविधि हैं या और भी कोई विशेषता है ? समाधान—जो यह अनन्त और अनुपम प्रभाववाला, अचिन्त्य विभूति विशेषका कारण और तीन लोककी विजय करनेवाला तीर्थकर नामकर्म है उसके आस्रवमें विशेषता है, अतः अगले सूत्र द्वारा उसीका कथन करते हैं—

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील और व्रतोंका अतिचार रहित पालन करना, ज्ञानमें सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्तिके अनुसार त्याग, शक्तिके अनुसार तप, साधु-समाधि, व्यावृत्त्य करना, अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक कियाओंको न छोड़ना, मोक्षमार्गकी प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये तीर्थकर नामकर्मके आस्रव हैं ॥24॥

§ 656. (1) जिन भगवान् अरिहंत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्ग-पर रुचि रखना दर्शनविशुद्धि है । इसका विशेष लक्षण पहले कह आये हैं । उसके आठ अंग हैं—निःशंकितत्व, निःकाङ्क्षिता, निर्विकित्तित्व, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना । (2) सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदिके प्रति अपने योग्य

1. --मोक्षसाधनेषु तत्-- मु. ।

नार्येषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः । जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः । संसारदुःखाश्रित्यभीरुता संवेगः । त्यागो दानम् । तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति । तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमानं त्याग इत्युच्यते । अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः । यथा भाण्डागारे बहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्णोपते बहूपकारत्वात्तथानेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संघारणं समाधिः । गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम् । अर्हंवा-
चार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः । क्षणमावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकपरिहाणिः । ³ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना । वस्ते येन वत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम् । तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि च तीर्थकरनामकर्मसाधकारणानि प्रत्येतद्व्यानि ।

§ 657. इदानीं नामास्त्रयविधानानन्तरं गोभ्रात्रवे वक्तव्ये सति नीचैर्गोत्रस्यास्त्रयविधानार्थमिवमाह—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥25॥

आचरणद्वारा आदर सत्कार करना विनय है और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है । (3) अहिंसादिक व्रत हैं और इनके पालन करनेके लिए क्रोधादिकका त्याग करना शील है । इन दोनोंके पालन करनेमें निर्दोष प्रवृत्ति रखना शीलव्रतानतिचार है । (4) जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञानमें निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है । (5) संसारके दुःखोंसे निरन्तर डरते रहना संवेग है । (6) त्याग दान है । वह तीन प्रकारका है—आहारदान, अभय-दान और ज्ञानदान । उसे शक्तिके अनुसार विधिपूर्वक देना यथाशक्ति त्याग है । (7) शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है । (8) जैसे भांडारमें आग लग जानेपर बहुत उपकारी होनेसे आगको शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकार-के व्रत और शीलोंसे समृद्ध मुनिके तप करते हुए किसी कारणसे विघ्नके उत्पन्न होनेपर उसका संघारण करना—शान्त करना साधुसमाधि है । (9) गुणी पुरुषके दुःखमें आ पड़नेपर निर्दोष विधिसे उसका दुःख दूर करना वैयावृत्य है । (10-13) अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भावोंकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना अरिहंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति है । (14) छह आवश्यक क्रियाओंका यथा समय करना आवश्यकपरिहाणि है । (15) ज्ञान, तप, दान और जिनपूजा इनके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है । (16) जैसे गाय बछड़ेपर स्नेह रखती है उसी प्रकार सार्धर्मियोंपर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है । ये सब सोलह कारण हैं । यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्मके आस्रवके कारण होते हैं और समुदायरूपसे सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थकर नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए ।

§ 657. नामकर्मके आस्रवोंका कथन करनेके बाद अब गोत्रकर्मके आस्रवोंका कथन क्रम-प्राप्त है । उसमें भी पहले नीच गोत्रके आस्रवोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का उच्छादन और असद्गुणों का उद्भावन ये नीच-गोत्रके आस्रव हैं ॥25॥

1. —चार्यबहु— मु. 2. —तपोजिन— मु. ।

§ 658. 'तथ्यस्य वातथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा । गुणोद्भावनाभि-
प्रायः प्रशंसा । यथासंख्य²मभिसंबन्धः—परनिन्दा आत्मप्रशंसेति । प्रतिबन्धकहेतुसंनिधाने सति
अनुद्भूतवृत्तिता अनाविर्भाव उच्छादनम् । प्रतिबन्धकाभावे³ प्रकाशवृत्तिता उद्भावनम् । अत्रापि
च यथाक्रममभिसंबन्धः—सद्गुणोच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति । तान्येतानि नोच्चैर्गोत्रस्यास्रव-
कारणानि वेदितव्यानि ।

§ 659. अथोच्चैर्गोत्रस्य क आस्रवविधिरत्रोच्यते—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥26॥

§ 660. 'तत्'इत्यनेन प्रत्यासत्तेर्नीचैर्गोत्रस्यास्रवः⁴ प्रतिनिदिश्यते । अनेन⁵ प्रकारेण
वृत्तिविपर्ययः । तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययः । कः पुनरसौ विपर्ययः ? आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणो-
द्भावनमसद्गुणोच्छादनं च । गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः । विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि
सतरत्कृतमदविरहोऽनहंकारतानुत्सेकः । तान्येतान्युत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति ।

§ 661. अथ गोत्रानन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य क आस्रव इत्युच्यते—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥27॥

§ 662. दानादीन्युक्तानि 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इत्यत्र । तेषां विहननं

§ 658. सच्चे या झूठे दोषको प्रकट करनेकी इच्छा निन्दा है । गुणोंके प्रकट करनेका भाव
प्रशंसा है । पर और आत्मा शब्दके साथ इनका क्रमसे सम्बन्ध होता है । यथा परनिन्दा और
आत्मप्रशंसा है । रोकनेवाले कारणोंके रहनेपर प्रकट नहीं करनेकी वृत्ति होना उच्छादन है और
रोकनेवाले कारणोंका अभाव होनेपर प्रकट करनेकी वृत्ति होना उद्भावन है । यहाँ भी क्रमसे
सम्बन्ध होता है । यथा—सद्गुणोच्छादन और असद्गुणोद्भावन । इन सब का नीच गोत्रके
आस्रवके कारण जानना चाहिए ।

§ 659. अब उच्च गोत्रके आस्रवके कारण क्या हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणोंका उद्भावन और असद्गुणोंका
उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्रके आस्रव हैं ॥2॥

§ 660. इसके पहले नीच गोत्रके आस्रवोंका उल्लेख कर आये हैं, अतः 'तत्' इस पदसे
उनका ग्रहण होता है । अन्य प्रकारसे वृत्ति होना विपर्यय है । नीच गोत्रका जो आस्रव कहा है
उससे विपर्यय तद्विपर्यय है । शंका—वे विपरीत कारण कौन हैं ? समाधान—आत्मनिन्दा,
परप्रशंसा, सद्गुणोंका उद्भावन और असद्गुणोंका उच्छादन । जो गुणोंमें उत्कृष्ट हैं उनके
विनयेसे नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है । ज्ञानादिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना
अर्थात् अहंकार रहित होना अनुत्सेक है । ये उत्तर अर्थात् उच्च गोत्रके आस्रवके कारण हैं ।

§ 661. अब गोत्रके बाद क्रम प्राप्त अन्तराय कर्मका क्या आस्रव है यह बतलानेके लिए
आगेका सूत्र कहते हैं—

दानादिकमें विघ्न डालना अन्तराय कर्मका आस्रव है ॥27॥

§ 662. 'दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च' इस सूत्रकी व्याख्या करते समय दानादिकका

1. तथ्यस्य वा दो- मु. । 2. —संख्यमिति सम्ब- आ, दि. 1, दि. 2 । 3. —भावेन प्रकाश- मु. ।
4. —गोत्रास्रवः आ, दि. 1, दि. 2 । 5. —अनेन मु. ।

विघ्नः । विघ्नस्य करणं विघ्नकरणमन्तरायस्यास्त्रविविधैर्वदितव्यः । अत्र चोद्यते—तत्प्रदोषनिह्ण-
वाद्यो ज्ञानदर्शनावरणादीनां प्रतिनियता आस्त्रवहेतवो वर्णिताः, किं ते प्रतिनियतज्ञानावरणाद्या-
स्त्रवहेतव एव उताविशेषेणेति । यदि प्रतिनियतज्ञानावरणाद्यास्त्रवहेतव एव, आगमविरोधः प्रसज्यते ।
आगमे हि सप्त कर्माणि आयुर्वर्ज्यानि प्रतिक्षणं युगपदास्त्रवन्तीत्युक्तम् । तद्विरोधः स्यात् ।
अथाविशेषेण आस्त्रवहेतवो^१ विशेषनिर्देशो न युक्त इति ? अत्रोच्यते—यद्यपि तत्प्रदोषादिभिर्ज्ञाना-
वरणादीनां सर्वासां कर्मप्रकृतीनां प्रदेशबन्धनियमो नास्ति, तथाप्यनुभाजनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोष-
निह्णवाद्यो विभाज्यन्ते ।

इति तत्त्वार्थवृत्तो सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥6॥

व्याख्यान कर आये हैं । उनका नाश करना विघ्न है । और इस विघ्नका करना अन्तराय कर्म-
का आस्त्रव जानना चाहिए । शंका—तत्प्रदोष और निह्णव आदिक ज्ञानावरण और दर्शनावरण
आदि कर्मोंके प्रतिनियत आस्त्रवके कारण कहे तो क्या वे ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि
प्रतिनियत कर्मोंके आस्त्रवके कारण हैं या सामान्यसे सभी कर्मोंके आस्त्रवके कारण हैं ? यदि
ज्ञानावरणादिक प्रतिनियत कर्मोंके कारण हैं तो आगमसे विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि आयुके
सिवा शेष सात कर्मोंका प्रति समय आस्त्रव होता है ऐसा आगममें कहा है, अतः इससे विरोध
होता है । और यदि सामान्यसे सब कर्मोंके आस्त्रवके कारण हैं ऐसा माना जाता है तो इस
प्रकार विशेष रूपसे कथन करना युक्त नहीं ठहरता ? समाधान—यद्यपि तत्प्रदोष आदिसे ज्ञाना-
वरणादि सब कर्म प्रकृतियोंका प्रदेश बन्ध होता है ऐसा नियम नहीं है तो भी वे प्रतिनियत
अनुभागबन्धके हेतु हैं, इसलिए तत्प्रदोष, निह्णव आदिका अलग-अलग कथन किया है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥6॥

1. -हेतुविशेष- आ., ता. ना. दि. 1, दि. 2 ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

§ 663. आसन्नपदार्थो व्याख्यातः । तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभः पुण्यस्थ' इति तत्सा-
मान्येनोक्तम् । तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं कः पुनः शुभ इत्युक्ते इवमुच्यते—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्¹ ॥1॥

§ 664. 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्येवमादिभिः सूत्रैर्हिंसादयो निर्देक्ष्यन्ते ।
तेभ्यो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते ।² व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति
वा । ननु च हिंसादयः परिणामविशेषा अद्भुताः, कथं तेषाम³पादानत्वमुच्यते ? बुद्धचपाये ध्रुव-
त्वविवक्षोपपत्तेः । यथा 'धर्माद्विरमतीत्यत्र य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिः स पश्यति—दुष्करो धर्मः,
फलं चास्य भद्राभात्रगम्यमिति स⁴ बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते । एवमिहापि य⁵ एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्व-
कारी स पश्यति—य एते हिंसादयः परिणामास्ते पापहेतवः । पापकर्मणि प्रवर्तमानान् जनानिहैव
राजानो दण्डयन्ति परत्र च दुःखमाप्नुवन्तीति स⁶ बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते । ततो बुद्ध्या
ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेरपादानत्वं युक्तम् । 'विरति'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते हिंसाया विरतिः

§ 663. आसन्न पदार्थका व्याख्यान करते समय उसके आरम्भ में 'शुभः पुण्यस्थ' यह
कहा है पर वह सामान्यरूपसे ही कहा है, अतः विशेषरूपसे उसका ज्ञान करानेके लिए शुभ
क्या है ऐसा पूछने पर आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसा, असत्य, चोरी, अन्नह्य और परिग्रहसे विरत होना व्रत है ॥1॥

§ 664. 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसादिका जो स्वरूप
आगे कहेंगे उनसे विरत होना व्रत कहलाता है । प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह
व्रत है । या 'यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है ।
शंका—हिंसा आदिक परिणाम विशेष ध्रुव अर्थात् सदा काल स्थिर नहीं रहते इसलिए उनका
अपादान कारकमें प्रयोग कैसे बन सकता है ? समाधान—बुद्धिपूर्वक त्यागमें ध्रुवपनेकी विवक्षा
बन जानेसे अपादान कारकका प्रयोग बन जाता है । जैसे 'धर्मसे विरत होता है' यहाँ जो यह
धर्मसे विमुख बुद्धिवाला मनुष्य है वह विचार करता है कि 'धर्म दुष्कर है और उसका फल
श्रद्धाभात्रगम्य है' इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर धर्मसे विरत हो जाता है । इसी प्रकार यहाँ
भी जो यह मनुष्य विचारपूर्वक काम करनेवाला है वह विचार करता है कि जो ये हिंसादिक
परिणाम हैं वे पापके कारण हैं और जो पाप कार्यमें प्रवृत्त होते हैं उन्हें इसी भवमें राजा लोग
दण्ड देते हैं और वे पापाचारी परलोकमें दुःख उठाते हैं, इस प्रकार वह बुद्धिसे समझ कर हिंसा-
दिकसे विरत हो जाता है । इसलिए बुद्धिसे ध्रुवत्वपनेकी विवक्षा बन जानेसे अपादान कारक-
का प्रयोग करना उचित है । विरति शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा

1. 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।'—पा. यो. सू. 2, 30 ।
2. 'अभिसन्धिकृता विरतिविषया-
क्षोभ्याद्व्रतं भवति ।'—रत्न. 3, 40 ।
3. 'ध्रुवमपायेऽपादानम् ।'—पा. 1, 4, 24 ।
4. 'धर्माद्विरमति
× × एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिर्भवति स पश्यति ।'—पा. म. भा. 1, 4, 3, 24 ।
5. स्वबुद्ध्या भु. ।
'स बुद्ध्या निवर्तते'—पा. म. भा. 1, 4, 3, 24 ।
6. 'य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति ।'
—पा. म. भा. 1, 4, 3, 24 ।
7. —वन्तीति स्वबुद्ध्या भु., ता. ना. ।

अनुताद्विरतिरित्येवमादि । तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते प्रधानत्वात् । सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि सत्यस्य वृत्तिपरिक्षेपवत् । सर्वसाधननिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं वृत्तं, तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पञ्चविधमिहोच्यते । ननु च अस्य व्रतस्यास्त्रवहेतुत्वमनुपपन्नं संवरहेतुत्वन्तर्भावात् । संवरहेतवो वक्ष्यन्ते गुप्तिसमित्यादयः । तत्र दशविधे धर्मे संयमे वा व्रतानामन्तर्भाव इति ? नैव दोषः; तत्र संवरो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते । प्रवृत्तिश्चात्र दृश्यते¹; हिंसानृतादत्तादानादिपरित्यागे अहिंसासत्यवचनदत्तादानादिक्रियाप्रतीतेः गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च । व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोतीति ततः पृथक्त्वेनोपदेशः क्रियते । ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् ? न; भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते² । तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति ।

§ 665. तस्य पञ्चतयस्य व्रतस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

देशसर्वतोऽणुमहती³ ॥2॥

§ 666. देश एकदेशः । सर्वः सकलः । देशश्च सर्वश्च देशसर्वो ताभ्यां देशसर्वतः । 'विरतिः' इत्यनुवर्तते । अणु च महच्चाणुमहती । व्रताभिसंबन्धान्नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । यथासंख्यमभि-

हिंसासे विरति, असत्यसे विरति आदि । इन पाँच व्रतोंमें अहिंसा व्रतको प्रारम्भमें रखा है क्योंकि वह सबमें मुख्य है । धान्यके खेतके लिए जैसे उसके चारों ओर काँटोंका घेरा होता है उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत उसकी रक्षाके लिए हैं । सब पापोंसे निवृत्त होनेरूप सामायिककी अपेक्षा एक व्रत है । वही व्रत छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है और उन्हींका यहाँ कथन किया है । शंका—यह व्रत आस्त्रवका कारण है यह बात नहीं बनती, क्योंकि संवरके कारणोंमें इनका अन्तर्भाव होता है । आगे गुप्ति, समिति इत्यादि संवरके कारण कहनेवाले हैं । वहाँ दस प्रकारके धर्मोंमें एक संयम नामका धर्म व्रतलाया है उसमें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ निवृत्तिरूप संवरका कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदिका त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि-रूप क्रिया देखी जाती है । दूसरे ये व्रत गुप्ति आदि रूप संवरके अंग हैं । जिस साधुने व्रतोंकी मर्यादा कर ली है वह सुखपूर्वक संवर करता है, इसलिए व्रतोंका अलगसे उपदेश दिया है । शंका—रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना करनी थी ? समाधान—नहीं, क्योंकि उसका भावनाओंमें अन्तर्भाव हो जाता है । आगे अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कहेंगे । उनमें एक आलोकितपानभोजन नामकी भावना है उसमें रात्रिभोजनविरमण नामक व्रतका अन्तर्भाव हो जाता है ।

§ 665. उस पाँच प्रकारके व्रतके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसादिकसे एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है ॥2॥

§ 666. देश शब्दका अर्थ एकदेश है और सर्व शब्दका अर्थ सकल है । सूत्रमें देश और सर्व शब्दका द्वन्द्व समास करके तसि प्रत्यय करके 'देशसर्वतः' पद बनाया है । इस सूत्रमें विरति शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे होती है । यहाँ अणु और महत् शब्दका द्वन्द्व समास होकर 'अणुमहती' पद बना है । व्रत शब्द नपुंसक लिंग है, इसलिए 'अणुमहती' यह नपुंसक लिंगपरक निर्देश किया है । इनका सम्बन्ध क्रमसे होता है । यथा—एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और

1. दृश्यते हिंसानृतादत्तादानादिक्रिया— सु. । 2. --क्ष्यन्ते । आलो.— आ., दि. 1, दि., 2 । 3. 'एते जातिदेवकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।' —पा. यो. सू. 2, 3 ।

संबध्यते । देशतो विरतिरणुव्रतं सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति द्विधा भिद्यते प्रत्येकं व्रतम् । एतानि व्रतानि भावितानि वरोषधवद्यत्नवते¹ दुःखनिवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति ।

§ 667. किमर्थं कथं वा भावनं तेषामित्यत्रोच्यते—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥3॥

§ 668. तेषां व्रतानां स्थिरीकरणायैकैकस्य व्रतस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्याः ।
अहिंसाव्रतस्य भावनाः का इत्यत्रोच्यते—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥4॥

§ 669. वाग्गुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः आदाननिक्षेपणसमितिः आलोकितपानभोजन-
नित्येताः पञ्चाहिंसाव्रतस्य भावनाः ।

§ 670. अथ द्वितीयस्य व्रतस्य का इत्यत्रोच्यते—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ॥5॥

§ 671. क्रोधप्रत्याख्यानं लोभप्रत्याख्यानं भीरुत्वप्रत्याख्यानं हास्यप्रत्याख्यानम् अनुवीची-
भाषणं चेत्येताः पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य ज्ञेयाः । अनुवीचीभाषणं निरवद्यानुभाषणमित्यर्थः ।

§ 672. इदानीं तृतीयस्य व्रतस्य का भावना इत्यत्राह—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥6॥

सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है इस प्रकार अहिंसादि प्रत्येक व्रत दो प्रकारके हैं । प्रयत्न-
शील जो पुरुष उत्तम ओषधिके समान इन व्रतोंका सेवन करता है उसके दुःखोंका नाश होता है ।

§ 667. इन व्रतोंकी किसलिए और किस प्रकार भावना करनी चाहिए, अब इसी बात-
को बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं ॥3॥

§ 668. उन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक एक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ जाननी
चाहिए । यदि ऐसा है तो प्रथम अहिंसा व्रतकी भावनाएँ कौन-सी हैं ? अब इस बातको बतलाने
के लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन
ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥4॥

§ 669. वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित-
पानभोजन ये अहिंसा व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ।

§ 670. अब दूसरे व्रतकी भावनाएँ कौनसी हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीची-
भाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥5॥

§ 671. क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और
अनुवीचीभाषण ये सत्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं । अनुवीचीभाषणका अर्थ निर्दोष भाषण है ।

§ 672. अब तीसरे व्रतकी कौनसी भावनाएँ हैं, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्षशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये
अचौर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥6॥

1. वरोषधवत् दुःख— आ. ।

§ 673. शून्यागारेषु गिरिगुहातटकोटरादिष्वावासः । परकीयेषु च विमोचितेष्वावासः । परेषामुपरोधाकरणम् । आचारशास्त्रमार्गेण भैक्षशुद्धिः । ममेदं तवेदमिति सधर्मभिरविसंवादः । इत्येताः पञ्चादत्तादानविरमणव्रतस्य भावनाः ।

§ 674. अथेदानीं ब्रह्मचर्यव्रतस्य भावना वक्तव्या इत्यत्राह—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीर-
संस्कारत्यागाः पञ्च ॥7॥

§ 675. त्यागशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । स्त्रीरागकथाश्रवणत्यागः तन्मनोहराङ्गनिरी-
क्षणत्यागः पूर्वरतानुस्मरणत्यागः वृष्येष्टरसत्यागः स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति चतुर्थव्रतस्य भावनाः
पञ्च विज्ञेयाः ।

§ 676. अब पञ्चमव्रतस्य भावनाः का इत्यत्रोच्यते—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरोगद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥8॥

§ 677. पञ्चानामिन्द्रियाणां स्पर्शनादीनामिष्टानिष्टेषु विषयेषूपनिषत्तितेषु¹ स्पर्शादिषु
रागवर्जनानि पञ्च आकिंचन्यस्य व्रतस्य भावनाः प्रत्येतव्याः ।

§ 678. किञ्चान्यद्यथाभोषां व्रतानां द्विद्वितीयं भावनाः प्रतीयन्ते तद्विषयिचद्भिरिति
भावनोपदेशः, तथा तदर्थं तद्विरोधिष्वपीत्याह—

§ 673. पर्वतकी गुफा और वृक्षका कोटर आदि शून्यागार हैं इनमें रहना शून्यागारा-
वास है । दूसरों द्वारा छोड़े हुए मकान आदिमें रहना विमोचितावास है । दूसरोंको ठहरनेसे नहीं
रोकना परोपरोधाकरण है । आचार शास्त्रमें बतलायी हुई विधिके अनुसार भिक्षा लेना भैक्ष-
शुद्धि है । 'यह मेरा है यह तेरा है' इस प्रकार सधर्मियोंसे विसंवाद नहीं करना सधर्माविसंवाद
है । ये अदत्तादानविरमण व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ।

§ 674. अब इस समय ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाओंका कथन करना चाहिए; इसलिए
आगेका सूत्र कहते हैं—

स्त्रियोंमें रागको पैदा करनेवाली कथाके सुननेका त्याग, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंकी देखने-
का त्याग, पूर्व भोगोंके स्मरणका त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रसका त्याग तथा अपने शरीरके
संस्कारका त्याग ये ब्रह्मचर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥7॥

§ 675. त्याग शब्दको प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा—स्त्रीरागकथा-
श्रवणत्याग, तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीर-
संस्कारत्याग ये ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं ।

§ 676. अब पाँचवें व्रतकी कौनसी भावनाएँ हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियोंके विषयोंमें क्रमसे राग और द्वेषका त्याग करना ये अपरि-
ग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥8॥

§ 677. स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंके इष्ट और अनिष्ट स्पर्श आदिक पाँच विषयोंके प्राप्त
होने पर राग और द्वेषका त्याग करना ये आकिंचन्य व्रतकी पाँच भावनाएँ जाननी चाहिए ।

§ 678. जिस प्रकार इन व्रतोंकी दृढ़ताके लिए भावनाएँ प्रतीत होती हैं, इसलिए भाव-
नाओंका उपदेश दिया है उसी प्रकार विद्वान् पुरुषोंको व्रतोंकी दृढ़ताके लिए विरोधी भावोंके
विषयमें क्या करना चाहिए ? यह बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

1. -येषूपनिषत्तितेषु आ., दि. 1, दि. 2।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥9॥

§ 679. अम्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकः¹ प्रयोगोऽपायः । अवद्यं गह्वर्यम् । अपायश्चावद्यं चापायावद्यो तयोर्दर्शनमपायावद्यदर्शनं भावयितव्यम् । क्व ? इहामुत्र च । केषु ? हिंसादिषु । कथमिति चेदुच्यते—हिंसायां तावत्, हिलो हि नित्योद्वेजनीयः सततानुबद्धवैरश्च इह च वधबन्धपरिक्लेशादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गहितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान् । तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते मिथ्याम्यास्यान-दुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिं गहितश्च भवतीति अनृतवचनादुपरमः श्रेयान् । तथा स्तेनः परद्रव्याहरणासक्तः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति । इहैव चाभिघातवधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरोष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन् प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं गहितश्च भवतीति स्तेयाद् व्युपरतिः श्रेयसी । तथा अब्रह्मचारी मदविध्वमोद्भ्रान्तचित्तो वनगज इव वासितावञ्चितो विवशो वधबन्धनपरिक्लेशाननुभवति मोहाभिभूतत्वाच्च कार्या-कार्यानभिज्ञो न किञ्चित्कुशलमाचरति पराङ्मनालिङ्गनसङ्गकृतरतिश्चेहैव वैरानुबन्धनो लिङ्गच्छे-दनवधबन्धसर्वस्वहरणादीनपायान् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते गहितश्च भवति अतो

हिंसादिक पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्यका दर्शन भावने योग्य है ॥9॥

§ 679. स्वर्ग और मोक्षकी प्रयोजक क्रियाओंका विनाश करनेवाली प्रवृत्ति अपाय है । अवद्यका अर्थ गह्वर्य है । अपाय और अवद्य इन दोनोंके दर्शनकी भावना करनी चाहिए । शंका—कहाँ ? समाधान—इस लोक और परलोकमें । शंका—किनमें ? समाधान—हिंसादि पाँच दोषोंमें । शंका—कैसे ? समाधान—हिंसामें यथा—हिंसक निरन्तर उद्वेजनीय है, वह सदा वैरको बाँधे रहता है । इस लोकमें वध, बन्ध और क्लेश आदिको प्राप्त होता है तथा परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गहित भी होता है इस लिए हिंसाका त्याग श्रेयस्कर है । असत्य-वादीका कोई श्रद्धान नहीं करता । वह इस लोकमें जिह्वाछेद आदि दुःखों को प्राप्त होता है तथा असत्य बोलनेसे दुःखी हुए अतएव जिन्होंने वैर बाँध लिया है उनसे बहुत प्रकारकी आपत्तियोंको और परलोक में अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गहित भी होता है इसलिए असत्य वचनका त्याग श्रेयस्कर है । तथा परद्रव्यका अपहरण करनेवाले चोरका सब तिरस्कार करते हैं । इस लोकमें वह ताड़ना, मारना, बाँधना तथा हाथ, पैर, कान नाक, ऊपरके ओठका छेदना, भेदना और सर्वस्वहरण आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है और गहित भी होता है इसलिए चोरीका त्याग श्रेयस्कर है । तथा जो अब्रह्मचारी है उसका चित्त मदसे भ्रमता रहता है । जिस प्रकार वनका हाथी हथिनीसे जुदा कर दिया जाता है और विवश होकर उसे वध, बन्धन और क्लेश आदि दुःखोंको भोगना पड़ता है ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारीकी होती है । मोहसे अभिभूत होनेके कारण वह कार्य और अकार्यके विवेकसे रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नहीं करता । परस्त्रीके आलिंगन और संसर्गमें ही इसको रति रहती है, इसलिए यह वैरको बढ़ानेवाले लिङ्गका छेदा जाना, मारा जाना, बाँधा जाना और सर्वस्वका अपहरण किया जाना आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है तथा गहित भी होता है, इसलिए अब्रह्मका त्याग आत्महितकारी है । जिस प्रकार पक्षी मांसके टुकड़ोंको प्राप्त करके उसको चाहनेवाले दूसरे पक्षियोंके द्वारा पराभूत होता है उसी प्रकार परिग्रहवाला भी इसी

1. -सकप्रयो— मृ. ।

विरतिरात्महिता । तथा परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्रिणामिहैव तत्करादीनामभिभवनीयो भवति तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान् बहून्वाप्नोति न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवान्नेः लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति प्रेत्य चाशुभां गतिमास्कन्दते लुब्धोऽयमिति गृहीतश्च भवतीति तद्विरमणं श्रेयः । एवं हिंसादिष्वपयायव्यवर्जनं भावनीयम् ।

§ 680. हिंसादिषु भावनान्तरप्रतिपादनार्थमाह—

दुःखमेव वा ॥10॥

§ 681. हिंसादयो दुःखमेवेति भावयितव्याः । कथं हिंसादयो दुःखम् ? दुःखकारणत्वात् । यथा “अन्नं वै प्राणाः” इति । कारणस्य कारणत्वाद्वा । यथा “धनं प्राणाः” इति । धनकारण-मन्नपानकारणाः प्राणा इति । तथा हिंसादयोऽसद्वैद्यकर्मकारणम् । असद्वैद्यकर्मं च दुःख-कारणमिति दुःखकारणे दुःखकारणकारणे वा दुःखोपचारः । तदेते दुःखमेवेति भावनं परात्म-साक्षिकमवगन्तव्यम् । ननु^१ च तत्सर्वं न दुःखमेव; विषयरतिमुखसद्भावात् ? न तत्सुखम्; वेदनाप्रतीकारत्वात्कच्छकण्डूयनवत् ।

§ 682. पुनरपि^३ भावनान्तरमाह—

लोकमें उसको चाहनेवाले चोर आदिके द्वारा पराभूत होता है । तथा उसके अर्जन, रक्षण और नाशसे होनेवाले अनेक दोषोंको प्राप्त होता है । जैसे ईधनसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती वैसे ही इसकी कितने ही परिग्रहसे कभी भी तृप्ति नहीं होती । यह लोभातिरेकके कारण कार्य और अकार्यका विवेक नहीं करता, परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है । तथा यह लोभी है इस प्रकारसे इसका तिरस्कार भी होता है, इसलिए परिग्रहका त्याग श्रेयस्कर है । इस प्रकार हिंसा आदि दोषोंमें अपाय और अवयवके दर्शनकी भावना करनी चाहिए ।

§ 680. अब हिंसा आदि दोषोंमें दूसरी भावनाका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिए ॥10॥

§ 681. हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसा चिन्तन करना चाहिए । शंका—हिंसादिक दुःख कैसे हैं ? समाधान—दुःखके कारण होनेसे । यथा—‘अन्न ही प्राण हैं ।’ अन्न प्राणधारणका कारण है पर कारणमें कार्यका उपचार करके जिस प्रकार अन्नको ही प्राण कहते हैं । या कारणका कारण होनेसे हिंसादिक दुःख हैं । यथा—‘धन ही प्राण हैं ।’ यहाँ अन्नपानका कारण धन है और प्राणका कारण अन्नपान है, इसलिए जिस प्रकार धनको प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादिक असाता वेदनीय कर्मके कारण हैं और असाता वेदनीय दुःखका कारण है, इसलिए दुःखके कारण या दुःखके कारणके कारण हिंसादिकमें दुःखका उपचार है । ये हिंसादिक दुःख ही हैं इस प्रकार अपनी और दूसरोंकी साक्षीपूर्वक भावना करनी चाहिए । शंका—ये हिंसादिक सबके सब केवल दुःख ही हैं यह बात नहीं है, क्योंकि विषयोंके सेवनमें सुख उपलब्ध होता है ? समाधान—विषयोंके सेवत्वेसे जो सुखाभास होता है वह सुख नहीं है, किन्तु दावको खुजलानेके समान केवल वेदनाका प्रतिकारमात्र है ।

§ 682. और भी अन्य भावना करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. तदेते दुःखमेवेति भावनं परमात्मसा— आ. । तदेतत् दुःखमेवेति भावनं परात्मसा— मु. । तदेते दुःख-मेवेति भावनं परमात्मसा— ता. । 2. ननु च सर्वं दुःखमेव ता. । 3. भावनार्थमाह आ, दि. 1, दि. 2 ।

¹मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकविलश्यमानाविनेयेषु ॥11॥

§ 683. परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानास्तर्भवित-
रागः प्रमोदः । दीनानुग्रहभावः कारुण्यम् । रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम् । दुष्कर्मविपा-
कवशान्नातयोनिषु सोदन्तीति सत्त्वा जीवः । सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः । असद्वैद्यो-
दयापादितफलेशः क्लिश्यमानाः । तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्याससंपादितगुणा अविनेयाः । एतेषु सत्त्वा-
दिषु यथासंख्यं मैत्र्यादीनि भावयितव्यानि । सर्वसत्त्वेषु मैत्री, गुणाधिकेषु प्रमोदः, क्लिश्यमानेषु
कारुण्यम्, अविनेयेषु माध्यस्थ्यमिति । एवं भावयतः पूर्णान्याहिसादीनि व्रतानि भवन्ति ।

§ 684. पुनरपि भावनान्तरमाह—

²जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥12॥

§ 685. जगत्स्वभावस्तावदनादिरनिधनो वेत्रासनभल्लरीमृदंगनिभः । अत्र जीवा अनादि-
संसारोऽनन्तकालं न नायोनिषु दुःखं भोजं भोजं पयटन्ति । न चात्र किञ्चिन्नियतमस्ति । जलबुद्-
बुदोपमं जीवितम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसंपद इति । एवमादिजगत्स्वभावचिन्तनात्सं-
सारत्संवेगो भवति । कायस्वभावश्च अनित्यता दुःखहेतुत्व निःसारता अशुचित्वमिति । एवमादि-

प्राणीमात्रमें मैत्री, गुणाधिकोंमें प्रमोद, क्लिश्यमानोंमें करुणा वृत्ति और अविनेयोंमें
माध्यस्थ्य भावना करनी चाहिए ॥11॥

§ 683. दूसरोंको दुःख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है । मुखकी प्रसन्नता आदिके
द्वारा भीतर भक्ति और अनुरागका व्यक्त होना प्रमोद है । दोनों पर दयाभाव रखना कारुण्य
है । रागद्वेषपूर्वक पक्षपातका न करना माध्यस्थ्य है । बुरे कर्मोंके फलसे जो नाना योनियोंमें
जन्मते और मरते हैं वे सत्त्व हैं । सत्त्व यह जीवका पर्यायवाची नाम है । जो सम्यग्ज्ञानादि
गुणोंमें बढ़े चढ़े हैं वे गुणाधिक कहलाते हैं । असातावेदनीयके उदयसे जो दुःखी हैं वे क्लिश्य-
मान कहलाते हैं । जिनमें जीवादि पदार्थोंको सुनने और ग्रहण करनेका गुण नहीं है वे अविनेय
कहलाते हैं । इन सत्त्व आदिकमें क्रमसे मैत्री आदिकी भावना करनी चाहिए । जो सब जीवोंमें
मैत्री, गुणाधिकोंमें प्रमोद, क्लिश्यमानोंमें कारुण्य और अविनेयोंमें माध्यस्थ्य भावकी भावना
करता है उसके अहिंसा आदि व्रत पूर्णताको प्राप्त होते हैं ।

§ 684. अब फिर भी और भावनाके लिए आगेका सूत्र कहते हैं —

संवेग और वैराग्यके लिए जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी
चाहिए ॥12॥

§ 685. जगत्का स्वभाव यथा—यह जगत् अनादि है, अनिधन है, वेत्रासन, झल्लरी
और मृदंगके समान है । इस अनादि संसारमें जीव अनन्त काल तक नाना योनियोंमें दुःखोंको
पुनः पुनः भोगते हुए भ्रमण करते हैं । इसमें कोई भी वस्तु नियत नहीं है । जीवन जलके बुल-
बुलेके समान है । और भोग-सम्पदाएँ बिजली और इन्द्रधनुषके समान चंचल हैं—इत्यादि रूपसे
जगत्के स्वभावका चिन्तन करनेसे संसारसे संवेग—भय होता है । कायका स्वभाव यथा—यह
शरीर अनित्य है, दुःखका कारण है, निःसार है और अशुचि है इत्यादि । इस प्रकार कायके

1. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखगुण्यागुण्यविषयाणां भावनतश्चित्तप्रसादनम् ।' पा. यो. सू. 1, 33 ।

2. भीचात्स्वाङ्गबुगुप्सा परैरसंसर्गः ।'— पा. यो. सू. 2, 40 ।

कायस्वभावचिन्तनाद्विषयरागनिवृत्तेर्वैराग्यमुपजायते । इति जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ ।

§ 686. अत्राह; उक्तं भवता¹ हिंसादिनिवृत्तिवतमिति, तत्र न जानीमः के हिंसादयः क्रियाविशेषा इत्यत्रोच्यते । युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्तत्लक्षणनिर्देशस्य क्रमप्रसंगे यासावादी चोदिता सैव तावदुच्यते—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥13॥

§ 687. प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः । प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगः, तस्मात्प्रमत्तयोगात् इन्द्रियादयो दशप्राणास्तेषां यथासम्भवं व्यपरोपणं विद्योगकरणं हिंसेत्यभिधीयते । सा प्राणिनो दुःखहेतुत्वावधर्महेतुः । ‘प्रमत्तयोगात्’ इति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाधर्म्येति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च—

वियोजयति² चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते ॥” इति ॥

उक्तं च—

“उच्चालिदम्हि³ पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।

आवादे [धे] ज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥

ण हि तस्स⁴ तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए ।

मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥”

ननु च प्राणव्यपरोपणाभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते । उक्तं च—

स्वभावका चिन्तन करनेसे विषयोसे आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है । अतः जगत् और कायके स्वभावकी भावना करनी चाहिए ।

§ 686. यहाँ पर शंकाकार कहता है कि आपने यह तो बतलाया कि हिंसादिकसे निवृत्त होना व्रत है । परन्तु वहाँ यह न जान सके कि हिंसादिक क्रियाविशेष क्या हैं ? इसलिए यहाँ कहते हैं । तथापि उन सबका एक साथ कथन करना अशक्य है, किन्तु उनका लक्षण क्रमसे ही कहा जा सकता है, अतः प्रारम्भमें जिसका उल्लेख किया है उसीका स्वरूप बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रमत्तयोगसे प्राणोंका वध करना हिंसा है ॥13॥

§ 687. प्रमाद कषाय सहित अवस्थाको कहते हैं और इस प्रमादसे युक्त जो आत्माका परिणाम होता है वह प्रमत्त कहलाता है । तथा प्रमत्तका योग प्रमत्तयोग है । इसके सम्बन्धसे इन्द्रियादि दस प्राणोंका यथासम्भव व्यपरोपण अर्थात् विद्योग करना हिंसा कही जाती है । इससे प्राणियोंको दुःख होता है, इसलिए वह अधर्मका कारण है । केवल प्राणोंका विद्योग करनेसे अधर्म नहीं होता है यह बतलानेके लिए सूत्रमें ‘प्रमत्तयोगसे’ यह पद दिया है । कहा भी है—

‘यह प्राणी दूसरेको प्राणोंसे वियुक्त करता है तो भी उसे हिंसा नहीं लगती ।’ और भी कहा है—

‘ईर्यासमित्तिसे युक्त साधुके अपने पैरके उठाने पर चलनेके स्थानमें यदि कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैरसे दब जाय और उसके सम्बन्धसे मर जाय तो भी उस निमित्तसे थोड़ा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है, क्योंकि जैसे अध्यात्म दृष्टिसे मूर्च्छाको ही परिग्रह कहा है वैसे यहाँ भी रागादि परिणामको हिंसा कहा है ॥’

शंका—प्राणोंका विनाश न होने पर भी केवल प्रमत्तयोगसे ही हिंसा कही जाती है । कहा भी है—

1. भगवता मु., ता., ना. । 2. सिद्ध. द्वा. 3, 16 । 3. प्रवचन. क्षे. 3, 16 । 4. प्रवचन. क्षे. 3, 17 ।

“मरदु¹ व जियदु² व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥”

नेष दोषः । अत्रापि³ प्राणव्यपरोपणमस्ति भावलक्षणम् । तथा चोक्तम् —

“स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।

पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्थाद्वा न वा बधः ॥”

§ 688. आह अभिहितलक्षणा हिंसा । तदनन्तरोद्दिष्टमनृतं किलक्षणमित्यत्रोच्यते —

असदभिधानमनृतम् ॥14॥

§ 689. सच्छब्दः प्रशंसावाची । सदसदप्रशस्तमिति यावत् । असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानमनृतम् । ऋतं सत्यं, न ऋतमनृतम् । किं पुनरप्रशस्तम् ? प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयं वा अविद्यमानार्थविषयं वा । उक्तं च प्राणेशाहिंसा⁴ तपरिपालनार्थमितरद्वृतम् इति । तस्माद्विषाकरं⁵ वचोऽनृतमिति निश्चेयम् ।

§ 690. अथानृतानन्तरमुद्दिष्टं यत्स्तेयं तस्य किं लक्षणमित्यत आह—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥15॥

§ 691. आदानं ग्रहणमदत्तस्यादानमदत्तादानं स्तेयमित्युच्यते । यद्येवं कर्मनो कर्मग्रहणमपि स्तेयं प्राप्नोति; अन्येनादत्तत्वात् ? नेष दोषः, दानादाने यत्र संभवतस्तत्रैव स्तेयव्यवहारः ।

‘जीव मर जाय या जीता रहे तो भी यत्नाचारसे रहित पुरुषके नियमसे हिंसा होती है और जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, हिंसाके हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता ॥’

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ भी भावरूप प्राणोंका नाश है ही । कहा भी है—

‘प्रमादसे युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है इसके बाद दूसरे प्राणियोंका बध होवे या मत होवे ।’

§ 688. हिंसाका लक्षण कहा । अब उसके बाद असत्यका लक्षण बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

असत् बोलना अनृत है ॥15॥

§ 689. सत् शब्द प्रशंसावाची है । जो सत् नहीं वह असत् है । असत्का अर्थ अप्रशस्त है । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना अनृत—असत्य कहलाता है । ऋतका अर्थ सत्य है और जो ऋत—सत्य नहीं है वह अनृत है । शंका—अप्रशस्त किसे कहते हैं ? समाधान—जिससे प्राणियोंको पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं । भले ही वह चाहे विद्यमान पदार्थको विषय करता हो या चाहे अविद्यमान पदार्थको विषय करता हो । यह पहले ही कहा है कि शेष व्रत अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए हैं । इसलिए जिससे हिंसा हो वह वचन अनृत है ऐसा निश्चय करना चाहिए ।

§ 690. असत्यके बाद जो स्तेय कहा है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बिना दी हुई वस्तुका लेना स्तेय है ॥15॥

§ 691. आदान शब्दका अर्थ ग्रहण है । बिना दी हुई वस्तुका लेना अदत्तादान है और यही स्तेय—चोरी कहलाता है । शंका—यदि स्तेयका पूर्वोक्त अर्थ किया जाता है तो कर्म और

1, वचन. 317 । 2. तत्रापि आ. दि. 1, दि. 2 । 3. --हिंसाप्रतिपाल-- मु. । 4. कर्मवचो मु. ।

कुतः । 'अदत्त'ग्रहणसामर्थ्यात् । एवमपि भिक्षुग्रामिनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादिप्रवेशाद-
दत्तादानं प्राप्नोति ? नैष दोषः, सामान्येन मुक्तत्वात् । तथाहि—अयं भिक्षुः पिहितद्वारादिषु न
प्रविशति अमुक्तत्वात् । अथवा 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते । प्रमत्तयोगाददत्तादानं यत् तस्तेय-
मित्युच्यते । न च रथ्यादि प्रविशतः प्रमत्तयोगोऽस्ति । तेनैतदुक्तं भवति, यत्र संक्लेशपरिणामेन
प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति बाह्यवस्तुनो' ग्रहणे चाग्रहणे च ।

§ 692. अथ चतुर्थमब्रह्म किलक्षणमित्यत्रोच्यते—

मैथुनमब्रह्म ॥16॥

§ 693. स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा
मिथुनम् । मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते । न सर्वं कर्म । कुतः ? लोके शास्त्रे च तथा प्रसिद्धे ।
लोके तावदागोपालादिप्रसिद्धं स्त्रीपुंसयोः रागपरिणामनिमित्तं चेष्टितं मैथुनमिति । शास्त्रेऽपि
“अश्ववषभयोर्मैथुनेच्छायाम्” इत्येवमादिषु तदेव गृह्यते । अपि च 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते
तेन स्त्रीपुंसमिथुनविषयं रतिमुखार्थं चेष्टितं मैथुनमिति गृह्यते, न सर्वम् । अहिंसादयो गुणा

नोकर्मका ग्रहण करना भी स्तेय ठहरता है, क्योंकि ये किसीके द्वारा दिये नहीं जाते ? समाधान
—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जहाँ देना और लेना सम्भव है वहीं स्तेयका व्यवहार होता
है । शंका—यह अर्थ किस शब्दसे फलित होता है ? समाधान—सूत्रमें जो 'अदत्त' पदका ग्रहण
किया है उससे ज्ञात होता है कि जहाँ देना लेना सम्भव है वहीं स्तेयका व्यवहार होता है ।
शंका—स्तेयका उक्त अर्थ करने पर भी भिक्षुके ग्राम नगरादिकमें भ्रमण करते समय गली,
कूचाके दरवाजा आदिमें प्रवेश करने पर बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण प्राप्त होता है ? समाधान
—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि वे गली, कूचाके दरवाजा आदि सबके लिए खुले हैं । यह भिक्षु
जिनमें किवाड़ आदि लगे हैं उन दरवाजा आदिमें प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वे सबके लिए खुले
नहीं हैं । अथवा, 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है जिससे यह अर्थ होता है कि प्रमत्त-
के योगसे बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण करना स्तेय है । गली कूचा आदिमें प्रवेश करनेवाले भिक्षु-
के प्रमत्तयोग तो है नहीं, इसलिए वैसा करते हुए स्तेयका दोष नहीं लगता । इस सब कथनका
यह अभिप्राय है कि बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय किन्तु जहाँ संक्लेशरूप परिणामके साथ
प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है ।

§ 692. अब चौथा जो अब्रह्म है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

मैथुन अब्रह्म है ॥16॥

§ 693. चारित्रमोहनीयका उदय होनेपर राग परिणामसे युक्त स्त्री और पुरुषके जो एक
दूसरेको स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन कहलाता है और इसका कार्य मैथुन कहा
जाता है । सब कार्य मैथुन नहीं कहलाता क्योंकि लोकमें और शास्त्रमें इसी अर्थमें मैथुन शब्दकी
प्रसिद्धि है । लोकमें बाल-गोपाल आदि तक यह प्रसिद्ध है कि स्त्री-पुरुषकी रागपरिणामके
निमित्तसे होनेवाली चेष्टा मैथुन है । शास्त्रमें भी 'घोड़ा और बैलकी मैथुनेच्छा होनेपर' इत्यादि
वाक्योंमें यही अर्थ लिया जाता है । दूसरे 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए
रतिजन्य सुखके लिए स्त्री-पुरुषकी मिथुनविषयक जो चेष्टा होती है वहीं मैथुनरूपसे ग्रहण किया

1. —वस्तुनो ग्रहणे च आ. । 2. —पुंसराग— मु. । 3. पा. सू. 711151 इत्यत्र वार्तिकम् । 4. —दयो
वर्णा य— मु. ।

यस्मिन् परिपास्यमाने ब्रूहन्ति ब्रुद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म । न ब्रह्म अब्रह्म¹ इति । किं तत् ? मैथुनम् । तत्र हिंसादयो दोषाः पुण्यन्ति,² यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूश्चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मूषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते अचेतनमितरं³ च परिग्रहं गृह्णाति ।

§ 694. अथ पञ्चमस्य परिग्रहस्य किं लक्षणमित्यत आह—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥17॥

§ 695. मूर्च्छेत्युच्यते ।⁴ का मूर्च्छा ? बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां⁵ चेतना-चेतनानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यावृत्तिर्मूर्च्छा । ननु च लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहणं कस्मान्न भवति ? सत्यमेवमेतत् मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तते । "सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते" इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थितः परिग्रह्यते ; परिग्रहप्रकरणात् । एवमपि बाह्यस्य परिग्रहत्वं न प्राप्नोति ; आध्यात्मिकस्य संग्रहात् ? सत्यमेवमेतत् ; प्रधानत्वादभ्यन्तर एव संगृहीतः ।⁷ असत्यपि बाह्ये ममेदमिति संकल्पवान् सपरिग्रह⁸ एव भवति । अथ बाह्यः परिग्रहो न भवत्येव, भवति च मूर्च्छाकारणत्वात् यदि ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः ; संज्ञानाद्यपि परिग्रहः प्राप्नोति, तदपि हि ममेदमिति संकल्प्यते रागादिपरिणामवत् ? नैव दोषः ; 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते⁹ । ततो ज्ञानदर्शनचारित्रवत्तोऽप्रमत्तस्य

जाता है, सब नहीं । अहिंसादिक गुण जिसके पालन करनेपर बढ़ते हैं वह ब्रह्म कहलाता है और जो इससे रहित है वह अब्रह्म है । शंका—अब्रह्म क्या है ? समाधान—मैथुन । मैथुनमें हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, क्योंकि जो मैथुनके सेवनमें दक्ष है वह चर और अचर सब प्रकार के प्राणिनों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनों प्रकारके परिग्रहको स्वीकार करता है ।

§ 694. अब पाँचवाँ जो परिग्रह है उसका क्या लक्षण है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मूर्च्छा परिग्रह है ॥17॥

§ 695. अब मूर्च्छाका स्वरूप कहने हैं । शंका—मूर्च्छा क्या है ? समाधान—गाय, भेंस, मणि और मोती आदि चेतन अचेतन बाह्य उपधिका तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधिका संरक्षण अर्जन और संस्कार आदिरूप व्यापार ही मूर्च्छा है । शंका—लोकमें वातादि प्रकोपविशेषका नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता ? समाधान—यह कहना सत्य है तथापि मूर्च्छा धातुका सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोंमें ही रहते हैं ऐसा मान लेने पर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है । शंका—मूर्च्छाका यह अर्थ लेने पर भी बाह्य वस्तुको परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता, क्योंकि मूर्च्छा इस शब्दसे आभ्यन्तर परिग्रहका संग्रह होता है । समाधान—यह कहना सही है, क्योंकि प्रधान होनेसे आभ्यन्तरका ही संग्रह किया है । यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रहके न रहनेपर भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्पवाला पुरुष परिग्रहसहित ही होता है । शंका—यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह नहीं ही है और यदि मूर्च्छाका कारण होनेसे 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि परिणामोंके समान ज्ञानादिक में भी 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प होता है ? समाधान—यह

1. अब्रह्म । किं मु. । 2. सचेतनमितरञ्च मु. । 3. --च्यते । केयं मूर्च्छा मु. आ., दि. 1, दि. 2 । 4. --मुक्तादी --मु., ता. । 5. --तनानां च रागा-- मु. । 6. --गृह्यते । एवमपि ता., ना. । 7. संगृह्यते । असत्यपि मु. । 8. --ग्रहो भवति मु. । 9. --र्तते । ज्ञान-- आ., दि. 1, दि. 2 ।

मोहाभावान्न मूर्च्छास्तीति निष्परिग्रहत्वं सिद्धम् । किंच तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वादात्मस्वभावत्वादपरिग्रहत्वम् । रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्द्वेधाः । ततस्तेषु संकल्पः परिग्रह इति युज्यते । तन्मूलाः सर्वे दोषाः । ममेदमिति हि सति संकल्पे संरक्षणादयः संजायन्ते । तत्र च हिंसावश्यं भाविनी । तदर्थमनृतं जल्पति । चौर्यं वा¹ आचरति । मैथुने च कर्मणि प्रयतते । तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः ।

§ 696. एवमुक्तेन² प्रकारेण हिंसादिदोषदर्शनोर्हिंसादिगुणाहितचेतसः परमप्रयत्नस्या हिंसादीनि व्रतानि यस्य सन्ति सः—

निःशल्यो व्रती ॥18॥

§ 697. शृणाति हिनस्तीति शल्यम् । शरीरानुप्रवेशि काण्डादिप्रहरणं³ शल्यमिव शल्यं, यथा तत् प्राणिनो बाधाकरं तथा⁴ शरीरमानसबाधाहेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते । तत् त्रिविधम्—मायाशल्यं निदानशल्यं मिथ्यादर्शनशल्यमिति । माया निकृतिर्वचनम् । निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा । मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो निःशल्यो व्रती इत्युच्यते । अत्र चोद्यते—शल्यभावाद्निःशल्यो व्रताभिसंबन्धाद् व्रती, न निःशल्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति । न हि देववत्तो दण्डसंबन्धाच्छत्रो भवतीति ? अत्रोच्यते—उभयविशेषणविशिष्ट⁵—

कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमादरहित है उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रहहितपना सिद्ध होता है । दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्माके स्वभाव हैं, इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता । परन्तु रागादिक तो कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः वे आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय हैं इसलिए उनमें होनेवाला संकल्प परिग्रह है यह बात बन जाती है । सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं । 'यह मेरा है' इस प्रकारके संकल्पके होनेपर संरक्षण आदिरूप भाव होते हैं । और इसमें हिंसा अवश्यं भाविनी है । इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होता है । नरकादिकमें जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं ।

§ 696. इस प्रकार उक्त विधिसे जो हिंसादिमें दोषोंका दर्शन करता है, जिसका चित्त अहिंसादि गुणोंमें लगा रहता है और जो अत्यन्त प्रयत्नशील है वह यदि अहिंसादि व्रतोंको पाले तो किस सज्ञाको प्राप्त होता है इसी बातका खुलासा करनेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

जो शल्यरहित है वह व्रती है ॥18॥

§ 697. 'शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्' यह शल्य शब्दकी व्युत्पत्ति है । शल्यका अर्थ है पीड़ा देनेवाली वस्तु । जब शरीरमें काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है । यहाँ उसके समान जो पीडाकर भाव है वह शल्य शब्दसे लिया गया है । जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियोंको बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मनसम्बन्धी बाधाका कारण होनेसे कर्मोदयजनित विकारमें भी शल्यका उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं । वह शल्य तीन प्रकारकी है—माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य । माया, निकृति और वचनम् अर्थात् ठगनेकी वृत्ति यह माया शल्य है । भोगोंकी लालसा निदान शल्य है और अतत्त्वोंका श्रद्धान मिथ्यादर्शन शल्य है । इन तीन शल्योंसे जो रहित है वही निःशल्य व्रती कहा जाता है । शंका—शल्यके न होनेसे निःशल्य होता है और व्रतोंके धारण करनेसे व्रती होता है । शल्य-

1. चौर्यं आचरति ता । 2. एवमुक्तक्रमेण हिंसा- ता । 3. --प्रहरणं । तच्छल्यं मु । 4. तथा शरीर- मु । 5. --विशिष्टत्वात् मु ।

स्येष्टत्वात् । न हि साद्युपरति¹ मात्रव्रताभिसंबन्धाद् व्रती भवत्यन्तरेण शल्याभावम् । सति शल्या-
पगमे व्रतसंबन्धाद् व्रती विवक्षितो यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति व्यपदिश्यते । बहुक्षीरघृताभा-
वात्सतीष्वपि गोषु न गोमांस्तथा सशल्यत्वात्सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती । यस्तु निःशल्यः स व्रती ।

§ 698. तस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अगार्यनगारश्च ॥19॥

§ 699. प्रतिश्रव्यार्थिभिः अंग्यते इति अगारं वेदम्, तद्वानगारी । न विद्यते अगारमस्येष्टम्
नगारः । द्विविधो व्रती अगारी अनगारश्च । ननु चात्र विपर्ययोऽपि प्राप्नोति शून्यागारदेवकुलाह-
वासस्य मुनेरगारित्वम् अनिवृत्तविषयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणाद् गृहं विमुच्य वने वसतोऽनग-
ारत्वं च प्राप्नोतीति² ? नैष दोषः; भावागारस्य विवक्षितत्वात् । चारित्र्यमोहोदये सत्यनगरसंबन्धं
प्रत्यनिवृत्तः³ परिणामो भावागारमित्युच्यते । स यस्यास्त्यसावनगारी वने वसन्नपि । गृहे वसन्नपि
तवभावादनगार इति च भवति । ननु चागारिणो व्रतित्वं न प्राप्नोति; असकलव्रतत्वात् ? नैष
दोषः; नैगमादिनयापेक्षया अगारिणोऽपि व्रतित्वमुपपद्यते नगरावासवत् । यथा गृहे अपवरके वा
वसन्नपि नगरावास इत्युच्येत तथा असकलव्रतोऽपि नैगमसंग्रहव्यवहारनयापेक्षया व्रतीति

रहित होनेसे व्रती नहीं हो सकता । उदाहरणार्थं देवदत्तके हाथमें लाठी होनेपर वह छत्री नहीं हो
सकता ? समाधान—व्रती होनेके लिए दोनों विशेषणोंसे युक्त होना आवश्यक है, यदि किसीने
शल्योंका त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषोंको छोड़ दिया तो वह व्रती नहीं हो सकता ।
यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्योंका त्याग करके व्रतोंको स्वीकार किया है । जैसे जिसके यहाँ
बहुत धी दूध होता है वह गायवाला कहा जाता है । यदि उसके धी दूध नहीं होता और गायें
हैं तो वह गायवाला नहीं कहलाता, उसी प्रकार जो सशल्य है व्रतोंके होनेपर भी वह व्रती नहीं
हो सकता । किन्तु जो निःशल्य है वह व्रती है ।

§ 698. अब उसके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उसके अगारी और अनगार के दो भेद हैं ॥19॥

§ 699. आश्रय चाहनेवाले जिसे अंगीकार करते हैं वह अगार है । अगारका अर्थ वेदम्
अर्थात् घर है । जिसके घर है वह अगारी है । और जिसके घर नहीं है वह अनगार है । इस
तरह व्रती दो प्रकारका है—अगारी और अनगार । शंका—अभो अगारी और अनगारका जो
लक्षण कहा है उससे विपरीत अर्थ भी प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्वोक्त लक्षणके अनुसार जो मुनि
शून्य घर और देवकुलमें निवास करते हैं वे अगारी हो जायेंगे और विषयतृष्णाका त्याग किये
बिना जो किसी कारणसे घरको छोड़कर वनमें रहने लगे हैं वे अनगार हो जायेंगे ? समाधान—
यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि यहाँपर भावागार विवक्षित है । चारित्र्य मोहनीयका उदय होने
पर जो परिणाम घरसे निवृत्त नहीं है वह भावागार कहा जाता है । वह जिसके है वह वनमें
निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकारका परिणाम नहीं है वह घरमें रहते हुए
भी अनगार है । शंका—अगारी व्रती नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पूर्ण व्रत नहीं है ? समा-
धान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि नैगम आदि नयोंकी अपेक्षा नगरावासके समान अगारीके
भी व्रतीपना बन जाता है । जैसे कोई घरमें या झोपड़ीमें रहता है तो भी 'मैं नगरमें रहता हूँ'
यह कहा जाता है उसी प्रकार जिसके पूरे व्रत नहीं है वह नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी
1, --मात्रसम्ब-- मु. 1. 2. --प्नोति नैष आ., दि. 1, दि. 2 । 3. --वृत्तिपरि-- आ., दि. 1, दि. 2 ।

व्यपदिश्यते ।

§ 700. अत्राह किं हिंसादीनामन्यतमस्मात्: प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी । वती ? नैवम् । किं तर्हि ? पंचतम्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इत्युच्यते --

अणुव्रतोऽगारी ॥20॥

§ 701. 'अणु'शब्दोऽल्पवचनः । अणूनि व्रतान्यस्य अणुव्रतोऽगारीत्युच्यते । कथमस्य व्रतानामणुत्वम् ? सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात् । कृतस्तर्ह्यसौ निवृत्तः ? त्रसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्तः अगारीत्याद्यमणुत्वम् । स्नेहमोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमततादसत्य-वचनान्निवृत्तो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम् । अन्यपीडाकरं¹ पार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यदवत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् । उपात्ताया अनुपात्तायाश्च परांगनायाः संगान्निवृत्तरतिगृहीति चतुर्थमणुव्रतम् । धनधान्यत्रैत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पंचममणुव्रतम् ।

§ 702. आह अपरित्यक्तागारस्य किमेतावानेव विशेष आहोस्विदस्ति कश्चिदन्योऽपीत्यत आह—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथि-
संविभागव्रतसंपन्नश्च ॥21॥

अपेक्षा व्रतो कहा जाता है ।

§ 700. शंका—जो हिंसादिक्में-से किसी एकसे निवृत्त है वह क्या अगारी व्रती है ? समाधान—ऐसा नहीं है । शंका—तो क्या है ? समाधान—जिसके एक देशसे पाँचों प्रकारकी विरति है वह अगारी है यह अर्थ यहाँ विवक्षित है । अब इसी बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अणुव्रतोंका धारी अगारी है ॥20॥

§ 701. अणु शब्द अल्पवाचो है । जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है । शंका—अगारीके व्रत अल्प कैसे होते हैं ? समाधान—अगारीके पूरे हिंसादि दोषोंका त्याग सम्भव नहीं है इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं । शंका—तो यह किससे निवृत्त हुआ है ? समाधान—यह त्रस जीवोंकी हिंसासे निवृत्त है; इसलिए उसके पहला अहिंसा अणुव्रत होता है । गृहस्थ स्नेह और मोहादिकके वशसे गृहविनाश और ग्रामविनाशके कारण असत्य वचनसे निवृत्त है, इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है । श्रावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीडाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुको लेना यद्यपि अवश्य छोड़ देता है तो भी बिना दी हुई वस्तुके लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है, इसलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है । गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका संग करनेसे रति हट जाती है, इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नामका चौथा अणुव्रत होता है । तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदिका स्वेच्छासे परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणु-व्रत होता है ।

§ 702. गृहस्थकी क्या इतनी ही विशेषता है कि और भी विशेषता है, अब यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत इन व्रतोंसे भी सम्पन्न होता है ॥21॥

1. —करपाथिव— मु. ।

§ 703. 'विरति'शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । दिग्विरतिः देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिरिति एतानि त्रीणि गुणवृत्तानि; 'वृत्त'शब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् । तथा सामायिकवृत्तं प्रोषधोपवासवृत्तं उपभोगपरिभोगपरिमाणवृत्तं अतिथिसंविभागवृत्तं¹ एतानि चत्वारि शिक्षावृत्तानि । एतैर्वृत्तैः संपन्नो गृही विरताविरत इत्युच्यते । तद्यथा—दिवप्राच्यादिः तत्र प्रसिद्धैरभिज्ञानैरर्वाध कृत्वा नियमनं दिग्विरतिवृत्तम् । ततो बहिस्त्रसत्स्थावरव्यपरोपणनिवृत्तेर्महा² व्रतत्वमवसेयम् । तत्र लाभे सत्यपि परिणामस्य निवृत्तेर्लोभनिरासश्च कृतो भवति । ग्रामादीनामवधृतपरिमाणः³ प्रदेशो देशः । ततो बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिवृत्तम् । पूर्ववद्बहिर्महाव्रतत्वं⁴ प्रस्थाप्यम् । असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः⁵ । ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः । अनर्थदण्डः पञ्चविधः—अपध्यानां पापोपदेशः प्रमादाचरितं हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति । तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्ग⁶च्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा⁷ चिन्तनमपध्यानम् ।⁸ तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ।⁹ प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवयवकर्म प्रमादाचरितम् ।¹⁰ विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डा-

§ 703. विरति शब्द प्रत्येक शब्दपर लागू होता है । यथा—दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति । ये तीन गुणवृत्त हैं, क्योंकि व्रत शब्दका हर एकके साथ सम्बन्ध है । तथा सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभागव्रत ये चार हैं । इस प्रकार इन व्रतोंसे जो सम्पन्न है वह गृही विरताविरत कहा जाता है । खुलासा इस प्रकार है—जो पूर्वादि दिशाएँ हैं उनमें प्रसिद्ध चिह्नोंके द्वारा मर्यादा करके नियम करना दिग्विरतिव्रत है । उस मर्यादाके बाहर ब्रस और स्थावर हिंसाका त्याग हो जानेसे उतने अंशमें महाव्रत होता है । मर्यादाके बाहर लाभ होते हुए भी उसमें परिणाम न रहनेके कारण लोभका त्याग हो जाता है । ग्रामादिककी निश्चित मर्यादारूप प्रदेश देश कहलाता है । उससे बाहर जाने का त्याग कर देना देशविरतिव्रत है । यहाँ भी पहलेके समान मर्यादाके बाहर महाव्रत होता है । उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पापका कारण है वह अनर्थदण्ड है । इससे विरत होना अनर्थदण्डविरतिवृत्त है । अनर्थदण्ड पाँच प्रकारका है—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति । दूसरोंका जय, पराजय, मारना, बाँधना, अंगोंका छेदना और धनका अपहरण आदि कैसे होवे इस प्रकार मनसे विचार करना अपध्यान नामका अनर्थदण्ड है । तिर्यचोंकी क्लेश पहुँचानेवाले, वणिजका प्रसार करनेवाले और प्राणियोंकी हिंसाके कारणभूत आरम्भ आदिके विषयमें पापबहुल वचन बोलना पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है । बिना प्रयोजनके वृक्षादिका छेदना, भूमिका कूटना, पानीका सीचना आदि पाप कार्य प्रमादाचरित नामका अनर्थदण्ड है । विष, काँटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और लकड़ी आदि हिंसाके उपकरणोंका प्रदान करना हिंसाप्रदान नामका अनर्थदण्ड है । हिंसा और राग आदिको बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंका सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभश्रुति नामका अनर्थदण्ड है । 'सम्' उपसर्गका

1. वृत्तम् । इत्येतै-म् । 2. सीमन्तानां परतः स्थूलतरपंचपापसंत्यागात् । देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥-- रत्न. 3, 5 । 3. --माणप्रदेशो मु. । 4. 'पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पंच । प्राहुः प्रसादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥-- रत्न. 3, 5 । 5. --च्छेदस्वहर- आ. । छेदसर्वस्वहर- दि. 1, दि. 2 । 6. 'वधबन्धच्छेददेहैषाद्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शामति जिनशामने विनशाः ॥' --रत्न. 3,32 । 7. --ध्यानम् । प्राणिवधक- आ., दि. 1, दि. 2 । 8. 'तिर्यक्क्लेशवाणिज्याहिमारम्भप्रलम्भनादीनाम् । कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥' --रत्न. 3, 30 । 9. 'क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् । सरणं सारणमपि च प्रसादचर्या प्रभाषन्ते ॥' --रत्न. 3,34 ।

विहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् । हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः । समेकीभावे^१ वर्तते । तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते । एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकं, समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् । इयति देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्वेदितव्यम् । कुतः ? अणु-स्थूलकृतहिंसादिनिवृत्तेः । संयमप्रसंग इति चेत् ? न; तद्घातिकर्मोदयसद्भावात् । महाव्रतत्वाभाव इति चेत् ? तन्न; उपचाराद् राजकुले सर्वगतचैत्राभिधानवत् । प्रोषधशब्दः पर्षपपर्यायवाची । शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चाणोन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः ।^२चतुर्विधाः आहारपरित्याग इत्यर्थः । प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः । स्व^३शरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहितः शुचावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनविहितान्तःकरणः सन्नुपवसेन्निरारम्भः श्रावकः । उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः । परिभोग आच्छादनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् । मधु^४ मांसं मद्यं च सदा परिहर्तव्यं त्रसधातान्निवृत्तचेतसा ।^५केतवश्चर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशाद्वाणि परिहर्तव्यानि बहुधाताल्पफलत्वात् ।

अर्थ एकरूप है । जैसे 'घी संगत है, तेल संगत है' जब यह कहा जाता है तब संगतका अर्थ एकीभूत होता है । सामायिकमें मूल शब्द समय है । इसके दो अवयव हैं सम् और अय । सम्का अर्थ कहा ही है और अयका अर्थ गमन है । समुदायार्थ एकरूप हो जाना समय है और समय ही सामायिक है । अथवा समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है । इतने देशमें और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गयी सामायिकमें स्थित पुरुषके पहलेके समान महाव्रत जानना चाहिए, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकारके हिंसा आदि पापोंका त्याग हो जाना है । शंका—यदि ऐसा है तो सामायिकमें स्थित हुए पुरुषके सकलसंयमका प्रसंग प्राप्त होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि इसके संयमका घात करनेवाले कर्मोंका उदय पाया जाता है । शंका—तो फिर इसके महाव्रतका अभाव प्राप्त होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि जैसे राजकुलमें चैत्रको सर्वगत उपचारमे कहा जाता है उसी प्रकार इसके महाव्रत उपचारमे जानना चाहिए । प्रोषधका अर्थ पर्व है और पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंके त्यागपूर्वक उसमें निवास करना उपवास है । अर्थात् चार प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है । तथा प्रोषधके दिनोंमें जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं । प्रोषधोपवासी श्रावकको अपने शरीरके संस्कारके कारण स्नान, गन्ध, माला और आभरण आदिका त्याग करके किसी पवित्र स्थानमें, साधुओंके रहनेके स्थानमें, चैत्यालयमें या अपने प्रोषधोपवासके लिए नियत किये गये घरमें, धर्मकथाके सुनने, सुनाने और चिन्तन करनेमें मनको लगाकर उपवासपूर्वक निवास करना चाहिए और सब प्रकारका आरम्भ छोड़ देना चाहिए । भोजन, पान, गन्ध और माला आदि उपभोग कहलाते हैं तथा ओढ़ना-विछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर,

1. 'तद्यथा तावदेतार्थोऽयः सामर्थ्यन्तर्द्वैव विग्रहः करिष्यते--संगतार्थः समर्थः सृष्टार्थः समर्थ इति । तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते ।' --पा. म. भा. 2,1,1,1 । 2. चतुराहारविसर्जनमुपवासः ।' --रत्न. 4,19 । 3. 'पञ्चानां आपानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् । स्नानाजननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ धर्माभूतं सत्पुण्यं श्रवणाभ्यां पितृनु पाययेद्वाप्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतुपवसन्न-तन्मालः ॥' --रत्न. 4-17,18 । 4. 'ब्रम्हतिपरिहरणार्थं क्षीरं पिशितं प्रमादपरिहृतये । मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयतः ॥' रत्न. 3,38 । 5. अल्पफलबहुविधातान्मूलकमाद्राणि शृङ्गवेराणि । नवनीत-निम्बकुसुमं केतकमित्येवमहेयम् ॥' --रत्न. 3,39 ।

यानवाहनाभरणदिग्देतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति । संयममविनाशयन्तततीत्यतिथिः । अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालागमन इत्यर्थः । अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः । स चतुर्विधः, भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् । मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया । धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि । औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम् । प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति । 'च' शब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः ।

§ 704. कः पुनरसौ—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥22॥

§ 705. स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम् । 'अन्त'ग्रहणं तदभवमरणप्रतिपत्त्यर्थम् । मरणमन्तो मरणान्तः । स प्रयोजनमस्येति मारणान्तिकी । सम्यक्कायकषायलेखनां सल्लेखना । कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण² सम्यगलेखना सल्लेखना । तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता सेविता गृहीत्यभि-

यान और वाहन आदि परिभोग कहलाते हैं । इनका परिमाण करना उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है । जिसका चित्त त्रसहिंसासे निवृत्त है उसे सदाके लिए मधु, मांस और मदिराका त्याग कर देना चाहिए । जो बहुत जन्तुओंकी उत्पत्तिके आधार हैं और जिन्हें अनन्तकाय कहते हैं ऐसे केतकीके फूल और अर्जुनके फूल आदि तथा अदरक और मूली आदिका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इनके सेवनमें फल कम है और वात बहुत जीवोंका है । तथा यान, वाहन और आभरण आदिकमें हमारे लिए इतना ही इष्ट है शेष सब अनिष्ट है इस प्रकारका विचार करके कुछ कालके लिए या जीवन भरके लिए शक्यनुसार जो अपने लिए अनिष्ट हो उसका त्याग कर देना चाहिए ।

संयमका विनाश न हो इस विधिसे जो चलता है वह अतिथि है या जिसके आनेकी कोई तिथि नहीं उसे अतिथि कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जिसके आनेका कोई काल निश्चित नहीं है उसे अतिथि कहते हैं । इस अतिथिके लिए विभाग करना अतिथिसंविभाग है । वह चार प्रकारका है—भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहनेका स्थान । जो मोक्षके लिए बद्धकक्ष है, संयमके पालन करनेमें तत्पर है और शुद्ध है उस अतिथिके लिए शुद्ध मनसे निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए । सम्यग्दर्शन आदिके बढ़ानेवाले धर्मोपकरण देने चाहिए । योग्य औषधकी योजना करनी चाहिए तथा परम धर्ममें श्रद्धापूर्वक निवास-स्थान भी देना चाहिए । सूत्रमें जो 'च' शब्द है वह आगे कहे जानेवाले गृहस्थधर्मके संग्रह करनेके लिए दिया है ।

§ 704. वह और क्या होता है—

तथा वह मारणान्तिक सल्लेखनाका प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है ॥22॥

§ 705. अपने परिणामोंसे प्राप्त हुई आयुका, इन्द्रियोंका और मन, वचन, काय इन तीन बलोंका कारण विशेषके मिलने पर नाश होना मरण है । उसी भवके मरणका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें मरण शब्दके साथ अन्त पदको ग्रहण किया है । मरण यही अन्त मरणान्त है और जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है वह मारणान्तिकी कहलाती है । अच्छे प्रकारसे काय और कषायका लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है । अर्थात् बाहरी शरीरका और भीतरी

1. 'यदनिष्टं तद्भूतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।' —रत्न. 3,40 । 2. --हापनया क्रमे— आ., दि. 1, ता. ।

संबध्यते । ननु च विस्पष्टार्थं सेवितेत्येवं वक्तव्यम् ? न; अर्थविशेषोपपत्तेः । न केवलमिह सेवितं परिगृह्यते । किं तर्हि ? प्रीत्यर्थोऽपि । यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते । सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति । स्यान्मतमात्मवधः प्राप्नोति; स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेः ? नैव दोषः; अप्रमत्तत्वात् । 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्युक्तम् । न चास्य प्रमादयोपीदृष्टिः । कुतः । रागाद्यभावात् । रागद्वेषमोहादिष्विष्टस्य हि विषयशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं हन्तः स्वघातो भवति । न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः । उक्तं च—

“रागादीणमणुष्या अहिंसगत्तं ति भेसिदं समये ।

तेसि चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिहिंढ्ठा ॥”

किं च मरणस्यानिष्टत्वाद्यया वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः । तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति । दुष्परिहारे च पण्यविनाशी यथा न भवति तथा यतते । एवं गृहस्थोऽपि वृत्तशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न वात्सम्यमभिवाञ्छति ।

कषायोंका, उत्तरोत्तर काय और कषायको पुष्ट करनेवाले कारणोंको घटाते हुए, भले प्रकारसे लेखन करना अर्थात् कृष करना सल्लेखना है । मरणके अन्तमें होने वाली इस सल्लेखनाको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला गृहस्थ होता है यह इस सूत्रका तात्पर्य है । शंका—सहज तरीकैसे अर्थका स्पष्टीकरण हो इसके लिए सूत्रमें 'जोषिता' इसके स्थानमें 'सेविता' कहना ठीक है ? समाधान—नहीं; क्योंकि 'जोषिता' क्रियाके रखनेसे उससे अर्थ-विशेष ध्वनित हो जाता है । यहाँ केवल 'सेवन करना' अर्थ नहीं लिया गया है किन्तु प्रीति रूप अर्थ भी लिया गया है, क्योंकि प्रीतिके न रहने पर बलपूर्वक सल्लेखना नहीं करायी जाती । किन्तु प्रीतिके रहने पर जीव स्वयं ही सल्लेखना करता है । तात्पर्य यह है कि 'प्रीतिपूर्वक सेवन करना' यह अर्थ 'जोषिता' क्रियासे निकल आता है 'सेविता' से नहीं, अतः सूत्रमें 'जोषिता' क्रिया रखी है । शंका—चूँकि सल्लेखनामें अपने अभिप्रायसे आयु आदिका त्याग किया जाता है, इसलिए यह आत्मघात हुआ ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सल्लेखनामें प्रमादका अभाव है । 'प्रमत्तयोगसे प्राणोंका वध करना हिंसा है' यह पहले कहा जा चुका है । परन्तु इसके प्रमाद नहीं है, क्योंकि इसके रागादिक नहीं पाये जाते । राग, द्वेष और मोहसे युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणोंका प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है उसे आत्मघातका दोष प्राप्त होता है । परन्तु सल्लेखनाको प्राप्त हुए जीवके रागादिक तो हैं नहीं, इसलिए इसे आत्मघातका दोष नहीं प्राप्त होता । कहा भी है—

“शास्त्रमें यह उपदेश है कि रागादिका नहीं उत्पन्न होना अहिंसा है । तथा जिनदेवने उनकी उत्पत्तिको हिंसा कहा है ॥”

दूसरे, मरण किसी को भी इष्ट नहीं है । जैसे नाना प्रकारकी विक्रीय वस्तुओंके देन, लेन और संचयमें लगे हुए किसी व्यापारीको अपने घरका नाश होना इष्ट नहीं है । फिर भी परिस्थिति-वश उसके विनाशके कारण आ उपस्थित हों तो यथाशक्ति वह उनको दूर करता है । इतने पर भी यदि वे दूर न हो सकें तो जिससे विक्रीय वस्तुओंका नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है उसी प्रकार पण्यस्थानीय व्रत और शीलके संचयमें जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु आदिका पतन नहीं चाहता । यदा कदाचित् उनके विनाशके कारण उत्पन्न हो जाय तो जिससे अपने गुणोंमें बाधा नहीं पड़े इस प्रकार उनको दूर करनेका प्रयत्न करता है । इतने पर भी यदि वे दूर

1. सि भासिधं स- मु. । 2. -शक्ति च परि- मु. ।

तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति । दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत् ।

§ 706. अत्राह, 'निःशल्यो व्रती' इत्युक्तं तत्र च तृतीयं शल्यं मिथ्यादर्शनम् । ततः सम्यग्दृष्टिना व्रतिना¹ निःशल्येन भवितव्यमित्युक्तम् । तत्सम्यग्दर्शनं किं सापवादं निरपवाद-मिति । उच्यते—कस्यचिन्मोहनीयावस्थाविशेषात्कदाचिदिमे भवन्त्यपवादाः—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥23॥

§ 707. निःशंकितत्वादयो व्याख्याताः 'दर्शनविशुद्धिः' इत्यत्र । तत्प्रतिपक्षभूताः शंकादयो वेदितव्याः । अथ प्रशंसासंस्तवयोः को विशेषः ? मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्र्यगुणोद्भावनं प्रशंसा, भूताभूतगुणोद्भाववचनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः । ननु च सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमुक्तं तस्या-तिचारैरप्यष्टभिर्भवितव्यम् । नैष दोषः; व्रतशीलेषु पञ्च पञ्चातिचारा इत्युत्तरत्र विवक्षुणाचार्येण प्रशंसासंस्तवयोरितरानतिचारानन्तर्भाव्य पञ्चैवातिचारा उक्ताः ।

§ 708. आह, सम्यग्दृष्टेरतिचारा उक्ताः । किमेवं व्रतशीलेष्वपि भवन्तीति ? ओमि-त्युक्त्वा तदतिचारसंस्थानिर्देशार्थमाह—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥24॥

न हों तो जिससे अपने गुणोंका नाश न हो इस प्रकार प्रयत्न करता है, इसलिए इसके आत्मघात नष्टका दोष कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है ।

§ 706. यहाँ पर शंकाकार कहता है कि व्रती निःशल्य होता है ऐसा कहा है और वहाँ तीसरी शल्य मिथ्यादर्शन है । इसलिए सम्यग्दृष्टि व्रतीको निःशल्य होना चाहिए यह उसका अभिप्राय है, तो अब यह बतलाइए कि वह सम्यग्दर्शन सापवाद होता है या निरपवाद होता है ? अब इसका समाधान करते हैं—किसी जीवके मोहनीयकी अवस्था विशेषके कारण ये अप-वाद होते हैं—

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचार हैं ॥23॥

§ 707. 'दर्शनविशुद्धिः' इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय निःशंकितत्व आदिका व्याख्यान किया । ये शंकादिक उनके प्रतिपक्षभूत जानना चाहिए । शंका—प्रशंसा और संस्तवमें क्या अन्तर है ? समाधान—मिथ्यादृष्टिके ज्ञान और चारित्र्य गुणोंका मनसे उद्भावन करना प्रशंसा है और मिथ्यादृष्टिमें जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं इन दोनोंका सद्भाव बतलाते हुए कथन करना संस्तव है, इस प्रकार यह दोनोंमें अन्तर है । शंका—सम्यग्दर्शनके आठ अंग कहे हैं, इसलिए उसके अतिचार भी आठ ही होने चाहिए । समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आगे आचार्य व्रतों और शीलोंके पाँच-पाँच अतिचार कहनेवाले हैं, इसलिए अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव इन दो अतिचारोंमें शेष अतिचारोंका अन्तर्भाव करके सम्यग्दृष्टिके पाँच ही अतिचार कहे हैं ।

§ 708. सम्यग्दृष्टिके अतिचार कहे, क्या इसी प्रकार व्रत और शीलोंके भी अतिचार होते हैं ? हाँ, यह कह कर अब उन अतिचारोंकी संख्याका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

व्रतों और शीलोंमें पाँच पाँच अतिचार हैं जो क्रमसे इस प्रकार हैं ॥24॥

1 व्रतिना भवि-- आ, दि., 1, दि. 2 ।

§ 709. व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि तेषु व्रतशीलेषु । शीलग्रहणमनर्थकम् ; व्रतग्रहणेनैव सिद्धे ? नानर्थकम् ; विशेषज्ञापनार्थं व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह 'शील'ग्रहणेन गृह्यन्ते ।

§ 710. अगार्यधिकारादगारिणो व्रतशीलेषु पंच पंचातिचारा वक्ष्यमाणा यथाक्रमं वेदितव्याः । तद्यथा—आद्यस्य तावदहिंसाव्रतस्य—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥25॥

§ 711. अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुबन्धः । दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः, न प्राणव्यपरोपणम् ; ततः प्राणेष्वस्य विनिवृत्तत्वात् । कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः । न्याय्यभारदतिरिक्तवाहनमतिभारारोपणम् । गवादीनां क्षुत्पिपासाबाधाकरणमन्नपाननिरोधः । एते पंचाहिंसाणुव्रतस्यातिचाराः ।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥26॥

§ 712. अभ्युदयनिःश्रेयसाशेषेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमतिसंवाक्यं वा मिथ्योपदेशः । यत्स्त्रीषु साभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं तद्रहोभ्याख्यानं वेदितव्यम् । अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किञ्चित्प्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वचनानिमित्तं

§ 709. शील और व्रत इन शब्दोंका कर्मधारय समास होकर व्रतशील पद बना है । उनमें अर्थात् व्रत-शीलोंमें । शंका—सूत्रमें शील पदका ग्रहण करना निष्फल है, क्योंकि व्रत पदके ग्रहण करनेसे ही उसकी सिद्धि हो जाती है ? समाधान—सूत्रमें शील पदका ग्रहण करना निष्फल नहीं है, क्योंकि विशेषका ज्ञान करानेके लिए और व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए शील है, इसलिए यहाँ शील पदके ग्रहण करनेसे दिग्विरति आदि लिये जाते हैं ।

§ 710. यहाँ गृहस्थका प्रकरण है, इसलिए गृहस्थके व्रतों और शीलोंके आगे कहे जाने-वाले क्रमसे पाँच पाँच अतिचार जानने चाहिए जो इस प्रकार हैं । उसमें भी पहले प्रथम अहिंसा व्रतके अतिचार बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्ध, वध, छेद, अतिभारका आरोपण और अन्नपानका निरोध ये अहिंसा अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥25॥

§ 711. किसीको अपने इष्ट स्थानमें जानेसे रोकनेके कारणको बन्ध कहते हैं । डंडा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना वध है । यहाँ वधका अर्थ प्राणोंका वियोग करना नहीं लिया है, क्योंकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है । कान और नाक आदि अवयवों का भेदना छेद है । उचित भारसे अतिरिक्त भारका लादना अतिभारारोपण है । गौ आदिके भूखप्यास में बाधाकर अन्नपानका रोकना अन्नपाननिरोध है । ये पाँच अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं ।

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये सत्याणु-व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥26॥

§ 712. अभ्युदय और मोक्षकी कारणभूत क्रियाओंमें किसी दूसरेको विपरीत मार्गसे लगा देना या मिथ्या वचनों द्वारा दूसरोंको ठगना मिथ्योपदेश है । स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्तमें किये गये आचरण विशेषका प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है । दूसरेने न तो कुछ कहा और न

लेखनं कूटलेखक्रिया । हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेपुर्विस्मृतसंख्याल्पसंख्येयमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं
न्यासापहारः । अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूवि'क्षेपादिभिः पराकृतमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादि-
निमित्तं यत्तत्साकारमन्त्रभेद इति कथ्यते । त एते सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारा बोद्धव्याः ।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक-

व्यवहाराः ॥27॥

§ 713. मुष्णन्तं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्तेऽन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स
स्तेनप्रयोगः । अप्रयुक्तेनानुमतेन च चौरैरानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम् । उचितन्यायावश्येन
प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रमः । विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः ।
तत्र ह्यल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्नः । प्रस्थादि मानम्, तुलाद्युन्मानम् । एतेन
न्यूनान्यस्मै देयमधिकेनात्मनो ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम् । कुत्रिमे'हिर-
ण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहारः । त एते पञ्चादत्तादानाणुव्रतस्यातिचाराः ।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकाम-

तीव्राभिनिवेशाः ॥28॥

§ 714. कन्यादानं विवाहः । परस्य विवाहः परविवाहः । परविवाहस्य करणं परविवाह-

कुछ किया तो भी अन्य किसीकी प्रेरणासे उसने ऐसा कहा है और ऐसा किया है इस प्रकार
छलसे लिखना कूटलेखक्रिया है । धरोहरमें चाँदी आदिको रखनेवाला कोई उसकी संख्या भूलकर
यदि उसे कमती लेने लगा तो 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करना न्यासापहार है । अर्थवश,
प्रकरणवश, शरीरके विकारवश या भ्रूक्षेप आदिके कारण दूसरेके अभिप्रायको जान कर डाहसे
उसका प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है । इस प्रकार ये सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार जानने
चाहिए ।

स्तेनप्रयोग, स्तेन आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक-
व्यवहार ये अर्चौर्य अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥27॥

§ 713. किसीको चोरीके लिए स्वयं प्रेरित करना, या दूसरेके द्वारा प्रेरित कराना या
प्रयुक्त हुए की अनुमोदना करना स्तेनप्रयोग है । अपने द्वारा अप्रयुक्त असम्मत चोरके द्वारा
लायी हुई वस्तुका ले लेना तदाहृतादान है । यहाँ न्यायमार्गको छोड़ कर अन्य प्रकारसे वस्तु ली
गयी है इसलिए अतिचार है । विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्धराज्य है । राज्योंमें किसी प्रकारका
विरोध होने पर मर्यादाका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है । यदि वहाँ अल्प मूल्यमें वस्तुएँ मिल
गयीं तो उन्हें महँगा बेचनेका प्रयत्न करना विरुद्धराज्यातिक्रम है । मानपदसे प्रस्थ आदि मापने
के बाट लिये जाते हैं और उन्मानपदसे तराजू आदि तौलनेके बाट लिये जाते हैं । कमती माप-
तौलसे दूसरेको देना और बढ़ती माप-तौलसे स्वयं लेना इत्यादि कुटिलतासे लेन-देन करना
हीनाधिकमानोन्मान है । बनावटी चाँदी आदिसे कपटपूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार
है । इस प्रकार ये अदत्तादान अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ।

परविवाहकरण, इत्वारिकापरिगृहीतागमन, इत्वारिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीडा
और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं ॥28॥

§ 714. कन्याका ग्रहण करना विवाह है । किसी अन्यका विवाह परविवाह है और

1. भ्रूनिक्षेपणादि - मु. ।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥30॥

§ 717. परिमितस्य दिग्वधेरतिलंघनमतिक्रमः । स समासतस्त्रिविधः—ऊर्ध्वातिक्रमः अधोऽति¹क्रमस्तिर्यगतिक्रमश्चेति । तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः । कूपावतरणादेरधोऽतिक्रमः । बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतिक्रमः । परिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्ष्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः । स षोऽतिक्रमः प्रमादान्मोहाद्²व्यासंगाद्वा भवतीत्यवसेयः । अननुस्मरणं स्मृत्यन्तराधानम् । त एते दिग्विरमणस्यातिचाराः ।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥31॥

§ 718. आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यतिक्रमचिदानयेत्याज्ञा³पतमानयनम् । एवं कुर्वति नियोगः प्रेष्यप्रयोगः । व्यापारकरान्पुरुषान्प्रत्यभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः । भ्रविग्रहदर्शनं रूपानुपातः । लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः । त एते देशविरमणस्य पञ्चातिचाराः । कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥32॥

§ 719. रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्यप्रयोगः कन्दर्पः । तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्म-प्रयुक्तं कौत्कुच्यम् । धाष्ट्यं⁴प्रायं⁵यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलापित्वं मौखर्यम् । असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणमसमीक्ष्याधिकरणम् । यावताऽर्थेनोपभोगपरिभोगौ सोऽर्थस्ततोऽन्यस्याधिक्य-

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिवृत्तके पाँच अतिचार हैं ॥30॥

§ 717. दिशाकी जो मर्यादा निश्चित की हो उसका उल्लंघन करना अतिक्रम है । वह संक्षेपसे तीन प्रकारका है—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यगतिक्रम । इनमेंसे मर्यादाके बाहर पर्वतादिक पर चढ़नेसे ऊर्ध्वातिक्रम होता है, कुआँ आदिमें उतरने आदिसे अधोऽतिक्रम होता है और बिल आदिमें घुसनेसे तिर्यगतिक्रम होता है । लोभके कारण मर्यादा की हुई दिशाके बढ़ानेका अभिप्राय रखना क्षेत्रवृद्धि है । यह व्यतिक्रम प्रमादसे, मोहसे या व्यासंगसे होता है । मर्यादाका स्मरण न रखना स्मृत्यन्तराधान है । ये दिग्विरमण व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरति वृत्तके पाँच अतिचार हैं ॥31॥

§ 718. अपने द्वारा संकल्पित देशमें ठहरे हुए पुरुषको प्रयोजनवश किसी वस्तुको लानेकी आज्ञा करना आनयन है । ऐसा करो इस प्रकार काममें लगाना प्रेष्यप्रयोग है । जो पुरुष किसी उद्योगमें जुटे हैं उन्हें उद्देश्य कर खाँसना आदि शब्दानुपात है । उन्हीं पुरुषोंको अपने शरीरको दिखलाना रूपानुपात है । ढेला आदिका फेंकना पुद्गलक्षेप है । इस प्रकार देशविरमण व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थ-दण्डविरति वृत्तके पाँच अतिचार हैं ॥32॥

§ 719. रागभावकी तीव्रतावश हास्यमिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है । परिहास और असभ्यवचन इन दोनोंके साथ दूसरेके लिए शारीरिक कुचेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है । धोठताको लिये हुए निःसार कुछ भी बहुत बकवास करना मौखर्य है । प्रयोजनका विचार किये बिना मर्यादाके बाहर अधिक काम करना असमीक्ष्याधिकरण है । उपभोग परिभोगके लिए जितनी

1. अधोऽतिक्रमः बिलप्र-- मु. । 2. मोहाद्यासङ्गा-- मु. । 3. तयेदित्या-- आ., दि. 1, दि. 2 । 4. -प्रायं बहु-- आ., दि. 1, दि. 2 । 5. -प्रलपितं मौ- मु. ।

मानर्थक्यम् । त एते पञ्चानर्थदण्डविरतेरतिचाराः ।

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥33॥

§ 720. योगो व्याख्यातस्त्रिविधः । तस्य दुष्टं¹ प्रणिधानं योगदुष्प्रणिधानम्—काय-दुष्प्रणिधानं वाग्दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानमिति । अनादरोऽनुत्साहः । अनेकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानम् । त एते पञ्च सामायिकस्यातिक्रमाः ।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥34॥

§ 721. जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुर्व्यापारः । मृदुनोपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमाजितम् । तदुभयं प्रतिषेधविशिष्टमुत्सर्गादि²भिस्त्रिभिरभिसंबध्यते—अप्रत्यवेक्षिता-प्रमाजितोत्सर्ग इत्येवमादि । तत्र अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितायां³ भूमौ मूत्रपुरीषोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिता-प्रमाजितोत्सर्गः । अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितस्याहंदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धमात्यधूपादेरात्मपरिधाना-द्यर्थस्य च वस्त्रादेरादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादानम् । अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितस्य प्रावरणादेः संस्तरस्योपक्रमणं अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितसंस्तरोपक्रमणम् । क्षुब्धमदितत्वादावश्यकेष्वनादरोऽनु-त्साहः । स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातम् । त एते पञ्च प्रोषधोपवासस्यातिचाराः ।

वस्तुकी आवश्यकता है वह अर्थ है उससे अतिरिक्त अधिक वस्तु रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है । इस प्रकार ये अनर्थदण्डविरति व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥33॥

§ 720 तीन प्रकारके योगका व्याख्यान किया जा चुका है । उसका बुरी तरहसे प्रयोग करना योगदुष्प्रणिधान है जो तीन प्रकारका है—कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान और मनो-दुष्प्रणिधान । उत्साहका न होना अनुत्साह है और वही अनादर है । तथा एकाग्रताका न होना स्मृत्यनुपस्थान है । इस प्रकार ये सामायिक व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

अप्रत्यवेक्षित अप्रमाजित भूमिमें उत्सर्ग अप्रत्यवेक्षित अप्रमाजित वस्तुका आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमाजित संस्तरका उपक्रमण, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार हैं ॥34॥

§ 721. जीव हैं या नहीं हैं इस प्रकार आँखसे देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है और कोमल उपकरणसे जो प्रयोजन साधा जाता है वह प्रमाजित कहलाता है । निषेधयुक्त इन दोनों पदोंका उत्सर्ग आदि अगले तीन पदोंसे सम्बन्ध होता है । यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग आदि । बिना देखी और बिना प्रमाजित भूमिमें मल-मूत्रका त्याग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग है । अरहत और आचार्यकी पूजाके उपकरण, गन्ध, माला और धूप आदिको तथा अपने ओढ़ने आदिके वस्त्रादि पदार्थोंको बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए ले लेना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमाजितादान है । बिना देखे और बिना परिमार्जन किये हुए प्रावरण आदि संस्तरका बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितसंस्तरोपक्रमण है । भूखसे पीड़ित होनेके कारण आवश्यक कार्योंमें अनुत्सा-हित होना अनादर है । स्मृत्यनुपस्थानका व्याख्यान पहले किया ही है । इस प्रकार ये प्रोषधोप-वास व्रतके पाँच अतिचार हैं ।

1. दुःप्रणि— मृ. । 2. --दिभिरभि— मृ. । 3. --माजितभूमौ आ., दि., 1, दि. 2 ।

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥३५॥

§ 722. सह चित्तेन वर्तते इति सचित्तं चेतनावद् द्रव्यम् । तदुपलिष्टः संबन्धः । तद्व्यतिकीर्णः संमिश्रः । कथं पुनरस्य सचित्तादिषु प्रवृत्तिः ? प्रमादसंमोहाभ्याम् । द्रव्यो वृष्यो वाभिषवः । असम्यक्पक्वो दुष्पक्वः । एतेराहारो विशेष्यते । सचित्ताहारः संबन्धाहारः संमिश्राहारोऽभिषवाहारो दुष्पक्वाहार इति । त एते पञ्च भोगोपभोगपरिसंख्यानस्यातिचाराः ।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

§ 723. सचित्ते पञ्चपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः । अपिधानमावरणम् । सचित्तेनैव संबध्यते सचित्तापिधानमिति । अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः । प्रयच्छतोऽन्यादराभावोऽन्यदातृगुणसहनं वा मात्सर्यम् । अकाले भोजनं कालातिक्रमः । त एते पञ्चातिथिसंविभागशीलातिचाराः ।

जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

§ 724. आशंसनमाशंसा आकाङ्क्षणमित्यर्थः । जीवितं च मरणं च जीवितमरणम्, जीवितमरणस्याशंसे जीवितमरणाशंसे । पूर्वमुहूर्त्सहपांसुक्कीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः । अनुभूत-

सचित्ताहारः, सम्बन्धाहारः, सम्मिश्राहारः, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोग-परिभोगपरिमाण वृत्तके पाँच अतिचार हैं ॥३५॥

§ 722. जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है । सचित्तसे चेतना सहित द्रव्य लिया जाता है । इससे सम्बन्धको प्राप्त हुआ द्रव्य सम्बन्धाहार है । और इससे मिश्रित द्रव्य सम्मिश्र है । शंका—यह गृहस्थ सचित्तादिकमें प्रवृत्ति किस कारणसे करता है ? समाधान—प्रमाद और सम्मोहके कारण । द्रव्य, वृष्य और अभिषव इनका एक अर्थ है । जो ठीक तरहसे नहीं पका है वह दुःपक्व है । ये पाँचों शब्द आहारके विशेषण हैं या इनसे आहार पाँच प्रकारका हो जाता है । यथा—सचित्ताहार, सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये सब भोगोपभोगपरिसंख्यान वृत्तके पाँच अतिचार हैं ।

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथि-संविभाग वृत्तके पाँच अतिचार हैं ॥३६॥

§ 723. सचित्त कमलपत्र आदिमें रखना सचित्तनिक्षेप है । अपिधानका अर्थ ढाँकना है । इस शब्दको भी सचित्त शब्दसे जोड़ लेना चाहिए, जिससे सचित्त कमलपत्र आदिसे ढाँकना यह अर्थ फलित होता है । इस दानकी वस्तुका दाता अन्य है यह कहकर देना परव्यपदेश है । दान करते हुए भी आदरका न होना या दूसरे दाताके गुणोंको न सह सकना मात्सर्य है । भिक्षा-काल के सिवा दूसरा काल अकाल है और उसमें भोजन कराना कालातिक्रम है । ये सब अतिथिसंविभाग शीलवृत्तके पाँच अतिचार हैं ।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखनाके पाँच अतिचार हैं ॥३७॥

§ 724. आशंसाका अर्थ चाहना है । जीनेकी चाह करना जीविताशंसा है और मरनेकी चाह करना मरणाशंसा है । पहले मित्रोंके साथ पांसुक्कीडन आदि नाना प्रकारकी क्रीड़ाएँ की रहीं उनका स्मरण करना मित्रानुराग है । अनुभवमें आये हुए विविध सुखोंका पुनः-पुनः

1. -तिः स्थान् । प्रमा- मू. ।

प्रोतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः । भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिन्नेति वा निदानम् । त एते पञ्च सल्लेखनाया अतिचाराः ।

§ 725. अत्राह, उक्तं भवता¹ तीर्थंकरत्वकारणकर्मास्त्रचनिर्देशे 'शक्तितस्त्यागतपत्नी' इति, पुनश्चोक्तं शीलविधाने 'अतिथिसंविभाग' इति । तस्य दानस्य लक्षणमनिर्ज्ञातं तदुच्यता-मित्यत आह—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥38॥

§ 726. स्वपरोपकारोऽनुग्रहः । स्वोपकारः पुण्यसंचयः; परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः । 'स्व'शब्दो धनपर्यायवचनः । अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गस्त्यागो दानं वेदितव्यम् ।

§ 727. अत्राह—उक्तं दानं तत्किमविशिष्टफलमाहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत आह—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥39॥

§ 728. प्रतिग्रहादिकमो विधिः । विशेषो गुणकृतः । तस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः क्रियते—विधिविशेषो द्रव्यविशेषो दातृविशेषः पात्रविशेष इति । तत्र विधिविशेषः प्रतिग्रहादिष्वावरा-नादरकृतो भेदः । तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिद्रव्यविशेषः । अनसूयाविषादादिर्वातृविशेषः ।

स्मरण करना सुखानुबन्ध है । भोगाकांक्षासे जिसमें या जिसके कारण चित्त नियमसे दिया जाता है वह निदान है । ये सब सल्लेखनाके पाँच अतिचार हैं ।

§ 725. तीर्थंकर पदके कारणभूत कर्मके आस्रवका कथन करते समय शक्तिपूर्वक त्याग और तप कहा; पुनः शीलका कथन करते समय अतिथिसंविभागव्रत कहा परन्तु दानका लक्षण अभी तक ज्ञात नहीं हुआ, इसलिए दानका स्वरूप बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अनुग्रहके लिए अपनी वस्तुका त्याग करना दान है ॥38॥

§ 726. स्वयं अपना और दूसरेका उपकार करना अनुग्रह है । दान देनेसे पुण्यका संचय होता है यह अपना उपकार है तथा जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि होती है यह परका उपकार है । सूत्रमें आये हुए स्वशब्दका अर्थ धन है । तात्पर्य यह है कि अनुग्रहके लिए जो धनका अतिसर्ग अर्थात् त्याग किया जाता है वह दान है ऐसा जानना चाहिए ।

§ 727. दानका स्वरूप कहा तब भी उसका फल एक-सा होता है या उसमें कुछ विशेषता है, यह बतलानेके लिए अब आगेका सूत्र कहते हैं—

विधि, देय वस्तु, दाता और पात्रकी विशेषतासे उसकी विशेषता है ॥39॥

§ 728. प्रतिग्रह आदि करनेका जो क्रम है वह विधि है । विशेषता गुणसे आती है । इस विशेष शब्दको विधि आदि प्रत्येक शब्दके साथ जोड़ लेना चाहिए । यथा—विधिविशेष, द्रव्य-विशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष । प्रतिग्रह आदिकमें आदर और अनादर होनेसे जो भेद होता है वह विधिविशेष है । जिससे तप और स्वाध्याय आदिकी वृद्धि होती है वह द्रव्यविशेष है । अनसूया और विषाद आदिका न होना दाताकी विशेषता है । तथा मोक्षके कारणभूत गुणों-से युक्त रहना पात्रकी विशेषता है । जैसे पृथिवी आदिमें विशेषता होनेसे उससे उत्पन्न हुए

1. भगवता म., ता. ।

भोक्षकस्य पुण्यसंयोगः पात्रविशेषः । ततश्च पुण्यफलविशेषः क्षित्यादि¹विशेषाद् बीजफल-
विशेषवत् ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥7॥

बीजमें विशेषता आ जाती है वैसे ही विधि आदिककी विशेषतासे दानसे प्राप्त होनेवाले पुण्य फलमें विशेषता आ जाती है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥7॥

अथाष्टमोऽध्यायः

§ 729. व्याख्यात आस्रवपदार्थः । तदनन्तरोद्देशभागबन्धपदार्थ इदानीं व्याख्येयः । तस्मिन्व्याख्येये सति पूर्वं बन्धहेतूपन्यासः क्रियते; तत्पूर्वकत्वाद् बन्धस्येति—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

§ 730. मिथ्यादर्शनादय उक्ताः । क्व ? मिथ्यादर्शनं तावदुक्तम्, 'तत्त्वार्थश्रद्धानं^१ सम्यग्दर्शनम्' इत्यत्र तत्प्रतिपक्षभूतम्, आस्रवविधाने च क्रियासु व्याख्यातं मिथ्यादर्शनक्रियेति । विरतिरुक्ता । तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या । आज्ञाव्यापादनक्रिया अनाकाङ्क्षाक्रियेत्यनयोः प्रमादस्यान्तर्भावः । स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः । कषायाः क्रोधादयः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः प्रोक्ताः । क्व ? 'इन्द्रियकषाया' इत्यत्रैव । योगः कायादिविकल्पाः प्रोक्ताः । क्व ? 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र ।

§ 731. मिथ्यादर्शनं द्विविधम्; नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च । तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं तन्तैसर्गिकम् । परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्; क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिक^२वैतनिकविकल्पात् । अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनम्—एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैतनिकमिथ्यादर्शनम्^३ अज्ञानिकमिथ्यादर्शनं

§ 729. आस्रव पदार्थका व्याख्यान किया । अब उसके बाद कहे गये बन्ध पदार्थका व्याख्यान करना चाहिए । उसका व्याख्यान करते हुए पहले बन्धके कारणोंका निर्देश करते हैं, क्योंकि बन्ध तत्पूर्वक होता है—

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं ॥१॥

§ 730. मिथ्यादर्शन आदिका व्याख्यान पहले किया जा चुका है । शंका—इनका व्याख्यान पहले कहाँ किया है ? 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनका व्याख्यान किया है । मिथ्यादर्शन उसका उलटा है, अतः इससे उसका भी व्याख्यान हो जाता है । या आस्रवका कथन करते समय पञ्चीस क्रियाओंमें मिथ्यादर्शनक्रियाके समय उसका व्याख्यान किया है । विरतिका व्याख्यान पहले कर आये हैं । उसकी उलटी अविरति लेनी चाहिए । प्रमादका अन्तर्भाव आज्ञाव्यापादनक्रिया और अनाकाङ्क्षाक्रिया इन दोनोंमें हो जाता है । अच्छे कार्योंके करनेमें आदरभावका न होना प्रमाद है । कषाय क्रोधादिक हैं जो अन्ततानुबन्धो, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भेदसे अनेक प्रकारकी हैं । इनका भी पहले कथन कर आये हैं । शंका—कहाँ पर ? समाधान—'इन्द्रियकषाया' इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय । तथा कायादिके भेदसे तीन प्रकारके योगका व्याख्यान भी पहले कर आये हैं । शंका—कहाँ पर ? समाधान—'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्रमें ।

§ 731. मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक । इनमेंसे जो परोपदेशके बिना मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जीवादि पदार्थोंका अश्रद्धानरूप भाव होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है । तथा परोपदेशके निमित्तसे होनेवाला मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैतनिक । अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकारका है—एकान्त

१. श्रद्धानं इत्यत्र आ., दि. १, दि. २ । २. अज्ञानिक—मु. । ३. अज्ञानमिथ्या—मु. ।

चेति । तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनवेश एकान्तः । “पुरुष एवेदं सर्वम्”¹ इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति । सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमाविः विपर्ययः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः संशयः । सर्व-देवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम् । हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम् । उक्तं च—

“असिदिसदं² किरियाणं अक्किरियाणं³ तह य होइ चुलसीदी ।

⁴सत्तट्ठमण्णाणोणं वेणइयाणं तु वत्तीसं ॥”

§ 732. अविरतिर्द्वादशविधाः; षट्कायषट्करणविषयभेदात् । षोडश कषायानां नव नो-कषाया⁵स्तेषामोषद्भेदो न भेद इति पञ्चविंशतिः कषायाः । चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगाः पञ्च काययोगा इति त्रयोदशविकल्पो योगः । आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोः प्रमत्त-संयते संभवात्पञ्चदशापि⁶ भवन्ति । प्रमादोऽनेकविधः⁷; शुद्धचष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्⁸ । त एते पञ्च बन्धहेतवः सप्रस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति । तत्तथा — मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिता बन्ध-हेतवो भवन्ति । सासादनसम्प्रगृष्टिः सम्यग्दृष्टिः मिथ्यादृष्टिः संयतसम्प्रगृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः । संयतासंयतस्याविरतिविरतिमिश्रा प्रमादकषाययोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः ।

मिथ्यादर्शनं, विपरीतमिथ्यादर्शनं, संशयमिथ्यादर्शनं, वैनयिकमिथ्यादर्शनं और अज्ञानिक मिथ्या-दर्शनं । यही है, इसी प्रकारका है इस प्रकार धर्म और धर्मोंमें एकान्तरूप अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यादर्शन है । जैसे यह सब जग परब्रह्मरूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं । सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपर्यय मिथ्यादर्शन है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों मिलकर क्या मोक्षमार्ग है या नहीं इस प्रकार किसी एक पक्षको स्वीकार नहीं करना संशय मिथ्यादर्शन है । सब देवता और सब मतोंको एक समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है । हिताहितकी परीक्षासे रहित होना अज्ञानिक मिथ्यादर्शन है । कहा भी है—“क्रियावादियोंके एकसौ अस्सी, अक्रियावादियोंके चौरासी, अज्ञानियोंके सड़सठ और वैनयिकोंके बत्तीस भेद हैं ।

§ 732. छट्कायके जीवोंकी दया न करनेसे और छह इन्द्रियोंके विषयभेदसे अविरति बारह प्रकारकी है । सोलह कषाय और नौ नोकषाय ये पञ्चीस कषाय हैं । यद्यपि कषायों-से नोकषायोंमें थोड़ा भेद है पर वह यहाँ विवक्षित नहीं है, इसलिए सबको कषाय कहा है । चार मनोयोग, चार वचनयोग और पाँच काययोग ये योगके तेरह भेद हैं । प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें आहारक ऋद्धिधारी मुनिके आहारककाययोग और आहारक मिश्रकाययोग भी सम्भव हैं इस प्रकार योग पन्द्रह भी होते हैं । शुद्धचष्टक और उत्तम क्षमा आदि विषयके भेदसे प्रमाद अनेक प्रकारका है । इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचों मिलकर या पृथक्-पृथक् बन्धके हेतु हैं । स्पष्टीकरण इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि जीवके पाँचों ही मिलकर बन्धके हेतु हैं । सासादन-सम्प्रगृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्प्रगृष्टिके अविरति आदि चार बन्धके हेतु हैं । संयतासंयतके विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं । प्रमत्तसंयतके प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्धके हेतु हैं । अप्रमत्तसंयत आदि चारके

1. इति वा नित्यमेवेति मु., दि. 1, दि. 2, आ. । 2. गो. कर्म., गा. 876 । 3. --याणं च होइ मु. । 4. सत्तच्छण्णा--मु. 5. --षायाः ईषद्भे- दि. 1, दि. 2, आ. । 6. --दश भवन्ति आ., दि. 1, दि. 2 । 7. --नेकविधः पञ्चसमितित्रिगुप्तिशुद्धच- मु., आ., दि. 1, दि. 2 । 8. --भेदात् । शुद्धचष्टकस्यार्थः भावकायवित्तयेयापयभिक्षाप्रतिष्ठापनशयनासनवाक्यशुद्धयोऽष्टौ दशलक्षणो धर्मश्च । त एते मु., आ., दि. 1, दि. 2 ।

अप्रमत्तादीनां चतुर्णां योगकषायो । उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेक एव योगः । अयोगकेवलिनो न बन्धहेतुः ।

§ 733. उक्ता बन्धहेतवः । इदानीं बन्धो वक्तव्य इत्यत आह—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥2॥

§ 734. सह कषायेण वर्तते इति सकषायः । सकषायस्य भावः सकषात्वम् । तस्मात्सकषायत्वादिति । पुनर्हेतुनिर्देशः¹ जठराग्न्याशयानुरूपआहारग्रहणवत्तोत्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपस्थितयन्भवविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्² । अमूर्तिरहस्त आत्मा कथं कर्मादत्त इति चोदितः सन् 'जीवः' इत्याह । जीवनाज्जीवः प्राणधारणादायुःसंबन्धान्नायुविरहादिति । 'कर्मयोग्यान्' इति लघुनिर्देशात्सिद्धे 'कर्मणो योग्यान्' इति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञापनार्थम् । किं पुनस्तद्वाक्यान्तरम् ? कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकं वाक्यम् । एतदुक्तं भवति—'कर्मणः' इति हेतुनिर्देशः कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति, नाकर्मस्य कषायलेपोऽस्ति । ततो जीवकर्मणोरनाविसंबन्ध इत्युक्तं भवति । तेनामूर्तो जीवो मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यते इति चोद्यमपाकृतं भवति । इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे आत्यन्तिको शुद्धि दधतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत । द्वितीयं वाक्यं 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' इति । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति पूर्वहेतुसंबन्धं त्यक्त्वा षष्ठीसंबन्धमुपैति 'कर्मणो योग्यान्' इति । 'पुद्गल'वचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम्³ ।

योग और कषाय ये दो बन्धके हेतु हैं । उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इनके एक योग ही बन्धका हेतु है । अयोगकेवलीके बन्धका हेतु नहीं है ।

§ 733. बन्धके हेतु कहे । अब बन्धका कथन करना चाहिए इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

कषाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है वह बन्ध है ॥2॥

§ 734. कषायके साथ रहता है इसलिए सकषाय कहलाता है और सकषायका भाव सकषायत्व है । इससे अर्थात् सकषाय होनेसे । यह हेतुनिर्देश है । जिस प्रकार जठराग्निके अनुरूप आहारका ग्रहण होता है उसी प्रकार तोत्र, मन्द और मध्यम कषायाशयके अनुरूप ही स्थिति और अनुभाग होता है । इस प्रकार इस विशेषताका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सकषायत्वात्' इस पदद्वारा पुनः हेतुका निर्देश किया है । अमूर्ति और बिना हाथवाला आत्मा कर्मोंको कैसे ग्रहण करता है इस प्रश्नका उत्तर देनेके अभिप्रायसे सूत्रमें 'जीव' पद कहा है । जीव शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जीवनाज्जीवः—जो जीता है अर्थात् जो प्राणोंको धारण करता है, जिसके आयुका सद्भाव है, आयुका अभाव नहीं है वह जीव है । सूत्रमें 'कर्मयोग्यान्' इस प्रकार लघु निर्देश करनेसे काम चल जाता फिर भी 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार पृथक् विभक्तिका उच्चारण वाक्यान्तरका ज्ञान करानेके लिए किया है । वह वाक्यान्तर क्या है ? 'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' यह एक वाक्य है । इसका यह अभिप्राय है कि 'कर्मणः' यह हेतुपरक निर्देश है जिसका अर्थ है कि कर्मके कारण जीव कषायसहित होता है । कर्मरहित जीवके कषायका लेप नहीं होता । इससे जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है यह कथन निष्पन्न होता है । और इससे अमूर्त जीव मूर्त कर्मके साथ कैसे बँधता है इस प्रश्नका निराकरण हो जाता है । अन्यथा बन्धको सादि मानने पर आत्यन्तिक शुद्धिको धारण करनेवाले सिद्ध जीवके समान संसारी जीवके बन्धका अभाव प्राप्त होता है । 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते' यह दूसरा वाक्य है, क्योंकि अर्थके अनुसार विभक्ति बदल जाती है इसलिए पहले जो हेत्वर्थमें विभक्ति थी वह अब 'कर्मणो

1. -निर्देशः किमर्थम् ? जठ- मु., दि. 1 । 2. -त्यर्थः । हेतुः आत्मा ता., ना. । 3. -नार्थम् । अत आत्म-आ. ।

तेनात्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति; तस्य संसारहेतुत्वानुपपत्तेः । 'आदत्ते' इति हेतुहेतुमद्भाव-
ख्यापनार्थम् । अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादाद्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात्तेषां सूक्ष्मेकक्षेत्राव-
गाहिज्ञानमन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते ।
यथा भाजनविशेषे' प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गल-
नामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः । 'सः' वचनमन्यनि-
वृत्त्यर्थम् । स एष बन्धो नान्योऽस्तीति । तेन गुणगुणबन्धो निर्वातितो भवति । कर्मादिसाधनो
'बन्ध' शब्दो व्याख्येयः ।

§ 735. आह किमयं बन्ध एकरूप एव, आहोस्वित्प्रकारा अप्यस्य सन्तीत्यत इवमुच्यते—

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥3॥

§ 736. प्रकृतिः स्वभावः । निम्बस्य का प्रकृतिः ? तिव्रता । गुडस्य का प्रकृतिः ? मधु-
रता । तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः ? अर्थानवगमः । दर्शनावरणस्य का प्रकृतिः ? अर्थानालो-

योग्यान्' इस प्रकार षष्ठी अर्थको प्राप्त होती है । सूत्रमें 'पुद्गल' पद कर्मके साथ तादात्म्य
दिखलानेके लिए दिया है ; इससे अदृष्ट आत्माका गुण है इस बातका निराकरण हो जाता है,
क्योंकि उसे आत्माका गुण मानने पर वह संसारका कारण नहीं बन सकता । सूत्रमें 'आदत्ते'
पद हेतुहेतुमद्भावका ख्यापन करनेके लिए दिया है । इससे मिथ्यादर्शन आदिके अभिनिवेशवश
गीले किये गये आत्माके सब अवस्थाओंमें योग विशेषसे उन सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त
कर्मभावको प्राप्त होने योग्य पुद्गलोंका उपश्लेष होना बन्ध है यह कहा गया है । जिस प्रकार
पात्रविशेषमें प्रक्षिप्त हुए विविध रसवाले बीज, फूल और फलोंका मदिरारूपसे परिणमन होता
है उसी प्रकार आत्मामें स्थित हुए पुद्गलोंका भी योग और कषायके निमित्तसे कर्मरूपसे परिण-
मन जानना चाहिए । सूत्रमें 'सः' पद अन्यका निराकरण करनेके लिए दिया है कि यह बन्ध है
अन्य नहीं । इससे गुणगुणीबन्धका निराकरण हो जाता है । यहाँ 'बन्ध' शब्दका कर्मादि साधन-
में व्याख्यान कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थः—इस सूत्रमें मुख्यरूपसे बन्धकी व्याख्या की गयी है । जीव द्रव्यका स्वतन्त्र
अस्तित्व होते हुए भी अनादि कालसे वह कर्मोंके अधीन हो रहा है जिससे उसे नर नारक आदि
नाना गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है । प्रश्न यह है कि जीव कर्मोंके अधीन क्यों होता है
और उन कर्मोंका स्वरूप क्या है ? प्रकृत सूत्रमें इन दोनों प्रश्नोंका समर्पक उत्तर दिया गया है ।
सूत्रमें बतलाया गया है कि कर्मोंके कारण जीव कषायाविष्ट होता है और इससे उसके कर्मके
योग्य पुद्गलोंका उपश्लेष होता है । यही बन्ध है । इससे दो बातें फलित होती हैं । प्रथम तो
यह कि कर्मोंके निमित्तसे जीवमें अशुद्धता आती है और इस अशुद्धताके कारण कर्मका बन्ध होता
है और दूसरी यह कि जीव और कर्मका यह बन्ध परम्परासे अनादि है । इस प्रकार बन्ध क्या
है और वह किस कारणसे होता है यह बात इस सूत्रसे जानी जाती है ।

§ 735. यह बन्ध क्या एक है या इसके भेद हैं यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार भेद हैं ॥3॥

§ 736. प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है । जिस प्रकार नीमकी क्या प्रकृति है ? कड़ु आपन ।
गुड़की क्या प्रकृति है ? मीठापन । उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति है ? अर्थका

1. —क्षेपे क्षिप्ता—मु. ।

कनम् । वेद्यस्य सदसत्त्वक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम् । दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम् । चारित्रमोहस्यासंयमः । आयुषो भवधारणम् । नास्नो नारकादिनामकरणम् । गोत्रस्योच्चर्नीचः-स्थानसंशब्दनम् । अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम् । तदेवंलक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः । तत्त्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः । यथा—अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः । तथा ज्ञानावरणादीनामर्यावगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः । तद्वत्विशेषोऽनुभवः यथा—अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः । तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः । इयत्तावधारणं प्रदेशः । कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशः । 'विधि' शब्दः प्रकारवचनः । त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारस्तस्य बन्धस्य प्रकाराः । तत्र योगनिमित्तो प्रकृतिप्रदेशो । कषायनिमित्तो स्थित्यनुभवौ । तत्प्रकर्षप्रकर्षभेदात्तद्वन्धविचित्रभावः । तथा चोक्तम्—

“जोगा¹ पयडि-पएसा ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि ।

अपरिणदुच्छिण्णेषु य बंधटिठिदिकारणं णत्थि ॥”

ज्ञान न होना । दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति है ? अर्थका आलोकन नहीं होना । सुख-दुःखका संवेदन कराना साता और असाता वेदनीयकी प्रकृति है । तत्त्वार्थका श्रद्धान न होने देना दर्शनमोहकी प्रकृति है । असंयमभाव चारित्रमोहकी प्रकृति है । भवधारण आयु कर्मकी प्रकृति है । नारक आदि नामकरण नामकर्मकी प्रकृति है । उच्च और नीच स्थानका संशब्दन गोत्र कर्मकी प्रकृति है तथा दानादिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मकी प्रकृति है । इस प्रकारका कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है । जिसका जो स्वभाव है उससे च्युत न होना स्थिति है । जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका माधुर्यस्वभावसे च्युत न होना स्थिति है उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंका अर्थका ज्ञान न होने देना आदि स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है । इन कर्मोंके रसविशेषका नाम अनुभव है । जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदिके दूधका अलग-अलग तीव्र मन्द आदि रूपसे रसविशेष होता है उसी प्रकार कर्म पुद्गलोंका अलग अलग स्वगत सामर्थ्यविशेष अनुभव है । तथा इयत्ताका अवधारण करना प्रदेश है । अर्थात् कर्मरूपसे परिणत पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओंको जानकारी करके निरवयव करना प्रदेशबन्ध है । 'विधि' शब्द प्रकारवाची है । ये प्रकृति आदिक चार उस बन्धके प्रकार हैं । इनमें से योगके निमित्तसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषायके निमित्तसे स्थितिबन्ध और अनुभवबन्ध होता है । योग और कषायमें जैसा प्रकर्षप्रकर्षभेद होता है उसके अनुसार बन्ध भी नाना प्रकारका होता है । कहा भी है—‘यह जीव योगसे प्रकृति और प्रदेश बन्धको तथा कषायसे स्थिति और अनुभाग बन्धको करता है । किन्तु जो जीव योग और कषायरूप से परिणत नहीं है और जिनके योग और कषायका उच्छेद हो गया है उनके कर्मबन्धकी स्थिति का कारण नहीं पाया जाता ।’

विशेषार्थ—इस सूत्रमें बन्धके चार भेदोंका निर्देश किया है । साम्प्रदायिक आस्रवसे जो भी कर्म बँधता है उसे हम इन चार रूपोंमें देखते हैं । बँधे हुए कर्मका स्वभाव क्या है, स्थिति कितनी है, अपने स्वभावानुसार वह न्यूनाधिक कितना काम करेगा और आत्मासे कितने प्रमाणमें व किस रूपमें वह बन्धको प्राप्त होता है । यही वे चार प्रकार हैं । कर्मके इन चार प्रकारोंकी हीनाधिकता के मुख्य कारण दो हैं—योग और कषाय । योगके निमित्तसे प्रकृतिबन्ध के साथ कमअधिक प्रदेशबन्ध होता है तथा कषायके निमित्तसे कम अधिक स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध

§ 737. तत्राद्यस्य प्रकृतिबन्धस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

§ 738. आद्यः प्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणाद्यष्टविकल्पो वेदितव्यः । आवृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा आवरणम् । तत्प्रत्येकमभिसंबध्यते—ज्ञानावरणं दर्शनावरणमिति । वेदयति वेद्यत इति वा वेदनीयम् । मोहयति 'मोहयतेऽनेनेति वा मोहनीयम् । एत्यनेन नारकादिभवमित्यायुः । नमयत्यात्मानं नमयतेऽनेनेति वा नाम । उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यत इति वा गोत्रम् । दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेतीत्यन्तरायः । एकेनात्मपरिणामेनादीयमानाः पुद्गला ज्ञानावरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते सकृदुपभुक्तान्तपरिणामसंस्मृतिरादिवत् ।

होता है । इसका अर्थ है कि जहाँ योग और कषाय नहीं है वहाँ कर्मबन्ध भी नहीं है । कषाय दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है । ग्यारहवें गुणस्थानमें जीव कषायरूपसे परिणत नहीं होता और बारहवें गुणस्थानमें उसका उच्छेद अर्थात् अभाव है, इसलिए इस जीवके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही होता है । आगे ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें यद्यपि सातावेदनीयका बन्ध होता है पर वहाँ कषाय न होनेसे उसका प्रकृति और प्रदेशबन्ध ही होता है । यहाँ प्रश्न होता है कि यदि इन गुणस्थानोंमें सातावेदनीयका बिना स्थितिके बन्ध होता है तो उसका आत्माके साथ अवस्थान कैसे होगा और यदि बिना अनुभागसे बन्ध होता है तो उसका विषाक सातारूप कैसे होगा ? समाधान यह है कि इन गुणस्थानोंमें ईर्यापथ आस्रव होनेसे कर्म आते हैं और चले जाते हैं । उनका दो, तीन आदि समय तक अवस्थान नहीं होता । इसलिए तो यहाँ स्थितिबन्धका निषेध किया है और अनुभाग भी कषायके निमित्तसे प्राप्त होने वाले अनुभागसे यहाँ प्राप्त होनेवाला अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है, इसलिए यहाँ कषायके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले अनुभागबन्धका भी निषेध किया है । योग तेरहवें और कषाय दसवें गुणस्थान तक होता है, इसलिए स्थिति और अनुभागबन्ध दसवें तक और प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तेरहवें तक होते हैं । अयामिकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव है इसलिए वहाँ किसी प्रकारका भी बन्ध नहीं होता । इस प्रकार यहाँ बन्धके भेद और उनके कारणोंका विचार किया ।

§ 737. अब प्रकृतिबन्धके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप है ॥४॥

§ 738. आदिका प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरणादि आठ प्रकारका जानना चाहिए । जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है । वह प्रत्येकके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है यथा—ज्ञानावरण और दर्शनावरण । जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है वह वेदनीय कर्म है । जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है । जिसके द्वारा नारक आदि भवको जाता है वह आयुर्कर्म है । जो आत्माको नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नामकर्म है । जिसके द्वारा जीव उच्च नीच गूयते अर्थात् कहा जाता है वह गोत्र कर्म है । जो दाता और देय आदिका अन्तर करता है अर्थात् वीचमें आता है वह गोत्र कर्म है । एक बार खाये गये अन्नका जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूपसे अनेक प्रकारका परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्म-परिणामके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेदोंको प्राप्त होते हैं ।

1. मुह्यते इति मु । 2. -दुपयुक्ता- आ., दि. 1, दि. 2 ता., ना. ।

§ 739. आह, उक्तो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः । इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धो वक्तव्य इत्यत आह—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥5॥

§ 740. द्वितीयग्रहणमिह कर्तव्यं; द्वितीय उत्तरप्रकृतिबन्ध एवंविकल्प इति ? न कर्तव्यम्; पारिशेष्यात्सिद्धेः । आद्यो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविकल्प उक्तः । ततः पारिशेष्यादयमुत्तरप्रकृतिविकल्पविधिर्भवति । 'भेद'शब्दः पञ्चादिभिर्यथाक्रममभिसंबध्यते—पञ्चभेदं ज्ञानावरणीयं नवभेदं दर्शनावरणीयं द्विभेदं वेदनीयं अष्टाविंशतिभेदं मोहनीयं चतुर्भेदमायुः द्विचत्वारिंशद्विभेदं नाम द्विभेदं गोत्रं पञ्चभेदोऽन्तराय इति ।

§ 741. यदि ज्ञानावरणं पञ्चभेदं तत्प्रतिपत्तिरुच्यतामित्यत आह—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥6॥

§ 742. मत्यादीनि ज्ञानानि व्याख्यातानि । तेषामावृतेरावरणभेदो भवतीति पञ्चोत्तरप्रकृतयो वेदितव्याः । अत्र चोद्यते—अभव्यस्य मनःपर्ययज्ञानशक्तिः केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा । यदि स्यात् तस्याभव्यत्वाभावः । अथ नास्ति तत्रावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति ? उच्यते—आदेशवचनान्न दोषः । द्रव्यार्थादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिसंभवः । पर्यायार्थादेशात्तच्छक्त्यभावः । यद्येवं भव्याभव्यविकल्पो नोपपद्यते; उभयत्र तच्छक्तिसद्भावात् ? न शक्तिभावाभावा-

§ 739. मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका कहा । अब उत्तर प्रकृतिबन्धका कथन करते हैं—

आठ मूल प्रकृतियोंके अनुक्रमसे पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच भेद हैं ॥5॥

§ 740. शंका—यहाँ द्वितीय पदका ग्रहण करना चाहिए, जिससे मालूम पड़े कि द्वितीय उत्तर प्रकृतिबन्ध इतने प्रकारका है ? समाधान—नहीं करना चाहिए, क्योंकि पारिशेष्य न्यायसे उसकी सिद्धि हो जाती है । आदिका मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकारका कह आये हैं, इसलिए पारिशेष्य न्यायसे ये उत्तर प्रकृतिबन्धके भेद समझने चाहिए । भेद शब्द पाँच आदि शब्दोंके साथ यथाक्रमसे सम्बन्धको प्राप्त होता है । यथा—पाँच भेदवाला ज्ञानावरण, नौ भेदवाला दर्शनावरण, दो भेदवाला वेदनीय, अट्ठाईस भेदवाला मोहनीय, चार भेदवाला आयु, व्यालीस भेदवाला नाम, दो भेदवाला गोत्र और पाँच भेदवाला अन्तराय ।

§ 741. यदि ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकारका है, तो उसका ज्ञान कराना है, अतः आगेका सूत्र कहते हैं—

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनको आवरण करनेवाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं ॥6॥

§ 742. मति आदि ज्ञानोंका व्याख्यान कर आये हैं । उनका आवरण करनेसे आवरणोंमें भेद होता है, इसलिए ज्ञानावरण कर्मकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ जानना चाहिए । शंका—अभव्य जीवके मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति होती है या नहीं होती । यदि होती है तो उसके अभव्यपना नहीं बनता । यदि नहीं होती है तो उसके उक्त दो आवरण-कर्मोंकी कल्पना करना व्यर्थ है ? समाधान—आदेश वचन होनेसे कोई दोष नहीं है । अभव्यके द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है पर पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा उसके उसका

पेक्षयो भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते । कुतस्तर्हि ? व्यक्तिस्वभावासद्भावोपेक्षया । सम्यग्दर्शनादि-
भिर्व्यक्तिर्यस्य भविष्यति स भव्यः । यस्य तु न भविष्यति सोऽभव्य इति । कनकेतरपाषाणवत् ।

§ 743. आह, उक्तो ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिविकल्पः । इदानीं दर्शनावरणस्य वस्तव्य
इत्यत आह—

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृह्यश्च ॥71॥

§ 744. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानामिति दर्शनावरणापेक्षया भेदनिर्देशः—चक्षुर्वर्शनावरण-
मचक्षुर्वर्शनावरणसर्वाधदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति । मयस्वेदकलमचिनोदनार्थः स्वापो निद्रा ।

अभाव है । शंका—यदि ऐसा है तो भव्याभव्य विकल्प नहीं बन सकता है क्योंकि दोनोंके मनः-
पर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है ? समाधान—शक्तिके सद्भाव और असद्भाव-
की अपेक्षा भव्याभव्य विकल्प नहीं कहा गया है । शंका—तो किस आधारसे यह विकल्प कहा
गया है ? समाधान—व्यक्तिकी सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा यह विकल्प कहा गया है ।
जिसके कनक पाषाण और इतर पाषाणकी तरह सम्यग्दर्शनादि रूपसे व्यक्ति होगी वह भव्य है
और जिसके नहीं होगी वह अभव्य है ।

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञानावरण कर्मके पाँच उत्तर-भेदोंका निर्देश किया गया है । मूलमें
ज्ञान एक है । उसके ये पाँच भेद आवरणकी विशेषतासे प्राप्त होते हैं । ध्वला टीकामें इस
विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए सूर्य और मेघपटलका उदाहरण दिया गया है । वहाँ बतलाया
है कि जिस प्रकार अति सघन मेघपटल सूर्यको आच्छादित करते हैं तो भी अतिमन्द सूर्य किरणें
मेघपटलमेंसे प्रस्फुटित होती रहती हैं उसी प्रकार केवलज्ञानावरण कर्मके आवृत होनेपर भी
कुछ न कुछ ज्ञानांश प्रस्फुटित होता रहता है और उसीको आवृत करनेसे चार उत्तर आवरण
कर्म प्राप्त होते हैं । इस प्रकार कुल ज्ञानावरण कर्म पाँच हैं जो भव्य और अभव्य दोनोंके पाये
जाते हैं । शास्त्रमें भव्य और अभव्य संज्ञा बन्ध विशेषकी अपेक्षा से दी गयी है । जीवके ये भेद
इसी अपेक्षासे जानने चाहिए । इन भेदोंका अन्य कोई निमित्त नहीं है । बन्ध दो प्रकारका होता
है—एक बन्ध वह जो सन्तानकी अपेक्षा अनादि अनन्त होता है और दूसरा वह जो अनादि
सान्त होता है । जिन जीवोंके कर्मका अनादि-अनन्त बन्ध होता है वे अभव्य कहलाते हैं और
जिनके अनादिसान्त बन्ध होता है वे भव्य माने गये हैं । इसलिए शक्ति सब जीवोंके एक-सी
होकर भी उसके व्यक्त होनेमें अन्तर हो जाता है । शास्त्रमें इस भेदको समझानेके लिए कनक-
पाषाण और अन्धापाषाण उदाहरणरूपसे उपस्थित किये गये हैं सो इस दृष्टान्तसे भी उक्त
कथनकी ही पुष्टि होती है । इस प्रकार ज्ञानावरण कर्मके पाँच भेद क्यों हैं इस बातका खुलासा
किया ।

§ 743. ज्ञानावरण कर्मके उत्तर प्रकृतिविकल्प कहे । अब दर्शनावरण कर्मके कहने
चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारोंके चार आवरण तथा
निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृह्य ये पाँच निद्रादिक ऐसे नौ दर्शनावरण
हैं ॥71॥

§ 744. चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलका दर्शनावरणकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है;
यथा—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण । मद, खेद

1. --नादिव्यक्ति-- आ., दि. 1, दि. 2, ता. ।

तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा । या क्रियात्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकश्रममदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविक्रियासूचिका । सैव पुनःपुनरावर्तमाना¹ प्रचलाप्रचला । स्वप्ने² यथा वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः । स्त्यायतेरनेकार्थत्वात्स्वप्नार्थ इह गृह्यते, गृह्येरपि दीप्तिः । स्त्याने स्वप्ने गृह्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः । इह निद्रादि-भिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसंबध्यते—निद्रादर्शनावरणं निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि ।

§ 745. तृतीयस्याः प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिप्रतिपादनार्थमाह—

सदसद्वेद्ये ॥४॥

§ 746. यदुदयादेवादिगतिषु शरीरमानसमुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्¹ । प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति । यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति ।

और परिश्रमजन्य थकावटको दूर करनेके लिए नींद लेना निद्रा है । इसकी उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होना निद्रानिद्रा है । जो शोक, श्रम और मद आदिके कारण उत्पन्न हुई है और जो बैठे हुए प्राणीके भी नेत्र, गात्रकी विक्रियाकी सूचक है ऐसी जो क्रिया आत्माको चलायमान करती है वह प्रचला है । तथा उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति होना प्रचलाप्रचला है । जिसके निमित्तसे स्वप्नमें वीर्यविशेषका आविर्भाव होता है वह स्त्यानगृद्धि है । 'स्त्यायति' धातुके अनेक अर्थ हैं । उनमेंसे यहाँ स्वप्न अर्थ लिया है और 'गृद्धि' दीप्यते जो स्वप्नमें प्रदीप्त होती है वह 'स्त्यानगृद्धि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'स्त्याने स्वप्ने' गृह्यति धातुका दीप्ति अर्थ लिया गया है । अर्थात् जिसके उदयसे रौद्र बहु कर्म करता है वह स्त्यानगृद्धि है । यहाँ निद्रादि पदोंके साथ दर्शनावरण पदका सामानाधिकरणरूपसे सम्बन्ध होता है यथा—निद्रादर्शनावरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण आदि ।

विशेषार्थ—यहाँ दर्शनावरण कर्मके नौ भेद गिनाये हैं । दर्शनके कुल भेद चार हैं उनकी अपेक्षा प्रारम्भके चार भेद गिनाये हैं । निद्रादिक सामान्य आवरण कर्म हैं पर संसारी जीवके पहले दर्शनोपयोग होता है और ये निद्रादिक उस उपयोगमें बाधक हैं इसलिए इन निद्रा आदि पाँच कर्मोंकी दर्शनावरणके भेदोंमें परिगणना की जाती है । इससे दर्शनावरण कर्मके नौ भेद सिद्ध होते हैं ।

§ 745. तृतीय प्रकृतिकी उत्तर प्रकृतियोंको बतलाने के लिए कहते हैं—

सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय हैं ॥४॥

§ 746. जिसके उदयसे देवादि गतियोंमें शरीर और मनसम्बन्धी सुखकी प्राप्ति होती है वह सद्वेद्य है । प्रशस्त वेद्यका नाम सद्वेद्य है । जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके दुःख मिलते हैं वह असद्वेद्य है । अप्रशस्त वेद्यका नाम असद्वेद्य है ।

विशेषार्थ—यहाँ वेदनीय कर्मके दो भेद गिनाये हैं । यह जीवविपाकी कर्म है । जीवका साता और असातारूप परिणाम इसके उदयके निमित्तसे होता है । अन्य बाह्य सामग्रीको इसका फल कहा है पर वह उपचार कथन है । वस्तुतः बाह्य सामग्री साता और असाताके उदयमें निमित्त है, इसलिए बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति वेदनीय कर्मका फल उपचारसे माना जा सकता है । देवगति, नरकगति और भोगभूमिमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति कारण तत्तत्पर्यायकी लेश्या है और कर्मभूमिमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति के अनेक कारण हैं । इस प्रकार वेदनीय कर्मके दो भेद और उनका कार्य जानना चाहिए ।

1: -वर्त्यमाना आ., दि. 1, दि. 2 । 2. स्वप्नेऽपि यथा म., आ., दि. 1, दि. 2 ।

§ 747. चतुर्थ्याः प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिविकल्पनिर्दर्शनार्थमाह—
दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्व-
मिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुत्र-
पुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलन-

विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥११॥

§ 748. दर्शनादयश्चत्वारः त्र्यादयोऽपि^१ । तत्र यथासंख्येन संबन्धो भवति—दर्शनमोह-
नीयं त्रिभेदम्, चारित्रमोहनीयं द्विभेदम्, अकषायवेदनीयं नवविधम्, कषायवेदनीयं षोडशविध-
मिति ।

§ 749. तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम्—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं तदुभयमिति । तद् बन्धं प्रत्येकं
भूत्वा सत्कर्मपेक्षया त्रिधा व्यवतिष्ठते । तत्र यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धान-
निरुद्धमुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम् । तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणाम-
निरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टि-
रित्यभिधीयते । तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात्क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्वेगवत्तामिशुद्धस्वरसं
तदुभयमित्याख्यायते सम्यग्मिथ्यात्वमिति यावत् । यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्वेगोदोप-
योगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः ।

§ 747. अब चौथी मूल प्रकृतिके उत्तर प्रकृति विकल्प दिखलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषाय वेदनीय इनके क्रमसे तीन,
दो, नौ और सोलह भेद हैं । सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय ये तीन दर्शनमोहनीय हैं । अकषाय-
वेदनीय और कषायवेदनीय ये दो चारित्र-मोहनीय हैं । हास्य, रति, अरति, शोक, रय, जुगुप्सा,
स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषायवेदनीय हैं । तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान,
प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे सोलह कषायवेद-
नीय हैं ॥११॥

§ 748. दर्शन आदिक चार हैं और तीन आदिक भी चार हैं । वहाँ इनका यथाक्रमसे
सम्बन्ध होता है । यथा—दर्शनमोहनीय तीन प्रकारका है, चारित्रमोहनीय दो प्रकारका है,
अकषायवेदनीय नौ प्रकारका है और कषायवेदनीय सोलह प्रकारका है ।

§ 749. उनमें-से दर्शनमोहनीयके तीन भेद ये हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और तदुभय ।
वह बन्धकी अपेक्षा एक होकर सत्कर्मकी अपेक्षा तीन प्रकारका है । इन तीनोंमें-से जिसके उदयसे
यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख, तत्त्वार्थके श्रद्धान करनेमें निरुत्सुक, हिताहितका विचार
करनेमें असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है । वही मिथ्यात्व जब
शुभ परिणामोंके कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीनरूपसे अवस्थित
रहकर आत्माके श्रद्धानको नहीं रोकता है तब सम्यक्त्व है । इसका वेदन करनेवाला पुरुष
सम्यग्दृष्टि कहा जाता है । वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेषके कारण क्षीणाक्षीण मदशक्तित्वाले
कोदोंके समान अर्धशुद्ध स्वरसवाला होनेपर तदुभय कहा जाता है । इसीका दूसरा नाम सम्य-
ग्मिथ्यात्व है । इसके उदयसे अर्धशुद्ध मदशक्तित्वाले कोदों और ओदनके उपयोगसे प्राप्त हुए
मिश्र परिणामके समान उभयात्मक परिणाम होता है ।

1. --त्र्यादयोऽपि चत्वारः । तत्र मु., ता., ना. । 2. --कोद्वोपयो-- मु. ।

§ 750. चारित्रमोहनीयं द्विधा; अकषायकषायभेदात् । ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायो-
ऽकषाय इति । अकषायवेदनीयं नवविधम् । कुतः । हास्यादिभेदात् । यस्योदयाद्वास्याविर्भावस्त-
द्वास्थ्यम् । यदुदयाद्देशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः । अरतिस्तद्विपरीता । यद्विषाकाच्छोचनं स शोकः ।
यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम् । यदुदयादात्मदोषसंवरणं परदोषाविष्करणं सा जुगुप्सा । यदुदयात्स्त्रैणा³-
न्भावान्प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः । यस्योदयात्पौस्तान्भावानास्कन्दति स पुंवेदः । यदुदयान्तापुं सका-
न्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः ।

§ 751. कषायवेदनीयं षोडशविधम् । कुतः । अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पात् । तत्रधा—
कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तेषां चतस्रोऽवस्थाः—अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानानावरणाः
प्रत्याख्यानानावरणाः संज्वलनाश्चेति । अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् । तदनुबन्धिनोऽ-
नन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्देशादिवरति संयमासंयमाख्यामल्पापि कर्तुं न
शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः । यदुदयाद्विरति
कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानानावरणाः क्रोधमान-
मायालोभाः । समेकीभावे वर्तन्ते । संयमेन सहावस्थानादेकीभूय⁴ ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्वेषु
सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः । त एते समुविताः सन्तः षोडश कषाया भवन्ति ।

§ 750. चारित्रमोहनीय दो प्रकारका है—अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय । यहाँ
ईषद् अर्थात् किञ्चित् अर्थमें 'नञ्' का प्रयोग होनेसे किञ्चित् कषायको अकषाय कहा है । हास्य
आदिके भेदसे अकषायवेदनीयके नौ भेद हैं । जिसके उदयसे हँसी आती है वह हास्य है । जिसके
उदयसे देश आदिमें उत्सुकता होती है वह रति है । अरति इससे विपरीत है । जिसके उदयसे
शोक होता है वह शोक है । जिसके उदयसे उद्वेग होता है वह भय है । जिसके उदयसे आत्म-
दोषोंका संवरण और परदोषोंका आविष्करण होता है वह जुगुप्सा है । जिसके उदयसे स्त्रीसम्बन्धी
भावोंको प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है । जिसके उदयसे पुरुषसम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है वह
पुंवेद है और जिसके उदयसे नपुंसकसम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है वह नपुंसकवेद है ।

§ 751. अनन्तानुबन्धी आदिके विकल्पसे कषायवेदनीयके सोलह भेद हैं । यथा—क्रोध, मान,
माया और लोभ ये कषाय हैं । इनकी चार अवस्थाएँ हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानानावरण, प्रत्या-
ख्यानानावरण और संज्वलन । अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है तथा
जो कषाय उसके अर्थात् अनन्तके अनुबन्धी है वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं ।
जिनके उदयसे जिसका दूसरा नाम संयमासंयम है ऐसी देशविरतिको यह जीव स्वल्प भी करने-
में समर्थ नहीं होता है वे देशप्रत्याख्यानको आवृत्त करनेवाले अप्रत्याख्यानानावरण, क्रोध, मान,
माया और लोभ हैं । जिनके उदयसे संयम नामवाली परिपूर्ण विरतिको यह जीव करनेमें समर्थ
नहीं होता है वे सकल प्रत्याख्यानको आवृत्त करनेवाले प्रत्याख्यानानावरण क्रोध, मान, माया और
लोभ हैं । 'सं' एकीभाव अर्थमें रहता है । संयमके साथ अवस्थान होनेमें एक होकर जो ज्वलित
होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भावमें संयम चमकता रहता है वे संज्वलन क्रोध, मान,
माया और लोभ हैं । ये सब मिलकर सोलह कषाय होते हैं ।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । जो समी-
चीन दर्शन अर्थात् तत्त्वशुचिके होनेमें बाधक कर्म है वह दर्शनमोहनीय है और जो समीचीन श्रद्धा
के अनुकूल चारित्रके होनेमें बाधक कर्म है वह चारित्रमोहनीय है । दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व

1. —दयाद्विषयादि— म., ता., ना. ।
2. —अन्यदोषस्याधारणं दि. 1, दि. 2 । अन्यदोषाविष्करणं सा- ।
3. —दयात्स्त्रीणां भावा— आ., दि. 1, दि. 2 ।
4. —देकीभूता ज्व— आ., दि. 1, दि. 2, म. ।

आदिक तीन भेद हैं। मिथ्यात्व समीचीन दर्शनका प्रतिपक्ष कर्म है। यह जीव अनादि कालसे मिथ्यादृष्टि हो रहा है। इसे योग्य द्रव्यादिकका निमित्त मिलनेपर ही समीचीन दर्शनका श्रद्धान होता है। सर्वप्रथम यह श्रद्धान इसके प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व कर्मके उपशमसे ही होता है। साधारणतः संसारमें रहनेका काल जब अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण शेष रहता है तब यह होता है इसके पहले नहीं होता। इतने कालके शेष रहने पर होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। इससे भी कम कालके शेष रहने पर यह हो सकता है। इसका नाम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है समीचीन दर्शन। जैनदर्शनके अनुसार व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेवाला और आत्मदर्शन करानेवाला दर्शन समीचीन दर्शन माना गया है। जब इस प्रकारका सम्यग्दर्शन होता है तब इस दर्शनका प्रतिपक्षभूत कर्म तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है। जिनके नाम मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व होते हैं। प्रथमका वही काम है। दूसरा और तीसरा अपने नामानुसार काम करते हैं। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व मिश्र परिणामके होनेमें निमित्त होता है और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व समीचीन दर्शनरूप परिणामको सदोष बनानेमें निमित्त होता है। इस प्रकार एक मिथ्यात्व कर्म सम्यक्त्वका निमित्त पाकर तीन भागों में विभक्त हो जाता है, इसलिए बन्धकी अपेक्षा दर्शनमोहनीय एक होकर भी सत्ताकी अपेक्षा वह तीन प्रकारका माना गया है। मोहनीयका दूसरा भेद चारित्रमोहनीय है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेवाला दर्शन ही सम्यग्दर्शन है यह हम पहले बतला आये हैं। अतः हमारा इस दर्शनके अनुरूप जो आचार होता है वही सदाचार माना जा सकता है, अन्य नहीं। यही कारण है कि जैनदर्शनके अनुसार स्वावलम्बनके अनुरूप आचारको ही सदाचार कहा गया है। इसी सदाचारका दूसरा नाम सच्चारित्र है। जो कर्म इस सच्चारित्रके होनेमें बाधक होता है उसे ही आगममें चारित्रमोहनीय कहा है। इसके मूल भेद दो हैं—कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय। अकषायवेदनीय देशघाति कर्म होनेसे यह सम्यक् चारित्रको प्राप्तिमें बाधक नहीं है। कषायवेदनीयके चार भेद हैं। उनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ व्यक्तिस्वातन्त्र्यके अनुरूप स्वावलम्बनकी धाराका जीवनमें महत्त्व प्रस्थापित नहीं होने देता। इसीसे इसे अनन्त अर्थात् संसारका कारण कहा है। व्यक्तिस्वातन्त्र्य और स्वावलम्बनका अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा होनेपर स्वावलम्बनका महत्त्व अपने आप समझमें आने लगता है। यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति अपने जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा तो करे पर उसकी प्राप्तिके लिए जीवनको परावलम्बी बनाये रखनेकी ओर उसका झकाव हो। यही कारण है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्कको अनन्तका अनुबन्धी माना गया है। इस प्रकार जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्य और तदनुरूप स्वावलम्बनके प्रति अभिरुचि हो जानेपर व्यक्ति पूर्ण स्वावलम्बी बननेके लिए उद्यत होता है। किन्तु अनादिकालीन परतन्त्रताओंका वह युगपत् त्याग नहीं कर सकता, इसलिए जैसी-जैसी अन्तःशुद्धि होती जाती है तदनुरूप वह स्वावलम्बी बनता जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्तिके जीवनमें व्यक्तिस्वातन्त्र्य और उसके मार्ग स्वावलम्बनके प्रति पूर्ण श्रद्धाके होनेपर भी वह उसे जीवनमें उतारनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। इसका कारण जहाँ जीवनकी भीतरी कमजोरी माना गया है वहाँ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इस दशाके बनाये रखनेमें निमित्त हैं। यही कारण है कि इन कषायोंको आंशिक स्वावलम्बनका बाधक कहा है। और पूर्ण स्वावलम्बनमें बाधक कारण प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ माने गये हैं। संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ स्वावलम्बनके आचरणको सदोष तो करते हैं पर बाधक नहीं हो पाते। इस प्रकार मोहनीय और उसके अवान्तर भेदोंका क्या कार्य है इसका यहाँ संक्षेपमें विचार किया।

§ 752. मोहनीयानन्तरोद्देशभाज आयुष उत्तरप्रकृतिनिर्णयनार्थमाह—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥10॥

§ 753. नारकादिषु भवसंबन्धेतायुषो व्यपदेशः क्रियते । नरकेषु भवं नारकमायुः, तिर्यग्योनिषु भवं तैर्यग्योनम्, मानुषेषु भवं मानुषम्, देवेषु भवं दैवमिति । नरकेषु तीव्रशीतोष्ण-वेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकम् । एवं शेषेष्वपि ।

§ 754. आयुश्चतुर्विधं व्याख्यातम् । तदनन्तरमुद्दिष्टं यन्नामकर्म तदुत्तरप्रकृतिनिर्णयार्थ-माह—

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबंधनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानु-

पूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रस-

सुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥11॥

§ 755. यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः । सा चतुर्विधा—नरकगतिस्तिर्यग्यगति-मनुष्यगतिर्देवगतिश्चेति । यन्निमित्तं आत्मनो नारको भावस्तन्नरकगतिनाम् । एवं शेषेष्वपि योज्यम्^१ । तासु नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः । तन्निमित्तं जाति-

§ 752. मोहनीयके अनन्तर उद्देशभाक् आयु कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंका विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु हैं ॥10॥

§ 753. नारक आदि गतियोंमें भवके सम्बन्धसे आयुकर्मका नामकरण किया जाता है । यथा—नरकोंमें होनेवाली नारक आयु है, तिर्यग्योनिवालोंमें होनेवाली तैर्यग्योन आयु है, मनुष्योंमें होनेवाली मानुष आयु है और देवोंमें होनेवाली देवायु है । तीव्र शीत और उष्ण वेदनावाले नरकोंमें जिसके निमित्तसे दीर्घ जीवन होता है वह नारक आयु है । इसी प्रकार शेष आयुओंमें भी जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—दस प्राणोंमें आयु प्राण मुख्य है । यह जीवित रहनेका सर्वोत्कृष्ट निमित्त माना गया है । इसके सद्भावमें प्राणीका जीवन है और इसके अभावमें वह मरा हुआ माना जाता है । अन्नादिक तो आयुको कायम रखनेमें सहकारीमात्र हैं । भवधारण करनेका मुख्य कारण आयुकर्म ही है ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

§ 754. चार प्रकारके आयुका व्याख्यान किया । इसके अनन्तर जो नामकर्म कहा गया है उसकी उत्तर प्रकृतियोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

गति, जाति, शरीर, अंगोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोंके साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयशःकीर्ति और यशःकीर्ति एवं तीर्थकरत्वं ये व्याप्तीस नामकर्मके भेद हैं ॥11॥

§ 755. जिसके उदयसे आत्मा भवान्तरको जाता है वह गति है । वह चार प्रकारकी है—नरकगति, तिर्यग्यगति, मनुष्यगति और देवगति । जिसका निमित्त पाकर आत्माका नारक भाव होता है वह नरकगति नामकर्म है । इसी प्रकार शेष गतियोंमें भी योजना करनी चाहिए ।

1. —गतिर्देवगतिर्मनुष्यगतिश्चेति म् । 2. योज्यन्ते । तासु आ. ।

नाम । तत्पञ्चविधम्—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति । यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्दते तदेकेन्द्रियजातिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम । तत्पञ्चविधम्—औदारिक-शरीरनाम वैक्रियिकशरीरनाम आहारकशरीरनाम तैजसशरीरनाम कामणशरीरनाम चेति । तेषां विशेषो व्याख्यातः । यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम । तत् त्रिविधम्—औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम चेति । यन्निमित्तात्परि-निष्पत्तिस्तन्निर्माणम् । तद् द्विविधं—स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । तज्जातिनामोदयापेक्ष-चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति । निर्मोयतेऽनेनेति निर्माणम् । शरीरनामकर्मोदयवशादु-पात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्वन्धननाम । यदुदयादौदारिकादिशरी-राणां विवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेन एकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम । यदुदयादौदारिका-दिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम । तत् बोद्धा विभज्यते—समचतुरस्रसंस्थाननाम न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम स्वातिसंस्थाननाम कुब्जसंस्थाननाम वामनसंस्थाननाम हुण्डसंस्थान-नाम चेति । यस्योदयादस्थिवन्धनविशेषो भवति तत्संहनननाम । तत् षड्विधम्—वज्रपंभनाराच-संहनननाम वज्रनाराचसंहनननाम नाराचसंहनननाम अर्धनाराचसंहनननाम कीलिकासंहनननाम असंप्राप्तासृपाटिकासंहनननाम चेति । यस्योदयादस्पर्शप्रादुर्भावस्तत्स्पर्शननाम । तदष्टविधम्—

उन नरकादि गतियोंमें जिस अव्यभिचारो सादृश्यसे एकपने रूप अर्थ की प्राप्ति होती है वह जाति है । और इसका निमित्त जाति नामकर्म है । वह पाँच प्रकारका है—एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म, त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म । जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है । इसी प्रकार शेष जातियोंमें भी योजना करनी चाहिए । जिसके उदयसे आत्माके शरीरकी रचना होती है वह शरीर नामकर्म है । वह पाँच प्रकारका है—औदारिक शरीर नाम-कर्म, वैक्रियिक शरीर नामकर्म, आहारक शरीर नामकर्म, तैजस शरीर नामकर्म और कामण शरीर नामकर्म । इनका विशेष व्याख्यान पहले कर आये हैं । जिसके उदयसे अंगोपांगका भेद होता है वह अंगोपांग नामकर्म है । वह तीन प्रकारका है—औदारिक शरीर अंगोपांग नामकर्म, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म और आहारक शरीर अंगोपांग नामकर्म । जिसके निमित्तसे परिनिष्पत्ति अर्थात् रचना होती है वह निर्माण नामकर्म है । वह दो प्रकारका है—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण । वह जाति नामकर्मके उदयका अवलम्बन लेकर चक्षु आदि अवयवोंके स्थान और प्रमाण की रचना करता है । निर्माण शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—‘निर्मोयतेऽनेनेति निर्माणम्’ जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्माण कहलाता है । शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए पुद्गलोंका अन्योन्य प्रदेश संश्लेष जिसके निमित्तसे होता है वह बन्धन नामकर्म है । जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी छिद्र रहित होकर परस्पर प्रदेशोंके अनुप्रवेश द्वारा एकरूपता आती है वह संघात नामकर्म है । जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी आकृति बनती है वह संस्थान नामकर्म है । वह छह प्रकारका है—समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, न्यग्रोध-परिमण्डलसंस्थान नामकर्म, स्वातिसंस्थान नामकर्म, कुब्जकसंस्थान नामकर्म, वामनसंस्थान नामकर्म और हुण्डसंस्थान नामकर्म । जिसके उदयसे अस्थियोंका बंधन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है । वह छह प्रकारका है—वज्रपंभनाराचसंहनन नामकर्म, वज्रनाराचसंहनन नामकर्म, नाराचसंहनन नामकर्म, अर्धनाराचसंहनन नामकर्म, कीलिकासंहनन नामकर्म, और असंप्राप्ता-

1. कीलितसं— भु. 1. कीलितसं— दि. 2 । 2. —प्राप्तासृक्ना— आ., दि. 1, दि. 2 ।

कर्कशनाम मृदुनाम गुरुनाम लघुनाम स्निग्धनाम रूक्षनाम शीतनाम उष्णनाम चेति । यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम । तत्पञ्चविधम्—तिक्तनाम कटुकनाम कषायनाम आम्लनाम मधुरनाम चेति । यदुदयप्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम । तद्विविधम्—सुरभिगन्धनाम असुरभिगन्धनाम चेति । यद्वेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । तत्पञ्चविधम्—कृष्णवर्णनाम नीलवर्णनाम रक्तवर्णनाम हारिद्र² वर्णनाम शुक्लवर्णनाम चेति । पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यनाम । तच्चतुर्विधम्—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम चेति । यस्योदयादयःपिण्डवद् गुरुत्वान्नाथः पतति न चाकर्कतूलवल्लघुत्वाद्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । यस्योदयात्स्वयंकृतोद्बन्धन³ मरुप्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । यन्निमित्तः परशस्त्रादेर्व्याघातस्तत्परघातनाम । यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातपनाम । तदादित्ये वर्तते । यन्निमित्तमुद्योतनं तदुद्योतनाम । तच्चन्द्रबिम्बोद्योताविषु वर्तते । यद्वेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम । विहाय आकाशम् । तत्र गतिनिर्वर्तकं तद्विहायोगतिनाम । तद्विविधम्—प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम । यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत्त्रसनाम् । यन्निमित्त एकेन्द्रियेषु प्रादुर्भाव-

सृष्टाटिकासहनन नामकर्म । जिसके उदयसे स्पर्शकी उत्पत्ति होती है वह स्पर्श नामकर्म है । वह आठ प्रकारका है—कर्कश नामकर्म, मृदु नामकर्म, गुरु नामकर्म, लघु नामकर्म, स्निग्ध नामकर्म, रूक्ष नामकर्म, शीत नामकर्म और उष्ण नामकर्म । जिसके उदयसे रसमें भेद होता है वह रस नामकर्म है । वह पाँच प्रकारका है—तिक्त नामकर्म, कटु नामकर्म, कषाय नामकर्म, आम्ल नामकर्म और मधुर नामकर्म । जिसके उदयसे गंधकी उत्पत्ति होती है वह गंध नामकर्म है । वह दो प्रकारका है—सुरभिगन्ध नामकर्म और असुरभिगन्ध नामकर्म । जिसके निमित्तसे वर्णमें विभाग होता है वह वर्ण नामकर्म है । वह पाँच प्रकारका है—कृष्णवर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, रक्तवर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नामकर्म और शुक्लवर्ण नामकर्म । जिसके उदयसे पूर्व शरीरके आकारका विनाश नहीं होता है वह आनुपूर्व्य नामकर्म है । वह चार प्रकारका है—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म और देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म । जिसके उदयसे लोहेके पिण्डके समान गुरु होनेसे न तो नीचे गिरता है और न अर्कतूलके समान लघु होनेसे ऊपर जाता है वह अगुरुलघु नामकर्म है । जिसके उदयसे स्वयंकृत उद्बन्धन और मरुस्थलमें गिरना आदि निमित्तक उपघात होता है वह उपघात नामकर्म है । जिसके उदयसे परशस्त्रादिका निमित्त पाकर व्याघात होता है वह परघात नामकर्म है । जिसके उदयसे शरीरमें आतपकी रचना होती है वह आतप नामकर्म है । वह सूर्यबिम्बमें होता है । जिसके निमित्तसे शरीरमें उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है । वह चन्द्रबिम्ब और जुगुनू आदिमें होता है । जिसके निमित्तसे उच्छ्वास होता है वह उच्छ्वास नामकर्म है । विहायस्का अर्थ आकाश है । उसमें गतिका निर्वर्तक कर्म विहायोगति नामकर्म है । प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे वह दो प्रकारका है । शरीर नामकर्मके उदयसे रचा जानेवाला जो शरीर जिसके निमित्तसे एक आत्माके उपभोगका कारण होता है वह प्रत्येकशरीर नामकर्म है । बहुत आत्माओंके उपभोगका हेतुरूपसे साधारण शरीर जिसके निमित्तसे होता है वह साधारणशरीर नामकर्म है । जिसके उदयसे द्वीन्द्रियादिकमें जन्म होता है वह त्रस नामकर्म है । जिसके निमित्तसे एकेन्द्रियोंमें उत्पत्ति होती है वह स्थावर नामकर्म है । जिसके उदयसे अन्यजनप्रीतिकर अवस्था

1. --नाम सुरभिगन्ध- आ., दि. 1, दि. 2 । 2. हरिद्रवर्ण- मु. । 3. मरुप्र- मु. ।

स्तत्स्थानावरनाम । यदुदयादन्यप्रीतिप्रभवस्तत्सुभगनाम । यदुदयादरूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद् दुर्भगनाम । यन्निमित्तं मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्सुस्वरनाम । तद्विपरीतं दुःस्वरनाम । यदुदयाद-
रमणीयत्वं तच्छुभनाम । तद्विपरीतमशुभनाम । सूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मनाम । अन्यबाधाकर-
शरीरकारणं बादरनाम । यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिवृत्तिः तत्पर्याप्तिनाम । तत् षड्विधम्—
आहारपर्याप्तिनाम शरीरपर्याप्तिनाम इन्द्रियपर्याप्तिनाम प्राणापानपर्याप्तिनाम भाषापर्याप्तिनाम
मनःपर्याप्तिनाम चेति । षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम । स्थिरभावस्य निर्वर्तकं स्थिरनाम ।
तद्विपरीतमस्थिरनाम । प्रभोषेतशरीरकारणमादेयनाम । निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम । पुण्य-
गुणस्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम । तत्प्रत्यनीकफलमयशःकीर्तिनाम । आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्व-
नाम ।

होती है वह सुभग नामकर्म । जिसके उदयसे रूपादि गुणोंसे युक्त होकर भी अप्रीतिकर अवस्था
होती है वह दुर्भग नामकर्म है । जिसके निमित्तसे मनोज्ञ स्वरकी रचना होती है वह सुस्वर
नामकर्म है । इससे विपरीत दुःस्वर नामकर्म है । जिसके उदयसे रमणीय होता है वह शुभ नाम-
कर्म है । इससे विपरीत अशुभ नामकर्म है । सूक्ष्म शरीरका निर्वर्तक कर्म सूक्ष्म नामकर्म है ।
अन्य बाधाकर शरीरका निर्वर्तक कर्म बादर नामकर्म है ।

जिसके उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोंकी रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है ।
वह छह प्रकारका है—आहारपर्याप्ति नामकर्म, शरीरपर्याप्ति नामकर्म, इन्द्रियपर्याप्ति नाम-
कर्म, प्राणापानपर्याप्ति नामकर्म, भाषापर्याप्ति नामकर्म और मनःपर्याप्ति नामकर्म । जो छह
प्रकारकी पर्याप्तियोंके अभावका हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है । स्थिरभावका निर्वर्तक कर्म
स्थिर नामकर्म है । इससे विपरीत अस्थिर नामकर्म है । प्रभायुक्त शरीरका कारण आदेय
नामकर्म है । निष्प्रभ शरीरका कारण अनादेय नामकर्म है । पुण्य गुणोंकी प्रसिद्धिका कारण
यशःकीर्ति नामकर्म है । इससे विपरीत फलवाला अयशःकीर्ति नामकर्म है । आर्हन्त्यका कारण
तीर्थकर नामकर्म है ।

विशेषार्थ—यहाँ नामकर्मकी उत्तर प्रकृतियोंके कार्योंकी चर्चा की गयी है । मूल कर्म
आठ हैं । उनमें से सात कर्म जीवविपाकी माने गये हैं । नामकर्म जीवविपाकी और पुद्गल-
विपाकी दोनों प्रकारका है । जिन कर्मोंका विपाक जीवमें होता है वे जीवविपाकी हैं और जिनका
विपाक शरीरादि पुद्गलमें होता है वे पुद्गलविपाकी हैं । यह इनका शब्दार्थ है । इसे ध्यानमें
रखते हुए इनके अर्थकी विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है । साधारणतः सभी कर्म जीवके मोह, राग
द्वेष आदि परिणामोंका निमित्त पाकर बँधते हैं अतः उनका विपाक जीवमें ही होता है । अर्थात्
उनके उदयका निमित्त पाकर जीवमें तत्तत्प्रकारक योग्यताएँ आती हैं । फिर भी कर्मोंके जीव-
विपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी ऐसे भेद करनेका क्या कारण है यही
बात यहाँ देखनी है । जीवका संसार जीव और पुद्गल इन दोके मेलसे होता है । वहाँ रहते हुए
वह विविध गतियोंमें जन्म लेता है, मरता है और उनके अनुरूप नाना शरीरोंको धारण करता
है । यह सब अकारण नहीं हो सकता, इसलिए इनकी प्राप्तिके निमित्तभूत नाना प्रकारके कर्म
माने जाते हैं । जिनको शास्त्रमें भवविपाकी कहा है वे उस उस पर्यायमें अवस्थाविशेषके कारण
होनेसे उस संज्ञाको प्राप्त होते हैं । जिनको क्षेत्रविपाकी कहा है वे एक गतिसे दूसरी गतिके लिए
जाते समय अन्तरालमें जीवका आकार बनाये रखते हैं । जिन्हें पुद्गलविपाकी कहा है वे नाना
प्रकारके शरीर और भोगक्षम इन्द्रियोंकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं और जो जीवविपाकी कहे
हैं वे जीवके विविध प्रकारके परिणाम और उसकी विविध अवस्थाओंके होनेमें सहायता करते

§ 756. उक्तो नामकर्मण उत्तरप्रकृतिभेदः । तदनन्तरोद्देशभाजो गोत्रस्य प्रकृतिभेदो व्याख्यायते—

उच्चैर्नीचैश्च ॥12॥

§ 757. गोत्रं द्विविधम्—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म¹ तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयादर्गाहतेषु कुलेषु जन्म² तन्नीचैर्गोत्रम् ।

हैं और भवके अवस्थानके कारण भवविपाकी कर्म हैं ।

इस प्रकार कार्यभेदसे कर्मोंको इन चार भागोंमें विभक्त किया गया है । वस्तुतः सभी कर्म जीवकी उस उस कर्मके नामानुरूप योग्यताके होनेमें सहायता करते हैं और उस उस योग्यतासे युक्त जीव तदनुरूप कार्य करता है । उदाहरणार्थ—औदारिक शरीर नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिससे वह योगद्वारा शरीर निर्माणके लिए औदारिक वर्गणाओंको ही ग्रहण करता है, अन्य वर्गणाओंको नहीं । वज्रवर्षभनाराचसंहनन और समचतुर-स्रसंस्थान नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमें ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिससे वह ग्रहण की गयी औदारिक वर्गणाओंको उस रूपसे परिणमाता है । प्रश्न यह है कि पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयको निमित्त पाकर यदि जीवमें कर्मोंके नामानुरूप योग्यता उत्पन्न होती है तो फिर इन्हें पुद्गलविपाकी कर्म क्यों कहते हैं ? क्या ये कर्म जीवको माध्यम बनाकर ही अपना काम करते हैं ? इनका जो काम है वह यदि सीधा माना जाय तो क्या आपत्ति है ? उत्तर यह है कि जब तक जीवको औदारिक आदि नोकर्मवर्गणा का निमित्त नहीं मिलता है तब तक पुद्गल-विपाकी कर्म अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते हैं । इनका विपाक पुद्गलों का निमित्त पाकर होता है इसलिए इन्हें पुद्गलविपाकी कहते हैं । उदाहरणार्थ—कोई एक जीव दो मोड़ा लेकर यदि जन्म लेता है तो उसके प्रथम और द्वितीय विग्रहके समय शरीर आदि पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंका उदय नहीं होता है । तीसरे समयमें जब वह नवीन शरीरको ग्रहण करता है तभी उसके इन प्रकृतियोंका उदय होता है । इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि शरीर आदि नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पुद्गलविपाकी संज्ञा क्यों है । इसी प्रकार भवविपाकी और क्षेत्रविपाकी प्रकृतियोंके सम्बन्धमें भी स्पष्ट जानना चाहिए । भवकी कारणभूत जो आयुर्कर्मकी प्रकृतियाँ हैं और जिनका उदय तत्तत् भव तक ही सीमित है इसीसे इनकी भवविपाकी संज्ञा है । क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ मरणके बाद दूसरे भवके अन्तरालवर्ती क्षेत्रमें अपना काम करती हैं, इसलिए इनकी क्षेत्रविपाकी संज्ञा है । यद्यपि बाह्य सुषुप्तादिके निमित्तसे सातादि जीवविपाकी प्रकृतियोंका भी उदय देखा जाता है पर ये बाह्यनिमित्त उनके उदयमें अविनाभावी कारण नहीं हैं । कदाचित् इन बाह्य निमित्तोंके रहते हुए भी उनसे प्रतिकूल प्रकृतियोंका उदय देखा जाता है और कदाचित् इन निमित्तोंके अभावमें भी उनका उदय देखा जाता है, इसलिए बाह्य निमित्तोंकी प्रधानता न होनेसे सातादि प्रकृतियोंकी जीवविपाकी संज्ञा है । इस प्रकार सब कर्मप्रकृतियाँ कितने भागोंमें बटी हुई हैं और उनकी जीवविपाकी आदि संज्ञा होनेका क्या कारण है इसका विचार किया ।

§ 756. नामकर्मके उत्तर प्रकृतिविकल्प कहे । इसके बाद कहने योग्य गोत्रकर्मके प्रकृति-विकल्पोंका व्याख्यान करते हैं—

उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं ॥12॥

§ 757. गोत्रकर्म दो प्रकारका है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र । जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म होता है वह उच्चगोत्र है । जिसके उदयसे गर्हित कुलोंमें जन्म होता है वह नीच-गोत्र है ।

1. जन्मकारणं तदु— आ., दि. 1, दि. 2 । 2. जन्मकारणं तन्नी— आ. दि., 1, दि. 2 ।

§ 758. अष्टम्याः कर्मप्रकृतेरुत्तरप्रकृतिनिर्देशार्थमाह—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥13॥

§ 759. अन्तरायापेक्षया भेदनिर्देशः कियते—दानस्यान्तरायो लाभस्यान्तराय इत्यादि । दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तदव्यपदेशः । यदुदयादातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्साहितुकामोऽपि नोत्साहते त एते पञ्चान्तरायस्य भेदाः ।

§ 760. व्याख्याताः प्रकृतिबन्धविकल्पाः । इदानीं स्थितिबन्धविकल्पो वक्तव्यः । सा स्थितिद्विविधा—उत्कृष्टा जघन्या च । तत्र यासां कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः समाना तन्निर्देशार्थमुच्यते—

विशेषार्थः—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जिसके उच्चगोत्र का उदय होता है वह ऐसे माता पिता के यहाँ जन्म लेता है जहाँ सदाचारकी प्रवृत्ति हो या उस ओर झुकाव हो या ऐसी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियोंके साथ सम्पर्क हो । और जिसके नीचगोत्र कर्मका उदय होता है वह विरुद्ध प्रवृत्तिवाले माता पिताके यहाँ जन्म लेता है । कुल, गोत्र, सन्तान और परम्परा इनका एक अर्थ है । परम्परा दो प्रकारसे चलती है एक पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रमूलक परम्परा और दूसरी आचार-विचारमूलक परम्परा । यहाँ दूसरी प्रकारकी परम्परा ली गयी है । गोत्रका सम्बन्ध शरीर या रक्तसे न होकर जीवके आचार-विचारसे है । गोत्रकर्मको जीवविपाकी कहनेका कारण भी यही है । इस प्रकार गोत्रकर्म, उसके भेद और उनके स्वरूपका संक्षेपमें विचार किया ।

§ 758. आठवीं कर्म प्रकृतिकी उत्तर प्रकृतियोंका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इनके पाँच अन्तराय हैं ॥13॥

§ 759. यहाँ अन्तरायकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है । यथा—दानका अन्तराय, लाभका अन्तराय इत्यादि । इन्हें दानादि परिणामके व्याघातका कारण होनेसे यह संज्ञा मिली है । जिनके उदयसे देनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करनेकी इच्छा रखता हुआ भी नहीं प्राप्त करता है, भोगनेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग सकता है, उपभोग करनेकी इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं ले सकता है और उत्साहित होनेकी इच्छा रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है इस प्रकार ये पाँच अन्तरायके भेद हैं ।

विशेषार्थ जीवकी दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ हैं । अन्तरायकर्म इन पाँच जीवभावोंकी अभिव्यक्तिमें बाधक कारण है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । कहीं-कहीं अन्तराय कर्मके क्षय व क्षयोपशमका फल बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति कहा गया है पर वह उपचार कथन है । तत्त्वतः बाह्य सामग्री पर है । उसकी प्राप्ति जीवविपाकी अन्तराय कर्मके क्षय व क्षयोपशमका फल कहना उपचारकथन है । परमें स्वका भाव मिथ्यात्वका फल है और उसका स्वीकार कषायका फल है ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

§ 760. प्रकृतिबन्धके भेद कहे । इस समय स्थितिबन्धके भेद कहने चाहिए । वह स्थिति दो प्रकारकी है—उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति । उनमें जिन कर्मप्रकृतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति समान है उनका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदितस्ति सृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥14॥

§ 761. मध्येऽन्ते वा तिसृणां ग्रहणं माभूदिति 'आदितः' इत्युच्यते । 'अन्तरायस्य' इति वचनं व्यवहितग्रहणार्थम् । सागरोपममुक्तपरिमाणम् । कोटीनां कोटयः कोटीकोटयः । पर उत्कृष्टेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय इति । सा कस्य भवति ? मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य । अन्येषामागमात्संप्रत्ययः कर्तव्यः ।

§ 762. मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥15॥

§ 763. 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते । इयमपि परा स्थितिर्मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यावसेया । इतरेषां² यथागममवगमः कर्तव्यः ।

§ 764. नामगोत्रयोस्तुत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥16॥

आदिकी तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चारकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है ॥14॥

§ 761. बीचमें या अन्तमें तीन का ग्रहण न होवे इसलिए सूत्रमें 'आदितः' पद कहा है । अन्तरायकर्मका पाठ प्रारम्भके तीन कर्मोंके पाठसे व्यवहित है उसका ग्रहण करनेके लिए, 'अन्तरायस्य' वचन दिया है । सागरोपमका परिमाण पहले कह आये हैं । कोटियोंकी कोटि कोटाकोटि कहलाती है । पर शब्द उत्कृष्ट वाची है । उक्त कथनका यह अभिप्राय है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम होती है । शंका—यह उत्कृष्ट स्थिति किसे प्राप्त होती है ? समाधान—मिथ्यादृष्टि, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और पर्याप्तक जीवको प्राप्त होती है । अन्य जीवोंके आगमसे देखकर ज्ञान कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—कर्मोंकी स्थिति तीन प्रकारसे प्राप्त होती है—बन्धसे, संक्रमसे और सत्त्वसे । यहाँपर बन्धकी अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बतलायी गयी है । अतितीव्र संक्लेश परिणामोंसे मिथ्यादृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी तीस कोटाकोटि सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बाँधता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

§ 762. मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है ॥15॥

§ 763. इस सूत्रमें 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' पदकी अनुवृत्ति होती है । यह भी उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके जानना चाहिए । इतर जीवोंके आगमके अनुसार ज्ञान कर लेना चाहिए ।

§ 764. नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है ॥16॥

1. आदित उच्य— आ., दि. 1, दि. 2 । 2. —सेया । अन्येषां यथागममवगमः कर्तव्यः आ., दि. 1 ।

—सेया । इतरेषां यथागममवगन्तव्यम् ?

§ 765. 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते । इयमप्युत्कृष्टा स्थिति-
मिथ्यादृष्टेः संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकस्य । इतरेषां यथागममवबोद्धव्या ।

§ 766. अथायुषः कोत्कृष्टा स्थितिरित्युच्यते—

अथस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥17॥

§ 767. पुनः 'सागरोपम'ग्रहणं कोटीकोटीनिवृत्त्यर्थम् । 'परा स्थितिः' इत्यनुवर्तते ।
इयमपि पूर्वोक्तस्यैव । शेषाणामागमतोऽवसेया ।

§ 768. उक्तोत्कृष्टा स्थितिः । इदानीं जघन्या स्थितिर्वक्तव्या । तत्र समानजघन्य-
स्थितोः पांच प्रकृतीरवस्थाप्य तिसृणां जघन्यस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रद्वयमुपन्यस्यते लघ्वर्थम्—

अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥18॥

§ 769. अपरा जघन्या इत्यर्थः । वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः ।

नामगोत्रयोरष्टौ ॥19॥

§ 770. 'मुहूर्ता' इत्यनुवर्तते । 'अपरा स्थितिः' इति च ।

§ 771. अवस्थापितप्रकृतिजघन्यस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

§ 765. 'सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः' पदकी अनुवृत्ति होती है । यह भी उत्कृष्ट
स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके जानना चाहिए । इतर जीवोंके आगमके
अनुसार जान लेना चाहिए ।

§ 766. अब आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति क्या है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

आयुकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ॥17॥

§ 767. इस सूत्र में पुनः 'सागरोपम' पदका ग्रहण कोटीकोटी पदकी निवृत्तिके लिए
दिया है । यहाँ 'परा स्थितिः' पदकी अनुवृत्ति होती है । यह भी पूर्वोक्त जीवके होती है । शेष
जीवोंके आगमसे जान लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—यहाँ टीकामें आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी मिथ्यादृष्टि कहा
है । सो यह इस अभिप्रायसे कहा है कि मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव भी नरकायु
बन्धके योग्य उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंके होने पर नरकायुका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है ।
इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य गुणस्थानवालेके आयुकर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं होता ।
देवायुका तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सकल संश्रमके धारी सम्यग्दृष्टिके ही होता है ।
पर टीकाकारने यहाँ उसके कहनेकी विवक्षा नहीं की ।

§ 768. उत्कृष्ट स्थिति कही । अब जघन्य स्थिति कहनी चाहिए । उसमें समान जघन्य
स्थितिवाली पांच प्रकृतियोंको स्थगित करके थोड़ेमें कहनेके अभिप्रायसे तीन प्रकृतियोंकी जघन्य
स्थितिका ज्ञान करानेके लिए दो सूत्र कहते हैं—

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है ॥18॥

§ 769. अपरा अर्थात् जघन्य । यह वेदनीयकी बारह मुहूर्त है ।

नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है ॥19॥

§ 770. यहाँ 'मुहूर्ता' पदकी अनुवृत्ति होती है और 'अपरा स्थितिः' पदकी भी ।

§ 771. अब स्थगित की गयीं प्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिका कथन करनेके लिए आगे-
का सूत्र कहते हैं—

शेषाणामन्तर्मुहूर्तः ॥20॥

§ 772. शेषाणां पञ्चानां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तपरा स्थितिः । ज्ञानदर्शनावरणान्तरायणां जघन्या स्थितिः सूक्ष्मसांपराये, मोहनीयस्य अनिवृत्तिबादरसांपराये । आयुषः संख्येयवर्षायुष्यु¹ तिर्यक्षु मनुष्येषु च ।

§ 773. आह, उभयी स्थितिरभिहिता । ज्ञानावरणादीनाम् अयानुभवः क्लिप्तक्षणे इत्यत आह—

विपाकोऽनुभवः ॥21॥

§ 774. विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः । पूर्वोक्तकषायतीव्रमन्दादिभावास्त्वविशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः । अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः । असावनुभव इत्याख्यायते । शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः शुभप्रकृतीनां निकृष्टः । स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जनाम् । न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपद्यते । नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन ।

§ 775. आह अभ्युपेयः प्रागुपचितनानाप्रकारकर्मविपाकोऽनुभवः । इदं तु न विजानीमः

बाकीके पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥20॥

§ 772. शेष पाँच प्रकृतियोंकी अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें, मोहनीयकी जघन्य स्थिति अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थानमें और आयुकी जघन्य स्थिति संख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यचों और मनुष्योंमें प्राप्त होती है ।

§ 773. दोनों प्रकारकी स्थिति कही । अब ज्ञानावरणादिकके अनुभवका क्या स्वरूप है इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विपाक अर्थात् विविध प्रकारके फल देनेकी शक्तिका पड़ना ही अनुभव है ॥21॥

§ 774. विशिष्ट या नाना प्रकारके पाकका नाम विपाक है । पूर्वोक्त कषायोंके तीव्र, मन्द आदिरूप भावास्त्वके भेदसे विशिष्ट पाकका होना विपाक है । अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावलक्षण निमित्तभेदसे उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकारका पाक विपाक है । इसीको अनुभव कहते हैं । शुभ परिमाणोंके प्रकर्षभावके कारण शुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभव होता है और अशुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभव होता है । तथा अशुभ परिणामोंके प्रकर्षभावके कारण अशुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभव होता है और शुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट अनुभव होता है । इस प्रकार कारणवशसे प्राप्त हुआ वह अनुभव दो प्रकारसे प्रवृत्त होता है—स्वमुख-और परमुखसे । सब मूल प्रकृतियोंका अनुभव स्वमुखसे ही प्रवृत्त होता है । आयु, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके सिवा तुल्यजातीय उत्तरप्रकृतियोंका अनुभव परमुखसे भी प्रवृत्त होता है । नरकायुके मुखसे तिर्यचायु या मनुष्यायुका विपाक नहीं होता । और दर्शनमोह चारित्रमोहरूपसे और चारित्रमोह दर्शनमोहरूपसे विपाकको नहीं प्राप्त होता ।

§ 775. शंका—पहले संचित हुए नाना प्रकारके कर्मोंका विपाक अनुभव है यह हम

1. -युष्कति- मु. ।

किमयं प्रसंख्यातोऽप्रसंख्यातः ? इत्यत्रोच्यते प्रसंख्यातोऽनुभूयत इति ब्रूमहे । कुतः ? यतः—

स यथानाम ॥22॥

§ 776. ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावो दर्शनावरणस्यापि¹ फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येव-
माद्यन्वर्थसंज्ञानिर्देशात्सर्वसां कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानामनुभवसंप्रत्ययो जायते ।

§ 777. आह, यदि विपाकोऽनुभवः प्रतिज्ञायते, तत्कर्मनिभूतं सत्² किमाभरणवदवतिष्ठते
आहोस्विन्नित्यपीतसारं प्रच्यवते ? इत्यत्रोच्यते—

ततश्च निर्जरा ॥23॥

§ 778. पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत्पूर्वस्थितिक्षयादवस्थाना-
भावात्कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा । सा द्विप्रकारा—विपाकजा इतरा च । तत्र चतुर्गतावनेकजाति-
विशेषावधूर्णिते³ संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्त-
स्यानुभवोदयावलिस्तोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा । यत्कर्मा-
प्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेद्य वेद्यते आम्र-
पनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा । 'च' शब्दो निमित्तान्तरसमुच्चयार्थः । 'तपसा निर्जरा

स्वीकार करते हैं किन्तु यह नहीं जानते कि क्या यह प्रसंख्यात होता है या अप्रसंख्यात होता है ? समाधान—हम कहते हैं कि यह प्रसंख्यात अनुभवमें आता है । शंका—किस कारणसे । समाधान—यतः—

वह जि. कर्मका जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है ॥22॥

§ 776. ज्ञानावरणका फल ज्ञानका अभाव करना है । दर्शनावरणका भी फल दर्शन-
शक्तिका उपरोध करना है इत्यादि रूपमें सब कर्मोंकी सार्थक संज्ञाका निर्देश किया है अतएव
अपने अवान्तर भेदसहित उनमें किसका क्या अनुभव है इसका ज्ञान हो जाता है ।

§ 777. यदि विपाकका नाम अनुभव है ऐसा स्वीकार करते हो तो अनुभूत होने पर
वह कर्म आभरणके समान अवस्थित रहता है या फल भोग लेनेके बाद वह झर जाता है ? इस
बातकी बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

इसके बाद निर्जरा होती है ॥23॥

§ 778. जिस प्रकार भात आदिका मल निवृत्त होकर निर्जीण हो जाता है उसी प्रकार
आत्माको भला-बुरा फल देकर पूर्व प्राप्त स्थितिका नाश हो जानेसे स्थिति न रहनेके कारण
कर्मकी निवृत्तिका होना निर्जरा है । वह दो प्रकारकी है—विपाकजा और अविपाकजा । उसमें
अनेक जाति विशेषरूपी भँवर युक्त चार गतिरूपी संसार महासमुद्रमें चिरकाल तक परिभ्रमण
करनेवाले इस जीवके क्रमसे परिपाक कालको प्राप्त हुए और अनुभवोदयावलिरूपी सोतेमें
प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्मका फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है ।
तथा आम और पनस को औपक्रमिक क्रियाविशेषके द्वारा जिस प्रकार अकालमें पका लेते हैं
उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी औपक्रमिक क्रियाविशेषकी
सामर्थ्यसे उदयावलिके बाहर स्थित जो कर्म बलपूर्वक उदीरणाद्वारा उदयावलिमें प्रविष्ट कराके
अनुभवा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है । सूत्रमें 'च' शब्द अन्य निमित्तका समुच्चय करने-
के लिए दिया है । 'तपसा निर्जरा च' यह आगे कहेंगे, इसलिए 'च' शब्दके देनेका यह प्रयोजन
है कि पूर्वोक्त प्रकारसे निर्जरा होती है और अन्य प्रकारसे भी । शंका—यहाँ निर्जराका उल्लेख

1. --णस्य फलं मु. । 2. भूतं किमा --मु. । 3. --गूर्णिते आ., दि. 1, दि. 2 ।

च' इति वक्ष्यते ततश्च भवति अन्यतश्चेति सूत्रार्थो योजितः । किमर्थमिह निर्जरानिर्देशः क्रियते, संवरात्परा निर्देष्टव्या उद्देशवत् ? लघ्वर्थमिह वचनम् । तत्र हि पाठे 'विपाकोऽनुभवः' इति पुनरनुवादः कर्तव्यः स्यात् ।

किसलिए किया है, क्योंकि उद्देश्यके अनुसार उसका संवरके बाद उल्लेख करना ठीक होता ? समाधान—थोड़ेभे बोध करानेके लिए यहाँ निर्जराका उल्लेख किया है । संवरके बाद पाठ देने पर 'विपाकोऽनुभवः' इसका फिरसे अनुवाद करना पड़ता ।

विशेषार्थः—अनुभव, अनुभाग या फलदानशक्ति इनका एकही अर्थ है । कर्मका बन्ध होते समय जिस कर्मकी जो प्रकृति होती है उसके अनुरूप उसे फलदानशक्ति प्राप्त होती है । उदाहरणार्थ—ज्ञानावरणकी ज्ञानको आवृत करनेकी प्रकृति है, इसलिए इसे इसीके अनुरूप फलदान शक्ति प्राप्त होती है । प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है और अनुभवका अर्थ है उस स्वभावके अनुरूप उसे भोगना । साधारणतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि प्रकृति और अनुभवका यही अर्थ है तो इन्हें अलग-अलग मानना उचित नहीं है, क्योंकि जिस कर्मकी जैसी प्रकृति होगी उसके अनुरूप उसका भोग सुतरां सिद्ध है । इसलिए प्रकृतिबन्ध और अनुभवबन्ध ये दो स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होते, किन्तु अनुभवबन्धका अन्तर्भाव प्रकृतिबन्धमें ही हो जाता है । यदि कहा जाय कि ज्ञानावरण आदि रूपसे कर्मकी प्रकृति फलदानशक्तिके निमित्तसे होती है, इसलिए प्रकृतिबन्धमें अनुभवबन्धका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता सो इसका यह समाधान है कि जबकि प्रकृतिबन्धका कारण योग है और अनुभवबन्धकी हीनाधिकताका कारण कषाय है तब फिर फलदान शक्तिके निमित्तसे कर्मकी प्रकृति बनती है यह कैसे माना जा सकता है । थोड़ी देरको यह मान भी लिया जाय तब भी यह प्रश्न खड़ा रहता है कि प्रकृतिबन्ध और अनुभवबन्धको अलग अलग क्यों माना गया है और उनके अलग अलग माननेके योग और कषाय दो स्वतन्त्र कारण क्यों बतलाये गये हैं । सूत्रकारने बन्धके चार भेद करके भी विपाक अर्थात् कर्मभोगको अनुभव कहा है और उसे प्रकृतिके अनुरूप बतलाया है । इससे तो यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः ये दो नहीं हैं, किन्तु बन्ध समयकी अपेक्षा जिसका नाम प्रकृति है उदयकाल की अपेक्षा उसे ही अनुभव कहते हैं ? समाधान यह है कि कर्मबन्धके समय कर्मका विविधरूपसे विभाग योगके निमित्तसे ही होता है और विभागको प्राप्त हुए कर्मोंमें हीनाधिक फलदानशक्ति का प्राप्त होना कषायके निमित्तसे होता है, इसलिए ये दोनों स्वतन्त्र माने गये हैं । यद्यपि यह ठीक है कि बिना शक्तिके किसी कर्मकी प्रकृति नहीं बन सकती । स्वतन्त्र प्रकृति कहनेसे उसकी शक्तिका बोध हो ही जाता है, फिर भी ऐसी शक्तिकी एक सोमा होती है । उसका उल्लंघन कर जो न्यूनाधिक शक्ति पायी जाती है उसीका बोध कराना अनुभागबन्धका काम है । उदाहरणार्थ ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें सातावेदनीयका प्रकृतिबन्ध होता है और यह प्रकृतिबन्ध एक नियत मर्यादामें अनुभागको लिये ही होता है, फिर भी यहाँ अनुभागबन्धका निषेध किया गया है सो इसका कारण यह है कि जो अनुभाग सकषाय अवस्थामें सातावेदनीयका प्राप्त होता था वह यहाँ प्राप्त नहीं होता है । सकषाय अवस्थामें प्राप्त होनेवाले जघन्य अनुभागसे भी यह अनन्तर्वे भागमात्र होता है । इतना कम अनुभाग सकषाय अवस्थामें नहीं प्राप्त हो सकता । इससे प्रकृतिबन्धसे अनुभागबन्धके अलग कहनेकी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह है कि प्रकृतिबन्धमें कर्मभेद को स्वीकार करके भी न्यूनाधिक फलदान शक्ति नहीं स्वीकार की गयी है, किन्तु अनुभागबन्धमें इसका और इसके कारणका स्वतन्त्र रूपसे विचार किया जाता है, इसलिए प्रकृतिबन्ध और उसका कारण स्वतन्त्र है तथा अनुभागबन्ध और

§ 779. आह अभिहितोऽनुभवबन्धः । इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्यः । तस्मिन् च वक्तव्ये सति इमे निर्देष्टव्याः—किं हेतवः कदा कुतः किं स्वभावाः कस्मिन् किं परिमाणाश्चेति ? तदर्थं मिदं क्रमेण परिगृहीतप्रश्नापेक्षभेदं सूत्रं प्रणीयते—

उसका कारण स्वतन्त्र है यह निश्चित होता है । अब रही सूत्रकारके विपाकको अनुभव कहनेकी बात सो इस कथनमें भी यही अभिप्राय छिपा हुआ है । सब जीवोंका विपाक एक प्रकारका नहीं होता, वह न्यूनाधिक देखा जाता है और विपाककी यह न्यूनाधिकता अकारण नहीं हो सकती । यही कारण है कि सूत्रकार अनुभवबन्धकी स्वतन्त्र परिगणना करते हैं और उसकी पुष्टि विपाकके द्वारा दिखलाते हैं । इस प्रकार अनुभवबन्ध क्या है और उसे स्वतन्त्र क्यों कहा इसका विचार किया ।

फिर भी यह अनुभाग बन्धकालमें जैसा प्राप्त होता है एकान्ततः वैसा ही नहीं बना रहता है । अपने अवस्थान कालके भीतर वह बदल भी जाता है और नहीं भी बदलता है । बदलनेमें इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण । संक्रमण अवान्तर प्रकृतियोंमें होता है, मूल प्रकृतियोंमें नहीं होता । उसमें भो आयुक्रमकी अवान्तर प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता और दर्शनमोहनीयका चारित्रमोहनीय रूपसे तथा चारित्रमोहनीयका दर्शनमोहनीयरूपसे संक्रमण नहीं होता । संक्रमणके चार भेद हैं—प्रकृतिसंक्रमण, स्थितिसंक्रमण, अनुभागसंक्रमण और प्रदेशसंक्रमण । जहाँ प्रकृतिसंक्रमण और प्रदेशसंक्रमणकी मुख्यता होती है वहाँ वह संक्रमण शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है और जहाँ मात्र स्थितिसंक्रमण अनुभागसंक्रमण होता है वहाँ वह उत्कर्षण और अपकर्षण शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है । बन्धकालमें जो स्थिति और अनुभाग प्राप्त होता है उसमें कमी होना अपकर्षण है और घटी हुई स्थिति व अनुभागमें वृद्धि होना उत्कर्षण है । इस प्रकार विविध अवस्थाओंमेंसे गुजरते हुए उदयकालमें जो अनुभाग रहता है उसका परिपाक होता है । अनुदय अवस्थाको प्राप्त प्रकृतियोंका परिपाक उदय अवस्थाको प्राप्त सत्तातीय प्रकृतिरूपसे होता है । इसके विषयमें यह नियम है कि उदयवाली प्रकृतियोंका फल स्वमुखसे मिलता है और अनुदयवाली प्रकृतियोंका फल परमुखसे मिलता है । उदाहरणार्थ—साताका उदय रहने पर उसका भोग सातारूपसे ही होता है, किन्तु तब असाता स्तिबुक संक्रमण द्वारा सातारूपसे परिणमन करती रहती है, इसलिए इसका उदय परमुखसे होता है । उदय कालके एक समय पहले अनुदयरूप प्रकृतिके निषेकका उदयको प्राप्त हुई प्रकृतिरूपसे परिणम जाना स्तिबुक संक्रमण है । जो प्रकृति प्राँ जिस कालमें उदयमें नहीं होती हैं, किन्तु सत्तारूपसे विद्यमान रहती हैं उन सबका प्रति समय इसी प्रकार परिणमन होता रहता है ।

घाति और अघातिके भेदसे अनुभाग दो प्रकारका होता है । लता, दारु, अस्थि और शैल यह चार प्रकारका घाति प्रकृतियोंका अनुभाग है । अघाति प्रकृतियोंके पुण्य और पाप ऐसे दो भेद हैं । पुण्य प्रकृतियोंका अनुभाग गुड़, खाँड़, शर्करा और अमृत इन चार भागोंमें बँटा हुआ है तथा निम्ब, कांजीर, विष और हलाहल यह चार प्रकारका पाप प्रकृतियोंका अनुभाग है । इस प्रकार सामान्यरूपसे अनुभागबन्धका विचार किया ।

§ 779. अनुभवबन्धका कथन किया ! अब प्रदेशबन्धका कथन करना है । उसका कथन करते समय इतनी बातें निर्देश करने योग्य हैं—प्रदेशबन्धका हेतु क्या है, वह कब होता है, उसका निमित्त क्या है, उसका स्वभाव क्या है, वह किसमें होता है और उसका परिणमन क्या है । इस प्रकार क्रमसे इन प्रश्नोंको लक्ष्यमें रखकर आगेका सूत्र कहते हैं—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः

सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥24॥

§ 780. नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्ययाः 'नाम' इति सर्वाः कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते; 'स यथानाम' इति वचनात् । अनेन हेतुभावेन उक्तः । सर्वेषु भवेषु सर्वतः 'दृश्यन्ते अन्यतोऽपि' इति तसि कृते सर्वतः । अनेन कालोपादानं इति कृतम् । एकैकस्य हि जीवस्यातिक्रान्ता¹ अनन्ता भवा आगामिनः संख्येया असंख्येया² अनन्तानन्ता वा भवन्तीति । योगविशेषान्निमित्तात्कर्मभावेन पुद्गला आदीयन्त इति निमित्तविशेषनिर्देशः कृतो भवति । 'सूक्ष्म' आदिग्रहणं कर्मग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्तनार्थम्, ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति । 'एकक्षेत्रावगाह'वचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् । 'स्थिताः' इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम्, स्थिता न गच्छन्त इति । 'सर्वात्मप्रदेशेषु' इति वचनमाधारनिर्देशार्थं नैकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा वर्तन्ते । क्व तर्हि ? ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च सर्वेष्व्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति । 'अनन्तानन्तप्रदेश'वचनं परिमाणान्तरव्यवहारार्थम्, न संख्येया न चासंख्येया नाप्यनन्ता इति । ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः सिद्धान्तभागप्रमितप्रदेशा घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिन एकद्वित्रिचतुःसंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्णपञ्चरस-द्विगन्ध-चतुःस्पर्शस्त्रभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोंया योगवशादा³त्मनात्मसात्क्रियन्ते । इति प्रदेश-बन्धः समासतो वेदितव्यः ।

कर्म प्रकृतिपौके कारणभूत प्रति समय योगविशेषसे सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशोंमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते हैं ॥24॥

§ 780. नामप्रत्ययाः—नामके कारणभूत कर्मपरमाणु नामप्रत्यय कहलाते हैं । 'नाम' इस पद द्वारा सब कर्मप्रकृतियाँ कही जाती हैं । जिसकी पुष्टि 'स यथानाम' इस सूत्रवचनसे होती है । इस पदद्वारा हेतुका कथन किया गया है । सर्वतः—प्रदेशबन्ध सब भवोंमें होता है । 'सर्वेषु भवेषु इति सर्वतः' यह इसकी व्युत्पत्ति है । सर्व शब्दसे 'दृश्यन्ते अन्यतोऽपि' इस सूत्र द्वारा तसि प्रत्यय करनेपर सर्वतः पद बनता है । इस पदद्वारा कालका ग्रहण किया गया है । एक-एक जीवके व्यतीत हुए अनन्तानन्त भव होते हैं और आगामी संख्यात, असंख्यात व अनन्तानन्त भव होते हैं । योगविशेषात्—योगविशेषरूप निमित्तसे कर्मरूप पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं । इस पद द्वारा निमित्तविशेषका निर्देश किया गया है । कर्मरूपसे ग्रहण योग्य पुद्गलोंका स्वभाव दिखलानेके लिए सूक्ष्म आदि पदका ग्रहण किया है । ग्रहणयोग्य पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं होते । क्षेत्रान्तरका निराकरण करनेके लिए 'एकक्षेत्रावगाह' वचन दिया है । क्रियान्तरकी निवृत्तिके लिए 'स्थिताः' वचन दिया है । ग्रहणयोग्य पुद्गल स्थित होते हैं गमन करते हुए नहीं । आधार-निर्देश करनेके लिए 'सर्वात्मप्रदेशेषु' वचन दिया है । एकप्रदेश आदिमें कर्मप्रदेश नहीं रहते । फिर कहाँ रहते हैं ? ऊपर, नीचे, तिरछे सब आत्मप्रदेशोंमें व्याप्त होकर स्थित होते हैं । दूसरे परिमाणका वारण करनेके लिए अनन्तानन्तप्रदेश वचन दिया है । ये न संख्यात होते हैं, न असंख्यात होते हैं और न अनन्त होते हैं । अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण संख्यावाले, घनाङ्गुलके असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्रकी अवगाहनावाले, एक, दो, तीन, चार, संख्यात और असंख्यात समयकी स्थितिवाले तथा पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श-वाले वे आठ प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके योग्य कर्मस्कन्ध योगविशेषसे आत्माद्वारा आत्मसात् किये जाते हैं । इस प्रकार संक्षेपमें प्रदेशबन्ध जानना चाहिए ।

1. --क्रान्ता अनन्तातन्ता भवाः ता., ना. । 2. --असंख्येया अनन्ता वा ता., ना. । 3. वशादात्मसा- आ. ।

§ 781. आह; बन्धपदार्थान्तरं पुण्यपापोपसंख्यानं चोदितं तद्वन्धेऽन्तर्भूतमिति प्रत्याख्यातम् । तत्रेदं वक्तव्यं कोऽत्र पुण्यबन्धः कः पापबन्ध इति । तत्र 'पुण्यप्रकृतिपरिगणनार्थमिदमारभ्यते—

सद्वैद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥25॥

§ 782. शुभं प्रशस्तमिति यावत् । तदुत्तरं प्रत्येकमभिसंबध्यते शुभमायुः शुभं नाम शुभं गोत्रमिति । शुभायुस्त्रितयं तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति । शुभनाम सप्तत्रिंशद्विकल्पम् । तद्यथा—मनुष्यगतिर्देवगतिः पंचेन्द्रियजातिः पंच शरीराणि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शा मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्यद्वयमगुरुलघुपरघातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगस्यत्रसवादरपर्याप्तिप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तयो निर्माणं तीर्थकरनाम चेति । शुभमेकमुच्चगोत्रं, सद्वैद्यमिति । एता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः 'पुण्य'संज्ञाः ।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें प्रदेशबन्धका विचार किया गया है । जो पुद्गल परमाणु कर्मरूपसे ग्रहण किये जाते हैं वे ज्ञानावरण आदि आठ या सात प्रकारसे परिणमन करते हैं । उनका ग्रहण संसार अवस्थामें सदा होता रहता है । ग्रहणका मुख्य कारण योग है । वे सूक्ष्म होते हैं । जिस क्षेत्रमें आत्मा स्थित होता है उसी क्षेत्रके कर्मपरमाणुओंका ग्रहण होता है, अन्यका नहीं । उसमें भी स्थित कर्मपरमाणुओंका ही ग्रहण होता है, अन्यका नहीं । ग्रहण किये गये कर्मपरमाणु आत्माके सब प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं और वे अनन्तानन्त होते हैं यह इस सूत्रका भाव है । इससे प्रदेशबन्धकी सामान्य रूपरेखा और उसके कारणका ज्ञान हो जाता है ।

§ 781. बन्ध पदार्थके अनन्तर पुण्य और पापकी गणना की है और उसका बन्धमें अन्तर्भाव किया है, इसलिए यहाँ यह बतलाना चाहिए कि पुण्यबन्ध क्या है और पापबन्ध क्या है । उसमें सर्वप्रथम पुण्य प्रकृतियोंकी परिगणना करनेके लिए यह सूत्र आरम्भ करते हैं—

साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ॥25॥

§ 782. शुभका अर्थ प्रशस्त है । यह आगेके प्रत्येक पदके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है । यथा—शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र । शुभ आयु तीन हैं—तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु । शुभ नामके संतीस भेद हैं । यथा—मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त रस, प्रशस्त गन्ध और प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये दो, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थकर । एक उच्च गोत्र शुभ है और सातावेदनीय ये बयालीस प्रकृतियाँ पुण्यसंज्ञक हैं ।

विशेषार्थ—यहाँ बयालीस पुण्य प्रकृतियाँ गिनायी हैं । प्रशस्त परिणामोंसे जिनमें अधिक अनुभाग प्राप्त होता है वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं । यह लक्षण इन प्रकृतियोंमें धटित होता है इसलिए ये पुण्य प्रकृतियाँ मानी गयी हैं । बन्धकी अपेक्षा कुल प्रकृतियाँ 120 परिगणित की जाती हैं । इसी अपेक्षासे यहाँ बयालीस संख्या निर्दिष्ट की गयी है । यहाँ वर्णादिकके अवान्तर भेद बीस न गिना कर कुल चार भेद गिनाये हैं । तत्त्वार्थभाष्यकार आचार्य गृह्यपिच्छने सम्यक्त्वप्रकृति, हास्य, रति और पुरुषवेद इन चारकी भी पुण्यप्रकृतियोंमें परिगणना की है । तथा वीरसेन स्वामीने जयध्वला टीकामें भी इन्हें पुण्यप्रकृतियाँ सिद्ध किया है । इस प्रकार कुल पुण्यप्रकृतियाँ कितनी हैं इसका निर्देश किया ।

1. पुण्यबन्धप्रकृ- मु. ।

अतोऽन्यत्पापम् ॥26॥

§ 783. अस्मात्पुण्यसंज्ञिकर्मप्रकृतिसमूहादन्यत्कर्म 'पापम्' इत्युच्यते । तद् द्वयशीति-विधम् । तद्यथा—ज्ञानावरणस्य प्रकृतयः पञ्च दर्शनावरणस्य नव मोहनीयस्य षड्विंशतिः पञ्चान्त-रायस्य नरकगतितिर्यग्गती चतस्रो जातयः पञ्च संस्थानानि पञ्च संहननान्यप्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शा नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयमुपघाताप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तिसाधारणशरीरास्थि-राशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तयश्चेति नामप्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत् । असद्वैद्यं नरकायुर्नोच्चर्गोत्र-मिति । एवं व्याख्यातः सप्रपञ्चो बन्धपदार्थः । अवधिमतःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्त-दुपदिष्टागमानुमेयः ।

इति तत्त्वार्थवृत्तो सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायामष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥8॥

इनके सिवा शेष सब प्रकृतियाँ पापरूप हैं ॥26॥

§ 783. इस पुण्यसंज्ञावाले कर्मप्रकृतिसमूहसे जो भिन्न कर्मसमूह है वह पापरूप कहा जाता है । वह बयासी प्रकारका है । यथा—ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियाँ, मोहनीयकी छबीस प्रकृतियाँ, अन्तरायकी पाँच प्रकृतियाँ, नरकगति, तिर्यचगति, चार जाति, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त गन्ध और अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यग्गत्यानुपूर्वी ये दो, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशः-कीर्ति ये नामकर्मको चौतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र । इस प्रकार विस्तार के साथ बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया । यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल-ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है ।

विशेषार्थ—यहाँ पाप-प्रकृतियाँ कौन-कौन हैं इनका नाम निर्देश किया गया है । अप्रशस्त परिणामोंके निमित्तसे जिनमें अधिक अनुभाग प्राप्त होता है वे पाप प्रकृतियाँ हैं । यहाँ पाप प्रकृतियाँ कुल बयासी गिनायी हैं । पाँच बन्धन और संघात इनका पाँच शरीरोंमें अन्तर्भाव हो जाता है तथा मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय ये दो बन्ध प्रकृतियाँ नहीं हैं । और वर्णादि बीस प्रशस्त भी होते हैं और अप्रशस्त भी । यही कारण है कि इन्हें पुण्य प्रकृतियोंमें भी गिनाया है और पाप प्रकृतियोंमें भी । इस प्रकार कुल बयासी पाप प्रकृतियाँ होती हैं जिनका नामनिर्देश टीकामें किया ही है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिसंज्ञक तत्त्वार्थवृत्तिमें आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥8॥

अथ नवमोऽध्यायः

§ 784. बन्धपदार्थो निर्दिष्टः । इदानीं तदनन्तरोद्देशभाजः संवरस्य निर्देशः प्राप्तकाल इत्यत इदमाह—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

§ 785. अभिनवकर्मादानहेतुरास्रवो व्याख्यातः । तस्य निरोधः संवर इत्युच्यते । स द्वित्रिधो भावसंवरो द्रव्यसंवरश्चेति । तत्र संसारनिमित्तक्रिया निवृत्तिर्भासंवरः । तन्निरोधो तत्पूर्वकर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः ।

§ 786. इदं विचार्यते—कस्मिन् गुणस्थाने कस्य संवर इति ? अत्र उच्यते—मिथ्यादर्शनकर्मादयवशीकृत आत्मा मिथ्यादृष्टिः । तत्र मिथ्यादर्शनप्राधान्येन यत्कर्म आस्रवति तन्निरोधाच्छेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति । किं पुनस्तत् ? मिथ्यास्वनपुंसकवेदनरकामुनरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजतिहुण्डसंस्थानासंप्राप्तासृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणशरीरसंज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम् ।

§ 787. असंयमस्त्रिविधः ; अनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् । तत्प्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे संवरोऽवसेयः । तद्यथा—निदानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिअनन्तानुबन्धीक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यग्मायुस्तिर्यग्गतिचतुःसंस्थानचतुःसंहननतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योऽधो-

§ 784. बन्ध पदार्थका निर्देश किया । इस समय उसके बाद कहने योग्य संवर पदार्थके निर्देशका समय आ गया है, इसलिए यह सूत्र कहते हैं—

आस्रवका निरोध संवर है ॥१॥

§ 785. नूतन कर्मके ग्रहणमें हेतुरूप आस्रवका व्याख्यान किया । उसका निरोध होना संवर है । वह दो प्रकारका है—भाव संवर और द्रव्य संवर । संसारकी निमित्तभूत क्रियाकी निवृत्ति होना भावसंवर है और इसका (संसारकी निमित्तभूत क्रियाका) निरोध होनेपर तत्पूर्वक होनेवाले कर्म-पुद्गलोंके ग्रहणका विच्छेद होना द्रव्यसंवर है ।

§ 786. अब इस बातका विचार करना है कि किस गुणस्थानमें किस कर्मप्रकृतिका संवर होता है, इसलिए इसी बातको आगे कहते हैं—जो आत्मा मिथ्यादर्शन कर्मके उदयके आधीन है वह मिथ्यादृष्टि है । इसके मिथ्यादर्शनकी प्रधानतासे जिस कर्मका आस्रव होता है उसका मिथ्यादर्शनके अभावमें शेष रहे सासादनसम्यग्दृष्टि आदिमें संवर होता है । वह कर्म कौन है ? मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकामु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रिन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डसंस्थान, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर यह सोलह प्रकृतिरूप कर्म हैं ।

§ 787. असंयमके तीन भेद हैं—अनन्तानुबन्धीका उदय, अप्रत्याख्यानानावरणका उदय और प्रत्याख्यानानावरणका उदय । इसलिए इसके निमित्तसे जिस कर्मका आस्रव होता है उसका इसके अभावमें संवर जानना चाहिए । यथा—अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होनेवाले असंयमकी मुख्यतासे आस्रवको प्राप्त होनेवाली निदानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यचायु,

1 तन्निरोधेन तत्पू-- ता, ना. । 2, इति । उच्य-- मु. ।

ताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुःस्वरानादेयनीचर्गोत्रसंज्ञिकानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तानुबन्ध-
कषायोदयकृतासंयमप्रधानास्त्रवाणामेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्टयन्ता बन्धकाः । तदभावे
तासामुत्तरत्र संवरः । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभमनुष्यायुर्मनुष्यगतिौदारिकशरीरतद-
ङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नां दशानां प्रकृतीनामप्रत्याख्यानकषा-
योदयकृतासंयमहेतुकानामेकेन्द्रियादयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयन्ता बन्धकाः । तदभावाद्दूर्ध्वं तासां संवरः ।
सम्यग्मिथ्यात्वगुणेनायुर्न बध्यते । प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां चतसृणां प्रकृतीनां
प्रत्याख्यानकषायोदयकारणासंयमास्त्रवाणामेकेन्द्रियप्रभृतयः संयतासंयतावसाना बन्धकाः । तद-
भावादुपरिष्ठात्तासां संवरः । प्रमादोपनीतस्य तदभावे निरोधः । प्रमादेनोपनीतस्य कर्मणः प्रमत्त-
संयताद्दूर्ध्वं तदभावान्निरोधः प्रत्येतव्यः । किं पुनस्तत् । असद्वेद्यारतिशोकास्थिराशुभायशःकीर्ति-
विकल्पम् । देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः । तद्दूर्ध्वं तस्य संवरः ।
कषाय एवास्त्रवो यस्य कर्मणो न प्रमादादिः तस्य तन्निरोधे निरासोऽवसेयः । स च कषायः प्रमादा-
दिविरहितस्तोत्रमध्यमजघन्यभावेन त्रिषु गुणस्थानेषु व्यवस्थितः । तत्रापूर्वकरणस्यादौ संख्येयभागे
द्वे कर्मप्रकृती निद्राप्रचले बध्येते । तत् ऊर्ध्वं संख्येयभागे त्रिंशत् प्रकृतयो देवगतिपञ्चेन्द्रियजाति-
वैक्रियिकाहारकर्तृजसकर्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानवैक्रियिकाहारकशरीरांगोपांगवर्णगंधरसस्पर्श

तिर्यचगति, मध्यके चार संस्थान, मध्यके चार संहनन, तिर्यचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत,
अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र इन पञ्चीस प्रकृतियोंका एकेन्द्रिय-
से लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव बन्ध करते हैं, अतः अनन्तानुबन्धीके उदयसे
होनेवाले असंयमके अभावमें आगे इनका संवर होता है । अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे
होनेवाले असंयमकी मुख्यतासे आस्त्रवको प्राप्त होनेवाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्या-
नावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ; मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदा-
रिकशरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रर्षभनाराच संहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी इन दश
प्रकृतियोंका एकेन्द्रियोंसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव बन्ध करते हैं, अतः
अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमका अभाव होनेपर आगे इनका संवर होता
है । सम्यग्मिथ्यात्व गुणके होनेपर आयुर्कर्मका बन्ध नहीं होता यहाँ इतनी विशेष बात है । प्रत्या-
ख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमसे आस्त्रवको प्राप्त होनेवाली प्रत्याख्यानावरण
क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका एकेन्द्रियोंसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक
के जीव बन्ध करते हैं, अतः प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमके अभावमें आगे
इनका संवर होता है । प्रमादके निमित्तसे आस्त्रवको प्राप्त होनेवाले कर्मका उसके अभावमें संवर
होता है । जो कर्म प्रमादके निमित्तसे आस्त्रवको प्राप्त होता है उसका प्रमत्तसंयत गुणस्थानके
आगे प्रमाद न रहनेके कारण संवर जानना चाहिए । वह कर्म कौन है ? असातावेदनीय, अरति,
शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीतिरूप प्रकृतियोंके भेदसे वह कर्म छह प्रकारका है । देवायु-
के बन्धका आरम्भ प्रमादहेतुक भी होता है और उसके नजदीकका अप्रमादहेतुक भी, अतः इसका
अभाव होनेपर आगे उसका संवर जानना चाहिए । जिस कर्मका मात्र कषायके निमित्तसे
आस्त्रव होता है प्रमादादिकके निमित्तसे नहीं उसका कषायका अभाव होनेपर संवर जानना
चाहिए । प्रमादादिकके अभावमें होनेवाला वह कषाय तीव्र, मध्यम और अजघन्यरूपसे तीन गुण-
स्थानोंमें अवस्थित है । उनमेंसे अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रारम्भिक संख्येय भागमें निद्रा और
प्रचला ये दो कर्मप्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं । इससे आगे संख्येय भागमें देवगति, पंचेन्द्रिय
जाति, वैक्रियिक शरीर, अहारक शरीर, तैजस शरीर, कर्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान,

देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुलघूषघातपरघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसवादरपर्याप्तप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थकराख्या बध्यन्ते । तस्यैव चरमसमये चतस्रः प्रकृतयो हास्य-रतिभयजुगुप्सासंज्ञा बन्धमुपयान्ति । ता एतारतीव्रकषायाल्पवास्तदभावाग्निहिष्ठाद्भागादूर्ध्वं संव्रियन्ते । अनिवृत्तिबादरसांपरायस्यादिसमयादारभ्य संख्येयेषु भागेषु पुंवेदक्रोधसंज्वलनौ बध्येते । तत ऊर्ध्वं शेषेषु संख्येयेषु भागेषु मानसंज्वलनमायासंज्वलनौ बन्धमुपगच्छतः । तस्यैव चरमसमये लोभसंज्वलनो बन्धमेति । ता एताः प्रकृतयो मध्यमकषायाल्पवास्तदभावे निर्दिष्टस्य भागस्योपरिष्ठात्संवरमाप्नुवन्ति । पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां यशःकीर्तिसूक्ष्म-गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायाल्पवाणां सूक्ष्मसांपरायो बन्धकः । तदभावादुत्तरत्र² तेषां संवरः । केवलेनैव योगेन सत्त्वस्योपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगानां बन्धो भवति । तद-भावादयोगकेवलिनस्तस्य संवरो भवति ।

§ 788. उक्तः संवरस्तद्धेतु³प्रतिपादनार्थमाह—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रः ॥2॥

वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्या-नुपूर्वी, अगुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक-शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थकर ये तीस प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं । तथा इसी गुणस्थानके अन्तिम समयमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं । ये तीव्र कषायसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली प्रकृतियाँ हैं, इसलिए तीव्र कषायका उत्तरोत्तर अभाव होनेसे विवक्षित भागके आगे उनका संवर होता है । अनिवृत्ति बादर साम्परायके प्रथम समयसे लेकर उसके संख्यात भागोंमें पुंवेद और क्रोध संज्वलनका बन्ध होता है । इससे आगे शेष रहे संख्यात भागोंमें मान संज्वलन और माया संज्वलन ये दो प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं और उसीके अन्तिम समयमें लोभ संज्वलन बन्धको प्राप्त होती है । इन प्रकृतियोंका मध्यम कषायके निमित्तसे आस्रव होता है, अतएव मध्यम कषायका उत्तरोत्तर अभाव होनेपर विवक्षित भागके आगे उनका संवर होता है । मन्द कषाय के निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियोंका सूक्ष्मसाम्पराय जीव बन्ध करता है, अतः मन्द कषायका अभाव होनेसे आगे इनका संवर होता है । केवल योगके निमित्तसे आस्रवको प्राप्त होनेवाली साता वेदनीयका उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली जीवोंके बन्ध होता है । योगका अभाव हो जानेसे अयोगकेवलीके उसका संवर होता है ।

विशेषार्थ—संवर जीवनमें नये दोष और दोषोंके कारण एकत्रित न होने देनेका मार्ग है । संवरके होनेपर ही संचित हुए दोषों व उनके कारणोंका परिमार्जन किया जा सकता है और तभी मुक्ति-लाभ होता है । साधारणतः वे दोष और उनके कारण क्या हैं यहाँ इनकी गुण-स्थानक्रमसे विस्तृत चर्चा की गयी है । प्राणीमात्रको इन्हें समझकर संवरके मार्गमें लगना चाहिए यह उक्त कथनका भाव है ।

§ 788. संवरका कथन किया । अब उसके हेतुओंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रसे होता है ॥2॥

1. मानमाया— मु. । 2. —भावात्तु— मु. । 3. तद्भेदप्रति— मु. ।

§ 789. यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः । प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः । इष्टे¹ स्थाने धत्ते इति धर्मः । शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । क्षुधादि-वेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषहः । परिषहस्य जयः परिषहजयः । चारित्रशब्द आदिसूत्रे व्याख्यातार्थः । एतेषां गुप्त्यादीनां संवरणक्रियायाः साधकतमत्वात् करणनिर्देशः । संवरोऽपि-कृतोऽपि 'स' इति सच्छब्देन परामुश्यते गुप्त्यादिभिः साक्षात्संबन्धनार्थः² । किं प्रयोजनम् ? अवधारणार्थम्³ । स एष संवरो गुप्त्यादिभिरेव नान्येनोपायेनेति । तेन तीर्थाभिषेकदीक्षाशीर्षोप-⁴हारवैवताराधनादयो निर्वर्तिता भवन्ति; रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्मणोऽन्यथा निवृत्त्यभावात् ।

§ 790. संवरनिर्जराहेतुविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तपसा निर्जरा च ॥ 3 ॥

§ 791. तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वव्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्य-प्रतिपादनार्थं च । ननु च तपोऽभ्युदयगमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्⁵, तत् कथं निर्जरागं स्यादिति ? नैव दोषः; एकस्यानेककार्यवर्शनादग्निवत् । यथाग्निरेकोऽपि⁶ विक्लेदन-

§ 789. जिसके बलसे संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है । प्राणिपीडाका परिहार करनेके लिए भले प्रकार आना-जाना, उठाना-धरना, ग्रहण करना व मोचन करना समिति है । जो इष्ट स्थानमें धरता है वह धर्म है । शरीरादिकके स्वभावका बार बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । क्षुधादि वेदनाके होनेपर कर्मोंकी निर्जरा करने के लिए उसे सह लेना परिषह है और परिषहका जीतना परिषहजय है । चारित्र शब्दका प्रथम सूत्रमें व्याख्यान कर आये हैं । ये गुप्ति आदिक संवररूप क्रियाके अत्यन्त सहकारी हैं, अतएव सूत्रमें इनका करण रूपसे निर्देश किया है । संवरका अधिकार है तथापि गुप्ति आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध दिखलानेके लिए इस सूत्रमें उसका 'सः' इस पदके द्वारा निर्देश किया है । शंका—इसका क्या प्रयोजन है ? समाधान—अवधारण करना इसका प्रयोजन है । यथा—वह गुप्ति आदिक द्वारा ही हो सकता है, अन्य उपायसे नहीं हो सकता । इस कथनसे तीर्थ यात्रा करना, अभिषेक करना, दीक्षा लेना, उपहार स्वरूप सिरको अर्पण करना और देवताकी आराधना करना आदिका निराकरण हो जाता है, क्योंकि राग, द्वेष और मोहके निमित्तसे ग्रहण किये गये कर्मका अन्यथा अभाव नहीं किया जा सकता ।

§ 790. अब संवर और निर्जराके हेतु विशेषका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
तपसे निर्जरा होती है और संवर भी होता है ॥ 3 ॥

§ 791. तपका धर्ममें अन्तर्भाव होता है फिर भी वह संवर और निर्जरा इन दोनोंका कारण है और संवरका प्रमुख कारण है यह बतलानेके लिए उसका अलगसे कथन किया है । शंका—तपको अभ्युदयका कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेषकी प्राप्तिके हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है, इसलिए वह निर्जराका कारण कैसे हो सकता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्निके समान एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं । जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य

1. 'संसारदुःखतः सर्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे ।' रत्न. पृ. 250 । 2. —संबन्धार्थः । प्रयो- मु. । 3. —नार्थः । स मु. । 4. 'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखदेवान् किलाराध्य सुखाभिबृद्धाः । सिद्धयन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमुचिर्न येषाम् ॥' युक्त्यन्. दसो. 39 । 5. —मात्, कथं मु. । 6. —कोऽपि विक्लेदभस्मसाद्भाव-वादिप- जा. । —कोऽपि पवनविक्लेदभस्मसाद्भावोदप्र- दि. 2 । —कोऽपि पवनविक्लेदभस्मसाद्भावोदप्र-दि. 1 ।

भस्मांगारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः ।

§ 792. संवरहेतु¹गवादाबुद्दिष्टाया गुप्तेः स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥4॥

§ 793. योगो व्याख्यातः 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र । तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनं निग्रहः । विषयसुखाभिलाषार्थ²प्रवृत्तिनिषेधार्थं सम्यग्विशेषणम् । तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशाप्रादुर्भावपरात्कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्त्वतीति संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या । सा त्रितयी कायगुप्तिर्वागुप्तिर्मनोगुप्तिरिति ।

§ 794. तत्राशक्तस्य मुनेरिवद्यप्रवृत्तिरूपानार्थमाह—

ईर्याभाषेयणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥5॥

§ 795. 'सम्यग्' इत्यनुवर्तते । तेनेर्यादयो विशेष्यन्ते । सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपो सम्यगुत्सर्ग इति । सा एताः पञ्च समितयो विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेः प्राणिपीडापरिहाराभ्युपाया वेदितव्याः । तथा प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकमास्त्रवात्संवरो भवति ।

§ 796. तृतीयस्य संवरहेतोर्धर्मस्य भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय इन दोनोंका हेतु है ऐसा होने में क्या विरोध है ।

§ 792. गुप्तिका संवरके हेतुओंके प्रारम्भमें निर्देश किया है, अतः उसके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

योगोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है ॥4॥

§ 793. 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्रमें योगका व्याख्यान कर आये हैं । उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का बन्द होना निग्रह है । विषय-सुखकी अभिलाषाके लिए की जानेवाली प्रवृत्तिका निषेध करनेसे लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है । इस सम्यक् विशेषण युक्त संक्लेशको नहीं उत्पन्न होने देनेरूप योगनिग्रहसे कायादि योगोंका निरोध होने पर तन्निमित्तक कर्म आस्रव नहीं होता है, इसलिए संवरकी प्रसिद्धि जान लेना चाहिए । वह गुप्ति तीन प्रकारकी है—काय-गुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ।

§ 794. अब गुप्तिके पालन करनेमें अशक्त मुनिके निर्दोष प्रवृत्तिकी प्रसिद्धिके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं ॥5॥

§ 795. यहाँ 'सम्यक्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । उससे ईर्यादिक विशेष्यपनेको प्राप्त होते हैं—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यगुत्सर्ग । इस प्रकार कही गयी ये पाँच समितियाँ जीवस्थानादि विधिको जाननेवाले मुनिके प्राणियोंकी पीडा-को दूर करनेके उपाय जानने चाहिए । इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवालेके असंयमरूप परिणामोंके निमित्तसे जो कर्मोंका आस्रव होता है उसका संवर होता है ।

§ 796. तीसरा संवरका हेतु धर्म है । उसके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. --हेतुत्वादा-- । 2. --पार्थवृत्तिनियमनार्थं सम्य- ता. ना. । 3. इति वर्तते ता. ।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागार्किकचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥6॥

§ 797. किमर्थमिदमुच्यते ? अद्य प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्, तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयम् । इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं¹ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् । शरीर-स्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहसनावज्ञाताडनशरीरव्यापादना-दीनां संनिधाने कालुष्यानुत्पत्तिः क्षमा । जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणम् । योगस्यावकृता आर्जवम् । प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम् । सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते । ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति ? नैष दोषः ; समितौ प्रवर्तमानो मुनिः साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात् अन्यथा रागादनर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समिति रित्यर्थः । इह पुनः संतः प्रव्रजितास्तदभक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्र्य³शिक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम् । समितिषु वर्तमानस्य प्राणिन्द्रियपरिहारस्संयमः । कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः । तदुत्तरत्र वक्ष्यमाणं द्वादशविकल्पमवसेयम् । संयतस्य योग्यं ज्ञानादि-दानं त्यागः । उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिरार्किकचन्यम् । नास्य⁴ किंचनास्तीत्याकिंचनः तस्य भावः कर्म वा आर्किकचन्यम् । अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवण-

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्किकचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकारका धर्म है ॥6॥

§ 797. शंका--यह किसलिए कहा है ? समाधान--संवरका प्रथम कारण प्रवृत्तिका निग्रह करनेके लिए कहा है । जो वैसा करनेमें असमर्थ है उन्हें प्रवृत्तिका उपाय दिखलानेके लिए दूसरा कारण कहा है । किन्तु यह दश प्रकारके धर्मका कथन समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवालेके प्रमादका परिहार करनेके लिए कहा है । शरीरकी स्थितिके कारणकी खोज करनेके लिए पर कुलोंमें जाते हुए भिक्षुको दुष्ट जन गाली-गलौज करते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीरको तोड़ते-मरोड़ते हैं तो भी उनके कलुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है । जाति आदि मदोके आवेशवश होनेवाले अभिमानका अभाव करना मार्दव है । मार्दवका अर्थ है मानका नाश करना । योगोंका वक्र न होना आर्जव है । प्रकर्षप्राप्त लोभका त्याग करना शौच है । अच्छे पुरुषोंके साथ साधु वचन बोलना सत्य है । शंका--इसका भाषासमितिमें अन्तर्भाव होता है ? समाधान--यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि समितिके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकारके मनुष्योंमें भाषाव्यवहार करता हुआ हितकारी परिमित वचन बोले, अन्यथा राग होनेसे अनर्थदण्डका दोष लगता है यह वचनसमितिका अभिप्राय है । किन्तु सत्य धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला मुनि सज्जन पुरुष, दीक्षित या उनके भक्तोंमें साधु सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान चारित्र्यके शिक्षण आदिके निमित्तसे बहुविध कर्तव्योंकी सूचना देता है और यह सब धर्मकी अभिवृद्धिके अभिप्रायसे करता है, इसलिए सत्य धर्मका भाषा-समितिमें अन्तर्भाव नहीं होता । समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनि के उनका परिपालन करनेके लिए जो प्राणियोंका और इन्द्रियोंका परिहार होता है वह संयम है । कर्मक्षयके लिए जो तपा जाता है वह तप है । वह आगे कहा जानेवाला वारह प्रकारका जानना चाहिए । संयतके योग्य ज्ञानादिका दान करना त्याग है । जो शरीरादिक उपात्त हैं उनमें भी संस्कारका त्याग करनेके लिए 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायका त्याग करना आर्किकचन्य है । जिसका कुछ नहीं है वह अकिंचन है और उसका भाव या कर्म आर्किकचन्य है । अनुभूत स्त्रीका स्मरण न करनेसे, स्त्री-

1. --ख्यानं प्रवर्तनं-- ता. । 2. --न्युपयतो भिक्षो ता. । 3. --रित्रलक्षणा-- मु. । 4. --नास्ति किंचना-स्याकि-- मु., दि. 1, दि. 2 ।

स्त्रीसंस्कृतशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते । स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं वा ¹गुरुकुल-
वासो ब्रह्मचर्यम् । दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् । तान्येवं भाव्यमानानि धर्मव्यपदेश-
भाज्जिस्वगुणप्रतिपक्षदोषसद्भावनाप्रणिहितानि संवरकारणानि भवन्ति ।

§ 798. आह, क्रोधाद्यनुत्पत्तिः क्षमादिविशेषप्रत्यनीकालम्बनादित्युक्तम् । तत्र कस्मात्क्ष-
मादीनयमवलम्बते नान्यथा प्रवर्तते इत्युच्यते । यस्मात्तप्तायःपिण्डवत्क्षमादिपरिणतेनात्महितैषिणा
कर्तव्याः—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जंरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वा-
ख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥7॥

§ 799. इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगद्रव्याणि समुदायरूपाणि जलबुद्बुदवदनवस्थित-
स्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि, मोहादत्राज्ञो नित्यतां
मन्यते । न किञ्चित्संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादित्युक्तिरिति चिन्तन-
मनित्यतानुप्रेक्षा । एवं ²ह्यस्य भव्यस्य चिन्तयतस्तेष्वभिष्वङ्गाभावाद् भुक्तोऽभिगतगन्धमाल्या-
दिष्विव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते ।

§ 800. यथा—मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न

विषयक कथाके सुननेका त्याग करनेसे और स्त्रीसे सटकर सोने व बैठनेका त्याग करनेसे परिपूर्ण
ब्रह्मचर्य होता है । अथवा स्वतन्त्र वृत्तिका त्याग करनेके लिए गुरुकुलमें निवास करना ब्रह्मचर्य
है । दिखाई देनेवाले प्रयोजनका निषेध करनेके लिए क्षमादिके पहले उत्तम विशेषण दिया है ।
इस प्रकार जीवनमें उतारे गये और स्वगुण तथा प्रतिपक्षभूत दोषोंके सद्भावमें यह लाभ और
यह हानि है इस तरहकी भावनामें प्राप्त हुए ये धर्मसंज्ञावाले उत्तम क्षमादिक संवरके कारण
होते हैं ।

§ 798. क्षमादि विशेष और उनके उलटे कारणोंका अवलम्बन आदि करनेसे क्रोधा-
दिकी उत्पत्ति नहीं होती है यह पहले कह आये हैं । उसमें किस कारणसे यह जीव क्षमादिकका
अवलम्बन लेता है, अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करता है इसका कथन करते हैं । यतः तपाये हुए लोहेके
गोलके समान क्षमादिरूपसे परिणत हुए आत्महितैषीको करने योग्य—

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जंरा, लोक, बोधि-
दुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्वका बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाएँ हैं ॥7॥

§ 799. ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रियविषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जलके बुल-
बुलेके समान अनवस्थित स्वभाववाले हैं तथा गर्भादि अवस्थाविशेषोंमें सदा प्राप्त होनेवाले
संयोगोंसे विपरीत स्वभाववाले हैं । मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यताका अनुभव करता है पर
वस्तुतः आत्माके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगस्वभावके सिवा इस संसारमें अन्य कोई भी पदार्थ
ध्रुव नहीं है इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस
भव्यके उन शरीरादिमें आसक्तिका अभाव होनेसे भोगकर छोड़े हुए गन्ध और माला आदिके
समान वियोग कालमें भी सन्ताप नहीं होता है ।

§ 800. जिस प्रकार एकान्तमें क्षुधित और मांसके लोभी बलवान् व्याघ्रके द्वारा दबोचे
गये मृगशावकके लिए कुछ भी शरण नहीं होता उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि

1. —कुलवासो मु., ता. । 2. ह्यस्य चिन्त- मु., ता. ।

किञ्चिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते । परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते । यत्नेन संचिता¹ अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति । संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते । बान्धवाः समुदिताश्च रजा परीतं न परिपालयन्ति । अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति । मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम् । तस्माद् भवव्यसनसंकटे धर्म एव शरणं । सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यैकचिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्याध्यवस्यतो नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो² भवति । भगवदहंत्सर्वज्ञ-प्रणीत एव मार्गं प्रयत्नो³ भवति ।

§ 801. कर्मविपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । स पुरस्तात्पञ्चविधपरिवर्तन-रूपेण व्याख्यातः । तस्मिन्ननेकयोनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन् जीवः कर्मयन्त्र⁴-प्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति । माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति । स्वामी भूत्वा दासो भवति । दासो भूत्वा स्वाम्यपि भवति । नट इव रङ्गे । अथवा किं बहुना, स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादि संसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य भाष्यतः संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति । निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय⁵ प्रयतते ।

§ 802. जन्मजरामरणावृत्ति⁶महादुःखानुभवनं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा

दुःखोंके मध्यमें परिभ्रमण करनेवाले जीवका कुछ भी शरण नहीं है । परिपुष्ट हुआ शरीर ही भोजनके प्रति सहायक है, दुःखोंके प्राप्त होनेपर नहीं । यत्नसे संचित किया हुआ धन भी भवान्तरमें साथ नहीं जाता । जिन्होंने सुख और दुःखको समानरूपसे बाँट लिया है ऐसे मित्र भी मरणके समय रक्षा नहीं कर सकते । मिलकर बन्धुजन भी रोगसे व्याप्त इस जीवकी रक्षा करने में असमर्थ होते हैं । यदि सुचरित धर्म हो तो वह ही दुःखरूपी महासमुद्रमें तरनेका उपाय हो सकता है । मृत्युसे ले जानेवाले इस जीवके सहस्रनयन आदि भी शरण नहीं है, इसलिए संसार विपत्तिरूप स्थानमें धर्म ही शरण है । वही मित्र है और वही कभी भी न छूटनेवाला अर्थ है, अन्य कुछ शरण नहीं है इस प्रकारकी भावना करना अशरणानुप्रेक्षा है । इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके 'मैं सदा अशरण हूँ' इस तरह अतिशय उद्विग्न होनेके कारण संसारके कारणभूत पदार्थोंमें ममता नहीं रहती और वह भगवान् अरहंत सर्वज्ञ प्रणीत मार्गमें ही प्रयत्न-शील होता है ।

§ 801. कर्मके विपाकके वशसे आत्माको भवान्तरकी प्राप्ति होना संसार है । उसका पहले पाँच प्रकारके परिवर्तनरूपसे व्याख्यान कर आये हैं । अनेक योनि और कुल कोटिलाखसे व्याप्त इस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयन्त्रसे प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है । माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है । स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है । जिस प्रकार रंगस्थलमें नट नाना रूप धारण करता है उस प्रकार यह होता है । अथवा बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन, स्वयं अपना पुत्र होता है । इत्यादि रूपसे संसारके स्वभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करते हुए संसारके दुःखके भयसे उद्विग्न हुए इसके संसारसे निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसारका नाश करनेके लिए प्रयत्न करता है ।

§ 802. 'जन्म, जरा और मरणकी आवृत्तिरूप महादुःखका अनुभवन करनेके लिए अकेला

1. संचितोऽर्थोऽपि न भवान्तरमनुगच्छति मु. । 2. ममत्वनिरासो भव- आ., दि. 1, दि. 2. मु., ना. । 3. मार्गं प्रतिपन्नो भव-आ., दि. 1, दि. 2, मु. । 4. -यन्त्रानुप्रेरितः । 5. प्रतियसते मु. । 6. -मरणानुवृत्ति-मु. ।

विद्यते । एक एव जायेऽहम् । एक एव म्रिये । न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधिजरा-मरणादीनि दुःखान्यपहरति । बन्धुमित्राणि स्मशानं² नातिवर्तन्ते । धर्म एव मे सहायः सदा अनपा-यीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति । परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते । ततो निःसङ्गतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते ।

§ 803. शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा । तद्यथा—बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षण-भेदादन्योऽहमेन्द्रियकं शरीरं³ मतीन्द्रियोऽहमज्ञं शरीरं ज्ञोऽहमनित्यं शरीरं नित्योऽहमाद्यन्तवच्छ-रीरमनाद्यन्ततोऽहम् । बहूनि मे शरीरशतसहस्राण्यतीतानि संसारे परिभ्रमतः । स एवाहमन्यस्तेभ्य इत्येवं मे किमङ्ग, पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः इत्येवं ह्यस्य मनः समाधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते । ततस्तत्त्वज्ञानभावनापूर्वकं वैराग्यप्रकर्षं सति आत्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्या⁴वाप्तिर्भवति ।

§ 804. शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनि⁵ शुक्रशोणिताशुचिसंवर्धितमवस्करवदशुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितमतिपूतिरसनिष्यन्दिलोतोबिलमङ्गारवदात्मभावमाश्रितमप्यादेवापादयति । स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहतुंमस्य । सम्यग्दर्शनादि पुनर्भा-व्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य

मैं ही हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ । मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा और मरण आदि दुःखोंको दूर नहीं करता । बन्धु और मित्र स्मशानसे आगे नहीं जाते । धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़नेवाला सदा काल सहायक है ।' इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके स्वजनोंमें प्रीतिका अनुबन्ध नहीं होता और परजनोंमें द्वेषका अनुबन्ध नहीं होता, इसलिए निःसंगताको प्राप्त होकर मोक्षके लिए ही प्रयत्न करता है ।

§ 803. शरीरसे अन्यत्वका चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—यथा बन्धके प्रति अभेद होनेपर भी लक्षणके भेदसे 'मैं' अन्य हूँ । शरीर ऐन्द्रियिक है, मैं अतीन्द्रिय हूँ । शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ । शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ । शरीर आदि-अन्तवाला है और मैं अनाद्यन्त हूँ । संसारमें परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये । उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ । इस प्रकार शरीरसे भी जब मैं अन्य हूँ तब हे ब्रह्म ! मैं बाह्य पदार्थोंसे भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य ? इस प्रकार मनको समाधान युक्त करनेवाले शरीरादिकमें स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्यका प्रकर्ष होनेपर आत्यन्तिक मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ।

§ 804. यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थोंका योनि है । शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है, शौचगृहके समान अशुचि पदार्थोंका भाजन है । त्वचामात्रसे आच्छादित है । अति दुर्गन्ध रसको बहानेवाला शरणा है । अंगारके समान अपने आश्रयमें आये हुए पदार्थोंको भी शीघ्र ही नष्ट करता है । स्नान, अनुलेपन, धूपका मालिश और सुगन्धिमाला आदिके द्वारा भी इसकी अशुचिताको दूर कर सकना शक्य नहीं है, किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीवकी आत्यन्तिक शुद्धिको प्रकट करते हैं । इस प्रकार वास्तविक-रूपसे चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इसके शरीरसे निर्वेद

1. जायेऽहम् । एक ता. । 2. स्मशानात् नाति— ता. । 3. —मतीन्द्रियो म., दि. 1, दि. 2, ता. । 4. —स्याप्तिर्म— म्. । 5. —न्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचिसं— म्. । —न्ताशुचिपूतिशुक्रशोणितसं—दि. 1 । —न्ताशुचिशुक्रशोणितसं— दि. 2 ।

संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति । निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्ते ।

§ 805. आस्रवसंवरनिर्जराः पूर्वोक्ता अपि इहोपन्यस्यन्ते ¹तद्गतगुणदोषभावनाथम् । तद्यथा—आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियकषाया वृतादयः । तत्रेन्द्रियाणि तावत्स्पर्शनादीनि वनगजवायसपन्नगपतङ्गहरिणादीन् व्यवसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायादयोऽपीह वधबन्धापय²शःपरिक्लेशादीन् जनयन्ति । अमुत्र च नानागतिषु बहुविधदुःखप्रज्वलितासु परि³भ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयतः क्षमादिषु श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते । सर्व एते आस्रवदोषाः कूर्मवत्संवृतात्मनो न भवन्ति ।

§ 806. यथा महार्णवे नावो ⁴विवरपिधानेऽसति क्रमात् खतजलाभिप्लवे सति तदाश्रयाणां विनाशोऽवश्यंभावी, छिद्रपिधाने च निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरप्रापणं, तथा कर्मागमद्वारसंवरणे सति नास्ति श्रेयःप्रतिबन्ध इति संवरगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति । ततश्च निःश्रेयसपदप्राप्तिरिति ।

§ 807. निर्जरा वेदनाविपाक⁵ इत्युक्तम् । सा द्वेधा—अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा । परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति । इत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जरानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्यानु-

होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधिको तरनेके लिए चित्तको लगाता है ।

§ 805. आस्रव, संवर और निर्जराका कथन पहले कर आये हैं तथापि उनके गुण और दोषोंका विचार करनेके लिए यहाँ उनका फिरसे उपन्यास किया गया है । यथा—आस्रव इस लोक और परलोकमें दुःखादायी है । महानदीके प्रवाहके वेगके समान तीक्ष्ण हैं तथा इन्द्रिय, कषाय और अवतरूप हैं । उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वनगज, कौआ, सर्प, पतंग और हरिण आदिको दुःख रूप समुद्रमें अवगाहन कराती हैं । कषाय आदिक भी इस लोकमें वध, बन्ध अप-शय और क्लेशादिक दुःखोंको उत्पन्न करते हैं, तथा परलोकमें नाना प्रकारके दुःखोंसे प्रज्वलित नाना गतियोंमें परिभ्रमण कराते हैं । इस प्रकार आस्रवके दोषोंका चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके क्षमादिकमें कल्याणरूप बुद्धिका त्याग नहीं होता है, तथा कछुएके समान जिसने अपनी आत्माको संवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रवके दोष नहीं होते हैं ।

§ 806. जिस प्रकार महार्णवमें नावके छिद्रके नहीं ढके रहनेपर क्रमसे झिरे हुए जलसे व्याप्त होनेपर उसके आश्रयसे बैठे हुए मनुष्योंका विनाश अवश्यंभावी है और छिद्रके ढके रहने पर निरुपद्रवरूपसे अभिलषित देशान्तरका प्राप्त होना अवश्यंभावी है उसी प्रकार कर्मागमके द्वारके ढके होनेपर कल्याणका प्रतिबन्ध नहीं होता । इस प्रकार संवरके गुणोंका चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके संवरमें निरन्तर उद्युक्तता होती है और इससे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है ।

§ 807. वेदना विपाकका नाम निर्जरा है यह पहले कह आये हैं । वह दो प्रकारकी है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला । नरकादि गतियोंमें कर्मफलके विपाकसे जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है । तथा परीषहके जीतनेपर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है । वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है । इस प्रकार निर्जराके गुणदोषका

1. तद्गुण— मु. । 2. --बन्धपरि— मु., ता. । 3. --तासु भ्रम— मु. । 4. विवरापिधाने सति मु. । 5. --पाकजा इत्यु— मु. ।

स्मरतः कर्मनिर्जरायै प्रवृत्तिर्भवति ।

§ 808. लोकसंस्थानादिविधिर्व्याख्यातः समन्तादनन्तस्यालोकाकाशस्य बहुमध्यदेश-
भाविनो लोकस्य संस्थानादिविधिर्व्याख्यातः । तत्स्वभावानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्याध्य-
वस्यतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवति ।

§ 809. एकस्मिन्निगोदशरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः । एवं सर्वलोको निरन्तरं
निश्चितः स्थावरैरतस्तत्र त्रसता बालुकासमुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा । तत्र च विक-
लेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वात्पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या । तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षि-
सरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः । तत्प्रच्यवे च पुनस्तदुत्प-
त्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावोपपत्तिवद् दुर्लभा । तल्लभा मे च देशकुलेन्द्रियसंपन्नीरोगत्वान्युत्तरोत्तर-
होतिर्दुर्लभानि । सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्याद् व्यर्थं जन्म वदनमिव
दृष्टिविकलम् । तमेव¹ कृच्छ्रलभ्यं धर्ममवाप्य विषयमुखे रञ्जनं भस्मार्थचन्दनदहनमिव विफलम् ।
विरक्तविषयसुखस्य तु तपोभावनाधर्मप्रभावनामुखमरणदिलक्षणः समाधिर्दुरवापः । तस्मिन्
सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य भावयतो बोधिं प्राप्य

चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसकी कर्मनिर्जराके लिए प्रवृत्ति
होती है ।

§ 808. लोकसंस्थान आदिकी विधि पहले कह आये हैं । अर्थात् चारों ओरसे अनन्त
अलोकाकाशके बहुमध्यदेशमें स्थित लोकके संस्थान आदिकी विधि पहले कह जाये हैं । उसके
स्वभावका अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है । इस प्रकार विचार करनेवाले इसके तत्त्वज्ञानकी
विशुद्धि होती है ।

§ 809. एक निगोदशरीरमें सिद्धोंसे अनन्तगुणे जीव हैं । इस प्रकार स्थावर जीवोंसे
सब लोक निरन्तर भरा हुआ है । अतः इस लोकमें त्रस पर्यायका प्राप्त होना इतना दुर्लभ है
जितना कि बालुकाके समुद्रमें पड़ी हुई वज्रसिकताकी कणिकाका प्राप्त होना दुर्लभ होता है ।
उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवोंकी बहुलता होनेके कारण गुणोंमें जिस प्रकार कृतज्ञता गुणका प्राप्त
होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय पर्यायका प्राप्त होना दुर्लभ है । उसमें भी पशु,
मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यचोंकी बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौपथपर रत्नराशि-
का प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना भी अति कठिन है ।
और मनुष्य पर्यायके मिलनेके बाद उसके च्युत हो जानेपर पुनः उसकी उत्पत्ति होना इतना
कठिन है जितना कि जले हुए वृक्षके पुद्गलोंका पुनः उस वृक्ष पर्यायरूपसे उत्पन्न होना कठिन
होता है । कदाचित् पुनः इसकी प्राप्ति हो जाये तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता
इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है । इन सबके मिल जानेपर भी यदि समीचीन धर्मकी
प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टिके बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्यजन्मका प्राप्त
होना व्यर्थ है । इस प्रकार अतिकठिन्तासे प्राप्त होने योग्य उस धर्मकी प्राप्ति कर विषयसुखमें
रममाण होना भस्मके लिए चन्दनको जलानेके समान निष्फल है । कदाचित् विषयसुखसे विरक्त
हुआ तो भी इसके लिए तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधिका
प्राप्त होना अति दुर्लभ है । इसके होनेपर ही बोधिलाभ सफल है ऐसा विचार करना
बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है । इस प्रकार विचार करनेवाले इस जीवके बोधिको प्राप्त कर कभी भी

1. तमेव कृ.- आ., दि. 1, दि. 2 ।

प्रमादो न कदाचिदपि भवति ।

§ ८१०. अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः । क्षमाबलं ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानी नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः । अस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवन्तः । अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाभ्युदयप्राप्तिपूर्विका निःश्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा । एवं ह्यस्य चिन्तयतो धर्मानुरागात्सदा^१ प्रतीयन्तो भवति ।

§ ८११. एवमनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षासंनिधाने उत्तमक्षमादिधारणान्महान् संवरो भवति । मध्ये 'अनुप्रेक्षा' वचनमुभयार्थम् । अनुप्रेक्षाः हि भावयन्तुत्तमक्षमादींश्च प्रतिपालयति परीषदांश्च जेतुमुत्सहते ।

§ ८१२. के पुनस्ते परिषदाः किमर्थं वा^२ ते सह्यन्त इतीदमाह—

मार्गाच्चयवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषदाः ॥८१॥

§ ८१३. संवरस्य प्रकृतत्वात्तेन मार्गो विशिष्यते । संवरमार्ग इति । तदच्यवनार्थं निर्जरार्थं च परिषोढव्याः परीषदाः । क्षुत्पिपासादिसहनं कुर्वन्तः जिनोपदिष्टान्मार्गादिप्रच्यवमानास्तन्मार्ग-परिक्रमणपरिचयेन कर्मागमद्वारं संबृण्वन्त औपक्रमिकं कर्मफलमनुभवन्तः क्रमेण निर्जोर्णकर्माणो मोक्षमाप्नुवन्ति ।

प्रमाद नहीं होता ।

§ ८१०. जिनेन्द्रदेवने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशमकी उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है । इसकी प्राप्ति नहीं होनेसे दुष्कर्म विपाकसे जायमान दुःखको अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हैं । परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकारके अभ्युदयोंकी प्राप्तिपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस जीवके धर्मानुरागवश उसकी प्राप्तिके लिए सदा यत्न होता है ।

§ ८११. इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओंका सान्निध्य मिलने पर उत्तमक्षमादिके धारण करनेसे महान् संवर होता है । अनुप्रेक्षा दोनोंका निमित्त है इसलिए 'अनुप्रेक्षा' वचन मध्यमें दिया है । अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करता हुआ यह जीव उत्तमक्षमादिका ठीक तरहसे पालन करता है और परीषदोंको जीतनेके लिए उत्साहित होता है ।

§ ८१२. वे परीषद कौन-कौन हैं और वे किसलिए सहन किये जाते हैं, यह बतलानेके लिए यह सूत्र कहते हैं—

मार्गसे च्युत न होनेके लिए और कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए जो सहन करने योग्य हो वे परीषद हैं ॥८१॥

§ ८१३. संवरका प्रकरण होनेसे वह मार्गका विशेषण है, इसलिए सूत्रमें आये हुए 'मार्ग' पदसे संवरमार्गका ग्रहण करना चाहिए । उससे च्युत न होनेके लिए और निर्जराके लिए सहन करने योग्य परीषद होते हैं । क्षुधा, पिपासा आदिको सहन करनेवाले, जिनदेवके द्वारा कहे हुए मार्गसे नहीं च्युत होनेवाले, मार्गके सतत अभ्यासरूप परिचयके द्वारा कर्मागमद्वारको संबृत करनेवाले तथा औपक्रमिक कर्मफलको अनुभव करनेवाले क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्षको प्राप्त होते हैं ।

१. सदा कृतप्रति- ता. । २. वा सह्य- म. ।

§ 814. तत्स्वरूपसंख्यासंप्रतिपत्त्यर्थमाह

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचना-
लाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥9॥

§ 815. क्षुदाद्यो वेदनाविशेषा द्वाविंशतिः । एतेषां सहनं मोक्षार्थिना कर्तव्यम् । तद्यथा—भिक्षोर्निरवद्याहारगवेषिणस्तदलाभे ईषत्लाभे च अनिवृत्तवेदनस्याकाले अदेशे च भिक्षां प्रति निवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहार्णि मनागण्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरस्य बहुकृत्वः स्वकृतपरकृतानशनावमौदर्यस्य नीरसाहारस्य संतप्तभ्राष्ट्रपतितजलबिन्दुकतिपयवत्सहसा परिशुष्कपानस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि सतो भिक्षालाभादलाभमधिकगुणं मन्यमानस्य क्षुद्बाधां प्रत्यचिन्तनं क्षुद्भिज्यः ।

§ 816. जलस्नानावगाहनपरिषेकपरित्यागिनः पतत्रिवदनियतासनावसथस्यातिलवण-
स्निग्धरूक्षविरुद्धाहारग्रंथमातपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यना-
द्वियमाणप्रतीकारस्य पिपासानलशिखां धृतिनवमृद्घटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिधारिणा प्रशस्यतः
पिपासासहनं प्रशस्यते ।

§ 817. परित्यक्तप्रच्छादनस्य पक्षिवदनवधारितालयस्य वृक्षगूलपथिशिलातलादिषु

§ 814. अब उन परीषद्होंके स्वरूप और संख्याका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नामवाले परीषद् हैं ॥9॥

§ 815. क्षुधादिक वेदनाविशेष बाईस हैं । मोक्षार्थी पुरुषको इनको सहन करना चाहिए । यथा—जो भिक्षु निर्दोष आहारका शोध करता है, जो भिक्षाके नहीं मिलने पर या अल्पमात्रामें मिलने पर क्षुधावेदनाको नहीं प्राप्त होता, अकालमें या अदेशमें जिसे भिक्षा लेनेकी इच्छा नहीं होती, आवश्यकोंकी हानिको जो थोड़ा भी सहन नहीं करता, जो स्वाध्याय और ध्यानभावनामें तत्पर रहता है, जिसने बहुत बार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमौदर्य तप किया है, जो नीरस आहारको लेता है, अत्यन्त गरम भांडमें गिरी हुई जलकी कतिपय बूंदोंके समान जिसका गला सूख गया है और क्षुधावेदनाकी उदीरणा होनेपर भी जो भिक्षालाभकी अपेक्षा उसके अलाभको अधिक गुणकारी मानता है उसका क्षुधाजन्य बाधाका चिन्तन नहीं करना क्षुधापरीषद्भिज्य है ।

§ 816. जिसने जलसे स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिंचन करनेका त्याग कर दिया है, जिसका पक्षीके समान आसन और आवास नियत नहीं है, जो अतिखारे, अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष प्रकृति विरुद्ध आहार, ग्रोष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदिके कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियोंको मथनेवाली पिपासाका प्रतीकार करनेमें आदरभाव नहीं रखता और जो पिपासारूपी अग्निशिखाको सन्तोषरूपी नूतन मिट्टीके घड़ेमें भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधिरूपी जलसे शान्त कर रहा है उसके पिपासाजय प्रशंसाके योग्य है ।

§ 817. जिसने आवरणका त्याग कर दिया है, पक्षीके समान जिसका आवास निश्चित

1. --रस्य तप्त- मु. ।

हिमानीपतनशीतलानिल¹संपाते तत्प्रतिकारप्राप्तिं प्रति निवृत्तेच्छस्य पूर्वानुभूतशीतप्रतिकार-
हेतुवस्तूनामस्मरतो ज्ञानभावनागर्भागारे वसतः शीतवेदनासहनं परिकीर्त्यते ।

§ 818. निवाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपरिशुष्कपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यटव्यन्तरे
यदृच्छ्योपनिपतितस्यानशनाद्यभ्यन्तरसाधनोत्पादितदाहस्य दवाग्निदाहपरुषवातातपजन्तिलता-
लुशोषस्य तत्प्रतीकारहेतून् बहून्नुभूतानचिन्तयतः प्राणिपीडापरिहाराबहितचेतसश्चारित्ररक्षण-
मुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते ।

§ 819. 'दशमशक'²ग्रहणमुपलक्षणम् । यथा "काकेभ्यो रक्षयतां सर्पिः" इति उपघात-
कोप³लक्षणं काकग्रहणं, तेन दशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकासत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादयो
गृह्यन्ते । तत्कृतां बाधामप्रतीकारां सहमानस्य तेषां बाधां त्रिधाप्यकुर्वाणस्य निर्वाणप्राप्तिमात्र-
संकल्पप्रावरणस्य तद्वेदनासहनं दशमशकपरिषहक्षमेत्युच्यते ।

§ 820. जातरूपवन्निष्कलंकजातरूपधारणमशक्यप्रार्थनीयं⁴ याचनरक्षणहिंसनादिदोष-
विनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्निर्वाणप्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं नाभ्यं बिभ्रतो मनोविक्रिया-
वित्तुतिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचिकुणपरूपेण भावयतो रात्रिन्दिवं ब्रह्मचर्यमखण्डमातिष्ठ-
मानस्याचेलव्रतधारणमनवद्यमवगन्तव्यम् ।

§ 821. संयतस्येन्द्रियेष्टविषयसंबन्धं प्रति निरुत्सुकस्य गीतनृत्यवादित्रादिविरहितेषु

नहीं हैं, वृक्षमूल, चौपथ और शिलातल आदिपर निवास करते हुए बर्फके गिरने पर और शीतल
हवाका झांका आनेपर उसका प्रतीकार करनेकी इच्छासे जो निवृत्ति है, पहले अनुभव किये गये
शीतके प्रतीकारके हेतुभूत वस्तुओंका जो स्मरण नहीं करता और जो ज्ञानभावनारूपी गर्भागार-
में निवास करता है उसके शीतवेदनाजय प्रशंसाके योग्य है ।

§ 818. निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सूख कर पत्तोंके गिर
जानेसे छायारहित वृक्षोंसे युक्त ऐसे वनके मध्य जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुआ है, अनशन
आदि आभ्यन्तर साधनवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है, दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु और
आतपके कारण जिसे गले और तालुमें शोष उत्पन्न हुआ है, जो उसके प्रतीकारके बहुत-से अनु-
भूत हेतुओंको जानता हुआ भी उनका चिन्तन नहीं करता है तथा जिसका प्राणियोंकी पीडाके
परिहारमें चित्त लगा हुआ है उस साधुके चारित्र्यके रक्षणरूप उष्णपरीषहजय कही जाती है ।

§ 819. सूत्रमें 'दशमशक' पदका ग्रहण उपलक्षण है । जैसे 'कौओंसे धोकी रक्षा करनी
चाहिए' यहाँ 'काक' पदका ग्रहण उपघातक जितने जीव हैं उनका उपलक्षण है, इसलिए 'दशम-
शक' पदसे दशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छु आदिका
ग्रहण होता है । जो इनके द्वारा की गयी बाधाको बिना प्रतीकार किये सहन करता है, मन वचन
और कायसे उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता है और निर्वाणकी प्राप्तिमात्र संकल्प ही जिसका ओढ़ना
है उसके उनकी वेदनाको सह लेना दशमशक परीषहजय कहा जाता है ।

§ 820. बालकके स्वरूपके समान जो निष्कलंक जातरूपको धारण करनेरूप है, जिसका
याचना करनेसे प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषोंसे रहित
है, जो निष्परिग्रहरूप होनेसे निर्वाण प्राप्तिका एक—अनन्य साधन है और जो दिन-रात अखण्ड
ब्रह्मचर्यको धारण करता है उसके निर्दोष अचेलव्रत धारण जानना चाहिए ।

§ 821. जो संयत इन्द्रियोंके इष्ट विषयसम्बन्धके प्रति निरुत्सुक है, जो गीत, नृत्य और

1. --शीतानिल-- आ., दि. 1, दि. 2 । 2. --ग्रहणं दशमशकोपलक्षणं । यथा आ. दि. 1, दि. 2, ता. ।

3. उपघातोप- मु. । 4. --शक्यमप्रार्थ्य-- ता., ता., दि. 2, आ. ।

शून्यागारवेवकुलतरुकोटरशिलागुहादिषु स्वाध्यायध्यानभावनारतिमास्कन्दतो वृष्टभुतानु¹भूतर-
तिस्मरणतत्कथाश्रवणकामशरप्रवेशनिविवरहृदयस्य प्राणिषु सदा सद्यस्यारतिपरिषहजयोऽवसेयः ।

§ 822. एकान्तेऽगारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदविभ्रममदिरापानप्रमत्तासु प्रमदासु
बाधमानासु कूर्मवत्सं²तेन्द्रियविकारस्य ललितस्मितमृदुकथितसविलासवीक्षणप्रहसनमदमन्थर³-
गमनमन्मथशरध्यापारविफलीकरणस्य⁴ स्त्रीबाधापरिषहसहनमवगन्तव्यम् ।

§ 823. दीर्घकालमुषितगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबन्धभोक्षपदार्थतत्त्वस्य संयमायतन-
भक्तिहेतोर्वैशान्तरातिथेर्गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य पवनवन्निःसंगतामङ्गीकुर्वतो बहुशोऽनशनावमौदर्य-
वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागादिबाधापरिक्लान्तकायस्य देशकालऽप्रमाणापेतमध्वगमनं संयम-
विरोधि परिहरतो निराकृतपादावरणस्य पक्षशर्कराकण्टकादिव्य⁵धनजातचरणक्षेदस्थापि सतः
पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतो यथाकालमावश्यकपरिह्राणिमास्कन्दतश्चर्यापरिषहसहन-
मवसेयम् ।

§ 824. स्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागह्वरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसत आदित्य-
प्रकाश⁶स्वेन्द्रियज्ञानपरीक्षितप्रदेशे⁸ कृतनियमक्रियस्य निषद्यां नियमितकालामास्थितवतः सिंहव्या-

वादित्र आदिसे रहित शून्यघर, देवकुल, तरुकोटर और शिलागुफा आदिमें स्वाध्याय, ध्यान और भावनामें लीन है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषयभोगके स्मरण, विषय-भोग सम्बन्धी कथाके श्रवण और कामशर प्रवेशके लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है और जो प्राणियोंके ऊपर सदाकाल सद्य है उसके अरतिपरीषहजय जानना चाहिए ।

§ 822. एकान्त ऐसे बगीचा और भवन आदि स्थानों में नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापानसे प्रमत्त हुई स्त्रियोंके द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुएके समान जिसने इन्द्रिय और हृदयके विकारको रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरोसे देखना, हँसना, मदभरी धीमी चालसे चलना, और कामवाण मारना आदिको विफल कर दिया है उसके स्त्रीबाधापरीषहजय जानना चाहिए ।

§ 823. जिसने दीर्घकाल तक गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचर्यको धारण किया है, जिसने बन्ध-भोक्ष पदार्थोंके स्वरूपको जान लिया है, संयमके आयतन शरीरको भोजन देनेके लिए जो देशान्तरका अतिथि बना है, गुरुके द्वारा जिसे स्वीकृति मिली है, जो वायुके समान निःसंगताको स्वीकार करता है, बहुत बार अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग आदि जन्य बाधाके कारण जिसका शरीर परिक्लान्त है, देश और कालके प्रमाणसे रहित तथा संयमविरोधी मार्गगमनका जिसने परिहार कर दिया है, जिसने खड़ाऊँ आदिका त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण कंकड़ और काँटे आदिके बिधनेसे चरणोंमें खेदके उत्पन्न होनेपर भी पहले योग्य यान और वाहन आदिसे गमन करनेका जो स्मरण नहीं करता है तथा जो यथाकाल आवश्यकोंका परिपूर्ण परिपालन करता है उसके चर्यापरीषहजय जानना चाहिए ।

§ 824. जिनमें पहले रहनेका अभ्यास नहीं किया है ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यघर गिरिगुफा और गह्वर आदिमें जो निवास करता है, आदित्यके प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञानसे परीक्षित प्रदेशमें जिसने नियमक्रिया की है, जो नियतकाल निषद्या लगाकर बैठता है, सिंह और व्यङ्ग आदिकी नानाप्रकारकी भीषण ध्वनिके सुनने से जिसे किसी प्रकारका भय नहीं होता, चार

1. 'मुदपरिचिदाणभूदा सव्वस्य वि कामभोगबन्धकह।' --समयप्रा. गा. 4 । 2. संहृते-- म. ।

3. प्रदमन्थर-- म. । 4. --करणचरणस्य आ., दि. 1, दि. 2 । 5. --परिक्लान्त-- म. । 6. --व्ययन-- म.,

दि. 1, दि. 2 । 7. प्रतिषु आदित्यस्वेन्द्रियज्ञानप्रकाशपरीक्षितप्रदेशे इति पाठः । 8. --देशे प्रकृत-- म. ।

द्वाविविविधभीषणध्वनिश्रवणान्निवृत्तभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनादप्रच्युतमोक्षमार्गस्य वीरास-
नोत्कृटिकाद्यासनाद्विचलितविग्रहस्य तत्कृतबाधान्सहनं निषद्यापरीषहजय इति निश्चीयते ।

§ 825. स्वाध्यायध्यानाध्वथमपरिलेखितस्य मौहृत्तिकीं खरविषमप्रचुरशर्कराकपाल-
संकटा¹तिशोतोष्णेषु भूमिप्रदेशेषु निद्रामनुभवतो यथाकृतैकपाश्वर्षदण्डायितादिशायिनः प्राणिबाधा-
परिहाराय पतितवारुद² व्यपगतासुवद³परिवर्तमानस्य ज्ञान⁴भावनाश्रितचे⁵सोऽनुष्ठितव्यस्त-
रादिविविधोपसर्गावप्यचलितविग्रहस्यानियमितकालां तत्कृतबाधां क्षममाणस्य शय्या परीषहक्षमा
कथ्यते ।

§ 826. मिथ्यादर्शनोद्वेगतामर्षपरुषावज्ञानिन्दासम्यवचनानि क्रोधाग्निशिखाप्रवर्धनानि
निशृण्वतोऽपि तदर्थेऽवसमाहितचेतसः सहसा तत्प्रतीकारं कर्तुंमपि शक्नुवतः पापकर्मविपाक-
मभिचिन्तयतस्तान्याकर्ण्य तपश्चरणभावनापरस्य कषायविषलवमात्रस्याप्यनवकाशमात्महृदयं
कुर्यत आक्रोशपरीषहसहनमवधार्यते ।

§ 827. निशितविशसनमुशलमुद्गरादिप्रहरणताडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापा-
दकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराकाः किं कुर्वन्ति, शरीर-
मिव जलबुद्बुद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमेतैर्विबोध्यते⁶, संज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केन-

प्रकारके उपसर्गके सहन करनेसे जो मोक्षमार्गसे च्युत नहीं हुआ है तथा वीरासन और उत्कृटिका
आदि आसनके लगानेसे जिसका शरीर चलायमान नहीं हुआ है उसके निषद्याकृत बाधाका सहन
करना निषद्यापरीषहजय निश्चित होता है ।

§ 825. स्वाध्याय, ध्यान और अध्वश्रमके कारण थककर जो कठोर, विषम तथा प्रचुर-
मात्रामें कंकड़ और खपरोंके टुकड़ों से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अत्युष्ण भूमिप्रदेशोंमें एक
मुहूर्तप्रमाण निद्राका अनुभव करता है, जो यथाकृत एक पार्श्व भागसे या दण्डायित आदिरूपसे
शयन करता है, करवट लेनेसे प्राणियोंको होनेवाली बाधाका निवारण करनेके लिए जो गिरे हुए
लकड़ीके कुन्देके समान या मुदके समान करवट नहीं बदलता, जिसका चित्त ज्ञानभावनामें
लगा हुआ है, व्यन्तरादिके द्वारा किये गये नाना प्रकारके उपसर्गोंसे भी जिसका शरीर चलाय-
मान नहीं होता और जो अनियतकालिक तत्कृत बाधाको सहन करता है उसके शय्यापरीषहजय
कहा जाता है ।

§ 826. मिथ्यादर्शनके उद्वेगसे कहे गये जो क्रोधाग्निकी शिखाको बढ़ाते हैं ऐसे क्रोधरूप,
कठोर, अवज्ञाकर, निन्दारूप और असम्य वचनोंको सुनते हुए भी जिसका उनके विषयमें चित्त
नहीं जाता है, यद्यपि तत्काल उनका प्रतीकार करनेमें समर्थ है फिर भी यह सब पापकर्मका
विपाक है इस तरह जो चिन्तन करता है, जो उन शब्दोंको सुनकर तपश्चरणकी भावनामें तत्पर
रहता है और जो कषायविषके लेशमात्रको भी अपने हृदयमें अवकाश नहीं देता उसके आक्रोश-
परीषहसहन निश्चित होता है ।

§ 827. तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोंके द्वारा ताड़न और पीड़न आदि-
से जिसका शरीर तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है तथापि मारनेवालोंपर जो लेशमात्र भी मनमें विकार
नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर
जलके बुलबुलेके समान विशरण-स्वभाव है, दुःखके कारणको ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं,
मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो

1. --संकटादिशी-- मृ. । 2. --पतिततद्दण्डव-- ता. । 3. --तासुवदुपरि-- मृ. । 4. ज्ञानपरिभावना-- मृ. ।

5. --नानि शृण्व-- मृ., दि. 1 । 2. --मेतैर्व्याबा-- मृ. ।

चिदुपहन्यन्ते इति चिन्तयतो वासितक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शनो वधपरिषहक्षमा मन्यते ।

§ 828. बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्सारीकृतमूर्तेः पटुतपनताप-
निष्पीतसारतरोरिव विरहितच्छाद्यस्य त्वगस्थिशिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणान्त्यये¹ सत्यप्याहार-
वसतिभेषजादीनि दीनाभिधानमुख्यवर्णार्ङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युद्योतवद्
दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरिषहसहनमवसीयते ।

§ 829. वायुवदसद्भावेनकदेशचारिणोऽभ्युपगतैककालसंभोजनस्य वाच्यमस्य तत्स-
मितस्य² वा सकृत्स्वतनुदर्शनमात्रतन्त्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु³ बहुषु च गृहेषु
भिक्षामनवाध्याप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुक्तस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तप इति
संतुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः ।

§ 830. सर्वाशुचिनिधानमिदमनित्यमपरित्राणमिति शरीरे निःसंकल्पत्वाद्विगतसंस्कारस्य
गुणरत्नभण्डसंचयप्रवर्धनसंरक्षण⁴संधारणकारणत्वादभ्युपगतस्थितिनिधानस्याक्षप्रक्षणवद् व्रणा-
नुलेपनवद्वा बहूपकारमाहारमभ्युपगच्छतो विरुद्धाहारपानसेवनवैषम्यजनितवातादिविकाररोगस्य
युगपदानेकशतसंख्यव्याधिप्रकोपे सत्यपि तद्वशवर्तितं विजहतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेष-
द्विद्योगे सत्यपि शरीरनिस्पृहत्वात्तत्प्रतिकारानपेक्षितो रोगपरिषहसहनमवगन्तव्यम् ।

विचार करता है वह बसूलसे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमें समदर्शी होता है, इसलिए उसके
वधपरीषहजय माना जाता है ।

§ 828. जो बाह्य और आभ्यन्तर तपके अनुष्ठान करनेमें तत्पर है, जिसने तपकी भावना-
के कारण अपने शरीरको सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्यके तापके कारण सार व छाया रहित
वक्षके समान त्वचा, अस्थि और शिराजालमात्र से युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणीका
वियोग होनेपर भी आहार, वसति और दवाई आदिकी दीन शब्द कहकर, मुखकी विवर्णता दिखा-
कर व संज्ञा आदिके द्वारा याचना नहीं करता तथा भिक्षाके समय भी जिसकी मूर्ति बिजलीकी
चमकके समान दुर्लक्ष्य रहती है ऐसे साधुके याचना परीषहजय जानना चाहिए ।

§ 829. वायुके समान निःसंग होनेसे जो अनेक देशोंमें विचरण करता है, जिसने दिन-
में एक कालके भोजनको स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषासमितिका पालन करता
है, एक बार अपने शरीरको दिखलानामात्र जिसका सिद्धान्त है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है,
बहुत दिन तक या बहुत घरोंमें भिक्षाके नहीं प्राप्त होनेपर भी जिसका चित्त संक्लेशसे रहित
है, दाताविशेषकी परीक्षा करनेमें जो निरुत्सुक है तथा लाभसे भी अलाभ मेरे लिए परम तप है
इस प्रकार जो संतुष्ट है उसके अलाभ परीषहजय जानना चाहिए ।

§ 830. यह सब प्रकारके अशुचि पदार्थोंका आश्रय है, यह अनित्य है और परित्राणसे
रहित है इस प्रकार इस शरीरमें संकल्परहित होनेसे जो विगतसंस्कार है, गुणरूपी रत्नोंके पात्रके
संचय, वर्धन, संरक्षण और संधारणका कारण होनेसे जिसने शरीरकी स्थितिनिधानको भले
प्रकार स्वीकार किया है, धुरको ओंगन लगानेके समान या व्रणपर लेप करनेके समान जो बहुत
उपकारवाले आहारको स्वीकार करता है, विरुद्ध आहार-पानके सेवनरूप विषमतासे
जिसके वातादि विकार रोग उत्पन्न हुए हैं, एक साथ सैकड़ों व्याधियोंका प्रकोप होनेपर भी जो
उनके आधीन नहीं हुआ है तथा तपोविशेषसे जल्लौषधि की प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियोंका
सम्बन्ध होनेपर भी शरीरसे निस्पृह होनेके कारण जो उनके प्रतीकारकी अपेक्षा नहीं करता
उसके रोगपरीषहसहन जानना चाहिए ।

1. प्राणवियोगे सत्य— मु. 1, 2. तत्समस्य वा आ., दि. 1, दि. 2. 3. --सेषु च मु. 1. 4. रक्षणकार--
आ., दि. 2, ता. 1.

§ 831. तृणग्रहणमुपलक्षणं कस्यचिद्व्यधनदुःखकारणस्य । तेन शुष्कतृणपरुषशर्कराकण्टक-
निशितमुत्तिकाशूलादिव्य^१धनकृतपादवेदनाप्राप्तौ सत्यां तत्राप्रणिहितचेतसश्चर्याशय्यानिषद्यासु
प्राणिपीडापरिहारे नित्यमप्रमत्तचेतसस्तृणादिस्पर्शबाधापरिषहविजयो वेदितव्यः ।

§ 832. अप्कायिकजन्तुपीडापरिहारायामरणादस्तानव्रतधारिणः षट्पदविकिरणप्रताप-
जनितप्रस्वे^२दास्तपवनानीतपांमुनिचयस्य सिध्मकण्डूदूदीर्णकण्डूयायामुत्पन्नायामपि कण्डूयन-
विमर्दनसंघट्टनविर्वाजितपूर्तः स्वगतमलोपचय^३परगतमलापचययोरसंकल्पितमनसः सज्ज्ञान-
चारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपंक^४निराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहनमाध्यायते^५ ।

§ 833. सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः । पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिब्रह्मव्रतः करणमामंत्रणं
वा, तत्रानादरो^७ मयि क्रियते । चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिर्णयज्ञस्य बहुकृत्वः
परवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमासनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोति । मिथ्यादृष्टय एवात्तौव
भक्तिमन्तः किञ्चिदजानन्तमपि सर्वज्ञसंभावनया समान्य^८स्वसमयप्रभावने कुर्वन्ति । व्यन्तरादयः
पुरा अत्युपगतपसां प्रत्यग्रपूजां निर्वर्तयन्तीति मिथ्या श्रुतियंदि न स्याद्विद्वान् कस्मान्मादृशां न
कुर्वन्तीति दुष्प्रणिधानविरहितचित्तस्य सत्कारपुरस्कारपरिषहविजय इति^९ विज्ञायते ।

§ 834. अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे

§ 831. जो कोई विधनेरूप दुःखका कारण है उसका 'तृण' पदका ग्रहण उपलक्षण है ।
इसलिए सूखा तिनका, कठोर कंकड़, काँटा, तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदिके विधनेसे पैरोंमें
वेदनाके होनेपर उसमें जिसका चित्त उपयुक्त नहीं है तथा चर्या, शय्या और निषद्यामें प्राणि-
पीडाका परिहार करनेके लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमादरहित है उसके तृणस्पर्शादि बाधा-
परीषहजय जानना चाहिए ।

§ 832. अप्कायिक जीवोंकी पीडाका परिहार करनेके लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्तान-
व्रत स्वीकार किया है, तीक्ष्ण सूर्यकी किरणोंके तापसे उत्पन्न हुए पसीनामें जिसके पवनके द्वारा
लाया गया धूलिसंचय चिपक गया है, सिध्म, खाज और दादके होनेसे खुजलीके होनेपर भी जो
खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थसे घिसनेरूप क्रियासे रहित है, स्वगत मलका उपचय
और सम्यक्चारित्ररूपी विमल जलके प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममलपंकको दूर करनेके लिए निरन्तर
उद्यतमति है उसके मलपीडासन कहा गया है ।

§ 833. सत्कारका अर्थ पूजा-प्रशंसा है । तथा क्रिया-आरम्भ आदिकमें आगे करना या
आमन्त्रण देना पुरस्कार है । इस विषयमें यह मेरा अनादर करता है । चिरकालसे मैंने ब्रह्मचर्य-
का पालन किया है, मैं महातपस्वी हूँ, स्वसमय और परसमयका निर्णयज्ञ हूँ, मैंने बहुत बार पर-
वादियोंको जीता है तो भी कोई मुझे प्रणाम और भक्ति नहीं करता और उत्साहसे आसन नहीं
देता, मिथ्यादृष्टि ही अत्यन्त भक्तिवाले होते हैं, कुछ नहीं जाननेवालेको भी सर्वज्ञ समझ कर
आदर सत्कार करके अपने समयकी प्रभावना करते हैं, व्यन्तरादिक पहले अत्यन्त उग्र तप करने
वालोंकी प्रत्यग्र पूजा रचते थे यह यदि मिथ्या श्रुति नहीं है तो इस समय वे हमारे समान तप-
स्वियोंकी क्यों नहीं करते हैं इस प्रकार छोटे अभिप्रायसे जिसका चित्त रहित है उसके सत्कार-
पुरस्कारपरीषहजय जानना चाहिए ।

§ 834. मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोंमें विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र

1. -व्यधन- मु. । 2. -स्वेदास्तपव- मु. । 3. -लोपचयगत- मु. । 4. संज्ञान- मु. । 5. पंकजाल-
निरा- मु. । 6. -ध्यायते । केशलुब्धसंस्काराभ्यामुत्पन्नस्वेदसहन मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम् ।
सत्कारः- मु. । 7. -दरोपि क्रि- मु. । 8. स्वभासनप्रभा- ता. । 9. -जयः प्रतिज्ञा- मु. ।

भास्करप्रभाभिभूतखद्योतोद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमवनिरासः प्रज्ञापरिषहजयः प्रत्येतव्यः ।

§ 835. अज्ञोऽयं न वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्य¹विक्षेपवचनं सहमानस्य परमदुश्चरतपोऽनुष्ठायिनो नित्यमप्रमत्तचेतसो मेऽद्या²पि ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इति अर्त्तभिसंबधतोऽज्ञानपरिषहजयोऽवगन्तव्यः ।

§ 836. परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्याहंवायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनप्रव्रजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते । महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमनर्थिकेयं प्रव्रज्या । विफलं व्रतपरिपालनमित्येवमसमाधानस्य दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरिषहसहनमवसातव्यम् ।

§ 837. एवं परिषहान्³ असंकल्पोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामास्त्रनिरोधान्महान् संवरो भवति ।

§ 838. आह, किमिमे परिषहाः सर्वे संसारमहाटवीमतिक्रमितुमभ्युद्यतमभिप्रवन्ति उत कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—अमी व्याख्यातलक्षणाः क्षुदादयश्चारित्र्यान्तराणि प्रति भाज्याः । नियमेन पुनरनयोः प्रत्येतव्याः—

और अध्यात्मशास्त्रमें निपुण हूँ । मेरे आगे दूसरे जन सूर्यकी प्रभासे अभिभूत हुए खद्योतके उद्योतके समान बिलकुल नहीं सुशोभित होते हैं इस प्रकार विज्ञानमदका निरास होना प्रज्ञापरीषहजय जानना चाहिए ।

§ 835. यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता है, पशुके समान है इत्यादि तिरस्कारके वचनोंको मैं सहन करता हूँ, मैंने परम दुश्चर तपका अनुष्ठान किया है, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है, तो भी मेरे अभी तक भी ज्ञानका अतिशय नहीं उत्पन्न हुआ है इस प्रकार विचार नहीं करनेवालेके अज्ञानपरीषजय जानना चाहिए ।

§ 836. परम वैराग्यकी भावनासे मेरा हृदय शुद्ध है, मैंने समस्त पदार्थोंके रहस्यको जान लिया है, मैं अरहन्त, आयतन, साधु और धर्मका उपासक हूँ, चिरकालसे मैं प्रव्रजित हूँ तो भी मेरे अभी ज्ञानातिशय नहीं उत्पन्न हुआ है । महोपवास आदिका अनुष्ठान करनेवालोंके प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए यह प्रलापमात्र है, यह प्रव्रज्या अनर्थक है, व्रतोंका पालन करना निरर्थक है इत्यादि बातोंका दर्शनविशुद्धिके योगसे मनमें नहीं विचार करनेवालेके अदर्शनपरिषहसहन जानना चाहिए ।

§ 837. इस प्रकार जो संकल्पके बिना उपस्थित हुए परीषहोंको सहन करता है और जिसका चित्त संक्लेश रहित है उसके रागादि परिणामोंके आस्रवका निरोध होनेसे महान् संवर होता है ।

§ 838. संसाररूपी महा अटवीको उल्लंघन करनेके लिए उद्यत हुए पुरुषोंको क्या ये सब परीषह प्राप्त होती हैं या कोई विशेषता है इसलिए यहाँ कहते हैं—जिनके लक्षण कह आये हैं ऐसे ये क्षुधादिक परीषह अलग-अलग चारित्र्यके प्रति विकल्पसे होते हैं । उसमें भी इन दोनोंमें नियमसे जानने योग्य—

1. -विक्षेप- मु. । -विविक्षेप- दि. 1, 2 । 2. मेऽद्यत्वेपि विज्ञा-मु. । 3. -षहान् सह- मु. ।

सूक्ष्म¹सांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥10॥

§ 839. क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधात्लाभरोगतृणस्पर्मलप्रज्ञाज्ञानानि । 'चतुर्दश' इति वचनादन्वेषां परिषहाणामभावो वेदितव्यः । आह युक्तं तावद्वीतरागच्छद्मस्थे मोहनीयाभावात्² तत्कृतवक्ष्यमाणोष्टपरिषहाभावाच्चतुर्दशनियमवचनम् । सूक्ष्मसांपराये तु मोहोदयसद्भावात् 'चतुर्दश' इति नियमो नोपपद्यत इति ? तदयुक्तम् ; सम्मात्रत्वात् । तत्र हि केवलो³ लोभसंज्वलनकषायोदयः सोऽप्यतिसूक्ष्मः । ततो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वात् 'चतुर्दश' इति नियमस्तत्रापि युज्यते । ननु मोहोदयसहायाभावान्मन्दोदयत्वाच्च क्षुदादिवेदनाभावात्तत्सहनकृतपरिषहव्यपदेशो न युक्तिमवतरति । तन्न ? किं कारणम् । शक्तिमात्रस्य विवक्षितत्वात् । सर्वार्थसिद्धिदेवस्य सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यव्यपदेशवत् ।

§ 840. आह, यदि शरीरवत्यात्मनि परिषहसंनिधानं प्रतिज्ञायते अयं भवति उत्पन्नकेवलज्ञाने कर्मचतुष्टयफलानुभवनवशवर्तिनि कियन्त उपनिपतन्तीत्यत्रोच्यते । तस्मिन्पुनः—

⁴एकादश जिने ॥11॥

§ 841. निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादशपरिषहाः संति । ननु च⁵ मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्तः ? सत्यमेवमेतत्—

सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थवीतरागके चौदह परीषह सम्भव हैं ॥10॥

§ 839. क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्म, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह हैं । सूत्रमें आये हुए 'चतुर्दश' इस वचनसे अन्य परीषहोंका अभाव जानना चाहिए । शंका—वीतरागछद्मस्थके मोहनीयके अभावसे तत्कृत आये कहे जानेवाले आठ परीषहोंका अभाव होनेसे चौदह परीषहोंके नियमका वचन तो युक्त है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयका उदय होनेसे चौदह परीषह होते हैं यह नियम नहीं बनता । समाधान—यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वहाँ मोहनीय का सद्भाव है । वहाँ पर केवल लोभ-संज्वलन कषायका उदय होता है और वह भी अतिसूक्ष्म होता है, इसलिए वीतराग छद्मस्थके समान होनेसे सूक्ष्मसाम्परायमें चौदह परीषह होते हैं यह नियम वहाँ भी बन जाता है । शंका—इन स्थानोंमें मोहके उदयकी सहायता नहीं होनेसे और मन्द उदय होनेसे क्षुदादि वेदनाका अभाव है इसलिए इनके कार्यरूपसे 'परीषह' संज्ञा युक्तिको नहीं प्राप्त होती । समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ शक्तिमात्र विवक्षित है । जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिके देवके सातवीं पृथ्वीके गमनके सामर्थ्यका निर्देश करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए ।

§ 840. यदि शरीरवाले आत्मामें परीषहोंके संनिधानकी प्रतिज्ञा की जाती है तो केवलज्ञानको प्राप्त और चार कर्मोंके फलके अनुभवके वशवर्ती भगवान्के कितने परीषह प्राप्त होते हैं इसलिए यहाँ कहते हैं । उनमें तो—

जिन में ग्यारह परीषह सम्भव हैं ॥11॥

§ 841. जिन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश कर दिया है ऐसे जिन भगवान्में वेदनीय-कर्मका सद्भाव होनेसे तन्निमित्तक ग्यारह परीषह होते हैं । शंका—मोहनीयके उदयकी सहायता

1. वेदनीयभावा ए पन्नानाणा उ आश्मे । अट्ठममि अलाभोत्थो छउमत्थे चोद्दस ॥'—पञ्चसं. डा. 4, गा. 22 ।
2. मुद्रितप्रती मोहनीयाभावाद्वक्ष्यमाणानान्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारादर्शनानि उत्कृताष्ट—इति पाठः । लिखितप्रतिषु च तथैव । परं नास्ती सम्यक् प्रतिभाति संशोधितपाठस्तु तत्त्वार्थवार्तिक-पाठानुसारी इति सोऽत्र योजितः ।
3. केवललोभ- मू. ।
4. 'क्षुप्पिवासुण्हेसीयाणि सेज्जा रोगो बहो यलो । तणफासो चरीया य दसेक्कारस जोगिसु ॥'—पञ्चसं. डा. 4, गा., 22 ।
5. ननु मोह—मू. ।

वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावपेक्षया परिषहोपचारः क्रियते, निरवशेषनिरस्तज्ञानातिशये चिन्ता-निरोधभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारवत् । अथवा—एकादश जिने 'न सन्ति' इति वाक्यशेषः कल्पनीयः, सोपस्कारत्वात्सूत्राणाम् । 'कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तव्य-धीनम्' इत्युपगमात् । मोहोदयसहायीकृतक्षुधादि^१वेदनाभावात् 'न सन्ति' इति वाक्यशेषः ।

न होनेसे क्षुधादि वेदनाके न होनेपर परीषह संज्ञा युक्त नहीं है । समाधान—यह कथन सत्य ही है तथापि वेदनाका अभाव होनेपर भी द्रव्यकर्मके सद्भावकी अपेक्षासे यहाँ परीषहोंका उपचार किया जाता है । जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरणके नाश हो जानेपर एक साथ समस्त पदार्थोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानातिशयके होनेपर चिन्ता-निरोधका अभाव होनेपर भी कर्मोंके नाश रूप उसके फलकी अपेक्षा ध्यानका उपचार किया जाता है उसी प्रकार यहाँ परीषहोंका उपचारसे कथन जानना चाहिए, अथवा जिन भगवान्में ग्यारह परीषह 'नहीं हैं' इतना वाक्यशेष कल्पित कर लेना चाहिए क्योंकि सूत्र उपस्कारसहित होते हैं । 'वाक्य शेषकी कल्पना करनी चाहिए और वाक्य वक्ताके अधीन होता है' ऐसा स्वीकार भी किया गया है । मोहके उदयकी सहायतासे होनेवाली क्षुधादि वेदनाओंका अभाव होनेसे 'नहीं हैं' यह वाक्यशेष उप-न्यस्त किया गया है ।

विशेषार्थ—जिन भगवान्के असाता वेदनीयका उदय होता है और यह क्षुधादि वेदना-का कारण है इसलिए यहाँ जिन भगवान्के कारणकी दृष्टिसे क्षुधादि ग्यारह परीषह कहे जाते हैं । पर क्या सचमुचमें जिन भगवान्के क्षुधादि ग्यारह परीषह होते हैं यह एक प्रश्न है जिसका समाधान टीकामें दो प्रकारसे किया है । पहले तो जिन भगवान्के क्षुधादि परीषहोंके होनेके कारणके सद्भावकी अपेक्षा उनके उपचारसे अस्तित्वका निर्देश किया है पर कार्यरूपमें क्षुधादि ग्यारह परीषह जिन भगवान्के नहीं होते इसलिए इस दृष्टिसे 'न सन्ति' इस वाक्यशेषकी योजना कर वहाँ उनका निषेध किया है । अब यहाँ यह देखना है कि जिन भगवान्के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते यह कैसे समझा जाय । वे इस कालमें पाये तो जाते नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष देखकर तो यह जाना नहीं जा सकता । एक मात्र आगमकी पुष्ट करनेवाली युक्तियाँ ही शेष रहती हैं जिनके अवलम्बनसे यह बात समझी जा सकती है, अतः यहाँ उन्हींका निर्देश करते हैं—

१. केवली जिन के शरीरमें निगोद और त्रस जीव नहीं रहते । उनका क्षीणमोह गुण-स्थान में अभाव होकर वे परम औदारिक शरीरके धारी होते हैं । अतः भूख, प्यास और रोगा-दिकका कारण नहीं रहनेसे उन्हें भूख, प्यास और रोगादिककी बाधा नहीं होती । देवोंके शरीर-में इन जीवोंके न होनेसे जो विशेषता होती है उससे अनन्तगुणी विशेषता इनके शरीरमें उत्पन्न हो जाती है । २. श्रेणि आरोहण करने पर प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग उत्तरोत्तर अमन्तगुणा बढ़ता जाता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग प्रति समय अनन्तगुणा हीन होता जाता है । इसलिए तेरहवें गुणस्थानमें होनेवाला असाता प्रकृतिका उदय इतना बलवान् नहीं होता जिससे उसे क्षुधादि कार्योंका सूचक माना जा सके । ३. असाताकी उदीरणा छोटे गुणस्थान तक ही होती है, आगे नहीं होती, इसलिए उदीरणाके अभावमें वेदनीय कर्म क्षुधादिरूप कार्यका वेदन करानेमें असमर्थ है । जब कि केवली जिन के शरीरको पान्ती और भोजनकी ही आवश्यकता नहीं रहती तब इनके न मिलनेसे जो क्षुधा और तृषा होती है वह उनके हो ही कैसे सकती है ।

१. 'कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तव्यधीनं हि' --पा. म. भा. १, १, ४ । २. --भावात् । आह म. ।

§ 842. आह, यदि सूक्ष्मसांपरायादिषु व्यस्ताः परिषहाः अथ समस्ताः¹ ताः क्वेति—

²बादरसांपराये सर्वे ॥12॥

§ 843. सांपरायः कषायः । बादरः सांपरायो यस्य स बादरसांपराय इति । नेवं गुणस्थान-विशेषग्रहणम् । किं तर्हि ? अर्थनिर्देशः । तेन प्रमत्तादीनां संयतानां ग्रहणम् । तेषु हि ³अक्षीण-कषायदोषत्वात्सर्वे संभवन्ति । कस्मिन् पुनश्चारित्र्ये सर्वेषां संभवः ? सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसंयमेषु⁴ प्रत्येकं सर्वेषां संभवः ।

वेदनीय कर्मका कार्यं कुछ शरीरमें पानी तत्त्व और भोजन तत्त्वका अभाव करना नहीं है । वास्तवमें इनका अभाव अन्य कारणोंसे होता है । हाँ, इनका अभाव होनेपर इनकी पूर्तिके लिए जो वेदना होती है वह वेदनीय कर्मका काम है । सो जब कि केवली जिन के शरीरको उनकी आवश्यकता ही नहीं रहती, तब वेदनीयके निमित्तसे तज्जनित वेदना कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती । 4. केवली जिन के साताका आस्रव सदाकाल होनेसे उसकी निर्जरा भी सदाकाल होती रहती है, इसलिए जिस कालमें असाताका उदय होता है उस कालमें केवल उसका ही उदय नहीं होता, किन्तु उससे अनन्तगुणी शक्तिवाले साताके साथ वह उदयमें आता है । माना कि उस समय उसका स्वमुखेन उदय है पर वह प्रति समय बंधनेवाले साता कर्मपरमाणुओं की निर्जराके साथ ही होता है, इसलिए असाताका उदय वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाका कारण नहीं हो सकता । 5. सुख-दुःखका वेदन वेदनीय कर्मका कार्य होने पर भी वह मोहनीयकी सहायतासे ही होता है । यतः केवली जिन के मोहनीयका अभाव होता है, अतः वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाओंका सद्भाव मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । इन प्रमाणोंसे निश्चित होता है कि केवली जिन के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते ।

§ 842. कहते हैं—यदि सूक्ष्मसाम्पराय आदि में अलग-अलग परीषह होते हैं तो मिलकर वे कहाँ होते हैं, यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बादरसाम्परायमें सब परीषह सम्भव हैं ॥12॥

§ 843. साम्पराय कषायको कहते हैं । जिसके साम्पराय बादर होता है वह बादरसाम्पराय कहलाता है । यह गुणस्थान विशेषका ग्रहण नहीं है । तो क्या है ? सार्थकनिर्देश है । इससे प्रमत्त आदिक संयतोंका ग्रहण होता है । इनमें कषाय और दोषोंके अथवा कषायदोषके क्षीण न होनेसे सब परीषह सम्भव हैं । शंका—तो किस चारित्र्यमें सब परीषह सम्भव हैं ? समाधान—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धिसंयम इनमेंसे प्रत्येकमें सब परीषह सम्भव हैं ।

विशेषार्थ—बादरसाम्पराय अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थानका दूसरा नाम है । नौवें गुणस्थान तक स्थूल कषायका सद्भाव होता है, इसलिए अन्तदीपक न्यायसे इस गुणस्थानका नाम भी बादरसाम्पराय है । यहाँ 'बादरसाम्पराय' पदसे इस गुणस्थानका ग्रहण न हो, इसीलिए टोकामें इसका निषेध किया है, क्योंकि बादरसाम्परायमें तो बाईस परीषह सम्भव हैं, बादरसाम्पराय नामक नौवें गुणस्थानमें नहीं । कारण कि इस गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयका उदय नहीं होता । दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं । उनमेंसे सम्यक्त्वमोहनीयका उदय सातवें गुणस्थान तक ही सम्भव है, क्योंकि यहीं तक वेदक सम्यक्त्व होता है, इसलिए यहाँ पर बादर-

1. समस्ताः क्वेति मु. । 2. 'निसेज्जा जायणाकोसो अरई इत्थिनग्गया । सक्कारो दंसणं मोहा बावीसा चेव रागिणु ॥'—पंचसं. डा. 4, गा. 23 । 3. अक्षीणाशयत्वात्सर्वे—आ., दि. 1, 2, ता. । 4 --संयमेष्वन्यतमे सर्वे—मु. ता. ।

§ 844. आह, गृहीतमेतत्परिषहाणां स्थानविशेषावधारणम्, इदं तु न विदुः कस्याः प्रकृतेः कः कार्यं इत्यत्रोच्यते—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥13॥

§ 845. इवमयुक्तं वर्तते । किमत्रायुक्तम् ? ज्ञानावरणे सत्यज्ञानपरिषह उपपद्यते, प्रज्ञापरिषहः पुनस्तदपाये भवतीति कथं ज्ञानावरणे स्यात् ? इत्यत्रोच्यते—आयोपशमिकी प्रज्ञा अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मंदं जनयति न सकलावरणक्षये इति ज्ञानावरणे सतीत्युपपद्यते ।

§ 846. पुनरपरयोः परिषहयोः प्रकृतिविशेषनिर्देशार्थमाह—

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥14॥

§ 847. यथासंख्यमभिसंबन्धः । दर्शनमोहे अवर्शनपरिषहो, लाभान्तराये अलाभपरिषह इति ।

साम्पराय अर्थात् स्थूल कषायमें सब परीषह सम्भव हैं यही अर्थ लेना चाहिए ।

§ 844. कहते हैं—इन परीषहोंके स्थानविशेषका अवधारण किया, किन्तु हम यह नहीं जानते कि किस प्रकृतिका क्या कार्य है इसलिए यहाँपर कहते हैं—

ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं ॥13॥

§ 845. शंका—यह अयुक्त है ? प्रतिशंका—यहाँ क्या अयुक्त है । शंका—माना कि ज्ञानावरणके होनेपर अज्ञान परीषह उत्पन्न होता है, परन्तु प्रज्ञा परीषह उसके अभावमें होता है, इसलिए वह ज्ञानावरणके सद्भावमें कैसे हो सकता है ? समाधान—यहाँ कहते हैं—आयोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरणके होनेपर मदकी उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणके क्षय होने पर नहीं, इसलिए ज्ञानावरणके होनेपर प्रज्ञा परीषह होती है यह कथन बन जाता है ।

विशेषार्थ—विकल्पका अर्थ श्रुतज्ञान है, इसलिए जहाँ तक श्रुतज्ञान होता है वहाँ तक 'मैं अधिक जानता हूँ, यह कुछ भी नहीं जानता' ऐसा विकल्प देखा जाता है । यद्यपि इस प्रकारका विकल्प करनेवाले व्यक्ति को अधिक ज्ञानका लाभ ज्ञानावरण कर्मके प्रकृष्ट क्षयोपशमसे होता है तथापि जबतक आयोपशमिक ज्ञान होता है तभी तक यह विकल्प होता है और आयोपशमिक ज्ञान उदयसापेक्ष होता है, इसलिए यहाँ पर इस प्रकारके विकल्पका मुख्य कारण ज्ञानावरण कर्मका उदय कहा है । बहुतसे जीवोंको मोहका उदय रहते हुए भी ऐसा भाव होता है कि 'मैं महाप्राज्ञ हूँ, मेरी बराबरी करनेवाला अन्य कोई नहीं ।' पर यहाँ मोहके उदयसे होनेवाले इस भावका ग्रहण नहीं किया है । यहाँ तो अपनी अज्ञानतावश जो अल्पज्ञानको महाज्ञान माननेका विकल्प होता है उसीका ग्रहण किया है । इस प्रकार ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान दो परीषह होते हैं यह निश्चित होता है ।

§ 846. पुनः अन्य दो परीषहोंको प्रकृति विशेषका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

दर्शनमोह और अन्तरायके सद्भावमें क्रमसे अवर्शन और अलाभ परीषह होते हैं ॥14॥

§ 847. इस सूत्रमें 'यथासंख्य' पदका सम्बन्ध होता है । दर्शनमोहके सद्भावमें अवर्शन परीषह होता है और लाभान्तरायके सद्भावमें अलाभ परीषह होता है ।

विशेषार्थ—दर्शनमोहसे यहाँ सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति ली गयी है । इसका उदय रहते हुए चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं । सम्यक्त्वके रहते हुए भी आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें नाना विकल्प होना चल दोष है । जिस प्रकार जलके स्वस्थ होते हुए भी उसमें बायुके निमित्तसे तरंगमाला उठा करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अपने

आह, यद्याद्ये मोहनीयभेदे एकः परिषहः अथ द्वितीयस्मिन् कति भवन्तीत्यत्रोच्यते—

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥15॥

§ 848. पुं वेदोदयादिनिमित्तत्वान्नाग्न्यादिपरिषहाणां मोहोदयनिमित्तत्वं प्रतिपद्यामहे । निषद्यापरिषहस्य कथम् ? तत्रापि प्राणिपीडापरिहारार्थत्वात् । मोहोदये सति प्राणिपीडापरिणामः संजायत इति ।

स्वरूपमें स्थित रहता है तथापि सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंके विषय में उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है । यही चल दोष है । मलका अर्थ मेल है । शंकादि दोषोंके निमित्तसे सम्यग्दर्शनका मलिन होना मल दोष है । यह भी सम्यक्त्व मोहनीयके उदयमें होता है । तथा अगाढका अर्थ स्थिर न रहना है । सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक प्रयोजनवश कदाचित् तत्त्वसे चलायमान होने लगता है । उदाहरणार्थ—अन्य अन्यका कर्ता नहीं होता यह सिद्धान्त है और सम्यग्दृष्टि इसे भली प्रकार जानता है, पर रागवश वह इस सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह पाता । कदाचित् वह पारमार्थिक कार्यको भी लौकिकप्रयोजनका प्रयोजक मान बैठता है । इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीयके उदयसे ये तीन दोष होते हैं । ये तीनों एक हैं फिर भी भिन्न-भिन्न अभिप्रायकी दृष्टिसे यहाँ इन्हें पृथक्-पृथक् रूपसे परिगणित किया है । प्रकृतमें इसी दोषको ध्यानमें रखकर अदर्शन परीषहका निर्देश किया है । यह दर्शनमोहनीयके उदयसे होता है, इसलिए इसे दर्शनमोहनीयका कार्य कहा है । भोजनादि पदार्थोंका न प्राप्त होना अन्य बात है पर भोजनादि पदार्थोंके न मिलने पर जिसके 'अलाभ' परिणाम होता है उसका वह परिणाम लाभान्तराय कर्मका कार्य होनेसे अलाभको लाभान्तराय कर्मका कार्य कहा है । परके लाभको स्वका लाभ मानना मिथ्यात्व दर्शनमोहनीयका कार्य है, इसलिए यहाँ इसकी विवक्षा नहीं है । यहाँ तो अलाभ परिणाम किसके उदयमें होता है इतना ही विचार किया है । इसप्रकार अदर्शन-भाव मोहनीय कर्मका और अलाभभाव लाभान्तराय कर्मका कार्य है यह निश्चित होता है ।

कहते हैं—यदि आदिके मोहनीयके भेदके होनेपर एक परीषह होता है तो दूसरे भेदके होनेपर कितने परीषह होते हैं, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

चारित्रमोहके सद्भावमें नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होते हैं ॥15॥

§ 848. शंका—नाग्न्यादि परीषह पुं वेदोदय आदिके निमित्तसे होते हैं, इसलिए मोहोदयको उनका निमित्त कहते हैं पर निषद्यापरीषह मोहोदयके निमित्तसे कैसे होता है ? समाधान—उसमें भी प्राणिपीडाके परिहारकी मुख्यता होनेसे वह मोहोदयनिमित्तक माना गया है, क्योंकि मोहोदयके होनेपर प्राणिपीडारूप परिणाम होता है ।

विशेषार्थ—आगे चर्या और शय्याको वेदनीयनिमित्तक कहा है और यहाँ निषद्याको मोहनीयनिमित्तक । ये दोनों परीषह एक श्रेणीके हैं । फिर क्या कारण है कि इनमेंसे निषद्याको मोहोदय निमित्तक कहा है । यदि चर्या और शय्या परीषह वेदनीयनिमित्तक होते हैं तो इसे वेदनीयनिमित्तक क्यों नहीं माना जाता । यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर टीकामें दिया है । वहाँ बतलाया है कि प्राणिपीडारूप परिणाम मोहोदयसे होता है और निषद्यापरीषहजयमें इस प्रकारके परिणामपर विजय पानेकी मुख्यता है । यही कारण है कि निषद्याको चारित्रमोहनिमित्तक माना है । माना कि इस विवक्षासे चर्या और शय्या परीषहको भी मोहोदयनिमित्तक मान सकते थे पर वहाँ कण्टकादिकके निमित्तसे होनेवाली वेदनाकी मुख्यता करके उक्त दोनों परीषह वेदनीयनिमित्तक कहे हैं । तात्पर्य यह है कि चर्या, शय्या और निषद्या इनमें प्राणिपीडा और

§ 849. अवशिष्टपरिषहप्रकृतिविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनीये शेषाः ॥16॥

§ 850. उक्ता एकादश परिषदाः । तेभ्योऽन्ये शेषाः वेदनीये सति 'भवन्ति' इति वाक्य-
शेषः । के पुनस्ते ? क्षुरिपपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरिषदाः ।

§ 851. आह, व्याख्यातनिमित्तलक्षणविकल्पाः प्रस्थात्मनि प्रादुर्भवन्तः कति युगपदव-
तिष्ठन्त इत्यत्रोच्यते—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतेः ॥17॥

§ 852. आङ्गभिधिव्यर्थः । तेन एकोनविंशतिरपि क्वचित् युगपत्संभवतीत्यवगम्यते ।
तत्कथम् ? इति चेदुच्यते—शीतोष्णपरिषहयोरेकः शय्यानिषद्याचर्याणां ¹चान्यतम एव भवति
एकस्मिन्नात्मनि । कृतः ? विरोधात् । तत्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनीतरेषां संभवादेकोनविंशति-
विकल्पा ² बोद्धव्याः । ननु प्रज्ञाज्ञानयोरपि विरोधाद्युगपदसंभवः ? श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञापरिषहः

कण्टकादिनिमित्तक वेदना ये दोनों कार्य सम्भव हैं । इसलिए इन दोनों कार्योंका परिज्ञान कराने
के लिए निषद्याको मोहनिमित्तक और शेष दोको वेदनीयनिमित्तक कहा है ।

§ 849. अब अवशिष्ट परीषहोंकी प्रकृति विशेषका कथन करनेकेलिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

बाकीके सब परीषह वेदनीयके सद्भावमें होते हैं ॥16॥

§ 850 ग्यारह परीषह पहले कह आये हैं । उनसे अन्य शेष परीषह हैं । वे वेदनीयके
सद्भावमें होते हैं । यहाँ 'भवन्ति' यह वाक्यशेष है । शंका—वे कौन-कौन हैं ? समाधान—क्षुधा,
पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मलपरिषह ।

विशेषार्थ—शरीरमें भोजनका कम होना, पानीका कम होना, कण्टका सूखना, ऋतुमें
ठण्डी या गरमीका होना, डांस-मच्छरका काटना, गमन व शयन करते समय कण्टक आदिका
चुभना, किसीके द्वारा मारना, गाली-गलौज करना, शरीरमें रोगका होना, तिनका आदिका
चुभना और शरीरमें मलका जमा होना आदि अपने-अपने कारणोंसे होते हैं । इनका कारण
वेदनीय कर्मका उदय नहीं है पर इन कामोंके होने पर भूखकी वेदना होती है, प्यास लगती है
आदि वह वेदनीय कर्मका कार्य है । ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना चाहिए ।

§ 851. कहते हैं, परीषहों के निमित्त, लक्षण और भेद कहे । प्रत्येक आत्मामें उत्पन्न
होते हुए वे एक साथ कितने हो सकते हैं, इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

एक साथ एक आत्मामें एकसे लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्पसे हो सकते हैं ॥17॥

§ 852. यहाँ 'आङ्' अभिविधि अर्थ में आया है । इससे किसी एक आत्मामें एक साथ
उन्नीस भी सम्भव हैं यह ज्ञात होता है । शंका—यह कैसे ? समाधान—एक आत्मामें शीत और
उष्ण परीषहोंमें-से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या इनमें-से कोई एक परीषह ही होते हैं,
क्योंकि शीत और उष्ण इन दोनोंके तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनोंके एक साथ होनेमें
विरोध आता है । इन तीनोंके निकाल देनेपर एक साथ एक आत्मामें इतर परीषह सम्भव होनेसे
वे सब मिलकर उन्नीस परीषह जानना चाहिए । शंका—प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमें भी विरोध
है, इसलिए इन दोनों का एक साथ होना असम्भव है ? समाधान—एक साथ एक आत्मामें श्रुत-

1. --चर्याणामन्यतम मु. । 2. कल्पो बोद्धव्यो । ननु आ., दि. 2 ।

अवधिज्ञाना¹द्यभावापेक्षया अज्ञानपरिषह इति नास्ति विरोधः ।

§ 853. आह, उक्ता गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयाः संवरहेतवः पञ्च । संवरहेतु-
श्चारित्रसंज्ञो वक्तव्य इति तद्भेदप्रदर्शनार्थमुच्यते—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति
चारित्रम् ॥18॥

§ 854. अत्र चोद्यते—दशविधे धर्मे संयम उक्तः स एव चारित्रमिति पुनर्ग्रहणमनर्थक-
मिति ? नानर्थकम् ; धर्मेऽन्तर्भूतमपि चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञाप-
नार्थम् । सामायिकमुक्तम् । क्व ? 'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक—' इत्यत्र । तद् द्विविधं
नियतकालमनियतकालं च । स्वाध्यायादि नियतकालम् । ईर्यापथाद्यनियतकालम्² । प्रमादकृता-
नर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा । परिहरणं परिहारः प्राणि-
वधान्वित्तिः । तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिन्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् । अतिसूक्ष्मकषायत्वात्सूक्ष्म-
सांपरायचारित्रम् । मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं अथा-
ख्यातचारित्रमित्याख्यायते । पूर्वचारित्रानुष्ठायिभिराख्यातं न तत्प्राप्तं प्राङ्मोहक्षयोपशमाभ्या-
मित्ययाख्यातम् । अथशब्दस्यानन्तर्यार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमानन्तरमाविर्भवतीत्यर्थः⁴ ।

ज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान आदिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं है ।

§ 853. कहते हैं, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये पाँच संवरके हेतु कहे । अब चारित्रसंज्ञक संवरका हेतु कहना चाहिए, इसलिए उसके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकारका चारित्र है ॥18॥

§ 854. शंका—दश प्रकारके धर्ममें संयमका कथन कर आये हैं और वह ही चारित्र है, इसलिए उसका फिरसे ग्रहण करना निरर्थक है ? समाधान—निरर्थक नहीं है, क्योंकि धर्ममें अन्तर्भाव होनेपर भी चारित्र मोक्ष-प्राप्तिका साक्षात् कारण है यह दिखलानेके लिए उसका अन्तर्में ग्रहण किया है । सामायिकका कथन पहले कर आये हैं । शंका—कहाँ पर ? समाधान—'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक'—इस सूत्रका व्याख्यान करते समय । वह दो प्रकारका है—नियतकाल और अनियतकाल । स्वाध्याय आदि नियतकाल सामायिक है और ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है । प्रमादकृत अनर्थप्रबन्धका अर्थात् हिंसादि अव्रतोंके अनुष्ठानका विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करनेपर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुनः व्रतोंका ग्रहण होत है वह छेदोपस्थापना चारित्र है । अथवा विकल्पोंकी निवृत्तिका नाम छेदोपस्थापनाचारित्र है प्राणिवधसे निवृत्तिको परिहार कहते हैं । इससे युक्त शुद्धि जिस चारित्रमें होती है वह परिहार-विशुद्धि चारित्र है । जिस चारित्रमें कषाय अतिसूक्ष्म हो जाता है वह सूक्ष्मसाम्परायचारित्र है । समस्त मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे जैसा आत्माका स्वभाव है उस अवस्थास्वरूप अपेक्षा लक्षण जो चारित्र होता है वह अथाख्यातचारित्र कहा जाता है । पूर्व चारित्रका अनुष्ठान करने-वालोंने जिसका कथन किया है पर मोहनीयके क्षय या उपशम होनेके पहले जिसे प्राप्त नहीं किया,

1. --ज्ञानापेक्षया मु. । 2. --कालं च । प्रमा— ता. । 3. --नन्तरार्थवर्ति— मु., ता. । 4. --त्यर्थः । तथा— मु., ता., ना. ।

‘यथाख्यातम्’ इति वा; यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात् । ‘इति’ शब्दः परिसमाप्तौ द्रष्टव्यः । ततो यथाख्यातचारित्रात्सकलकर्मक्षयपरिसमाप्तिर्भवतीति ज्ञाप्यते । सामायिकादीना-मानुपूर्व्यवचनमुत्तरोत्तरगुणप्रकर्ष^१ख्यापनार्थं क्रियते ।

§ 855. आह, उक्तं चारित्रम् । तदनन्तरमुद्दिष्टं यत् ‘तपसा निर्जरा च’ इति तस्येदानीं

इसलिए उसे अथाख्यात कहते हैं । ‘अथ’ शब्द ‘अनन्तर’ अर्थवर्ती होनेसे समस्त मोहनीय कर्मके क्षय या उपशमके अनन्तर वह आविर्भूत होता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है । अथवा इस चारित्रका एक नाम यथाख्यात भी है । जिस प्रकार आत्माका स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिए इसे यथाख्यात कहते हैं । सूत्रमें आया हुआ ‘इति’ शब्द परिसमाप्ति अर्थमें जानना चाहिए । इसलिए इससे यथाख्यात चारित्रसे समस्त कर्मोंके क्षयकी परिसमाप्ति होती है यह जाना जाता है । उत्तरोत्तर गुणोंके प्रकर्षका ख्यापन करनेके लिए सामायिक, छेदो-पस्थापना इत्यादि क्रमसे इनका नामनिर्देश किया है ।

विशेषार्थ—चारित्र यह एक प्रकारका होकर भी उसके पाँच भेद विवक्षाविशेषसे किये गये हैं । सामायिकमें सर्वसावद्यकी निवृत्तिरूप परिणाम की मुख्यता है । छेदोपस्थापनामें चारित्र^१ लगनेवाले दोषोंके परिमार्जनकी मुख्यता है । परिहारविशुद्धि चारित्र ऐसे संयतके होता है ज-तीस वर्षतक गृहस्थ अवस्थामें सुखपूर्वक विताकर संयत होनेपर तीर्थकर पादमूलकी परिचर्या करते हुए आठ वर्ष तक प्रत्याख्यानपूर्वका अध्ययन करता है । यह जन्तुओंकी रक्षा कैसे करनी चाहिए, वे किस द्रव्यके निमित्तसे किस क्षेत्र और किस कालमें विशेषतः उत्पन्न होते हैं, जीवोंकी योनि और जन्म कितने प्रकारके होते हैं इत्यादि बातोंकी भले प्रकार जानता है । यह प्रमाद-रहित, महाबलशाली, कर्मोंकी महानिर्जरा करनेवाला और अति दुष्कर चर्याका अनुष्ठान करने-वाला होता है । तथा यह तीनों संध्याकालोंको छोड़कर दो कोस गमन करनेवाला होता है । इन सब कारणोंसे इस संयतके ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न होती है जिसके बलसे यह अन्य जीवोंको बाधा पहुँचाये बिना चर्या करनेमें समर्थ होता है । सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रका अर्थ स्पष्ट ही है । इस प्रकार विवक्षाभेदसे एक चारित्र पाँच प्रकारका कहा गया है ।

इनसे से सामायिक और छेदोपस्थापनाकी जघन्य विशुद्धिलब्धि सबसे अल्प होती है । इससे परिहारविशुद्धि चारित्रकी जघन्य विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है । इससे इसीकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है । इससे सामायिक और छेदोपस्थापनाकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है । इससे सूक्ष्मसाम्पराय चारित्रकी जघन्य विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है । इससे इसीकी उत्कृष्ट विशुद्धिलब्धि अनन्तगुणी होती है । इससे यथाख्यात चारित्रकी विशुद्धिलब्धि एक प्रकारकी होकर भी अनन्तगुणी होती है । यही कारण है कि सूत्रमें सामायिक छेदोपस्थापना इत्यादि क्रमसे इन पाँचोंका नाम निर्देश किया है । पहले दस प्रकारके धर्मका निर्देश करते समय संयमधर्म कह आये हैं, इसलिए चारित्रका अन्तर्भाव उसमें हो जानेके कारण यहाँ इसका अलगसे कथन करनेकी आवश्यकता नहीं होती है फिर भी समस्त कर्मका क्षय चारित्रसे होता है यह दिखलानेके लिए यहाँ चारित्रका पृथक् रूपसे व्याख्यान किया है ।

§ 855. कहते हैं, चारित्रका कथन किया । संवरके हेतुओंका निर्देश करनेके बाद ‘तपसा निर्जरा च’ यह सूत्र कहा है, इसलिए यहाँ तपका विधान करना चाहिए, अतः यहाँ

1. —कर्षज्ञापनार्थम् मु. ।

तपसो विधानं कर्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद् द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्प्रत्येकं षड्विधम् । तत्र बाह्यभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह ।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा

बाह्यं तपः ॥19॥

§ 856. दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम् । संयमप्रजाग¹रदोषप्रशमसन्तोषस्वाध्यायादिमुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम् । भिक्षाशिनो मुनेरेकागारादिविषयः² संकल्पः चिन्ताबरोधो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम् । इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायमुखसिद्ध्यर्थ³घृतादिबृध्दरसपरित्यागश्चतुर्थं तपः । शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनमाबाधात्पयब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यमिति पञ्चमं तपः । आतपस्थानं वृक्षमूलनिवासो निरावरणशयनं बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः⁴ तत् षष्ठं तपः । तत्किमर्थम् ? देहदुःखतितिक्षामुखानभिष्वङ्गप्रवचनप्रभावनाद्यर्थम् । परिषहस्यास्य च को विशेषः ? यदृच्छयोपनिपतितः परिषहः । स्वयंकृतः कायक्लेशः । बाह्यत्वमस्य कुतः ? बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम् ।

§ 857. आभ्यन्तरतपोभेदप्रदर्शनार्थमाह—

कहते हैं—वह दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर । उसमें भी यह प्रत्येक छह प्रकारका है । उनमें से पहले बाह्य तपके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बाह्य तप है ॥19॥

§ 856. दृष्टफल मन्त्र साधना आदिकी अपेक्षा किये बिना संयमकी सिद्धि, रागका उच्छेद, कर्मोंका विनाश, ध्यान और आगमकी प्राप्तिके लिए अनशन तप किया जाता है । संयमको जागृत रखने, दोषोंके प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्याय आदिकी सुखपूर्वक सिद्धिके लिए अवमौदर्य तप किया जाता है । भिक्षाके इच्छुक मुनिका एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ताका अवरोध करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है । आशाकी निवृत्ति इसका फल जानना चाहिए । इन्द्रियोंके दर्पका निग्रह करनेके लिए, निद्रापर विजय पानेके लिए और सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए घृतादि गरिष्ठ रसका त्याग करना चौथा तप है । एकान्त, जन्तुओंकी पीडासे रहित शून्य घर आदिमें निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदिकी प्रसिद्धिके लिए संयतकी शय्यासन लगाना चाहिए । यह पाँचवाँ तप है । आतापनयोग, वृक्षके मूलमें निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकारके प्रतिमास्थान इत्यादि करना कायक्लेश है, यह छठा तप है । यह किसलिए किया जाता है ? यह देह-दुःखको सहन करनेके लिए, सुखविषयक आसक्ति-को कम करनेके लिए और प्रवचनकी प्रभावना करनेके लिए किया जाता है । शंका—परीषह और कायक्लेशमें क्या अन्तर है ? समाधान—अपने आप प्राप्त हुआ परीषह और स्वयं किया गया कायक्लेश है, यही इन दोनोंमें अन्तर है । शंका—इस तपको बाह्य क्यों कहते हैं ? समाधान—यह बाह्य-द्रव्यके आलम्बनसे होता है और दूसरोंके देखनेमें आता है, इसलिए इसे बाह्य तप कहते हैं ।

§ 857. अब आभ्यन्तर तपके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. —गरणदोष—आ., दि. 1, दि. 2, ना. । 2. —विषयसंकल्पचिन्ताव-- ता., मु. : -विषयः संकल्पचिन्ताव-दि. 1, दि. 2 । 3. सिद्धयर्थो मु., दि. 2 । 4. —क्लेशः षष्ठं मु. ता. ।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥20॥

§ 858. कथमस्याभ्यन्तरत्वम् ? मनोनियमनार्थत्वात् । प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम् । पूज्येष्वादारो विनयः । कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण ¹चोपासनं वैयावृत्यम् । ज्ञानभावनातस्य त्यागः स्वाध्यायः । आत्मात्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः । चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम् ।

§ 859. तद्भेदप्रतिपादनार्थमाह—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥21॥

§ 860. 'यथाक्रमम्' इति वचनान्नवभेदं प्रायश्चित्तम्, विनयश्चतुर्विधः, वैयावृत्यं दशविधम्, स्वाध्यायः पञ्चविधः, द्विभेदो² व्युत्सर्ग इत्यभिसंबध्यते । 'प्राग्ध्यानात्' इति वचनं ध्यानस्य बहुवक्तव्यत्वात्पदचाद्वक्ष्यत इति ।

§ 861. आद्यस्य भेदस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥22॥

§ 862. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम् ।³ मिथ्याबुद्धताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम् । [तदुभय] संसर्गं सति विशोधनात्तदुभयम् । संसक्तान्नपानोप-

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है ॥20॥

§ 858. शंका—इसे आभ्यन्तर तप क्यों कहते हैं ? समाधान—मनका नियमन करनेवाला होनेसे इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं । प्रमादजन्य दोषका परिहार करना प्रायश्चित्त तप है । पूज्य पुरुषोंका आदर करना विनय तप है । शरीरकी चेष्टा या दूसरे द्रव्यद्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है । आलस्यका त्यागकर ज्ञानकी आराधना करना स्वाध्याय तप है । अहंकार और ममकारूप संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग तप है, तथा चित्तके विक्षेपका त्याग करना ध्यान तप है ।

§ 859. अब इनके भेदोंको दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ध्यानसे पूर्वके आभ्यन्तर तपोंके अनुक्रमसे नौ, चार, दश, पाँच और दो भेद हैं ॥21॥

§ 860. सूत्रमें 'यथाक्रमम्' यह वचन दिया है । इससे प्रायश्चित्त नौ प्रकारका है, विनय चार प्रकारका है, वैयावृत्य दश प्रकारका है, स्वाध्याय पाँच प्रकारका है और व्युत्सर्ग दो प्रकारका है ऐसा सम्बन्ध होता है । सूत्रमें—'प्राग्ध्यानात्' यह वचन दिया है, क्योंकि ध्यानके विषयमें बहुत कुछ कहना है, इसलिए उसका आगे कथन करेंगे ।

§ 861. अब पहले आभ्यन्तर तपके भेदोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकारका प्रायश्चित्त है ॥22॥

§ 862. गुरुके समक्ष दश दोषोंको ढालकर अपने प्रमादका निवेदन करना आलोचना है । 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरुसे ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है । आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंका संसर्ग होनेपर दोषोंका शोधन होनेसे तदुभय प्रायश्चित्त है । संसक्त हुए अन्न, पान और उपकरण आदिका विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है ।

1. -रेण बोध— ता. । 2. द्विविधो व्युत्सर्ग— । 3. -लोचनम् । आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं शारं च सुहमं च । छहं सहाउलियं बहुजण अव्वत्त सस्सेवि ॥ इति दश दोषाः । मिथ्या— मु. ।

करणादिविभजनं विवेकः । कायोत्सर्गाविकरणं व्युत्सर्गः । अनशनावमौदर्याविलक्षणं तपः । विवस-
पक्षमासादिना^१ प्रव्रज्याहापनं छेदः । पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं^२ परिहारः । पुनर्दोक्षा-
प्राप्यनुपस्थापना ।

कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है । अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है । विवस, पक्ष और महीना आदिकी प्रव्रज्याका छेद करना छेदप्रायश्चित्त है । पक्ष, महीना आदिके विभागसे संघसे दूर रखकर त्याग करना परिहारप्रायश्चित्त है । पुनः दोक्षाका प्राप्त करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है ।

विशेषार्थ—यहाँ प्रायश्चित्तके नौ भेद गिनाये हैं । प्रायः शब्दका अर्थ साधुलोक है । उसका जिस कर्ममें चित्त होता है वह प्रायश्चित्त कहलाता है । अथवा प्रायः शब्दका अर्थ अपराध है और चित्त शब्दका अर्थ शुद्धि है, इसलिए प्रायश्चित्तका अर्थ अपराधोंका शोधन करना होता है । ये ही वे नौ भेद हैं जिनके द्वारा साधु दोषोंका परि-
मार्जन करता है । पहला भेद आलोचना है । आलोचना इन दश दोषोंसे रहित होकर की जाती है । दश दोष यथा—उपकरण देनेपर मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे ऐसा विचारकर उपकरण प्रदान करना यह प्रथम आलोचना दोष है । मैं प्रकृतिसे दुर्बल हूँ, ग्लान हूँ, उपवास आदि नहीं कर सकता । यदि लघु प्रायश्चित्त दें तो दोष कहुँगा ऐसा कहना दूसरा दोष है । अन्य अदृष्ट (गुप्त) दोषोंको छिपा कर प्रकाशमें आये हुए दोषका निवेदन करना तीसरा मायाचार दोष है । आल-
स्यवश या प्रमादवश अपने अपराधोंकी जानकारी प्राप्त करनेमें निहत्सुक होनेपर स्थूल दोष कहना चौथा दोष है । महा दुश्चर प्रायश्चित्तके भयसे महादोष छिपा कर उससे हलके दोषका ज्ञान कराना पाँचवाँ दोष है । व्रतमें इस प्रकार दोष लगनेपर हमें क्या प्रायश्चित्त करना पड़ेगा इस विधिसे गुरुकी उपासना करना छठा दोष है । पाक्षिक और चातुर्मासिक आदि क्रिया कर्मके समय बहुत साधुओं द्वारा किये जानेवाले आलोचनाजन्य शब्दोंसे प्रदेशके व्याप्त होनेपर पूर्व दोष कहना सातवाँ दोष है । गुरुद्वारा दिया हुआ प्रायश्चित्त क्या युक्त है, आगममें इसका विधान है या नहीं इस प्रकारकी शंका अन्य साधुके समक्ष प्रकट करना आठवाँ दोष है । किसी प्रयोजनवश अपने समान साधुके समक्ष दोष कह कर प्रायश्चित्त लेना नौवाँ दोष है । इस विधि से लिया हुआ बड़ासे बड़ा प्रायश्चित्त भी फलदायक नहीं होता । मेरा दोष इसके अपराधके समान है । इसे यह भी जानता है । इसे जो प्रायश्चित्त मिलेगा वह मुझे भी युक्त है इस प्रकार अपने दोषको छिपाना दसवाँ दोष है ।

अन्यत्र इन दश दोषोंके आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये नाम आये हैं । प्रायश्चित्तका दूसरा भेद प्रतिक्रमण है । मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन करना प्रतिक्रमण है । यह शिष्य करता है और गुरुके द्वारा जो आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है वह तदुभय कहलाता है । यह प्रायश्चित्तका तीसरा भेद है । आगे के प्रायश्चित्तोंके जिनके जो नाम हैं तदनुसार उनका स्वरूप है । यहाँ प्रायश्चित्त के ये नौ भेद कहे हैं, किन्तु मूलाचारमें इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इस प्रकार दस भेद किये हैं । टीकाकारने इनका स्पष्टी-
करण करते समय मूलका वही अर्थ किया है जो यहाँ उपस्थापनाका किया गया है । तथा मान-
सिक दोषके होनेपर उसके परिमार्जनके लिए मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा अभिव्यक्त करनेको श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त बतलाया है ।

१. —मासादीनां व्रत—मु. । २. परिवर्जनीयं परि— आ. ।

§ 863. विनयविकल्पप्रतिपत्त्यर्थमाह—

ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचाराः ॥23॥

§ 864. 'विनयः' इत्यधिकारेणाभिसंबन्धः क्रियते । ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्र्यविनय उपचारविनयश्चेति । सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाय्यासस्मरणादिज्ञानविनयः । शंकादिदोषविरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः । 'तद्वत्तश्चारित्र्ये समाहितचित्तता चारित्र्यविनयः । प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरूपचारविनयः । परोक्षेऽपि कायवाङ्मनोऽभिरंजलिप्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः ।

§ 865. वैयावृत्यभेदप्रतिपादनार्थमाह—

आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ॥24॥

§ 866. वैयावृत्यं दशधा भिद्यते । कुतः ? विषयभेदात् । आचार्यवैयावृत्यमुपाध्यायवैयावृत्यमित्यादि । तत्र आचरन्ति² तस्माद् व्रतानोत्पाचार्यः । मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य³ तस्मादधीयते इत्युपाध्यायः । महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी । शिक्षाशीलः शिक्षः । रजादिविलम्बशरीरो ग्लानः । गणः स्थविरसंततिः । दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः⁴ कुलम् । चातुर्वर्ण्य⁵श्रमणनिबहः संघः । चिरप्रव्रजितः साधुः । मनोज्ञो लोकसंमतः । तेषां व्याधिपरिषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते कायचेष्टया द्रव्या-

§ 863. विनयके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र्यविनय और उपचारविनय यह चार प्रकारका विनय है ॥23॥

§ 864. अधिकारके अनुसार 'विनय' इस पदका सम्बन्ध होता है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र्यविनय और उपचारविनय । बहुत आदरके साथ मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है । शंकादि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना दर्शनविनय है । सम्यग्दृष्टिका चारित्र्यमें चित्तका लगना चारित्र्यविनय है तथा आचार्य आदिकके समक्ष आनेपर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचारविनय है तथा उनके परोक्षमें भी काय, वचन और मनसे नमस्कार करना, उनके गुणोंका कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचारविनय है ।

§ 865. अब वैयावृत्यके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्यके भेदसे वैयावृत्य दश प्रकारका है ॥24॥

§ 866. वैयावृत्यके दश भेद हैं, क्योंकि उसका विषय दश प्रकारका है । यथा—आचार्य-वैयावृत्य और उपाध्याय-वैयावृत्य आदि । जिसके निमित्तसे व्रतोंका आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है । मोक्षके लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं वह उपाध्याय कहलाता है । महोपवास आदिका अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी कहलाता है । शिक्षाशील शिक्ष कहलाता है । रोग आदिसे क्लान्त शरीरवाला ग्लान कहलाता है । स्थविरो की सन्ततिको गण कहते हैं । दीक्षकाचार्यके शिष्यसमुदायको कुल कहते हैं । चार वर्णके श्रमणोंके समुदायको संघ कहते हैं । चिरकालसे प्रव्रजितको साधु कहते हैं । लोकसंमत साधुको मनोज्ञ कहते हैं । इन्हें व्याधि होनेपर, परीषहके होनेपर व मिथ्यात्व आदिके प्राप्त होनेपर शरीरकी चेष्टा द्वारा या अन्य द्रव्यद्वारा

1. तत्त्वतश्चा-- मु. 2. --रन्ति सस्या-- आ., दि. 1, दि. 2, ता., ना. 3. 'उपेत्याधीयते तस्मादुपाध्यायः।' --पा. म, भा. 3, 3, 11 । 4. --संस्त्ययः मु. 5. चातुर्वर्ण्यश्च-- मु. ।

नतरेण वा तत्प्रतीकारो वेद्यावृत्त्यं समाध्या¹धानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम्² ।

§ 867. स्वाध्यायविकल्पविज्ञानार्थमाह—

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाभ्यामधर्मोपदेशाः ॥25॥

§ 868. निरवयवग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना । संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानु-
योगः प्रच्छना । अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा । घोषशुद्धं परिवर्तनमाभ्यायः । धर्मकथाद्य-
नुष्ठानं धर्मोपदेशः । स एष पञ्चविधः स्वाध्यायः किमर्थः ? प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः
परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः ।

§ 869. व्युत्सर्गभेदनिज्ञानार्थमाह—

बाह्याभ्यन्तरोपधयोः ॥26॥

§ 870. व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः । स द्विविधः—बाह्योपाधित्यागोऽभ्यन्तरोपाधित्याग-
श्चेति । अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपाधिः । क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपाधिः कायत्यागश्च
नियतकालो यावज्जीवं बाह्यन्तरोपाधित्याग इत्युच्यते । स किमर्थः ? निस्सङ्गत्वनिर्भयत्वजीविता-
शाव्युदासाद्यर्थः ।

उनका प्रतीकार करना वेद्यावृत्त्य तप है । यह समाधिकी प्राप्ति, विचिकित्साका अभाव और
प्रवचनवात्सल्यकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है ।

§ 867. स्वाध्यायके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आभ्याय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकारका स्वाध्याय है ॥25॥

§ 868. ग्रन्थ, अर्थ और दोनोंका निर्दोष प्रदान करना वाचना है । संशयका उच्छेद
करनेके लिए अथवा निश्चित बलको पुष्ट करनेके लिए प्रश्न करना प्रच्छना है । जाने हुए अर्थ-
का मनमें अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है । उच्चारणकी शुद्धिपूर्वक पाठको पुनः-पुनः दुहराना आभ्याय
है और धर्मकथा आदिका अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है । शंका—प्रह पूर्वोक्त पाँच प्रकारका
स्वाध्याय किसलिए किया जाता है ? समाधान—प्रज्ञामें अतिशय लानेके लिए, अध्यवसायको
प्रशस्त करनेके लिए, परम संवेगके लिए, तपमें वृद्धि करनेके लिए और अतीचारोंमें विशुद्धि लाने
आदिके लिए किया जाता है ।

§ 869. अब व्युत्सर्ग तपके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बाह्य और अभ्यन्तर उपधिका त्याग यह दो प्रकारका व्युत्सर्ग है ॥26॥

§ 870. व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है जिसका अर्थ त्याग होता है । वह दो प्रकारका
है—बाह्य उपधित्याग और अभ्यन्तर उपधित्याग । आत्मासे एकत्वको नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु,
धन और धान्य आदि बाह्य उपधि है और क्रोधादिरूप आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि है । तथा
नियत काल तक या यावज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा जाता
है । यह निःसंगता, निर्भयता और जीविताशाका व्युदास आदि करनेके लिए किया जाता है ।

विशेषार्थ—यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब कि पाँच महाव्रतोंमें परिग्रहत्यागका उपदेश
दिया है, दश धर्मोंमें त्याग धर्मका उपदेश दिया है तथा नौ प्रकारके प्रायश्चित्तोंमें व्युत्सर्ग नामका
प्रायश्चित्त अलगसे कहा है ऐसी अवस्थामें पुनः व्युत्सर्ग तपका अलगसे कथन करना कोई मायने
नहीं रखता, क्योंकि इस प्रकार एक ही तत्त्वका पुनः-पुनः कथन करनेसे पुनरुक्त दोष आता है ।
समाधान यह है कि पाँच महाव्रतोंमें जो परिग्रह-त्याग महाव्रत है उसमें गृहस्थसम्बन्धी उपधिके

1. —माध्यायान— मु. । 2. —व्यक्तार्थम् आ., दि. 1, दि. 2, ना. ।

§ 871. यद् बहुवक्तव्यं ध्यानमिति पृथग्व्यवस्थापितं तस्येदानीं भेदाभिधानं प्राप्त-
कालम् । तदुल्लङ्घ्य तस्य प्रयोक्तृस्वरूपकालनिर्धारणार्थमुच्यते—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो 'ध्यानमान्तर्मुहूर्त' ॥27॥

§ 872. आद्यं त्रितयं संहननमुत्तमं वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसंहननं नाराच-
संहननमिति । तत्रितयमपि ध्यानस्य साधनं भवति । मोक्षस्य तु आद्यमेव । तदुत्तमं संहननं यस्य
सौम्यमुत्तमसंहननः, तस्योत्तमसंहननस्येति । अनेन प्रयोक्तृनिर्देशः कृतः । अग्रं मुखम् । एकमग्रम-
स्येत्येकाग्रः । नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्मते
नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते । अनेन ध्यानस्वरूपमुक्तं भवति । मुहूर्त इति कालपरि-
माणम् । अन्तर्गतो मुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्तः । 'आ अन्तर्मुहूर्त' इत्यनेन कालावधिः कृतः । ततः परं
'दुर्धरत्वादेकाग्रचिन्तायाः । चिन्ताया निरोधो यदि ध्यानं, निरोधश्चाभावः, तेन ध्यानमसत्स्वर-
विषाणवत्स्यात् ? नैष दोषः; अन्यचिन्तानिवृत्त्यपेक्षयासदिति चोच्यते, स्वविषयाकारप्रवृत्तेः सविति
च; अभावस्य भावान्तरत्वाद् हेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च । अथवा त्रायं भाव-
साधनः, निरोधनं निरोध इति । किं तर्हि ? कर्मसाधनः, 'निवृत्त्यत इति निरोधः' । चिन्ता चासौ

त्यागकी मुख्यता है । त्यागधर्ममें आहारादि विषयक आसक्तिके कम करनेकी मुख्यता है, व्युत्सर्ग
प्रायश्चित्तमें परिग्रह त्याग धर्ममें लगनेवाले दोषके परिमार्जनकी मुख्यता है, और व्युत्सर्ग तपमें
वसतिका आदि बाह्य व मनोविकार तथा शरीर आदि अभ्यन्तर उपधिमें आसक्तिके त्यागकी
मुख्यता है, इसलिए पुनरुक्त दोष नहीं आता ।

§ 871. जो बहुवक्तव्य ध्यान पृथक् स्थापित कर आये हैं उसके भेदोंका कथन करना
इस समय प्राप्तकाल है तथापि उसे उल्लंघन करके इस समय ध्यानके प्रयोक्ता, स्वरूप और
कालका निर्धारण करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

उत्तम संहननवालेका एक विषयमें चित्तवृत्तिका रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल
तक होता है ॥27॥

§ 872. आदिके वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन ये तीन
संहनन उत्तम हैं । ये तीनों ही ध्यानके साधन हैं । मोक्षका साधन तो प्रथम ही है । जिसके ये
उत्तम संहनन होते हैं वह उत्तम संहननवाला कहलाता है उस उत्तम संहननवालेके । यहाँ इस
पदद्वारा प्रयोक्ताका निर्देश किया है । 'अग्र' पदका अर्थ मुख है । जिसका एक अग्र होता है वह
एकाग्र कहलाता है । नाना पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है । उसे अन्य
अशेष मुखोंसे लौटाकर एक अग्र अर्थात् एक विषयमें नियमित करना एकाग्रचिन्तानिरोध कह-
लाता है । इस द्वारा ध्यानका स्वरूप कहा गया है । मुहूर्त यह कालका विवक्षित परिमाण है ।
जो मुहूर्तके भीतर होता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है । 'अन्तर्मुहूर्त काल तक' इस पद द्वारा
कालकी अवधि की गयी है । इतने कालके बाद एकाग्रचिन्ता दुर्धर होती है । शंका—यदि चिन्ता-
के निरोधका नाम ध्यान है और निरोध अभावस्वरूप होता है, इसलिए गधेके सींगके समान
ध्यान असत् ठहरता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य चिन्ताकी निवृत्तिकी
अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषयरूपसे प्रवृत्ति होनेके कारण वह सत् कहा जाता
है, क्योंकि अभाव भावान्तरस्वभाव होता है और अभाव वस्तुका धर्म है यह बात सपक्ष सत्त्व
विपक्षव्यावृत्ति इत्यादि हेतुके अंग आदिके द्वारा सिद्ध होती है । अथवा, यह निरोध शब्द

1. 'ध्यानं निर्विषयं मनः ।' —सां. सू. 6, 25 । 2. —दुर्धरत्वात् । चिन्ताया नि- ता. ना. ।

निरोधश्च चिन्तानिरोध इति । एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति ।

§ 873. तद्भेदप्रदर्शनार्थमाह—

आर्तंरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥28॥

§ 874. ऋतं दुःखम्, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम् । रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम् । धर्मो व्याख्यातः । धर्मादिनपेतं धर्म्यम् । शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् । तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्विवचनमनुते । कुतः ? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । अप्रशस्तमपुण्यास्त्रकारणत्वात् । कर्मनिर्वहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम् ।

§ 875. किं पुनस्तदिति चेदुच्यते—

परे मोक्षहेतु ॥29॥

§ 876. परमुत्तरमन्त्यम् । अन्त्यं शुक्लम् । तत्सामोप्याद्धर्म्यमपि 'परम्' इत्युपचर्यते । 'द्विवचननिर्देशसामर्थ्याद् गौणमपि गृह्यते । 'परे मोक्षहेतु' इति वचनात्पूर्वं आर्तंरौद्रं संसारहेतु इत्युक्तं भवति । कुतः ? तृतीयस्य साध्यस्याभावात् ।

§ 877. तत्रार्तं चतुर्विधम् । तत्रादिविकल्पलक्षणनिर्देशार्थमाह—

'निरोधनं निरोधः' इस प्रकार भावसाधन नहीं है । तो क्या है ? 'निरुध्यत इति निरोधः'—जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्मसाधन है । चिन्ताका जो निरोध वह चिन्तानिरोध है । आशय यह है कि निश्चल अग्निशिखाके समान निश्चलरूपसे अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है ।

§ 873. अब उसके भेद दिखलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यानके चार भेद हैं ॥28॥

§ 874. आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एकसे बना है । इनमें से ऋतका अर्थ दुःख है और अर्तिकी 'अर्दनं अर्तिः' ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुँचाना है । इसमें (ऋतमें या अर्तिमें) जो होता है वह आर्त है । रुद्रका अर्थ क्रूर आशय है । इसका कर्म या इसमें होनेवाला रौद्र है । धर्मका व्याख्यान पहले कर आये हैं । जो धर्मसे युक्त होता है वह धर्म्य है । तथा जिसमें शुचि गुणका सम्बन्ध है वह शुक्ल है । यह चार प्रकारका ध्यान दो भागोंमें विभक्त है, क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे वह दो प्रकारका है । जो पापास्त्रवका कारण है वह अप्रशस्त है और जो कर्मोंके निर्दहन करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है वह प्रशस्त है ।

§ 875. तो वह क्या है ऐसा प्रश्न करनेपर आगेका सूत्र कहते हैं—

उनमें से पर अर्थात् अन्तके दो ध्यान मोक्षके हेतु हैं ॥29॥

§ 876. पर, उत्तर और अन्त्य इनका एक अर्थ है । अन्तिम शुक्लध्यान है और इसका समीपवर्ती होनेसे धर्म्यध्यान भी पर है ऐसा उपचार किया जाता है, क्योंकि सूत्रमें 'परे' यह द्विवचन दिया है, इसलिए उसकी सामर्थ्यसे गौणका भी ग्रहण होता है । 'पर अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ये मोक्षके हेतु हैं' इस वचनसे पहलेके अर्थात् आर्त और रौद्र ये संसारके हेतु हैं यह तात्पर्य फलित होता है, क्योंकि मोक्ष और संसारके सिवा और कोई तीसरा साध्य नहीं है ।

§ 877. उनमें आर्तध्यान चार प्रकारका है । उनमें से प्रथम भेदके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

1. —वचनसाम— मु. । 2. परे धर्म्यशुक्ले मोक्ष— बा., दि. 1, दि. 2, ता., ना. ।

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥30॥

§ 878. अमनोज्ञमप्रियं विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि, तद्बाधाकरणत्वाद् 'अमनोज्ञम्' इत्युच्यते । तस्य संप्रयोगे, स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्तमित्याख्यायते ।

§ 879. द्वितीयस्य विकल्पस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥31॥

§ 880. कृतो विपरीतम् ? पूर्वोक्तात् । तेनेतदुक्तं भवति—मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्रदार-धनादेविप्रयोगे तत्संप्रयोगाय संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्तमवगन्तव्यम् ।

§ 881. तृतीयस्य विकल्पस्य लक्षणप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनायाश्च ॥32॥

§ 882. 'वेदना'शब्दः सुखे दुःखे च वर्तमानोऽपि आर्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनायां प्रवर्तते, तस्या वातादिविकारजनितवेदनाया उपनिपाते तस्या अपायः कथं नाम मे स्यादिति संकल्प-श्चिन्ताप्रबन्धस्तृतीयमार्तमुच्यते ।

§ 883. तुरीयस्यार्तस्य लक्षणनिर्देशार्थमाह—

निदानं च ॥33॥

§ 884. भोगाकाङ्क्षातुरस्यानागतविषयप्राप्तिं प्रति मनःप्रणिधानं संकल्पश्चिन्ताप्रबन्ध-

अमनोज्ञ पदार्थके प्राप्त होनेपर उसके वियोगके लिए चिन्तासातत्यका होना प्रथम आर्त-ध्यान है ॥30॥

§ 878. अमनोज्ञका अर्थ अप्रिय है । विष, कण्टक, शत्रु और शस्त्र आदि जो अप्रिय पदार्थ हैं वे बाधाके कारण होनेसे अमनोज्ञ कहे जाते हैं । उनका संयोग होनेपर वे मेरे कैसे न हों इस प्रकारका संकल्प चिन्ताप्रबन्ध अर्थात् स्मृति समन्वाहार यह प्रथम आर्तध्यान कहलाता है ।

§ 879. अब दूसरे भेदके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोज्ञ वस्तुके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिकी सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है ॥31॥

§ 880. किससे विपरीत ? पूर्वमें कहे हुए से । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनोज्ञ अर्थात् इष्ट अपने पुत्र, स्त्री और धनादिकके वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिए संकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान जानना चाहिए ।

§ 881. अब तीसरे भेदके लक्षणका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदनाके होनेपर उसे दूर करनेके लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है ॥32॥

§ 882. वेदना शब्द यद्यपि सुख और दुःख दोनों अर्थोंमें विद्यमान है पर यहाँ आर्त-ध्यानका प्रकरण होनेसे उससे दुःखवेदना ली गयी है । वातादि विकारजनित दुःख वेदनाके होनेपर उसका अभाव मेरे कैसे होगा इस प्रकार विकल्प अर्थात् निरन्तर चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान कहा जाता है ।

§ 883. अब चौथे आर्तध्यानके लक्षणका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

निदान नामका चौथा आर्तध्यान है ॥33॥

§ 884. भोगोंकी आकांक्षाके प्रति आतुर हुए व्यक्तिके आगामी विषयोंकी प्राप्तिके

स्तुरीयमार्तं निदानमित्युच्यते ।

§ 885. तदेतच्चतुर्विधमार्तं किंस्वामिकमिति चेदुच्यते—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥34॥

§ 886. अविरता असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः । देशविरताः संयतासंयताः । प्रमत्तसंयताः पञ्च-
दशप्रमादोपेताः क्रियानुष्ठायिनः । तत्राविरतदेशविरतानां चतुर्विधमप्यार्तं भवति; असंयमपरि-
णामोपेतत्वात् । प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्वेकात्कदाचित्स्यात् ।

§ 887. व्याख्यातमार्तं संज्ञादिभिः । द्वितीयस्य संज्ञाहेतुस्वामिनिर्द्धारणार्थमाह—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥35॥

§ 888. हिंसादीन्युक्तलक्षणानि । तानि रौद्रध्यातोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति हेतुनिर्देशो
विज्ञायते । तेन हेतुनिर्देशेनानुवर्तमानः 'स्मृतिसमन्वाहारः' अभिसंबध्यते । हिंसायाः स्मृतिसमन्वा-
हार इत्यादि । तद्विरतमविरतदेशविरतयोर्वदितव्यम् । अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं, देशविरतस्य
कथम् ? तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद् भवितुमर्हति । तत्पुनर्नारका-

लिए मनःप्रणिधानका होना अर्थात् संकल्प तथा निरन्तर चिन्ता करना निदान नामका चौथा
आतं ध्यान कहा जाता है ।

§ 885. इस चार प्रकारके आतं ध्यानका स्वामी कौन है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

यह आतं ध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवोंके होता है ॥34॥

§ 886. असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तकके जीव अविरत कहलाते हैं, संयतासंयत जीव
देशविरत कहलाते हैं और पन्द्रह प्रकारके प्रमादसे युक्त क्रिया करनेवाले जीव प्रमत्तसंयत कह-
लाते हैं । इनमें से अविरत और देशविरत जीवोंके चारों ही प्रकारका आतं ध्यान होता है, क्योंकि
ये असंयमरूप परिणामसे युक्त होते हैं । प्रमत्तसंयतोंके तो निदानके सिवा बाकीके तीन प्रमाद-
के उदयकी तीव्रतावश कदाचित् होते हैं ।

विशेषार्थ—पुराण साहित्यमें मुनियों द्वारा निदान करनेके कई उदाहरण हैं पर इन उदा-
हरणोंसे प्रमत्तसंयत अवस्थामें उन साधुओंने निदान किया ऐसा अर्थ नहीं लेना चाहिए । एक
तो भावलिगी साधुके आगामी भोगोंकी आकांक्षा होती ही नहीं और कदाचित् होती है तो उस
समयसे वह भावलिगी नहीं रहता ऐसा अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिए ।

§ 887. संज्ञा आदिके द्वारा आतं ध्यानका व्याख्यान किया । अब दूसरे ध्यानकी संज्ञा,
हेतु और स्वामीका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षणके लिए सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है । वह
अविरत और देशविरतके होता है ॥35॥

§ 888. हिंसादिके लक्षण पहले कह आये हैं । वे रौद्रध्यानकी उत्पत्तिके निमित्त होते
हैं । इससे हेतुनिर्देश जाना जाता है । हेतुका निर्देश करनेवाले इन हिंसादिके साथ अनुवृत्तिको
प्राप्त होनेवाले 'स्मृतिसमन्वाहार' पदका सम्बन्ध होता है । यथा—हिंसाका स्मृतिसमन्वाहार
आदि । यह रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके जानना चाहिए । शंका—रौद्रध्यान अविरतके
होओ देशविरतके कैसे हो सकता है ? समाधान—हिंसादिके आवेशसे या वित्तादिके संरक्षणके
परतन्त्र होनेसे कदाचित् उसके भी हो सकता है । किन्तु देशविरतके होनेवाला वह रौद्रध्यान

1. -विधमार्तं ता. मु. ।

दीनामकारणं; सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् । संयतस्य तु न भवत्येव; तदारम्भे संयमप्रच्युते ।

§ 889: आह, 'परे मोक्षहेतू' उपदिष्टे । तत्राद्यस्य मोक्षहेतोर्ध्यानस्य भेदस्वरूपस्वामिनिर्देशः कर्तव्य इत्यत आह—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥36॥

§ 890. विचयनं विचयो विवेको विचारणे¹त्यर्थः । आज्ञापायविपाकसंस्थानानां विचय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः । 'स्मृतिसमन्वाहारः' इत्यनुवर्तते । स प्रत्येकं संबध्यते—आज्ञाविचयाय स्मृतिसमन्वाहार इत्यादि । तद्यथा—उपदेशदुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्यमेवेदं "नान्यथावादिनो जिनाः" इतिगहनपदार्थश्रद्धाना²दर्थविधारणमाज्ञाविचयः । अथवा—स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते । जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षाश्रितः सम्यग्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः । अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्येभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽप्येयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः । कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं

नारकादि दुर्गंतियोंका कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही सामर्थ्य है । परन्तु संयतके तो वह होता ही नहीं है, क्योंकि उसका आरम्भ होनेपर संयमसे पतन हो जाता है ।

§ 889. कहते हैं, अन्तके दो ध्यान मोक्षके हेतु हैं यह कह आये । उनमेंसे मोक्षके हेतुरूप प्रथम ध्यानके भेद, स्वरूप और स्वामीका निर्देश करना चाहिए, इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणाके निमित्त मनको एकाग्र करना धर्म्यध्यान है ॥36॥

§ 890. विचयन करना विचय है । विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम हैं । आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनका परस्पर द्वन्द्व समास होकर विचय शब्दके साथ षष्ठीतत्पुरुष समास है और इस प्रकार 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयः' पद बना है । 'स्मृतिसमन्वाहारः' पदकी अनुवृत्ति होती है । और उसका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध होता है । यथा—आज्ञाविचयके लिए स्मृतिसमन्वाहार आदि । स्पष्टीकरण इस प्रकार है—उपदेश देनेवालेका अभाव होनेसे, स्वयं मन्दबुद्धि होनेसे, कर्मोंका उदय होनेसे तथा पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे तत्त्वके समर्थनमें हेतु और दृष्टान्तका अभाव होनेपर सर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाण करके 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते' इस प्रकार गहन पदार्थके श्रद्धानद्वारा अर्थका अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है । अथवा स्वयं पदार्थोंके रहस्यको जानता है और दूसरोंके प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्व-सिद्धान्तके अविरोधद्वारा तत्त्वका समर्थन करनेके लिए उसका जो तर्क, नय और प्रमाणकी योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है वह सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रकाशित करनेवाला होनेसे आज्ञाविचय कहा जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुषके समान सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्गका परिज्ञान न होनेसे वे मोक्षार्थी पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देते हैं इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है । अथवा, ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्यसे कैसे दूर होंगे इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है । ज्ञानावरणादि

1. विचारणमित्यर्थः मु. । विचारमित्यर्थः ता. । 2. -ज्ञानमर्था— मु. ।

विपाकविचयः । लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः । उत्तमक्षमादि-
लक्षणो धर्म उक्तः । तस्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानं चतुर्विकल्पमवसेयम् । तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्त-
पंथतानां भवति ।

कर्मोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावनिमित्तक फलके अनुभवके प्रति उपयोगका होना विपाक-
विचय धर्म्यध्यान है । तथा लोकके आकार और स्वभावका निरन्तर चिन्तन करना संस्थान-
विचय धर्म्यध्यान है । पहले उत्तम क्षमादिरूप धर्मका स्वरूप कह आये हैं । उससे अनपेत अर्थात्
युक्त धर्म्यध्यान चार प्रकारका जानना चाहिए । यह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और
अप्रमत्तसंयत जीवोंके होता है ।

विशेषार्थ—संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होनेके लिए या विरक्त होनेपर उस भाव-
को स्थिर बनाये रखनेके लिए सम्यग्दृष्टिका जो प्रणिधान होता है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं । यह
उत्तम क्षमादिरूप धर्मसे युक्त होता है, इसलिए इसे धर्म्यध्यान कहते हैं । यहाँ निमित्तभेदसे
इसके चार भेद किये गये हैं । यथा—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान-
विचय । आज्ञाविचय तत्त्वनिष्ठामें सहायक होता है, अपायविचय संसार, शरीर और भोगोंसे
विरक्ति उत्पन्न करता है । विपाक विचयसे कर्मफल और उसके कारणोंकी विचित्रताका ज्ञान
दृढ़ होता है और संस्थानविचयसे लोककी स्थितिका ज्ञान दृढ़ होता है ।

मूल टीकामें विपाकविचयके स्वरूपका निर्देश करते हुए जो द्रव्य, क्षेत्र और काल आदिके
निमित्तसे कर्मफलकी चर्चा की है उसका आशय यह है कि यद्यपि कर्मोंके उदय या उदीरणासे
जीवके औदयिक भाव और विविध प्रकारके शरीरादिककी प्राप्ति होती है पर इन कर्मोंका
उदय और उदीरणा बिना अन्य निमित्तके नहीं होती, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र आदिका निमित्त पाकर
ही कर्मोंका उदय और उदीरणा होती है । आगे इसी बातको विशेष रूपसे स्पष्ट करते हैं ।
द्रव्यनिमित्त—मान लो एक व्यक्ति हँस खेल रहा है, वह अपने बाल-बच्चोंके साथ गण्णागोष्ठीमें
तल्लीन है । इतनेमें अकस्मात् मकानको छत टूटती है और वह उससे धायल होकर दुःखका
वेदन करने लगता है तो यहाँ उसके दुःखवेदनके कारणभूत असाता वेदनीयके उदय और उदीरणा
में टूट कर गिरनेवाली छतका संयोग निमित्त है । टूट कर गिरनेवाली छतके निमित्तसे उस
व्यक्तिके असातावेदनीयकी उदय-उदीरणा हुई और असातावेदनीयके उदय-उदीरणासे उस
व्यक्तिको दुःखका अनुभवन हुआ यह उक्त कथनका तात्पर्य है । इसी प्रकार अन्य कर्मोंके उदय-
उदीरणामें बाह्य द्रव्य कैसे निमित्त होता है इसका विचार कर लेना चाहिए । कालनिमित्त—
कालके निमित्त होनेका विचार दो प्रकारसे किया जाता है । एक तो प्रत्येक कर्मका उदय-उदीरणा
काल और दूसरा वह काल जिसके निमित्तसे बीच में ही कर्मोंकी उदय-उदीरणा बदल जाती
है । आगममें अध्रुवादय रूप कर्मके उदय-उदीरणा कालका निर्देश किया है उसके समाप्त होते
ही विवक्षित कर्मके उदय-उदीरणाका अभाव होकर उसका स्थान दूसरे कर्मकी उदय-उदीरणा
ले लेती है । जैसे सामान्यसे हास्य और रतिका उत्कृष्ट उदय-उदीरणाकाल छह महीना है । इसके
बाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोककी उदय-उदीरणा होने लगती है । किन्तु
छह महीनाके भीतर यदि हास्य और रतिके विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीचमें ही इनकी उदय-
उदीरणा बदल जाती है । यह कर्मका उदय-उदीरणा काल है । अब एक ऐसा जीव लो जो निर्भय
होकर देशान्तरको जा रहा है, किन्तु किसी दिन मार्गमें ही ऐसे जंगल में रात्रि हो जाती है जहाँ
हिंस्र जन्तुओंका प्राबल्य है और विश्राम करनेके लिए कोई निरापद स्थान नहीं है । यदि दिन
होता तो उसे रंचमात्र भी भय न होता, किन्तु रात्रि होनेसे वह भयभीत होता है इससे इसके

असाता, अरति, शोक और भय कर्मकी उदय-उदीरणा होने लगती है। यह कालनिमित्तक उदय-उदीरणा है। इसी प्रकार क्षेत्र, भव और भावनिमित्तक उदय और उदीरणा जान लेनी चाहिए। कालप्राप्त कर्मपरमाणुओंके अनुभव करनेको उदय कहते हैं और उदयावलिके बाहर स्थित कर्मपरमाणुओंको कषायसहित या कषायरहित योग संज्ञावाले वीर्यविशेषके द्वारा उदयावलिमें लाकर उनका उदयप्राप्त कर्मपरमाणुओं के साथ अनुभवन करनेको उदीरणा कहते हैं। इस प्रकार कर्मपरमाणुओंका अनुभवन उदय और उदीरणा दोनोंमें लिया जाता है। यदि इनमें अन्तर है तो कालप्राप्त और अकालप्राप्त परमाणुओंका है। उदयमें कालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं और उदीरणामें अकालप्राप्त कर्मपरमाणु रहते हैं। सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्मका उदय होता है वहाँ उसकी उदीरणा अवश्य होती है। फिर भी इनमें जो विशेषता है उसका यहाँ निर्देश करते हैं—मिथ्यात्वका उदय और उदीरणा मिथ्यात्व गुणस्थानमें होती है। इतनी विशेषता है कि उपशम सम्यक्त्वके अभिमुख हुए जीवके अन्तिम आवली प्रमाण कालमें मिथ्यात्वकी उदीरणा नहीं होती, वहाँ मात्र उसका उदय होता है। एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रियजाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन नौ प्रकृतियोंकी मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी प्रारम्भके दो गुणस्थानोंमें ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। सम्यङ्मिथ्यात्वकी तीसरे गुणस्थानमें ही उदय और उदीरणा होती है, अन्यत्र नहीं। अप्रत्याख्यान चार, नरक-गति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, दुर्भंग, अनादेय और अयशस्कीति इन ग्यारह प्रकृतियोंका चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। नरकायु और देवायुकी चौथे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। मात्र मरणके समय अन्तिम आवलिकालमें उदीरणा नहीं होती। चार आनुपूर्वियोंकी प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानमें ही उदय और उदीरणा होती है अन्यत्र नहीं। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, तिर्यचगति, उद्योत और नीचगोत्र इन सात प्रकृतियोंकी संयतासंयत गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। तिर्यच आयुकी पाँचवें गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है। मात्र मरणके समय अन्तिम आवलि कालके शेष रहनेपर उदय ही होता है उदीरणा नहीं। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानमृद्धि, सातावेदनीय और असातावेदनीय इन पाँच प्रकृतियोंकी छठे गुणस्थान तक ही उदय और उदीरणा होती है आगे नहीं। मात्र निद्रानिद्रादि त्रिककी उदीरणा वही करता है जिसने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली है। ऐसा जीव यदि उत्तर शरीरकी विक्रिया करता है या आहारकसमुद्घातको प्राप्त होता है तो इन्हें प्राप्त होनेके एक आवलि कालपूर्वसे लेकर मूल शरीरमें प्रवेश होने तक इन तीनकी उदीरणा नहीं होती। तथा देव, नारकी और भोगभूमियाँ जीव भी इन तीनकी उदीरणा नहीं करते। आहारक शरीर और आहारक अंगोपांगका प्रमत्त-संयतमें ही उदीरणा और उदय होता है, आगे पीछे नहीं। मनुष्यायुकी छठे गुणस्थान तक उदीरणा और चौदहवें गुणस्थान तक उदय होता है। मात्र मरणके समय अन्तिम आवलि काल शेष रहने पर उदीरणा नहीं होती। सम्यक्त्वप्रकृतिकी उदीरणा और उदय चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान-तक वेदकसम्यग्दृष्टिके होती है। मात्र कृतकृत्यवेदकके कालमें व द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके उत्पत्तिकालमें एक आवलि शेष रहनेपर उदय ही होता है उदीरणा नहीं। अन्तके तीन संहननोंकी उदीरणा व उदय सातवें गुणस्थान तक ही होती है आगे नहीं। हास्यादि छहकी उदीरणा और उदय आठवें गुणस्थान तक होता है आगे नहीं। इतनी विशेषता है कि देवोंके उत्पत्ति समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक हास्य और रतिकी नियमसे उदीरणा होती है, आगे भजनीय है।

§ 891. त्रयाणां ध्यानानां निरूपणं कृतम् । इदानीं शुक्लध्यानं निरूपयितव्यम् । तद्वक्ष्यमाणचतुर्विकल्पम् । तत्राद्ययोः स्वामिनिर्देशार्थमिदमुच्यते—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥37॥

§ 892. वक्ष्यमाणेषु शुक्लध्यानविकल्पेषु आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः । 'च' शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते । तत्र 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इति ध्येया-रोहणात्प्राग्धर्म्यं, श्रेष्ठोः शुक्ले इति व्याख्यायते ।

§ 893. अवशिष्टे कस्य भवत इत्यत्रोच्यते—

परे केवलिनः ॥38॥

तथा नारकियोंके उत्पत्तिसमयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक अरति और शोककी नियमसे उदीरणा होती है, आगे भजनीय है । तीन वेद और क्रोधादि तीन संज्वलनोंकी उदीरणा व उदय नौवेंके उपान्त्य भाग तक ही होती है आगे नहीं । इतनी विशेषता है कि जो जिस वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ता है उसके प्रथम स्थितिमें एक आवलिकाल शेष रहनेपर उदीरणा नहीं होती । लोभ-संज्वलनका दसवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होता है । मात्र दसवें गुणस्थानके अन्तिम आवलि कालके शेष रहनेपर उदीरणा नहीं होती, उदय होता है । वज्रनाराच और नाराच संहननका ग्यारहवें गुणस्थान तक उदीरणा और उदय होता है । निद्रा और प्रचलाकी बारहवें गुणस्थानमें एक समय अधिक एक आवलि काल शेष रहने तक उदय व उदीरणा दोनों होते हैं, आगे बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समय तक इनका उदय ही होता है । पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका उदय तो बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समय तक होता है और उदीरणा बारहवें गुणस्थानमें एक आवलि काल शेष रहने तक होती है । मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर, छह संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, उपघात, उच्छ्वास, दोनों विहा-योगति, वस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, यशकीर्ति, निर्माण और उच्चगोत्र इन अड़तीस प्रकृतियोंकी तेरहवें गुणस्थान तक उदीरणा व उदय होते हैं आगे नहीं । तथा तीर्थंकर प्रकृतिका तेरहवें गुणस्थानमें ही उदीरणा व उदय होता है । इस प्रकार आज्ञा आदिके निमित्तसे सतत चिन्तन करना धर्म्यध्यान है यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

§ 894. तीन ध्यानोका कथन किया, इस समय शुक्लध्यानका कथन करना चाहिए, उसके आगे चार भेद कहनेवाले हैं उनमें-से आदिके दो भेदोंके स्वामीका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वविदके होते हैं ॥37॥

§ 892. आगे कहे जानेवाले शुक्लध्यानके भेदोंमें-से आदिके दो शुक्लध्यान पूर्वविद अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं । सूत्रमें 'च' शब्द आया है उससे धर्म्यध्यानका समुच्चय होता है । 'व्याख्यानसे विशेष ज्ञान होता है' इस नियमके अनुसार श्रेणि चढ़नेसे पूर्व धर्म्यध्यान होता है और दोनों श्रेणियोंमें आदिके दो शुक्लध्यान होते हैं ऐसा व्याख्यान करना चाहिए ।

§ 893. शेषके दो शुक्लध्यान किसके होते हैं यह बतानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

शेषके दो शुक्लध्यान केवलीके होते हैं ॥38॥

1. 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्हि सन्देहादवक्ष्यम् ।' —परि शे., पृ. 8 । पा. म. भा., पृ. 57, 130, 154 । ववक्षाणओ विसो न हि सन्देहादवक्ष्यया ॥' - वि. भा., गा., 340 ।

§ 894. प्रक्षीणसकलज्ञानावरणस्य केवलिनः सयोगस्यायोगस्य च परे उत्तरे शुक्लध्याने भवतः ।

§ 895. यथासंख्यं तद्विकल्पप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥39॥

§ 896. पृथक्त्ववितर्कमेकत्ववितर्कं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति चतुर्विधं शुक्लध्यानम् । दक्ष्यमाणलक्षण¹मपेक्ष्य सर्वेषामन्वर्थत्व²भवसेयम् ।

§ 897. तस्यालम्बनविशेषनिर्धारणार्थमाह—

व्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥40॥

§ 898. 'योग' शब्दो व्याख्यातार्थः 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र । उक्तंश्चतुर्भिः शुक्लध्यानविकल्पैस्त्रियोगादीनां चतुर्णां यथासंख्येनाभिसम्बन्धो वेदितव्यः । त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम्, त्रिषु योगेष्वेकयोगस्यैकत्ववितर्कम्, काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्तीति ।

§ 899. तत्राद्ययोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

एकाश्रये सवितर्कबीचारे पूर्वं ॥41॥

§ 900. एक आश्रयो यद्यस्ते एकाश्रये । ³उभेऽपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते,

§ 894. जिसके समस्त ज्ञानावरणका नाश हो गया है ऐसे सयोगकेवली और अयोगकेवलीके पर अर्थात् अन्तके दो शुक्लध्यान होते हैं ।

§ 895. अब क्रमसे शुक्लध्यानके भेदोंका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं ॥39॥

§ 896. पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यान हैं । आगे कहे जानेवाले लक्षणकी अपेक्षा सबका सार्थक नाम जानना चाहिए ।

§ 897. अब उसके आलम्बन विशेषका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—
वे चार ध्यान क्रमसे तीन योगवाले, एक योगवाले, काययोगवाले और अयोगके होते हैं ॥40॥

§ 898. 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इस सूत्रमें योग शब्दका व्याख्यान कर आये हैं । पूर्वमें कहे गये शुक्लध्यानके चार भेदोंके साथ त्रियोग आदि चार पदोंका क्रमसे सम्बन्ध जान लेना चाहिए । तीन योगवालेके पृथक्त्ववितर्क होता है । तीन योगोंमेंसे एक योगवालेके एकत्ववितर्क होता है । काययोगवालेके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान होता है और अयोगीके व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है ।

§ 899 अब इन चार भेदोंमेंसे आदिके दो भेदोंके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पहलेके दो ध्यान एक आश्रयवाले, सवितर्क और सबीचार होते हैं ॥41॥

§ 900. जिन दो ध्यानोंका एक आश्रय होता है वे एक आश्रयवाले कहलाते हैं । जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान आरम्भ किये जाते हैं । यह उक्त

1. --क्षणमुपेत्य सर्वे-- मु. । 2. --मन्वर्थमव-- मु. । 3. उभयेऽपि आ. दि. 1, दि. 2, ना. ।

इत्यर्थः । वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ, सह वितर्कवीचाराभ्यां वर्तते इति सवितर्कवीचारे ।
पूर्वे पृथक्त्वैकत्ववितर्के इत्यर्थः ।

§ 901. तत्र यथासंख्यप्रसंगेऽनिष्टनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते—

अवीचारं द्वितीयम् ॥42॥

§ 902. पूर्वयोर्द्वितीयं तदवीचारं प्रत्येतव्यम् । एतदुक्तं भवति—आद्यं सवितर्कं
सवीचारं च भवति । द्वितीयं सवितर्कमवीचारं चेति ।

§ 903. अथ वितर्कवीचारयोः कः प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

वितर्कः श्रुतम् ॥43॥

§ 904. विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः ।

§ 905. अथ को वीचारः ।

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥44॥

§ 906. अर्थो ध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा । व्यञ्जनं वचनम् । योगः कायवाङ्मनःकर्मलक्षणः ।
संक्रान्तिः परिवर्तनम् । द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः । एकं श्रुत-
वचनमुपादाय वचनान्तरालम्बते तदपि विहायान्यदिति व्यञ्जनसंक्रान्तिः । काययोगं त्यक्त्वा
योगान्तरं गृह्णाति योगान्तरं च¹ त्यक्त्वा काययोगमिति योगसंक्रान्तिः । एवं परिवर्तनं वीचार
इत्युच्यते² । तदेतत्सामान्यविशेषनिर्दिष्टं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं च पूर्वोदितगुण्यादिबहुप्रकारोपायं
कथनका तात्पर्यं है । जो वितर्क और वीचारके साथ रहते हैं वे सवितर्कवीचार ध्यान कहलाते
हैं । सूत्रमें आये हुए पूर्व पदसे पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान लिये गये हैं ।

§ 901. पूर्व सूत्रमें यथासंख्यका प्रसंग होनेपर अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति करनेके लिए आगे-
का सूत्र कहते हैं—

दूसरा ध्यान अवीचार है ॥42॥

§ 902. पहलेके दो ध्यानोंमें जो दूसरा ध्यान है वह अवीचार जानना चाहिए । अभिप्राय
यह है कि पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है तथा दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क
और अवीचार होता है ।

§ 903. अब वितर्क और वीचारमें क्या भेद है यह दिखलानेके लिए आगेका सूत्र
कहते हैं—

वितर्कका अर्थ श्रुत है ॥43॥

§ 904. विशेष रूपसे तर्कणा करना अर्थात् ऊहा करना वितर्क श्रुतज्ञान कहलाता है ।

§ 905. अब वीचार किसे कहते हैं यह बात अगले सूत्र द्वारा कहते हैं—

अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति वीचार है ॥44॥

§ 906. अर्थ ध्येयको कहते हैं । इससे द्रव्य और पर्याय लिये जाते हैं । व्यञ्जनका अर्थ
वचन है तथा काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं । संक्रान्तिका अर्थ परिवर्तन है ।
द्रव्यको छोड़कर पर्यायको प्राप्त होता है और पर्यायको छोड़ द्रव्यको प्राप्त होता है—यह अर्थ-
संक्रान्ति है । एक श्रुतवचनका आलम्बन लेकर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है और उसे भी
त्यागकर अन्य वचनका आलम्बन लेता है—यह व्यञ्जन-संक्रान्ति है । काययोगको छोड़कर दूसरे
योगको स्वीकार करता है और दूसरे योगको छोड़कर काययोगको स्वीकार करता है—यह योग-

1. --न्तरं त्यक्त्वा मु. । 2. इत्युच्यते । संक्रान्ती सत्यां कथं ध्यानमिति चेत् ध्यानसंतानमपि ध्यानमुच्यते
इति न दोषः । तदेतत्सामान्य— मु. दि. 1, दि. 2, आ.,

संसारनिवृत्तये मुनिर्ध्यातुमर्हति कृतपरिकर्मा । तत्र द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यायन्नाहित-
चित्तकंसामर्थ्यः^१ अर्थव्यंजने कायवचसी च पृथक्त्वेन सकामता^२ मनसापर्याप्तबालोत्साहवदव्यव-
स्थितेनानिश्चितेनापि शस्त्रेण चिरान्तसं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन्क्षयपयंसं च पृथक्त्ववितर्कवी-
चारध्यानभाभवति । स एव पुनः समूलतूलं^३ मोहनीयं निदिधक्षन्ननन्तगुणविशुद्धियोगविशेष-
माश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसहायीभूतानां प्रकृतीनां बन्धं निरुन्धन् स्थितिहासक्षयौ च कुर्वन्
श्रुतज्ञानोपयोगो^४ निवृत्तार्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः अविचलितमनः क्षीणकषायो वैडूर्यमणिर्नि-
रूपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तत इत्युक्तमेकत्ववितर्कम् । एवमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानवैश्वानर-
निर्बन्धनातिकर्मन्धनः प्रज्वलितकेवलज्ञानगभस्तिमण्डलो मेघमण्डलनिरोधनिर्गत इव धर्मरश्मिर्वा
भासमानो भगवांस्तीर्थकर इतरो वा केवली लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽर्चनीयश्चोत्कर्षेणायुषः
पूर्वकोटीं देशानां विहरति । स यदाऽन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तत्तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा
सर्वं बाहुमनसयोगं वादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान-
मास्कन्दिमुमर्हतीति । यदा पुनरन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्ततोऽधिकस्थितिशेषकर्मत्रयो भवति सयोगी
तदात्मोपयोगातिशयस्य सामायिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्था-

संक्रान्ति है । इस प्रकारके परिवर्तनको वीचार कहते हैं । सामान्य और विशेष रूपसे कहे गये
इस चार प्रकारके धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको पूर्वोक्त गुप्ति आदि बहुत प्रकारके उपायोसे
युक्त होनेपर संसारका नाश करनेके लिए जिसने भले प्रकारसे परिकर्मको किया है ऐसा मुनि
ध्यान करनेके योग्य होता है । जिस प्रकार अपर्याप्त उत्साहसे युक्त बालक अव्यवस्थित और
मौथरे शस्त्रके द्वारा भी चिरकालमें वृक्षको छेदता है उसी प्रकार चित्तकी सामर्थ्यको
प्राप्तकर जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणुका ध्यान कर रहा है वह अर्थ और व्यंजन तथा
काय और वचनमें पृथक्त्व रूपसे संक्रमण करनेवाले मनके द्वारा मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका
उपशमन और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्क वीचारध्यानको धारण करनेवाला होता है । पुनः
जो समूल मोहनीय कर्मका दाह करना चाहता है, जो अनन्तगुणी विशुद्धिविशेषको प्राप्त होकर
बहुत प्रकारकी ज्ञानावरणकी सहायीभूत प्रकृतियोंके बन्धको रोक रहा है, जो कर्मोंकी स्थितिको
न्यून और नाश कर रहा है, जो श्रुतज्ञानके उपयोगसे युक्त है, जो अर्थ, व्यंजन और योगकी
संक्रान्तिसे रहित है, निश्चल मनवाला है, क्षीणकषाय है और वैडूर्यमणिके समान निरूपलेप है
वह ध्यान करके पुनः नहीं लौटना है । इस प्रकार उसके एकत्ववितर्क ध्यान कहा गया है । इस
प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा जिसने चार घातिया कर्मरूपी ईधनको जला
दिया है, जिसके केवलज्ञानरूपी किरणसमुदाय प्रकाशित हो गया है, जो मेघमण्डलका निरोध
कर निकले हुए सूर्यके समान भासमान हो रहा है ऐसे भगवान्, तीर्थकर केवली या सामान्य
केवली इन्द्रोंके द्वारा आदरणीय और पूजनीय होते हुए उत्कृष्टरूपसे कुछ कम पूर्व कोटि काल
तक विहार करते हैं । वह जब आयुमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है तथा वेदनीय, नाम और
शेष कर्मकी स्थिति आयुर्कर्मके बराबर शेष रहती है तब सब प्रकारके वचनयोग, मनोयोग और
वादरकाययोगको त्यागकर तथा सूक्ष्म काययोगका अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान-
को स्वीकार करता है, परन्तु जब उसे सयोगी जिनके आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है और शेष
तीन कर्मोंकी स्थिति उससे अधिक शेष रहती है तब जिन्हें सानिध्य आत्मोपयोग प्राप्त है, जिन्हें
सामायिकका अवलम्बन है, जो विशिष्ट करणसे युक्त हैं, जो कर्मोंका महासंवर कर रहे हैं

१. —सामर्थ्यादर्थः— मु. १. २. मनसा पर्याप्त— मु. १. ३. समूलतूलं मु., दि. १, दि. २, आ. १. ४. —शुद्धियोग
—मु. १. ५. —योगे निवृत्ता— मु. १.

शेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्यादृण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतश्चतुर्भिः समयैः कृत्वा पुनरपि तावद्भूरेव समयैः समुपहृतप्रदेशविसरणः समीकृतस्थितिशेषकर्मचतुष्टयः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति । ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमारभते । समुच्छिन्नप्राणानानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेश-परिस्पन्दक्रियाव्यापारत्वात् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तीत्युच्यते । तस्मिन्समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वबन्धास्त्रयनिरोधसर्वशेषकर्मशातनसामर्थ्यापत्तेरयोगिकेवलिनः संपूर्णयथाख्यातचारित्र-ज्ञानदर्शनं सर्वसंसारदुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते । स पुनरयोगिकेवली भगवांस्तदा ध्यानातिशयानिनिर्दग्धसर्वमलकलंकबन्धनो निरस्तकिट्टधातुपाषाणजात्यकनक-बल्लब्धात्मा परिनिर्वाति । तदेतद् द्विविधं तपोऽभिनवकर्मालवनिरोधहेतुत्वात्संवरकारणं प्राक्तन-कर्मरजोविधूनननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि भवति ।

§ 907. अत्राह सम्यग्दृष्टयः किं सर्वे समनिर्जरा आहोस्वित्कश्चिदस्ति प्रतिविशेष इत्य-ब्रूयते—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-

मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥45॥

§ 908. त एते दश सम्यग्दृष्ट्यादयः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः । तद्यथा भव्यः पचेन्द्रिय-संज्ञो पर्याप्तकः पूर्वोक्तकाललब्ध्यादिसहायः परिणामविशुद्ध्या वर्धमानः क्रमेणापूर्वकरणादिसो-

और जिनके स्वल्पमात्रामें कर्मोंका परिपाचन हो रहा है ऐसे वे अपने आत्मप्रदेशोंके फैलनेसे कर्मरजको परिशातन करनेकी शक्तिवाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको चार समयोंके द्वारा करके अनन्तर प्रदेशोंके विसर्पणका संकोच करके तथा शेष चार कर्मोंकी स्थिति-को समान करके अपने पूर्व शरीरप्रमाण होकर सूक्ष्म काययोगके द्वारा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको स्वीकार करते हैं । इसके बाद चौथे समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ध्यानको आरम्भ करते हैं । इसमें प्राणपानके प्रचाररूप क्रियाका तथा सब प्रकारके काययोग, वचनयोग और मनोयोगके द्वारा होनेवाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप क्रियाका उच्छेद हो जानेसे इसे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान कहते हैं । इस समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यानमें सब प्रकारके कर्मबन्धके आस्रवका निरोध हो जानेसे तथा बाकीके बचे सब कर्मोंके नाश करनेकी शक्तिके उत्पन्न हो जानेसे अयोगिकेवली के संसारके सब प्रकारके दुःखजालके सम्बन्धका उच्छेद करनेवाला सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र, ज्ञान और दर्शनरूप साक्षात् मोक्षका कारण उत्पन्न होता है । वे अयोगिकेवली भगवान् उस समय ध्यानातिशयरूप अग्निके द्वारा सब प्रकारके मल-कलंकबन्धनको जलाकर और किट्ट धातु व पाषाणका नाशकर शुद्ध हुए सोनेके समान अपने आत्माको प्राप्तकर परिनिर्वाणको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार यह दोनों प्रकारका तप नूतन कर्मोंके आस्रवके निरोधका हेतु होनेसे संवरका कारण है और प्राक्तन कर्मरूपी रजके नाश करनेका हेतु होनेसे निर्जराका भी हेतु है ।

§ 907. यहाँ कहते हैं कि सब सम्यग्दृष्टि क्या समान निर्जरावाले होते हैं या कुछ विशेषता है यह बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्त-मोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रमसे असंख्येयगुण निर्जरावाले होते हैं ॥45॥

§ 908. सम्यग्दृष्टि आदि ये दश क्रमसे असंख्येयगुण निर्जरावाले होते हैं । यथा—जिसे पूर्वोक्त काललब्धि आदिकी सहायता मिली है और जो परिणामोंकी विशुद्धि द्वारा वृद्धिको प्राप्त

पानपङ्क्त्योत्प्लवमानो बहुतरकर्मनिर्जरो भवति । स एव पुनः प्रथमसम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तसंनिधाने सति सम्यग्दृष्टिर्भवन्नसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनश्चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमनिमित्तपरिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको भवन् ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनः प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमकारणपरिणामविशुद्धियोगाद् विरलव्यपदेशभाक् सन् ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनरनन्तानुबन्धिकोऽथमानमायालोभानां वियोजनपरो भवति यदा तदा परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगात्ततोऽसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनर्दर्शनमोहप्रकृतित्रयतूणनिचयं निर्दिधक्षन् परिणामविशुद्धयतिशययोगाद्दर्शनमोहक्षपकव्यपदेशभाक्^१ पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । एवं सः क्षायिकसम्यग्दृष्टिभूत्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहोपशमं प्रति व्याप्रियमाणो विशुद्धिप्रकर्षयोगादुपशमकव्यपदेशमनुभवन् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनरक्षेपचारित्रमोहोपशमनिमित्तसंनिधाने परिप्राप्तोपशान्तकषायव्यपदेशः पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनश्चारित्रमोहक्षपणं प्रत्यभिमुखः परिणामविशुद्धया वर्द्धमानः क्षपकव्यपदेशमनुभवन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स यदा निःशेषचारित्रमोहक्षपणकारणपरिणामाभिमुखः क्षीणकषायव्यपदेशमास्कन्दन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव द्वितीयशुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मनिचयः सन् जिनव्यपदेशभाक् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति ।

हो रहा है ऐसा भव्य पचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीव क्रमसे अपूर्वकरण आदि सोपान पवित्रपर चढ़ता हुआ बहुतश कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला होता है । सर्वप्रथम वह ही प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येयगुण कर्मनिर्जरावाला होता है । पुनः वह ही चारित्र मोहनीय कर्मके एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी प्राप्तिके समय विशुद्धिका प्रकर्ष होनेसे श्रावक होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है । पुनः वह ही प्रत्याख्यानावरण कर्मके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी विशुद्धिवश विरल संज्ञाको प्राप्त होता हुआ उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है । पुनः वह ही जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभकी विसंयोजना करता है तब परिणामोंकी विशुद्धिके प्रकर्षवश उससे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है । पुनः वह ही दर्शनमोहनीयत्रिकरूपी तूणसमूहको भस्मसात् करता हुआ परिणामोंकी विशुद्धिके अतिशयवश दर्शनमोह क्षपक संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहलेसे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है । इस प्रकार वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणिपर आरोहण करनेके सम्मुख होता हुआ तथा चारित्र मोहनीयके उपशम करनेके लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धिके प्रकर्षवश उपशमक संज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है । पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीयके उपशमक निमित्त मिलनेपर उपशान्तकषाय संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है । पुनः वह ही चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके लिए सम्मुख होता हुआ तथा परिणामोंकी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर क्षपक संज्ञाको अनुभव करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है । पुनः वह ही समस्त चारित्रमोहनीयकी क्षपणाके कारणोंसे प्राप्त हुए परिणामोंके अभिमुख होकर क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त करता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येय गुण निर्जरावाला होता है । पुनः वह ही द्वितीय शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा घातिकर्म समूहका नाश करके जिन संज्ञाको प्राप्त होता हुआ पहले कही गयी निर्जरासे असंख्येयगुण निर्जरावाला होता है ।

1. --भाक् तेष्वेव पूर्वो-- मु. ।

§ 909. आह, सम्यग्दर्शनसंनिधानेऽपि यद्यसंख्येयगुणनिर्जरात्परस्परतो न साम्यमेषां किं तर्हि श्रावकवदमो विरतादयो गुणभेदान्न निर्ग्रन्थतामर्हन्तीति ? उच्यते, नैतदेवम् । कुतः । यस्माद् गुणभेदादन्योऽन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात्सर्वेऽपि हि भवन्ति—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥46॥

§ 910. उत्तरगुणभाव'नापेतमनसो भ्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तोऽ-विशुद्धपुलाकसादृश्यात्पुलाका इत्युच्यन्ते । निर्ग्रन्थं प्रति स्थिता अवण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभू-वानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा³ मोहशबलयुक्ता बकुशाः । शबलपर्यायवाची बकुशशब्दः । कुशीला द्विविधाः—प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीला इति । अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णभयाः कथंचिदुत्तर-गुण'विराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः । वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्राः कषायकुशीलाः । उदकदण्डराजिवदनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः ।

विशेषार्थ—यहाँ मुख्य रूपसे गुणश्रेणि निर्जराके दस स्थानोंका निर्देश किया गया है । असंख्यात गुणितक्रम श्रेणिरूपसे कर्मोंकी निर्जरा होना गुणश्रेणिनिर्जरा है । यह गुणश्रेणि निर्जरा सर्वदा नहीं होती किन्तु उपशमना और क्षपणाके कारणभूत परिणामोंके द्वारा ही गुणश्रेणि रचना होकर यह निर्जरा होती है । गुणश्रेणि रचना दो प्रकारकी होती है—एक तो गलितावशेष गुण-श्रेणि रचना और दूसरी अवस्थित गुणश्रेणि रचना । यह कहाँ किस प्रकारकी होती है इसे लब्धि-सार क्षपणासारसे जान लेना चाहिए । यहाँ इतना ही विशेष वक्तव्य है कि यहाँ जो दस स्थान बतलाये हैं उनमें उत्तरोत्तर गुणश्रेणिनिर्जराके लिए असंख्यातगुणा द्रव्य प्राप्त होता है किन्तु आगे-आगे गुणश्रेणिका काल संख्यातगुणा हीन-हीन है । अर्थात् सम्यग्दृष्टिको गुणश्रेणि निर्जरा में जो अन्तर्मुहूर्त काल लगता है उससे श्रावकको संख्यात गुणा हीन काल लगता है पर सम्यग्दृष्टि गुणश्रेणि द्वारा जितने कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा करता है उससे श्रावक असंख्यात गुणे कर्मपरमाणुओं-की निर्जरा करता है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिए ।

§ 909. कहते हैं, सम्यग्दर्शनका सान्निध्य होनेपर भी यदि असंख्येयगुण निर्जराके कारण ये परस्परमें समान नहीं हैं तो क्या श्रावकके समान ये विरत आदिक भी केवल गुणभेदके कारण निर्ग्रन्थपनेको नहीं प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए कहते हैं कि यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यतः गुणभेदके कारण परस्पर भेद होनेपर भी नैगमादि नयकी अपेक्षा वे सभी होते हैं—

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रन्थ हैं ॥46॥

§ 910. जिनका मन उत्तरगुणोंकी भावनासे रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतों-में भी परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हैं वे अविशुद्धपुलाक (मुरझाये हुए धान्य) के समान होनेसे पुलाक कहे जाते हैं । जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतोंका अखण्डरूपसे पालन करते हैं, शरीर और उप-करणोंकी शोभा बढ़ानेमें लगे रहते हैं, परिवारसे घिरे रहते हैं और विविध प्रकारके मोहसे युक्त होते हैं वे बकुश कहलाते हैं । यहाँ पर बकुश शब्द 'शबल' (चित्र-विचित्र) शब्दका पर्यायवाची है । कुशील दो प्रकारके होते हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील । जो परिग्रहसे घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तरगुणोंमें परिपूर्ण हैं लेकिन कभी-कभी उत्तरगुणोंकी विराधना करते हैं वे प्रतिसेवनाकुशील कहलाते हैं । जिन्होंने अन्य कषायोंके उदयको जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषायके अधीन हैं वे कषायकुशील कहलाते हैं । जिस प्रकार जलमें लकड़ीसे की गयी

1. —भावनापेत- मु. । 2. श्रद्धाः पुलाक- मु. । 3. - वारा मोहछेदशबल- आ., दि. 1 । -वाराण मोह-तबल-दि. 2 । 4. -विराधिनः मु. ।

प्रक्षीणघातिनां... केवलिनो द्विविधाः स्नातकाः । त एते पंचापि निर्ग्रन्थाः । चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिन्यायेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते ।

§ 911. तेषां पुलाकादीनां भूयोऽपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थीलिंगलेश्यापपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥१४७॥

§ 912. त एते पुलाकादयः संयमादिभिरुपपन्नानुयोगैः साध्या व्याख्याः । तद्वत्—
पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्वर्तन्ते । कषायकुशीला द्वयोः संयमयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययोः पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथा-
ख्यातसंयमे सन्ति ।

§ 913. श्रुत—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षणार्थभन्नाक्षरदशपूर्वधराः । कषाय-
कुशीला निर्ग्रन्थादचतुर्विधपूर्वधराः । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां
श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । स्नातका अगगतश्रुताः केवलिनः ।

§ 914. प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बला-
दन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति । बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीरबकुशश्चेति ।
तत्रोपकरणबकुशो बहुविधेष्वुक्तोपकरणाकांक्षी । शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुशः । प्रतिसेवना-

रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मोंका उदय अप्रकट हो और जो अन्तर्मुहूर्तके बाद प्रकट होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करते हैं वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं । जिन्होंने चार घातिया कर्मोंका नाश कर दिया है ऐसे दोनों प्रकारके केवली स्नातक कहलाते हैं । वे पाँचों ही निर्ग्रन्थ होते हैं । इनमें चारित्ररूप परिणामोंकी न्यूनाधिकताके कारण भेद होनेपर भी नैगम और संग्रह आदि नयोंकी अपेक्षा वे सब निर्ग्रन्थ कहलाते हैं ।

§ 911. अब उन पुलाक आदिके सम्बन्धमें पुनरपि ज्ञान प्राप्त करानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्यानके भेदसे इन निर्ग्रन्थोंका व्याख्यान करना चाहिए ॥१४७॥

§ 912. ये पुलाक आदि संयम आदि आठ अनुयोगोंके द्वारा साध्य हैं अर्थात् व्याख्यान करने योग्य हैं । यथा—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमोंमें रहते हैं । कषायकुशील पूर्वोक्त दो संयमोंके साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्म-
साम्पराय इन दो संयमोंमें रहते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातक एक मात्र यथाख्यात संयममें रहते हैं ।

§ 913. श्रुत—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्टरूपसे अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं । कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वधर होते हैं । जघन्यरूपसे पुलाकका श्रुत आचार वस्तुप्रमाण होता है । बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थोंका श्रुत आठ प्रवचनमातृकाप्रमाण होता है । स्नातक श्रुतज्ञानसे रहित केवली होते हैं ।

§ 914. प्रतिसेवना—दूसरोंके दबाववश जबरदस्तीसे पाँच मूलगुण और रात्रिभोजन वर्जन व्रतमेंसे किसी एककी प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक होता है । बकुश दो प्रकारके होते हैं, उपकरणबकुश और शरीरबकुश । उनमेंसे अनेक प्रकारकी विशेषताओंको लिये हुए उपकरणोंको चाहनेवाला उपकरणबकुश होता है तथा शरीरका संस्कार करनेवाला शरीरबकुश होता है । प्रतिसेवना कुशील मूलगुणोंकी विराधना न करता हुआ उत्तरगुणोंकी किसी प्रकारकी विराधना

कुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति ।

§ 915. तीर्थमिति सर्वे सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु भवन्ति ।

§ 916. लिङ्गं द्विविधं—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति । भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ।

§ 917. लेइयाः—पुलाकस्योत्तरास्तित्वः बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि¹ । कषायकुशीलस्य चतस्र उत्तराः । सूक्ष्मसांपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला । अयोगा अलेइयाः ।

§ 918. उपपादः—पुलाकस्योत्कृष्ट उपपाद उत्कृष्टस्थितिदेवेषु सहस्रारे । बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वींशतिसागरोपमस्थितिषु आरणाच्युतकल्पयोः । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ । सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु । स्नातकस्य निर्वाणमिति ।

§ 919. स्थानम्—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः । तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्तः । ततः पुत्राको व्युच्छिद्यते । कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानि स्थानानि गच्छत्येकाकी । ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति । ततो बकुशो व्युच्छिद्यते । ततोऽ-

की प्रतिसेवना करनेवाला होता है । कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकोंके प्रतिसेवना नहीं होती ।

§ 915. तीर्थ—ये सब निर्ग्रन्थ सब तीर्थकरोंके तीर्थोंमें होते हैं ।

§ 916. लिङ्ग—लिङ्ग दो प्रकारका है, द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग । भावलिङ्गकी अपेक्षा पाँचों ही साधु निर्ग्रन्थ लिङ्गवाले होते हैं । द्रव्यलिङ्ग अर्थात् शरीरकी ऊँचाई, रंग व पीछी आदिकी अपेक्षा उनमें भेद है ।

§ 917. लेइया—पुलाकके आगेकी तीन लेइयाएँ होती हैं । बकुश और प्रतिसेवना-कुशील के छहों लेइयाएँ होते हैं । कषायकुशीलके अन्तकी चार लेइयाएँ होती हैं । सूक्ष्मसाम्पराय कषाय-कुशीलके तथा निर्ग्रन्थ और स्नातकके केवल शुक्ल लेइया होती है और अयोगी लेइयारहित होते हैं ।

§ 918. उपपाद—पुलाकका उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार कल्पके उत्कृष्ट स्थितिवाले देवोंमें होता है । बकुश और प्रतिसेवना कुशीलका उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत कल्पमें बाईस सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंमें होता है । कषायकुशील और निर्ग्रन्थका उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धिमें तैंतीस सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंमें होता है । इन सभीका जघन्य उपपाद सौधर्म कल्पमें दो सागरोपम की स्थितिवाले देवोंमें होता है । तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं ।

§ 919. स्थानम्—कषायनिमित्तक असंख्यात संयमस्थान होते हैं । पुलाक और कषाय-कुशीलके सबसे जघन्य लब्धिस्थान होते हैं । वे दोनों असंख्यात स्थानोंतक एक साथ जाते हैं । इसके बाद पुलाककी व्युच्छिष्टि हो जाती है । आगे कषायकुशील असंख्यात स्थानोंतक अकेला जाता है । इससे आगे कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश असंख्यात स्थानोंतक एक साथ जाते हैं । यहाँ बकुशकी व्युच्छिष्टि हो जाती है । इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर

1. षडपि । कृष्णलेइयाद्वित्रितयं तयोः कथमिति चेदुच्यते—तयोरुपकरणासक्तिसंभवादात्तद्व्याप्तं कदाचित्संभवति, आर्तध्यानेन च कृष्णादिलेश्याव्रितयं संभवतीति । कषाय— मु. ।

प्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्यन्थः प्रतिपद्यते । सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाण¹प्राप्नोतीत्येतेषां संयम-लब्धिरनन्तगुणा भवति ।

इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

प्रतिसेवना कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है । पुनः इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर कषाय कुशीलकी व्युच्छित्ति हो जाती है । इससे आगे अकषाय स्थान है जिन्हें निर्यन्थ प्राप्त होता है । उसकी भी असंख्यातस्थान आगे जाकर व्युच्छित्ति हो जाती है । इससे आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाणको प्राप्त होता है । इनकी संयमलब्धि अनन्तगुणी होती है ।

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धिनामक तत्त्वार्थवृत्तिमें नौवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ दशमोऽध्यायः

§ 920. आह, अन्ते निर्दिष्टस्य मोक्षस्येदानीं स्वरूपाभिधानं प्राप्तकालमिति । सत्यमेवम् । मोक्षप्राप्तिः केवलज्ञानावाप्तिपूर्विकेति केवलज्ञानोत्पत्तिकारणमुच्यते—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

§ 921. इह वृत्तिकरणं न्याय्यम् । कुतः ? लघुत्वात् । कथम्^२ ? एकस्य 'क्षय'शब्दस्या-
करणाद् विभक्त्यन्तरनिर्देशस्य चाभावात् 'च' शब्दस्य चाप्रयोगाल्लघु सूत्रं भवति 'मोहज्ञान-
दर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्' इति । सत्यमेतत्, क्षयक्रमप्रतिपादनार्थो वाक्यभेदेन निर्देशः
क्रियते । प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयास्तर्मुहर्तुं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञानदर्शनावरणा-
न्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति इति । तत्क्षयो हेतुः केवलोत्पत्तिरिति हेतुलक्षणो विभक्ति-
निर्देशः कृतः । कथं प्रागेव मोहः क्षयमुपनीयते इति चेदुच्यते—भव्यः सम्यग्दृष्टिः परिणाम-
विशुद्ध्या वर्षमानोऽसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानेषु कस्मिंश्चिन्मोहस्य सप्त
प्रकृतीः क्षयमुपनीय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यारोहणाभिमुखोऽधःप्रवृत्ताकरणमप्रमत्ता-
स्थाने प्रतिपद्यापूर्वकरणप्रयोगेणापूर्वकरणक्षपकगुणस्थानव्यपदेशमनुभूय तत्राभिनवशुभाभिसन्धि-
तनूकृतपापप्रकृतिस्थित्यनुभागो विविधतशुभकर्मानुभवोऽनिवृत्तिकरणप्राप्त्यानिवृत्तिबादरसां-प-

§ 920. कहते हैं कि अन्तमें कहे गये मोक्षके स्वरूपके कथनका अब समय आ गया है । यह कहना सही है तथापि केवलज्ञानकी उत्पत्ति होने पर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिए पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कारणोंका निर्देश करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

मोहका क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवल-
ज्ञान प्रकट होता है ॥१॥

§ 921. इस सूत्रमें समास करना उचित है, क्योंकि इससे सूत्र लघु हो जाता है । शंका—
कैसे ? प्रतिशंका—क्योंकि ऐसा करनेसे एक क्षयशब्द नहीं देना पड़ता है और अन्य विभक्तिके
निर्देशका अभाव हो जानेसे 'च' शब्दका प्रयोग नहीं करना पड़ता है, इसलिए सूत्र लघु हो जाता
है । यथा—'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्केवलम्' । समाधान—यह कहना सही है तथापि
क्षयके क्रमका कथन करनेके लिए वाक्योंका भेद करके निर्देश किया है । पहले ही मोहका क्षय
करके और अन्तर्मुहर्तुं कालतक क्षीणकषाय संज्ञाको प्राप्त होकर अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण
और अन्तराय कर्मका एक साथ क्षय करके केवलज्ञानको प्राप्त होता है । इन कर्मोंका क्षय केवल-
ज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है ऐसा जानकर 'हेतुरूप' विभक्तिका निर्देश किया है । शंका—पहले
ही मोहके क्षयको कैसे प्राप्त होता है ? समाधान—परिणामोंकी विशुद्धि द्वारा वृद्धिको प्राप्त
होता हुआ असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों-
मेंसे किसी एक गुणस्थानमें मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर
क्षपकश्रेणिपर आरोहण करनेके लिए सम्मुख होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अधःप्रवृत्त-
करणको प्राप्त होकर अपूर्वकरणके प्रयोग द्वारा अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान संज्ञाका अनुभव
करके और वहाँपर नूतन-परिणामोंकी विशुद्धिवश पापप्रकृतियोंकी स्थिति और अनुभागकी कृश
करके तथा शुभकर्मोंके अनुभागकी वृद्धि करके अनिवृत्तिकरणको प्राप्ति द्वारा अनिवृत्तिबादर-

1. —ज्ञानाप्ति— आ. । 2. कथम् ? क्षय— मृ. । 3. तत्क्षयहेतुः केवलोत्पत्तिरिति मृ., ता. ।

रायक्षपकगुणस्थानमधिरूपा तत्र कषायषट्कं नष्टं कृत्वा नपुंसकवेदनां समापाद्य स्त्रीवेदमुन्मूल्य नोकषायषट्कं पुंवेदे प्रक्षिप्य क्षपयित्वा पुंवेदं क्रोधसंज्वलने, क्रोधसंज्वलनं मानसंज्वलने, मानसंज्वलनं मायासंज्वलने, मायासंज्वलनं च लोभसंज्वलने क्रमेण वादरकृष्टिविभागेन विलयमुपनीय लोभसंज्वलनं तनूकृत्य सूक्ष्मसांपरायक्षपकत्वमनुभूय निरवशेषं मोहनीयं निर्मूलकषायं कषिजा क्षीणकषायतामधिरूपावतारितमोहनीयभार उपान्त्यप्रथमे समये निद्राप्रचले प्रलयमुपनीय पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां² चान्तमन्ते समुपनीय³ तदनन्तरं ज्ञानदर्शनस्वभावं केवलपर्यायमप्रतर्क्यविभूतिविशेषमवाप्नोति ।

§ 922. आह कस्माद्धेतोर्मोक्षः किलक्षणश्चेत्यत्रोच्यते -

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥2॥

§ 923. मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मभावः पूर्वोदितनिर्जराहेतुसंनिधाने चाजित-
कर्मनिरासः । ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशः । ततो भवस्थिति-
हेतुसमीकृतशेषकर्मवस्थस्य⁴पुण्यपदात्यन्तिकः⁵ कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः प्रत्येतव्यः । कर्मभावो
द्विविधः—यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति । तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवायुषामभावो न यत्नसाध्यः,
असत्त्वात् । यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते—असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु कस्मिन्निव-

साम्पराय क्षपकगुणस्थानपर आरोहण करके तथा वहाँ आठ कषायोंका नाश करके तथा नपुंसक-
वेद और स्त्रीवेदका क्रमसे नाश करके, छह नोकषायका पुरुषवेद में संक्रमण द्वारा नाश करके
तथा पुरुषवेदका क्रोधसंज्वलनमें, क्रोधसंज्वलनका मानसंज्वलनमें, मानसंज्वलनका मायासंज्वलन-
में और मायासंज्वलनका लोभसंज्वलनमें क्रमसे वादरकृष्टिविभागके द्वारा संक्रमण करके तथा
लोभसंज्वलनको कृश करके, सूक्ष्मसाम्पराय क्षपकत्वका अनुभव करके, समस्त मोहनीयका
निर्मूल नाश करके, क्षीणकषाय गुणस्थानपर आरोहण करके, मोहनीयके भारको उतारकर
क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य संयममें निद्रा और प्रचलाका नाश करके तथा अन्तिम समयमें
पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मोंका अन्त करके तदनन्तर ज्ञानदर्शन-
स्वभाव अवितर्क्य विभूति विशेषरूप केवलपर्यायको प्राप्त होता है ।

§ 922. कहते हैं कि किस कारणसे मोक्ष प्राप्त होता है और उसका लक्षण क्या है यह
बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

बन्ध-हेतुओंके अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है ॥2॥

§ 923 मिथ्यादर्शनादिक हेतुओंका अभाव होनेसे नूतन कर्मोंका अभाव होता है और
पहले कही गयी निर्जरारूप हेतुके मिलनेपर अजित कर्मोंका नाश होता है । इन दोनोंसे, 'बन्ध-
हेत्वभावनिर्जराभ्याम्' यह हेतुपरक विभक्तिका निर्देश है, जिसने भवस्थितिके हेतुभूत आयुर्कर्मके
बराबर शेष कर्मोंकी अवस्थाको कर लिया है उसके उक्त कारणोंसे एक साथ समस्त कर्मोंका
आत्यन्तिक वियोग होना मोक्ष है ऐसा जानना चाहिए । कर्मका अभाव दो प्रकारका है—यत्न-
साध्य और अयत्नसाध्य । इनमेंसे चरम देहवालेके नरकायु, तिर्यचायु और देवायुका अभाव
यत्नसाध्य नहीं होता, क्योंकि चरम देहवाले के उनका सत्व नहीं उपलब्ध होता ; आगे यत्न-साध्य
अभाव कहते हैं—असंयतसम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानमें सात

1. --लनं लोभ-- मु. । 2. --याणांयन्त-- मु. । 3. गम्पगमय्य तद-- मु., ता. । 4. --वस्थितस्य मु.,
ता. । 5. --दात्यतीकृतक-- मु. ।

त्सप्तप्रकृतिकषयः क्रियते । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनरकगतिरित्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रिय-
जातिनरकगतिरित्येकप्रयोग्यानुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञिकानां षोडशानां कर्म-
प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसाम्परायस्थाने युगपत्क्षयः क्रियते । ततः परं तत्रैव कषायाष्टकं नष्टं
क्रियते । नपुंसकवेदः स्त्रीवेदश्च^१ क्रमेण तत्रैव क्षयमुपयाति । ^२नोकषायाष्टकं च सहैकेनैव प्रहारेण
विनिपातयति । ततः पुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमायाः क्रमेण तत्रैवात्यन्तिकं ध्वंसमास्कन्दन्ति । लोभ-
संज्वलनः सूक्ष्मसाम्परायान्ते यात्यन्तम् । निद्राप्रचले क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानसमये
प्रलयमुपपन्नजतः । पंचानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पंचानामन्तरायाणां च तस्यैवान्त्य-
समये प्रक्षयो भवति । अन्यतरवेदनीयदेवगत्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतेजसकामंशरीरपंचबन्धन-
पंचसंघातसंस्थानपट्कौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गषट्संहननपंचप्रशस्तवर्णपंचप्रशस्त-
वर्णगन्धद्वयपंचप्रशस्तरसपञ्चाप्रशस्तरसस्पर्शाष्टकदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातोच्छ-
वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादे-
यशःकीर्तिनिर्माणनामनीचर्गोत्राख्या द्वासप्ततिप्रकृतयोऽयोगकेवलिन उपान्त्यसमये विनाशमुप-
यान्ति । अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यासत्त्वावर-
पर्याप्तकसुभगादेयशःकीर्तितीर्थकरनामोच्छर्गोत्रसंज्ञिकानां त्रयोदशानां प्रकृतीनामयोगकेवलिन-
श्चरमसमये व्युच्छेदो भवति ।

प्रकृतियोंका क्षय करता है । पुनः निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यचगति, एकैन्द्रिय जाति, द्वौन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यच-
गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नामवाली सोलह कर्मप्रकृतियों-
का अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानमें एक साथ क्षय करता है । इसके बाद उसी गुणस्थानमें
आठ कषायोंका नाश करता है । पुनः वहींपर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदका क्रमसे क्षय करता है ।
तथा छह नोकषायोंको एक ही प्रहारके द्वारा गिरा देता है । तदनन्तर पुरुषवेद संज्वलनक्रोध,
संज्वलनमान और संज्वलनमायाका वहाँपर क्रमसे अत्यन्त क्षय करता है । तथा लोभसंज्वलन
सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें विनाशकी प्राप्त होता है । निद्रा और प्रचला क्षीणकषाय
वीतरागछद्मस्थगुणस्थानके उपान्त्य समयमें प्रलयको प्राप्त होते हैं । पाँच ज्ञानावरण, चार
दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मोंका उसी गुणस्थानके अन्तिम समयमें क्षय होता है । कोई
एक वेदनीय, देवगति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तेजसशरीर, कामंश
शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिकशरीर
अङ्गोपाङ्ग, आहारक शरीर अङ्गोपाङ्ग, छह संहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध,
पाँच प्रशस्त रस, पाँच अप्रशस्त रस, आठ स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात,
परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर,
स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और
नीचगोत्र नामवाली बहत्तर प्रकृतियोंका अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें विनाश होता है
तथा कोई एक वेदनीय, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस,
बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थकर और उच्छर्गोत्र नामवाली तेरह प्रकृतियोंका
अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें वियोग होता है ।

विशेषार्थ—कुल उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस हैं । उनमें से चरमशरीरी जीवके
नरकायु, तिर्यचायु और देवायुका सत्त्व होता ही नहीं । आहारकचतुष्क और तीर्थकरका सत्त्व

1. —वेदश्च तत्रैव मु. । 2. नोकषायाष्टकं च सहै— मु. ।

§ 924. आह, किमासां पौद्गलिकीनामेव द्रव्यकर्मप्रकृतीनां निरासान्मोक्षोऽवसीयते उत भावकर्मणोऽपीत्यत्रोच्यते—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥3॥

§ 925. किम् ? 'मोक्षः' इत्यनुवर्तते । भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकनिवृत्त्यर्थम् । तेन पारिणामिकेषु भव्यत्वस्यौपशमिकादीनां च भावानामभावान्मोक्षो भवतीत्यभ्युपगम्यते ।

§ 926. आह, यद्यपवर्गो भावोपरतेः प्रतिज्ञायते, 'ननु औपशमिकादिभावनिवृत्तिवत्सर्व-
क्षायिकभावनिवृत्तिव्यपदेशो मुक्तस्य प्राप्नोतीति । स्यादेतदेवं यदि विशेषो नोच्येत । अस्त्यत्र विशेष इत्यपवादविधानार्थमिदमुच्यते—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥4॥

§ 927. अन्यत्रशब्दापेक्षया 'का'निर्देशः^१ । केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यत्रान्य-
स्मिन्नयं विधिरिति । यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते, अनन्तवीर्यादीनां निवृत्तिः प्राप्नोति ? नैव बोधः,

किसीके होता है और किसीके नहीं होता । इनके सिवा शेष प्रकृतिओंका सत्त्व नियमसे होता है । यह जीव गुणस्थान क्रमसे बन्धहेतुओंका अभाव करता है इसलिये क्रमसे नूतन बन्धका अभाव होता जाता है और सत्तामें स्थित प्राचीन प्रकृतियोंका परिणाम-विशेषसे क्षय करता जाता है इसलिए सत्तामें स्थित कर्मोंका भी अभाव होता जाता है और इस प्रकार अन्तमें सब कर्मोंका वियोग हो जानेसे यह जीव मुक्त होता है । यहाँ मोक्ष शब्दका प्रयोग कर्म, नोकर्म और भाव-
कर्मके वियोग अर्थमें किया गया है । संसारी जीव बद्ध है अतएव वह किसी अपेक्षा से परतन्त्र है । उसके बन्धनके टूट जाने पर वह मुक्त होता है अर्थात् अपनी स्वतन्त्रताको प्राप्त करता है । इस प्रकार मोक्ष क्या है इसका निर्देश किया ।

§ 924. कहते हैं कि क्या इन पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रकृतियोंके वियोगसे ही मोक्ष मिलता है या भावकर्मोंके भी अभावसे मोक्ष मिलता है इस बातको बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तथा औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भावके अभाव होनेसे मोक्ष होता है ॥3॥

§ 925. क्या होता है ? मोक्ष होता है । यहाँ पर 'मोक्ष' इस पदकी अनुवृत्ति होती है । अन्य पारिणामिक भावोंकी निवृत्ति करनेके लिए सूत्रमें भव्यत्व पदका ग्रहण किया है । इससे पारिणामिक भावोंमें भव्यत्वका और औपशमिक आदि भावोंका अभाव होनेसे मोक्ष होता है यह स्वीकार किया जाता है ।

§ 926. कहते हैं, यदि भावोंके अभाव होनेसे मोक्षकी प्रतिज्ञा करते हो तो औपशमिक आदि भावोंकी निवृत्तिके समान समस्त क्षायिक भावोंकी निवृत्ति मुक्त जीवके प्राप्त होनी है ? यह ऐसा होवे यदि इसके सम्बन्धमें कोई विशेष बात न कही जावे तो । किन्तु इस सम्बन्धमें विशेषता है इसलिए अपवादका विधान करनेके लिए यह आगेका सूत्र कहते हैं—

पर केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व भावका अभाव नहीं होता ॥4॥

§ 927. यहाँ पर अन्यत्र शब्दकी अपेक्षा पंचमी विभक्तिका निर्देश किया है । केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इनके सिवा अन्य भावोंमें यह विधि होती है ।
शंका—सिद्धोंके यदि चार ही भाव शेष रहते हैं तो अनन्तवीर्य आदिकी निवृत्ति प्राप्त होती है ?

1. --यते नत्वोप-- मु. । --यतेतदोप-- ता. । 2. 'कापदाने' --जैनेन्द्र. 1, 4, 41 । 'अपादाने कारके का विभक्तिर्भवति ।' --वृत्ति. । प्रतिष्ठा 'को निर्देशः' इति पाठः ।

ज्ञानदर्शनाविनाभावितावनन्तवीर्यादीनामविशेषः, अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावा-
ज्ञानमय¹स्थाच्च सुखस्येति । अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न; 'अतीतानन्तरशरीरा-
कारत्वात् ।

§ 928. स्यान्मतं, यदि शरीरानुविधायो जीवः, तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरि-
माणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति । नैव दोषः । कुतः ? कारणाभावात् । नामकर्मसंबन्धो³ हि
संहरणविसर्पणकारणम् । तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः ।

§ 929. यदि कारणाभावान्न संहरणं न विसर्पणं तर्हि गमनकारणाभावाद्ध्वगमनमपि न
प्राप्नोति अद्यस्तिर्यग्गमनाभाववत्, ततो यत्र मुक्तस्तत्रैवावस्थानं प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते—

तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्या लोकान्तात् ॥5॥

§ 930. तस्यानन्तरम् । कस्य ? सर्वकर्मविप्रमोक्षस्य । आङ्गभिविध्यर्थः । ऊर्ध्वं गच्छत्या
लोकान्तात् ।

§ 931. अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमित्यत्रोच्यते—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदान्तथागतिपरिणामाच्च ॥6॥

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि ज्ञान-दर्शनके अविनाभावी होनेसे अनन्तवीर्य आदिक
भी सिद्धोंमें समानरूपसे पाये जाते हैं, क्योंकि अनन्त सामर्थ्यसे हीन व्यक्तिके अनन्तज्ञानकी वृत्ति
नहीं हो सकती और सुख ज्ञानमय होता है । शंका—अनाकार होनेसे मुक्त जीवोंका अभाव प्राप्त
होता है ? समाधान—नहीं । क्योंकि उनके अतीत अनन्तर शरीरका आकार उपलब्ध होता है ।

§ 928. शंका—यदि जीव शरीरके आकारका अनुकरण करता है तो शरीरका अभाव
होनेसे उसके स्वाभाविक लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होनेके कारण जीव तत्प्रमाण प्राप्त
होता है ? समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवके तत्प्रमाण होनेका कोई कारण नहीं
उपलब्ध होता । नामकर्मका सम्बन्ध जीवके संकोच और विस्तारका कारण है, किन्तु उसका
अभाव हो जाने से जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार नहीं होता ।

§ 929. यदि कारणका अभाव हो जानेसे जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार नहीं
होता तो गमनके कारणका अभाव हो जानेसे जिस प्रकार यह जीव तिरछा और नीचेकी ओर
गमन नहीं करता है उसी प्रकार उसका ऊर्ध्वगमन भी नहीं प्राप्त होता है, इसलिए जिस स्थान-
पर मुक्त होता है उसी स्थान पर उसका अवस्थान प्राप्त होता है, ऐसी शंकाके होनेपर
आगेके सूत्र द्वारा उसका समाधान करते हैं ।

तदनन्तर मुक्त जीव लोकके अन्त तक ऊपर जाता है ॥5॥

§ 930. उसके अनन्तर । शंका—किसके ? समाधान—सब कर्मोंके वियोग होनेके । सूत्रमें
'आङ्' पद अभिविधि अर्थमें आया है । लोकके अन्त तक ऊपर जाता है ।

§ 931. जीव ऊर्ध्वगमन क्यों करता है इसका कोई हेतु नहीं बतलाया, इसलिए इसका
निश्चय कैसे होता है, अतः इसी बातका निश्चय करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

पूर्वप्रयोगसे, संगका अभाव होनेसे, बन्धनके टूटनेसे और वंसा गमन करना स्वभाव होने-
से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है ॥6॥

1. --मयपर्यायत्वाच्च मु., ता. । 2. अतीतानन्तरशरी- मु. । 3. --कर्मसंसर्गो हि ता. ।

§ 932. आह, हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नास्मित्य-
त्रोच्यते—

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाद्बुदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥7॥

§ 933. पूर्वसूत्रे¹ विहितानां हेतूनामत्रोक्तानां दृष्टान्तानां च यथासंख्यमभिसंख्यो
भवति । तद्यथा—कुलालप्रयोगापादितहस्तदण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणम् । उपरतेऽपि तस्मिन्पूर्व-
प्रयोगादा संस्कारक्षयाद् भ्रमति । एवं भवत्येनात्मनापदगं प्राप्तये बहुशो यत्प्रणिधानं तदभावेऽपि
तदावेशपूर्वकं मुक्तस्य गमनमवसीयते । किं च, असङ्गत्वात् । यथा मृत्तिकात्पण्डितगौरवमलाभु-
द्रव्यं जलेऽधःपतितं जलबलेदविश्लिष्टमृत्तिकाबन्धनं लघु सद्रुर्ध्वमेव गच्छति तथा कर्मभारा-
क्रान्तिवशीकृत आत्मा तदावेशवशात्संसारं अनियमेन गच्छति । तत्सङ्गविमुक्तस्तूपर्यवोपयाति ।
किं च, बन्धच्छेदात् । यथा बीजकोशबन्धच्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्रापक-
गतिजातिनामादिसकलकर्मबन्धच्छेदान्मुक्तस्य ऊर्ध्वगतिरवसीयते । किं च, तथागतिपरिणामात् ।
यथा तिर्यक्प्लवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि
नानागतिविकारकारणकर्मनिर्धारणे सत्पूर्ध्वगतिस्वभावा²दूर्ध्वमेवारोहति ।

§ 934. आह, यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते

§ 932. कहते हैं, पुष्कल भी हेतु दृष्टान्त द्वारा समर्थनके बिना अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि
करनेमें समर्थ नहीं होते इसलिए आगेका सूत्र कहते हैं—

धुमाये गये कुम्हारके चक्रके समान, लेपसे मुक्त हुई तूमड़ीके समान, एरण्डके बीजके
समान और अग्निकी शिखाके समान ॥7॥

§ 933. पिछले सूत्रमें कहे गये हेतुओंका और इस सूत्रमें कहे गये दृष्टान्तोंका क्रमसे
सम्बन्ध होता है । यथा—कुम्हारके प्रयोगसे किया गया हाथ, दण्ड और चक्रके संयोगपूर्वक जो
भ्रमण होता है उसके उपरत हो जानेपर भी पूर्वं प्रयोगवश संस्कारका क्षय होने तक चक्र घूमता
रहता है । इसी प्रकार संसारमें स्थित आत्माने मोक्षकी प्राप्तिके लिए जो अनेक बार प्रणिधान
किया है उसका अभाव होनेपर भी उसके आवेश पूर्वक मुक्त जीवका गमन जाना जाता है ।
असंगत्वात्—जिस प्रकार मृत्तिकाके लेपसे तूमड़ीमें जो भारीपन आ जाता है उससे जलके नीचे
पड़ी हुई तूमड़ी जलसे मिट्टीके गीले हो जानेके कारण बन्धनके शिथिल होनेसे शीघ्र ही ऊपर
ही जाती है उसी प्रकार कर्मभारके आक्रमणसे आधीन हुआ आत्मा उसके आवेशवश संसारमें
अनियमसे गमन करता है किन्तु उसके संगसे मुक्त होनेपर ऊपर ही जाता है । बन्धच्छेदात्—
जिस प्रकार बीजकोशके बन्धनके टूटनेसे एरण्ड बीजकी ऊर्ध्व गति देखी जाती है उसी प्रकार
मनुष्यादि भवको प्राप्त करानेवाले गतिनाम और जातिनाम आदि समस्त कर्मोंके बन्धन छेद
होनेसे मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगति जानी जाती है । तथागतिपरिणामात्—जिस प्रकार तिर्यक्प्लवन
स्वभाववाले वायुके सम्बन्धसे रहित प्रदीपशिखा स्वभावसे ऊपरकी ओर गमन करती है उसी
प्रकार मुक्त आत्मा भी नानागति रूप विकारके कारणभूत कर्मका अभाव होनेपर ऊर्ध्वगति
स्वभाव होनेसे ऊपरकी ओर ही आरोहण करता है ।

§ 934 कहते हैं कि यदि मुक्त जीव ऊर्ध्व गति स्वभाववाला है तो लोकान्तसे ऊपर
भी किस कारणसे नहीं गमन करता है, इसलिए यहाँ आगेका सूत्र कहते हैं—

1. पूर्वसूत्रोक्तानां— मु. । 2. —विप्रमुक्ती तूपर्यवोप— मु. । —विमुक्ते तूपर्यवोप—ता. । —विमुक्तोऽध-वि.
1, वि. 2 । 3. —भावत्वाद्— मु. ।

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

§ 935. मत्पुपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः । तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते ।

§ 936. आह, अमो परिनिर्वृत्ता गतिजात्यादिभेदकारणाभावादतीतभेदव्यवहारा एवेति । अस्ति कथंचिद् भेदोऽपि । कुतः—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञाना-

वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

§ 937. क्षेत्राविभिर्द्वादशभिः^१रनुयोगैः सिद्धाः साध्या विकल्प्या इत्यर्थः, प्रत्युत्पन्नभूतानु-ग्रहतन्त्रनयद्वयविवक्षावशात् । तद्यथा—क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनया-पेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रवेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म^२ प्रति पञ्च-दशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः । कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः ? प्रत्युत्पन्ननया-पेक्षया एकसमये सिद्धयन् सिद्धो भवति । भूतप्रज्ञापननयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यव-सर्पिण्योर्जातिः सिध्यति । विशेषेणावसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्त्ये भागे दुःषमसुषमायां च जातः सिध्यति । न तु दुःषमायां जातो दुःषमायां सिध्यति । अन्यदा नैव सिध्यति । संहरणतः सर्व-स्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति । गत्या कस्यां गतो सिद्धिः ? सिद्धिगतौ मनुष्यगतौ

धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे मुक्त जीव लोकान्तसे और ऊपर नहीं जाता ॥८॥

§ 935. गतिके उपकारका कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्तके ऊपर नहीं है, इसलिए मुक्त जीवका अलोकमें गमन नहीं होता । और यदि आगे धर्मास्तिकायका अभाव होनेपर भी अलोकमें गमन माना जाता है तो लोकालोकके विभागका अभाव प्राप्त होता है ।

§ 936. कहते हैं कि निर्वाणको प्राप्त हुए ये जीव गति, जाति आदि भेदके कारणोंका अभाव होनेसे भेद व्यवहारसे रहित ही हैं । फिर भी इनमें कथंचित् भेद भी है क्योंकि—

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं ॥९॥

§ 937. क्षेत्रादिक तेरह अनुयोगोंके द्वारा सिद्ध जीव साध्य हैं अर्थात् विभाग करने योग्य हैं और यह विभाग वर्तमान और भूतका अनुग्रह करनेवाले दो नयोंकी विवक्षासे किया गया है । यथा—क्षेत्रकी अपेक्षा किस क्षेत्रमें सिद्ध होते हैं ? वर्तमानको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा सिद्ध क्षेत्रमें, अपने प्रदेशमें या आकाश-प्रदेशमें सिद्ध होती है । अतीतको ग्रहण करनेवाले नय-की अपेक्षा जन्मकी अपेक्षा पञ्च कर्मभूमियोंमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुष क्षेत्रमें सिद्ध होती है । काल—कालकी अपेक्षा किस कालमें सिद्ध होती है ? वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है । अतीतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मकी अपेक्षा सामान्य रूपमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है । विशेष रूपसे अवसर्पिणी कालमें सुषमा-दुःषमाके अन्त भागमें और दुःषमा-सुषमामें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है । दुःषमामें उत्पन्न हुआ दुःषमामें सिद्ध नहीं होता । इस कालको छोड़कर अन्यकालमें सिद्ध नहीं होता है । संहरण-की अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोंमें सिद्ध होता है । गति—गतिकी अपेक्षा किस गतिमें सिद्ध होती है ? सिद्धगतिमें या मनुष्यगतिमें सिद्ध होती है । लिंग—किस लिंगसे

1. --दिभिः त्रयोदश-- ता., ना. । 2. जन्मप्रभृति पञ्चदशकर्म-- म. ।

वा । लिङ्गेन केन सिद्धिः ? अवेदत्वेन त्रिम्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः । द्रव्यतः पुस्तिल्लिङ्गेनैव । अथवा निर्ग्रन्थलिङ्गेन । सग्रन्थलिङ्गेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया । तीर्थेन^१, तीर्थसिद्धिः द्वेधा तीर्थकरेतरविकल्पात् । इतरे द्विविधाः सति तीर्थकरे सिद्धा असति चेति । चारित्र्येण केन सिध्यति । अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्र्येण वा सिद्धिः । स्वशक्तिपरोपदेश-निमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पः । ज्ञानेन केन ? एकेन द्वित्रिचतुभिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः । आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम् । तद् द्विविधम्, उत्कृष्टजघन्यभेदात् । तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि । जघन्यमर्धचतुर्धनरत्नयो देशोनाः । मध्ये विकल्पाः । एकस्मिन्-वगाहे सिध्यति । किमन्तरम् ? सिध्यतां^२ सिद्धानामनन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ । अन्तरं जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण षण्मासाः । संख्या, जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति । उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः । क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः संख्याविशेषोऽल्पबहुत्वम् । तद्यथा—प्रत्युत्पन्न-नयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते, क्षेत्रसिद्धा द्विविधा—जन्मतः संहरणतश्च । तत्राल्पे संहरणसिद्धाः । जन्मसिद्धाः संख्येयगुणाः । क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमिरकर्मभूमिः समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति । तत्र स्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः । अधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः । तिर्यग्लोकसिद्धाः संख्येयगुणाः । सर्वतः स्तोकाः समुद्रसिद्धाः । द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः । एवं तावदविशेषेण । सर्वतः स्तोका लवणोदसिद्धाः । कालोदसिद्धाः

सिद्धि होती है ? अवेद भावसे या तीनों वेदोंसे सिद्धि होती है । यह कथन भावकी अपेक्षा है द्रव्यकी अपेक्षा नहीं । द्रव्यकी अपेक्षा पुस्तिल्लिङ्गे ही सिद्धि होती है अथवा निर्ग्रन्थलिङ्गसे सिद्धि होती है । भूतपूर्वनयकी अपेक्षा सग्रन्थ लिङ्गसे सिद्धि होती है । तीर्थ—तीर्थसिद्धि दो प्रकारकी है—तीर्थ-करसिद्ध और इतरसिद्ध । इतर दो प्रकारके हैं, कितने ही जीव तीर्थकरके रहते हुए सिद्ध होते हैं और कितने ही जीव तीर्थकरके अभावमें सिद्ध होते हैं । चारित्र्य—किस चारित्र्यसे सिद्धि होती है ? नामरहित चारित्र्यसे सिद्धि होती है या एक, चार और पाँच प्रकारके चारित्र्यसे सिद्धि होती है । प्रत्येकबुद्ध-बोधितबुद्ध—अपनी शक्तिरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे प्रत्येकबुद्ध होते हैं और परोपदेशरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे बोधितबुद्ध होते हैं, इस प्रकार ये दो प्रकारके हैं । ज्ञान—किस ज्ञानसे सिद्धि होती है । एक, दो, तीन और चार प्रकारके ज्ञानविशेषोंसे सिद्धि होती है । अवगाहना—आत्मप्रदेशमें व्याप्त करके रहना इसका नाम अवगाहना है । वह दो प्रकारकी है—जघन्य और उत्कृष्ट । उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पचीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन अरत्ति है । बीचके भेद अनेक हैं । किसी एक अवगाहनमें सिद्धि होती है । अन्तर—क्या अन्तर है ? सिद्धिको प्राप्त होनेवाले सिद्धोंका जघन्यअन्तर का अभाव दो समयहै और उत्कृष्ट अन्तर का अभावआठ समय । जघन्यअन्तर एक समयहै और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना । संख्या—जघन्यरूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट रूपसे एक समयमें एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं । अल्पबहुत्व—क्षेत्रादि की अपेक्षा भेदोंको प्राप्त जीवोंकी परस्पर संख्याका विशेष प्राप्त करना अल्पबहुत्व है । यथा—वर्तमान नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमें सिद्ध होनेवाले जीवोंका अल्पबहुत्व नहीं है । भूतपूर्व नयकी अपेक्षा विचार करते हैं—क्षेत्रसिद्ध जीव दो प्रकारके हैं—जन्मसिद्ध और संहरणसिद्ध । इनमें-से संहरणसिद्ध जीव सबसे अल्प हैं । इनसे जन्मसिद्ध जीव संख्यातगुण हैं । क्षेत्रोंका विभाग इस प्रकार है—कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक । इनमें से ऊर्ध्वलोकसिद्ध सबसे स्तोक हैं । इनसे अधोलोक सिद्ध संख्यातगुण हैं, इनसे तिर्यग्लोकसिद्ध संख्यातगुण हैं । समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक

1. तीर्थेन केन तीर्थेन सिद्धिः म् । 2. सिद्धानामन्तरं म् ।

संख्येयगुणाः । जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः । धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः । पुष्करद्वीपाद्यै^१-
सिद्धाः संख्येयगुणा इति । एवं कालादिविभागोऽपि यथागममल्पबहुत्वं वेदितव्यम् ॥10॥

§ 938. स्वर्गापवर्गसुखमाप्नुमनोभिरार्यै-

जनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता ।

सर्वार्थसिद्धिरिति सिद्धिरुपात्तनामा

तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥1॥

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः

शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या ।

हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तं-

सर्त्यामिरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम् ॥2॥

येनेदमप्रतिहतं सकलार्थतत्त्व—

मुद्योतितं विमलकेवललोचनेन ।

भक्त्या तमद्भुतगुणं प्रणमामि वीर-

मारान्नरामरगणार्चितपादपीठम् ॥3॥

इति तत्त्वार्थवृत्ति सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

शुभं भवतु सर्वेषाम् ।

हैं । इनसे द्वीपसिद्ध संख्यातगुणें हैं । यह सामान्य रूपसे कहा है । विशेष रूपसे विचार करनेपर लवण समुद्रसिद्ध सबसे स्तोक हैं । इनसे कालोदसिद्ध संख्यातगुणें हैं । इनसे जम्बूद्वीपसिद्ध संख्यातगुणें हैं । इनसे धातकी खण्ड सिद्ध संख्यातगुणें हैं । इनसे पुष्करार्द्ध द्वीपसिद्ध संख्यातगुणें हैं । इसी प्रकार कालादिका विभाग करनेपर भी आगमके अनुसार अल्पबहुत्व जान लेना चाहिए ।

§ 938. स्वर्ग और अपवर्गके सुखको चाहनेवाले आर्य पुरुषोंने इस तत्त्वार्थवृत्तिका सर्वार्थसिद्धि यह नाम रखा है । यह जिनेन्द्रदेवके शासनरूपी अमृतका सार है, अतः मनःपूर्वक इसे निरन्तर धारण करना चाहिए ॥1॥ सब तत्त्वोंके जानकार जो इस तत्त्वार्थवृत्तिको धर्म-भक्तिसे सुनते हैं और पढ़ते हैं मानो उन्होंने परम सिद्धिसुखामृतको अपने हाथमें ही कर लिया है, फिर, चक्रवर्ती और देवेन्द्रके सुखके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥2॥ जिन्होंने अपने विमल केवलज्ञानरूपी नेत्रके द्वारा इस निर्विवाद सकल तत्त्वार्थका प्रकाश किया है, मनुष्यों और देवोंके द्वारा पूजित अद्भुतगुणवाले उन वीर भगवान् को भविष्यपूर्वक मैं प्रणाम करता हूँ ॥3॥

इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्तिमें दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

परिशिष्ट 1

सूत्रपाठ

प्रथम अध्याय

पराग्राफ संख्या

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।	4
2. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।	9
3. तन्निसर्गादिधिगमाद्वा ।	13
4. जीवाजीवास्त्व ¹ बन्धसंवरनिर्जंरामोक्षास्तत्त्वम् ।	17
5. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः ।	21
6. प्रमाणनयैरधिगमः ।	23
7. निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।	25
8. सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्लपबहुत्वैश्च ।	32
9. मतिश्रुतावधिमनःपर्यय ² केवलानि ज्ञानम् ।	163
10. तत्प्रमाणे ।	165
11. आद्ये परोक्षम् । ³	173
12. प्रत्यक्षमन्यत् ।	175
13. मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।	181
14. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।	184
15. अवग्रहेहावाय ⁴ धारणाः ।	189
16. बहुबहुविधक्षिप्रानिः ⁵ सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।	191
17. अर्थस्य ।	197
18. व्यञ्जनस्यावग्रहः ।	199
19. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।	201
20. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।	205
21. भवप्रत्ययोऽवधिर्देवानांरकाणाम् । ⁶	212
22. क्षयोपशमनिमित्तः ⁷ षड्विकल्पः शेषाणाम् ।	214
23. ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः । ⁸	216
24. विशुद्धचप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।	219
25. विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः । ⁹	221
26. मतिश्रुतयोर्निबन्धो ¹⁰ द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।	223

1. आश्व-हारिभ. । 2. मनःपर्याय- त. भा. । 3. तत्र आद्ये-हारिभ. । 4. --हेहापाय-- त, भा., हारिभ. सि. । तत्त्वार्थवार्तिकमें 'अवाय और अपाय' दोनों पाठ हैं । 5. --निश्चिता-- त. भा., क्षिप्रनिःसृतानु- स., श्रितनिश्चितध्रु- सि. वृ. पा. । 6. त. भा. में भवप्रत्ययो इत्यादि सूत्रके स्थान पर द्विविधोऽवधिः ॥21॥ भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥22॥ ऐसे दो सूत्र हैं । 7. यथोक्तनिमित्तः । त. भा. । 8. --मनःपर्यायः । त. भा. । 9. --मनः पर्याययोः । त. भा. । 10. सर्वद्रव्ये- त. भा. ।

27. रूपिष्ववधेः ।	225
28. तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य । ¹	227
29. सर्वद्रव्यपर्यायिषु केवलस्य ।	229
30. एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।	231
31. मतिश्रुतावधयो ² विपर्ययश्च ।	233
32. सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।	235
33. नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्द ³ समभिरुद्धैवभूता नयाः ।	240

इति प्रथमोऽध्यायः ।

दूसरा अध्याय

1. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वभौदयिकपारिणामिकौ च ।	251
2. द्विनवाष्टादशैकविंशतिविभेदा यथाक्रमम् ।	254
3. सम्यक्त्वचारित्र्ये ।	256
4. ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवोर्याणि च ।	260
5. ज्ञानाज्ञानदर्शन ⁵ लब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः ⁶ सम्यक्त्वचारित्र्यसंयमासंयमाश्च ।	262
6. गतिकषायालिगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध ⁷ लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ।	264
7. जीवभव्याभन्यत्वानि ⁸ च ।	267
8. उपयोगो लक्षणम् ।	270
9. स ⁹ द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।	272
10. संसारिणो मुक्ताश्च ।	274
11. समनस्काभनस्काः ।	281
12. संसारिणस्त्रसस्थावराः ।	283
13. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः । ¹⁰	285
14. द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः । ¹¹	287
15. पंचेन्द्रियाणि ।	289
16. द्विविधानि ।	291
17. निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।	293
18. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।	295
19. स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि । ¹²	297
20. स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः । ¹³	299
21. श्रुतमनिन्द्रियस्य ।	301

1. मनःपर्यायस्य त. भा. । 2. —श्रुतिविभंगा विप- हारिभ. । 3. सूत्रशब्दा नयाः त. भा. । 4. त. भ. में आद्यशब्दो द्विविभेदो ॥35॥ यह सूत्र अधिक है । 5. —दानादिलब्धय- त. भा. । 6. त. भा. में- 'यथाक्रमम्' इतना पाठ अधिक है । 7. सिद्धत्व- त. भा. । 8. भन्यत्वादीनि- त. भा. । 9. 'स' पाठ नहीं है सि. दू. पा. । 10. 'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः' त. भा. । 11. तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः त. भा. । 12. 'स्पर्शनरसन'- इत्यादि सूत्रके पूर्व 'उपयोगः स्पर्शादिषु' ॥19॥ यह सूत्र त. भा. में अधिक है । 13. शब्दास्तोषामर्थाः । त. भा. ।

22. वनस्पत्यन्तानामेकम् । ¹	303
23. कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।	305
24. सज्जितः समनस्काः ।	307
25. विग्रहगतौ कर्मयोगः ।	309
26. अनुश्रेणि गतिः ।	311
27. अविग्रहा जीवस्य ।	313
28. विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।	315
29. एकसमयाविग्रहा । ²	317
30. एकं द्वौ ³ त्रीन्वानाहारकः ।	319
31. समूच्छन्तगर्भोपपादा ⁴ जन्म ।	321
32. सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकणस्तद्योनयः ।	323
33. जरायुजाण्ड ⁵ जपोतानां गर्भः ।	325
34. देवनारकाणामुपपादः ⁶ ।	327
35. शेषाणां समूच्छन्तम् ।	328
36. औदारिकवैक्रियका ⁷ हारकतैजसकर्मणाति जरीराणि ।	330
37. परं परं सूक्ष्मम् ।	332
38. प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ।	334
39. अनन्तगुणे परे ।	336
40. अप्रतीघाते । ⁸	338
41. अनादिसंवन्धे च ।	340
42. सर्वस्य ।	342
43. तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना ⁹ चतुर्भ्यः ।	344
44. निरुपभोगमन्त्यम् ।	346
45. गर्भसमूच्छन्तजमाद्यम् ।	348
46. औपपादिकं वैक्रियिकम् । ¹⁰	350
47. लब्धिप्रत्ययं च ।	352
48. तैजसमपि । ¹¹	354
49. शुभं विशुद्धमव्याप्नाति चाहारक ¹² प्रमत्तसंयतस्यैव ।	356
50. नारकसमूच्छितो नपुंसकानि ।	358
51. न देवाः ।	360
52. शेषास्त्रिवेदाः । ¹³	362
53. औपपादिकचरमोत्तमदेहा ¹⁴ ऽसंख्येय ¹⁵ वर्षायुषोत्तमवर्षायुषः ।	364

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

1. वाय्वन्तानामेकम् त. भा. । 2. एकसमयोऽविग्रहः त. भा. । 3. द्वौ वानाहारकः त. भा. ।
 4. --गर्भोपपादा त. भा. । 5. जराय्वण्डजपोतजानां त. भा. । 6. नारकदेवानामुपपातः त. भा. ।
 7. --वैक्रियाहारक-- त. भा. । 8. अप्रतिघाते । त. भा. । 9. युगपदेकस्या । 10. वैक्रियमौपपाति-
 कम् । त. भा. । 11. त. भा. में यह सूत्र नहीं है । 12. चतुर्दशपूर्वधरस्यैव । त. भा. में इतना पाठ
 अधिक है । 13. त. भा. में यह सूत्र नहीं । 14. 'चरमदेहा' यह भी पाठान्तर है । स., त. वा. । 15.
 औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येय- । त. भा. ।

तीसरा अध्याय

1. रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो धनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः
सप्ताधोऽधः¹ । 366
2. तामु त्रिशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनेकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् । 368
3. नारका नित्याशुभतरलेस्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः । 370
4. परस्परोदीरितदुःखाः । 372
5. संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः । 374
6. तेष्वेकत्रिप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः । 376
7. जम्बूद्वीपलवणोदादयः⁴ शुभनामानो द्वीपसमुद्राः । 378
8. द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः । 380
9. तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । 382
10. भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।⁵ 384
11. तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः । 386
12. हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहैममयाः ।⁷ 388
13. मणिविचित्रपाश्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः । 390
14. पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हृदास्तेषामुपरि । 392
15. प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदध्वविषकम्भो हृदः । 394
16. दशयोजनावगाहः । 396
17. तन्मध्ये योजनं पुष्करम् । 398
18. तद्दिद्वगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च । 400
19. तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृत्तकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पत्योपमस्थितयः
ससामानिकपरिष्ठाः । 402
20. गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्वरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूला-
रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः । 404
21. द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः । 405
22. शेषास्त्वपरगाः । 407
23. चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्धवादयो नद्यः । 409
24. भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य । 411
25. तद्दिद्वगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः । 413
29. उत्तरा दक्षिणतुल्याः । 415
27. भरतैरावतयोर्व द्विह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिष्यवसर्पिष्यवर्षिणीभ्याम् । 417
28. ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः । 419
26. एकद्वित्रिपत्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेवकुरवकाः । 421
30. तथोत्तराः । 423
31. विदेहेषु संख्येयकालाः । 425
32. भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः । 427
33. द्विर्धातकीखण्डे । 429

1. त. भा. में पृथुतराः पाठ अधिक है । 2. त. भा. में तामु नरकाः इतना ही सूत्र है । नरकोंकी संख्याएँ तत्त्वार्थभाष्यमें दी हैं । 3. त. भा. में नारकाः यह पाठ नहीं है । 4. --लवणादयः त. भा. । 5. त. भा. में 'तत्र' इतना पाठ अधिक है । 6. वंशधरपर्वताः सि. । 7. यहाँसे लेकर आगे 'द्विर्धातकीखण्डे' इस सूत्रके पूर्व-तकके 21 सूत्र तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठमें नहीं हैं ।

34. पुष्करार्धे च । 431
 35. प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः । 433
 36. आर्या म्लेच्छाश्च¹ । 434
 37. भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः । 436
 38. नृस्थिती परावरे² त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते । 438
 39. तिर्यग्योनिजानां³ च । 440

इति तृतीयोऽध्यायः ।

चौथा अध्याय

1. देवाश्चतुर्णिकायाः ।⁴ 442
 2. आदितस्त्रिषु पीतान्तलेस्याः ।⁵ 444
 3. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः । 446
 4. इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारिषदात्मरक्ष⁶लोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकित्ववि-
 काश्चैकशः । 448
 5. त्रायस्त्रिंशल्लोकपालवज्र्या व्यन्तरज्योतिष्काः । 450
 6. पूर्वयोर्द्वौन्द्राः⁷ । 452
 7. कायप्रवीचारा आ ऐशानात् । 454
 8. शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः⁸ 456
 9. परेऽप्रवीचाराः । 458
 10. भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिवकुमाराः । 460
 11. व्यन्तराः किन्तरकिंपुरुषमहोरग⁹गन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः । 462
 12. ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ¹⁰ ब्रह्मक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च¹¹ । 464
 13. मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके । 466
 14. तत्कृतः कालविभागः । 468
 15. बहिरवस्थिताः । 470
 16. वैमानिकाः । 472
 17. कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । 474
 18. उपर्युपरि । 476
 19. सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्र¹²ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिऽशुक्रशतारसहस्रारेष्वानत-
 प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रंथेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु
 सर्वार्थसिद्धौ च¹³ । 478
 20. स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेस्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः । 480
 21. गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः । 482

1. म्लिच्छाश्च । त. भा., हरिभ. । 2. परापरे । त. भा. । 3. तिर्यग्योनीनां च । त. भा. । 4. —श्चतु-
 णिकायाः त. भा. । 5. त. भा. में 'तृतीयः पीतलेस्याः' ऐसा सूत्र है । 6. —पारिषदात्म.—त. भा. । 7. त. भा.
 में इस सूत्र के आगे 'पीतान्तलेस्याः' सूत्र अधिक है । 8. त. भा. में द्वयोर्द्वयोः इतना पाठ अधिक है ।
 9. गान्धर्व— त. भा. । 10. सूर्याचन्द्रमसौ । त. भा. । 11. प्रकीर्णतारकाश्च । त. भा. । 12. —ब्रह्म-
 लोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानत— त. भा. । 13. सर्वार्थसिद्धे च । त. भा. ।

22. पीतपद्मशुक्ललेख्या द्वित्रिशेषेषु ¹ ।	484
23. प्राग्ग्रं वेयकेभ्यः कल्पाः ।	486
24. ब्रह्मलोकालया लोकास्तिकाः ² ।	488
25. सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्यावाधारिष्ठाश्च ³ ।	490
26. विजयादिषु द्विचरमाः ।	492
27. औपपादिकमनुष्येभ्यः ⁴ शेषास्तिर्यग्योनयः ।	494
28. स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपत्योपमार्द्धहीनमिताः । ⁵	496
29. सौधर्मेशानयोः सागरोपमेऽधिके । ⁶	498
30. सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त । ⁷	500
31. त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ⁸ ।	502
32. आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रं वेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ ⁹ च ।	504
33. अपरा पत्योपममधिकम् ¹⁰ ।	506
34. परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा । ¹¹	508
35. नारकाणां च द्वितीयादिषु ।	510
36. दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।	512
37. भवनेषु च ।	514
38. व्यन्तराणां च ।	516
39. परापत्योपममधिकम् ।	518
40. ज्योतिष्काणां च । ¹²	520
41. तदष्टभागोऽपरा । ¹³	522
42. लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् । ¹⁴	524

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

पाँचवाँ अध्याय

1. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।	526
2. द्रव्याणि । ¹⁵	528
3. जीवाश्च ।	530

1. पीतमिश्र-पद्ममिश्रशुक्ललेख्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेषु इति त. भा. । 2. लोकान्तिकाः त. भा. । 3. व्यावाधमस्तोऽरिष्ठाश्च । त. भा. । 4. औपपातिक- त. भा. । 5. इस एक सूत्र के स्थान पर त. भा. में चार सूत्र हैं । वे इस प्रकार हैं—स्थितिः ॥२९॥ भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्धम् ॥३०॥ शेषाणां पादोने ॥३१॥ असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥३२॥ 6. त. भा. में इस एक सूत्र के स्थान पर 'सौध-
मार्मादिषु यथाक्रमम् ॥३३॥ सागरोपमे ॥३४॥ अधिके ॥३५॥ ऐसे तीन सूत्र हैं । 7. त. भा. में 'सप्त
सानत्कुमारे' ऐसा सूत्र है । 8. त. भा. में 'विशेषत्रिसप्तदशैकादशपञ्चदशभिरधिकानि च' ऐसा सूत्र है ।
9. सर्वार्थसिद्धे च त. भा. । 10. -मधिकं च त. भा. । 11. त. भा. में इस सूत्र के पूर्व दो सूत्र और
पाये जाते हैं । वे इस प्रकार हैं—सागरोपमे ॥४०॥ अधिके च ॥४१॥ 12. ज्योतिष्काणामधिकम् त. भा. ।
13. इस सूत्र के स्थान पर त. भा. में निम्नलिखित सूत्र हैं—ग्रहाणामेकम् ॥४९॥ नक्षत्राणामर्धम् ॥५०॥
तारकाणां चतुर्भागः ॥५१॥ अधन्या त्वष्टभागः ॥५२॥ चतुर्भागः शेषाणाम् ॥५४॥ 14. त. भा. में यह
सूत्र नहीं है । 15. त. भा. में 'द्रव्याणि जीवाश्च' ऐसा दो सूत्रों के स्थान पर एक सूत्र है ।

4. नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।	532
5. रूपिणः पुद्गलाः ।	534
6. आ ¹ आकाशादेकद्रव्याणि ।	536
7. निष्क्रियाणि च ।	538
8. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ² ।	540
9. आकाशस्यानन्ताः ।	542
10. संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।	544
11. नाणोः ।	546
12. लोकाकाशेऽवगाहः ।	548
13. धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।	550
14. एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।	552
5. असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।	554
6. प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां ³ प्रदीपवत् ।	556
17. गतिस्थित्युपग्रहो ⁴ धर्माधर्मयोरुपकारः ।	558
18. आकाशस्यावगाहः ।	560
19. शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।	562
20. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।	564
21. परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।	566
22. वर्तनापरिणामक्रियाः ⁵ परत्वापरत्वे च कालस्थ ।	568
23. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।	569
24. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।	571
25. अणवः स्कन्धाश्च ।	573
26. भेदसंघातेभ्यः ⁶ उत्पद्यन्ते ।	575
27. भेदादणुः ।	577
28. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ।	579
29. सद्द्रव्यलक्षणम् । ⁸	581
30. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।	583
31. तद्भावाव्ययं नित्यम् ।	585
32. अपितानपितसिद्धेः ।	587
33. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ।	589
34. न जघन्यगुणानाम् ।	591
35. गुणसाम्ये सद्शानाम् ।	593
36. द्व्यधिकादिगुणानां तु ।	595
37. बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च । ⁹	597
38. गुणपर्ययवद् ¹⁰ द्रव्यम् ।	599

1. त. भा. में 'आकाशदेशद्रव्याणि' सूत्र है । 2. इस सूत्र के स्थान पर त. भा. में दो सूत्र हैं :—असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ॥7॥ जीवस्य ॥8॥ 3. विसर्गाभ्यां— त. भा. । 4. स्थित्युपग्रहो—त. भा. । 5. वर्तना परिणामः क्रिया त. भा. । 6. संघातभेदेभ्यः त. भा. । 7. चाक्षुषाः । 8. त. भा. में यह सूत्र नहीं है । 9. बन्धे सभाधिकौ पारिणामिकौ त. भा. । ; 10. पर्यायवद् द्रव्यम् त. भा. ।

39. कालश्च । ¹	601
40. सोऽनन्तसमयः ।	603
41. द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ।	605
42. तद्भावः परिणामः । ²	607

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

छठा अध्याय

1. कायवाङ्मनःकर्म योगः ।	609
2. स आस्रवः ।	611
3. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ³ ।	613
4. सकषायाकषाययोः सांपरायिकेयपिषयोः ।	615
5. इन्द्रियकषायान्नतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः । ⁴	617
6. तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।	619
7. अधिकरणं जीवाजीवाः ।	621
8. आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रि- श्चतुश्चैकशः ।	623
9. निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ।	625
10. तत्प्रदोषनिह्वयमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।	627
11. दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वैद्यस्य ।	629
12. भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः ⁶ क्षान्तिः शौचमिति सद्वैद्यस्य ।	631
13. केवलिभृतसंघघर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।	633
14. कषायोदयातीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।	635
15. बह्वारम्भपरिग्रहत्वं ⁸ नारकस्यायुषः ।	637
16. माया तैर्यग्योनस्य ।	639
17. अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।	641
18. स्वभावमार्दवं च । ⁹	643
19. निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।	645
20. सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ।	647
21. सम्यक्त्वं च ¹⁰ ।	649
22. योगवक्ता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ।	651
23. तद्विपरीतं शुभस्य ।	653

1. कालश्चेत्येके त. भा. । 2. इस सूत्र से आगे त. भा. में तीन सूत्र और पाये जाते हैं । वे इस प्रकार हैं :—अनादिरादिमांश्च ॥42॥ रूपिष्वादिमान् ॥43॥ योगोपयोगौ जीवेषु ॥44॥ 3. इसके स्थान पर त. भा. में दो सूत्र हैं—शुभः पुण्यस्य ॥3॥ अशुभः पापस्य ॥4॥ 4. अन्नतकषायेन्द्रियक्रिया । त. भा. । 5. ज्ञाताज्ञातभावावीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः । त. भा. । 6. भूतव्रत्यनुकम्पादानं सरागसंयमादि योगः । त. भा. । 7. कषायोदयातीव्रपरिणाम-- त. भा. । 8. परिग्रहत्वं च त. भा. । 9. 17-18 नं. के सूत्रों के स्थान पर त. भा. में एक सूत्र है :—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य । 10. त. भा. में यह सूत्र नहीं है ।

24. दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण¹ज्ञानोपयोगसवेगौ शक्ति-
तस्त्यागतपत्नी²साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यक-
परिहाणमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य³ । 655
25. परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने⁴ च नीचैर्गोत्रस्य । 657
26. तद्विपर्ययो⁵नीचैर्वृत्त्यनुत्सेको चोत्तरस्य । 659
27. विघ्नकरणमन्तरायस्य । 661

इति षष्ठाऽध्यायः ।

सातवां अध्याय

1. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्नृत्तम् । 663
2. देशसर्वतोऽणुमहती । 665
3. तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च⁶ । 667
4. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितगानभोजनानि पञ्च । 668
5. क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्युवीचिभाषणं च पञ्च । 670
6. शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च । 672
7. स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कार-
त्यागाः पञ्च । 674
8. मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरोगद्वेषवर्जनानि पञ्च । 676
9. हिंसादिष्विहामुत्रा⁷पायावद्यदर्शनम् । 678
10. दुःखमेव वा । 680
11. ⁸मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च⁹ सत्त्वगुणाधिककिल्बिश्यमानाविनयेषु । 682
12. जगत्कायस्वभावौ वा¹⁰ सवेगवैराग्यार्थम् । 684
13. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा । 686
14. असदभिधानमनृतम् । 688
15. अदत्तादानं स्तेयम् । 690
16. मैथुनमब्रह्म । 692
17. मूर्च्छा परिग्रहः । 694
18. निःशक्त्यो व्रती । 696
19. अगार्यनगरश्च । 698
20. अणुव्रतोऽगारो । 700
21. दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोष¹¹धोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसं-
विभागव्रतसंपन्नश्च । 702
22. मारणान्तिकीं सल्लेखनां¹²जोपिता । 704

1. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग-- त. भा. । 2. संघसाधुसमाधिर्वैयावृत्य-- त. भा. । 3. तीर्थकृत्वस्य । त. भा. ।
4. गुणाच्छाद- त. भा. । 5. तद्विपर्ययो त. भा. । 6. इमसे आगेके भावनावाले पाँचों सूत्र त. भा. में नहीं
हैं । 7. --मुत्र चापाया । त. भा. । 8. माध्यस्थ्यानि त. भा. । 9. त. भा. में 'च' पद नहीं है । 10. त.
भा. में 'वा' के स्थान में 'च' पाठ है । 11. पौषधोप- त. भा. । 12. सल्लेखनां त. भा. ।

23. शंकाकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः । ¹	706
24. व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ।	708
25. बन्धवध ² च्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।	710
26. मिथ्योपदेशरहोभ्या ³ ख्यानकटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।	711
27. स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ।	712
28. परविवाहकरणेत्वरिका ⁴ परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा ⁵ कामतीव्राभिनिवेशाः ।	713
29. क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।	714
30. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि । ⁶	716
31. आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।	717
32. कन्दर्पकीत्कुच्यमौखर्यासमीक्षयाधिकरणोपभोग ⁷ परिभोगानर्थक्यानि ।	718
33. योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि । ⁸	719
34. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान ⁹ संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।	720
35. सचित्तसम्बन्ध ¹⁰ संमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।	721
36. सचित्तनिक्षेपा ¹¹ पिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।	722
37. जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ¹² ।	723
38. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।	725
39. विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।	727

इति सप्तमोऽध्यायः ।

आठवां अध्याय

1. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।	729
2. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ¹³ स बन्धः ।	733
3. प्रकृतिस्थित्यनुभव ¹⁴ प्रदेशास्तद्विधयः ।	735
4. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायु ¹⁵ नार्मगोत्रान्तरायाः ।	737
5. पञ्चनवद्वयष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।	739
6. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् । ¹⁶	741
7. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृह्यश्च ¹⁷ ।	743
8. सदसद्वेद्ये ।	745

1. -रतिचाराः त. भा. । 2. वधच्छविच्छेदा- त. भा. । 3. रहस्याभ्याख्यान- त. भा. । 4. करणेत्वर-
परिगृहीता- त. भा. । 5. क्रीडातीव्रकामाभि- त. भा. । 6. स्मृत्यन्तर्धानानि । त. भा. । 7. भोगाधिकृत्यानि ।
त. भा. । 8. -नुपस्थापनानि । त. भा. । 9. निक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि । त. भा. ।
10. संबद्ध- त. भा. । 11. निक्षेपविधान । त. भा. । 12. निदानकरणानि । त. भा. । 13. त. भा. में
'सम्बन्ध' इतना अंश पृथक् सूत्र है । 14. -त्यनुभाव- त. भा. । 15. -नीयायुष्कनाम- । त. भा. । 16.
त. भा. में 'मत्पादीनाम्' इतना ही सूत्र है । 17. स्थानगृह्यवेदनीयानि च । त. भा. ।

9. दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्व-
मिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसक-
वेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्यख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमान-
मायालोभाः ।¹ 747
10. नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि । 752
11. गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणवन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानु-
पूर्वः²गुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रस-
सुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेय³यशःकोत्तिसेतराणि तार्थकरत्वं⁴ च । 754
12. उच्चैर्नीचैश्च । 756
13. दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्⁵ । 758
14. आदितस्तिमृणामन्तरायस्य च त्रिशत्सागरोपमकोटोकोटयः परा स्थितिः । 760
15. सप्ततिमोहनीयस्य । 762
16. विंशतिर्नामगोत्रयोः⁶ । 764
17. त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः⁷ । 766
18. अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य । 768
19. नामगोत्रयारण्योः । 769
20. शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः⁸ । 771
21. विपाकोऽनुभवः⁹ । 773
22. स यथानाम । 775
23. ततश्च निर्जरा । 776
24. नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह¹⁰स्थिताः सर्वात्मप्रदेशोऽवनन्ता-
नन्तप्रदेशाः । 779
25. सद्ब्रह्मशुभायुर्नामगोत्राणि¹¹पुण्यम् । 781
26. अतोऽन्यत्वापम्¹² । 783

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

नौवां अध्याय

1. आस्रवनिरोधः संवरः । 784
2. स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । 788
3. तपसा निर्जरा च । 790
4. सम्यगयोगनिग्रहो गुप्तिः । 792
1. दर्शनचारित्रमोहनीयकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि
कषायानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानवरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरति-
शोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदाः ॥ 10 ॥ त. भा. । 2. पूर्व्यगुरु—त. भा. । 3. यशां वि सेतराणि त. भा. ।
4. तीर्बकृत्वं च । त. भा. । 5. -दानादीनाम् त. भा. । 6. नामगोत्रयोर्विंशतिः । त. भा. । 7. -माण्यायु-
ष्कस्य त. भा. । 8. -मन्तर्मुहूर्तम् त. भा. । 9. -नुभावः त. भा. । 10. वगाहस्थिताः त. भा. । 11. सद्ब्रह्म-
सम्यक्त्वहास्यरतिगुरुष्वेदशुभायुर्नामगोत्राणि त. भा. । 12. त. भा. में यह सूत्र नहीं है ।

5. ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।	794
6. उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशीचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः । ¹	796
7. अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्या ² स्त्वसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभार्मस्वाख्यान्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।	
8. मार्गाच्चयवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।	
9. क्षुत्पिपासाशोतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयान्वनालाभ- रोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।	814
10. सूक्ष्मसांपरायच्छब्दस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।	838
11. एकादश जिने ।	840
12. बादरसांपराये सर्वे ।	842
13. ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।	844
14. दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।	946
15. चारित्रमोः नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ।	847
16. वेदनीये शेषाः ।	849
17. एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतेः ³ ।	851
18. सामायिकच्छेदोपस्थापना ⁴ परिहारविशुद्धिसूक्ष्म ⁵ सांपराययथाख्यातमिति ⁶ चारित्रम् ।	853
19. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।	855
20. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।	857
21. नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा ⁷ यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ।	859
22. आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपच्छेदपरिहारोपस्थापनाः ⁸ ।	861
23. ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचाराः ।	863
24. आचार्योपाध्यायतपस्विक्षैक्ष ⁹ ग्लानगणकुलसंघसाधु ¹⁰ मनोज्ञानाम् ।	865
25. वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ।	868
26. बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।	869
27. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ¹¹ ।	871
28. आर्तरोद्रध ¹² र्म्यशुक्लानि ।	873
29. परे मोक्षहेतू ।	875
30. आर्तमनोज्ञस्य ¹³ सांप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ।	877
31. विपरीतं मनोज्ञस्य ¹⁴ ।	879
32. वेदनायाश्च ।	881
33. निदानं च ।	883
34. तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।	885
35. हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ।	887

1. उत्तमः क्षमा । त. भा. । 2. शुचित्वास्त्रव. । त. भा. । 3. युगपदेकोनविंशतेः । त. भा. । 4. -पस्थाप्य-
परिहार. । त. भा. । 5. सूक्ष्मसंपराय. । त. भा. । 6. यथाख्यातानि । त. भा. । 7. द्विभेदं त. भा. । 8.
स्थापनानि त. भा. । 9. शैक्षक- त. भा. । 10. साधुसमनोज्ञानाम् त. भा. । 11. इस सूत्र के स्थान में त.
भा. में उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥27॥ आ अन्तर्मुहूर्तात् ॥28॥ ये दो सूत्र हैं । 12.
धर्म । त. भा. । 13. -मनोज्ञानां त. भा. । 14. त. भा. में 'विपरीतं मनोज्ञानाम्' ऐसा पाठ है और यह
सूत्र 'वेदनायाश्च' इस सूत्र के बादमें है ।

36. आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय ¹ धर्म्यम् ।	889
37. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ² ।	891
38. परे केवलिनः ।	893
39. पृथक्त्वं कत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्त्तीनि ³ ।	895
40. त्र्येक ⁴ योगकाययोगायोगानाम् ।	897
41. एकाश्रये सवितर्कवीचारे ⁵ पूर्वे ।	899
42. अवीचारे ⁶ द्वितीयम् ।	901
43. वितर्कः श्रुतम् ।	903
44. वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ।	905
45. सम्यग्दृष्टिभावकविरतानन्तविद्योजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीण- मोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ।	907
46. पुलाकवकुशकुशोलनिर्ग्रन्थस्नानकाः निर्ग्रन्थाः ।	909
47. संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिगलेश्यापपादस्थान ⁷ विकल्पतः साध्याः ।	919

इति नवमोऽध्यायः ।

दसत्रौ अध्याय

1. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्नरायक्षयाच्च केवलम् ।	920
2. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां ⁸ कुत्स्तकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।	922
3. औपशमिकादिभव्यत्वानां च ⁹ ।	924
4. अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ।	926
5. तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकात् ।	929
6. पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ¹⁰ ।	931
7. आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतनेषाणांबुवदेण्डवी त्वदग्निगिम्बानच्च ¹¹ ।	932
8. धर्मास्तिकायाभावात् ।	934
9. क्षेत्रकालगतिनिगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्यान्पबहुत्वतः साध्याः ।	936

इति दशमोऽध्यायः ।

✽

1. धर्ममप्रमत्तसंयतस्य त. भा. । 2. इम सूत्रके पूर्व त. भा. में 'उपशान्तक्षीणकपाययोश्च' ऐसा एक सूत्र और है । 3. निवृत्तीनि त. भा. । 4. तत् त्र्यैककाययोगा- त. भा. । 5. सवितर्के पूर्वे त. भा. । 6. अवि-
चारं त. भा. । 7. लेश्यापपादस्थान- त. भा. । 8. त. भा. में 'बन्धत्वभावनिर्जराभ्याम् ॥2॥ कुत्स्तकर्मक्षयो
मोक्षः ॥3॥ इस प्रकारके दो सूत्र हैं । 9. त. भा. में तीसरे चौथे सूत्रके स्थानपर 'औपशमिकादिभव्यत्वा-
भावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' ऐसा एक सूत्र है । 10. परिणामाच्च तद्गतिः त. भा. ।
11. त. भा. में सातवें और आठवें तम्बरके दो सूत्र नहीं हैं ।

परिशिष्ट 2

श्रीप्रभाचन्द्रविरचिततत्त्वार्थवृत्तिपदम्

सिद्धं जिनेन्द्र'ममलप्रतिमबोधं त्रैलोक्यबन्धमभिवन्ध्य गतप्रबन्धम् ।
दुर्वारदुर्जयतमःप्रविभेदनार्कं तत्त्वार्थवृत्तिपदमप्रकृतं प्रवक्ष्ये ॥

अर्कों में पहला सन्दर्भ पैराग्राफ (§) का है, तथा दूसरा पृष्ठका और तीसरा पंक्ति का है ।

§. 1

1.1 'भोक्षमार्गस्य' मीमांसं प्रति । 'भेतारं' योगः प्रति । 'ज्ञातारं' सौगत प्रति ।

[मंगलाचरणमे 'मोक्षमार्गस्य' पद मीमांसकको लक्ष्य करके रखा गया है, क्योंकि वह मोक्ष को स्वीकार नहीं करता । 'भेतारं कर्मभूभृतां' पद नैयायिक वैशेषिकको लक्ष्य करके रखा गया है, क्योंकि वे ईश्वरको अनादि सिद्ध मानते हैं । तथा 'ज्ञातारं विश्वसत्त्वानां' पद बौद्धको लक्ष्य करके रखा गया है ।]

1.2 विविक्तं त्रसबाधारहिते ।

1.3 कश्चिद्भव्यः प्रसिद्धैकनामा । 'प्रत्यासन्न-निष्ठः' निष्ठाशब्देन निर्वाणं चारित्रं बोध्यते । प्रत्यासन्ना निष्ठा यस्यासौ प्रत्यासन्ननिष्ठः ।

1.4 अवाग्विसर्गं न विद्यते वाचां विसर्गो विसर्जन-मुच्चारणं यत्र निरूपणकर्षणि ।

1.5 उपसद्य समीपे गत्वा ।

1.8 कर्म द्रव्यकर्म, सल भावकर्म ।

§. 2

1.10 प्रमाणेन शून्यो वादः प्रवादः । तीर्थङ्करमिवा-त्मानं मन्यन्ते तीर्थङ्करमन्याः निश्चयस्वरूपशून्यत्वात् ।

2.1 निराकारत्वात् स्वरूपव्यवसायलक्षणाकारशून्य-त्वात् ।

2.1 'बुद्धि - शुद्ध - दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मधर्मसंस्काराणां नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।'

'वर्गः' शक्तिसमूहोऽणोरणूनां वर्गोऽबिता ।
वर्गणानां समूहस्तु स्वर्धकं स्पर्धकापहः ॥'

—[अमित० पञ्चसं० 1/45]

2.3 आहत्यनिरूपिता हठात् समर्थिता ।

सम्यग्दर्शने...॥॥॥

§. 5

4.5 लक्षणता लक्षणभाधित्य विधानतो विधानं प्रकारमाधित्य । उद्देश्यमात्रं स्वरूपकथनमात्रम् ।

4.5 एतेषां निर्देश्यामः निर्देशं करिष्यामः ।

4.7 मोहः अनध्यवसायम् (यः)

4.8 आगूर्णस्य उद्यतस्य ।

§. 22

नामस्थापना...॥॥॥

13.2 अतद्गुणे न विद्यते शब्दवृत्तिनिमित्तभूताः ते प्रसिद्धजाति-गुण-क्रिया-द्रव्यलक्षणगुणा- विशेषणानि यत्र वस्तुनि तद् अतद्गुणं तस्मिन् । पुरुषाकारात् हठात् । पुस्तकं लेपकम् ।

13.6 अक्षणां पाशानां, निक्षेपो विवक्षितप्रदेशे स्थानपम् । आदि शब्दान् वराटकादी (दि) निक्षेप-ग्रहणम् ।

13.11 मनुष्यभाविजीवो यदा जीवादिप्राभूतं न जानाति अग्रे तु शास्यति तद्भाविनो आगमः ।

1. 'सलमप्रतिमप्रबोधं' इत्यपि पाठान्तरं । अनेकान्त वर्ष 1, कि० 1, पृ० 197

2. एतत्पद्यं किमर्थमत्रायतमिति न प्रतीयते । अमितगतिकृतपञ्चसंग्रहस्य पञ्चचत्वारिणत् संख्याकमिदं पद्यमस्ति ।

13.12 औदारिक-वैक्रियिकाहारकलक्षणत्रयस्य षट्-पर्याप्तीनां च योग्यपुद्गलादानं'नोक्तम् ।

13.13. आविष्टः परिणतः ।

13.15. अप्रकृतनिराकरणाय अप्रकृतस्याप्रस्तुतस्य मुख्यजीवादेनिराकरणाय । प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य नाम-स्थापनाजीवादेनिरूपणाय ।

§. 23

प्रमाणनयं ...॥6॥

§. 24

15. 5. प्रगृह्य-परिच्छिद्य । प्रमाणतः—प्रमाणेत्यर्थः, पश्चात् स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वमेव पररूपादि-चतुष्टयापेक्षयाऽसत्त्वमेवेत्यादिरूपतया, परिणतिवि-शेषात् प्रवीणिताविशेषात् । यदि वा परिणतिविशे-षात् सत्त्वासत्त्वगित्यत्वात्नित्यत्वादिलक्षणमर्थगतं परिणामविशेषमाश्रित्य ।

निर्देशस्वामित्वं ...॥7॥

§. 26

16.6 नरकगतौ पूर्वं बद्धायुष्कस्य पश्चाद् गृहीत-क्षाधिकक्षयोपशमिकसम्यक्त्वस्याधः पृथिव्यामुत्पादा-भावात् । प्रथमपृथिव्यां पर्याप्तकापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति । ननु वेदकयुक्तस्य तिर्यक्नर-केषु'त्पादाभावात् कथमपर्याप्तकानां तेषां क्षायोपश-मिकमिति । तदयुक्तं, सप्तप्रकृतीनां क्षपणाप्रारम्भ-कवेदकयुक्तस्य कृतकरणस्य जीवस्यान्तर्मुहूर्तं सति क्षायिकाभिमुखस्य तत्रोत्पादे विरोधाभावात् । एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयम् ।

[जिसने पहले नरकगतिकी आयुका बन्ध किया है और पीछे क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण किया है वह जीव नीचेके नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता । अतः पहले नरकमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होते हैं ।

शंका—वेदक सम्यक्त्व सहित जीव तिर्यचों में नरकों में उत्पन्न नहीं होता । तब कैसे उनके अपर्याप्त अवस्था में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सम्भव है ?

1. उत्पद्यते हि वेदकदृष्टिः स्वमरेषु कर्मभूमिभूषु ।

कृतकृत्यः क्षायिकदृग् बद्धायुष्कश्चतुर्गतिषु ॥'

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि सात प्रकृतियोंकी क्षपणाके प्रारम्भक वेदकसम्यक्त्वसे युक्त जीव कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि होकर जब क्षायिकसम्यक्त्वके अभिमुख होता है तब यदि वह मरता है तो कृतकृत्य वेदक कालके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण चार भागोंमें-से यदि प्रथम भागमें मरता है तो देवोंमें उत्पन्न होता है, दूसरे भागमें मरने पर देव या मनुष्योंमें उत्पन्न होता है, तीसरे भागमें मरने पर देव, मनुष्य या तिर्यचोंमें उत्पन्न होता है और चतुर्थ भागमें मरने पर चारोंमें से किसी भी गतिमें उत्पन्न होता है, अतः वेदक सम्यग्दृष्टिके तिर्यचगति और नरकगतिमें उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं है, इसी तरह तिर्यच अपर्याप्तकोंके भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जानना चाहिए ।]

17.1 तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति । कुत इति चेदु-च्यते—कर्मभूमिजो मनुष्य एव दर्शनमोहक्षपण-प्रारम्भको भवति । क्षपणप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यकु बद्धायुष्कोऽप्युत्कृष्टभोगभूमिजतिर्यकपुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु । तदुक्तम्—

'वंसनमोहकलवगो पट्टवगो कर्मभूमिजावो व ।

णियमा मनुसगदीए णिट्टवगो चावि सव्वत्थ ॥

(कसायपा० 106)

पट्टवगो प्रारम्भकः । णिट्टवगो स्फेटिकः ।

[तिर्यचोंके क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, क्योंकि कर्मभूमिमें जन्मा हुआ मनुष्य ही दर्शन मोहके क्षपणाका प्रारम्भ करता है । क्षपण प्रारम्भ करनेसे पहले तिर्यचोंकी आयु बाँध लेने पर भी वह मर-कर उत्कृष्ट भोगभूमिके तिर्यच पुरुषोंमें ही उत्पन्न होता है तिर्यचस्त्रियोंमें नहीं । कहा भी है 'दर्शन मोहकी क्षपणाका प्रारम्भक नियमसे मनुष्य गतिमें कर्मभूमिमें जन्मा जीव ही होता है और निष्ठापक सब गतियोंमें होता है ।' गायामें आये 'पट्टवगो' शब्द का अर्थ प्रारम्भक है और 'णिट्टवगो' का अर्थ पूरक है ।]

17.4 मानुषीणां भाववेदस्त्रीणां न द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात् ।

मानुषी का अर्थ भाववेदी स्त्री है, द्रव्यवेदी स्त्री

21 नहीं, क्योंकि द्रव्यवेदी स्थिरियोंके क्षायिक सम्यक्त्व
22 संभव नहीं है।]
23 17.5 अपर्याप्तावस्थायां देवानां कथमौपशमिकं तच्छु-
24 क्तानां मरणासंभवात् । तदनुपपन्नं मिथ्यात्वपूर्वकौप-
25 शमिकयुक्तानामेव मरणासंभवात् वेदकपूर्वका औप-
26 शमिकयुक्तास्तु नियमेन श्रेण्यारोहणं कुर्वन्तीति श्रेण्या-
27 रुढान् चारित्रमोहोपशमेन सह मृतानपेक्षयापर्याप्ता-
28 वस्थायामपि देवानामौपशमिकं संभवति ।
29 [शंका—अपर्याप्त अवस्थामें देवोंके कैसे औपश-
30 मिक सम्यक्त्व हो सकता है, क्योंकि औपशमिकसम्य-
31 क्तवसे युक्त जीवोंका मरण असंभव है ? उत्तर—
32 ऐसा कहना ठीक नहीं है । जो जीव मिथ्यात्व गुण-
33 स्थानसे औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं
34 उनका ही मरण असंभव है, किन्तु जो वेदकसम्यक्त्व-
35 पूर्वक औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त होते हैं वे नियम-
36 से श्रेणिपर आरोहण करते हैं । श्रेणिपर आरुढ़
37 होकर चारित्रमोहनीयके उपशमकके साथ मरणको
38 प्राप्त हुए जीव मरकर नियमसे देव होते हैं । उन
39 देवोंके अपर्याप्तावस्थामें भी औपशमिक सम्यक्त्व
होता है ।]

§. 27

18.2 परिहारशुद्धिसंयतानामौपशमिकं कुतो
नास्तीति चेदुच्यते, मनःपर्ययपरिहारशुद्ध्यौपशमिक-
सम्यक्त्वाहारकर्षीनां मध्येऽन्यतरसंभवे परं त्रितयं न
संभवत्येव । यतो मनःपर्यये तु मिथ्यात्वपूर्वकौपश-
मिकप्रतिषेधो द्रष्टव्यो न वेदकपूर्वस्य । उक्तं च—

‘मणपञ्चमपरिहारो उवसमसम्मत्सहारया दोण्णि ।
एवेसि एक्कगवे ’सेसाणं संभवो णत्थि ॥’

आहारया दोण्णि —आहारकाहारकमिश्रकी—

[परिहार शुद्धि संयतोंके औपशमिकसम्यक्त्व क्यों
नहीं होता ? इसका उत्तर है कि मनःपर्यय, परिहार-
शुद्धि, औपशमिक सम्यक्त्व और आहारकशुद्धिमेंसे
किसी एकके होनेपर शेष तीन नहीं होते । किन्तु
मनःपर्ययज्ञान के साथ मिथ्यात्वगुणस्थानपूर्वक होने-
वाले औपशमिक सम्यक्त्व का निषेध जानना चाहिए,
वेदकसम्यक्त्वपूर्वक होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्व
का नहीं । कहा भी है—‘मनःपर्यय, परिहारशुद्धि

संयम, उपशम सम्यक्त्व और दोनों आहारक, इनमेंसे
एकके होने पर शेष नहीं होते ।’ ‘आहारया दोण्णि’से
आहारक और आहारकमिश्र लेना चाहिए ।]

§. 28

19.7 नवग्रहेयकवासिनामहमिन्द्रत्वात् कथं धर्मश्रव-
णमिति चेत्, उच्यते—कश्चित् सम्यग्दृष्टिः परिपाटीं
करोति तां श्रुत्वाऽन्यस्तत्र स्थित एव सम्यक्त्वं
गृह्णति । अथवा प्रणामादिकं (प्रमाणादिकं) तेषां
न (?) विद्यते तत्त्वविचारस्तु लिङ्गिनामिव विद्यते
इति न दोषः ।

[शंका—नव ग्रहेयकवासी देव ता अहमिन्द्र होते हैं
उनके धर्मश्रवण कैसे संभव है ? उत्तर—कोई सम्य-
ग्दृष्टि पाठ करता है उसे सुनकर दूसरा कोई वही
रहते हुए सम्यक्त्वको ग्रहण करता है । अथवा उनमें
प्रमाणनय आदिको लेकर चर्चा नहीं होती । लिमि-
योंकी तरह सामान्य तत्त्वविचार कोई होता है अतः
दोष नहीं है ।]

§. 30

20.5 संसारिक्षायिकसम्यक्त्वस्योत्कृष्टा स्थितिः
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । सागरोपमस्य लक्षणं—

“बहकोडाकोडिओ पल्लजाव, सा सायर उच्छव्व एक्कु-
ताव ।” सान्तमुं हूतांष्टवर्षहीनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि ।
पश्चात् संसारिविशिष्टत्वं तस्य व्यावर्तते । तथाहि
—कश्चित् कर्मभूमिजो मनुष्यः—

‘पुव्वस्स दु’ परिमाणं सदिं खलु सदसहस्सकोडीओ ।
उप्पणं च सहस्सा णायव्वा वासमणनाए ॥’

एत्येवंविधवर्षपरिमाणपूर्वकोट्यायुस्त्वन्तो गर्भाष्टम-
वर्षान्तरमन्तर्मुहूर्तं दर्शनमोहं अपयित्वा क्षायिक-
सम्यग्दृष्टिः संजातः । तपश्चरणं विधाय सर्वार्थसिद्धा-
दुत्पन्नस्तत आगत्य पुनः पूर्वकोट्यायुस्त्वन्तः, कर्म-
क्षयं कृत्वा मोक्षं गतः । तस्याधिककालावस्थित्यसंभ-
वात् । यद्भवेऽसौ दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति
ततोऽन्यद्भववयं नातिक्रामतीति तदुक्तं—

‘क्षवणाए पटुवगो जम्मि भवे नियमदो तदो अण्णं ।
णाकामदि तिण्णि भवे दसणमोहम्मि खोणम्मि ॥’

(प्रा० पञ्चसं० 1/203)

1. गो० जी०, गा० 728 । प्रा० पञ्चसं० 11/94 ‘णत्वस्ति असेसयं जाणे ।’

2. पु० ‘कोडिसदसहस्साहं ।’ ‘बोद्धवा नासकोडीणं ॥—सर्वांसि० उद्धृत । जम्बू० प्र० 13/1.2

[संसारो क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति तृतीया सागर तथा अन्तर्मूर्त आठ वर्ष कम दो पूर्वकोटि होती है। सागरोपम का लक्षण—दस कोड़ाकोड़ी पत्थों का एक सागर कहा जाता है। उतने कालके पश्चात् संसारो विशेषण छूट जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—कोई कर्मभूमिया जीव एक पूर्वकोटि की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। वर्षों की गणना के अनुसार सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्षों का एक पूर्व होता है। इस प्रकार आयु लेकर उत्पन्न होनेके पश्चात् गर्भसे आठ वर्ष अनन्तर अन्तर्मूर्तमें दर्शनमोहका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया। तथा तपश्चरण करके सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुआ। वहाँसे आकर पुनः एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ तथा कर्मों का क्षय करके मोक्ष गया क्योंकि वह इससे अधिक समय तक संसारमें नहीं रह सकता। ऐसा नियम है कि जिस भवमें वह दर्शनमोहकी क्षणिका प्रारम्भक होता है उससे अन्य तीन भवोंको नहीं लाँघता है। कहा भी है—‘जिस भवमें क्षणिका प्रारम्भक होता है, दर्शनमोहके क्षीण हो जानेपर नियमसे उससे अन्य तीन भवोंका अतिक्रमण नहीं करता है।’]

20.7 वेदकस्य षट्षष्टिः। तथाहि सौधर्मशुक्रशतारा-
ग्रन्थेयकमध्वेन्द्रकेषु यथासंख्यं द्वि-षोडशाष्टादशविंश-
त्सागरोपमाणि। अथवा सौधर्मे द्विरुत्पन्नस्य चत्वारि
सागरोपमाणि, सानत्कुमारब्रह्मान्तवासग्रन्थेयकेषु
यथाक्रमं सप्तदशचतुर्दशैकत्रिंशत्सागरोपमाणि।
मनुष्यायुषा सहाधिकानि प्राप्नुवन्तीति नाशकनीयम्,
अन्त्यसागरोपमायुःशेषेऽवशिष्टातीतमनुष्यायुःकाल -
परिमाणो तत्प्रागात्।

[वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति
छियासठ सागर है। वह इस प्रकार है—सौधर्मस्वर्ग,
शुक्रस्वर्ग, सतारस्वर्ग और उपरिम ग्रैवेयक के मध्यम
इन्द्रक विमान में क्रम से दो सागर, सोलह सागर,
अठारह सागर और तीस सागर की स्थिति है (इन
सबका जोड़ छियासठ सागर है) अथवा सौधर्मस्वर्ग-
में दो बार उत्पन्न होनेपर चार सागर होते हैं।
और सानत्कुमार, ब्रह्मस्वर्ग, सान्तवस्वर्ग और उप-
रिमग्रैवेयकमें क्रमसे सात सागर, दस सागर, चौदह
सागर और इकतीस सागरकी स्थिति है (इन सब-
का जोड़ भी छियासठ सागर होता है)।

शंका—इसमें मनुष्यायु को जोड़ने पर छियासठ
सागर से अधिक काल प्राप्त होता है?

उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि
स्वर्गों की आयु के अन्तिम सागर में-से मनुष्यायु कम
कर दी जाती है।]

§. 31

21.2 सस्येया विकल्पा शब्दतः। एकं सम्यग्दर्शन-
मित्यादि सम्यग्दर्शनप्ररूपशब्दानां संख्यातत्वात्।
असंख्येया अनन्ताश्च भवन्ति तद्विकल्पाः श्रद्धातृश्रद्धा-
सम्पन्नेदात्। तत्र श्रद्धातृणां भेदोऽसंख्यातानन्तमानाव-
च्छिन्नतद्वृत्तित्वात्। श्रद्धेयस्याप्येतदवच्छिन्नत्वमेव
भेदस्तद्विषयत्वात् सम्यग्दर्शनस्य तावद्धा विकल्पा
भवन्तीति।

[शब्द की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के संख्यात भेद हैं, क्यों
कि सम्यग्दर्शन का कथन करनेवाले शब्द संख्यात
हैं। श्रद्धा करनेवाले जीवों और श्रद्धा के योग्य भावों
के भेद से सम्यग्दर्शन के असंख्यात और अनन्त भेद
हैं, क्योंकि श्रद्धा करनेवालों की वृत्तियाँ असंख्यात
और अनन्त प्रमाण होती हैं। श्रद्धेय के भी असंख्यात
और अनन्त भेद होते हैं और सम्यग्दर्शन का विषय
श्रद्धेय होता है अतः उसके भी असंख्यात और अनन्त
भेद होते हैं।]

§. 32

सत्संख्या...॥४॥

§. 34

22.3 अवरोधः स्वीकारः। सदाद्यनुयोगः सदाद्य-
धिकारः।

§. 35

23.1 एकस्यैवानिवृत्तिगुणस्थानस्य सवेदत्वमवेदत्वं
च कथमिति चेदुच्यते, अनिवृत्तिः षड्भागीक्रियते।
तत्र प्रथमे भागत्रये वेदानामनिवृत्तेः सवेदत्वमन्यत्र
तेषां निवृत्तेरवेदत्वम्।

[शंका—एक ही अनिवृत्तिगुणस्थान में सवेदपना और
अवेदपना कैसे सम्भव है?

उत्तर—अनिवृत्ति गुणस्थानके छह भाग किये जाते
हैं उनमेंसे प्रथम तीन भागोंमें वेद रहता है अतः
सवेदपना है। शेष भागोंमें वेद चला जाता है अतः
अवेदपना है।]

§. 37

23.5 सम्यगित्यविरोधः । सम्यग्मिथ्यादृष्टिज्ञानम-
ज्ञानं वा केवलं न संभवति । तस्याज्ञानत्रयमिश्रज्ञान-
त्रयाधारत्वात् । उक्तं च—

‘मिस्से णाणाणतये मिस्सं अण्णाणत्तिदयेण’ इति ।
तेन ज्ञानानुवादे तस्य वृत्तिकारैरनभिधानं परमार्थ-
तस्तु तस्याज्ञानप्ररूपणायामेवाभिधानं द्रष्टव्यं तद-
ज्ञानस्य यथावस्थितार्थत्रिषयत्वाभावात् ।

[सम्यग्मिथ्यादृष्टिकेन तो अकेला ज्ञान ही होता है
और न अज्ञान ही होता है । किन्तु उसके तीन
अज्ञानोंसे मिश्रित तीन ज्ञान होते हैं । कहा भी है—
‘मिश्र गुणस्थानमें तीन ज्ञान तीन अज्ञानोंसे मिले
हुए होते हैं ।’ इसीसे ज्ञानकी अपेक्षा कथन करते
हुए सर्वार्थसिद्धिकारने उसका कथन नहीं किया,
परमार्थमें तो उसका अज्ञान प्ररूपणमें ही कथन
देखना चाहिए क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि का ज्ञान
यथावस्थित अर्थको नहीं जानता ।]

§. 45

24.15 संख्या, सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिसंयतासंय-
तान्ताः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः । शब्दतश्चात्र
साम्यं नार्थतः परस्परं स्तोकाबहुत्वभेदात् । तत्र
प्रथमापेक्षया द्वितीया बहवः । द्वितीयापेक्षया तृतीया
बहवः । संयतासंयतास्तु सर्वतः स्तोकाः । प्रमत्तसंयताः
कोटिपृथक्त्वसंख्याः—कोटिपञ्चकत्रिनवतिलक्षाष्ट-
नवतिसहस्रषडधिकशतद्वयपरिमाणा भवन्ति
(59398206) ।

[आगे संख्या कहते हैं—सासादन सम्यग्दृष्टिसे
लेकर संयतासंयत पर्यन्त प्रत्येककी संख्या पल्योपमके
असंख्यातवे भाग प्रमाण है । इस संख्या में केवल
शब्दों से समानता है अर्थरूपसे नहीं, क्योंकि संख्या
में कमती बढ़तीपना है । सासादनसम्यग्दृष्टि की
अपेक्षा मिश्र गुणस्थान-वालोंकी संख्या अधिक है
और मिश्रसे सम्यग्दृष्टियोंकी संख्या बहुत है ।
संयतासंयत तो सबसे कम हैं । प्रमत्त संयतोंकी संख्या
कोटि पृथक्त्व प्रमाण है अर्थात् पाँच करोड़ तिरानबे
लाख अठानबे हजार दो सौ छह है ।]

24.17 प्रमत्तसंयताः संख्येयाः । तदर्धेन कोटि-

द्वयषण्णवतिलक्षनवनवतिसहस्रद्व्यधिकशतपरिमाणाः
(29699103) । तदुक्तं—

‘छ सुण्णवेण्णिअट्टयणवत्तियणव पंच होति हु पमत्ता ।
ताणद्धमप्पमत्ता इति ।’

[अप्रमत्त संयत संख्यात हैं अर्थात् प्रमत्त संयतों से
आधे हैं—दो करोड़ छियानबे लाख निन्यानबे हजार
एक सौ तीन हैं । कहा भी है—प्रमत्त संयत
59398206 हैं और अप्रमत्त उनसे आधे हैं]

चत्वार उपशमकास्ते प्रत्येकमेकत्रैकत्र गुणस्थाने
अष्टसु-अष्टसु समयेषु एकस्मिन्नेकस्मिन् समये यथा-
संख्यं षोडश चतुर्विंशतिः त्रिंशत् षट्त्रिंशत् द्विचत्वा-
रिंशत् अष्टचत्वारिंशत् द्विचतुःपञ्चाशद् भवन्तीति ।
अष्टसमयेषु चतुर्गुणस्थानवतिनां सामान्येनोत्कृष्टा
संख्या 16,24,30,36,42,48,54,54 । विशेषेण
तु प्रथमादिसमयेष्वेको वा द्वौ वा त्रयो वेत्यादि षोड-
शाद्युत्कृष्टसंख्या यावत् प्रतिपत्तव्या । उक्तं च—

‘सोलसगं चउवीसं तीसं छत्तीसमेव जाणाहि ।
वादात्तं अउदात्तं दो चत्तवण्णा य उवसमगा ॥’

प्रवेशनेको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेण चतुःपञ्चा-
शदिति तु वृत्तिकारैरुत्कृष्टाष्टमसमयप्रवेशापेक्षया
प्रोक्तम् । स्वकालेन समुदिताः संख्येया नवनवत्यधिक-
शतद्वयपरिमाणा एकत्रैकत्र गुणस्थाने भवन्ति । 2991
तदुक्तम्—

जवणबदो दोण्णि सया एअट्टाणम्मि उवसता ॥
इति ।

चार उपशमकोंमेंसे प्रत्येक एक-एक गुणस्थानमें
आठ-आठ समयोंमेंसे एक-एक समयमें क्रमसे १६,
24,30,36,42,48,54,54 होते हैं । आठ समयों-
में चार गुणस्थानवतियोंकी सामान्यसे उत्कृष्ट
संख्या 16,24,30,36,42,48,54,54 होती है ।
विशेषसे प्रथमादि समयोंमें एक अथवा दो अथवा
तीन इत्यादि 16 उत्कृष्ट संख्या पर्यन्त जानना
चाहिए । कहा है—‘उपशमकों की संख्या सोलह,
चौबीस, तीस, छत्तीस, बयालीस, अड़तालीस, चौवन
और चीवन जानो ।’

प्रवेशकी अपेक्षा एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्टसे
चौवन जो सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है वह उत्कृष्टसे
आठवें समयमें प्रवेशकी अपेक्षा कहा है । अपने काल-

में एकत्र हुए जीवोंकी संख्या संख्यात अर्थात् एक-एक गुणस्थानमें 299 होती है। कहा भी है—‘एक गुण-स्थान में 299 उपशमक होते हैं।’

विशेषार्थ—उपशम श्रेणीके प्रत्येक गुणस्थानमें एक समयमें चारित्रमोहनीयका उपशम करता हुआ जघन्यसे एक जीव प्रवेश करता है और उत्कृष्टसे जीवन जीव प्रवेश करते हैं। यह कथन सामान्य से है; विशेषकी अपेक्षा तो आठ समय अधिक वर्ष पृथक्त्व कालमें उपशम श्रेणीके योग्य लगातार आठ समय होते हैं। उनमेंसे प्रथम समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे सोलह जीव तक उपशम श्रेणीपर चढ़ते हैं। दूसरे समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे चौबीस जीव तक चढ़ते हैं। तीसरे समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूप से तीस जीव तक चढ़ते हैं। चौथे समय में एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे छत्तीस जीव तक चढ़ते हैं। पाँचवें समयमें एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट रूपसे बयालीस जीव तक चढ़ते हैं। इसी तरह छठे समय में अड़तालीस जीव तक और सातवें तथा आठवें समय में एक जीवको आदि लेकर उत्कृष्ट से जीवन-जीवन जीव तक उपशम श्रेणीपर चढ़ते हैं। इन सबका जोड़ 304 होता है, किन्तु कितने ही आचार्य उसमें पाँच कम करके 299 कहते हैं। धवला में वीरसेन स्वामीने 299 के प्रमाण को ही आचार्यपरम्परागत कहा है। देखो पु० 3, पृ० 92।

ननु चाष्टसमयेषु षोडशादीनां समुदितानां चतुर-धिकशतत्रयं प्राप्नोति; तद्युक्तम्, अष्टसमयेषूप-शमका निरन्तरं भवतः परिपूर्णा न त्म्यन्ते। किं तर्हि? पञ्चहीना भवतीति चतुर्गुणस्थानवति-नामप्युपशमकानां समुदितानां षण्णवत्यधिकान्येका-दशशतानि भवन्ति ॥1196॥

[शंका—आठ समयोंमें सोलह आदि संख्याओं का जोड़ तीन सौ चार प्राप्त होता है? समाधान—ऐसा कहना युक्त नहीं है। आठ समयोंमें उपशमक निरन्तर होते हुए भी पूर्ण नहीं होते हैं किन्तु पाँच कम होते हैं। इसलिए आठवें से ग्यारहवें तक चार गुणस्थानवर्ती उपशमकोंका जोड़ ग्यारह सौ छियानवे होता है।]

25.2—चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलानां चाष्टधा समयक्रमः पूर्ववद् द्रष्टव्यः। केवलं तेषामुपशमकेभ्यो द्विगुणा संख्या प्रतिपत्तव्या। तदुक्तं—

‘बत्तीसं अडदालं सट्टी बाहत्तरीयं बुलसीवि।

छण्णकवी अट्ठुत्तरं समयमट्ठुत्तरसयं च बोधव्वा ॥’

(गो० जी०, 627)

32,48,60,72,84,96,108,108 : अत्राप्येको वा द्वौ वा इत्याद्युत्कृष्टाष्टसमयप्रवेशापेक्षया प्रोक्तम्। स्वकालेन समुदितः प्रत्येकमष्टानवत्युत्तर-पञ्चशतपरिमाणा भवन्ति (598) गुणस्थानपञ्चक-वर्तिनां क्षपकाणां समुदितानां दशोनानि त्रीणि सहस्राणि भवन्ति। तदुक्तम्—

‘क्षीणकसायाणं पुणो तिण्णि सहस्सा दसूयणा भणिया।’ ॥2990॥

[चारों क्षपकों का और अयोगकेवलियों का आठ रूप समयक्रम उपशमकों की तरह जाना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि उनकी संख्या उपशमकोंसे दूनी जाननी चाहिए, कहा है—‘बत्तीस, अड़तालीस साठ, बहत्तर, चौरासी, छियानवे, एक सौ आठ, एक सौ आठ जानना चाहिए ॥’

यहाँ भी एक, दो या तीन आदि से लेकर उत्कृष्टसे आठवें समयमें प्रवेश तक उक्त संख्या कही है। अपने कालमें एकत्र हुए प्रत्येक क्षपकका परिमाण, 598 होता है। और चारों क्षपक तथा पाँचवें अयोग-केवल गुणस्थानवर्ति जीवोंका परिमाण दस कम तीन हजार होता है। कहा भी है—क्षीणकषायोंका परिमाण दस कम तीन हजार अर्थात् दो हजार नौ सौ नब्बे होता है।]

25.4—सयोगकेवलिनामप्युपशमकेभ्यो द्विगुण-त्वादष्टसमयेषु प्रथमादिसमयक्रमेणैको वा द्वौ वेत्यादि द्वात्रिंशदाद्युत्कृष्टसंख्या यावत् संख्याभेदः प्रतिपत्तव्यः नन्वेवमुदाहृतक्षपकेभ्यो भेदेनाभिधानमेषामर्थकमिति चेत् न, स्वकालसमुदितसंख्यापेक्षया तेषां तेभ्यो विशेषसंभवात्। सयोगकेवलिनो हि स्वकाले समुदिताः शतसहस्रपृथक्त्वसंख्या, अष्टलक्षाष्टनव-तिसहस्राद्यधिकपञ्चशतपरिमाणाः (898502)।

उक्तं च—

‘अट्ठे ब सयसहससा अट्ठानववि तथा सहस्साणं ।
संसाओगिजिणाणं पंचेव सया विउत्तरा होदि ॥’

—[गो० जी० ६२८]

[संयोगकेवलियों की संख्या भी उपशमकों से दूनी होती है, अतः आठ समयोंमें प्रथम आदि समय के क्रमसे एक अथवा दो इत्यादिसे लेकर बत्तीस आदि उत्कृष्ट संख्या पर्यन्त संख्या भेद जानना चाहिए ।

शंका—तब तो कहे गये क्षपकों से संयोग केवलियों का भिन्न कथन करना व्यर्थ है (क्योंकि क्षपक भी उपशमकोंसे दूने हैं ?)

उत्तर—नहीं, क्योंकि स्वकाल में समुदित (एकत्री-भूत) संख्या की अपेक्षा संयोगकेवलियों में क्षपकोंसे भेद सम्भव है । स्वकाल में समुदित संयोगकेवलियों का परिमाण लाखपृथक्त्व है अर्थात् आठ लाख अठानवे हजार पाँच सौ दो है । कहा भी है—‘संयोग-केवली जिनों की संख्या आठ लाख अठानवे हजार पाँच सौ दो है ।’]

सर्वेऽप्येते प्रमत्ताद्ययोगकेवल्यन्ताः समुदिता उत्कर्षेण यदि कदाचिदेकस्मिन् समये संभवन्ति तदा त्रिहीन-नवकोटिसंख्या एव भवन्ति (89999997) । तदुक्तम्—

‘सत्ताई अट्ठंता छण्णवमञ्जसा य संजदा सव्वे ।

अंजलिमोलिपहत्थो तियरणसुद्धो णमंतामि ॥’

(गो० जी० 632)

[प्रमत्त संयत्तसे लेकर अयोग केवली पर्यन्त ये सभी संयत उत्कृष्ट रूप में यदि एक समय में एकत्र होते हैं तो उनकी संख्या तीन कम नी करोड़ होती है । कहा भी है—सभी संयत्तोंका परिमाण आठ करोड़ निन्यानवे लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तानवे होता है । हाथों की अंजलि बनाकर और मन वचन कायको शुद्ध करके उन्हें नमस्कार करता हूँ ।]

§. 46

25.7 असंख्येयाः श्रेणयः । अथ केयं श्रेणिरिति चेदुच्यते—सप्तरज्जूमयी मुक्ताफलमालावदाकाश-प्रदेशपंक्तिः श्रेणिर्मानविशेषः । किं विशिष्टास्ता

इत्याह—प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । श्रेणिः श्रेण्या गुणिता प्रतरा भवति । तदसंख्यातभागप्रमितानाम-संख्यातश्रेणीनां यावदन्तःप्रदेशास्तावन्तस्तत्र नारका इत्यर्थः ।

[प्रथम पृथिवी में मिथ्यादृष्टि नारकी असंख्यात श्रेणि प्रमाण हैं । शंका—यह श्रेणी क्या वस्तु है ? उत्तर—सात राजू लम्बी मोतियों की मालाके समान आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणि कहते हैं । यह श्रेणि एक परिमाणविशेष है । वे श्रेणियाँ प्रतरके असंख्यातवें भागप्रमाण यहाँ जानना । श्रेणिको श्रेणि से गुणा करने पर प्रतर होता है । उस प्रतरके असं-ख्यातवें भागप्रमाण, असंख्यात श्रेणियों के अन्तर्गत जितने प्रदेश होते हैं उतने ही प्रथम नरकमें मिथ्या-दृष्टि नारकी है ।]

25.11 सूक्ष्ममनुष्यं प्रति मनुष्या मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभाग प्रमिताः । सासादनादिसंयता-संयतान्ताः संख्येयाः । तद्यथा सासादनाः 520000-000 । मिश्राः 1040000000 । असंयताः—7000000000 । देशाः 1300000000 । तथा चोक्तम्—

‘तेरसकोडी देसे वावणं सासणे भुजेयवा ।

मिस्से वि य तद्वुगुणा असंजया सत्तकोडिसया ॥’

[मनुष्यमतिमें सासादन गुणस्थानी से लेकर संयता-संयत पर्यन्त मनुष्यसंख्या संख्यात है । कहा भी है—‘पाँचवें देशविरत गुणस्थान में तेरह करोड़ मनुष्य होते हैं, सासादन गुणस्थानमें बावन करोड़ और मिश्र गुणस्थान में उनसे दुगुने अर्थात् एक सौ चार करोड़ मनुष्य होते हैं । असंयतसम्पद्गदृष्टि सात सौ करोड़ होते हैं ।]

§. 48

26.7 पर्याप्तपृथिव्यादिकायिका असंख्येयलोकाः । अथ कोऽयं लोको नाम । प्रतरः श्रेण्या गुणितो लोको भवति मानविशेषः ।

[पर्याप्त पृथिवीकायिक आदि जीवों का परिमाण असंख्यात लोक है । प्रतरको श्रेणिसे गुणा करनेपर लोक होता है यह एक परिमाणका भेद है ।]

1. धवला पु० 3, पृ० 96 । गो० जी० गा० 629 । पृ० 254 । गो० जी० गा० 641 ।

2. गो जी०, गा० 633 । 3. धवला पु० 3,

§. 60

29.12 क्षेत्रं, संयोगकेवलितानां दण्डकवाटावस्थापेक्षया लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम्, प्रतरापेक्षया असंख्येय-भागः वातबलयत्रयादवगम्य तदात्मप्रदेशैर्निरन्तरं लोकव्याप्तेः । लोकपूरणापेक्षया सर्वलोकः ।

[संयोगकेवलियों का क्षेत्र दण्ड और कपाटरूप समुद्घातकी अपेक्षा लोकका असंख्यातवां भाग है । प्रतररूप समुद्घातकी अपेक्षा असंख्यात बहुभाग क्षेत्र है, क्योंकि तीनों वातबलयसे पहले तक ही उनकी आत्माके प्रदेशोंसे बिना किसी अन्तरालके लोक व्याप्त होता है । और लोक पूरण समुद्घातकी अपेक्षा संयोगकेवलियों का क्षेत्रसर्वलोक है ।]

§. 62

30.5 एकेन्द्रियाणां क्षेत्रं सर्वलोकः, तेषां सर्वत्र संभवात् । विकलेन्द्रियाणां लोकस्यासंख्येयभागः । देवनारकमनुष्यवत्तेषां नियतोत्पादस्थानत्वात् । ते हि अर्धतृतीयद्वीपे लवणोदकालोद-समुद्रद्वये स्वयम्भूर-मणे द्वीपे समुद्रे चोत्पद्यन्ते, न पुनरसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु तरकस्वर्गादिषु भोगभूमिषु म्लेच्छादिषु च । पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्यवत् । इत्ययुक्तम्, मनुष्याणां प्राग्मा-नुषोत्तरादेव संभवाल्लोकस्यासंख्येयभागो युक्तो न पुनः पञ्चेन्द्रियाणां नारकतिर्यङ्लोके देवलोकके च तत्संभवात् । तदसुन्दरं तेषामपि त्रसनाड्या मध्ये नियतेष्वेव स्थानकेषूत्पादसंभवात् लोकस्यासंख्येय-भागोपपत्तेः ।

[एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्वलोक है क्योंकि वे सर्वत्र पाये जाते हैं । विकलेन्द्रियों का क्षेत्र लोकका असं-ख्यातवां भाग है क्योंकि देव और नारकियों और मनुष्यों की तरह विकलेन्द्रिय भी नियत स्थानमें उत्पन्न होते हैं । वे अड्डाई द्वीपमें लवणोद और कालोद समुद्रमें तथा स्वयम्भूरमणद्वीप और स्वयम्भूरमण समुद्र में उत्पन्न होते हैं । शेष असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें नरक और स्वर्गादिमें भोगभूमियोंमें और म्लेच्छादिमें विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न नहीं होते । पंचेन्द्रियों का क्षेत्र मनुष्योंकी तरह कहा है । शंका—यह युक्त नहीं है क्योंकि मनुष्य तो मानुषो-त्तर पर्वतसे पहले तक ही पाये जाते हैं अतः उनका क्षेत्र तो लोकका असंख्यातवां भाग उचित है । पंचे-

न्द्रियोंका नहीं, क्योंकि पंचेन्द्रिय तो नरक लावन, मध्यलोकमें तथा देवलोकमें पाये जाते हैं ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पंचेन्द्रिय भी त्रस-नालीके भीतर नियत स्थानोंमें ही पाये जाते हैं, अतः उनका क्षेत्र भी लोकका असंख्यातवां भाग बनता है ।]

§. 75

33.1 स्पर्शनम् । असंख्यातयोजनकोट्याकाशप्रदेश-परिमाणो रज्जुः । तत्तत्क्षणसमचतुरस्ररज्जुत्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमाणो लोकः । तत्र स्वस्थान-विहारः परस्थानविहारो मारणान्तिकमुत्पादश्च जीवैः क्रियते । तत्र स्वस्थानविहारापेक्षया सासादन-सम्पद्द्रष्टृभिलोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः । सर्वत्राग्रे लोकस्यासंख्येयभागः स्वस्थानविहारापेक्षया द्रष्टव्यः । परस्थानविहारापेक्षया तु सासादनदेवानां प्रथम पृथिवीत्रये विहाराद् रज्जुद्वयम् । अच्युतान्तोपरि विहारात् षड्रज्जव इत्यष्टौ चतुर्दशभागाः । त्रसनाडी चतुर्दशरज्जूनां मध्ये अष्टौ रज्जव इत्यर्थः । सर्व-त्राप्यष्टौ चतुर्दशभागा इत्थं द्रष्टव्याः । तथा द्वादश । तथाहि सप्तमपृथिव्यां परित्यक्तसासादनदिगुणस्थान एव मारणान्तिकं करोतीति नियमात् । षष्ठीतो मध्य-लोके पञ्चरज्जुः सासादनो मारणान्तिकं करोति । मध्यलोकाच्च लोकाग्रे बादरपृथिव्यां वनस्पतिकायि-केषु सप्तरज्जव इति द्वादश । सासादनो हि वायुकाय-तजस्कायनरकसर्वसूक्ष्मकायलक्षणानि चत्वारि स्थान-कानि वर्जयित्वान्यत्र सर्वत्रोत्पद्यते । तदुक्तम्—

‘वज्जिय ठाणचउक्कं तेऊ थाऊ य णिरयसुहुमं च ।

अण्णत्थ सव्वट्ठाणे उथवज्जदि सासणो जीवो ॥’

केचित्प्रदेशाः सासादनस्य स्पर्शनयोग्या न भवन्तीति देशोनाः । सर्वत्र चाग्रे स्पर्शनायोग्यप्रदेशापेक्षया देशो-नत्वं द्रष्टव्यम् ।

[आगे स्पर्शनका कथन करते हैं । असंख्यात करोड़ योजन आकाश प्रदेशों के परिमाणवाली एक राजू होती है । और तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण लोक होता है । उसमें जीवोंके द्वारा स्वस्थानविहार, परस्थानविहार, मारणान्तिकसमुद्घात और उत्पाद किया जाता है । उसमेंसे स्वस्थानविहार की अपेक्षा सासादन सम्पद्द्रष्टृजीवोंने लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्रका स्पर्शन किया है । आगे भी सर्वत्र स्वस्थान विहारकी अपेक्षा लोकका असंख्यातवां भाग जानना

चाहिए। परस्थानविहारकी अपेक्षा तो सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंका प्रथम तीन पृथिवियोंमें विहार करनेसे दो राजू और ऊपर अच्युत स्वर्ग तक विहार करनेसे छह राजू इस तरह आठ बटे चौदह राजू स्पर्शन होता है अर्थात् त्रसनाडीके चौदह राजूओंमेंसे आठ राजू प्रमाण। सर्वत्र आठ बटे चौदह इसी प्रकार जानना। तथा बारह बटे चौदह इस प्रकार जानना— सातवीं पृथ्वीमें सासादन आदि गुणस्थानोंको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थानवाला जीव ही नियमसे मारणान्तिक समुद्रात करता है ऐसा नियम है। और छठी पृथ्वीसे मध्य लोक पर्यन्त पाँच राजू सासादन सम्यग्दृष्टि मारणान्तिक करता है। और मध्यलोकसे लोकके अग्रभागमें बादर पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकायमें मारणान्तिक करनेसे सात राजू, इस तरह बारह राजू स्पर्शन होता है। सासादनसम्यग्दृष्टि वायुकाय, तेजस्काय, नरक और सर्व सूक्ष्मकाय, इन चार स्थानोंको छोड़कर सर्वत्र उत्पन्न होता है। कहा भी है—‘तेजस्काय, वायुकाय, नरक और सूक्ष्मकायोंको छोड़कर, अन्यत्र सर्वत्र सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होता है।’ कुछ प्रदेश सासादन जीवके स्पर्शन योग्य नहीं होते, इसलिए देशोन (कुछ कम) कहा है। अने सर्वत्र स्पर्शनके अयोग्य प्रदेशों की अपेक्षा देशोनपना जानना।]

§. 76

35.। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्देवैः परस्थानविहारपेक्षयाष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः। संयतासंयतैः स्वयंभूरमणितिर्यग्भिरच्युते मारणान्तिकापेक्षया षड्रज्जवः स्पृष्टाः। प्रमत्तसंयतादीनां नियतक्षेत्रत्वात् भवान्तरे नियतोत्पादस्थानत्वाच्च उत्पादे चतुर्थगुणभावात् समचतुरस्ररज्जुप्रदेशव्याप्यभावात्लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलानां क्षेत्रवत्लोकस्यासंख्येयभागोऽसंख्येया भागाः सर्वलोको वा स्पर्शनम् सर्वनारकाणां नियमेन संज्ञिपर्याप्तकपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु वा प्रादुर्भावः। तत्र प्रथमपृथिव्याः संनिहितत्वेनाधो-रज्जुपरिमाणाभावात्तत्र त्यना रक्षेत्तुर्गुणस्थानैर्लोक-स्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। द्वितीयपृथिव्यास्तिर्यग्ग्लोकादधो रज्जुपरिमाणत्वादधःपृथिवीनां चैकैकाधिक-रज्जुपरिमाणत्वात् तत्रत्यमिथ्यादृष्टिसासादन-सम्यग्दृष्टिभिर्यथासंख्येयका द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च

रज्जवः स्पृष्टाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां मारणान्तिकोत्पादायुक्तावस्थायां नियमेन तद्गुणस्थानत्यागात् स्वस्थानविहारापेक्षया लोकस्यासंख्येयभागः स्पर्शनम्। असंयतसम्यग्दृष्टीनां मारणान्तिकापेक्षयापि लोकस्यासंख्येयभागः तेषां नियमेन मनुष्येष्वेवोत्पादात्तेषां चाल्पक्षेत्रत्वात्।

सप्तम्यां मिथ्यादृष्टिभिर्मारणान्तिकोत्पादापेक्षया षड्रज्जवः शेषैस्त्रिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः। स्वस्थानविहारापेक्षया मारणान्तिकापेक्षयाप्येषां स्पर्शनं कुतो न कथितमिति चेत् तत्रत्यनारकाणां मारणान्तिकोत्पादात्पूर्वकाले नियमेन तद्गुणस्थानत्यागात्। सासादनोऽधो न गच्छतीति नियमात्तिर्यक्सासादनस्य लोकाग्रे बादरपृथिव्यादिषु मारणान्तिकापेक्षयापि सप्त रज्जवः।

मनुष्यमिथ्यादृष्टिभिर्मारणान्तिकापेक्षया सर्वलोकः स्पृष्टः। पृथिवीकायिकादेस्तत्रोत्पादापेक्षया वा। यो हि यत्रोत्पद्यते तस्योत्पादावस्थायां तद् व्यपदेशो भवति। सर्वलोकस्पर्शनं चाग्रे सर्वत्रेत्थं द्रष्टव्यम्। मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिदेवानां तृतीयपृथिवीगतानां लोकाग्रे बादरपृथिव्यादिषु मारणान्तिकापेक्षया तत्र रज्जवः। नवरज्जुस्पर्शनमग्रेऽपीत्थं द्रष्टव्यम्। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनां त्वेकेन्द्रियेषूत्पादाभावात् विहारापेक्षयाष्टौ रज्जवः।

[सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि देवोंके द्वारा परस्थान विहारकी अपेक्षा आठ राजू स्पृष्ट किये गये हैं। स्वयंभूरमणके पंचमगुणस्थानवर्ती तिर्यचोंके द्वारा अच्युत स्वर्गमें मारणान्तिक समुद्रातकी अपेक्षा छह राजू स्पृष्ट किये गये हैं। प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंका क्षेत्र नियत है, भवान्तरेमें उत्पादस्थान भी नियत है तथा उत्पाद अवस्थामें चौथा गुणस्थान हो जाता है अतः समचतुरस्र रज्जु प्रदेशमें व्याप्त न होनेसे उनका स्पर्शन लोकका असंख्यातवां भाग है। सयोगकेवलियोंका स्पर्शन क्षेत्रकी तरह लोकका असंख्यातवां भाग, असंख्यात बहुभाग और सर्वलोक है। सब नारकी नियमसे संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यचों अथवा मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। उनमेंसे पहली पृथिवी तो मध्यलोकके निकट है, मध्यलोकसे नीचे पहली पृथिवी तक एक राजूका भी परिमाण नहीं है। अतः पहली पृथिवीके

चारों गुणस्थानवर्ती नारकियोंका स्पर्शन लोकका असंख्यातवा भाग है। दूसरी पृथिवी मध्यलोकसे नीचे एक राजूके परिमाणपर स्थित है तथा उससे नीचेकी तीसरी आदि पृथिवियाँ भी एक-एक राजूका अन्तराल देकर स्थित हैं अतः उन पृथिवियोंके मिथ्या-दृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि नारकियोंने क्रमसे एक, दो, तीन, चार और पाँच राजूका स्पर्शन किया है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि मारणान्तिकसमुद्घात, उत्पाद और आयुबन्धके समय नियमसे तीसरे गुणस्थानको छोड़ देते हैं क्योंकि तीसरे गुणस्थान में ये तीनों कार्य नहीं होते। अतः स्वस्थान विहारकी अपेक्षा उनका स्पर्शन लोकका असंख्यातवा भाग है। असंयत-सम्यग्दृष्टि नारकियोंका स्पर्शन मारणान्तिककी अपेक्षा भी लोकका असंख्यातवा भाग है क्योंकि वे नियमसे मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं और मनुष्योंका क्षेत्र अल्प है।

सातवीं पृथिवी में मिथ्यादृष्टि नारकियोंने मारणान्तिक और उत्पादकी अपेक्षा छह राजूका स्पर्श किया है। शेष तीन गुणस्थानवर्ती नारकियोंका स्पर्शन लोकका असंख्यातवा भाग है।

शंका—स्वस्थानविहारकी अपेक्षा और मारणान्तिककी अपेक्षा इन तीन गुणस्थानवर्ती नारकियोंका स्पर्शन क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—सप्तम पृथिवीके नारकी मारणान्तिक और उत्पादसे पूर्व नियमसे उन गुणस्थानोंको छोड़ देते हैं।

सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरकमें नहीं जाता ऐसा नियम है। अतः सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यचका स्पर्शन लोकाग्रमें बाहर पृथिवी आदिमें मारणान्तिककी अपेक्षा भी सात राजू है। मिथ्यादृष्टि मनुष्योंका स्पर्शन मारणान्तिककी अपेक्षा सर्वलोक है। अथवा पृथिवीकायिक आदिके मनुष्योंमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा सर्वलोक है; क्योंकि जो मरकर जहाँ उत्पन्न होता है वह उत्पाद अवस्थामें वही कहा जाता है अर्थात् पृथिवीकायिक आदिसे मरकर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले जीव उत्पाद अवस्थामें मनुष्य ही कहलाते हैं। सर्वलोक स्पर्शन आगे सर्वत्र इसी प्रकार

जानना चाहिए। तीसरे नरक गये मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंका लोकके अग्रभागमें बाहर-पृथिवीकायिक आदिमें मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा ती राजू स्पर्शन है। नौ राजू स्पर्शन आगे भी इसी प्रकार जानना चाहिए। और सम्यग्मिथ्या-दृष्टि तथा असंयत सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते। उनका विहारवत्स्वस्थानकी अपेक्षा आठ राजू स्पर्शन है।]

§. 77

35.4. पञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिभिः अपट्टी देवान् प्रति सर्वलोको मनुष्यान् प्रति। सयोगकेवलितानां दण्डाद्यवस्थायां वाङ्मनसवर्गणामवलम्ब्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दाभावाल्लोकस्यासंख्येयभागः।

[पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टियोंका आठ राजू स्पर्शन देवोंकी अपेक्षा जानना अर्थात् पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिदेव तीसरे नरक तक विहार करते हैं अतः मेरुके मूलसे ऊपर छह राजू और नीचे दो राजू, इस प्रकार आठ राजू क्षेत्रके भीतर सर्वत्र उक्त प्रकारसे पञ्चेन्द्रिय पाये जाते हैं। सर्वलोक स्पर्शन मनुष्योंकी अपेक्षा है सयोगकेवलियोंके दण्ड आदि अवस्थामें वचनवर्गणा मनोवर्गणाका अवलम्बन लेकर आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन नहीं होता अतः लोकका असंख्यातवा भाग स्पर्शन है]

§. 85

37.9 सप्तनरकेषु नारका यथासंख्यमेतत्त्रेप्रया भवन्ति। उक्तं च—

‘काऊ काऊ तह काउणीला नीला य नीलकिण्हाए।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्ता रयणाविपुड्वीसु ॥’

—(मूलाचार ११३४)

तत्र षष्ठपृथिव्यां कृष्णलेश्यैः सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्मरिणान्तिकाद्यपेक्षया पञ्च। पञ्चमपृथिव्यां कृष्णलेश्याऽविवक्षया नीललेश्यैश्चतस्रो रज्जवः स्पृष्टाः। तृतीयपृथिव्यां नीललेश्याविवक्षया कापोततलेश्यैर्द्वे रज्जू स्पृष्टे। सप्तमपृथिव्यां यद्यपि कृष्णलेश्यास्ति तथापि मारणान्तिकाद्यवस्थायां सासादनस्य तत्र न सा संभवति तदा नियमेन मिथ्यात्वग्रहणादिति नोदाहृता। तेजोलेश्यैः संयतासंयतैः प्रथमस्वर्गं

मारणान्तिकाद्यपेक्षया सार्धरज्जुः स्पृष्टा । पद्मलेश्यैः संयतासंयतैः सहस्रारे मारणान्तिकादिविधानात् पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः । शुक्ललेश्यामिथ्यादृष्ट्यादिसंयता-संयतान्तैर्मारणान्तिकाद्यपेक्षया षट् रज्जवः स्पृष्टाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टिभिस्तु मारणान्तिके तद्गुणस्थान-त्यागाद्विहारापेक्षया षड् रज्जवः स्पृष्टाः । अष्टावपि कुतो नेति नाशङ्कनीयम्, शुक्ललेश्यानामधो विहारा-भावात् । यथा च कृष्णलेश्यादित्रयापेक्षावस्थित-लेश्या नरिकाः, तथा तेजोलेश्यादित्रयापेक्षया देवा अपि । तदुक्तम्—

‘तेज तेज तह तेजपम्मा पम्मा य पम्मसुक्काय ।
सुक्का य परमसुक्कालेस्सा भवणादिदेवाणं ॥

—(प्रा० पंचसं० 189)

तद्यथा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्केषु जघन्या तेजो-लेश्या । सौधमैशानयोर्मध्यमा । सानत्कुमारमाहेन्द्र-योस्तुकृष्ण तेजोलेश्या जघन्यपद्मलेश्याविवक्षया । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रेषु मध्यमा पद्मलेश्या । शतारसहस्रारयोस्तुकृष्ण पद्मलेश्या जघन्यशुक्ललेश्याविवक्षया । आनतप्राणतारणा-च्युतनवग्रंथैकेषु मध्यमा शुक्ललेश्या । तवानुदिश-पञ्चानुसरेषूक्तुष्ठा । उक्तं च—

‘तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च ।
एतो य चौदसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥’

—(पंच० गा० 188)

ततोऽब्रव लेष्यानियमाभावः ।

[सात्रों नरकोंमें नारकियोंके ये लेश्या होती हैं । कहा भी है—‘रत्नप्रभा आदि पृथिवियोंमें क्रमसे कापोत, कापोत, कापोत-नील, नील, नील-कृष्ण, कृष्ण और परमकृष्ण लेश्या होती हैं ।’ उनमें-से छठी पृथिवी में कृष्णलेश्यावाले सासादन सम्यग्दृष्टि नार-कियों ने मारणान्तिक आदिकी अपेक्षा पाँच राजु और पाँचवीं पृथ्वीमें कृष्णलेश्याकी विवक्षा न करके नीललेश्यावाले नारकियों ने चार राजु स्पृष्ट किये हैं । तीसरी पृथ्वीमें नीललेश्याकी विवक्षा न करके कापोत लेश्यावाले नारकियों ने दो राजु स्पृष्ट किये हैं । सातवीं पृथिवीमें यद्यपि कृष्णलेश्या है तथापि मारणान्तिक आदि अवस्थामें सासादन सम्यग्दृष्टिके वहाँ कृष्णलेश्या नहीं होती, क्योंकि उस अवस्थामें

नियमसे वह मिथ्यात्वमें चला जाता है इसलिए यहाँ उसका कथन नहीं किया है ।

तेजोलेश्यावाले संयतासंयत जीवोंने प्रथम स्वर्ग पर्यन्त मारणान्तिक समुद्घात आदि करनेकी अपेक्षा डेढ़ राजु स्पृष्ट किया है । पद्मलेश्यावाले संयतासंयतोंने सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त मारणान्तिक आदि करनेकी अपेक्षा पाँच राजु स्पृष्ट किये हैं । शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत पर्यन्त जीवोंने मार-णान्तिक आदिकी अपेक्षा छह राजु स्पृष्ट किये हैं । किन्तु मारणान्तिक समुद्घात होनेपर सम्यग्मिथ्या-दृष्टि उस गुणस्थान को छोड़ देता है अतः उनमें विहार की अपेक्षा छह राजु स्पर्शन होता है ।

शंका—विहारकी अपेक्षा आठ राजु स्पर्श क्यों नहीं कहा ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि शुक्ललेश्यावाले देवोंका नीचे विहार नहीं होता ।

जैसे कृष्ण आदि तीन लेश्याओंकी अपेक्षा नारकी जीवोंकी लेश्या अवस्थित होती है वैसे ही तेजोलेश्या आदि तीन लेश्याओंकी अपेक्षा देव भी अवस्थित लेश्या-वाले होते हैं । कहा भी है—‘भवनवासी आदि देवोंमें तेजोलेश्या, तेजोलेश्या, तेज और पद्मलेश्या, पद्मलेश्या, पद्म और शुक्ललेश्या, शुक्ललेश्या और परमशुक्ल-लेश्या होती है ।’ इसका अभिप्राय यह है कि भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें जघन्य तेजोलेश्या होती है । सौधम और ऐशान स्वर्गों में मध्यमतेजोलेश्या होती है । सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें उत्कृष्ट तेजोलेश्या तथा अविवक्षासे जघन्य पद्मलेश्या होती है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गों में मध्यम पद्मलेश्या होती है । शतार और सहस्रार स्वर्गोंमें उत्कृष्ट पद्मलेश्या तथा अविवक्षासे जघन्य शुक्ललेश्या होती है । आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और नौ ग्रंथैकोंमें मध्यम शुक्ललेश्या होती है । नौ अनुदिशों और पाँच अनुसरोंमें उत्कृष्ट शुक्ल-लेश्या होती है । कहा भी है—

‘भवनवासी आदि देवोंमें-से तीनमें, दोमें, दोमें, छह में, दोमें, तेरहमें और चौदहमें (उक्त क्रमसे) लेश्या होती है ।’

इनके सिवाय अन्यत्र जेण्याका नियम नहीं है ।

§. 87

39.3 धायिकसम्यक्त्वयुक्तसंयतासंयतानामितर-सम्यक्त्वयुक्तसंयतासंयतानामिव षडपि रज्जवः कृतो नेति नाशंकनीयं तेषां नियतक्षेत्रत्वात् । कर्मभूमिजो हि मनुष्यः सप्तप्रकृतिशयप्रारम्भको भवति । तद्दर्शन-लाभात्प्रागेव तिर्यक्षु बद्धायुष्कस्तु संयतासंयतत्वं न प्रतिपद्यते । औपशमिकसम्यक्त्वयुक्त-संयतासंयतानां कृतो लोकस्यासंख्येयभाग इति चेत् मनुजेष्वेव तत्संभ-वात् । वेदकपूर्वकौपशमिकसम्यक्त्वयुक्तो हि श्रेण्या-रोहणं विधाय मारणान्तिकं करोति । मिथ्यात्वपूर्व-कौपशमिकयुक्तानां मारणान्तिकासंभवात् ।

[शंका— धायिकसम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयतोंका अन्य सम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयतोंकी तरह छह राजु स्पर्शन क्यों नहीं है ?

उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनका क्षेत्र नियत है । कर्मभूमिमें जन्मा-मनुष्य सात प्रकृतियोंके क्षयका प्रारम्भ करता है । धायिक-सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे पहले ही जो तिर्यचश्रुतिकी आयुका बन्ध कर लेता है वह तो संयतासंयतपनको प्राप्त नहीं कर सकता ।

शंका—औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयतोंका स्पर्शन कैसे लोकका प्रसंख्यातवां भाग है ?

उत्तर—औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त संयतासंयत मनुष्योंमें ही होते हैं, क्योंकि वेदकसम्यक्त्वपूर्वक औपशमिक सम्यक्त्वसे युक्त मनुष्यश्रेणिपर आरोहण करके मारणान्तिक समुद्घात करता है । और मिथ्यात्वपूर्वक औपशमिक सम्यग्दृष्टि मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते ।]

§. 89

39. 12 सयोगकेवलिनं लोकस्यासंख्येयभागः कुतः । इति चेत्, आहारकावस्थायां समचतुरस्तरज्ज्वादि-व्याप्त्यभावात् दण्डद्वयावस्थायां कपाटद्वयावस्थायां च सयोगकेवली औदारिकौदारिकमिश्रशरीरयोग्यपुद्गलादानेनाहारकः ।

उक्तं च—

दंडद्वये ओराले कवाटजुगले य पयरसंवरणे ।

मिस्सोरालं भणियं¹ सेसतिए जाण कम्मइयं ॥

दण्डकवाटयोश्च पिण्डतोऽल्पक्षेत्रतया समचतुरस्त्र-रज्ज्वादिव्याप्त्यभावात् सिद्धो लोकस्यासंख्येय-भागः । अनाहारकेषु सासादनस्य षष्ठपृथ्वीतो निसृत्य तिर्यग्लोके प्रादुर्भावात् पञ्च, अच्युतादागत्य तत्रैवो-त्पादात् षडित्येकादश । ननु पूर्वं द्वादशोक्ता इदानीं त्वेकादशेति पूर्वापरविरोधः । तदयुक्तम्, मारणान्ति-कापेक्षया पूर्वं तथाभिधानात् । न च मारणान्तिकाव-स्थायामनाहारकत्वं किन्तूत्पादावस्थायाम् । सासा-दनश्च मारणान्तिकमेकैन्द्रियेषु करोति नोत्पादं तदा सासादनत्वस्यागात् ।

[शंका—सयोगकेवलियोंका स्पर्शन लोकके असंख्या-तवें भाग कैसे है ?

उत्तर—आहारक अवस्थामें समचतुरस्त्र रज्जु आदि-की व्याप्तिका अभाव होनेसे सयोगकेवलीके आहारक अवस्थामें स्पर्शन लोकका असंख्यातवां भाग है । तथा विस्तार और संकोचरूप दोनों दण्डसमुद्घातोंमें तथा दोनों कपाटसमुद्घातोंमें औदारिक और औदा-रिकमिश्र शरीरके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करनेसे सयोगकेवली आहारक होते हैं । कहा भी है—

‘विस्तार और संकोचरूप दोनों दण्डसमुद्घातोंमें औदारिककाययोग होता है । विस्तार और संकोच-रूप दोनों कपाट समुद्घातोंमें तथा संकोचरूप प्रतर समुद्घातमें औदारिकमिश्रकाययोग होता है । शेष तीनमें कर्मणकाययोग होता है ।’

दण्ड और कपाटमें पिण्डरूपसे अल्पक्षेत्र होनेके कारण समचतुरस्तरज्जु आदिकी व्याप्तिका अभाव होनेसे लोकका असंख्यातवां भाग स्पर्शन सिद्ध होता है । अनाहारकोंमें सासादन सम्यग्दृष्टिके छठी पृथिवीसे निकलकर तिर्यग्लोकमें उत्पन्न होनेसे पाँच राजु होते हैं और अच्युतस्वर्गसे आकर तिर्यग्लोकमें उत्पन्न होनेसे छह राजु होते हैं इस तरह ग्यारह राजु होते हैं ।

शंका—पहले तो आपने बारह राजु कहे थे अब बारह कहे हैं इससे तो पूर्वापर विरोध आता है? उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है; पहले मारणान्तिक समुद्रघातकी अपेक्षा बारह राजु स्पर्शन कहा है। किन्तु मारणान्तिक अवस्थामें जीव अनाहारक नहीं होता किन्तु उत्पाद अवस्थामें अनाहारक होता है। सासादन सम्यग्दृष्टि एकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक करता है उत्पाद नहीं करता; क्योंकि उत्पाद अवस्थामें सासादनपना छूट जाता है।]

§. 90

40.1 कालः—जघन्येनान्तर्मुहूर्तः मुहूर्तश्च सहस्रत्रितयसप्तशतत्र्यधिकसप्ततिपरिमाणोच्छ्वासलक्षणः। तस्यान्तरन्तर्मुहूर्तः समयाधिकामावलिकामादि कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत्।^{२२} जेथमसंख्यातभेदो भवति। तदुक्तम्—

‘तिणिं सहस्सा ससय सवाणि तेहत्तरि च उस्सासा।
एसो हववि मुहत्तो सव्वेसिं जेव मणुयाणं ॥’

उत्कर्षेणार्धपुद्गलपरिवर्त्तो देशोनः। स च ‘संसारिणो मुक्ताश्च’ (त० सू० 2.10) इत्यत्र वक्ष्यते। सासादनैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण षडावलिकाः। आवलिका चासंख्यातसमयलक्षणा भवति।

‘आवलि’ असंख्यसमय संख्येज्जा आवली य उस्सासो।
सत्तुस्सासो थोथो सत्तत्थोवो लथो भणियो ॥

‘अट्ठसीसइलवा णाली वे णालियामुहत्तं तु।
सीसमुहत्तं विवसं पणरस विवसाण हवइ तह पवसं ॥’

इति वचनात्। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रति जघन्येन जघन्योऽन्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण चोत्कृष्टो अन्तर्मुहूर्तश्च। पश्चाद् गुणान्तरं यातीत्यग्रे बोद्धव्यम्। असंयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि। तथाहि कश्चिज्जीवः पूर्वकोट्यायुरूप-

न्मस्सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षानन्तरं सम्यक्त्वमादाय तपोविशेषं विधाय सर्वार्थसिद्धानुत्पद्यन्ते ततश्च्युत्वा पूर्वकोट्यायुरूपेणोऽष्टवर्षानन्तरं संयममाददातीति। जघन्येनैकः समयः। तथाहि-सर्वो जीवः परिणामविशेषवशात् प्रथमोऽप्रमत्तगुणं प्रतिपद्यते। पश्चात्तत्प्रतिपक्षभूतं प्रमत्तगुणम्। तत्र गुणस्थानान्तरस्थितो निजायुःसमयशेषेऽप्रमत्तगुणं प्रतिपद्य त्रियत इत्यप्रमत्तैकजीवं प्रति जघन्येनैकसमयः तथाऽप्रमत्तस्थाने स्थितो निजायुःकालान्त्यसमये प्रमत्तगुणं प्रतिपद्य त्रियते इति प्रमत्तैकजीवं प्रत्यपि जघन्येनैकसमयः चतुर्णामुपशमकानां चतुःपञ्चाशद्यावद्यथासंभवं भवतां युगपदपि प्रवेशमरणसंभवान्नानाजीवापेक्षयैकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः। नन्वेवं मिथ्यादृष्टेरप्येकसमयः कस्मान्न संभवतीत्यप्यनुपपन्नं, प्रतिपन्नमिथ्यात्वस्यान्तर्मुहूर्तमध्ये मरणासंभवात्। तदुक्तं, श्लोकः—

‘मिथ्यादर्शनसंप्राप्तेर्नास्त्यनन्तानुबन्धिनाम्।
यावदावलिकापाकोऽन्तर्मुहूर्तं मृतिर्न च ॥’

सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि मरणकाले तद्गुणस्थानत्यागान्नैकसमय संभवति। प्रतिपन्नासंयतसंयतासंयतगुणोऽपि नान्तर्मुहूर्तमध्ये त्रियते ततो नासंयतसंयतासंयतयोरप्येकसमयः संभवति। चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलीनां च मुक्तिभाक्त्वेनावान्तरमरणासंभवान्नानैकजीवापेक्षया जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः। सयोगकेवल्यैकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तस्तद्गुणस्थानप्राप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तमध्येऽयोगगुणस्थानप्राप्तेः। उत्कर्षेण पूर्वकोटी अष्टवर्षानन्तरं तपो भूतीत्वा केवलमुत्पादयतीति कियद्वर्षहीनत्वात् देशोना।

[अब कालका कथन करते हैं। जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त होता है। उसके अन्तर्गत अन्तर्मुहूर्त होता है। अर्थात् एक समय अधिक आवलीसे लेकर एक समय

1. गो० जी० 573। 2. गो० जी० 574। ‘एगसमएण हीणं भिण्णमुहत्तं तदो सेसं’ इति उत्तरार्धपाठः जम्बू० प० 13/5-6। 3. अपूर्वकरणस्य अवरोहणकाले मरणमवबोद्धव्यम्। आरोहकापूर्वकरणस्य प्रथमभागे—‘मिस्साहारस्स य खवगा चठमाणपठमपुव्वा य। पठमुवसम्मा तमतमगुणपडिवण्णा य ण मरंति ॥’ इत्यागमोक्तप्रकारेण मरणाभावात्। ननु अधस्तनगुणस्थानेभ्यः स्वस्वगुणस्थानानि प्राप्य तत्रैकैकसमयान् स्थित्वा निवृत्तानां चतुर्णामुपशमकानामप्येकैकसमयाः संभवन्तीति न शङ्कनीयम्, तदसंभवात्, तत्संभवे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तान्तरवचनानुपपत्तेः। वक्ष्यते च तत् चतुर्णामुपशमकानामेकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तं इति।

कम मुहूर्त पर्यन्त अन्तर्मुहूर्त होता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तके असंख्यात भेद होते हैं। कहा भी है—‘सभी मनुष्योंके तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त होता है।’

उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्त है। उसका कथन आगे ‘संसारिणी मुक्ताश्व’ इस सूत्रके अन्तर्गत करेंगे। सासादन गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे छह आवली है। असंख्यात समयोंकी एक आवली होती है। कहा है—असंख्यात समयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली होती है। दो नाली का एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका एक दिन होता है और पन्द्रह दिनका एक पक्ष होता है।’

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त आगे गुणित होता जाता है ऐसा आगे जानना चाहिए। असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे कुछ अधिक तेतीस सागर है। उसका खुलासा इस प्रकार है—कोई जीव एक पूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। एक अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्षके पश्चात् सम्यक्त्वको ग्रहण करके तथा तपस्या करके सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ। वहाँसे च्युत होकर पुनः एकपूर्वकोटिकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। आठ वर्षके पश्चात् संयम को स्वीकार किया। इस तरह सातिरेक तेतीस सागर काल होता है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे एक समय है, वह इस प्रकार है—सभी जीव विशेष परिणामोंके वश सर्वप्रथम अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। उसके पश्चात् उसके प्रतिपक्षी प्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करते हैं। अतः अन्य गुणस्थानमें स्थित जीव अपनी आयुमें एक समय शेष रहनेपर अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त करके मर जाता है। इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षा अप्रमत्तका काल जघन्यसे एक समय होता है। तथा अप्रमत्त गुणस्थान में स्थित जीव अपनी आयुके कालमें एक समय शेष रहनेपर प्रमत्तगुणस्थानको प्राप्त करके मरता है।

इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षा प्रमत्त गुणस्थानका काल भी एक समय है। चारों उपशमकोंका यथा सम्भव जीवन संख्यापर्यन्त एक साथ भी प्रवेश और मरण सम्भव होनेसे नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य काल एक समय है।

शंका—इस तरह मिथ्यादृष्टिका भी काल एक समय क्यों नहीं होता ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवका मरण अन्तर्मुहूर्तके मध्य असम्भव है। कहा है—‘अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर एक आवलीकाल तक अनन्तानुबन्धीका उदय नहीं होता तथा एक अन्तर्मुहूर्त काल तक मरण नहीं होता। सम्यग्मिथ्यादृष्टि का भी काल एक समय नहीं है क्योंकि मरणकाल आनेपर वह गुणस्थान छूट जाता है। असंयत और संयतासंयत गुणस्थानको प्राप्त होनेवाला भी अन्तर्मुहूर्त तक नहीं मरता अतः असंयत और संयतासंयत का भी काल एक समय नहीं होता।

चारों क्षपकों और अयोगकेवलियोंके मुक्तिगामी होनेके कारण अवान्तर में मरण सम्भव न होनेसे नाना जीवों और एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सयोगकेवली का काल एक जीवकी अपेक्षा जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि उस गुणस्थानको प्राप्त होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तमें अयोगकेवली गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है। उत्कृष्टकाल कुछ कम पूर्वकोटि है क्योंकि जन्मसे आठ वर्षके पश्चात् तप स्वीकार करके केवलज्ञानको उत्पन्न करता है इसलिए पूर्वकोटिमें कुछ वर्ष कम हो जाते हैं।

§. 92

41.8 तिर्यगसंयतसम्यग्दृष्ट्येकजीवं प्रत्युत्कर्षेण दर्शनमोहक्षपकवेदकापेक्षया त्रीणि पत्थोपमानि। पश्चाद् गत्यतिक्रमः।

[तिर्यग्गतिमें असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्ष से दर्शनमोहका क्षय करनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा तीन पत्थोपम है। उसके पश्चात् गति बदल जाती है]

§. 93

41.10 मिथ्यादृष्टिमनुष्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वेः सप्तचत्वारिंशत् पूर्वकोटिभिरभ्यधिकानि । तथाहि—नपुंसक-स्त्री-पुंवेदेनाष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोट्यायुषोत्पद्यावान्तरेऽन्तर्मुहूर्तमध्येऽपर्याप्तकमनुष्यक्षुद्रभवेनाष्टौ वारानुत्पद्यते । पुनरपि नपुंसकस्त्रीवेदेनाष्टावष्टौ पुंवेदेन तु सप्तति । ततो भोगभूमौ त्रिपत्योपमायुष्कः, भोगभूमिजानां नियमेन देवेषूत्पादात् । पश्चाद् गत्यतिक्रमः । असंयत-सम्यग्दृष्टिमनुष्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि । कर्मभूमिजो हि मनुष्यः क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तो दर्शनमोहक्षपकवेदकयुक्तो वा भोगभूमिजमनुष्येषूत्पद्यते । इति मनुष्यगत्यपरित्यागात् सातिरेकाणि पश्चाद्गत्यतिक्रमः ।

[मनुष्य गतिमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे पूर्वकोटि पृथक्त्व अर्थात् सैतालीस पूर्वकोटिसे अधिक तीन पत्य है । उसका खुलासा इस प्रकार है—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेदके साथ आठ-आठ बार पूर्वकोटिकी आयुसे उत्पन्न होकर अवान्तरमें अन्तर्मुहूर्तके अन्दर लब्ध-पर्याप्तक मनुष्यके क्षुद्रभवके साथ आठ बार उत्पन्न होता है । उसके पश्चात् पुनः नपुंसकवेद और स्त्रीवेदके साथ आठ-आठ बार उत्पन्न होता है किन्तु पुरुषवेदके साथ सात-सात बार उत्पन्न होता है । उसके बाद भोगभूमिमें तीन पत्यकी आयुसे उत्पन्न होता है । भोगभूमिके जीव मरकर देवोंमें ही उत्पन्न होते हैं । अतः उसके बाद गति बदल जाती है । असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानका उत्कृष्ट काल एक जीवकी अपेक्षा उत्कर्षसे तीन पत्य है । क्योंकि कर्मभूमिका जन्मा (बद्धमनुष्यायु) मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्वसे युक्त हो या दर्शनमोहके क्षपक वेदकसम्यक्त्वसे युक्त हो, मरकर भोगभूमिज मनुष्योंमें उत्पन्न होता है । अतः मनुष्यगतिके न छूटनेसे साधिक तीन पत्य काल होता है । उसके बाद गति बदल जाती है]

§. 95

42.7 एकेन्द्रियैकजीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । तत्कीदृशमिति चेदुच्यते । उक्तलक्षणमुहूर्तमध्ये

तावदेकेन्द्रियो भूत्वा कश्चिज्जीवः षट्षष्टिसहस्रद्वात्रिंशदधिकशतपरिमाणानि जन्ममरणान्यनुभवति ॥ 66132 ॥ तथा स एव जीवस्तस्यैव मुहूर्तस्य मध्ये द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियो भूत्वा यथासंख्यमशीतिषष्टिचरवारिश्चतुर्विंशतिजन्ममरणानि स्वकृतकर्मवैचित्र्यादनुभवति ॥ 80160140124 ॥ सर्वेऽप्येते समुदिताः क्षुद्रभवा एतावन्तो भवन्ति ॥ 66336 ॥ उक्तं च—

“तिग्णिसया छत्तीसा छावट्टीसहस्रजन्ममरणानि ।
एवदिया खुद्रभवा हवन्ति अंतोमुहूर्तसस ॥
“विगलिविए असोवि सट्टी चालीसमेव जाणाहि ।
पंचेदिय ञउवीस खुद्रभवांतोमुहूर्तसस ॥”

यदा चैवमुहूर्तस्य मध्ये एतावन्ति जन्ममरणानि भवन्ति तदैकस्मिन्नुच्छ्वासेऽष्टादश जन्ममरणानि लभ्यन्ते । तत्रैकस्य क्षुद्रभवसंज्ञा । उत्कर्षेणानन्तकालोऽसंख्यातपुद्गलपरिवर्तनलक्षणो निरन्तरमेकेन्द्रियत्वेन मृत्वा मृत्वा पुनर्भवनात् । ततो विकलेन्द्रियः पञ्चेन्द्रियो वा भवति ।

[एकेन्द्रिय एक जीवके प्रति जघन्यकाल क्षुद्रभवग्रहण है । वह क्षुद्रभव किस प्रकार है यह कहते हैं—उक्त लक्षणवाले मुहूर्तमें एकेन्द्रिय होकर कोई जीव छियासठ हजार एक सौ बत्तीस जन्म मरणका अनुभव करता है । तथा वही जीव उसी मुहूर्तके भीतर दो इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होकर यथाक्रमसे अस्सी, साठ, चालीस और चौबीस जन्म मरणोंको अपने द्वारा किये गये कर्मबन्धकी विचित्रतासे अनुभव करता है । ये सभी क्षुद्रभव मिलकर छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस होते हैं । कहा है—‘छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस जन्ममरण होते हैं । एक अन्तर्मुहूर्तमें उतने ही क्षुद्रभव होते हैं । इसी अन्तर्मुहूर्तमें विकलेन्द्रियके अस्सी, साठ और चालीस तथा पञ्चेन्द्रियके चौबीस क्षुद्रभव जानना चाहिए ।’

जब एक मुहूर्तके भीतर (अन्तर्मुहूर्तमें) इतने जन्म-मरण होते हैं तब एक उच्छ्वासमें 18 जन्ममरण प्राप्त होते हैं । उनमेंसे एककी संज्ञा क्षुद्रभव है । उत्कर्षसे अनन्तकाल है जो असंख्यात पुद्गल परावर्त

रूप है। इस कालमें निरन्तर एकेन्द्रिय रूपसे भर-
भरकर पुनः जन्म लेते रहते हैं। उसके बाद विकले-
न्द्रिय या पंचेन्द्रिय होते हैं।]

§. 95

42.11 पञ्चेन्द्रियमिध्यादृष्ट्येकजीवं प्रति उत्कर्षेण
सागरोपमसहस्र (—स्र) पूर्वकोटीपृथक्त्वैः षण्णवति
पूर्वकोटिभिरभ्यधिकम्। तथाहि—नपुंसकस्त्रीपुंवेदे
संज्ञित्वेनाष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोट्यायुषोत्पद्यते।
तथासंज्ञित्वेन चावान्तरेऽन्तर्मुहूर्तमध्ये पञ्चेन्द्रियक्षुद्र-
भवेनाष्टौ। पुनरपि नपुंसकस्त्रीपुंवेदे संज्ञित्वासंज्ञि-
त्वाभ्यामष्टचत्वारिंशत्पूर्वकोटयो योजनीयाः। एवं
त्रसकायेऽपि पूर्वकोटिपृथक्त्वैः षण्णवतिपूर्वकोटिभि-
रभ्यधिकत्वं द्रष्टव्यम्।

[पंचेन्द्रियमें मिथ्यादृष्टि एक जीवकी अपेक्षा
उत्कर्षसे पूर्वकोटिपृथक्त्व अर्थात् छियानवे पूर्व-
कोटियोंसे अधिक एक हजार सागर काल होता है।
उसका खुलासा इस प्रकार है—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद
और पुरुषवेदमें संज्ञीरूपसे आठ-आठ बार एक पूर्व-
कोटिकी आयु लेकर उत्पन्न होता है। इसी तरह
असंज्ञीरूपसे उत्पन्न होता है। बीचमें अन्तर्मुहूर्तमें
आठ बार क्षुद्रभवधारी पंचेन्द्रिय होता है। पुनः
दूसरी बार नपुंसकवेद स्त्रीवेद और पुरुषवेदमें संज्ञी
और असंज्ञीके रूपमें अड़तालीस पूर्वकोटि लगा लेना
चाहिए। इसी तरह त्रसकायमें भी पूर्वकोटिपृथक्त्व
के साथ छियानवे पूर्वकोटि अधिक जानना चाहिए।]

§. 97

42.16 बाह्.मनसयोगिषु मिथ्यादृष्ट्यादीनां योग-
परावर्तगुणपरावर्तपेक्षया जघन्येनैकः समयः।
तथाहि—विवक्षितयोगयुक्तमिथ्यात्वादिगुणस्थानकाला-
न्त्यसमये बाह्.मनसान्यतरयोगसंक्रमणं योगपरावर्त-
स्तदपेक्षया गुणान्तरयुक्त्वाह्.मनसान्यतरयोगकाला-
न्त्यसमये मिथ्यात्वादिगुणसंक्रमो गुणपरावर्तस्तद-
पेक्षया वा। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तो योगकालं यावदित्यर्थः।
पश्चात्तेषां योगान्तरसंक्रमः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नाना-
जीवापेक्षया योगगुणपरावर्तमपेक्ष्य जघन्येनैकः

समयः। तथाहि—केषांचिद् गुणान्तरयुक्तवाह्.मन-
सान्यतरयोगकालान्त्यसमये यदा (यथा) सम्य-
ग्मिथ्यात्वसंक्रमणं तथैवान्येषां योगान्तरानुभूत-
सम्यग्मिथ्यात्वकालान्त्यसमये बाह्.मनसान्यतरयोग-
संक्रम इति क्षपकोपशमकानामप्येवमेकः समयो
द्रष्टव्यः, केषाणां सासादनादीनां मनोयोगिवत्। यथा
मनोयोगिनो योगगुणपरावर्तपेक्षेतराभ्यां जघन्यो-
त्कृष्टः कालस्तद्वत्तेषामपि।

[वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्यादृष्टि आदि-
का कालयोगपरिवर्तन और गुणस्थानपरिवर्तनकी
अपेक्षा जघन्यसे एक समय है जो इस प्रकार है—
विवक्षित योगसे युक्त मिथ्यात्व आदि गुणस्थानके
कालके अन्तिम समय में वचनयोग और मनोयोग में
से किसी एक योगका बदलना योगपरिवर्तन है
उसकी अपेक्षासे एक समय काल होता है। तथा
गुणस्थानान्तरसे युक्त वचनयोग और मनोयोगमेंसे
किसी एक योगके कालके अन्तिम समयमें मिथ्यात्व
आदि गुणस्थानका बदलना गुणस्थान परिवर्तन है
उसकी अपेक्षासे एक समय होता है। उत्कर्षसे अन्त-
र्मुहूर्तकाल है अर्थात् योगकाल पर्यन्त; क्योंकि वचन-
योग और मनोयोगका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।
उसके बाद योग बदल जाता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि-
का नानाजीवोंकी अपेक्षा योगपरिवर्तन और गुण-
स्थान परिवर्तनकी अपेक्षासे जघन्यसे एक समय है
जो इस प्रकार है—किन्हींके अन्यगुणस्थानसे युक्त
वचनयोग और मनोयोगमेंसे किसी एक योगके काल-
के अन्त समयमें जैसे सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थानमें
संक्रमण हो जाता है वैसे ही दूसरोंके योगान्तरसे
अनुभूत सम्यक् मिथ्यात्व गुणस्थानके कालके अन्त
समयमें वचनयोग और मनोयोगमें से कोई एक योग
बदल जाता है। क्षपक और उपशमकोंके भी इसी
प्रकार एक समय जानना चाहिए। शेष सासादन
आदिका काल मनोयोगीकी तरह जानना। अर्थात्
जैसे मनोयोगियों के योगपरिवर्तन और गुणस्थान
परिवर्तनकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल होता
है उसी प्रकार उनका भी जानना।]

1. उत्कर्षेण सागरोपमसहस्राणि पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकाणि। 136। षट्ख० पु० ४। 'उत्कर्षेण साग-
रोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकम्।'—सर्वार्थ० 118।

§. 98

43.8 एकजीवस्य मिथ्यात्वयुक्तस्त्रीवेदकालो जघन्ये नान्तर्मुहूर्तः । ततो गुणान्तरसंक्रमः । उत्कर्षेण-पल्योपमशतपृथक्त्वम् । तथाहि—स्त्रीवेदयुक्तो मिथ्यादृष्टिर्देवेषु आयुर्बध्नाति । ततस्तिर्गमनुष्येषु नारकसम्मूर्च्छनवर्जं तावद्यावत्पल्योपमशतपृथक्त्वं ततो वेदपरित्यागः । स्त्रीवेदासंयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीवं प्रति उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, गृहीत-सम्यक्त्वस्य स्त्रीवेदेनोत्पादाभावात् पर्याप्तः सम्यक्त्वं ग्रहीष्यतीति पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्तहीनत्वाद्देशोनानि । नपुंसकवेदासंयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण सप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तत्र च पर्याप्तः कियत्कालं विश्रम्य विशुद्धो भूत्वा सम्यक्त्वं गृह्णात्यन्ते त्यजति चेति देशोनानि ।

[एक जीवके मिथ्यात्वयुक्त स्त्रीवेदका काल जघन्य-से अन्तर्मुहूर्त है । उसके बाद गुणस्थान बदल जाता है । उत्कर्षसे सौ पल्योपमपृथक्त्व है जो इस प्रकार है—स्त्रीवेदसे युक्त मिथ्यादृष्टि देवगतिकी आयु का बन्ध करता है । वहाँसे तिर्यच और मनुष्योंमें उत्पन्न होता है । इस तरह नारक और सम्मूर्च्छनको छोड़कर सौ पल्योपमपृथक्त्व तक स्त्रीवेद सहित रहता है फिर वेद बदल जाता है । स्त्रीवेद सहित असंयत सम्यग्दृष्टि एक जीवका उत्कर्षसे पञ्चपन पल्य काल है । सम्यग्दृष्टि तो स्त्रीवेदके साथ उत्पन्न नहीं होता अतः स्त्रीवेदी जीव पर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्वको ग्रहण करता है इसलिए पर्याप्तिकी पूर्ति में लगने-वाला अन्तर्मुहूर्त कम कर देनेसे देशोन (कुछ कम पञ्चपन पल्य) होता है । नपुंसकवेदी असंयत सम्यग्दृष्टि एक जीव का उत्कर्षसे सातवें नरकमें तेतीस सागर काल है । क्योंकि वहाँ पर्याप्त होकर कुछ काल विश्राम करके विशुद्ध होकर सम्यक्त्वको ग्रहण करता है और अन्तमें छोड़ देता है इसलिए देशोन (कुछ कम) तेतीससागर होता है ।]

§. 99

44.5 चतुःकषायाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तां कषायगुणपरावर्तपेक्षया एकजीवं प्रति मनोयोगि-वज्जघन्येनैकः समयः, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः ।

[चारों कषायोंका मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तगुण-

स्थान पर्यन्त कषाय और गुणस्थान के बदल जानेकी अपेक्षासे एक जीव के मनोयोगी की तरह जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल है ।]

§. 100

44.8 विभङ्गज्ञानिमिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण नारकापेक्षया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । पर्याप्तश्च विभङ्गज्ञानं प्रतिपद्यत इति पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्त-हीनत्वाद्देशोनानि ।

[विभङ्गज्ञानी मिथ्यादृष्टि एक जीवके उत्कर्षसे नारकों की अपेक्षासे तेतीस सागर काल है । पर्याप्त जीव ही विभङ्गज्ञान को प्राप्त होता है इसलिए पर्याप्तिके समापक अन्तर्मुहूर्तके कम कर देनेसे देशोन लेना चाहिए ।]

§. 103

45.3 कृष्णनीलकापोतलेश्यामिमिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, तिर्यगमनुष्यापेक्षया तेषामेव लेश्या-परावर्तसंभवात् । सर्वत्र च लेश्यायुक्तस्यान्तर्मुहूर्तः तिर्यगमनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यः । उत्कर्षेण नारकापेक्षया यथासंख्यं सप्तमपञ्चम-तृतीयपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत् सप्तदशसप्तसारोपमाणि देवनारकाणामवस्थित-लेश्यत्वात् । ब्रजनिन्यमेन तल्लेश्यायुक्तो ब्रजति आग-च्छतो नियमो नास्तीति सातिरेकाणि । उक्तलेश्या-युक्तासंयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण नारका-पेक्षया उक्तान्येव सागरोपमाणि । पर्याप्तिसमाप-कान्तर्मुहूर्तं सप्तम्यां मारणान्तिके च सम्यक्त्वाभावा-द्देशोनानि । तेजः पक्षलेश्यामिमिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्य-ग्दृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण यथासंख्यं प्रथमद्वादश-स्वर्गापेक्षया द्वे सागरोपमे अष्टादश च । तद्युक्तानां मारणान्तिकोत्पादः संभवतीति सातिरेकाणि । शुक्ल-लेश्यामिमिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण एक-त्रिंशत्सारोपमाणि अग्रशैवेयकदेवापेक्षया तेषां मारणान्तिकोत्पादावस्थायांमपि शुक्ललेश्यासंभवात् सातिरेकाणि । संयतासंयतशुक्ललेश्यैकजीवं प्रति गुणलेश्यापरावर्तपेक्षेतराभ्यां जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः ।

[कृष्ण, नील या कापोतलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति जघन्यसे अन्तर्मुहूर्तकाल है क्योंकि तिर्यच और मनुष्यकी अपेक्षासे उनकी लेश्यामें परिवर्तन

सम्भव है। सर्वत्र लेश्यायुक्त जीवका अन्तर्मुहूर्तकाल तिर्यच और मनुष्यकी अपेक्षासे देखना चाहिए। उत्कर्षसे नारकोंकी अपेक्षा सातवीं, पाँचवीं और तीसरी पृथिवीमें क्रमसे तेतीस सागर, सतरह सागर और सात सागर काल होता है क्योंकि देवों और नारकोंकी लेश्या अवस्थित होती है। जब वे अपनी गतिमें जाते हैं तो नियमसे उसी लेश्याके साथ जाते हैं किन्तु वहाँसे आते हुए नियम नहीं है इसलिए कुछ अधिक उक्त काल होता है। उक्त लेश्याओंसे युक्त असंयत सम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे नारकों की अपेक्षासे उक्त तेतीस आदि सागर ही काल है। किन्तु पर्याप्ति समापक अन्तर्मुहूर्तमें और सातवीं पृथिवी में मारणान्तिक समुद्धातमें सम्यक्त्व नहीं होता इसलिए कुछ कम उक्त काल होता है। तेजो-लेश्या और परलेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्ष से क्रमानुसार प्रथम और बारहवें स्वर्गकी अपेक्षा दो सागरोपम और अठारह सागरोपमकाल है। उक्त अवस्था-विशिष्ट उन जीवों के मारणान्तिक और उत्पाद सम्भव है इसलिए कुछ अधिक उक्त काल लेना चाहिए। शुक्ललेश्यावाले मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे सबसे ऊपरवाले त्रैवेयकके देवोंकी अपेक्षा इकतीस सागर काल है। उनके मारणान्तिक और उत्पाद अवस्था में भी शुक्ललेश्या होती है अतः कुछ अधिक इकतीस सागर लेना चाहिए। शुक्ल-लेश्यावाले संयतासंयत-गुणस्थानवर्ती एक जीवके प्रति गुणस्थान और लेश्यापरिवर्तन की अपेक्षा जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त काल है।]

§. 107

47.1 आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। वक्रेण गतः। क्षुद्रभवेनोत्पन्नः पुनरपि वक्रेण गतः। उत्कर्षेणासंख्यातासंख्यातमाना-वच्छिन्नोत्सर्पिष्ववसर्पिणीलक्षणोऽगुल्यसंख्येयभागः। शश्वदश्चरुगतिमत्त्वात्। अनाहारकसासादनसम्यग्-दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षयोत्कर्षेणावलि-काया असंख्येयभागः। नन्वावलीकाया असंख्यात-समयमानलक्षणत्वात्तदसंख्येयभाग एकसमय एव

स्यात्। तदयुक्तं, बृहदसंख्यातसमयमानलक्षणत्वात्। आवलीकासंख्येयभागस्य चात्पासंख्यातसमयमान-लक्षणत्वादिति। सयोगकेवलिनाना नानाजीवापेक्षया जघन्येन त्रयः समयाः समसमये दण्डादिप्रारम्भ-कत्वात्। उत्कर्षेण संख्येयाः समयाः अजघन्योत्कृष्ट-संख्यातमानावच्छिन्नाः निरन्तरं विषमसमये दण्डादि-प्रारम्भकत्वात्। एकजीवं प्रति जघन्य उत्कृष्टश्च त्रयः समयाः प्रतरद्वयलोकपूरणलक्षणाः।

[आहारकोंमें मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त काल है, वक्रगतिसे जाकर क्षुद्रभवसे उत्पन्न हुआ और पुनः मरकर वक्रगतिसे गया (वक्रगतिमें अनाहारक रहा और मध्यमें आहारक)। उत्कर्षसे अंगुलके असंख्यातवें भाग है जो असंख्याता-संख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालप्रमाण है।

शंका—आवलीका प्रमाण असंख्यात समय है अतः उसका असंख्यातवाँ भाग एक समय ही होगा ?

उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि आवलीके समयों का प्रमाण बृहत् असंख्यात है और आवलीके असंख्यातवें भागके समयोंका प्रमाण अल्प असंख्यात है।

सयोगकेवलियोंका काल नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्यसे तीन समय है, क्योंकि समान समयमें दण्डा-दि समुद्धात का प्रारम्भ करते हैं। उत्कर्षसे संख्यात समय है जो मध्यमसंख्यात प्रमाण है, क्योंकि लगा-तार विभिन्न समयोंमें दण्डादिसमुद्धातका प्रारम्भ करते हैं। एक जीवकी अपेक्षा अनाहारकका जघन्य और उत्कृष्ट काल तीन समय है, विस्तार और संकोचरूप दो प्रतर और एक लोकपूरणसमुद्धात के समय।]

§. 108

47.9 अन्तरम्। मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रत्यन्तरमु-त्कर्षेण द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणाम्। तथाहि—वेदकसम्यक्त्वेन युक्त एकां षट्षष्टीं तिष्ठति तत्सम्य-क्त्वस्योत्कर्षेणैतावन्मात्रस्थितिकत्वात्। पुनरनन्तरे

1. आदावन्ते च वक्रगतिकालयोरनाहारकः। मध्येऽन्तर्मुहूर्त यावदाहारक इत्यर्थः।

अन्तर्मुहूर्तं यावत् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते । पुनरपरां षट्षष्टीं वेदकसम्यक्त्वेन तिष्ठति । अन्त्यसागरोपमावसानशेषे मिथ्यात्वं प्रतिपद्यत इति देशोने । सासादनैकजीवं प्रति जघन्येन पत्योपमासंख्येयभागः । अन्तर्मुहूर्तः कस्मान्नेति च न चोद्यम्, अन्तर्मुहूर्तमध्ये पुनः सासादनगुणग्रहणे योग्यतासंभवात् । परित्यक्तीपशमिकसम्यक्त्वो हि मिथ्यात्वप्राप्त्यन्तराले वर्तमानः सासादनोऽभिधीयते । तस्य च मिथ्यात्वं गतस्य पुनरौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणे योग्यता पत्योपमासंख्येयभागे सत्येव नावान्तरे तत्र वेदकग्रहणयोग्यताया एव संभवात् ।

[आगे अन्तरका कथन करते हैं । मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति अन्तरकाल उत्कर्षसे दो छियासठ सागर हैं जो इस प्रकार हैं—वेदकसम्यक्त्वसे युक्त जीव एक छियासठसागर तक रहता है क्योंकि वेदकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही है । उसके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तके लिए सम्यक्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त करता है । पुनः दूसरे छियासठ सागर तक वेदकसम्यक्त्वके साथ रहता है । अन्तिम सागरके अन्तमें कुछ काल शेष रहनेपर मिथ्यात्वमें चला जाता है । इस प्रकार देशोन दो छियासठ सागर अन्तरकाल होता है । सासादन एक जीवके प्रति अन्तरकाल जघन्यसे पत्योपमके असंख्यातवें भाग है ।

शंका—अन्तर्मुहूर्त अन्तरकाल क्यों नहीं है ?

उत्तर—ऐसा तर्क नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्तर्मुहूर्तकालके अन्दर पुनः सासादनगुणस्थान को ग्रहण करने की योग्यता सम्भव नहीं है । इसका कारण यह है कि जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्ति के बीचके समयमें रहता है उसे सासादन कहते हैं । उसके मिथ्यात्वमें चले जानेपर पुनः औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता पत्योपमके असंख्यातवें भाग काल बीतनेपर ही मानी है उससे पहले नहीं । उससे पहले वेदक सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता ही सम्भव है ।]

1. धवला पु० 5, पृ० ७ में प्रथम छियासठ सागरमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर ही सम्यक् मिथ्यात्वको प्राप्त कराया है ।—सं० । 2. धवला पु० 5, पृ० 32 में आदिके मुहूर्तपृथक्त्वसे अधिक दो मास और आयुके अवसानमें उपलब्ध दो अन्तर्मुहूर्तसे हीन तीन पत्योपम अन्तरकाल कहा है ।—सं० ।

§. 110

48.4 तिर्यग्मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमान्यन्तरम् । अधिकमपि कस्मान्नेति चेत्, वेदकयुक्तस्य तिर्यग्भूत्पादाभावात् तद्युक्तो हि देवेष्वेवोत्पद्यते । अतो मिथ्यात्वयुक्तस्त्रिपत्योपमायुष्को भोगभूमिषूत्पद्यते । तत्र चोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां किंचिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनेषु सम्यक्त्वग्रहणयोग्यता भवतीति नियमादेतावद्दिनेषु गतेषु मिथ्यात्वपरित्यागेन सम्यक्त्वं गृह्णातीति त्रिपत्योपमायुशेषे पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यत इति गर्भकालेन किंचिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनैरुपसानकालशेषेण च हीनत्वाद्देशोनानि ।

[तिर्यचमिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे तीन पत्योपम अन्तरकाल हैं ।

शंका—अधिक क्यों नहीं है ?

उत्तर—क्योंकि वेदक सम्यक्त्वसे युक्त जीव तिर्यचोमें उत्पन्न नहीं होता, देवोंमें ही उत्पन्न होता है । अतः तीन पत्यकी आयुका बन्ध करनेवाला मिथ्यादृष्टि भोगभूमिमें उत्पन्न होता है । भोगभूमिमें उत्पन्न हुए तिर्यच और मनुष्योंमें कुछ अधिक अड़तालीस दिन बीतने पर सम्यक्त्वग्रहणकी योग्यता आती है ऐसा नियम है । अतः इतने दिन बीतने पर वह मिथ्यात्वको त्याग कर सम्यक्त्वको ग्रहण करता है और तीन पत्यकी आयु में कुछ शेष रहने पर पुनः मिथ्यात्वको ग्रहण कर लेता है । इस तरह गर्भकाल से किंचित् अधिक अड़तालीस दिनों और अन्तिमकालसे हीन होनेसे देशोन¹ तीन पत्य अन्तरकाल होता है ।]

§. 111

49.6 मनुष्यगतौ सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टयः पूर्वकोटिपृथक्त्वकाले सति स्वस्वगुणं परित्यज्य भोगभूमावुत्पद्यन्ते । पश्चात् स्वगुणं गृह्णन्ति । एकमेव जीवं प्रति उत्कर्षेण त्रीणि पत्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिकानि भवन्ति ।

[मनुष्यगतिमें सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि जीव अपने-अपने गुणस्थानको छोड़कर पूर्वकोटिपृथक्त्वकाल होनेपर भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं। पीछे अपने गुणस्थान को ग्रहण करते हैं। इस तरह एक जीवके प्रति उत्कर्षसे पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम अन्तरकाल होता है।]

§. 112

50.5 देवगती मिथ्यादृष्टिरेकजीव प्रत्युत्कर्षेणैक-विशत्सागरोपमाणि । तथाहि—मिथ्यात्वयुक्तोऽग्र-श्रैवेयकेषूपपद्यते पश्चात् सम्यक्त्वमादायैकविशत्साग-रोपमाणि तिष्ठति । अवसानकालशेषे पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यतेऽन्यथा गत्यतिक्रमः स्यादिति देशोनानि । एवमसंयतसम्यग्दृष्टेरपि योजनीयम् ।

[देवगतिमें मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे इकतीस सागर अन्तरकाल है जो इस प्रकार है— एक द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि उपरिमग्नैवेयकमें उत्पन्न हुआ। पीछे सम्यक्त्वको ग्रहण करके इकतीस सागर तक रहा। अन्त समयमें पुनः मिथ्यादृष्टि हो गया। यदि ऐसा न हो तो गति बदल जायेगी। अतः देशोन इकतीस सागर होता है। इसी तरह असंयत सम्यग्दृष्टिका भी अन्तरकाल लगा लेना चाहिए।]

§. 113

50.9 एकेन्द्रियैकजीवस्योत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैः षण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिकेऽन्तरम् । अग्रे हीत्यं सर्वत्र सागरोपमसहस्रद्वयस्य पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकत्वं द्रष्टव्यम् । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां च गुणस्थानान्तरासंभादिन्द्रियेणान्तरम् । पञ्चेन्द्रियाणां तु तत्संभवान्मिथ्यात्वादेः सम्यक्त्वादिमास्तरं द्रष्टव्यम् ।

[एकेन्द्रिय एक जीवका अन्तर पूर्वकोटिपृथक्त्व छियातवे पूर्वकोटियोंसे अधिक दो हजार सागर है। आगे इस प्रकार सर्वत्र पूर्वकोटिपृथक्त्वसे अधिक दो हजार सागर जानना चाहिए। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोंके मिथ्यात्व गुणस्थानके अतिरिक्त अन्य गुणस्थान नहीं होता इसलिए इन्द्रियों की अपेक्षा अन्तर लगा लेना अर्थात् विकलेन्द्रिय जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होकर पुनः विकलेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो

और एकेन्द्रियजीव विकलेन्द्रियोंमें उत्पन्न होकर पुनः एकेन्द्रियमें उत्पन्न हो तो अन्तराल आता है। किन्तु पञ्चेन्द्रियोंमें तो गुणस्थान बदलना सम्भव है अतः मिथ्यात्व आदिका अन्तर सम्यक्त्व आदिके द्वारा लगा लेना चाहिए।]

§. 114

51.5 पृथिव्यादिकायिकानां वनस्पतिकायिकैरन्तर-मुत्कर्षेणासंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । तेषां तु नैरन्तर-मुत्कर्षेणासंख्येया लोकाः वनस्पतिकायिकेभ्योऽन्येषा-मल्पकालत्वात् ।

[पृथिवीकायिकोंका वनस्पतिकायिक जीवोंके द्वारा अन्तर उत्कर्षसे असंख्यात पुद्गलपरावर्त हैं और वनस्पतिकायिकोंका पृथिवीकायिक आदि के द्वारा अन्तर उत्कर्षसे असंख्यातलोक हैं क्योंकि वनस्पति-कायिकोंसे पृथिवीकायिक आदिका काल थोड़ा है।]

§. 115

52.3 कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिषड्-गुणस्थानानां नानैकजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एक-जीवापेक्षया कथं नास्तीति चेत् कायादियोगा-नामन्तर्मुहूर्तकालत्वात् कायादियोगे स्थितस्यात्मनो मिथ्यात्वादिगुणस्य गुणान्तरेणान्तरं पुनस्तत्प्राप्तिश्च संभवतीति । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्येकजीवा-पेक्षया तत एव नास्त्यन्तरम् ।

[काययोगी, वचनयोगी और मनोयोगियोंमें मिथ्या-दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और सयोगकेवलीका नानाजीवों और एकजीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है।]

शंका—एक जीवकी अपेक्षा अन्तर क्यों नहीं है ?

उत्तर—क्योंकि कायादियोगोंका अन्तर्मुहूर्त काल है इसलिए कायादि योगमें स्थित जीवके मिथ्यात्व आदि गुणस्थानका अन्य गुणस्थानसे अन्तर करके पुनः उसी गुणस्थानमें आना सम्भव नहीं है। सासादन सम्यग्दृष्टि आदिका भी एक जीवकी अपेक्षा इसीलिए अन्तर नहीं है।]

§. 117

53.6 पुंवेदे द्वयोः क्षपकयोरिति पृथग्वचनभुत्तरत्र

वेदाभावात् । नानाजीवापेक्षया उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः अष्टादशमासा इत्यर्थः ।

[पुरुषवेद में 'दो 'अपकोका' पृथक् कथन इसलिए किया है कि आगे वेदका अभाव हो जाता है। नाना जीवोंकी अपेक्षा उत्कर्ष से कुछ अधिक एक वर्ष अन्तर है। कुछ अधिक एक वर्षसे १८ मास लेना चाहिए।]

§. 118

53.13 अवेदेष्टूपशान्तकषायैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं सवेदत्वात् ।

[अपगत वेदियों में उपशान्तकषाय एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि उपशान्तकषायसे नीचेके गुणस्थान नीचे आदि में वेद पाया जाता है अर्थात् नीचे गिरनेपर अवेदरूपसे उपशान्तकषाय गुणस्थानको प्राप्त करना सम्भव नहीं है।]

§. 120

54.5 अज्ञानत्रययुक्तैकजीवेऽपि मिथ्यात्वस्यान्तरं नास्ति गुणान्तरेऽज्ञानत्रयव्यभिचारात् । सासादनैऽस्तीति चेन्न, तस्य सम्यक्त्वग्रहणपूर्वकत्वात् सम्यग्दृष्टेश्च मिथ्याज्ञानविरोधात् । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिष्वसंयतसम्यग्दृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण पूर्वकोटी देशविरतादिगुणस्थानेनान्तरमवसानकाले शेषे पुनरसंयतत्वं प्रतिपद्यत इति देशोना । संयतासंयतैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि, असंयतप्रमत्तादिगुणस्थानेनान्तरं पूर्वकोटिचतुष्टयाष्टवर्षैः सातिरेकाणि मनुजेषूपपन्नो हि अष्टवर्षानन्तरं संयतासंयतत्वं प्रतिपद्यत इति । मनःपर्ययज्ञानिष्वेकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । अधिकमपि कस्मान्नेति चेत् अधोगुणस्थानेषु वर्तमानानां मनःपर्ययासंभवात् । तेषु वर्तमानानां चाधिकमन्तरं संभवतीति । चतुर्णां

मुपशमकानामुत्कर्षेण पूर्वकोटी । उपशमश्रेणितो हि पतित्वास्ते मनःपर्ययज्ञानमपरित्यजन्तः प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थाने वर्तन्ते यावत्पूर्वकोटिकालशेषः पुनस्तदारोहणं कुर्वन्तीति देशोना ।

[कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभङ्गज्ञानसे युक्त एक जीवके प्रति मिथ्यात्वका अन्तर नहीं है क्योंकि अन्य गुणस्थानमें कुमति आदि तीनों ज्ञान नहीं होते ।

शंका—सासादन में जानेपर अन्तर पड़ सकता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि सासादन गुणस्थान सम्यक्त्व ग्रहण करनेके बाद होता है और सम्यग्दृष्टिके मिथ्याज्ञान नहीं होता । मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी अवधिज्ञानियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे देशविरत आदि गुणस्थानके द्वारा पूर्वकोटि अन्तर काल है । अर्थात् एक असंयतसम्यग्दृष्टि जीव संयमासंयमको प्राप्त हुआ । कुछ कम पूर्वकोटिकाल तक संयमासंयमका पालन करके अन्तमें असंयमी हो गया तो कुछ कम पूर्वकोटि अन्तर होता है । संयतासंयत एक जीवके प्रति उत्कर्षसे छियासठ सागर अन्तरकाल है । असंयत प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानके द्वारा अन्तर होने पर चार पूर्वकोटि और आठ वर्ष अधिक छियासठ सागर होता है क्योंकि मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ जीव आठ वर्षके अनन्तर संयतासंयतपने को प्राप्त करता है । मनःपर्ययज्ञानियों में एक जीवके प्रति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है ।

शंका—अधिक अन्तर क्यों नहीं होता ?

उत्तर—नीचे के गुणस्थानोंमें आनेपर ही अधिक अन्तर संभव है किन्तु उनमें मनःपर्ययज्ञान संभव नहीं है । मनःपर्ययज्ञानी चारों उपशमकोंका उत्कृष्ट अन्तर पूर्वकोटि है क्योंकि उपशमश्रेणीसे गिरकर मनःपर्ययज्ञानको अपनाये हुए प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें

1. धवलामें लिखा है—पूर्वकोटिकाल प्रमाण संयमासंयमको पालकर मरा और देव हुआ । पु० 5, पृ० 113 ।
2. धवला में लिखा है—एक जीव मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ । आठ वर्षका होकर एक साथ संयमासंयम और वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त हुआ । पुनः अन्तर्मुहूर्तमें संयमको प्राप्त करके अन्तरको प्राप्त हुआ । संयमके साथ पूर्वकोटि काल बिताकर तृतीस सागरकी आयुके साथ देव हुआ । वहाँसे च्युत होकर पूर्वकोटि आयुके साथ मनुष्य हुआ । पुनः मरकर तृतीस सागरकी आयु लेकर देव हुआ । वहाँ से च्युत हो पुनः पूर्वकोटि आयु लेकर मनुष्य हुआ । वहाँ दीर्घकाल तक रहकर संयमासंयमको प्राप्त हुआ । इस तरह आठ वर्ष कुछ अन्तर्मुहूर्त कम तीन पूर्वकोटि अधिक 66 सागर अन्तर होता है ।—पु० 5, पृ० 116 ।

(कुछ कम) पूर्वकोटि काल तक रहता है पुनः उपशम-श्रेणिपर आरोहण करता है । इस तरह देशान् पूर्व-कोटि अन्तर होता है ।]

§. 121

55.5 सामायिकछेदोपस्थापनशुद्धिसंयतेषु द्वयोः उपशमकयोरेकजीवं प्रत्युत्कर्षेण पूर्वकोटी अष्टवर्षान्तरं तपो गृहीत्वोपशमश्रेणिमारुह्य पतितः प्रमत्ताप्रमत्तयोः पूर्वकोटिकालशेषं यावद् वतित्वा पुनस्तदारोहणं करोतीति देशोना । सूक्ष्मसांपरायसंयमे उपशमकस्यैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं गुणान्तरे तत्संयमाभावात् । असंयमेषु मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रत्युत्कर्षेण नरके सप्तमपृथिव्यापुत्पद्यतेऽन्तर्मुहूर्तं गते सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते मुहूर्तशेषे त्यजतीति देशोनानि ।

[सामयिक छेदोपस्थापना संयमियों में दो उपशमकों का एक जीवके प्रति उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटि अन्तर है क्योंकि पूर्वकोटिकी आयुवाला मनुष्य आठ-वर्षके पश्चात् संयमको ग्रहण करके उपशम श्रेणिपर आरोहण करके गिरा और प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानोंमें पूर्वकोटिकालके शेष होने तक रहकर पुनः उपशम-श्रेणिपर आरोहण करता है इस तरह देशोन होता है । सूक्ष्मसाम्पराय संयममें एक जीवके प्रति उपशमकका अन्तर नहीं है क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय संयम दसवें गुणस्थानमें ही होता है । असंयमियोंमें मिथ्या-दृष्टि एक जीवके प्रति उत्कर्षसे कुछ कम तेतीससागर अन्तर है क्योंकि एक मिथ्यादृष्टि जीव सातवीं पृथिवीमें उत्पन्न होता है । अन्तर्मुहूर्त बीतनेपर सम्यक्त्व को ग्रहण करता है । अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहनेपर सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वमें आ जाता है । इस प्रकार देशोन तेतीससागर अन्तर होता है ।]

§. 124

57.1 तेजःपद्मलेश्यसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामेकजीवापेक्षयापि नास्त्यन्तरमन्तर्मुहूर्तं परावर्तमानलेश्यत्वात् ।

[तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावाले संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, और अप्रमत्तसंयतोंका एक जीवकी अपेक्षासे भी अन्तर नहीं है क्योंकि अन्तर्मुहूर्तमें लेश्या बदल जाती है (और लेश्याके कालसे गुणस्थानका काल

बहुत है ।]

§. 125

57. 10 शुक्ललेश्येष्वप्रमत्तादीनामुपशमश्रेण्यारोहणाभिमुख्यारोहणसद्भावाभ्यां लेश्यान्तरपरावर्तभावादेकजीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टं चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य पतितस्य प्रमत्ते लेश्यान्तरं संस्पृश्य श्रेण्यारोहणादेकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् ।

[शुक्ललेश्या में अप्रमत्तसंयत आदिका एक जीवके प्रति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि शुक्ललेश्यावाला कोई एक अप्रमत्तसंयत उपशम श्रेणिपर चढ़कर अन्तरको प्राप्त हुआ और सर्वजघन्य-कालमें लौटकर अप्रमत्त संयत हुआ । इसी प्रकार उत्कृष्ट अन्तर भी होता है, इस कालमें लेश्या परिवर्तन नहीं होता । शुक्ललेश्यावाले उपशान्त कषायका जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि उपशान्त-कषायसे गिरकर छठे गुणस्थानमें लेश्या परिवर्तन होकर ही श्रेणिपर आरोहण होता है ।]

§. 129

58. 10 औपशमिकासंयतसम्यग्दृष्टीनां सान्तरत्वान्नाजीवापेक्षया सप्तरात्रिदिनानि । औपशमिकसम्यक्त्वं हि यदि कश्चिदपि न गृह्णति तदा सप्तरात्रिदिनान्येव । संयतासंयतस्य चतुर्दश, प्रमत्ताप्रमत्तयोः पञ्चदश एकजीवं प्रति जघन्येन जघन्य उत्कर्षेण चोत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तः । तदुक्तम्—

सम्पत्ते सत्तदिना विरवाविरवेसु चोदसा ह्येति ।

विरवेसु य पण्णरसा विरहणकालो य बोधव्यो ॥

[प्रा० पं० सं० 205]

उपशान्तकषायैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं वेदकपूर्वकोपशमिकेन हि श्रेण्यारोहणभाग् भवति, तस्याः पतितो न तेनैव श्रेण्यारोहणं करोति, सम्यक्त्वान्तरं मिथ्यात्वं वा गत्वा पश्चात्तदादाय करोतीति । अतो नास्ति तस्यान्तरम् । सामान्यसम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्व-युक्तैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरं गुणे गुणान्तरविरोधतः सासादनादिगुणे स्थितस्य मिथ्यात्वादिनान्तरासम्भवात् ।

[औपशमिक असंयतसम्यग्दृष्टियोंके सान्तर होनेसे नाना जीवोंकी अपेक्षा सात रातदिन अन्तरकाल है ।

यदि कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण नहीं करता तो सात रातदिन तक ही ग्रहण नहीं करता। औपशमिक सम्यक्त्वके साथ संयतासंयतोंका अन्तरकाल चौदह दिन है और प्रभत्तसंयत तथा अप्रभत्तसंयतका पन्द्रह दिन है। एक जीवके प्रति जघन्य अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट अन्तरकाल उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। कहा है— औपशमिक सम्यक्त्वका अन्तरकाल सात दिन, औपशमिक सम्यक्त्वके साथ विरताविरतका अन्तरकाल चौदह दिन और विरतोंका अन्तरकाल पन्द्रह दिन जानना चाहिए।

उपशान्तकषाय का एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि वेदकसम्यक्त्वपूर्वक होनेवाले औपशमिक-सम्यक्त्वसे जीव उपशमश्रेणिपर आरोहण करता है। उससे गिरने पर पुनः उसी सम्यक्त्वसे श्रेणिपर आरोहण नहीं करता किन्तु अन्य सम्यक्त्वको ग्रहण करके या मिथ्यात्वमें जाकर पुनः सम्यक्त्वको ग्रहण करके तब श्रेणिपर आरोहण करता है। अतः उसका अन्तर नहीं है। सासादनसम्यक्त्व, सम्यक्मिथ्यात्व और मिथ्यात्वसे युक्त एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि एक गुणमें दूसरे गुणका विरोध होनेसे सासादन आदि गुणस्थानमें स्थित जीवका मिथ्यात्व आदि गुणस्थानसे अन्तर असम्भव है।]

§. 130

59. 13. असंश्लिनां नानैकजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् एक मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तित्वेन तेषां सासादिनान्तरा-संभवात्।

[असंश्लिनोंका नाना और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है क्योंकि असंश्लिनोंके केवल एक मिथ्यात्वगुणस्थान ही होता है अतः उनका सासादन आदि गुणस्थानोंसे अन्तर सम्भव नहीं है।]

§. 132

60.8 अनाहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरमनाहारकत्वस्यैक-द्वि-त्रिसमयत्वात् गुणस्थानस्य च ततो बहुकालत्वात् तत्र तस्य गुणान्तरेणान्तरासंभवादिति।

[अनाहारकोंमें मिथ्यादृष्टि एक जीवके प्रति अन्तर नहीं है क्योंकि अनाहारकपनेका काल एक, दो या

तीन समय है; उनके गुणस्थानका काल उससे बहुत है अतः वहाँ उसका अन्य गुणस्थानसे अन्तर असम्भव है।]

§. 133

61.1 भावः—मिथ्यादृष्टिरित्यौदयिको भावो मिथ्यात्वप्रकृतेरुदये प्रादुर्भावात्। सासादनसम्य-दृष्टिरिति पारिणामिको भावः। नन्वनन्तानुबन्धि-क्रोधाद्युदयेऽस्य प्रादुर्भावादौदयिकत्वं कस्मान्नोच्यत इति चेत्, अविवक्षितत्वात्। दर्शनमोहापेक्षया हि मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टये भावो निरूपयितुम-भिप्रेतोऽतः सासादने सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयलक्षण-स्य त्रिविधस्यापि दर्शनमोहस्योदय-क्षय-क्षयोपशमाभा-वात् पारिणामिकत्वम्। सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति क्षायो-पशमिको भावः। तनु सर्वघातिनामुदयाभावे देश-घातीनां चोदये य उत्पद्यते भावः स क्षायोपशमिकः। न च सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतेर्देशघातित्वं संभवति, सर्वघातित्वेनागमे तस्याः प्रतिपादितत्वादिति। तद-युक्तम्, उपचारतस्तस्या देशघातित्वस्यापि संभवात्। उपचारनिमित्तं च देशतः सम्यक्त्वस्य घातित्वं, न हि मिथ्यात्वप्रकृतिवत् सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृत्या सर्वस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्वरूपस्य (सम्यक्त्वस्वरूपस्य) घातः संभवति सर्वशोषदिष्टतत्त्वेषु रुच्यंशस्यापि संभवात्। तदुपदिष्टतत्त्वेषु रुच्यरुच्यात्मको हि परिणामः सम्यग्मिथ्यात्वमिति।

[अब भावका कथन करते हैं—मिथ्यादृष्टि यह औदयिक भाव है क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें होता है। सासादनसम्यदृष्टि यह पारिणामिक भाव है।

शंका—अनन्तानुबन्धि क्रोध आदि कषायके उदयमें सासादन गुणस्थान प्रकट होता है तो इसे औदयिक क्यों नहीं कहते?

उत्तर—उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। दर्शनमोहकी अपेक्षासे ही मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें भाव बतलाना इष्ट है अतः सासादनमें सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियोंका उदय, क्षय और क्षयोपशमका अभाव होनेसे पारिणामिक भाव कहा है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह क्षायोपशमिक भाव है।

शङ्का—सर्वघातिप्रकृतियों के उदयके अभावमें और देशघाती प्रकृतियोंके उदयमें जो भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृतिकी देशघातिपना तो संभव नहीं है क्योंकि आगममें उसे सर्वघाती कहा है ?

उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है, उपचारसे सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृतिकी देशघातिपना भी सम्भव है। उपचार का निमित्त है एक देशसे सम्यक्त्वका घाती होना। मिथ्यात्वप्रकृतिकी तरह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके द्वारा समस्त सम्यक्स्वरूप और मिथ्यास्वरूप-का घात सम्भव नहीं है। सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंमें रुचिका भी अंश रहता है। सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंमें रुचि और अरुचिरूप परिणामको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं।]

§. 148

63.11 अल्पबहुत्वम् । उपशमकानामितरगुणस्थान-वतिभ्योऽल्पत्वात् प्रथमतोऽभिधानम् । तत्रापि त्रय उपशमकाः सकषायत्वादुपशान्तकषायेभ्यो भेदेन निर्दिष्टाः । प्रवेशेन तुल्यसंख्याः सर्वेऽप्येते षोडशादि-संख्याः । त्रय क्षपकाः संख्येयगुणा उपशमकेभ्यो द्विगुणा इत्येवमादिसंख्या संख्याविचारे विचारितमिह द्रष्टव्यम् । सूक्ष्मसाम्परायणशुद्धिसंयता विशेषाधिकास्त-संयमयुक्तानामुपशमकानामिव क्षपकाणामपि ग्रह-णात् । संयतासंयतानां नास्त्यल्पबहुत्वमेकगुणस्थान-वतित्वात् संयतानामिव गुणस्थानभेदासंभवादिनि ।

[उपशमक उपशमश्रेणिपर आरोहण करनेवाले अन्य गुणस्थानवर्ती जीवोंसे अल्प होते हैं इसलिए उनका प्रथम कथन किया है। उनमें भी तीन उपशमकोंको कषायसहित होनेके कारण उपशान्तकषायोंसे भिन्न निर्दिष्ट किया है। प्रवेशकी अपेक्षा इन सभीकी संख्या सोलह आदि समान है। तीन क्षपक संख्यातगुने हैं, उपशमकोंसे दूने हैं इत्यादि संख्याका संख्याविचारमें विचार किया है उसे ही यहाँ देख लेना चाहिए। सूक्ष्मसाम्पराय संयमवाले विशेष हैं क्योंकि सूक्ष्म-साम्पराय संयम से युक्त उपशमकोंकी तरह क्षपकोंको भी ग्रहण किया है। संयतासंयतोंमें अल्पबहुत्व नहीं है क्योंकि उनके एक ही गुणस्थान होता है, संयतोंकी तरह उनमें गुणस्थानभेद नहीं है।]

§. 164

मति.....॥१॥

67.13 अवाग्धानात् अग्रस्ताद् बहुतरविषयग्रहणात् । अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा रूपलक्षणविविक्तविषय-त्वाद्वा ।

68.2 स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते यथा परमनस्थितमर्थ मनसा परिविद्यत (परिच्छिद्यत) इति ।

68.3 यदर्थं केवन्ते सेवां कुर्वन्ति । कस्येति चेत्, केवलस्यैव संपन्नतत्प्राप्तिपरिज्ञाततदुपायस्याहंदा-देवा ।

68.6 सुगमत्वात् सुखप्राप्त्यत्वात् ।

68.7 मतिश्रुतपद्धतिः—मतिश्रुतानुपरिपाटी । तस्या वचनेन श्रुतायाः सकृत्स्वरूपसंवेदनमात्रत्वं परिचि-तत्वम् । अशेषविशेषतः पुनश्चेतसि तत्स्वरूपपरि-भावनमनुभूतत्वम् ।

बहुबहुविध॥१६॥

§. 195

81.5 अपरेषां निसृत इति पाठः । तत्र द्विः सकार-निर्देशस्यायमर्थो मयूरस्य कुररस्य चेति स्वतः परेषां देशमन्तरेणैव कश्चित् प्रतिपद्यते । येषां तु निसृत इति पाठस्तेषां 'अपरः' प्रतिपत्ती स्वरूपमेव शब्दमेवाश्रित्य विशेषरूपतयानवधार्य प्रतिपद्यत इति व्याख्या ।

§. 200

व्यञ्जनस्य॥१८॥

83.1 व्यञ्जनं शब्दादिजातं शब्दादिसंघातः ।

83.3 अन्तरेणैवकारं—एवकारं विना ।

§. 202

न चक्षुः.....॥१९॥

84.2 अविदिकं—यन्मुखदिशम् ।

§. 206

श्रुतं मतिपूर्वं.....॥20॥

85.4 उपादाय—आश्रित्य ।

85.5 पर्यवदाते क्षेमे ।

§. 207

86.2 द्रव्यादिसामान्यार्पणात्—द्रव्यक्षेकालभावाप-
णात् ।86.3 उत्प्रेक्षितं—कृतम् । तेषामेव—द्रव्यादी-
नामेव ।

§. 208

86.8 सम्यक्त्वस्य—समीचीनत्वस्य । ज्ञाने तद-
पेक्षत्वात्-सम्यक्त्वापेक्षत्वात् । तदुक्तम्—‘कारणकञ्जविहाणं दीपपयासाण जुगवज्जम्मे वि ।
जुगवुप्पण्णं पि तहा हेऊ णाणस्स सम्मत्तं ॥’

§. 209

86.11 आहितो धृतः स्थापितो वा । कृतसंगीतिः—
कृतसंकेतः । घट इत्युक्ते घकार-टकार-विसर्ज-
नीयात्मकं शब्दं मतिज्ञानेन प्रतिष्ठते । ततो घट-
शब्दात् घटाद्यर्थं श्रुतज्ञानेन तस्मादपि घटार्थाज्जल-
धारणादिकार्यम् । तथा चक्षुरादिविषयाद्धूमादेः ।
तत्रापि धूमदर्शनं मतिज्ञानं तस्मादग्निविषयं ज्ञानं
श्रुतज्ञानम् । तस्मादपि दाहादिकार्यज्ञानं श्रुतमिति ।

§. 211

87.11 आरातीयोऽन्तरः ।

§. 212

88.3 व्याक्रियतां—व्युत्पाद्यताम् ।

§. 213

भवप्रत्यय.....॥22॥

89.7 प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिराममतः । तथाहि, देवानां
तावत्—सक्कीसाणा पढमं दोव्वं³ च सणक्कुमारमाहिंवा ।
बह्मालांतव तइयं सुक्कसहस्साराया चउत्थीओ ॥
यंचम भाणदपाणव छट्ठीओ आरणाच्चुदाय पस्संति ।
णवगेवेज्जा सत्तम⁸ माणुत्तरा सव्वलोयं तु ॥
तथा नारकाणां—

रयणप्पहाए जोयणमेमं ओहिंविसओ मुणेयव्वो ।

पुढवीवो पुढवीवो गाउदयइ⁴ परिहरेज्जा ॥[अवधिज्ञानकी हीनाधिकता आगमसे जाननी चाहिए ।
जो इस प्रकार है—देवोंमें सौधर्म-ऐशान स्वर्गके देव
पहली पृथिवीपर्यन्त, सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्गके देव
दूसरी पृथिवीपर्यन्त, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर लान्तव-कापिष्ठ
स्वर्गके देव तीसरी पृथिवीपर्यन्त, शुक्र-महाशुक्र,
शतार-सहस्रार स्वर्गके देव चतुर्थ पृथिवीपर्यन्त,
आनत - प्राणत स्वर्गके देव पांचवी पृथिवीपर्यन्त,
आरण-अच्युत स्वर्गके देव छठी पृथिवीपर्यन्त, नवग्रंवे-
यकोंके देव सातवीं पृथिवीपर्यन्त और अनुदिश-अनु-
त्तरवासी सर्वलोककी जानते हैं । तथा नारकोंमें
रत्नप्रभा पृथिवीमें एक योजन क्षेत्र अवधिज्ञानका
विषय है । आगे प्रत्येक पृथिवीमें आधा-आधा कोस
कम करते जाना चाहिए ।

§. 215

क्षयोपशमनिमित्तः.....॥22॥

90.2 देशघातिस्पर्शकानां किं पुनः स्पर्शकम् इति
चेत्, कर्मपुद्गल-शक्तिनां क्रमवृद्धिः क्रमहानिश्च
स्पर्शकम् । शान्तः—उपशान्तः । उन्मुग्धेत्यादि,
उन्मुग्धस्य विवेकपराङ्मुखस्य, प्रश्ने सति आदेशि-
पुरुषवचनं यथा तत्रैवातिपतति नाभिहितेऽर्थे तेनाग्रे
प्रत्ययते । लिङ्गवत्—लाञ्छनवत् ।

रूपि.....॥27॥

1. कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि । दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥
—पुरुषार्थं, 34 । 2. विधियं....—मूलाचार 1148 । 3. ...सत्तमि अणुविस अणुत्तराय लीगं तु ॥
—मूलाचार 1149 । 4. गाऊ अदइ परिहाणी ॥—मूलाचार, 1152 ।

न च पुद्गलद्रव्यसंबन्धजीवानां रूपित्वाभिधाने प्रवचनविरोधः । तत्रापि तेषां तथाभिधानात् । उक्तञ्च—

“बन्धं पट्टि एयत्तं लवक्षणदो हववि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो नेयंतो हववि जीवाणं ॥”
नैगम ॥३३॥

वस्तुनि—जीवादी । अनेकात्मन्यनेकरूपे । अविरोधेन-प्रतीत्यनतिक्रमेण हेत्वर्पणात्—द्रव्यपर्यायार्पणात् । साध्यविशेषस्य-नित्यत्वादेः । याथात्म्यप्रापणप्रवण-प्रयोगो यथावस्थितस्वरूपेण प्रदर्शनसमर्थव्यापारो नयो वस्त्वेक-देशग्राही ज्ञातुरभिप्रायः । उक्तं च—

“अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तवंशधीः ।
स्यान्नयोऽर्थान्तरापेक्षो बुन्यस्तन्निराकृतेः ॥”

अमभिनिवृत्तार्थः—अनिष्पन्नार्थः ।

उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वात् । नैगमात् खलु संग्रहोऽ-ल्पविषयः, सन्मात्रग्राहित्वात्, नैगमस्तु भावाभाव-विषयत्वाद् बहुविषयः । यथैव हि भावे संकल्पस्था-भावेऽपि । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । अर्थमात्रः—प्रयोजनलेशः ।

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

औपशमिकक्षाधिकौ ॥३३॥

§. 253

107.10 औपशमिकमादौ लभ्यते । तदुक्तम्—
‘षष्ठमप्यष्टमं णियवं पठमं विदियं च सखकालेसु ।
साइयसम्मत्तं पुण जत्थ जिणा केवलीकाले ।’
द्रव्यतः जीवतः । संसारिक्षाधिकसम्यग्दृष्टिजीवानां तत औपशमिकसम्यग्दृष्टिजीवेभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् ।

संसारिणः ॥३३॥

§. 275

119.3 नोकर्मपरिवर्तनम्—औदारिकवैक्रियिका-हारकलक्षणानां त्रयाणां शरीराणामाहारशरीरेन्द्रियानप्राणभाषामनोलक्षणषट्पर्याप्तीनां च योग्या ये पुद्गला एकजीवेन एकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्धादिस्वरूपैस्तीव्रमन्दं मध्यभावेन चेति । तेषां फलदानसामर्थ्यस्वरूपनिरूपणम् । तेषामल्पकाल-त्वात् । द्वितीयादिसमयेषु यथावस्थितास्तीव्रादिभावेन स्थिता निर्जोषाः फलमनुभूय त्यक्ताः । पश्चाद्ये कदा-चनापि । शरीरत्रयादिरूपतया न गृहीतास्तत्तेषां गृहीतान् गृहीत्वा त्यजत्यवसान्तरे स पूर्वान् मिश्रकाश्च गृहीतानपरिगणय्य यावत्तेषामेवानन्तवारत्वरत्वं पश्चादेकवारं मध्ये मिश्रकान् स्वगृहीतानादाय त्यजति । पुनरप्यगृहीतानेवानन्तवारानादाय त्यजति । पुनरप्येकवारं मिश्रकानेव तावद्यावन्मिश्रकाणामप्यनन्त-वारत्वं पश्चाद् गृहीतानेवैकवारमादाय त्यजति । अनेनोक्तविधिनाऽऽरगतभ्रमणम्यानेन मिश्रकाननन्त-वारान् गृहीत्वा गृहीतानेवादाय त्यजति । यावत्तेषा-मप्यनन्तवारत्वं पश्चात् एव ये प्रथमतो गृहीतास्तेनैव स्निग्धादितीव्रादिप्रकारेण तस्यैव नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत् समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते । तदे-वाहितमर्धपुद्गलावर्तं इति । कर्मद्रव्यपरिवर्तनं संसार-योग्यं बहुस्थितिकं कर्म बध्नाति । तस्यापक्वपाचन-लक्षणेदीरणापेक्षया समयाधिकामावलिकामतीत्ये-त्युक्तम् । पूर्ववत् प्रक्रिया द्रष्टव्या ।

§. 276

119.13 क्षेत्रपरिवर्तनम् । अनन्तमानावच्छिन्नवन-स्पतिकायाः साधारणशरीराहारोच्छ्वासनिःश्वास-मरणोत्पादा निगोताः । जघन्यावगाहप्रतिपादनार्थं सूक्ष्म-अपर्याप्तकविशेषणम् । तेषामपि परस्परतः तरतमभावसद्भावात् सर्वजघन्यप्रदेशशरीरत्वविशे-षणम् । स इत्थंभूतो जीवो मेरोरधोभागे गोस्त-नाकाराष्टलोकमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः । सर्वजघन्यप्रदेशशरीरस्याष्टप्रदेशव्या-पित्वं विरुद्धमिति चेत् न, तच्छरीरस्यासंख्याताकाश-प्रदेशावगाहत्वात् । क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः स

1. सर्वार्थसिद्धिमे उद्धृत । 2. अकलंकदेवकृत अष्टशतीमे उद्धृत, अष्टस०, पृ० 290 ।

एव पुनस्तेनैव सर्वजघन्यशरीराष्टलोकमध्यप्रदेशा-
वगाहेन द्विस्त्वन्नो निरन्तरम् । अन्यत्रोत्पद्य वा तत्रै-
वाधिकावगाहेन वा उत्पद्यमानं न गणयित्वा तथा
त्रिस्तथा चतुरिति एवं यावतो विस्तारोत्सेधावगाहतः
समचतुरस्रोत्सेधागुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाश -
प्रदेशास्तावतो वारान् तत्रैवोत्पद्य पुनर्व्याप्तक्षेत्रापरि-
त्यागेनाभिनवैकैकप्रदेशादिकावगाहेनैव सर्वलोक-
व्याप्तिः । नन्वेवं लोकपरिमाणं तत् शरीरं स्यादिति
चेत् न, पूर्वपूर्वव्याप्ताकाशप्रदेशपरित्यागेन तद्
व्याप्यभ्युपगमात् ।

§. 277

120.5 कालपरिवर्तनम् । प्रथमद्वितीयाद्युत्सर्पि-
णीनां क्रमेण प्रथमद्वितीयादिसमयेषुत्पद्यते यावद्दश-
सागरोपमकोटीकोटिपरिमाणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता
भवति । तथा तत्परिमाणवत्सर्पिणी च । एवं मरण-
निरन्तर्यमपि ज्ञेयम् । क्रमातिक्रमेणोत्पन्नस्योत्पत्तिमरणे
न परिगण्येते ।

§. 279

121.6 भावपरिवर्तनम् । ज्ञानावरणप्रकृतेराद्यत्वा-
त्तामधिकृत्योच्यते । पञ्चेन्द्रियादिविशेषेण विशिष्टो
मिथ्यादृष्टिरेवैकविधां सर्वजघन्यां स्थितिं बध्नातीति
तस्य सा स्वयोग्येत्युच्यते । सागरोपमैककोट्या उपरि-
कोटीकोट्या मध्यमन्तःकोटीकोटीत्युच्यते । कषाया-
ध्यवसायस्थानानि असंख्यातलोकमानावच्छिन्नानि
षट्स्थानानि अनन्तभागवृद्धयसंख्यातभागवृद्धि-संख्या-
तभागवृद्धि-संख्यातगुणवृद्धयसंख्यातगुणवृद्धयन्तगुण-
वृद्धिरूपाणि तेषु पतितानि तद्वृद्धय वृद्धि गतानि ।
अनेन तेषां न्यूनाधिकत्वं सूचितम् । तानीत्यभूतानि
कषायाध्यवसायस्थानानि तस्य मिथ्यादृष्टिजीवस्य
तत्स्थितिं बध्नतो योग्यानि भवन्ति । तेषां मध्ये सर्व-
जघन्यकषायाध्यवसायस्थानमुक्तस्मितियोग्यकषा -
याध्यवसायस्थानेभ्योऽतिशयेन मन्दकषायाध्यवसाय-
स्थानं जघन्यत्वमुत्कृष्टं च स्वरूपं तेषां स्थितिकार्यं
प्रति सर्वेषां विशेषाभावात् । तथाविधां स्थितिं
कुर्वन्तदेव कषायाध्यवसायस्थानं कर्मणां फलदानसा-
मर्थ्यलक्षणानुभवान्नाना करोतीति तन्निमित्तानीत्यु-
च्यते । 'जोगा पयडिपदेसा द्विदिअणुभागा कसायदो

कुणदि' इत्यभिधानात् । अतस्तदेव जघन्यनाना-
शक्तिविशेषैर्युक्तमनुभवाध्यवसायस्थानान्यसंख्येय -
लोकप्रमितानि विदधते । सर्वजघन्यमेतत्त्रितयमेव-
मास्कन्दतः कर्तृत्वेन व्रजतस्तद्योग्यं तदनुकूलं सर्व-
जघन्ययोगस्थानं भवति । योगादीनां च अन्तर्मुहूर्त-
कालत्वाद्योगान्तरं कषायान्तरं च प्रतिपद्य कदाचित्
कालविशेषे प्रथमसर्वजघन्ययोगस्थानात्तेषामेव सर्व-
जघन्यस्थित्यादीनां सम्बन्धि द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धि-
युक्तं योगस्थानं भवति । एवं चतुःस्थानपतितानि ।
अनन्तभागानन्तगुणवृद्धिहीनेतरचतुःस्थानवृद्ध्या वृद्धि
नीतानि तावद् भवन्ति यावच्छ्रेण्यसंख्येयभागप्रमि-
तानि । एवं सर्वजघन्यानुभवाध्यवसायस्थाने श्रेण्य-
संख्येयभागपरिमितेषु योगस्थानेषु सत्सु सर्वजघन्य-
स्थिति-कषायाध्यवसायस्थानयुक्तस्यैव द्वितीयमनु-
भवाध्यवसायस्थानं भवति । तस्यापि योगस्थानानि
चतुःस्थानपतितानि । तानि श्रेण्यसंख्येयभाग परिमि-
तानि पूर्ववद् वेदितव्यानि । एवं तृतीयाद्यनुभवस्थानेषु
आ असंख्येयलोकपरिसमाप्तेरयं क्रमो वेदितव्यः । एवं
तामेव सर्वजघन्यां स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषा-
याध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभवाध्यवसा-
यस्थानानि असंख्यातलोकपरिमितानि प्रत्येकं चतुः-
स्थानपतितश्रेण्यसंख्येयभागपरिमितयोगस्थानयुक्तानि
पूर्ववद् वेदितव्यानि । उक्तसर्वजघन्यस्थितेरैकैक-
समयाधिकक्रमेण वृद्धि गच्छन्त्यादित्रिशत्सागरोपम-
कोटीकोटीपरिमितोत्कृष्टस्थितिः यावत् कषायानु-
भवयोगस्थानानि प्रत्येकमुदाहृतक्रमेण वेदितव्यानि ।

§. 284

संसारिणस्त्वस.....॥12॥

124.5 अभ्यहितत्वात् पूज्यत्वात् ।

§. 285

124.7 विभज्यानुपूर्वी उत्लंघ्यानुपूर्वी ।

§. 286

124.10 पृथिव्यादीनामार्धे चातुर्विध्यमुक्तम् ।
तथाहि—

पृथ्वी पृथ्वीकाओ पृथ्वीकाया य पृथ्विजीवा य ।
साहारणोपमुक्को सरीरणहिदो भबन्तरिदो ॥

पञ्चेन्द्रियाणि.....॥१५॥

126.4 कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाद-पाणि-पायूपस्थान-
लक्षणानाम् ।

§. 294

निर्वृत्ति.....॥१६॥

127.5 उत्तेष्ठांगुलपरिभाषानिष्पन्नं यस्यैकस्मिन्
प्रमाणंगुले पञ्चशतानि भवन्ति ।

§. 316

विग्रहवती.....॥२८॥

135.2 सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कृष्टक्षेत्रे सर्वो-
त्कृष्टविग्रहस्त्रिधक्ता, तस्य निमित्तं यन्निष्कृष्टक्षेत्रं
वक्त्रक्षेत्रम् ।

§. 320

एकं द्वौ.....॥३०॥

135.13 यथेच्छातिसर्गः यथेष्टप्रवृत्तिः ।

§. 322

संमूर्च्छ.....॥३१॥

136.6 उपेत्य—गत्वा पद्यते—उत्पद्यते ।

§. 324

सचित्त.....॥३२॥

138.3 तद्भेदाश्चतुरशीतिसहस्रसंख्या । तथाहि
—नित्ये रतिगोतस्य पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां च
प्रत्येकं सप्त सप्त योनिलक्षाणि । वनस्पतिकायिका-
नां दश । द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वे द्वे । सुरना-
रकतिरञ्चां प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि । मनुष्याणां
चतुर्दंशेति ॥ तदुक्तम्—

‘णिष्चिरधावु सत्तय तरु दस विर्यालिदिएसु छच्चेव ।
सुर-गिरय-तिरिय चउरो चोहस मणुए सदसहस्ता ॥’

[धारसअणु० गा० ३५]

औदारिक.....॥३६॥

§. 331

139.12 अष्टगुणैश्वर्ययोगात् अणिमा - महिमा-
लघिमा-प्राकाश्य-प्राप्तीशित्व-वशित्व-कामरूपित्वलक्ष-
णात् ।

प्रदेशतो.....॥३८॥

§. 335

140.12 को गुणाकारः । पत्योपचासंख्येयभागः ।
तथाहि—औदारिकात् पत्योपमासंख्येयभागाधिकं
वैक्रियिकं तस्मादप्याहारकम् ।

अनन्तगुणे.....॥३९॥

§. 337

141.3 को गुणाकारोऽभव्यातन्तगुणः सिद्धान्त-
भागः । अत्रोभयोरेकार्यत्वं यदेव ह्यभव्यानामनन्त-
गुणत्वं तदेव सिद्धानामनन्तभागत्वमिति । अनेका-
जघन्योत्कृष्टं चानन्तमानमत्र द्रष्टव्यम् ।

निरुपभोगः.....॥४४॥

§. 347

143.3 इन्द्रियप्रणालिकया इन्द्रियद्वारेण ।
इन्द्रियलब्धो-इन्द्रियशक्ती ।

शुभं.....॥४९॥

§. 357

145.9 प्रत्याम्नायः पुरभिधानम् ।

§. 365

148.1 चरमदेहस्योत्तमविशेषणास्तीर्थकरदेहो गृह्यते ।
ततोऽप्येषां चरमदेहानामपि गुरुदत्तपाण्डवा-
दीनामगत्यादिना मरणदर्शनात् । उक्तेश्चोऽप्येषां
विषादिनापवर्त्यमायुः उक्तं च—

‘विसवेयणरत्तकलय-भय सत्थगहणसंक्लिसेत्तोह ।

आहारुत्सासाण गिरोहो छिज्जए आऊ ।’

—[गो० कर्म० गा० ५७]

[चरम शरीरके साथ उत्तम विशेषण लगाने से
तीर्थकरका शरीर ग्रहण किया जाता है क्योंकि
चरमशरीरी भी गुरुदत्त, पाण्डवों आदिका ब्रह्म
आदिसे मरण देखा गया है । इनसे जो अतिरिक्त

होते हैं उनकी आयुका विषादिके द्वारा घात होता है । कहा है—विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, संक्लेश, तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुकनेसे आयु छिद जाती है] ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

द्विर्घातकी ... ॥33॥

§. 430

169.13 टंकच्छिन्नतीर्थः टंकच्छिन्नतटः ।

तासु त्रिंश ... ॥2॥

भरते ... ॥37॥

§. 369

152.7 इतरो विशेषो नरकप्रस्ताराणां रक्षणा-
प्रमाणादिलक्षणो लोकानुयोगतः लोकानुयोगनाम्न
आगमविशेषात् ।

परम्परो ... ॥4॥

§. 372

154.7 भिण्डिमवालो—गोफणा ।

संक्लिष्टा ... ॥5॥

§. 375

155.6 कूटशात्मलिः कृत्रिमशात्मलिः । अम्बरीषो
प्राष्टः ।

तद्विभाजिनः ... ॥1॥

§. 387

159.9 क्षुद्रहिमवान् लघुहिमवान् । हरिर्वर्षस्य
हरिक्षेत्रस्य ।

हेमाजुन ... ॥12॥

§. 389

160.2 चीनपट्टं—शुभ्रपट्टोलकम् ।

पद्य ... ॥14॥

§. 395

16॥.2 प्राक् पूर्वं । प्रत्यक् पश्चिमः । उदक्
उत्तरः । अवाक् दक्षिणः ।

§. 399

161.10 जलतलाज्जलोपरितनभागात् सावद्बहुम-
पत्रप्रचयं क्रोशद्वयस्थौल्योपेतपत्रप्रचयम् ।

§. 437

173.8 तन्वशुभकर्मणः सप्तमनरकप्रापणस्य
भरतादिज्वेवार्जनमित्याद्युक्तं, स्वयंभूरमणजसधिज-
सत्स्थानां सप्तमनरकप्रापकाशुभकर्मारम्भकत्वा-
भावप्रसंगात् । तदयुक्तं तत्परभागस्य कर्मभूमित्वात् ।
तथाहि—स्वयंभूरमणद्वीपमध्ये तद्द्वीपार्धकारी मानु-
षोत्तराकारः स्वयंप्रभनगवरो नाम नगो व्यवस्थित-
स्तस्यावर्गभाग आमानुषोत्तराद् भोगभूमिभागः ।
तत्र चतुर्गुणस्थानवर्तिनस्तिर्यञ्चः सन्ति । ततः परतः
आलोकान्तात् कर्मभूमिभागः । तत्र पञ्चगुणस्थान-
वर्तिनः प्रकृष्टशुभाशुभकर्मारम्भकास्ते सन्तीति कर्म-
भूमित्वम् । कथमन्यथा तत्र पूर्वकोट्यायुरवर्गभावे
चासंख्येयवर्षायुरिति । मनुष्यक्षेत्रप्रधानतयाभिधा-
नाद्वा न दोषः ।

[शंका—सातवें नरकमें ले जानेवाले अशुभकर्मका
उपार्जन भरत आदिमें ही होता है यह कथन मित्य
होनेसे अयुक्त है । क्योंकि ऐसा कहनेसे स्वयंभूरमण
समुद्रमें वर्तमान महामत्स्यके सातवें नरकमें ले जाने-
वाले अशुभ कर्मके उपार्जन के अभावका प्रसंग अस्त
है ।

उत्तर—ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि स्वयंभू-
रमणका पर भाग कर्मभूमि है । इसका खुलासा इस
प्रकार है—स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें उस द्वीपको
दो भागोंमें विभाजित करनेवाला, मनुषोत्तर पर्वतके
आकार स्वयंप्रभ नामक पर्वत स्थित है । उसके
पूर्वभागमें मानुषोत्तर पर्यन्त भोगभूमि है । वहाँ
चारगुणस्थानवाले तिर्यंच रहते हैं । स्वयंप्रभ
पर्वतसे आगेवाले भागमें लोकान्त तक कर्मभूमि है ।
वहाँ पाँच गुणस्थानवाले प्रकृष्ट शुभ और अशुभ

कर्मोंका उपार्जन करनेवाले तिर्यंच रहते हैं अतः वहाँ कर्मभूमि है । यदि ऐसा न होता तो वहाँ पूर्वकोटिकी आयु और उससे पूर्वके भागमें असंख्यात वर्षकी आयु कैसे होती । अथवा उक्त कथन मनुष्य-क्षेत्रकी प्रधानतासे किया है इसलिए कोई दोष नहीं है ।]

नृस्थिति ... ॥३८॥

§. 439

174.9 उत्सर्पिण्या अन्त्यचक्रवर्तिनः अवसर्पिण्याश्च प्रथमचक्रवर्तिनः अंगुलप्रमाणं प्रमाणांगुलम् । अविकवालाः—मेषकेशाः ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

इन्द्र ... ॥४॥

§. 449

179.9 अर्थचरो अर्थचिन्तकः । आरक्षिकः कोट्ट-पलः । पदात्यादीनि सप्तानीकानि हस्त्यश्वरथपदा-तिवृषगन्धर्व-मर्तकीलक्षणानि । उत्सर्गेण सामान्येन ।

पूर्व ... ॥६॥

§. 463

188.9 सप्तपर्वणः—पर्वणि पर्वणि सप्त पर्णानि यस्यासौ सप्तपर्णी वृक्षविशेषः । तथा अष्टापदः—प्रेङ्क्ती पङ्क्ती अष्टौ पदानि यस्यासौ अष्टापदो दत्तफलकः ।

तत्कृतः ... ॥१४॥

§. 469

185.6 क्रियाविशेषपरिच्छिन्नः—आदित्यगमनेन परिच्छिन्नः । अन्यस्य जात्यादेः अपरिच्छिन्नस्य कालनैयत्यनानवधारितस्य परिच्छेदहेतुः ।

1. पा० महाभा० ॥११९॥६९ ।

सौधर्म ... ॥१९॥

§. 479

189.3 सर्वमन्यद् विमानरचना प्रमाणादिकं लोकानुवेदाद्वेदितव्यम् ।

स्थिति ... ॥२०॥

वसनं वस्त्रं ।

गति ... ॥२१॥

'दो दो चउ चउ दो दो तिय तिय चोदस य अंग
उत्सेहो ।
सत्त छप्पं च चउरो हत्थादो अद्दद्द हीणादो ॥'

पीत ... ॥२२॥

औत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं यथा^१ द्रुतायाः तपकरणे मध्य-मविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति । भरते हि द्रुतरीतिः लक्षणसूत्रं 'द्रुतौ वेस्त' इति । तत्र द्रुतोवैरिति सिद्धे तपकरणं व्यर्थमतस्तस्यां लक्षणसूत्रे तपकरणे मध्यविलम्बितयोरुपसंख्यानसंग्रहो भवति । अत्र च यथोत्तरपदिकं ह्रस्वत्वमेव पीतपद्यादावपि द्रष्टव्यम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

अजीव ... ॥१॥

§. 527

202.3 जीवलक्षणाभावमुखेन जीवलक्षणाभाव-द्वारेण ।

द्रव्याणि ... ॥२॥

§. 529

202.9 गुणसंज्ञावो गुणसंज्ञातः ।

§. 530

203.5 अद्यावापार्थं (अद्यापरोपणार्थं) समुच्चयार्थम्

जीवाश्च ... ॥३॥

§. 531

204.6 तेषामपि वायुमनःपुद्गलानामपि, तदुपपत्तेः
रूपादिमत्कार्योपपत्तेः ।

रूपिणः ... ॥5॥

§. 535

206.4 तद्विकल्पः स्कन्धपरमाणुरूपपुद्गलभेदः ।
उपरिष्ठात् अग्रे ।

आकाशस्य ... ॥9॥

§. 543

209.3 पूर्ववद् धर्मादीनामजघन्योत्कृष्टासंख्येय-
प्रदेशवत् अस्याप्याकाशस्यापि अजघन्योत्कृष्टानन्त-
प्रदेशकल्पना अवसेया ।

लोकाकाशे ... ॥12॥

एवंभूतनयापेक्षया निश्चयनयापेक्षया ।

एक प्रदेश ... ॥14॥

§. 557

212.10 अविरोधेनावरोधः अविरोधेनावस्थानम् ।

प्रदेश ... ॥16॥

§. 557

214.3 मानिका ढक्कणिका ।

गति ... ॥17॥

§. 559

215.1 पृथिवीधातुरिव-ददातीति (दधातीति) शि
(?) धातुः आधारः । पृथिव्येव धातु पृथिवीधातुरिति ।

शरीर ... ॥19॥

§. 563

219.5 मूर्तिमता श्रोत्रेण ग्रहणं मूर्तिमता
शील्यादिनाऽबरोधकः प्रतिबन्धः मूर्तिमतश्च श्रोत्रस्य
काह्लादिशब्देन व्याघातो बाधिर्यादिलक्षणः । मूर्ति-
मता प्रतिकूलवायुना वा शब्दस्य व्याघातो विवक्षित-
देशे गच्छतो व्यावर्तनम् । अभिभवः श्रोत्रस्य क्षटिति
शब्दप्रतिपत्तिजननसामर्थ्यखण्डनं घण्टादिशब्देन
क्रियते । तिर्यग्वातेन वा शब्दस्य तथा तज्जनन-

सामर्थ्यखण्डनं भेदादिशब्दैर्वा मशकादिना स्वरूपाभि-
भवः । साचिव्यं सहायत्वम् ।

स्पर्शरस ... ॥23॥

§. 570

224.2 त एते स्पर्शादीनां मूलभेदाः प्रत्येकं
द्विव्यादिसंयोगेन संख्येयासंख्येयानन्ताश्च भवन्ति ।

शब्दबन्ध ... ॥4॥

§. 570

224.12 अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामेकेन्द्रियापेक्षया
यदतिशयज्ञानं तस्य स्वरूपप्रतिपादनहेतुः । तथाहि—
तेषां शब्दविषयं विशिष्टं ज्ञानमस्ति शब्दकरणा-
न्यथानुपपत्तेः एकेन्द्रियाणां तु ज्ञानमात्रं नातिशयज्ञानं
तत्करणाभावात् । अथवा अतिशयज्ञानं केवलज्ञानं
तस्य स्वरूपप्रतिपादनहेतुः । अतिशयज्ञानवान् सर्व-
ज्ञोऽनक्षरात्मकशब्देनार्थप्रतिपादकत्वात् । यस्तु नेत्यं
स न तथा, यथा रथ्यापुरुषः । उक्तं च—

‘नष्टो वर्णस्मिन्को ष्वनिः’ । इति । बलाहको—मेघः ।
पुष्करः—पटहः । ददुरो रुजा (?) । सुघोषः
किन्नरकः । जतु—लाक्षा ।

उत्पाद ... ॥10॥

§. 584

229.14 समाधिबचनस्तादात्म्यवचनः । युक्तशब्दो
युजिरयोग इत्यस्य त्यागेन ‘युज् समाधी’ इत्यस्य
ग्रहणात् ।

तद्भावा ... ॥1॥

§. 586

230.6 तदेवेदमिति स्मरणं तदेवेदमिति विकल्पः ।

बन्धेऽधिकी ... ॥7॥

§. 598

235.12 तृतीयमेव तात्पर्यिकम् । ‘स्वार्थे तीयादि-
कण्’ ।

कालश्च ... ॥9॥

§. 602

239.11 पूर्वोत्तरभावप्रकाशपन्नयो व्यवहारनयः ।

सोऽनन्त ... ॥40॥

§. 604

242.1 परमनिर्द्वो बुद्ध्या अविभागभेदेन भेदितः ।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

काम ... ॥1॥

§. 610

244.7 औदारिकादिसप्तविधः कायः औदारिकौ-
दारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्र-
कामंणलक्षणो । मिश्रत्वं च कायस्यापरिपूर्णत्वम् ।

शुभ ... ॥3॥

§. 614

245.11 शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतु-
त्वाभ्युपगमात् । यथा उपोषितादेः पठतो विश्रम्य-
तामिति वागादियोगस्य ।

सकषाय ... ॥4॥

§. 616

246.7 ईरणमीर्या यमाह योग इति कायादि-
व्यापार इत्यर्थः । अस्यापि तात्पर्यमाह गतिरित्यर्थः ।
कायादिवर्गणालम्बी आत्मप्रदेशपरिस्पन्द इत्यर्थः ।
सैकं न कषायादिद्वारमाश्रयः मार्गो यस्य तत्तद्द्वारकं
कर्म ।

इन्द्रिय ... ॥5॥

§. 618

247.15 विशसन्नं भारणम् ।

निवर्तना ... ॥9॥

§. 626

251.7 अमशोगनिक्षेपः पुनरनालोक्षितरूपस्तयोप-
करणादिस्थापनम् ।

तत्प्रदोष ... ॥10॥

§. 628

251.12 अनभिध्याहरतः । वचनमनुस्मारयतः ।

दुःखशोक ... ॥1॥

§. 630

252.11 वेगलव्यविशेषो दीनत्वविशेषः । आवि-
लान्तःकरणस्य कलुषितान्तःकरणस्य । तीव्रावृत्तयो
अतिशयेन परचात्तापः ।

§. 630

253.8 आस्थीयते (आस्तीर्यते) प्रतिज्ञायते ।

§. 630

253.14 न दुःखं न सुखमित्यादि । चिकित्सिते हेतुः—
शस्त्रादिः, स न दुःखं सुखो वा दुःखरूपः सुखरूपो वा
स्वरूपेण न भवति जडत्वात् । चिकित्सायां तु युक्तस्य
वैद्यादेर्यदि क्रोधादिरस्ति तदा दुःखं स्यात् दुःखहेत्व-
धर्मोपार्जनत्वात् । एवं मोक्षसाधने हेतुः उपवासमो-
चादिः, स स्वरूपेण दुःखरूपः सुखरूपो वा न भवति ।
यस्तु तेन युक्तो गुरुशिव्यादिः स पूर्ववत् सुखदुःखरूपो
वेदितव्यः क्रोधादिसद्भावासद्भावाभ्याम् ।

भूत ... ॥12॥

§. 632

254.9 अक्षीणशयः—गृहादावनिवृत्ताभिप्रायः ।
अवरोधः (अनुरोधः)—स्वीकारः ।

कषायोदय ... ॥14॥

§. 636

256.6 अतिसन्धानं—वचनम् ।

§. 336

256.7 अपरोपणं विनाशनम् । पराङ्मनावस्कन्दः
परभार्यापहारः ।

बह्वारम्भ ... ॥15॥

§. 638

257.1 अजस्रं—अनवरतम् ।

अल्पारम्भ ... ॥17॥

§. 642

257.11 तदभ्यासः—प्रपञ्चः ।

सरागसंयमं ... ॥20॥

§. 648

258.11 चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु चारकेण बन्धन विशेषेण निरोधबन्धनबद्धेषु—गाढबन्धनबद्धेषु ।

तद्विपरीतं ... ॥23॥

§. 654

260.4 संभ्रमसद्भावोपनयन संभ्रमः—आदरः, सद्भावेन—अमायया उप—समीपे गमनम् ।

दर्शनविशुद्धि ... ॥24॥

§. 656

260.15 सत्कारः पूजा । अनिगूहितवीर्यस्य प्रकटी-कृतस्वसामर्थ्यस्य ।

261.5 प्रत्यूहे विधे ।

इति षष्ठोऽध्यायः ।

हिंसानृत ... ॥1॥

§. 664

264.7 संभिन्नबुद्धिः विपरीतमतिः ।

§. 664

265.4 संवरपरिकर्मत्वात्—संवरपरिकरत्वात् । कृतपरिकर्मा कृतानुष्ठानः ।

हिंसादि ... ॥9॥

§. 679

268.6 मिथ्याभ्याख्यानं—मिथ्यावचनम् । वासिता-वचितः—हस्तिनीवचितः ।

जगत् ... ॥12॥

§. 685

270.11 दुःखं भोजं भोजं—दुःखं भुक्त्वा भुक्त्वा ।

प्रमत्त ... ॥13॥

§. 687

271.13 आवादेज्ज—आपतेत् । कुलिङ्गः सूक्ष्म-जन्तुः । तं जोगमासेज्ज—पादयोगमासाद्य । मुच्छा-परिग्रहोत्तिय—मूर्छापरिग्रह इति । अज्ज्ञप्पमाणदो—अध्यात्मप्रमाणतः । अन्त्यः संकल्पानतिक्रमेणेत्यर्थः । तथा हिंसापीति ।

अंगार्यं ... ॥19॥

§. 699

276.9 प्रतिश्रयायिभिः—गृहायिभिः ।

दिग्देशा ... ॥31॥

§. 703

279.10 अवहितान्तःकरणः—एकाग्रमनाः । शृंग-वेरमाद्रकम् ।

मिथ्योपदश ... ॥36॥

§. 712

284.2 पराकृतं पराभिप्रायः ।

क्षेत्रवस्तु ... ॥29॥

§. 715

285.9 क्षीमं शुभ्रपटोलकः । कोशेयं तसरीचीरं ।

§. 717

286.4 आविष्टाभिसन्धिः (आभिव्यामि...) आविष्टाभिप्रायो लोभावेशात् । यथा मान्यनेटाव-स्थितेन केनचिच्छावकेण क्षेत्रपरिमाणं कृतं दारा (धारा) लघनं मया न कर्तव्यमिति । पश्चादुच्च-

यिन्यामनेन भाण्डेन महान् लाभ इति तदतिक्रम्य गच्छति ।

§. 719

286.11 तदेवोभयं—प्रहासाशिष्टवागुभयं दुष्टकाय-
कर्मप्रयुक्तं भण्डिमाप्रदर्शककार्यव्यापारविशिष्टं ।
परत्र उपहसनीये प्राण्यन्तरे ।

§. 721

287.12 क्षुदभ्यादतस्वात्—बुभुक्षापीडितत्वात् ।

§. 722

288.3 द्रवो वृष्यो वाभिषवः—द्रवो रात्रिचतुः-
प्रहरैः क्लिन्न ओदनादिः । वृष्यं इन्द्रियबलवर्धनं
माषविकारादि । दुष्पक्वस्य प्राप्तुकरत्वात्तत्सेवने को
दोषः । इति चेदुच्यते दुष्पक्वोऽक्लिन्नस्तत्सेवने
चोदरपीडादिप्रादुर्भावादग्न्यादिप्रज्वालने महानसंयम
इति तत्परिहारः श्रेयान् ।

§. 723

१८८.८ परव्यपदेशः कथमतीचारः । इति
चेदुच्यते, लोभावेशादतिषिवेलायामपि द्रव्योपायं
परित्यक्तुमशक्नुवताऽन्यदातृहस्तेन दाप्यते इति ।

§. 728

289.12 निधिः प्रतिग्रहादिक्रमः ।

प्राडिगहसुखदृष्टाणं पादोदगमच्छर्णं च षण्मं च ।

मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धीए णवविहं पुण्णं ॥

—[वसु०श्रा० 224]

इति सप्तमोऽध्यायः ।

§. 732

292.7 षट्कायः षड्जीवनिकायः । चत्वारो
मनोयोगाः सत्यासत्योभयानुभयविकल्पात् । तथा

वाग्योगाश्च । एवं काययोगा औदारिकौदारिकमिश्र-
वैक्रियिकवैक्रियिकमिश्रकर्मणभेदात् पञ्च । शुद्ध-
यष्टकम् शुद्ध्या उपलक्षितमष्टकं शुद्धयष्टकम् । किं
पुनरष्टकमिति चेत् । मनोवाक्काय-भैक्षेयपिथशयना-
सनविनयप्रतिष्ठापनलक्षणम् ।

§. 734

293.6 जठराग्न्याशयात् जठराग्निवशात् । अहस्तः
अबाहुः । मिथ्यादर्शनाद्यावेशात् मिथ्यादर्शनाद्याग्रहात्
आर्द्राकृतस्य सकषायीकृतस्य । अविभागेन एका-
कारेण ।

§. 736

295.12 अपरिणद उपशान्तकषायः । उच्छिष्टणः
क्षीणकषायादिः । अथवा अपरिणदो—नित्यकान्त-
वादी । उच्छिष्टणः—क्षणिककान्तवादी ।

§. 749

300.10 सत्कमपेक्षया—कर्मसत्तामात्रापेक्षया ।
निस्त्यक्तः पराङ्मुखः । शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं—
शुभपरिणामनिराकृतफलदानसामर्थ्यम् । सामिशुद्धस्व-
रसं ईषत्प्रक्षालितसामर्थ्यम् ।

§. 755

304.3 शरीरनिर्वृत्तिः—शरीरनिष्पत्तिः । अंगो-
पाङ्गः तत्राष्टावङ्गानि ।

उक्तं च—

णलथा बाहू या त्हा णियंवपुट्ठी उरो य सीसं च ।

अट्टे वट्ठु अंगाई सेह^२ उवंगा वु वेहस्त ॥

कर्णनासिकानयनोत्तराधरोष्ठाङ्गुल्यादीन्पुपाङ्गानि ।

न्यग्रोष्ठो वटवृक्षः । स्वातिः बल्मीकः । हुण्डसंस्थान-

मविच्छिन्नावयवसंस्थानम् । असूक्ष्माटिका चिन्ता ।

§. 755

305.8 स्वयंकृतोद्वन्धन—उद्वेगाद् गले पाशं
बद्ध्वा मरणार्थं वृक्षादावलम्बनम् । मरुत्पतनं—
प्राणापातनिरोधनं गिरिपतनं च ।

1. वसु० श्रा० , 224 । 2. वेहे सेसा उवंगाई ।—कर्म० गो०, गा० 28 ।

§. 755

305.13 साधारणं शरीरमनन्तकाधिकानाम् ।

तदुक्तम्—

“साधारणसाधारो साधारणमाणपाणगहणं च ।
साधारणजीवाणं साधारणलक्षणं एवं ॥
श्रूतसिरसंधिपञ्चं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साधारणं शरीरं तद्विवरीयं च पत्तेयं ॥”

§. 759

दानं ... ॥ 13 ॥

308.3 भेदनिर्देशः—पृष्ठीनिर्देशः ।

आदितस्तिसृणां ... ॥ 14 ॥

§ 761

309.6 अन्येषामागमात् संप्रत्ययः । तथाहि—
एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणामसंज्ञिपर्याप्तकानां यथा-
संख्यं प्रत्येकं त्रिगुणितसप्तविभक्त एक-पञ्चविंशति-
पञ्चाशच्छतसहस्रसागरोपमाणि । तदुक्तम्—

‘एन्द्रियं त्रिपर्याप्तक-असंज्ञिपञ्जसयाणं बोधत्वा ।
एवं तद् पणुवीसं पञ्चासं तद् सप्तसहस्रं च ॥
तिहयं सप्तविहसं सायरसंखा द्विवी एसा ॥’

तेषां चापर्याप्तकानामियमेव स्थितिरैकेन्द्रियाणां पत्यो-
पमासंख्येयभागोना । जेवाणां संख्येयभागोना ।

उक्तं च—

अपञ्जस्ताणं पुणो यावर दिवलिदिव्यादीणं ।
ठिदि एसा परिहीणा पल्लासंख्येयसंख्यभागेहि ॥
अंसोकोडाकोडी सण्णी अपञ्जसयस्य णायव्वर ।
बंसणणाणावरणे व्हेदे तद् अंतराये य ॥’

[अन्य जीवोंके आगमसे जानना चाहिए । वह इस प्रकार है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पर्याप्तकोंके क्रमानुसार प्रत्येकके तीनसे गुणित और सातसे भाजित एक सागर, पञ्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और हजार सागर प्रमाण स्थिति जाननी चाहिए । कहा भी है—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके तीनसे गुणित और सातसे भाजित

एक सागर, पञ्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर प्रमाण स्थिति जाननी चाहिए ।

आशय यह है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मित्या-
दृष्टिके मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण होता है किन्तु एकेन्द्रिय पर्याप्तकके एक सागर प्रमाण, दोइन्द्रिय पर्याप्तकके पचास सागर प्रमाण, तेइन्द्रिय पर्याप्तकके पचास सागर प्रमाण, चौइन्द्रिय पर्याप्तकके सौ सागर प्रमाण और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकके एक हजार सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है । इसी अनुपातसे त्रैराशिक द्वारा इन जीवोंके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मका भी उत्कृष्ट स्थितिबन्ध जाना जाता है । इन कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है । अतः तीस कोडाकोडी सागर में सत्तर कोडाकोडी सागरसे भाग देकर एक, पञ्चीस, पचास, सौ और एक हजार से गुणा करनेपर उक्त जीवोंके इन कर्मोंके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका प्रमाण निकलता है । इन्हीं जीवोंके अपर्याप्तक अवस्थामें यही स्थिति एकेन्द्रियोंके पत्यो-
पमके असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण तथा दोइन्द्रिय आदिके पत्यके संख्यातवें भाग कम पञ्चीस सागर आदि प्रमाण बँधती है । कहा भी है—

अपर्याप्तक एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि के ज्ञाना-
वरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकी वही स्थिति पत्यके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग कम जानना चाहिए तथा संज्ञी अपर्याप्तकके अन्तः-
कोडाकोडी सागर प्रमाण जानना चाहिए ।]

§. 763

सप्तति ... ॥ 15 ॥

309.10 इतरेषां वयागसं तथाहि—

एवं पणुवीसं पि य पञ्चासं तद् सप्तं सहस्रं च ।
ताणं सायर संखा ठिदि एसा मोहणीयस्स ॥

अयं तु विशेषो मोहनीयस्येयं स्थितिः सप्तगुणाः सप्त विभक्ता च कर्तव्या । इयमेवापर्याप्तकानां पत्योपमा-
संख्येयसंख्येयभागोना पूर्ववत् प्रतिपत्तव्या ।

1. गो० जी०, गा० 192 । 2. वही गा० 187 ।

[मोहनीयकर्मकी उत्कृष्टस्थिति अन्य जीवोंके आगमके अनुसार जानना चाहिए । वह इस प्रकार है—एकेन्द्रिय आदि जीवोंके मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर और एक हजार सागर होती है । इतना विशेष है कि मोहनीयकी इस स्थितिमें सातसे गुणा और सातसे भाग देना चाहिए । अपर्याप्तक जीवोंके उक्त स्थिति पूर्ववत् पत्यके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग कम जानना ।]

विंशतिनामि ... ॥६॥

§. 765

310.2 इतरेषां यथागमम्—या पूर्वं चतसृणां कर्मप्रकृतीनां स्थितिरुक्ता सा न त्रिगुणा किन्तु द्विगुणा कर्तव्या ततो नामगोत्रयोर्भवति । शेषं पूर्ववत् ।

[अर्थात् पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवके नाम और गोत्र-कर्मकी उत्कृष्टस्थिति एक सागरके सात भागोंमें से दो भाग प्रमाण है । पर्याप्तक दो इन्द्रिय जीवके पच्चीस सागरके सात भागोंमें से दो भाग है । पर्याप्तक तीन इन्द्रिय जीवके पचास सागरके सात भागोंमें से दो भाग है । पर्याप्तक चार इन्द्रिय जीव के सौ सागर-के सात भागोंमें से दो भाग है । असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके हजार सागरके सात भागोंमें से दो भाग है । इनके जघन्य स्थिति पूर्ववत् पत्यके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग कम जाननी चाहिए ।]

त्रय ... ॥७॥

§. 767

310.6 शेषाणामागमतः, तथाहि—असंज्ञिनः स्थितिरायुषः पत्योपमासंख्येयभागः, तिर्यसंज्ञी हि स्वर्गे नरके वा पत्योपमासंख्येयभागमायुर्वध्नाति । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियास्तु पूर्वकोटिप्रमाणं, पञ्चाद्विदेहा-दावुत्पद्यन्ते ।

[असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति पत्यके असंख्यातवें भाग है क्योंकि तिर्यच असंज्ञी स्वर्ग या नरककी पत्योपमके असंख्यातवें भाग आयु का बन्ध करता है । एकेन्द्रिय

और विकलेन्द्रिय जीव पूर्वकोटि प्रमाण आयुका बन्ध करते हैं । पीछे विदेह आदिमें उत्पन्न होते हैं ।]

अपरा ... ॥८॥

§. 769

310.10 सूक्ष्मसाम्पराये इति वाक्यशेषः ।

विपाकः ... ॥९॥

§. 774

311.12 स्वमुखेन मतिज्ञानावरणं मतिज्ञानावरण-रूपेणैव । परमुखेन श्रुतज्ञानावरणरूपेणापि भुज्यते ।

§. 775

312.1 प्रसंख्यातोऽन्वर्थः । अप्रसंख्यातोऽनन्वर्थः ।

स यथा ... ॥१०॥

§. 776

312.3 दर्शनशक्त्युपरोधो—दर्शनशक्तिप्रच्छा-दनता ।

तत्तश्च ... ॥११॥

§. 778

312.9 जातिविशेषावगूर्णिते एकेन्द्रियादिजीवविशेषैः संस्कृते । अनुभवोदयावलीक्षितः अनुभवोदयावली-प्रवाहः ।

नामप्रत्याय—॥१२॥

§. 780

315.3 नामप्रत्यायः कर्मकारणभूताः । यैः पुद्गलैः कर्माणि प्रारभ्यन्ते त एव कृष्यन्ते नान्ये इति । एकक्षेत्रावगाहस्थिताः—जीवः संलम्भा इत्यर्थः । पञ्चरस—मधुररसे लवणरसस्थान्तर्भावात् । स्पर्श-स्याष्टविधत्वात्कथं चतुःस्पर्शास्ते, इति नाशङ्कनीयं, शीतोष्णस्पर्शादीनां विरोधिना सहभावाभावात् ।

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

स गुप्ति ... ॥2॥

§. 789

321.6 शीषोपहारो—मस्तकेन पूजा ।

उत्तम ... ॥6॥

§. 797

323.4 मार्गणार्थं अन्वेणार्थम् । धर्मोपबृंहणार्थं धर्मोपचयार्थम् ।

अनित्य ... ॥7॥

§. 799

324.11 समुदितं समुत्पन्नम् । अभिष्वङ्गाभावात् अनुबन्धाभावात् । विनिपातो दुःखम् ।

§. 800

325.2 व्यसनोपनिपाते दुःखोपनिपाते ।

§. 801

325.14 निर्वेदो वैराग्यम् ।

§. 806

327.8 क्रमस्तुतजलाभिप्लवे—क्रमप्रविष्टजलेन नावो निमज्जते ।

§. 808

328.2 बहुमध्यप्रदेशे अतिशयेन मध्यप्रदेशः ।

§. 809

328.8 सरीसृपः करकेन्दुकः । दुरासदो दुष्प्रापः ।

§. 810

329.2 नियताऽवश्यभाविनी ।

मार्गा ... ॥8॥

§. 813

329.12 तन्मार्गपरिक्रमणपरिचयेन—जिनोपदिष्ट-मार्गानुशीलसंबन्धेन ।

क्षुत्पिपासा ... ॥9॥

§. 816

330.10 आसनं उपवेशस्थापनम् । आवसथो गृहम् । महद्भि महिमानम् ।

§. 819

331.8 पुत्तिका मधुमक्षिका ।

§. 820

331.11 जातरूपवत् जातिसुवर्णवत् । कुणप मृतकम् ।

§. 822

332.4 स्मितं—ईषद्दृष्टितम् ।

§. 823

332.6 अनूषितं सेवितम् । संयमायतनं यतिः ।

§. 824

333.1 चतुर्विधोपसर्गं देवमानवतिर्यग्चेतनकृतोप-सर्गभेदात् ।

§. 825

333.5 व्यपगतासुवत् मृतकवत् ।

§. 826

333.8 मिथ्यादर्शनोद्भूतः मिथ्यादर्शनोद्धतः

§. 827

333.12 विशसनं शस्त्रम् ।

§. 828

334.2 निस्सारीकृतमूर्तेः कृशतरशरीरस्य ।

§. 829

334.6 वाच्यमस्य मोतिनः । तत्समितस्य परिमित-भाषिणः ।

§. 830

334.12 विरुद्धाहारस्य सकृदुपभोगः सेवा, पुनः पुनरुपभोग आसेवा पथ्यापथ्याहारसेवनं वैषम्यम् ।

§. 832

335.5 सक्तो—लग्नः । सिद्ध—पुर्णितम् (?) ।

§. 833

335.9 चिरोषितग्रहचर्यस्य चिरतपस्विनः ।
प्रत्यग्रपूजा इतिपूजा ।

§. 836

336.8 एवमसमादधानस्य एवमसमाहितचेतसः ।

एकादश ... ॥11॥

§. 841

338.2 तत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया चिन्ताकार्य-
कर्मभावफलापेक्षया ।

ज्ञानावरणे ... ॥13॥

§. 845

340.5 क्षायोपशमिकी श्रुतविषया प्रज्ञा अभ्यस्मिन-
वध्याद्यावरणे सति मदं जनयति ।

सामायिक ... ॥18॥

§. 854

343.9 प्रमादेन कृतो योजनप्रबन्धो हिंसाद्य-
व्रतानुष्ठानं तस्य विलोपे सर्वथा परित्यागे सम्यगा-
गमोक्तविधिना प्रतिक्रिया पुनर्व्रतारोपणं छेदोपस्था-
पना । छेदेन दिवसपक्षमासादिप्रव्रज्याहापनेन उपस्था-
पना व्रतारोपणम् ।

अनशन ... ॥19॥

§. 856

345.6 एकागारादिविषयो यः संकल्पः तेन चित्त-
स्यावरोधो नियंत्रणम् । दुःखतितिक्षा दुःखसहनम् ।
सुखानभिष्वङ्गः सुखानुबन्धाभावः ।

§. 862

346.12 उपासनमाराधनम् । दणदोषवजितमा-
लोचनम् । तथाहि उपकरणादिदानेन गुरुमनुकम्प्य
आलोचयति, वचनेनानुमाय्य वा । यत्लोकेर्दृष्टं तदेव
वा, स्थूलमेव वा, सूक्ष्ममेव वा, व्याजेन वा । यादृ-

शस्तस्य दोषस्तादृशी ममापीति । शब्दाकुलो वा यथा
गुणं शृणोति, बहुयुञ्जनस्य वा । अबुद्धस्य वा
तद्दोषसेविनो वा । यास्वेवमालोचयतीति आलोचना-
दोषाः । तदुक्तम्—

‘आकंपिय अणुमाणिय जं विट्’ बादरं च सुहृमं च ।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजण अव्वत्त तस्सेवि ॥

अन्नपाताद्युपकरणस्य पूर्वं परित्यक्तस्य पश्चात् कुत-
श्चित् कारणात् संसक्तस्य उपद्वीकितस्य प्राप्तस्येति
यावत् । यद्विभजनं विगतसेवनं परित्याग इत्यर्थः ।
तदेव प्रायश्चित्तम् ।

ज्ञान ... ॥23॥

§. 864

348.4 सबहुमानं — बहुपूजासहितम् ।

आचार्यो ... ॥24॥

§. 866

348.12 क्लिष्टशरीरः—पीडितशरीरः । संस्त्यायः-
संघातः ।

उत्तम ... ॥27॥

§. 872

350.12 हेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्व-
सिद्धिः—तदुक्तम्—

‘भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदहंतस्ते ।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थाङ्गममेवमन्यत् ॥

—[युक्त्यनुशा० 60]

निदानं ... ॥33॥

§. 884

353.1 तुरीयस्य—चतुर्थस्य ।

आज्ञा ... ॥३६॥

§. 890

354.8 हेतुदृष्टान्तोपरमे हेतुदृष्टान्तभावे । गहन-
पदार्थश्रद्धानात्—अशेषविशेषतोऽस्मदादिबुद्ध्यगोचर-
पदार्थसंघातश्रद्धानात् । विमुखाः पराङ्मुखाः ।

एकाश्रये ... ॥४१॥

§. 900

358.15 प्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेन प्राप्तश्रुतज्ञानपर्यव-
सानेन ।

वीचारो ... ॥४४॥

§. 906

358.15 द्रव्यपरमाणु—द्रव्यस्य सूक्ष्मत्वम् । भाव-
परमाणु—पर्यायस्य सूक्ष्मत्वम् । अपर्याप्तबालोत्साह-
वत्—असमर्थबालोत्साहवत् । समूलतूलं—तत्कारण-
भूतसूक्ष्मलोभेन सह । निरुपलेपः—अकलङ्कः ।
गभस्तिः—किरणः । मेघपञ्जरवि (नि) रोधः—मेघ-
पटलप्रच्छादनम् । घर्भरश्मिः—आदित्यः । आत्मन
उपयोगातिशयस्य—व्यापारविशेषस्य । विशिष्ट-
करणस्य—विशिष्टानि दण्डकपाटादीनि करणानि
यत्र । सामायिकसहायस्य—सामायिकं यथाख्यात-
चारित्रं सहायं यस्य ।

पुलाक ... ॥४६॥

§. 910

363.6 अविशुद्धपुलाकसादृश्यात्—अविशुद्ध-
तण्डुलसादृश्यात् । अविविक्तपरिवारः—असंयतपरि-
वारः । परिपूर्णोभयाः—परिपूर्णमूलोत्तरगुणाः । दण्ड-
राजिवत्—दण्डरेखावत् । उद्भिद्यमानः—उत्पद्य-
मानः ।

संयम ... ॥४७॥

§. 912

364.5 अनुयोगैः—प्रश्नैः ।

§. 913

364.9 अभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः—परिपूर्णदशपूर्व-
धराः अक्षरेणापि भिन्नानि न्यूनानि न भवन्तीति ।

§. 913

364.11 अष्टौ प्रवचनमातरः—पञ्चसमितित्रि-
गुप्तिप्रतिपादकाग्रमः ।

§. 914

364.12 पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य
च पराभियोगाद्—परोपरोधात् । श्रावकाद्युपकारो-
ज्जेनेति मत्वा । अन्यतममेकं प्रतिसेवमात्रो—विराध-
यन् । रात्रिभोजनवर्जनस्य कथं विराधनेति चेत्
छात्रादिकं रात्रौ भोजयन् विराधको भवति ।

§. 914

364.14 शरीरसंस्कारो—अभ्यङ्गमर्दनादिः ।

§. 917

365.6 वक्रुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि । कृष्ण-
लेश्यादित्रयं कथं तयोरिति चेदुच्यते तयोरुपकरणा-
सक्तिसंभवादात्तद्व्याप्तं कादाचित्कं संभवति । आर्त-
ध्यानेन च कृष्णलेश्यादित्रयं संभवतीति । कषाय-
कुशीलस्य चतस्र उत्तराः कापोतलेश्या ततोऽप्युक्त-
न्यायेन बोधव्या तस्यापि संज्वलनमात्रान्तरङ्गकषाय-
सद्भावेन परिग्रहासक्तिमात्रसद्भावात् ।

§. 919

365.12 कषायनिमित्तानि—कषायास्तरतमभावेन
भिद्यन्ते इति कषायनिमित्तानीत्युच्यन्ते । तत्र तेषु
असंख्यातमानावच्छिन्नसंयमस्थानेषु मध्ये सर्वजघ-
न्यानि लब्धिस्थानानि—संयमस्थानानि ।

इति नवमोऽध्यायः ।

मोहक्षयात् ... ॥१॥

§. 921

367.12 अथाप्रवृत्तकरणपूर्वचारित्रम् । यदि वा
अथाप्रवृत्तकरणं—अथाप्रवृत्तकरणमुच्यते परिणाम-
विशेष इत्यर्थः । कीदृशास्ते तच्छब्दवाच्या इति चेत्
उच्यते—एकस्मिन्नेकस्मिन् समये एकैकजीवस्या-

संख्येयलोकमानावच्छिन्नाः परिणामा भवन्ति । तत्रा-
प्रमत्तादिगुणस्थाने पूर्वसमये प्रवृत्ता यादृशाः परिणा-
मास्तादृशा एव । अथानन्तरमुत्तरसमयेषु आसमन्ता-
त्प्रवृत्ता विशिष्टचारित्ररूपा अथाप्रवृत्तकरणशब्द-
वाच्याः । अभिनवशुभाभिसिद्धिः—धर्म्यशुक्लध्वाना-
भिप्रायः । कषायाष्टकं—अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्ट-
यस्य पूर्वमेव विनष्टत्वात् मध्यमकषायाष्टकं गृह्यते ।
बादरकृष्टिविभागेन—स्थूलकर्मपर्यायभेदेन उपायद्वा-
रेण फलमनुभूय निर्जीर्यमाणमुद्धरितशेषमुपहतशक्तिकं
कर्म कृष्टिरित्युच्यते । धृतकृष्टिवत् । सा च दि-
प्रकारा भवति बादरेतरविकल्पात् । 'बादर किट्टी
सुहुमं किट्टी इत्यभिधानात् ।' अवतारितमोहनीयभारः
—स्फेडितमोहनीयभारः । अप्रतर्क्यविभूतिविशेषं—
अचिन्त्यविभूतिमाहात्म्यम् ।

औपशमिक ... ॥३॥

§. 925

370.4 अन्यपारिणामिकभावसत्त्ववस्तुत्वाभूर्त-
त्वादि ।

अन्यत्र ... ॥४॥

§. 927

371.1 अवशेषः —अवस्थितिः ।

पूर्वप्रयोगात् ... ॥६॥

§. 932

372.1 हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि—हेतुरूपः प्रचुरोऽपि ।

आविद्ध ... ॥७॥

372.12 संबन्धनिरुक्तुका—संबन्धरहिता ।

क्षेत्र ... ॥९॥

§. 937

373.8 प्रत्युत्पन्नः—ऋजुसूत्रः । भूतानुग्रहतन्त्रो—
व्यवहारः । संहरणं प्रति क्रोधादिवशाद्देशान्तरे नयनं
संहरणम् । मनुष्यक्षेत्रे अर्धतृतीयद्विपेषु । अव्यपदेशेन

—विशेषव्यपदेशरहितेन सर्वसावद्यविरतोऽस्मीत्येवं-
रूपेण सामाधिकेन, ऋजुसूत्रनयाद्यव्याप्तेनैकेन व्यव-
हारनयात् पञ्चभिः परिहाररहितैश्चतुर्भिर्वा सिद्धिः ।
स्वयमेव ज्ञानं स्वशक्तिः । ऋजुसूत्रनयादेकेन केवल-
ज्ञानेन, व्यवहारनयात् पश्चात्कृतमतिश्रुतज्ञानद्वयेन
मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयेण मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानत्रयेण
वा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानचतुष्टयेन वा सिद्धिः ।
मतिश्रुतयोः पूर्वं स्थित्वा पश्चात् केवलमुत्पाद्य
सिद्ध्यन्तीत्येवं सर्वत्र योज्यम् । तदुक्तम्—

पछापडेपरसिद्धे दुगतिगच्चदुणाण पंचचवुरयमे ।

—प्रा० सिद्ध भक्ति, गा० ४ ।

अर्धचतुर्थारत्नयः । तथाहि—यः षोडशवर्षैः सप्त-
हस्तो भविष्यति गर्भाष्टमवर्षेऽर्धचतुर्थारत्निप्रमाणो
भवति । तस्य च मुक्तिरस्ति । एवं कालादिविभागेऽपि
कालगतिलिङ्गादिभेदेऽपि । तत्र कालस्त्रिविध उत्सर्पि-
ण्यवसर्पिण्यनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभेदात् । तत्र सर्वत्रः
स्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः । अवसर्पिणीसिद्धा विशेषा-
धिकाः । अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणाः ।
ऋजुसूत्रनयापेक्षया त्वेकसमये सिद्ध्यन्तीति नास्त्य-
ल्पबहुत्वम् । गतिं प्रति ऋजुसूत्रनयापेक्षया सिद्धिगतौ
सिद्ध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । व्यवहारनयापेक्षया
पुनरनन्तरमनुष्यगतौ सिद्ध्यन्तीत्यल्पबहुत्वाभावः ।
एकान्तरगतौ त्वस्तीति तदुच्यते—सर्वतः स्तोका
स्तिर्यग्योन्यन्तरगतिसिद्धाः, मनुष्ययोन्यन्तर-
गतिसिद्धाः संख्येयगुणाः । नरकयोन्यन्तरगतिसिद्धाः
संख्येयगुणाः । देवयोन्यन्तरगतिसिद्धा संख्येयगुणाः ।
ऋजुसूत्रनयापेक्षयाऽवेदास्सिद्ध्यन्तीत्यल्पबहुत्वाभावः ।
व्यवहारनयात् सर्वतः स्तोका नपुंसकवेदसिद्धाः ।
स्त्रीवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः । पुंवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः ।
तदुक्तम्—

‘बीस गर्बुंसयवेदा थीवेदा तह्य होंति चालीसं ।

अडवालं पुंवेदा समयेनेने ते सिद्धा ।”

इत्येवमाद्यशेषतः प्रवचनादवगन्तव्यमिति ।

दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

प्रशस्तिः

ज्ञानस्वच्छजलस्सुरत्तनिचयश्चारित्र्यवीचिचय-
सिद्धान्तादि-समस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः ।
तच्छिष्यान्निखिलप्रबोधजननं तत्त्वार्थवृत्तेः पदं
सुव्यक्तं परमागमार्थविषयं जातं प्रभाचन्द्रतः ॥

श्रीपद्मनन्दिसिद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् पादपूज्यपदे रतः ॥

मुनीन्दुर्नन्दितादिन्दन्निजमानन्दमन्दिरम् ।
सुधाधारोद्गिरन्मूर्तिः काममामोदयज्जनम् ॥

इति तत्त्वार्थवृत्तिपदं समाप्तम् ।

ग्रन्थोऽयं धेनुपुरे (जैनमूडविडी) निवसिता 'एन नेमिराजेन'
इत्याख्येन मया लिखितः । रक्ताक्षि सं० कार्तिक कृ०प०
सप्तम्यां तिथौ समाप्तश्चेति विरम्यते
समाप्तः ।

परिशिष्ट 3

तत्त्वार्थवृत्तिपदे उद्धृतपद्यानुक्रमणी

	पृष्ठ		पृष्ठ
अदृढ तीसद्वलवा [गो० जी० 574]	401	दंसणमोहकखवगो [पञ्चसं० 11202]	390
अदृढेव सयसहस्ता [गो० जी० 628]	395	दहकोडाकोडिउ	391
अपपञ्जताण पुणो	423	दो दो चउ चउ दो दो	218
अर्थस्यानेकरूपस्य [अष्टशतीसे उद्धृत]	414	पच्छायडे य सिद्धे [सिद्धभ० 4]	428
अंतो कोडाकोडी	423	पडिमहमुच्चट्टाण [वसु० आ० 224]	422
आकंपिय अणुमाणिय [भ० आ० 562]	426	पढमपढमं णियदं	414
आवलिअसंखसमया [गो० जी० 562]	401	पंचम आणद पाणद [मूलाचार 1149]	413
एइदिय वियलिंदिय	423	पुढवी पुढवीकाओ	415
एगं पणवीसं पिय	432	पुव्वस्स दु परिमाणं	391
काऊ काऊ तह [मूलाचार 1134]	398	वत्तीसं अड्ढालं [गो० जी० 627]	394
कारणकज्जविहाणं	413	बंधं पडि एयत्तं	414
खवणाए पट्टवगो [पञ्चसं० 41203]	391	भवत्यभावोऽपि च [युक्त्यनु० 60]	426
खीणकसायाण पुणो	394	मणपज्जवपरिहारो [पञ्चसं० 11194]	391
गूढसिरसंधिपव्वं [गो० जी० 387]	423	मिथ्या दर्शनप्राप्ते	401
छस्सुण्ण वेणिण अट्टय	393	मिस्सेणाणाणतियं	393
जोगा पयडिपदेसा [पञ्चसं० 41513]	415	रयणप्पहाए जोयण [मूलाचार 1142]	413
णलया बाहू य तहा [गो० क० 28]	422	वज्जियणाणचउक्कं	396
णवणवदि दोणिण सया	393	वर्गः शक्तिसमूहो [सं० पं० सं० 1145]	389
णिच्चिदरधादु सत्तय [वा० अणु० 28]	416	विगलिदिए असीदि [भावपा० 29]	403
तिणिणसया छत्तीसा [गो० जी० 123]	403	विसवेयणरत्तक्खय [गो० क० 57]	416
तिणिणसहस्ता सत्तय	401	वीसनवुंसयवेदा	428
तिण्हं दोण्हं दोण्हं [गो० जी० 533]	399	सक्कीसाणा पढमं [मूलाचार 1148]	413
तिहयं सत्त विहत्तं	423	सत्ताई अदृढता [गो० जी० 632]	495
तेऊ तेऊ तह तेऊ [पञ्चसं० 11189]	399	सम्मत्ते सत्तदिणा [पञ्चसं० 11205]	410
तेरसकोडीदेसे [गो० जी० 641]	395	सोलसगं चउवीगं	393
दडंदुगे ओरालं [पञ्चसं० 11199]	400		

•

परिशिष्ट 4

उद्धृतवाक्य-सूचि

[सर्वार्थसिद्धिमें हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे जो गाथा, श्लोक या वाक्य उद्धृत मिलते हैं वे किन ग्रन्थों के हैं या किन ग्रन्थोंके अंग बन गये हैं यहाँ उन ग्रन्थोंके नाम निर्देशके साथ यह सूची दी जा रही है ।]

अण्णोण्णं पविसंता [पंचत्थि० गा० 7]	557
अत्तादि अत्तमज्झं [णियमसार 26]	574
अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिवेधो वा । [पा० म० भा० पृ० 335, परि० शे० पृ० 380]	16
अमुदरा कन्या	186
अन्नं वै प्राणाः	681
अभ्रे चन्द्रमसं पश्य	164
अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः [पा० म० भा० 2, 2, 2, 24]	553
अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायां [पा० सू० वार्तिक]	693
असिदिसदं किरियाणं [गो० क० गा० 876]	731
आविष्टलिगा शब्दा न कदाचिल्लिगं व्यभिचरन्ति	529
इन्द्रियं प्रमाणम्	166
उच्चाालदम्हि पादे [प्रवचन० क्षे० 3, 16]	687
उपयोग एवात्मा	20
उत्सप्पिणि अवसप्पिणि [बारह अणुपेक्खा 27, सुदखंड 2]	277
ओगाढगाढणिचिओ	553
कल्थो हि वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तव्यधीनम् [पा० म० भा० 1, 1, 8]	841
क्व भवान्तास्ते ? आत्मनि	549
काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः	819
कारणत्तदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम्	206
कारीषोऽग्निरध्यापयति [पा० म० भा० 3, 1, 2, 26]	569
क्षणिकाः सर्वसंस्काराः	180
क्षत्रिया आयाताः, सूरवर्माऽपि	19
गुण इदि दब्बविहाणं	600
चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्	2
जोगा पयडि पएसा [मूला० 244, पंचसं० 4, 507 गो० क० गा० 257]	736
णवदुत्तरसत्तसया [ति० सा० गा० 332]	465
णहि तस्स तण्णिमित्तो [प्रवच० क्षे० 3, 17]	687
णिच्चिदरखातुसत्त य [मूलाचार 529 एवं 12.63, गो० जी०...]	324
णिद्धत्स णिद्धेण दुराधिण [षट्खण्डागम, गो० जी० 614]	596

णिरयादि जहण्णादिसु [वारहअणुपेक्खा 28]	278
तदस्मिन्नस्तीति	479
तस्य निवासः	479
द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम् [पा० मा० भ० 1, 1, 9]	485
धनं प्राणाः	681
न दुःखं न सुखं यद्वद्	630
न दुःखं न सुखं यद्वद्वेतु०	630
नान्यथावादिनो जिनाः	890
नेध्रुवे त्यः [जैनेन्द्र० 3, 8, 82]	533
पुट्ठं सुणेदि सद् [पंचमंग्रह 1, 68]	203
गुरुष एवेदं सर्वम्	12
पुव्वस्स द्दु परिमाणं [जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति 13, 12]	426
प्रथिव्यादिजातिभिन्नाः परमाणवः	236
प्रथिव्यप्तेजोवायवः काठिन्थादि—	236
प्रथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि	236
प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थवधारणं नयः	24
प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः	16
प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्	2
बुद्ध्यादिवैशेषिकभुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्षः	2
बंधं पडि एयत्तं	269
मरदु व जियदु व जीवो [प्रवचन० 17]	687
रागादीणमणुप्पा	705
योगागासपदेसे [गो० जी० 588, दव्वसं० 22]	602
ववहाम्मद्दारद्धा पल्ला [तिलो० पं० 1, 94 जंजू० पं० 13, 36]	439
विजानानि न विज्ञान [नि० सा० 1, 94]	179
वियोजयति चाभुभिर्नं च [सिद्ध० द्वा० 3, 16]	687
विशेषण-विशेष्यसंबन्धे	20
विशेषणं विशेष्येणेति [जैनेन्द्र० 1, 3, 48]	527
मकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः	24
सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि तत्त्वम्	12
सन्निकर्षः प्रमाणम्	166
सव्वम्हि लोपय्वेत्तं [वारह अणुपेक्खा 26]	276
सव्वा पयडिट्ठदीओ [वारह अणुपेक्खा 29]	279
सव्वे वि पोम्मला खल्ल [वारह अणुपेक्खा 25]	275
साधोः कार्यं तपःश्रुते	569
सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः	200, 578
स्वयमेवात्मनात्मानं	687

परिशिष्ट 5

शब्दानुक्रमिका

अ		अतिप्रसंग	308	अनर्पित	587
अकषाय	616	अतिभारारोपण	710	अनवस्थित (अवधि)	215
अकषाय वेदनीय	648	अतिसन्धानप्रियता	640	अनशन तप	855
अकामनिर्जरा	632, 635	अर्थ	10	अनाकार (दर्शनोपयोग)	273
अकामत्व	602	अर्याधिगम	177	अनाकाङ्क्षाक्रिया	618
अगार	697	अदत्तादान	690	अनादर	720
अगारिन्	697	अदर्शनपरिषहसहन	836	अनादिसंबन्ध	340
अगुरुलघुगुण	568	अदृष्ट	533	अनादेयनाम	755
अगुरुलघुनामकर्म	755	अद्धापत्य	439	अनाभोगक्रिया	618
अग्निकुमार	453	अद्धासागरोपम	439	अनाभोगनिकोपाधिकरण	626
अग्निमाणव	453	अघर्म	526	अनाहारक	319
अग्निशिख	453	अधिकरण	25, 619	अनित्यानुप्रेक्षा	579
अग्निशिखा	932	अधिगमज सम्यग्दर्शन	15	अनित्यलक्षणसंस्थान	872
अचक्षुर्दर्शनावरण	744	अधोप्रावेयक	505	अनिन्द्य	186
अचित्त	324	अधोऽतिक्रम	717	अनियतकाल (सामयिक)	854
अचित्तयोनि	324	अधोलोक	479	अनिवृत्तिबादरसाम्पराय	34
अच्युत	478	अर्धनाराचसंहनन	755	अनिःसृत	191
अजबन्धोत्कृष्टासंख्येय	541	अर्धपुद्गलपरिवर्तन	258	अनीक	449
अजीव	18	अर्द्धार्धहीन	410	अनुकम्पा	631
अजीवकाय	527	अध्रुवावग्रह	193	अनुक्त	194
अज्ञातभाव	619	अनक्षरात्मक	572	अनुगामि (अवधि)	215
अज्ञान	264	अनगर	697	अनुग्रह	726
अज्ञानपरीषहजय	835	अनंगक्रीडा	714	अनुदिश	479
अज्ञानिकमिथ्यादर्शन	731	अनन्त	542	अनुदिशविमान	505
अणु 527, 547, 574, 701		अनन्तगुणवृद्धि	279	अनुत्तरोपपादिकदश	210
अणुचटन	572	अनन्तभागवृद्धि	279	अनुप्रेक्षा	788, 798, 867
अणुघ्नत	666, 701	अनन्तवियोजक	907	अनुभव	736, 773
अतिक्रम	717	अनन्तानन्त	545, 776	अनुभागबन्धस्थान	279
अतिचार	717	अनन्तानुबन्धी	751	अनुभागाध्यवसायस्थान	279
अतिथि	703	अनर्थदण्ड	703	अनुमत	623
अतिथिसंविभाग	703	अनर्थदण्डविरति	703	अनुत्सेक	659
अतिथिसंविभागघ्नत	702	अननुयामि (अवधि)	215	अनुवीचिभाषण	670
अतिदुष्पमा	418	अनपवर्त्यायुष	364	अनुश्रेणी	311

अनुश्रेणिगति	314	अपित	587	अवगाहना	936
अनृत	688	अबुद्धिपूर्वा (निर्जरा)	807	अवग्रह	189
अनृद्धिप्राप्त्यर्थ	435	अब्रह्म	693	अवर्णवाद	633
अनेकान्त	169	अभव्य	268, 742	अवद्य	679
अन्तकृद्दश	210	अभव्यत्व	268	अवधि	164
अन्तर	936	अभाषात्मक	572	अवमोदर्थतप	855
अन्तर्मुहूर्त	871	अभिनिबोध	181	अवसर्पिणी	277, 417, 418, 439
अन्तराय	846	अभिभव	568	अवस्थित	533, 34
अन्नपाननिरोध	710	अभिमान	582	अवस्थित (अवधि)	215
अन्त्य	346	अभिषव	721	अवाय	189
अन्त्यसौक्ष्म्य	572	अभीक्ष्णज्ञानोपयोग	635	अविग्रह	313
अन्त्यस्थौल्य	572	अभ्यन्तरोपधित्यागव्युत्सर्ग	870	अविग्रहगति	317
अन्यत्वानुप्रेक्षा	802	अभ्यहितत्व	17, 273	अविनाभावी	570
अन्यदृष्टिप्रशंसा	706	अमनस्क	281	अविनेय	682
अन्यदृष्टिसंस्तव	706	अमनोज्ञ	676	अविपाकजा (निर्जरा)	778
अपध्यान	703	अमनोज्ञसंप्रयोग (आर्तध्यान)	877	अविरत	855
अपर्याप्तिनाम	755	अमितगति	453	अविरति	729
अपरगा	408	अमितवाहन	453	अव्यय	585
अपरत्व	568	अमूर्त	269, 602	अव्याधाति	356
अपरा (स्थिति)	770	अम्बारीष	375	अव्यावाय	491
अपराजित	478	अयत्नसाध्य (कर्माभाव)	923	अव्रत	617, 18
अपवर्ग	926	अयथाकाल	364	अशरणानुप्रेक्षा	800
अपवर्त्यायुष	365	अयशःकीर्तिनाम	755	अशुचित्वानुप्रेक्षा	804
अपान	563	अयोग	897	अशुभकाययोग	614
अपाय	678	अयोगकेवली	34	अशुभनाम	755
अपायविचय	890	अरति	750	अशुभमनोयोग	614
अपूर्वकरण	34	अरतिपरीषह जय	847	अशुभयोग	614
अप्रतिपात	220	अरति	483	अशुभवाग्योग	614
अप्रतीक्षा	338	अरिष्ट	491	अशुभश्रुति	703
अप्रवीचार	458	अरुण	490	अश्व	491
अप्रमत्तसंयत	34	अरुणवरद्वीप	379	अष्टमभक्त	422
अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपः अधिकरण	626	अरुणवरसमुद्र	379	असत्	236, 689, 89
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान	721	अरूप	534	असमीक्ष्याधिकरण	720
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग	721	अलातचक्र	563	असद्वेद्य	745
अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित- संस्तरोपक्रमण	721	अलाभपरीषह विजय	425	असाधारण (भाव)	269
अप्रत्याख्यानाक्रिया	618	अलेश्य	267	असिद्धभाव	265
अप्रत्याख्यानावरण	751	अल्पबहुत्व	33, 936	असुरकुमार	461
अप्राप्यकारि	204	अल्पस्यावग्रह	193	असुरभि	570
अर्पण	588	अवगाह	396, 548	असुरभिगन्धनाम	755

असंयत	264	आदित्य	491	आहारपर्याप्तिनाम	755
असंयम	787	आदेयनाम	755	आहारमार्गणा	30
असंख्येय	544, 334, 540	आद्य	349	इ	
असंख्येयगुण	334	आद्यअणुव्रत	701	इक्षुवरद्वीप	379
असंख्येयगुणवृद्धि	279	आधाराध्वेयकल्पना	549	इक्षुवरसमुद्र	379
असंख्येयगुणनिर्जरा	908	आधाराध्वेयभाव	549	इत्वारिका	714
असंख्येयभागवृद्धि	279	आधिकरणिकी क्रिया	618	इत्थलक्षणसंस्थान	572
असंगत्व	931	आनत	479	इन्द्रक	473
असंजिपचेन्द्रिय	288	आनयन	717	इन्द्रिय	184, 294, 618
असम्प्राप्तामृपाटिकासंहनननाम		आनुपूर्व्यनाम	755	इन्द्रियपर्याप्तिनाम	755
	755	आपेक्षिकसौक्ष्म्य	572	इन्द्रियमार्गणा	34
अस्तित्व	269	आपेक्षिकस्थौल्य	572	इन्द्रियविषय	676
अस्तिनास्तिप्रवाद	210	आभियोम्य	449		
अस्थिरनाम	755	आभ्यन्तरनिर्वृति	294	ई	
अहमिन्द्र	493	आम्ल (रस)	569	ईर्ष्या	616
अहंत्पूजाकरणतत्परता	632	आम्लनाम	755	ईर्ष्यपथ	616
		आम्नाय	867	ईर्ष्यपथक्रिया	618
आ		आयत	430, 572	ईर्ष्यसमिति	668, 794
आकन्दन	630	आयाम	395	ईशान	478
आकाश	526, 542, 43	आयुःप्राण	286	ईहा	189
आकिञ्चन्य	797	आयुःस्थिति	461	उ	
आक्रोशपरिषहसहन	826	आरण	478	उक्त	194
आगम	211	आरम्भ	638, 646	उच्चैर्गोत्र	757
आगमद्रव्यजीव	22	आरातीय	211	उच्छादन	658
आगमभावजीव	22	आर्य	434	उच्छ्वासनाम	755
आग्रायणीय	210	आलोकितपानभोजन	668	उच्छ्वासनिःश्वासप्राण	286
आङ्	537	आलोचन	861	उत्कर	572
आचार	210	आवरण	737	उत्कृष्टस्थिति	761
आचार्य	865	आवलिका	275, 604	उत्तरकुरु	383
आर्जव	796	आवश्यकपरिहाणि	656	उत्तरकुमनुष्य	418
आज्ञाविज्ञय	890	आशंसा	724	उत्तरगुणनिर्वर्तन	626
आज्ञाव्यापादिकी क्रिया	618	आसादन	627	उत्तरप्रकृति	279
आतप	572	आस्रव	17	उत्पाद	583
आतपनाम	755	आस्रवानुप्रेक्षा	805	उत्पादपूर्व	210
आर्त्तध्यान	773	आहार	319	उत्तम	364
आत्मप्रवाद	210	आहारक	320	उत्तमसंहनन	871
आत्मरक्ष	449	आहारकशरीर	330, 357	उदय	635
आत्मरक्षित	491	आहारकशरीरनाम	755	उदधिकुमार	460
आत्मवध	705	आहारकशरीररांगोपांगनाम		उदार	331
आदान	691		755		

		ऊ		अं	
उद्धारपत्य	439				
उद्भावन	659	ऊर्ध्वातिक्रम	717	अंगप्रविष्ट	210
उद्योत	572			अंगबाह्य	210
उद्योतनाम	755	ऋ		अंगोपांगनाम	755
उत्सर्गसमिति	794	ऋजुगति	320	अंड	326
उत्सर्पिणी	439, 418	ऋजुसृतिमनःपर्यय	217	अंडज	326
उत्सेध	371	ऋजुविमान	479	अंतःकरण	187
उपकरण	293, 703	ऋजुसूत्र	245	अंतःकोटाकोटी	258
उपकरणसंयोगाधिकरण	626	ऋतु	689	अन्तर	32
उपकार	557	ऋद्धिप्राप्त	435	अन्तराय	627, 738
उपग्रह	557	ऋद्धिप्राप्तार्थ	435	अन्तर्मुहूर्त	278, 438
उपघात	628	ए			
उपघातनाम	755	एकक्षेत्रावगाह	779	क	
उपचारविनय	864	एकत्ववितर्क	906		
उपन्यास	249	एकत्ववितर्कशुक्लध्यान	895	कटुकनाम	755
उपाध्याय	865	एकत्वानुप्रेक्षा	802	कटुकरस	570
उपासकाध्ययन	210	एकयोग	897	कठिन	570
उपपाद	321, 918	एकान्त	269	कथञ्चित्	586
उपपादक्षेत्र	316	एकान्तमिध्यादशन	731	कर्कशनाम	755
उपपादजन्म	327	एकेन्द्रियजातिनाम	755	कर्म	310, 610
उपभोग	346, 703	एरण्डबीज	932	कर्मद्रव्यपरिवर्तन	275
उपभोगपरिभोगानर्थक्य	719	एवम्भूत	248	कर्मनोर्कर्मबन्ध	572
उपभोगपरिभोगपरिमाण	702, 703	एवणासमिति	794	कर्मप्रवाद	210
उपभोगान्तराय	758	ऐ		कर्मभूमि	435
उपयोग	270, 295	ऐरावतवर्ष	385	कर्मभूमिज म्लेच्छ	435
उपरिमश्रैवेयक	504	ऐशानकल्प	478	कर्मस्थिति	440
उपवास	703			कर्माय	435
उपशम	268	औ		कल्प	418, 447, 486
उपशमक	907	औदयिक	252	कल्पातीत	474
उपशान्तकषाय	220	औदारकशरीर	330	कल्पोपपन्न	446, 474
उपशान्तकषायवीतरामछद्मस्थ	349	औदारिकशरीरनाम	755	कषाय	264, 615, 729
उपशान्तमोह	908	औदारिकशरीरांगोपांगनाम	755	कषायकुशील	910
उपसर्जनीभूत	588	औपपादिक	350	कषायनाम	755
उपस्थापना	861	औपशमिकभाव	251	कषायरस	570
उष्ण	324, 570	औपशमिकचारित्र	259	कषायवेदनीय	257
उष्णनाम	755	औपशमिकसम्यक्त्व	259	कषायाध्यवसायस्थान	279
उष्णपरिबृहसहन	818	औपशमिकादि	924	कांक्षा	706
उष्णयोनि	324	औषध	703	कापोतलेश्या	445
				कापोतीलेश्या	371

कारिपट्ट	478	कुञ्जसंश्राननाम	755	आधोपशमिक	251
कामचार	491	कुप्य	714	क्षयोपशमिकचारित्र	263
कामतीव्रामित्तेष	714	कुल	821	क्षयोपशमिकभाव	263
कार्मणकाययोगस्थ	286	कुलपर्वत	384	क्षयोपशमिकसम्यक्त्व	263
कार्मणशरीर	310, 330	कुलमृत्वा (निर्जरा)	807	क्षयोपशमिकसम्यग्मासंयम	263
कार्मणशरीरनाम	755	कुशोल	909	क्षित्र	191
काय	286, 526	कृत्स्नस्वक्रिया	711	क्षीणकायय	220, 908
कायगुप्ति	793	कृत	623	क्षीणकायवीतरागछद्मस्थ	34
कायवर्त्तनप	855	कृष्ण	570	क्षीणमोह	907
कायत्व	602	कृष्णवर्णनाम	755	क्षीरवरद्वीप	379
कायदृग्प्रणिधान	720	कृष्णलेश्या	371, 445	क्षीरवरसमुद्र	379
कायनिर्ममार्थिकरण	626	केवल	164, 920	क्षुद्रभव	276
कायवलप्राण	286	केवलदर्शनावरण	744	क्षुद्रहिमवान्	385
कायमार्गणा	34	केवलि-अवर्णवाद	634	क्षेत्र 32, 404, 715, 937	
काययोग	610, 897	केवलित्	633, 892	क्षेत्रपरिवर्तन	276
कायस्वभाव	684	केसरित्	392	क्षेत्रवृद्धि	716
कायस्थिति	439	कोटरकोटी	760	क्षेत्रसंसार	276
कायिवीक्रिया	618	क्रोध	670	क्षेत्रार्थ	435
कारणविपर्ययस	237	क्रोधप्रत्यक्ष्यान्	671	क्षेमंकर	491
कारित	623	कौतुक्य	718, 719		
कारुण्य	682	कन्दर्प	719		
कार्यकारणभावसन्तति	341				
काल 33, 453, 577, 601					
602, 936		क्ष		खण्ड	572
कालनिव्रम	312				
कालपरमाणु	528	क्षपक	908	ग	
कालपरिवर्तन	277	क्षमा	796		
कालव्यभिचार	246	क्षय	215, 252	गंगा	385, 404
काललब्धि	258	क्षयोपशम	215	गण	865
कालसंसार	277	क्षयोपशमनिमित्तक-अवधि		गति 264, 482, 558, 755	
कालातिक्रम	723		212, 214	गतिमार्गणा	34
कालोद	379	क्षायिक	251	गन्ध	299, 570
किन्नर	453, 462	क्षायिकउपभोग	260	गन्धनाम	755
किम्पुरुष	453, 462	क्षायिकज्ञान	260	गन्धर्व	462
कित्त्वपिक	449	क्षायिकदर्शन	260	गर्दलोय	491
क्रिया 539, 568, 617		क्षायिकदान	260	गर्भ	321
क्रियाविशाल	210	क्षायिकभोग	260	गुण 591, 599, 606	
क्लिश्यमान	683	क्षायिकलाभ	260	गुणकार	335
कीर्ति	402	क्षायिकवीर्य	260	गुणस्थान	34
कीर्तिकासहस्रकलास	755	क्षायिकमायवत्त्व	260	गुणाधिक	682

गुप्ति	788, 792	चारित्र	6,788	ज्ञ	
गुरु	570	चारित्रमोह	847	ज्ञातभाव	619
गुरूनाम	755	चारित्रविनय	864	ज्ञातधर्मकथा	210
गृहस्थ	705	चारित्रार्थ	435	ज्ञान	6, 272, 926, 936
ग्रंथेयक	478	चित्त	323	ज्ञानप्रवाद	210
गोत्र	738	चिन्ता	181	ज्ञानविनय	864
ग्लान	865	चूर्ण	572	ज्ञानवरण	737, 844
		चूर्णिका	572	ज्ञायकशरीर	22
		चूलिका	210	ज्ञानोपयोग	273
घ		छ		त	
घन	570	छप्पस्थ	273	तत	572
घनवातबलय	367	छद्मस्थवीतराग	839	तत्त्व	10, 20
घनांगुल	276, 780	छाया	572	तत्त्वार्थ	9, 10
घनोदधिवलय	367	छेद	711, 861	तत्त्वाधिगम	23
घृतवरद्वीप	379	छेदोपस्थापनाचारित्र	853	तथागतिपरिणाम	931
घृतवरसमुद्र	398			तद्भ्यतिरिक्तजीव	22
घ्राण	288	ज		तदाहृतादान	712
च		जगत्स्वभाव	685	तदुभय (प्रायश्चित्त)	862
		जघन्यगुण	592	तनुवातबलय	367
चक्षुष्	298	जन्म	324	तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग	674
चक्षुर्दर्शनावरण	744	जम्बूद्वीप	378, 379	तप	656, 796
चक्षुःप्राण	288	जम्बूवृक्ष	383, 430	तपःप्रायश्चित्त	861
चतुर्णिकाय	433	जयन्त	478	तपस्विन्	86
चतुर्थ-अणुव्रत	701	जरायु	325	तमस्	572
चतुर्थभक्त	422	जरायुज	320	तमःप्रभा	366
चतुरस्र	572	जलकान्त	453	ताप	630
चतुरस्रादि	381	जलप्रभ	453	तिक्त	570
चतुरिन्द्रिय	288	जाति	755	तिक्तनाम	755
चतुरिन्द्रियजातिनाम	565	जात्याग	435	तिगिञ्छ	392
चन्द्राभ	491	जिन	840, 841	तिर्यग्गतिक्रम	717
चमर	453	जीव	17, 296, 734	तिर्यग्गति	755
चरम	365	जीवत्व	267	तिर्यग्योनि	495
चरमदेह	365	जीवसमास	34	तिर्यग्योनिज	441
चरमोत्तमदेह	364	जीवाधिकरण	623	तिर्यग्लोक	471
चर्यापरिषद्सहस्र	423	जीवित	562	तीर्त	915
चाक्षुष	579	जीविताशंसा	724	तीर्थकर	211
चाप	422	जुगुप्सा	750	तीर्थकरत्वनाम	755

तीव्रभाव	619	दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण	626	द्विचरम	492, 493
तुषित	491	दुष्पमा	418	द्विचरमदेहत्व	493
तृणस्पर्शपरिषहविजय	831	दुष्पमसुषमा	418	द्वितीय-अणुवत	701
तृतीय-अणुवत	701	दुःस्वरनाम	755	द्वीन्द्रिय	288
तैजसशरीरनाम	755	दृष्टिवाद	210	द्वीन्द्रियजातिनाम	754
तैर्यग्योनायु	753	देव	442, 633	द्वोप	378
तोरणद्वार	409	देवगति	755	द्वीपकुमार	460
त्याग	655, 797	देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम	755	द्वयणुक	545
त्रस	701, 754	देवपि	491	द्वेष	676
त्रसनाम	755	देवावर्णवाद	634		
त्रयस्त्र	572	देवी	402	ध	
त्रायस्त्रिंश	449	देह	370, 371	धन	714
त्रियोग	898	देश	666, 702	धनुष्	422
त्रीन्द्रिय	288	देशतन्त्रयम	312	धरण	453
त्रीन्द्रियजातिनाम	751	देशप्रत्यक्ष	212	धर्म	526, 633, 788
		देशविरत	885	धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा	810
द		देशविरति	702	धर्मध्यान	873
दशवैकालिक	211	देशघातिस्पृष्टक	263	धर्मावर्णवाद	634
दर्शन 6, 190, 273, 926		दैवकुरवक	422	धर्मास्तिकाय	561, 934
दर्शनक्रिया	618	दैवायु	752	धर्मोपदेश	867
दर्शनमार्गणा	34	दंशनशकपरीषहक्षमा	819	धान्य	714
दर्शनमोह	846	द्युति	480	धारणा	189, 196
दर्शनमोहक्षपक	907	द्रव्य 21, 241, 528, 581		घातकीखण्ड	379, 430
दर्शनाविनय	864		599	घातकीवृक्ष	430
दर्शनविशुद्धि	655	द्रव्यकर्म	924	ध्यान	857, 871
दर्शनार्थ	435	द्रव्यजीव	22	धूमप्रभा	366
दर्शनवरण	737	द्रव्यत्व	529	धृति	402
दर्शनोपयोग	273	द्रव्यपरमाणु	906	ध्रुव	192
दातृविशेष	727	द्रव्यपरिवर्तन	275	ध्रुवावग्रह	196
दान	632, 726	द्रव्यमन 282, 531, 563		धौव्य	583
दानान्तराय	758	द्रव्यवाक	563		
दास	714	द्रव्यविशेष	727	न	
दासी	714	द्रव्यलिंग	363, 916	नदी	410
दिककुमार	460	द्रव्यलेश्या	265	नन्दीश्वरद्वीप	379
दिगन्तरक्षित	493	द्रव्यसंवर	785	नन्दीश्वरसमुद्र	379
दिग्विरति	702	द्रव्याधिकनय	24	नपुंसक	358, 363
दिशा	531	द्रव्याश्रय	605	नपुंसकवेद	750
दुःख	564, 629, 680	द्रव्येन्द्रिय	292	नय	24, 240
दुर्भगनाम	755	द्विगुण	410	नरक	369
दुष्पक्ष	721	द्विगुणद्विगुण	413	नरकगतिनाम	753

नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम	निसर्ग	625	परा (मिथ्या)	760
755	निसर्गक्रिया	618	परार्थ (प्रमाण)	24
नरकप्रस्तार	निःसृत	194	परिकर्म	210
नामकुमार	निःसृतावग्रह	193	परिग्रह	883, 638, 695
नागध्वपरीषह	निपध	386	परिणाम	371, 607
नाम (कर्म)	निपद्यापरीषहविजय	824	परिभोग	703
नामजीव	निष्कृतक्षेत्र	716	परिमण्डल	572
नामनिक्षेप	निष्क्रिय	539	परिवर्तन	275
नामप्रत्यय	निह्व	627	परिवारप	403
नारक	नीचैर्गोत्र	757	परिषद्	403
नारकभाव	नीचैर्वृत्ति	659	परिपक्व	403
नारकायु	नील	386, 570	परिषह	788
नाराचसंहनननाम	नीलवर्णनाम	755	परिहार (प्रायश्चित्त)	861
निकाय	नीललेश्या	271, 445	परिहारविशुद्धिचारित्र	853
निक्षेप	नृलोक	470	परीतानन्त	545
निगोद्वर्जीव	नैषमनय	240	परीषह	812
निर्गुण	नैसर्गिक (मिथ्यादर्शन)	731	परोक्ष	174
निर्ग्रन्थ	नैसर्गिक (सम्यग्दर्शन)	15	परोपकार	726
निर्जरा	नोआगमद्रव्यजीव	22	परोपदेशनिमित्तक	
निर्जरानुप्रेक्षा	नोआगमभावजीव	22	(मिथ्या०)	731
नित्य	नोआगमभाविजीव	22	परोपरोधाकरण	672
नित्यत्व	नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन	275	पर्याप्तिनाम	755
निदान	नोकषायवेदनीय	257	पर्याय	241, 599, 606
निदान (आतंध्यान)	न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-		पर्यायार्थिकनय	24
निन्दा	नाम	755	पत्य	438
निद्रा	न्यासापहार	711	पत्योपम	325, 422
निद्रानिद्रा			पाप	614, 783
निर्देश	प		पाप (बन्ध)	781
निबन्ध	पङ्कप्रभा	266	पापोपदेश	703
निर्माण	पञ्चम (अणुव्रत)	701	पारिग्रहिकी क्रिया	618
निर्माणरजः	पञ्चेन्द्रियजातिनाम	755	पारिणामिक	251, 597
नियतकाल (सामायिक)	पद्म	392	पारिणामिकभाव	266
निरपवाद	पद्यलेश्या	485	पारितोषिकी क्रिया	618
निरवशेष	पर	333	परिषद्	449
निरुपभोग	परघातनाम	755	पीत	570
निर्वर्तना	परत्व	568	पीतलेश्या	484
निर्वर्तनाधिकरण	परप्रत्यय उत्पाद	539	पीता (लेश्या)	444
निर्वृति	परमार्थकाल	568	पिपासासहन	816
निःशीलता	परविवाहकरण	713	पिशाच	462
निःशीलव्रत	परव्यपदेश	723	पुण्डरीक	392

पुण्य	614, 781	प्रतिरूप	453	प्राणव्यपरोपण	687
पुण्य (बन्ध)	781	प्रतिरूपकव्यवहार	712	प्राणातिपातिकी क्रिया	618
पुद्गल	275, 544	प्रतिश्रय	703	प्राणापानपर्याप्तिनाम	755
पुद्गलक्षेप	717	प्रतिसेवना	914	प्राणावाय	210
पुद्गलस्कन्ध	780	प्रतिसेवनाकुशील	910	प्रात्ययिकी क्रिया	618
पुमान्	363	प्रतीक्षात	339	प्रादोषिकी क्रिया	618
पुरुषव्यभिचार	246	प्रथमसम्यक्त्व	258	प्राप्यकारि	204
पुलाक	909	प्रथमानुयोग	210	प्रायश्चित्त तप	857
पुष्कर	400	प्रदेश 334, 540, 736, 780		प्रायोगिक	572
पुष्करवरद्वीप	379	प्रदेशप्रचय	602	प्रायोगिक बन्ध	572
पुष्करवरसमुद्र	379	प्रदेशबन्ध	780	प्रायोगिकी	568
पुष्पप्रकीर्णक	473	प्रदेशवत्त्व	269	प्रेष्यप्रयोग	717
पुवेद	750	प्रदेशसंस्थानविष्कम्भ	382	प्रोषध	703
पूर्ण	453	प्रदोष	628	प्रोषधोपवास	703
पूर्णभद्र	453	प्रभञ्जन	453	प्रोषधोपवासव्रत	702
पूर्व	406, 427	प्रमत्त	686		
पूर्वकोटी	426	प्रमत्तसंयत 34, 732, 886		व	
पूर्वगत	210	प्रमाजित	720	बन्ध 17, 572, 589,	
पूर्वगा	406	प्रमाण 23, 171		711, 735	
पूर्वप्रयोग	931	प्रमाणनिर्माण	755	बन्धच्छेद	931
पूर्वरतानुस्मरणत्याग	674	प्रमाणफल	169	बन्धननाम	755
पूर्ववित्	891	प्रमाणांगुल	439	बन्धपदार्थ	783
पृथक्त्ववितर्कवीचारभाक्	906	प्रमाद 687, 729		बहु 191, 194	
पृथक्त्ववितर्कशुक्लध्यान	895	प्रमादाचरित	703	बहुविध 191, 194	
पृथिवी	286	प्रमोद	682	बादर	555
पृथिवीकाय	286	प्रत्यक्ष	176	बादरनाम	755
पृथिवीकायिक	286	प्रत्यभिज्ञान	586	बादरसाम्पराय	842
पृथिवीजीव	286	प्रत्यवेक्षण	721	बाल तप 632, 648	
पोत	326	प्रत्याख्यानपूर्व	210	बाह्यनिवृत्ति	294
प्रकीर्णक	449	प्रत्याख्यामावरण	751	बाह्योपधित्यागव्युत्सर्ग	870
प्रकृति	736	प्रत्येकबुद्धबोधित	936	बुद्धि	402
प्रकृतिबन्धविकल्प	760	प्रत्येकशरीरनाम	755	बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा	809
प्रचला	743	प्रयोगक्रिया	618	ब्रह्म 478, 693	
प्रचलाप्रचला	743	प्रवचनवत्सलत्व	656	ब्रह्मचर्य	797
प्रच्छन्ना	867	प्रवादिन्	559	ब्रह्मलोकालय	488
प्रसापरिग्रहजय	834	प्रवीचार 455, 457		ब्रह्मा	479
प्रतर	572	प्रशंसा 657, 706, 707		ब्रह्मोत्तर	478
प्रतिक्रमण	861	प्रश्नव्याकरण	210	भ	
प्रतिघात	565	प्राण 286, 563		भक्तपानसंयोगाधिकरण	626
प्रतिपात	220	प्राणत 478		भक्ति	656

भय	747	मधुर	570	मार्गप्रभावना	656
भरतवर्ष	385	मधुरनाम	755	मणिभद्र	453
भरतविष्कम्भ	427	मध्यमैवेयक	505	मार्दव	644, 796
भवनवासी	460	मध्यप्रदेश	541	मानुषोत्तरशैल	434
भवपरिवर्तन	278	मन	563	माया	639, 697
भवप्रत्यय-अवधि	212	मनःपर्यय	164, 216	मायाक्रिया	618
भवस्थिति	440	मनःपर्याप्तिनाम	755	मारणान्ति	705
भविष्यत्	568	मनःप्रवीचार	456	माहेन्द्रवल्गु	479
भव्य	253, 268, 742	मन्दभाव	619	मित्रानुराग	723
भव्यत्व	268, 924	मनुष्यगति	755	मिथुन	693
भव्यमार्गणा	34	मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम	755	मिथ्यात्व	749
भाव	21, 32	मनोगुप्ति	669, 793	मिथ्यात्वक्रिया	618
भावकर्म	924	मनोज्ञ	676, 865	मिथ्यादर्शन	697, 729
भावजीव	22	मनोयोगदुष्प्रणिधान	719	मिथ्यादर्शनक्रिया	618
भावना	664, 673	मनोबलप्राण	288	मिथ्यादृष्टि	34, 786
भावपरमाणु	906	मनोयोग	610	मिथ्योपदेश	711
भावमन	282, 531, 563	मनोनिर्गन्धिकरण	626	मिश्र (भाव)	252
भावलिङ्ग	363, 916	मरण	565, 705	मिश्र (योनि)	324
भावलेख्या	264	मरणार्जस	724	मुक्त	274, 280
भाववाक्	563	मरुद्	492	मुख्यकाल	603
भावसंवर	785	मलपीडासहन	832	मूर्च्छा	694
भावसंसार	279	महाकाय	453	मूर्त	269
भावागार	699	महाकाल	452	मूर्ति	535
भाषापर्याप्तिनाम	755	महाघोष	453	मूर्तिमत्त्व	564
भाषालक्षण	572	महातमःप्रभा	367	मूलगुणनिर्वर्तन	626
भाषासमिति	794	महापद्म	392	मूलप्रकृति	279
शिक्षा	703	महापुण्डरीक	392	मृदुनाम	755
भीम	453	महापुरुष	453	मेरु	382
भीरुत्वप्रत्याख्यान	670	महाभीम	453	मेरुचूलिका	479
भूत	462, 568, 631	महामन्दर	479	मेरुनामि	383
भूतानन्द	453	महाव्रत	666	मेत्री	382
भूमि	366	महाशुक्र	478	मेथुन	692
भेद	572, 575	महास्कन्ध	572	मोक्ष	1, 8, 17, 922
भेदाभेदविपर्यास	236	महाहिमवान्	385	मोक्षमार्ग	4, 8
सैक्षशुद्धि	672	स्लेच्छ	435	मोक्षहेतु	19
भोगभूमि	437	महेन्द्र	479	मोहनीय	737
भोगान्तराय	759	महोरग	462	मोखर्य	719
		मात्सर्य	628, 723	य	
मति	163, 181	मार्गणास्थान	34	यक्ष	462
				यत्नसाध्य (कर्माभाव)	923

यशःकाल	364	ल	वशिष्ट	453
यथाख्यातचारित्र	853		वमु	491
यशःकीर्तिनाम	754	लक्षण	वाक्प्राण	288
याचनापरीपहसहन	828	लक्ष्मी	वाग्मुक्ति	668, 793
युक्तानन्त	545	लक्ष्य	वाग्मुद्रप्रणिधान	719
योग 310, 632, 729		लक्ष्यलक्षणभाव	वाग्निसर्गाधिकरण	626
योगदुरुप्रणिधान	719	लघु	वाग्योग	610
योगनिग्रह	792	लघुनाम	याचना	867
योगमार्गणा	34	लघ्वि	वातकुमार	460
योगवक्रता	651	लघ्विप्रत्यय	वापी	405
योगविशेष	779	लवणोद	वामनसंस्थाननाम	755
योगस्थान	279	लान्तव	वाग्णीवरद्वीप	379
योगिप्रत्यक्ष	178	लाभान्तराय	वारुणीवरसमुद्र	379
योजन	394	लिंग 264, 363, 916, 936	वासुकाप्रभा	366
योनि	324	लिंगव्यभिचार	वास्तु	714
		लेश्या 34, 265, 266, 445	विकलादेश	24
र		481, 917	विक्रिया	331
रक्तवर्णनाम	755	लेश्याविशुद्धि	विग्रह	310, 314
रक्ता	385	लोक	विग्रहगति	309
रक्तोदा	385	लोकक्षेत्र	विघ्न	662
रत्नप्रभा	369	लोकपाल	विचिकित्सा	706
रति	750	लोकपूरण (समुद्घात)	विजय	478
रम्यकवर्ष	385	लोकविन्दुभार	विजयार्थ	385
रस 299, 569		लोकाकाश	वितर्क	903
रसन (रन्ध्रिय)	298	लोकानुप्रेक्षा	वितत	572
रसनाम	755	लोकानुयोग	विदारणक्रिया	618
रसनप्राण	288	लोभप्रत्याख्यान	विदेह	425
रसपरित्याग	855	लोहित	विदेहजन	418
रहोऽम्भ्याख्यान	711	लौकान्तिक	विद्यानुप्रवाद	210
राक्षस	462	व	विद्याधर	434
राग	676	वक्रुण	विद्युत्कुमार	460
रविमन्	385	वज्रनाराचसंहनननाम	विधान (अनुयोगद्वार)	26
रुक्ष	570, 589	वर्ण	विधि	727
रुक्षनाम	755	वर्णनाम	विधिविशेष	728
रूप	535	वर्तना	विनय (तप)	857
रूपप्रवीचार	456	वध	विनयसम्पन्नता	655
रूपानुपात	717	वधपरिपहक्षमा	विपर्यय	233
रूपिन्	535	वनस्पति	विपरीन (मित्यादर्शन)	731
रोगपरिपहसहन	830	वर्द्धि	विपाक	773
रौद्रध्यान	873	वनयन्त्र	विपाकजा (निर्जरा)	778

विपाकविचय	890	वेदना आर्तध्यान	882	शब्दनय	246
विपाकसूत्र	210	वेदनीय	737, 849	शब्दप्रवीचार	456
विपुलमतिमनःपर्यय	216	वेदमार्गणा	34	शब्दानुपात	717
विभंगज्ञान	239	वैक्रियिकशरीर	330	शय्यापरीषहक्षमा	825
विमान	473	वैक्रियिकशरीरनाम	755	शर्कराप्रभा	366
विमोचितावास	672	वैक्रियिकशरीरान्गोपांग-		शरीर	482, 562
विरत	907	नाम	755	शरीरनाम	755
विरताविरत	703	वैजयन्त	478	शरीरपर्याप्तिनाम	755
विरति	663	वैनयिक (मिथ्यादर्शन)	731	शरीरोत्सेध	418
विस्मृतराज्यातिक्रम	712	वैमानिक	473	शल्य	696
विश्विक्तशय्यासनतप	855	वैद्यावृत्त्य	632, 656	शिखरिन्	386
विद्वत्	324	वैयावृत्त्यतप	857	शीत	570
विद्वत्तयोनि	324	वैराग्य	684	शीतनाम	755
विवेक	861	वैरोचन	453	शीतयोनि	324
विशुद्धि	219, 221	वैलम्ब	453	शीतवेदनासहन	817
विशेष	588, 624	वैस्वसिक	572	शील	706, 708
विशेषार्पणा	588	वैस्वसिक बन्ध	572	शीलव्रतेष्वनतिचार भावना	
विश्रेणिगति	314	वैस्वसिकी	568		655
विश्व	491	व्यञ्जनावग्रह	199	शुक	478, 479
विषयनिबन्ध	225	व्यन्तर	462	शुक्ल	570
विषयसंरक्षणस्मृतिसमन्वाहार	887-88	व्यपगतलेपालांबु	932	शुक्लध्यान	573
		व्यय	583	शुक्लेश्या	55, 485
विष्कम्भ	380	व्यवहार	245	शुक्लवर्णनाम	755
विसर्प	557	व्यवहार काल	568, 603	शुभनाम	755
विमंवादन	652	व्यवहारपत्य	439	शूयागारावास	672
विहायोगतिनाम	755	व्याख्याप्रज्ञप्ति	210	शैक्ष	865
वीचार	905	व्याघात	356	शोक	629, 750
वीतरागसम्यक्त्व	12	व्युत्सर्ग	861	शोच	632, 796
वीप्सा	624	व्युत्सर्गतप	857	श्रावक	701, 907
वीर्यं	620	व्युपरतक्रियानिर्वति	895	श्री	402
वीर्यान्तराय	758	वृष्येष्टरसत्याग	674	श्रुत	164, 205, 301, 633, 911
वीर्यानुप्रवाद	210	व्रत	663, 708	श्रुतकेवलिन्	211
वृत्त	572	व्रतिन	632	श्रुतज्ञान	207, 302
वृत्तिपरिसंख्यान	855			श्रुताज्ञान	239
वृद्धि	417	श		श्रुतावर्णवाद	634
वृषभेष्ट	491	शका	264	श्रेणि	312
वेणुदेव	453	शत	283	श्रेणीबद्ध	473
वेणुधारी	453	शतसहस्र	283	श्रेयस्कर	491
वेद	362	शतार	478	श्रोत्र	298
वेदना	371	शब्द	299		

श्रोत्रप्राण	288	सम्यक्त्वप्रकृति	479	साकारमन्त्रभेद	711
		सम्यक्त्व-अधिकरण	28	सागरोपम	258, 439
ष		सम्यक्त्व-निर्देश	25	सागरोपमकोटीकोटी	418
षट्स्थानपतित	279	सम्यक्त्व मार्गणा	34	सादिसम्बन्ध	341
षष्ठभक्त	422	सम्यक्त्व निधान	31	साधन	25
		सम्यक्त्व साधन	28	साधनव्यभिचार	246
स		सम्यक्त्व स्थिति	30	साधारणभाव	269
सकलादेश	24	सम्यक्त्व स्वामित्व	25	साधारण शरीर	555
स कषाय	615, 733	सम्यग्ज्ञान	4	साधारणशरीरनाम	755
सक्रियत्व	602	सम्यग्दर्शन	4, 9, 10, 26	साधु	865
सचित्त	323	सम्यग्दृष्टि	749, 907	साध्य	937
सचित्त (योनि)	324	सम्यङ् मिथ्यात्व	749	सानत्कुमार	478
सचित्तनिक्षेप	722	सम्यङ् मिथ्यादृष्टि	34	सापवाद	706
सचित्तापिधान	723	सम्पराय	616	सामान्य	588
सत् 32, 235, 581, 389		समादानक्रिया	618	सामानिक	402, 449
सत्कार-पुरस्कार परिषद्-		समाधि	656	सामान्यसंज्ञा	527
सहन	833	समारम्भ	624	सामान्यार्पणा	588
सत्त्व	682	समिति	488	सामायिक (शिक्षाव्रत)	703
सत्पुरुष	453	सम्भिन्न	721	सामायिकचारित्र	854
सत्य	796	समुच्छिन्नक्रियानिर्वृति	906	सामायिकव्रत	702
सत्यप्रवाद	210	समुद्र	378	साम्परायिक	616
सत्याभ	491	सम्पूर्च्छन	321	साम्य	594
सत्पशम	463	सम्पूर्च्छनजन्म	329	सारस्वत	490
सद्दश	594	सम्पूर्च्छन	358	सासादनसम्यग्दृष्टि	34
सद्वैद्य	745	सयोगकेवली	34	सिद्धत्व	926
सधर्माविसंवाद	672	सराग	632	सिन्धु	385, 404
सनत्कुमार	479	सरागसम्यक्त्व	12	सुख	480, 564
सन्निकर्ष	165	सराग संयम	632, 647	सुघोष	453
सप्रतिष्ठात (शरीर)	555	सरित्	404	सुजन्त	624
समचतुरस्रसंस्थाननाम	755	सल्लेखना	705	सुधर्मा	479
समनस्क	281, 307	सर्व	666	सुपर्णकुमार	460
समन्तानुपातक्रिया	618	सर्वज्ञ	211, 569	शुभमनाम	755
समभिरुद्ध	247	सर्वधातिस्पर्धक	263, 304	सुरभि	570
समय	275	सर्वप्रत्यक्ष	212	सुरभिगन्धनाम	755
समवाय	210	सर्वरक्षित	491	सुवर्ण	714
सम्बन्ध	721	सर्वार्थसिद्धि	478	सुषमा	418
संभिन्नबुद्धि	664	सहसानिक्षेपाधिकरण	627	सुषमसुषमा	418
सम्यक् चारित्र	4	सहस्र	382	सुस्वरनाम	755
सम्यक्त्व	649, 926	सहस्रार	478	सूक्ष्म	555
सम्यक्त्वक्रिया	618	साकार	273	सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति	895, 906

सूक्ष्मनाम	755	स्पर्शन (इन्द्रिय)	297	सरम्भ	624
सूक्ष्मनिगोदजीव	276	स्पर्शनक्रिया	618	संवर	17,784,792
सूक्ष्मसाम्पराय	34, 838	स्पर्शतनाम	755	संवरानुप्रेक्षा	806
सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र	853	स्पर्शनेन्द्रियप्राण	286	संवृत	323
सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह	799	स्पर्शप्रवीचार	456	संवृतयोनि	325
सूत्र	210	स्थिर	755	संवेग	655, 684
सूत्रकृत (अंग)	210	स्व	726	संशय (मिथ्यादर्शन)	731
सूर्यभि	491	स्वतत्त्व	251	संसार	801
सौक्ष्म्य	572	स्वयम्भूरमणसमुद्र	379	संसारिन्	274
सौधर्म	478	स्वरूपविपर्यास	236	संसार-हेतु	19
सौधिर	572	स्वातिसंस्थाननाम	755	संसारानुप्रेक्षा	801
स्कन्ध	545, 573	स्वार्थप्रमाण	24	संस्तव	707
स्तनितकुमार	460	स्वामित्व	25	संस्थाननाम	755
स्त्यानगृद्धि	743	संकर	600	संहार	556
स्तेनप्रयोग	712	संक्लिष्टासुर	374		
स्तेय	690	संख्या	32, 936	ह	
स्तेयस्मृतिसमन्वाहार	888	संख्याव्यभिचार	240	हरिकान्त	452
स्त्री	363	संख्येय	544	हरिवर्ष	385
स्त्रीपरीषहसहन	822	संख्येयगुणवृद्धि	279	हरिवर्षमनुष्य	418
स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग	674	संख्येयभागवृद्धि	279	हरिसिंह	252
स्त्रीवेद	750	संग्रहनय	243	हारिद्रवर्णनाम	755
स्थान	210, 919	संघ	633, 865	हारिवर्षक	421
स्थाननिर्माण	755	संघात	576	हास्यप्रत्याख्यान	670
स्थापना	21	संघातनाम	755	हिरण्य	714
स्थापनाजीव	22	संघावर्णवाद	634	हिंसा	687
स्थावर	384	संज्वलन	751	हिंसाप्रदान	703
स्थावरनाम	755	सज्जा	181, 308	हिंसास्मृतिसमन्वाहार	888
स्थिति	25,366-77,480, 558,736	संज्ञित्व	308	हीनाधिकमानोन्मान	712
स्थितिवन्धविकल्प	760	संज्ञिपञ्चेन्द्रिय	288	हीयमान अवधि	215
स्थौल्य	572	संज्ञिन्	308	हुंडसंस्थान	371
स्निग्ध	570	संस्थान	572	हुंडसंस्थाननाम	755
स्निग्धनाम	755	संस्थानविचय	890	हैमवतक	421
स्मृति	181	संयत	632	हैमवतक मनुष्य	418
स्मृत्यनुपस्थान	720	संयतासंयत	34, 632	हैमवतवर्ष	385
स्मृत्यन्तराधान	716	संयम	632,796,911	हैमवतवर्ष	385
स्पर्श	299, 567	संयममार्गणा	34	हृद	382
स्पर्शन (अनुयोगद्वार)	32	संयमासंयम	932, 647	ह्लास	417
		संयोग	589, 625	ह्री	402

सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री

(सन् १९०१-१९६२)

भारतीय मनीषियों में, विशेषकर जैनदर्शन एवं सिद्धान्त के क्षेत्र में, सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री अपनी बहुआयामी शास्त्र-विद्या के लिए विख्यात रहे हैं। चिन्तन-मनन तथा साहित्य-साधना में सतत संलग्न पण्डितजी की राष्ट्रीय एवं सामाजिक उत्थान के आन्दोलनों में विशेष भूमिका रही है। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में आपने जेल-यात्रा भी की।

पण्डितजी आगम के मर्म के विचक्षण व्याख्याता रहे हैं। निर्जीव गतानुगतिकता के मूल में पैठी, विलुप्त तेजस्विता को उभारकर जैनदर्शन के लोकोपकारी सार्वजनिक रूप के उद्घाटन तथा उसके प्रचार-प्रसार में आपका साहसिक नेतृत्व अनेक दशकों से क्रियाशील रहा है।

ललितपुर (उ. प्र.) के निकट ही एक छोटे-से गाँव सिलावन में जन्मे पण्डितजी ने अनेक संस्थाओं में अध्यापनदायित्व के सफल निर्वाह के कारण अपनी एक लम्बी शिष्य-परम्परा को प्रभावित किया है। धर्माध्यापक के रूप में आप हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से भी सम्बद्ध रहे। दर्शन, सिद्धान्त एवं आचार विषयक कितनी ही चर्चाओं में आपने अपने अगाध ज्ञान से विद्वज्जगत् को चमत्कृत किया है।

मौलिक रचनाएँ—१. जैन तत्त्वमीमांसा, २. जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था, ३. विश्वशान्ति और अपरिग्रहवाद, ४. वर्ण, जाति और धर्म।

सम्पादित ग्रन्थ—पचास से अधिक। इनमें धवला और जयधवला के अनेक खण्ड, प्रमेयरत्नमाला, पंचाध्यायी, महाबन्ध, समयसार-कलश, लब्धिसार-क्षपणासार, आत्मानुशासन आदि आगम-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ

स्थापना : सन् 1944

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान
और प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण

संस्थापक

स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन

स्व. श्रीमती रमा जैन

अध्यक्ष

श्री अशोक कुमार जैन

कार्यालय . 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003